भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

व्याख्याद्वयोपेतम्

[द्वितीयो भागः]

कुलपतेः डॉ० मण्डनमिश्रस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा पुरस्कृतम्

हिन्दी - व्याख्याकारः

सम्पादकश्च

डॉ० पारसनाथद्विवेदी

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

वाराणसी

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१४]

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

[द्वितीयो भागः]

व्याख्याद्वयोपेतम्

कुलपतेः श्रीवेङ्कटाचलस्य 'शिवप्रकूल'-पुरोवाचा

पुरस्कृतम्

सम्पादकः

डॉ० पारसनाथद्विवेदी



सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 14]

NĀṬYAŚĀSTRA

OF

ŚRĪ BHARATA MUNI

[PART TWO]

(CHAPTERS-6-11)

With the Commentary

ABHINAVABHĀRATĪ

BY

ŚRĪ ABHINAVAGUPTĀCĀRYA

&

MANORAMĀ

(Hindi Commentary)

BY

DR. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ

FOREWORD BY

DR. MANDAN MISHRA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PĀRASANĀTHA DVIVEDĪ

Ex-Dean, Faculty of the Sāhitya-Sanskṛti

Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi



VARANASI

1996

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

□

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

□

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

□

First Edition, 1000 Copies
Price Rs. 200. 00

□

Printed by—
VIJAYA PRESS,
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१४]

श्रीभरतमुनिप्रणीतं

ना ट्य शा स्त्र म्

[एकादशाध्यायान्तो द्वितीयो भागः]

श्रीमदभिनवगुप्तकृतया

'अभिनवभारती' व्याख्यया

डॉ० पारसनाथद्विवेदिकृतया

'मनोरमा' हिन्दी-व्याख्यया च

विभूषितम्

कुलपतेः डॉ० मण्डनमिश्रस्य 'शिवसङ्कल्प'-पुरोवाचा

पुरस्कृतम्

सम्पादकः

डॉ० पारसनाथद्विवेदी

साहित्य-संस्कृति-संकायाध्यक्षचरः,

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य, वाराणसी



वाराणस्याम्

२०५२ तमे वैक्रमाब्दे १९१७ तमे शकाब्दे १९९६ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी ।

▫

प्रकाशकः —
डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

▫

प्राप्तिस्थानम् —
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी–२२१ ००२.

▫

प्रथमं संस्करणम्, १००० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्— २००. ०० रूप्यकाणि

▫

मुद्रकः —
विजय-प्रेस,
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी ।

शिवसङ्कल्पः

सङ्गीतं तथा साहित्यं सहृदयजनानां जीवातुभूतं कथितं कवीन्द्रैः—**'सङ्गीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्'**। साहित्येनात्र काव्यं विवक्षितम्। काव्यस्य जीवातुभूतो रसः, रसस्य च प्रमापकं काव्यं साहित्यम्। तच्च काव्यं द्विविधम् - दृश्यं तथा श्रव्यम्। इदमुभयमपि अनुरणनानुकरणपरम्। उत्तमं काव्यं ध्वनिरित्युच्यते। ध्वनिश्च अनुरणनमिति ध्वन्याचार्यैः, नाट्यं चानुकरणमिति नाट्याचार्यैः संस्थापितम्। अनयोरुभयोर्मध्ये दृश्यकाव्यस्य प्राथम्यमायाति। अस्य दृश्यरूपस्य नाट्यस्य ज्ञापकं शास्त्रं **'नाट्यशास्त्रम्'** श्रीभरतमुनिर्विरचितवान्। विश्वस्मिन् इदमतीव रोचकं विस्मयावहं च यदनिर्णीतकालस्य भरतमुनेरियं कृतिरतीव प्राचीना। अतीव रम्यं नाट्यं यदा विश्वस्य प्रतिभाया अतिदूरे पारमासीत्, तदा श्रीभरतमुनिरेतादृशं सर्वाङ्गपूर्णं नाट्यशास्त्रं विरचितवान्। अत्र समस्तललितकलाया यथा—सङ्गीतस्य, छन्दसः, अभिनयस्य, मनोभावस्य, रसस्य, विभावानुभावादीनां साङ्गोपाङ्गं सन्निवेशनमस्ति। सर्वस्यापि साहित्यशास्त्रस्य (काव्यशास्त्रस्य) उपजीव्यभूतोऽयं नाट्यशास्त्रनामको ग्रन्थः, विशेषतो रससम्प्रदायस्य भामहादिप्रणीतालङ्कारसम्बद्धग्रन्थानाम्, ध्वन्यालोकस्य, काव्यप्रकाशस्य, साहित्यदर्पणस्य, दशरूपकप्रभृतीनां च। नाट्यशास्त्रमाधृत्यैवेमे ग्रन्था निर्मिताः। एतेषु न केवलं भावसाम्यम्, अर्थसाम्यम्, विषयसाम्यं वा; किन्तु त एव शब्दाः, तान्येव पदानि, त एव च श्लोका याथातथ्येन यत्र तत्रोद्धृताः सन्ति। अतः साहित्यशास्त्रस्य सम्यगध्ययनार्थं नाट्यशास्त्राध्ययनमतीवावश्यकम्।

ग्रन्थस्यास्य सम्पादका आचार्यवर्याः **प्रो० पारसनाथद्विवेदिमहोदया** विभिन्नेषु महाविद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु च शिष्यपरम्परां संवर्द्धयन्तो विकसितेन वैदुष्येण जीवनानुभवेन च सह विश्वविद्यालयस्यास्य पुराणविभागस्याचार्यपदं संशोभयितुमागताः। तैश्च संस्कृतविद्याया विभिन्नेषु क्षेत्रेषु, अस्य च विश्वविद्यालयस्य विभिन्नानां समितीनां सदस्यत्वं पुराणविभागस्य साहित्यसंस्कृतिसङ्कायस्य चाध्यक्षतां निर्वहद्भिर्विश्वविद्यालयस्य याः सेवाः कृतास्तासां कृते विश्वविद्यालयोऽयं सर्वथाऽधमर्णतां बिभर्ति। प्रकाशनमिदं तेषां सर्वाङ्गपूर्णस्य वैदुष्यस्य निदर्शनम्, यतो

हि पुराणं सर्वविद्यानां विकासस्थली, विशेषतश्च रसात्मकशास्त्राणाम्, अत एव तेषां परिपूर्णेन चिन्तनेन सम्पादनकौशलेन च सुसम्पन्नमिदं नाट्यशास्त्रं नाट्यविद्या-विशारदानां साहित्यशास्त्राधीतीनां कृते सुमहदुपकारकं भविष्यतीति हेतोर्विश्वविद्यालय-पक्षतः श्रीद्विवेदिमहोदयेभ्यः स्वकीयां कृतज्ञतां विज्ञापयामि। विश्वविद्यालयस्यास्य प्रकाशनाधिकारिणे डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठिने ग्रन्थस्यास्य मुद्रकाय विजयप्रेस-सञ्चालकाय **श्रीगिरीशचन्द्राय** च धन्यवादान् समर्पयन् ग्रन्थमिमं पाठकेभ्यः समुपाहरामि।

मण्डनमिश्रः
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

वाराणसी
वासन्तिकनवरात्रारम्भः,
वि० सं० २०५३
(२०-३-१९९६ खैस्ताब्दः)

संस्कृत के तपोधन, संस्कृत-सेवा के महाव्रती
संस्कृत-रक्षा के प्रहरी
ऋषियों, मुनियों, मनीषियों एवं आचार्यों
को
सादर अर्पित

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे नमः ।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः ॥

पुरोवाक्

नाट्यशास्त्र एवं अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या के साथ द्वितीय भाग (६–११ अध्याय) सुधीजन के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इस भाग का भी प्रथम भाग की तरह स्वागत होगा। प्रथम भाग की तरह ही इस भाग में भी मूल-पाठ एवं अभिनव-भारती व्याख्या का सम्पादन किया गया है और पाठभेदों को नीचे पाद-टिप्पणी में दिया गया है। मूल श्लोक तथा अभिनवभारती का हिन्दी अनुवाद नीचे दिया गया है। अनुवाद के नीचे विमर्श के अन्तर्गत विषय के स्पष्टीकरणार्थ मत-मतान्तरों की समीक्षा के साथ टिप्पणी दी गई है। प्रस्तुत संस्करण में अनुवाद मूलग्रन्थ के मन्तव्यों के अनुरूप किया गया है और विवेच्य विषय की विमर्श के अन्तर्गत विशेष व्याख्या की गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक प्रस्तावना दी गई जिसमें इस संस्करण के प्रतिपाद्य विषय की संक्षिप्त रूपरेखा भी दी गई है। अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत श्लोकार्धानु-क्रमणी भी दी गई है। इसके आगे का अंश तृतीय भाग में शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन में मुख्यरूप से "गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा से प्रकाशित संस्करण का पाठ ही आधाररूप में स्वीकार किया गया है और उसके पाठभेदों को बहुत कुछ अपरिवर्त्तनों के साथ यहाँ भी लिया गया है तथा प्रस्तुत संस्करण में **'क'** सङ्केत द्वारा उनका निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त पाठ-निर्धारण में चौखम्बा संस्कृत सीरिज बनारस, काव्यमाला संस्करण एवं मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित संस्करण का भी उपयोग किया गया है। इनमें चौखम्बा संस्करण के पाठों का निर्देश **'ग'** सङ्केताक्षर द्वारा तथा एम. एम. घोष संस्करण के पाठों का निर्देश **'घ'** सङ्केताक्षर द्वारा किया गया है। पाठ-निर्धारण में अर्थ-सङ्गति तथा पूर्वापर प्रसङ्गों पर भी विचार किया गया है और शुद्ध पाठ को मूल में रखा गया है तथा अशुद्ध एवं विकृत पाठ को नीचे पाद-टिप्पणी में दिया गया है।

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन की व्यवस्था में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशनाधिकारी डा० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी ने पूर्ण तत्परता के साथ सहयोग प्रदान किया है यदि उनका सहयोग प्राप्त न होता तो सम्भवतः यह संस्करण प्रकाश में न आ पाता। अतः उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के उन सभी आचार्यों, ग्रन्थकारों तथा समालोचकों का भी कृतज्ञ हूँ

जिनकी कृतियों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता मिली है। विजय प्रेस के व्यवस्थापक श्री गिरीशचन्द्र के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने बड़े उत्साह एवं लगन के साथ कलात्मक ढंग से इस ग्रन्थ का मुद्रण कार्य सम्पन्न किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को यथासम्भव शुद्ध बनाने का प्रयास किया किया गया है, फिर भी मानवसुलभ त्रुटियों एवं न्यूनताओं का रह जाना स्वाभाविक है। अतः उसके लिए क्षमा-याचना करते हुए माननीय विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि उन्हें जहाँ कहीं भी त्रुटि एवं कमी का अनुभव हो, सूचित करने की कृपा करें, जिससे अगले संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके। प्रस्तुत ग्रन्थ को अधिक पूर्ण एवं उपयोगी बनाने की दिशा में जो भी सुझाव मिलेंगे, उनका मैं हृदय से स्वागत करूँगा। लेखक के अल्प अध्ययन एवं सीमित सामर्थ्य से एक गुरुतर, गम्भीर एवं जटिल विषय पर किया गया यह लघु प्रयास सुधीजनों के समक्ष प्रस्तुत है। इसकी सफलता-असफलता का निकष वस्तुतः उन्हीं का परितोष है। जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्,

विनयावनत
पारसनाथ द्विवेदी

गुरु पूर्णिमा
वि० स० २०५०
वाराणसी

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

प्रस्तावना

मूल ग्रन्थ और व्याख्या भाग

प्रस्तावना

नाट्यशास्त्र के प्रथम भाग में १-५ अध्यायों में नाट्योत्पत्ति से लेकर चित्रपूर्व-रङ्गविधि तक विषय का विवेचन किया गया है। प्रथम अध्याय में ऋषियों ने भरतमुनि से पाँच प्रश्न पूछे थे—(१) नाट्यवेद कैसे उत्पन्न हुआ ? (२) किसके लिए उत्पन्न हुआ ? (३) नाट्य के कितने अङ्ग हैं ? (४) नाट्य का प्रमाण क्या है ? और (५) नाट्य का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है ? इन प्रश्नों का समाधान पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। अब छठे अध्याय में ऋषिगण भरतमुनि से पुनः पाँच प्रश्न करते हैं कि रस क्या है ? और इसे रस क्यों कहते हैं। भाव क्यों कहे गये हैं और वे किसको भावित करते हैं ? सङ्ग्रह, कारिका और निरुक्त क्या हैं ? इस प्रकार ऋषिगण सङ्ग्रह, कारिका और निरुक्त के साथ रसभावादि का स्वरूप बताने के लिए भरतमुनि से प्रार्थना करते हैं।

ऋषियों के वचन को सुनकर भरत मुनि कहते हैं कि यद्यपि ज्ञान के बाहुल्य एवं शिल्प की अनन्तता के कारण नाट्यविद्या के अङ्गभूत किसी एक भी ज्ञान का पार पाना सम्भव नहीं है तो फिर सागर के समान विशाल नाट्यविद्या के समस्त अङ्गों का ज्ञान कैसे सम्भव है ? अतः संक्षेप में रसभावादि के सङ्ग्रह का कथन करता हूँ।

सङ्ग्रह—

सङ्ग्रह क्या है ? भरत कहते हैं कि सूत्र (लक्षण) और भाष्य (परीक्षा) के विस्तार से कहे जाने वाले अर्थों का संक्षेप रूप में कथन करना 'सङ्ग्रह' है।[1] अभिनव का कथन है कि जिनसे प्रतिपाद्य वस्तु का सम्यग् रूप में ग्रहण हो उनका परिगणन उस वस्तु का सङ्ग्रह है। सङ्ग्रह का ज्ञान हो चुकने पर उस वस्तु की प्रतीति के लिए किसी अन्य प्रमाण को अपेक्षा नहीं रहती और वह ज्ञान साक्षात्कार रूप होता है।[2]

भरत के अनुसार आङ्गिक, वाचिक और आहार्य ये तीन प्रकार के अभिनय, गान और वाद्य ये मिलकर नाट्य के पाँच अङ्ग हैं। किन्तु कोहल के मतानुसार नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय के दसवें श्लोक में ग्यारह अङ्गों का वर्णन है जिनके

---

१. विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः।
निबन्धो यः समासेन सङ्ग्रहं तं विदुर्बुधाः॥ (नाट्यशास्त्र ६।९)

२. सम्यग् ग्रहणं सङ्ग्रहः। यतः परं निर्विशङ्कप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरं नाभ्यर्थ्यन्ते। तच्च साक्षात्काररूपमेव। (अभिनवभारती भाग १ पृ० १३)

द्वारा नाट्य का समग्ररूप से साक्षात्कार होता है। ये ग्यारह अङ्ग हैं—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रङ्ग।[1] अभिनव का कहना है कि भरत के मत में नाट्य के पाँच अङ्ग होते हैं और कारिका में कोहल के मतानुसार ग्यारह अङ्गों का वर्णन है, किन्तु यह भरत का मत नहीं है। भरत ने तो कोहल द्वारा संगृहीत ग्यारह अङ्गों का यहाँ पुनः कथन किया है। हाँ कोहल द्वारा निर्दिष्ट क्रम का यहाँ व्यतिक्रम अवश्य कर दिया गया है। यह भट्टोद्भट्ट तथा उनके अनुयायियों का मत है। किन्तु भट्टलोल्लट उक्त कथन से सहमत नहीं दिखाई देते। उनका कहना है कि रस-भाव आदि नट में वासना रूप से विद्यमान रहते हैं और यहाँ उनका क्रम भी विवाक्षित नहीं है। अतः भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित अङ्गों में उनका अन्तर्भाव होने पर भी प्रयोजनवश प्रधान तत्त्वों को गिनाने के कारण तथा क्रम की विवक्षा न होने के कारण क्रम में परिवर्तन कर दिया गया है।[2]

रस नाट्य का प्रमुख एवं सूक्ष्म तत्त्व है, इसलिए उसका पहिले कथन किया गया है। रस की निष्पत्ति भावों से होती है, अतः रस के बाद भावों का निरूपण किया गया है। भावों की निष्पत्ति अभिनय से होती है, अतः भावों के बाद अभिनय का कथन किया गया है। इसी प्रकार अभिनय के बाद क्रमशः प्रयोजनभूत धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्ति का परिगणन किया गया है। कारिका के पूर्वार्द्ध में परिगणित ये छः तत्त्व नाट्य के अन्तरङ्ग हैं और उत्तरार्द्ध में परिगणित अवशिष्ट पाँच तत्त्व नाट्य के बाह्य तत्त्व हैं। भूमिका के विस्तार के भय से इनका यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा है।

कारिका—

संक्षेप रूप से थोड़े से शब्दों में विद्वानों के द्वारा सूत्र रूप में जिस अर्थ का कथन किया जाता है उस अर्थ को प्रकाशित करने वाली उक्ति को 'कारिका' कहते हैं[3]। अभिनव के अनुसार लक्षण रूप अर्थ और उस लक्षण के वाचक

---

१. रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः॥ (नाट्यशास्त्र ६।१०)

२. अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम्। अनेन तु श्लोकेन कोहलमते एकादशाङ्गत्वमुच्यते, न तु भरते। तत्संगृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशात्। निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासादित्यौद्भटाः। नैतदिति भट्टलोल्लटः। रसभावानामपि वासनाविशवशेन नटे सम्भवादनुसन्धानबलाच्च क्रयाद्यनुरसरणादन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात् क्रमस्य चाविवक्षितत्वादिति। (अभिनवभारती भाग १ पृ० २६४)

३. अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः।
सूत्रतः सानुमन्तव्या कारिकार्थप्रदर्शिनी॥ (नाट्यशास्त्र ६।१२)

सूत्र तथा उसके संक्षिप्त अर्थ के विवरण रूप श्लोक इन सबको 'कारिका' कहा गया है। यहाँ इसके दो प्रकार बताये गये हैं—(१) जो अर्थ अधिक विषय को संग्रह करने वाले अल्प शब्दों के द्वारा संक्षेप में वाचक सूत्र के द्वारा कहा जाता है, वह 'कारिका' है और (२) ज्ञान का साधक होने के कारण उस अर्थ को बतलाने वाली उक्ति भी 'कारिका' है। उस अर्थ के बोधक सूत्र को भी 'कारिका' कहा गया है और उस सूत्र के अर्थ या लक्षण को अधिक विस्तार से कहने वाले 'श्लोक' को भी 'कारिका' माना गया है। इस प्रकार लक्षण रूप अर्थ भी कारिका है, उस लक्षण का वाचक सूत्र भी कारिका है और उस अर्थ का प्रकाशक श्लोक भी 'कारिका' है।

निरुक्त—

अनेक प्रकार के नामों (संज्ञाओं) के आश्रय से उत्पन्न रूढ़ि (निघण्टु) तथा यौगिक (नियम) शब्दों के विवेचन से युक्त क्रिया और कारक से समन्वित, नाना प्रकार के सिद्धान्तों से साधित, संक्षेप रूप से अर्थ के सूचक लक्षण रूप अर्थ धात्वर्थ के निर्वचन द्वारा जहाँ पर स्थापित किया जाता है उसे 'निरुक्त' कहा जाता है।[1] इस प्रकार आक्षेप-प्रतिसमाधान के द्वारा स्पष्टता के लिए लक्षण का व्याख्यायित किया जाना परीक्षा है, वही निरुक्त है। निरुक्त चार प्रकार का होता है—(१) नाम अर्थात् प्रातिपादिक के द्वारा। (२) आख्यात (धातु) के द्वारा। (३) दोनों अर्थात् नाम और धातु के द्वारा और (४) सङ्केत के द्वारा। सङ्केत तीन प्रकार का होता है—वैदिक, लौकिक और प्रत्येक शास्त्र के अङ्गरूप में परिभाषिक संकेत। संक्षेप रूप में अर्थ का अवधारण करना निरुक्त का प्रयोजन है।

रस—

नाट्यरस—

रस नाट्यसङ्ग्रह में प्रमुख तत्त्व है। अभिनव के अनुसार रस ही नाट्य है और नाट्य की पूर्णतः अनुभूति रस में ही है। इसके विना नाट्य में कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं होता (**नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते**)। इस प्रकार नाट्य में जिस नाट्यरस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है, एक है। उसी एक महारस से अन्य रस प्रसूत होते हैं। वे अन्य रस वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के अनुसार असत्य हैं। अथवा आन्विताभिधानवाद के समान उपायात्मक सत्य है अथवा अभिहितान्वयवाद के अनुसार मुख्य रस के समुदाय रूप सत्य हैं। भाव यह है कि अभिहितान्वयवाद के

---

१. नाट्यशास्त्र ६।१२।३।

अनुसार पहिले पदार्थ का बोध होता है और उन पदार्थों के समुदाय से ही वाक्यार्थ को प्रतीति होती है, उसी प्रकार नाट्य में अन्य रस समुदाय रूप में मुख्यभूत महारस का ज्ञान कराते हैं। इस प्रकार रस समुदाय हो नाटय है और नाट्य ही रस है। इसलिए भरत ने उसे 'नाट्यरस' कहा है। (**तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः**)।

अभिनवगुप्त नाट्यरस की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नट के द्वारा अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान एकाग्रमन की निश्चलता से अनुभवनीय नाटकादि में से किसी एक काव्यविशेष से प्रकाश्य अर्थ नाट्य है। यह नाट्य यद्यपि विभावादि के अनन्त होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है। तथापि सभी विभावों का ज्ञान में पर्यवसान होने से तथा ज्ञान का भोक्ता में और भोक्तृवर्ग का प्रधान भोक्ता (नायक) में पर्यवसान होने से नायक नामक भोक्तृविशेष को स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति भी 'नाट्य' है। स्वगत-परगत भेद से शून्य यह चित्तवृत्ति आस्वाद्यमान होने से 'रस' है। यतश्च नाट्य को पूर्णतः अनुभूति रस में होती है। अतः रस ही 'नाट्य' है। यह रस नाट्य-समुदाय से आविर्भूत होता है। अतः समुदाय रूप अर्थ 'नाट्य' है और नाट्य ही 'रस' है। यही नाट्य-रस कहा जाता है और यही मुख्यभूत महारस है।

अभिनव का कथन है कि नाट्य एक अलौकिक रसात्मक वस्तु है जो अनुकरण प्रतिबिम्ब, चित्र, सादृश्य, आरोप, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षा, स्वप्न माया तथा इन्द्रजाल आदि दस लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण तथा उसके ग्राहक सामाजिक के यथार्थज्ञान, भ्रान्ति संशय, तथा अनध्यवसाय रूप विज्ञान से भिन्न आस्वादन रूप साक्षात्कारात्मक ज्ञान से वेद्य है। इस प्रकार नाट्य लौकिक पदार्थों से भिन्न अलौकिक रसात्मक वस्तु है।

शार्ङ्गदेव के अनुसार नाट्य का मुख्य अर्थ 'रस' है क्योंकि वह रसाभिव्यक्ति का कारण है और अमुख्य अर्थ नर्तन है, क्योंकि लक्षणावृत्ति के द्वारा नाट्याचार्यों ने चार प्रकार के अभिनयों से युक्त रसाभिव्यक्ति के कारणभूत नर्तन को नाट्य कहा है।[1] इस प्रकार नाट्य का मुख्य अर्थ रस और लक्षणा से उसका अर्थ नर्तन है।

रस संख्या—

भरत के अनुसार शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये आठ नाट्य में रस माने गये हैं। अभिनवगुप्त शान्त नामक नवाँ रस भी मानते हैं। अभिनव ने शृङ्गार को प्रथम स्थान दिया है। पुरुषार्थ-चतुष्टय में काम

---

१. नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम्।
चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणा वृत्तितो बुधैः।
नर्तनं नाट्यमित्युक्तं ……………॥ (संगीतरत्नाकर)

का प्रमुख स्थान है। यह काम समस्त प्राणियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। उसके प्रति सभी लोगों का स्वाभाविक आकर्षण होता है। अतः शृङ्गार रस का सबसे पहिले निरूपण किया गया है। शृङ्गार का अनुगामी होने से हास्य रस को द्वितीय स्थान प्राप्त है। हास्य का विरोधी होने से उसके बाद करुण रस को तृतीय स्थान मिला। करुण से सम्बन्ध होने से रौद्र रस को चौथा स्थान मिला। रौद्र रस अर्थप्रधान होता है। अतः उसके बाद काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से वीर रस को पञ्चम स्थान प्राप्त है। वीर रस का प्रयोजन भय से डरे हुए लोगों को अभय प्रदान करना है, अतः वीर के बाद भयानक रस का वर्णन है। भयानक रस के समान विभावों के होने के कारण भयानक के बाद बीभत्स रस का सातवें स्थान पर उल्लेख है। बीभत्स के बाद आठवें स्थान पर अद्भुत रस का वर्णन है।

रस और भाव--

अग्निपुराणकार का कथन है कि इस अपार काव्य-जगत् का सर्जक कवि है, उसे जैसा रुचता है वैसी सर्जना कर डालता है। यदि वह सहृदय हैं तो सरस काव्य-सर्जना करेगा और यदि वह विरागी है तो उसकी काव्य-रचना नीरस होगी। भरत ने रस को भावाश्रित माना है। उनके अनुसार भावों से ही रस की अभिनिर्वृति होती है, क्योंकि भावों में ही रस का अस्तित्व अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। उनका कहना है कि कोई भी भाव रस-हीन नहीं होता है और न भाव रसहीन होता है। भाव रस को भावित करते है और रस भावों से भावित होते हैं। इसलिए वे भाव कहे जाते हैं। अभिनवगुप्त भी भावों से रस की अभिव्यक्ति मानते है। वे रसों से भावों को अभिव्यक्ति नहीं मानते हैं, **(अतो न रसेभ्यो भावो)**, किन्तु दोनों को परस्पर एक दूसरे के आश्रित मानते हैं। इस प्रकार रस भाव के आश्रित होता है और भाव रस के आश्रित होता है।

स्थायीभाव--

प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में चित्तवृत्ति के रूप में कुछ न कुछ भाव अवश्य विद्यमान रहते हैं। जो भाव निरन्तर विद्यमान रहते हैं वे स्थायीभाव कहलाते हैं और जो भाव अनियमित रूप से यदा कदा आकर प्रवहमान जीवन-धारा में गति देकर लौट जाते हैं वे सञ्चारीभाव कहे जाते हैं। ये सञ्चारीभाव रसों में विविध रूप से सञ्चरण करते हैं इसीलिए सञ्चारीभाव कहलाते हैं। भरत के अनुसार स्थायीभाव आठ हैं—**रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय।** शान्त रस को मानने वाले आचार्य 'निर्वेद' नामक नवाँ स्थायीभाव भी स्वीकार करते हैं।

सञ्चारीभाव--

भरत के अनुसार सञ्चारीभाव तैंतीस हैं—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, पीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, और वितर्क।

सात्त्विकभाव—

सत्त्व मन से उत्पन्न होने वाला भाव है और वह सत्त्व समाहित मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है। अश्रु, रोमाञ्च आदि सत्त्व के स्वभाव हैं। यह सत्त्व जिसका प्रयोजन है वह सात्त्विक है। भरत के अनुसार सात्त्विक भाव आठ हैं— **स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय**।

इस प्रकार आठ स्थायीभाव, तैंतीस व्यभिचारीभाव और आठ सात्त्विक भाव मिलकर उनचास भाव होते हैं। इन उन्चास भावों से रस की अभिव्यक्ति होती है। इनमें स्थायीभाव सर्वश्रेष्ठ होता है। भरत का कहना है कि जिस प्रकार मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है और शिष्यों में गुरु श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार समस्त भावों में स्थायीभाव श्रेष्ठ होता है और वही रसत्व को प्राप्त होता है।

अभिनवगुप्त ने इन स्थायी आदि भावों का सम्बन्ध अभिनय से जोड़ा है। उनका कहना है कि ये भाव नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध आस्वादन के योग्य चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं, सामाजिकों को रस की प्रतीति कराते हैं, इसलिए भाव कहे जाते हैं। चित्तवृत्ति रूप वासना स्थायीरूप से व्यक्ति में विद्यमान रहती है। अभिनेता आङ्गिक आदि अभिनयों के द्वारा मानव-हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान मनोगत भावों को प्रदर्शित करता है तो वह भाव (स्थायीभाव) रसत्व पद को प्राप्त कर लेता है। अभिनेता जिस रस को प्रतीति कराना चाहता है तदनुकूल भाव-भङ्गिमाओं का ही प्रदर्शन करता है। इस प्रकार भाव ही रस है और जो रस है वही भाव है। ये भाव ही रस रूप में उद्दीप्त होते हैं। रसानुभूति की दृष्टि से सात्त्विक अभिनय का बड़ा महत्त्व है। सात्त्विक भाव के पूर्ण योग होने पर ही नाट्य प्रशस्य होता है। अभिनव के अनुसार नाट्य ही रस है और रस का अन्तरङ्ग सत्त्व है और सत्त्व (सात्त्विक अभिनय) में ही नाट्य प्रतिष्ठित है। **(सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्)**।

रसनिष्पत्ति

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है' यह भरत का रस-सम्बन्धी विख्यात सूत्र है। भरत के इस रससूत्र पर अनेक आचार्यों

ने व्याख्यायें लिखी हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में उन सभी आचार्यों के विचारों को प्रस्तुत कर सम्यक् समीक्षा की है और अन्त में अपना मत स्थापित किया है।

विभाव—

विभाव किसे कहते हैं? भरत कहते हैं कि विभाव शब्द का अर्थ विज्ञान है। इसके द्वारा वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयों के आश्रय से स्थायी और व्यभिचारी भाव विभावित होते हैं, विशेष रूप से जाने जाते हैं, इसलिए इसे 'विभाव' कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। जिसके आश्रय से स्थायीभाव उद्बुद्ध होते हैं, उसे 'आलम्बन' विभाव कहते हैं। नायक-नायिका आदि आलम्बन विभाव हैं और जिसके द्वारा रत्यादि स्थायीभाव उद्दीप्त होते हैं, उसे 'उद्दीपन' विभाव कहते हैं। जैसे नायक-नायिका का सौन्दर्य, केश-विन्यास, चांदनी, कोयल की कूक, उद्यान आदि उद्दीपन विभाव हैं।

अनुभाव—

अनुभाव वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक चेष्टायें हैं। भरत के अनुसार जिसके द्वारा वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय (चेष्टायें) अनुभावित होते हैं, अनुभूति के योग्य बनाये जाते हैं उसे 'अनुभाव' कहते हैं। इस प्रकार वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत जो चेष्टायें एवं व्यापार हैं, वे 'अनुभाव' हैं। जैसे कटाक्ष, मुस्कराहट, हस्तसञ्चालन आदि चेष्टायें अनुभाव हैं।

रससूत्र के व्याख्याकार

भट्टलोल्लट—

भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी आचार्य हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार ललना आदि आलम्बन विभावों से जनित, उद्यानादि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त, कटाक्ष आदि अनुभावों के द्वारा प्रतीति के योग्य बनाया गया तथा निर्वेदादि व्यभिचारीभावों द्वारा उपचित (परिपुष्ट किया गया) रत्यादि स्थायीभाव 'रस' कहलाता है, जो मुख्य रूप से अनुकार्य में रहता है किन्तु अनुसन्धान के बल से अनुकर्त्ता (नट) में भी प्रतीयमान होता है। गोविन्द ठक्कुर के अनुसार 'नट में अनुकार्य (रामादि) को सदृशता के अनुसन्धान से सामाजिक अनुकर्त्ता नट में अनुकार्य (रामादि) का आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है।' इसीलिए इस सिद्धान्त को 'आरोपवाद' भी कहा जाता है।

भाव यह है कि "जिस प्रकार सर्प के न होने पर भी सर्प के रूप में देखी गई रस्सी से भय उत्पन्न होता है, उसी प्रकार राम की सीता विषयिणी रति नट में विद्यमान न होने पर भी नट के नाट्य-कौशल से नट में स्थित सी प्रतीत होती हुई सहृदयों में चमत्कार अर्पित करती हुई रस की पदवी को प्राप्त होती है।[1]

श्रीशङ्कुक इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि भट्टलोल्लट प्रभृति जो रस की उत्पत्ति या प्रतीति मुख्य रूप से अनुकार्य राम में और गौण रूप से अनुकर्त्ता नट में मानते हैं, अतः सामाजिकों से रस का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता तो सामाजिक के हृदय में रस की उत्पत्ति या प्रतीति कैसे होगी? अतः यह मत मान्य नहीं है।[2]

श्रीशङ्कुक—

श्रीशङ्कुक अनुमितिवादी आचार्य हैं। उनका मत न्यायसिद्धान्त का अनुसरण करता है। इस मत के अनुसार रस अनुमेय है, विभावादि रसानुमिति के साधन हैं, और सहृदय अनुमितिकर्त्ता है। रत्यादि स्थायीभाव अनुकार्य में विद्यमान रहते हैं, वही रत्यादि भाव विभावादि के द्वारा अनुमित होकर रस कहलाते हैं। इस प्रकार शङ्कुक के मतानुसार विभावादि के द्वारा अनुमीयमान स्थायीभाव 'रस' कहलाता है। इस प्रकार शङ्कुक का मत भट्टलोल्लट के मत पर आधारित प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि भट्टलोल्लट के मत में सहृदय नट में रामादि का आरोप करता है और शङ्कुक के मत में अनुमान करता है।

मम्मट ने भी काव्य प्रकाश में शङ्कुक का मत उद्धृत किया है किन्तु उनकी विवेचन-शैली में कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मम्मट के अनुसार रसानुमिति में विभावादि की प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है। भाव यह कि रामादि के अनुकर्त्ता नट में कटाक्षादि अनुभावों के यथार्थ न होने पर भी नट शिक्षा और अभ्यास के बल से कृत्रिम कटाक्षादि का प्रकाशन करता है। इस प्रकार कृत्रिम रामादि रूप नट के द्वारा कृत्रिम कटाक्षादि रूप अनुभावों के प्रकाशन से अनुमान के द्वारा रस की प्रतीति होती है। यद्यपि विभावादि उपकरण कृत्रिम हैं, फिर भी सहृदय सामाजिक उन्हें कृत्रिम न मानता हुआ भी काव्य में विभावादि नाम से व्यवहृत करता है। श्री शङ्कुक का कहना है कि यद्यपि अनुमीयमान रस कृत्रिम रामादि रूप नट में नहीं रहता है और न सहृदय (सामाजिक) में ही रहता है किन्तु वासना के बल से, वस्तु-सौन्दर्य के बल से सहृदय अनुमीवमान रस का आस्वादन करता है।

---

१. काव्य-प्रकाश, ललकीकर भी टीका पृ० ८८

२. विशेष विवरण के लिए डा० पारसनाथ द्विवेदी कृत काव्यप्रकाश की टीका पृ० १२८-१३२ देखिये।

इस प्रकार शङ्कुक के अनुसार सहृदय का रसबोध अनुमित अर्थ है और अनुमान का आधार नट है जिसमें रत्यादि स्थायीभाव रूप रस अनुकृत है, और नट अनुकारक है। सहृदय नट में अनुमान करके वस्तु-सौन्दर्य के बल से रस-बोध प्राप्त करता है। इस प्रकार नट द्वारा अनुकृत और सहृदय द्वारा अनुमित रत्यादि स्थायीभाव रस है।

वामनाचार्य झलकीकर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कुहरे से ढके हुए स्थान में धुएँ के न रहने पर भी कुहरे को धुआँ समझने के कारण धुएँ के साथ रहने वाली अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार नट के द्वारा निपुणता से विभावादि को 'ये मेरे हैं' इस प्रकार प्रकाशित किये जाने के कारण वहाँ अविद्यमान भी विभावादि के द्वारा उसमें नियत रति अनुमीयमान होने पर भी अपने सौन्दर्य के कारण सामाजिकों के द्वारा आस्वाद्यमान होने से चमत्कार का आधान करती हुई रसत्वको प्राप्त करती है।[१]

अभिनवगुप्त भट्टतौत आदि आचार्यों के द्वारा शङ्कुक के मत में उठाई गई आपत्तियों को प्रस्तुत कर उसका खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि शङ्कुक के मत में सहृदय और नट में जो विभावादि हैं वे सब कृत्रिम हैं और कृत्रिम विभावादि के आधार पर रसानुभूति नहीं हो सकती; क्योंकि शङ्कुक ने रसानुभूति का आधार अनुमान माना है और अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, प्रत्यक्ष नहीं। वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण रसानुभूति होती है वह अनुमान के द्वारा नहीं हो सकती; क्योंकि अन्य में विद्यमान आनन्द का अनुमान अन्य में कदापि नहीं किया जा सकता है। दूसरे इस अनुमान में सब कुछ कृत्रिम ही कृत्रिम है। अतः कृत्रिम साधन से अनुमान सम्भव नहीं है। इसी प्रकार शङ्कुक का अनुकरण-सिद्धान्त भी भरत-सम्मत न होने के कारण मान्य नहीं है।[२]

भट्टनायक—

भट्टनायक का मत 'भुक्तिवाद' के नाम से विख्यात है। इनका सिद्धान्त सांख्य-सिद्धान्त पर आधारित है। भट्टनायक के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा भोज्य-भोजक-भाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) होती है। भट्टनायक का मत है कि रस की न प्रतीति होती है, न उत्पत्ति होती है और न अभिव्यक्ति होती है, अपितु विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व व्यापार

---

१ काव्यप्रकाश झलकीकर की टीका पृ० ९०

२. विशेष विवरण डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा लिखित काव्य-प्रकाश की टीका पृ० १३२-१३७ पर देखिये।

के द्वारा भावित होता हुआ सत्त्वोद्रेक, प्रकाशानन्द, संविद्विश्रान्तिस्वरूप भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित होता है।

भट्टनायक ने भुक्तिवाद की सिद्धि के लिए अभिधाशक्ति के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है। इनमें पहिले अभिधाशक्ति के द्वारा काव्य का अर्थमात्र समझा जाता है और भावकत्व व्यापार उस अभिधा-जन्य अर्थ को परिष्कृत कर व्यक्ति-विशेष से उसका सम्बन्ध हटाकर साधारणीकरण कर देता है और सामाजिक से उसका सम्बन्ध हो जाता है। इसी भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का भी साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर रत्यादि स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व व्यापार द्वारा उसी साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव का रस के रूप में भोग करवाता है। भाव यह कि साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव सामाजिकों के हृदय में स्थित रजस् और तमस् को अभिभूत करके सत्त्वगुण के उद्रेक से प्रकाशमय, आनन्दमय तथा वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित किया जाता है। यह आस्वाद ही रसभोग है। यह साधारण आनन्द से उत्कृष्ट ब्रह्मास्वादसविध है, यही रसानुभव है।

भट्टनायक के मत का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि भट्टनायक न रस की उत्पत्ति मानते हैं, न अनुमिति और न अभिव्यक्ति। वे रस को भावित (भोग) मानते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रतीति आदि के अतिरिक्त भावित होना (भोग) और क्या हो सकता है? विषय-सामग्री की प्रतीति और उसका अनुभव ही भोग कहा जा सकता है। यदि भट्टनायक के अनुसार रस की प्रतीति नहीं होती तो 'भोग' किसे कहा जायगा? क्योंकि 'भोग' आस्वादन है और आस्वादन प्रतीतिरूप होता है। केवल उपाय की विलक्षणता के कारण उसके रसन, आस्वादन आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार 'भुक्ति' (भोग) रसप्रतीति से पृथक् नहीं है सत्त्वगुण के उद्रेक से चेतना जब आनन्द रूप में व्यक्त हो उठती है तो रस-प्रतीति कहलाती है और यही रस-प्रतीति भुक्ति है, भोग है। अभिनवगुप्त के अनुसार भट्टनायक का भावकत्व और भोजकत्व व्यापार व्यञ्जना और रसास्वाद से भिन्न और कोई वस्तु नहीं प्रतीति होती, केवल नामान्तर प्रतीत होता है।[1]

---

१. **नोट**—विशेष विवरण डॉ० पारसनाथ द्विवेदी कृत काव्यप्रकाश की टीका पृ० १३७–१४० देखिये।

अभिनवगुप्त —

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनव-गुप्त भट्टनायक के भुक्तिवाद से प्रेरणा लेकर 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है। उनका कहना है कि व्यञ्जना के द्वारा सकलविघ्नविनिर्मुक्तसंविद् की प्राप्ति होती है जिसे भोग या आस्वाद कहते हैं। यही भोग भट्टनायक का भाजकत्व व्यापार या भोगीकरण है। भट्टनायक के अनुसार भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है, जिसे अभिनव व्यञ्जजना-व्यापार कहते हैं। इसके द्वारा रस का भोग, रस का अस्वादन तथा रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार भावकत्व-व्यापार व्यञ्जना-शक्ति का प्रथम उन्मेष है और द्वितीय उन्मेष है भोगीकरण या रसचर्वणा।

अभिनवगुप्त ने सामाजिक को दृष्टि में रख कर रस का विवेचन किया है। सामाजिक के हृदय में रत्यादि स्थायीभाव वासना के रूप में विद्यमान रहते हैं, यही रत्यादिरूप स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति 'यह मेरे हैं'; 'यह दूसरे के हैं'; 'यह उदासीन के हैं' इस प्रकार के भावों से रहित, काव्य एवं नाट्य की महिमा एवं प्रयोग-परम्परा के प्रभाव से साधारणीकरण की भूमि प्राप्त कर सामाजिकों के हृदय को व्यक्ति-विशेष की सीमा से हटाकर लौकिक कारणादि से विलक्षण अलौकिक विभावादि के द्वारा सहृदयसंवेद्य, चमत्कारैकप्राण, स्वयंप्रकाश, आनन्दमात्रस्वरूप रस के रूप में अनुभूत आस्वादित) होती है। यह अनुभूति ही आस्वाद है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद अवभासित नहीं होता और किसी अन्य वेद्य वस्तु का संस्पर्श नहीं रहता। यह आस्वाद ही रस है, रस ही आनन्द है, और आनन्द ही रस है।

अब प्रश्न यह उठता है कि रस आस्वाद रूप है और रत्यादि स्थायीभाव का ही रस के रूप में आस्वादन होता है तो रस का आस्वादन होता है, ऐसा क्यों कहा जाता है? इस पर कहते हैं कि रस का आस्वादन होता है अतः रस आस्वाद्य है; फिर भी इसे 'आस्वाद' कहा जाता है क्योंकि जिस प्रकार योगाचार मत में ज्ञान के ज्ञेय से भिन्न होने पर भी ज्ञान को ज्ञेय कहा जाता है उसी प्रकार आस्वादरूप रस को आस्वाद्यमान कहा जाता है। वस्तुतः आस्वाद और आस्वाद्यमान में कोई तात्त्विक भेद नहीं हैं। इस प्रकार आस्वाद्यमान रस सहृदयों के हृदय में लौकिक जीवन के अनुभवों से विलक्षण अलौकिक चमत्कारजनक होता है। यह अलौकिक चमत्काररूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान तथा लौकिक अनुभूतियों से विलक्षण है, भिन्न है।

रस की अलौकिकता

अभिनव के अनुसार रस अलौकिक है, क्योंकि वह लौकिक परिस्थितियों में बद्ध नहीं होता। लोक में दो प्रकार के कारण होते हैं—कारक और ज्ञापक। उसके कार्य भी दो होते हैं—कार्य और ज्ञाप्य। रस न कार्य है और न ज्ञाप्य, बल्कि दोनों से विलक्षण अलौकिक है। क्योंकि रस को यदि हम कार्य मानते हैं तो उसका कोई कारण होना चाहिए। विभावादि को उसका कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य नष्ट नहीं होता, किन्तु विभावादि रूप ज्ञान (कारण) के नष्ट हो जाने पर रस की प्रतीति नहीं होती, अतः रस को कार्य नहीं माना जा सकता। इस प्रकार रस जब कार्य नहीं है ता कारक उसका कारण भी नहीं है। इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है और न विभावादि रस के ज्ञापक हेतु हैं। ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के पूर्व विद्यमान रहता है और बाद में भी। किन्तु रस का अस्तित्व न तो अनुभव के पूर्व रहता है और न बाद में। अतः रस ज्ञाप्य भी नहीं है। इस प्रकार रस न कार्य हैं और न ज्ञाप्य हैं, अपितु दोनों से विलक्षण अलौकिक है।

इस प्रकार रस लौकिक ज्ञान से सर्वथा विलक्षण संवेदन का विषय है। लौकिक ज्ञान तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त लौकिक वस्तुओं का साक्षात्कारात्मक ज्ञान (२) प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान, जो युञ्जान नामक योगियों का ज्ञान है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणो के विना सविकल्प समाधि में होता है इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है। (३) मितेतर ज्ञान। यह निर्विकल्प समाधि में स्थित सिद्ध योगियों का ज्ञान है। यह ज्ञान वेद्यान्तरसम्पर्क-शून्य आत्मानुभूतिमात्र होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। किन्तु रसानुभूति इन तीनो प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण अलौकिक है। यह लोकातीत स्वसंवेदन का विषय है। यह संवेदन समस्त संवेदनों से विलक्षण है, अलौकिक है, और आनन्द रूप है।[१]

शान्तरस

भरत के अनुसार नाट्य में आठ रस स्वीकृत है किन्तु अभिनवगुप्त 'शान्त' नामक नवां रस भी स्वीकार करते हैं। मम्मट निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं किन्तु अग्निपुराणकार, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव माना है। उनका कहना है कि निर्वेद चित्तवृत्तियों का अभावरूप है और स्थायीभाव चित्तवृत्तियों के भाव रूप होते हैं, अतः अभावरूप

---

१. **नोट**—रस के सम्बन्ध में विशेष विववरण डा० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा लिखित काव्यप्रकाश की टीका पृ० १३७-१४५ देखिये।

निर्वेद को स्थायीभाव कैसे माना जा सकता है? इसलिए अभिनवगुप्त 'शम' को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं।

कुछ आचार्यों का कथन है कि नाट्य में अवस्था का अनुकरण होता है और शान्त में समस्त विषयों की निवृत्ति होती है। इसलिए अवस्थानुकृति रूप नाट्य में सर्वविषयोपरति रूप 'शान्त' रस सम्भव नहीं है। क्योंकि नाट्य अभिनय-प्रधान होता है और शान्त रस निवृत्ति-प्रधान। अतः निवृत्ति-प्रधान शान्त रस में रोमाञ्च आदि का अभाव होने से अभिनय नहीं हो सकता और गीत-वाद्य आदि का शान्त रस के साथ विरोध भी है। जैसाकि नाट्यशास्त्र में कहा गया है—

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भावेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥

इस प्रकार अभिनय के लिए उपयुक्त न होने से अभिनय-प्रधान नाट्य में शान्तरस की स्थिति नहीं मानी जा सकती। किन्तु अभिनवगुप्त के अनुसार नाट्य में शान्त की स्थिति मान्य है। उन्होंने शान्त रस को अभिनेय भी माना है। उनका कहना है कि गीत-वाद्यादि का शान्त रस के साथ कोई विरोध नहीं है।

अभिनवगुप्त ने शान्त रस को मूलभूत रस माना है। उनके अनुसार शान्त रस प्रकृत रस है और अन्य विकृत रस है। शृङ्गारादि विकृत रस अपने अपने विशिष्ट हेतुओं के आश्रयण से प्रकृत शान्त रस से आविर्भूत होते हैं और निमित्त का अपाय (विनाश) हो जाने पर फिर उसी में विलीन हो जाते हैं। जैसाकि कहा गया है —

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥
एवं नव रसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः॥

इस प्रकार शान्त रस नाट्य और काव्य में दोनों स्वीकृत है। नारद और वासुकि ने भी शान्त को प्रमुख रस माना है। महाभारत और नागानन्द नाटक का प्रधान रस शान्त है और उसका स्थायीभाव 'शम' है।

इनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने आर्द्रता स्थायीभावात्मक स्नेह, लौल्य और भक्ति को भी अलग रस माना है किन्तु दूसरे आचार्य उसका खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि स्नेह, लौल्यादि रति के ही विशेष नामान्तर हैं। समान व्यक्तियों का परस्पर प्रेम (रति) स्नेह, छोटे का बड़े के प्रति प्रेम (रति) भक्ति और बड़े का छोटे के प्रति प्रेम (रति) वात्सल्य है। इस प्रकार ये सब रति के ही विशेष रूप हैं। इसी प्रकार प्रेयान् और लौल्य को भी अलग रस नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनका भाव में अन्तर्भाव हो जाता है?

भोज के अनुसार शान्त, प्रेयान्, उदात्त और उद्धत ये चार रस नायक के भेदों के अनुसार उद्भावित होते हैं। इनके अतिरिक्त भोज ने आनन्द, प्रशम, स्वातन्त्र्य पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग ओर सङ्गम आदि नये रसों की भी कल्पना की है। रामचन्द्र गुणचन्द्र नौ रसों के अतिरिक्त स्नेह, लौल्य, व्यसन, सुख, दुःख आदि अन्य रस भी माने हैं। भानुदत्त ने वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, कार्पण्य और मायारस का भी उल्लेख किया है। रूपगोस्वामी ने 'भक्ति' को प्रमुख रस माना है। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इन सब का खण्डन कर प्राचीन परम्परा का समर्थन करते हुए नौ रस ही माने हैं। उनका कहना है कि भक्ति आदि को अलग रस मानने पर भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित संख्या भङ्ग हो जायगी। अतः मुनि-सम्मत रस-संख्या ही स्वीकार करना उचित है।

अभिनय

'अभि' उपसर्गपूर्वक 'नी' (णीञ् प्रापणे) धातु से 'एरच्' सूत्र से 'अच्' प्रत्यय होकर 'अभिनय' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है आभिमुख्य-नयन अर्थात् नाट्य-प्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों के समक्ष प्रत्यक्षतः प्रदर्शित करना 'अभिनय' है। क्योंकि शाखा, अङ्ग एवं उपाङ्गों से युक्त अभिनय के प्रयोग के द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों को सामाजिकों के हृदय में विभावन (रसास्वादन) कराया जाता है, इसलिए उसे 'अभिनय' कहते हैं। इस प्रकार दृश्य-सामग्री को लेकर रङ्गमञ्च पर जो व्यापार प्रदर्शित किया जाता है वही 'अभिनय' है। भाव यह कि अभिनेता (नट) अभिनय के द्वारा अभिनेय (रामादि) के क्रिया-कलापों, वेश-भूषा, विविध चेष्टाओं एवं भाव-मुद्राओं को रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित करता है, संयम के साथ उचित स्थल पर काकु, यति आदि का संयोजन कर उचित रीति से वाक्याभिनय करता है, पात्रों के अनुरूप देश-कालोचित वेश-भूषा एवं साज-सज्जा का संयोजन करता है, अभिनेय पात्रों के मानसिक भावों का प्रकाशन करता है। भरत ने अभिनय का वर्गीकरण चार वर्गों में किया है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। ये चारों प्रकार के अभिनय नटराज शिव के चार रूप हैं और शिव ही उनके अधिष्ठाता हैं।[1]

आङ्गिक अभिनय

शरीर के विविध अङ्गों, उपाङ्गों एवं प्रत्यङ्गों की विविध चेष्टाओं एवं भाव-मुद्राओं द्वारा जिस सांकेतिक अर्थ का सृजन होता है, वह आङ्गिक अभिनय कहलाता

१. आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥ (अभिनयदर्पण ?)

है। भरत ने आङ्गिक अभिनय के तीन प्रकार बताये हैं—शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत। शरीरज अभिनय शाखा, अङ्ग एवं प्रत्यङ्गों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। केवल उपाङ्गों के द्वारा किया जाने वाला अभिनय मुखज या उपाङ्गाभिनय कहलाता है। इसी प्रकार विविध चेष्टाओं द्वारा किया जाने वाला अभिनय चेष्टाकृत कहा जाता है। उनमें अङ्ग एवं उपाङ्गों की संख्या छः छः है। शिर, हस्त, उरस्, पार्श्व, कटि और पाद ये छः अङ्ग हैं। कुछ आचार्यों ने 'ग्रीवा' को एक अतिरिक्त अङ्ग माना है और कुछ आचार्य 'स्कन्ध' को सातवाँ अङ्ग मानते हैं। भरत के अनुसार नेत्र, भौंह, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक ये छः उपाङ्ग हैं। नन्दिकेश्वर ने स्कन्ध, बाहु, पीठ, उदर, ऊरु और जङ्घा को प्रत्यङ्ग माना है। कुछ नाट्याचार्य मणिबन्ध, जानु और घुटनों को अतिरिक्त प्रत्यङ्ग मानते हैं और कुछ आचार्य ग्रीवा को प्रत्यङ्गों में परिगणित करते हैं।

शिरोऽभिनय—

नाट्यशास्त्र में शिरोऽभिनय के तेरह प्रकार बताये गये हैं—आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निहञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित। भरतार्णव में शिर के चौदह भेद बताये गये हैं। उनमें तेरह भेद नाट्यशास्त्र में मिलते हैं। 'उद्वाहित' नामक एक भेद भरतार्णव में अधिक बताया गया है, जो नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। इनके अतिरिक्त भरतार्णव में पाँच भेद अन्य मतानुसार भी बताये गये हैं। अभिवयदर्पण में शिरोऽभिनय के केवल नौ भेद बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त सामान्य लोकाभिनय के आधार पर शिरोऽभिनय के अन्य भेद भी हो सकते हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार धीरे-धीरे शिर को ऊपर तथा नीचे की ओर हिलाना **'आकम्पित'** और उसी को बार-बार द्रुत गति से हिलाना **'कम्पित'** शिर कहलाता है इसी प्रकार शिर को धीरे-धीरे इधर-उधर हिलाना **'धुत'** और तीव्रगति से शिर हिलाना **'विधुत'** शिर कहलाता है। यदि शिर को क्रमशः दोनों पार्श्वों में कम्पित किया जाय तो **'परिवाहित'** और तिरछा करके जब एक बार कम्पित किया जाय तो **'आधूत'** तथा शिर को यदि नीचे की ओर एक बार कम्पित किया जाय तो **'अवधूत'** शिर कहलाता है। यदि ग्रीवा को पार्श्व की ओर घुमा दिया जाय तो **'अञ्चित'** और यदि कन्धे ऊपर की ओर उठे हुए हों और ग्रीवा अञ्चित हो तो **'निहञ्चित'** शिर कहलाता है। यदि शिर को पीछे की ओर मोड़ दिया जाय तो **'परावृत'** और यदि ऊपर की ओर उन्मुख हो तो **'उत्क्षिप्त'** शिरोऽभिनय होता है। यदि शिर को नीचे की ओर झुका दिया जाय तो **'अधोगत'** और यदि चारों ओर घुमाया जाय तो **'लोलित'** शिरोऽभिनय कहलाता है। सरल स्वभाव से प्रकृत अवस्था में शिर का स्थित होना

'स्वभावज' शिरोऽभिनय होता है। नाट्य प्रयोक्ताओं को लोक-स्वभाव के अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए।

दृष्टि के अभिनय—

नाट्यशास्त्र में दृष्टि का तीन रूपों में विवेचन किया गया है—रस की दृष्टि से, स्थायीभाव की दृष्टि से और व्यभिचारीभाव की दृष्टि से। नाट्यशास्त्र के अनुसार कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्री, वीरा और बीभत्सा ये आठ रस दृष्टियाँ हैं। स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता, और विस्मिता ये आठ स्थायीभाव दृष्टियाँ हैं। ये क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा और आश्चर्य के अभिनय में प्रयुक्त होती हैं। शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विलुप्ता, आकेकरा, विकोशा, त्रस्ता और मदिरा ये बीस व्यभिचारीभाव दृष्टियाँ हैं। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में आठ रस दृष्टियाँ, आठ स्थायीभाव दृष्टियाँ और बीस व्यभिचारी-भाव दृष्टियाँ कुल छत्तीस दृष्टिभेदों का निरूपण किया गया है जिनके द्वारा विविध रसों का उन्मेष होता है। कुमारस्वामी ने आठ अन्य दृष्टियों को स्वीकार कर कुल चौवालीस दृष्टियाँ मानी है और अभिनयदर्पण में तो केवल आठ दृष्टियाँ ही स्वीकार की गई हैं। भरतार्णव में नाट्यशास्त्र के अनुसार छत्तीस दृष्टियाँ स्वीकार की गई हैं और उनके नाम एवं लक्षण नाट्यशास्त्र के अनुसार ही स्वीकृत हैं। भरतार्णव में प्रतिपादित छत्तीस दृष्टिभेदों से अभिनयदर्पण में कथित दृष्टिभेद पृथक् है। सङ्गीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में नाट्यशास्त्र के अनुसार ही छत्तीस दृष्टियाँ स्वीकार की गई हैं। नाट्यशास्त्र में दृष्टि के अन्तर्गत ही भौंह, तारा, पुट आदि का भी पृथक् रूप से विवेचन किया गया है।

पुत्तालिकाकर्म (ताराकर्म)—

नेत्र और पुतलियों के माध्यम से होने वाली विभिन्न प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति 'पुत्तलिका' या 'तारा' कर्म है। नाट्यशास्त्र में ताराकर्म के नौ प्रकार बतलाये गये हैं—भ्रमण, वलन, पातन, चलन, प्रवेशन, विवर्त्तन, समुद्वृत्त, निष्क्राम और प्राकृत। संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में ताराकर्म के दो प्रकार बताये गये हैं—आत्मनिष्ठ एवं विषयाभिमुख। इनमें आत्मनिष्ठ ताराकर्म के नौ भेद हैं जो नाट्यशास्त्र में वर्णित भेदों के समान हैं और विषयाभिमुख तारकर्म के आठ भेद निर्दिष्ट हैं—सम, साची, अनुवृत्त, अवलोकित, विलोकित, आलोकित, उल्लोकित और प्रविलोकित। नाट्यशास्त्र में इन आठ भेदों को दर्शन-भेद के नाम से स्वीकार किया गया है। अभिनयदर्पण में इन्हें

दृष्टिभेद कहा गया है। रस और भावों में इनका विनियोग किया जाता है। ताराकर्म के भेदों के लक्षण निम्नलिखित प्रकार हैं—पलकों के भीतर पुतलियों को गोलाकार घुमाना 'भ्रमण' तिरछे घुमाना 'वलन' ऊपर से नीचे गिराना 'पातन' कम्पन होना 'वलन' पलकों के भीतर पुतलियों का प्रवेश 'प्रवेशन' कटाक्ष करना 'विवर्त्तन' ऊपर की ओर घुमाना 'समुद्वृत्त' पुतलियों का बाहर निकालना 'निष्क्राम' और स्वाभाविक स्थिति ये रखना 'प्राकृत' ताराकर्म कहलाता है।

पुटकर्म—

नाट्यशास्त्र में पुत्तलियों की गति का अनुसरण करने वाले नौ प्रकार के पुटकर्म का निर्देश किया गया है—उन्मेष, निमेष, प्रसृत, कुञ्चित, सम, विवर्तित, स्फुरित, पिहित और विताड़ित। रस और भावों में इनका विनियोग होता है। इनमें दो पलकों का विश्लेष 'उन्मेष', संश्लेष 'निमेष' फैलाव 'प्रसृत' सिकुड़ना 'कुञ्चित' स्वाभाविक स्थिति में रहना 'सम' ऊपर की ओर उठाना 'विवर्तित' स्पन्दन (फड़कना) 'स्फुरित' बन्द होना 'पिहित' और आहत होना 'विताड़ित' कहलाता है।

भ्रुकुटिकर्म —

नाट्यशास्त्र में भ्रुकुटिकर्म के सात प्रकार बताये गये हैं—उत्क्षेप, पातन, भ्रुकुटि, चतुर, कुञ्चित, रेचित और सहज। रस और भावों के अभिव्यञ्जन में इनका विनियोग किया जाता है। इनमें भौहों का क्रम से ऊपर उठाना 'उत्क्षेप' नीचे की ओर उतारना 'पातन' भौहों के मूलों का एक साथ ऊपर उठाना 'भ्रुकुटी, भ्रुकुटी की प्रधुरता एवं विस्तार 'चतुर' क्रमशः धीरे-धीरे झुकाना 'कुञ्चित ऊपर की ओर उठाना 'रेचित' और स्वाभाविक स्थिति में रहना 'सहज' भ्रुकुटिकर्म' कहलाता है।

नासाकर्म —

नाट्यशास्त्र में नासिका के छः कर्म बताये गये है—नता, मन्दा, विकृष्टा, सोच्छ्वासा, विकूणिता और स्वाभाविका। इनमें नासापुट के बार-बार संश्लेपण से 'नता', स्थिर होने से 'मन्दा', अधिक फूला हुआ होने से 'विकृष्टा' वायु को नासापुट में खींचने से 'सोच्छ्वासा' नासापुट के सिकुड़ा हुआ होने से 'विकूणिता' और स्वाभाविक रूप में स्थित होने पर स्वाभाविकी नासिका कहलाती है।

कपोलकर्म —

नाट्यशास्त्र में छः प्रकार के कपोलकर्म कहे गये हैं—क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, कम्पित, कुञ्चित और सम। इनमें क्षीण कपोलों को क्षाम, विकसित कपोलों को

फुल्ल, उन्नत को पूर्ण, स्फुरित को कम्पित, सङ्कुचित कपोलों को कुञ्चित और स्वाभाविक रूप में स्थित कपोलों को सम कहते हैं।

अधरोष्ठकर्म—

अधरों के द्वारा किया जाने वाला अभिनय 'अधरोष्ठ' कर्म कहलाता है। नाटयशास्त्र में अधरोष्ठ कर्म के छः भेद बताये गये हैं—विवर्त्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, सन्दष्टक और समुद्ग। संगीतरत्नाकर, नृत्याध्याय और नृत्तरत्नावली में उपर्युक्त छः ही भेद बताये गये हैं। अन्य आचार्य अधरोष्ठ के चार भेद और बतलाते हैं। इनमें अधर का तिरछा सिकुड़ना 'विवर्त्तन', वेपन 'कम्पित', बाहर निकालना 'विसर्ग' भीतर ले जाना 'विनिगूहन' अधर को दांतों से काटना 'सन्दष्टक' और बाहर की ओर उन्नत करना 'समुद्ग' कहा जाता है।

चिबुककर्म—

नाट्यशास्त्र में सात प्रकार के चिबुककर्म बताये गये हैं। उनके नाम हैं—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहित, सम और दण्ड। इनमें दांतों का किटकिटाना 'कुट्टन' बार-बार चबाना 'खण्डन' दृढता से मिलाना 'छिन्न' दूर हटा लेना चुक्कित' जीभ से दांतों का काटना 'लेहित' और दांतों का किञ्चित् श्लेष 'सम' और दांतों से अधर का काटना 'दष्ट' कहलाता है। वस्तुतः नाटयशास्त्र में जो चिबुक के लक्षण बताये गये हैं वे दांतो के लक्षण हैं। नाटयशास्त्र में दन्तकर्म का अलग से निरूपण नहीं है। वहाँ चिवुक कर्म को ही दन्तकर्म कहा गया है। संगीत-रत्नाकर और नृत्याध्वाय में दन्तकर्म के अन्तर्गत ही चिवुककर्म का निरूपण किया गया है।

मुखजकर्म—

नाट्यशास्त्र में छः प्रकार के मुखजकर्म बताये गये हैं—विधुत, विनिवृत्त, निर्भुग्न, भुग्न, विवृत और उद्वाहि। इनमें तिरछा फैलाया हुआ मुख 'विधुत' खुला हुआ मुख 'विनिवृत्त' नीचे को ओर झुका हुआ मुख 'निर्भुग्न' थोड़ा फैला हुआ मुख 'भुग्न' ओठों के साथ खुला हुआ मुख 'विवृत' और ऊपर की ओर उठा हुआ मुख 'उद्वाहि' कहलाता है।

मुखराग—

जिसके द्वारा धीर पुरुष रसात्मक चित्तवृत्ति को अभिव्यक्त करते हैं रसाभिव्यक्ति का हेतु होने से उसे 'मुखराग' कहा जाता है। नाटयशास्त्र में मुखराग के चार प्रकार बताये गये हैं—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। भरत के अनुसार शाखा, अङ्ग और उपाङ्ग से युक्त अच्छी प्रकार से किया गया अभिनय

भी मुखराग से रहित होने पर शोभा नहीं देता और मुखराग से समन्वित थोड़ा भी आङ्गिक अभिनय द्विगुणित शोभा उत्पन्न करता है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार में चन्द्रमा द्विगुणित शोभा को प्राप्त होता है। मुखराग से युक्त दृष्टि का अभिनय भी अनेक प्रकार के भावों और रसों को स्फुरित करता है। क्योंकि मुखराग में ही नाट्य प्रतिष्ठित है। अतः रस एवं भावों के आश्रित मुखराग का रस और भावों के अनुरूप नाट्य में प्रयोग करना चाहिए।

ग्रीवाकर्म—

ग्रीवा के माध्यम से किया गया अभिनय 'ग्रीवा कर्म' कहा जाता है। ग्रीवा पर ही शिर का सारा अभिनय आधारित है। इसीलिए अभिनय में ग्रीवा का अत्यधिक महत्त्व है। नाट्यशास्त्र में ग्रीवा की नौ स्थितियाँ बताई गई हैं –समा, नता, उन्नता, त्र्यस्रा, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, वलिता और विवृता। अग्निपुराण, संगीतरत्नाकर, नृत्याध्याय, नृत्तरत्नावली में भी ग्रीवा की नौ स्थितियाँ स्वीकार की गयी है जो नाट्यशास्त्र के समान है। अभिनयदर्पण में ग्रीवा की चार स्थितियाँ बताई गई हैं—सुन्दरी, तिरश्चीना, परिवर्त्तिता और प्रकम्पिता। अपनी स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान ग्रीवा 'समा' झुकी हुई ग्रीवा 'नता' ऊपर उठी हुई ग्रीवा 'उन्नता' बगल में झुकी हुई ग्रीवा 'त्र्यस्रा' कांपती या घूमती हुई ग्रीवा 'रेचिता' नीचे झुकी हुई ग्रीवा 'कुञ्चिता' पीछे की ओर झुकी हुई ग्रीवा 'अञ्चिता' बगल की ओर उन्मुखता की जाने वाली ग्रीवा 'वलिता' और सामने की ओर अभिमुख की जाने वाली ग्रीवा 'निवृता' कहलाती है।

हस्ताभिनय

नाट्यप्रयोग में हस्ताभिनय का प्रमुख स्थान है। अभिनय की दृष्टि से ऐसा कोई नाट्यार्थ नहीं है जिसे रूप देने में हस्ताभिनय का प्रयोग न होता हो। हस्ताभिनय के द्वारा मानव-हृदय के सुख-दुःखादि भावों की अभिव्यञ्जना होती है। किन्तु हाथ की प्रत्येक मुद्रा के मूल में भाव और रस की आन्तरिक प्रेरणा अवश्य रहती है। यही कारण है कि भरत ने हस्त मुद्राओं का विशद विवेचन किया है।

हस्तमुद्राओं की रचना में देश, काल, प्रयोग, अर्थयुक्ति के साथ करण, कर्म, स्थान, प्रचार, युक्ति और क्रिया का भी बड़ा महत्त्व है। देश, काल, प्रयोग, अर्थयुक्ति, करण, कर्म, स्थान, प्रचार, क्रिया आदि को देखकर हस्ताभिनय का प्रयोग करना चाहिए। इनमें अर्थयुक्ति का विशेष महत्त्व है। नाट्य-प्रयोग में वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में पात्र हस्तमुद्राओं के द्वारा न जाने कितने अर्थों का प्रकाशन करता है। अतः हस्ताभिनय के प्रदर्शन में अर्थयुक्ति का अवेक्षण आवश्यक है। उसके द्वारा न जाने कितनी चमत्कारपूर्ण अर्थ परम्पराओं का सृजन होता है।

नाट्यशास्त्र में हस्ताभिनय के तीन विभाग स्वीकार किये हैं—**असंयुतहस्त**, संयुतहस्त और नृत्तहस्त।

असंयुतहस्त—

एक हाथ से किये जाने वाले अभिनय को 'असंयुतहस्त' कहते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार असंयुत हस्त के चौबीस भेद होते हैं—पताक, त्रिपताक, कर्त्तरीमुख, **अर्धचन्द्र**, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्थ, कटकामुख, सूच्यास्य (सूचीमुख), पद्मकोश, सर्पशीर्ष, मृगशीर्ष, काङ्गूल, अलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य (हंसमुख), हंसपक्ष, सन्दंश, मुकुल, ऊर्णनाभ और ताम्रचूड़। संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में भी असंयुतहस्त के चौबीस भेद बताये गये हैं। भरतार्णव में असंयुतहस्त के सत्ताइस और अभिनयदर्पण में अट्ठाइस भेद प्रतिपादित हैं।

पताकहस्त हस्त में सभी अङ्गुलियाँ सम और प्रसृत होती हैं और अंगूठा कुञ्चित होता है। **त्रिपताक हस्त** पताकहस्त के समान होता है। केवल इसमें अनामिका अङ्गुली बक्र होती है। **कर्त्तरीमुख** त्रिपताकहस्त की तरह होता है, केवल इसकी तर्जनी पीछे की ओर मुड़ी हुई होती है। **अर्द्धचन्द्र** हस्त में अंगूठे के साथ समस्त अंगुलियाँ धनुष की तरह विनत (झुकी हुई) और **अरालहस्त** में तर्जनी धनुष की तरह नत होती है और अंगूठा कुञ्चित होता है तथा शेष अंगुलियाँ भिन्न एवं ऊपर की ओर वलित होती हैं। यदि अरालहस्त की अनामिका अंगुली वक्र कर दी जाय तो 'शुकतुण्ड' हस्त होता है।

मुष्टि, शिखर और कपित्थ ये तीनों हस्त एक दूसरे के अधिक निकटवर्त्ती हैं। जिस हाथ की अङ्गुलियाँ हथेली के मध्य में झुकी हुई हों और उनके ऊपर अंगूठा हो तो उसे **'मुष्टि'** हस्त कहते हैं। यदि मुष्टिहस्त में अंगूठा ऊपर उठा दिया जाय तो **'शिखर'** हस्त बन जाता है और यदि शिखरहस्त की तर्जनी अंगुली को अंगूठे से दबाकर वक्र कर दी जाय तो **'कपित्थ'** हस्त कहा जाता है। यदि कपित्थ हस्त की अनामिका अंगुली को कनिष्ठिका के साथ ऊपर उठाकर वक्र कर दिया जाय तो **'खटखामुख'** हस्त कहा जाता है। यदि खटकामुख हस्त की तर्जनी अङ्गुली को सीधा फैला दिया जाय तो **'सूचीमुख'** हस्त कहलाता है। **पद्मकोश** हस्त में सभी अंगुलियाँ कुञ्चित होकर ऊपर की ओर उठी हुई होती हैं।

यदि अंगूठे के साथ सारी अङ्गुलियाँ परस्पर मिली हुई हों और हथेली झुकी हुई हो तो **'सर्पशीर्ष'** हस्त कहलाता है। यदि सारी अङ्गुलियाँ अधोमुख होकर मिली हुई हों और कनिष्ठिका तथा अंगूठा ऊर्ध्वमुख हो तो **'मृगशीर्ष'** हस्त होता है। यदि मध्यमा, तर्जनी और अंगूठा अलग अलग स्थित हों, अनामिका वक्र और कनिष्ठिका

ऊपर उठी हुई हो तो 'काङ्गुल' हस्त होता है। यदि सारी अङ्गुलियाँ हथेली से वृताकार रूप में आवर्त्तित हों और पार्श्व में आकर विखर जाँय तो उसे **'अलपल्लव'** हस्त कहते हैं। जिस हाथ की तीनों अङ्गुलियाँ प्रसारित, कनिष्ठिका अंगुली ऊपर उठी हुई और अंगूठा मध्य में स्थित होता हो, वह **'चतुर'** हस्त कहलाता है। मानव-जीवन के अनेक सुकुमार भावों का अभिनय 'चतुर' हस्त के द्वारा होता है।

यदि मध्यमा अंगुली अंगूठे से संदष्ट हो और तर्जनी वक्र हो तथा अन्य अङ्गुलियां ऊपर की ओर प्रकीर्ण हो तो **'भ्रमर'** हस्त कहलाता है। यदि तर्जनी, मध्यमा और अंगूठा त्रेताग्नि को तरह मिले हुए हों, अनामिका और कनिष्ठिका प्रसृत हों तो **'हंसास्य'** या **'हंसमुख'** हस्त कहलाता है। यदि तीनों अङ्गुलियाँ प्रसृत हों, कनिष्ठिका ऊपर उठो हुई और अंगूठा कुञ्चित हो तो **'हंसपक्ष'** हस्त कहलाता है। यदि अराल हस्तमुद्रा में तर्जनी अंगूठे से सन्दष्ट हो और हथेली थोड़ी नत हो तो **'सन्दंश'** हस्त कहा जाता है। इसके तीन प्रकार होते हैं—अग्रज, मुखज और पार्श्वगत। जिस हाथ की अङ्गुलियाँ सम, अग्रभाग से नत और परस्पर मिली हुई हों उसे **'मुकुल'** हस्त कहते हैं। यदि पद्मकोश हस्त की अंगुलियाँ कुञ्चित कर दी जाँय तो **'ऊर्णनाभ'** हस्त कहलाता है। यदि मध्यमा अंगुली अंगूठे से सन्दष्ट हो और तर्जनी वक्र हो तथा शेष दो अङ्गुलियाँ हथेली पर स्थित हों तो उसे 'ताम्रचूड़' हस्त कहते हैं।

संयुक्तहस्त—

दोनों हाथों के परस्पर मिले हुए अभिनय को 'संयुतहस्त' कहते है। नाटयशास्त्र के अनुसार संयुत हस्त के तेरह भेद होते हैं—अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटकाबर्धमान, उत्संग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ और वर्धमान। सङ्गीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में संयुतहस्त के नाटय-शास्त्र के अनुसार तेरह भेद बताये गये है। भरतार्णव में सोलह और अभिनय दर्पण में तेइस संयुत हस्तों का निरूपण किया गया है। नाटचशास्त्र के अनुसार असंयुत हस्त को विभिन्न मुद्राओं के समन्वय से ही संयुत हस्त मुद्राओं की रूप-दचना होती है।

संयुत हस्तमुद्राओं में 'अञ्जलि' एक प्रसिद्ध हस्तमुद्रा है। यदि दो पताक हस्त परस्पर जोड़ दिये जाँय तो **'अञ्जलि'** हस्तमुद्रा कही जाती है। दोनों हाथों के पार्श्वों के परस्पर संश्लेष से **'कपोत'** हस्त बनता है। जिस हाथ की अङ्गुलियाँ परस्पर बीच से निकली हुई हों उसे **'कर्कट'** हस्त कहते हैं। यदि मणिबन्ध पर विन्यस्त दो अरालहस्तों को उत्तान करके वाम पार्श्व में रख दिया जाय तो **'स्वस्तिक'** हस्त कहलाता है। खटकहस्त को खटकहस्त पर रखने से **'खटकावर्धमानक'** हस्त कहलाता है। यदि दोनों अरालहस्तों को स्वस्तिक हस्तमुद्रा में उत्तान

करके दोनों कन्धों पर रख दिया जाय तो **'उत्सङ्ग'** हस्त कहा जाता है। यदि मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त से परिवेष्टित कर दिया जाय तो **'निषध'** हस्त कहलाता है। अथवा यदि शिखर हस्त को मृगशीर्ष हस्त से पीड़ित कर दिया जाय तो **'निषध'** हस्त होता है। जिस हाथ में दोनों कन्धे शिथिल हों और दोनों पताकहस्त प्रलम्बित हों, उसे **'दोलहस्त'** कहते हैं। यदि दोनों शुकतुण्ड हस्तों को वक्षःस्थल पर सामने से अञ्चित करके अधोमुख आविद्ध कर दिया जाय तो **'अवहित्थ'** हस्त होता है। सर्पशीर्ष हस्त की संहत अंगुलियाँ यदि द्वितीय पार्श्व में संश्लिष्ट हो जाँय तो **'पुष्पपुट'** हस्त कहलाता है। यदि दो पताक हस्त ऊपर उठे हुए हों और अंगूठा अधोमुख हो तथा दोनों एक दूसरे के ऊपर रख दिये जाँय तो **'मकर'** हस्त होता है। यदि दो सर्पशीर्ष हस्तों को कोहनो और कन्धों पर रख दिया जाय तो **'गजदन्त'** हस्त होता है। यदि मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त से परिवेष्टित कर दिया जाय तो **'वर्धमान'** हस्त कहलाता है।

नृत्तहस्त -

नृत्तहस्त अभिनय में सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं और नृत्य को शोभायुक्त बनाते हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य-वर्धन में नृत्तहस्तों बड़ा हाथ रहता है। इसीलिए नृत्तहस्तों को नृत्य का अलङ्कार कहा गया है। समस्त नृत्तहस्तों की रूपरचना असंयुत और संयुत हस्ताभिनय के विविध रूपों के आधार पर होती है। नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार के नृत्तहस्तों का विवेचन किया गया है। संगीत-रत्नाकर और नृत्यरत्नावली में नाट्यशास्त्र के समान तीस नृत्तहस्तों का निरूपण किया गया है। भरतार्णव में बाइस और अभिनयदर्पण में तेइस नृत्तहस्तों का वर्णन है। भरत के अनुसार चतुरस्र, उद्वृत्त, तलमुख, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, अराल, खटकामुख, आबिद्धवक्र, सूचीमुख, रेचित, अर्धरेचित, उत्तानवञ्चित, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लताहस्त, करिहस्त, पक्षवञ्चित, पक्षप्रद्योतक, गरुड़पक्ष, दण्डपक्ष, ऊर्ध्वमण्डलिन्, पार्श्वमण्डलिन्, उरोमण्डली, उरःपार्श्वमण्डली, मुष्टिस्वस्तिक, नलिनीपद्मकोश, अलपल्लव, उल्वण, ललित तथा वलित ये तीस प्रकार के नृत्तहस्त हैं।

यदि दोनों खटकामुख हस्त वक्षःस्थल से आठ हाथ की दूरी पर पराङ्मुख हों और दोनों कोहनियाँ तथा कन्धे समान रूप में सन्तुलित हों हो **'चतुरस्र'** नृत्तहस्त कहलाता है। यदि दो हंसपक्ष हस्तों को तालवृन्त के समान पलट दिया जाय तो **'उद्वृत्त'** हस्त होता है। चतुरस्र आकार में स्थित हाथों को हंसपक्ष हस्तमुद्रा में करके तिरछे हाथ को यदि सामने की ओर रख दिया जाय तो **'तलमुख'** हस्त होता है। यदि तलमुख हस्त को मणिबन्ध के ऊपर स्वस्तिक मुद्रा में रख दिया जाय तो **'स्वस्तिक'** नृत्तहस्त और उन्हीं को यदि मणिबन्ध से विच्युत कर

दिया जाय तो **'विप्रकीर्ण'** नृत्तहस्त कहलाता है। यदि दोनों अलपल्लव हस्तों को ऊर्ध्वमुख करके पद्मकोश हस्तमुद्रा में परिवर्त्तित कर दिया जाय तो **'अरालखटकामुख'** हस्त होता है । यदि दोनों हाथों को मुकुलहस्त की मुद्रा बार-बार चालित कर दिया जाय तो, **'आविद्धवक्र'** नृत्तहस्त कहलाता है। यदि दो सर्पशीर्ष हस्तों को और मध्यमा एवं अंगूठे को तिरछा फैला दिया जाय तो **'सूचीमुख'** नृत्तहस्त कहलाता है। अन्य मतानुसार यदि सर्पशीर्षहस्त स्वस्तिक मुद्रा में हो और मध्य हथेली में अंगूठे को फैला दिया जाय तो **'सूचीमुख'** नृत्तहस्त कहलाता है। शीघ्रता से घूमने वाले हंसपक्ष हस्तों को **'रेचित'** नृत्तहस्त समझना चाहिए और हथेली को ऊपर फैला देने से भी 'रेचित' नृत्तहस्त होता है और बायें हाथ को चतुरस्र तथा दाहिने हाथ को रेचित कर दिया जाय तो **'अर्धरेचित'** नृत्तहस्त कहलाता है।

जिस हाथ की कोहनियाँ और कन्धे अञ्चित हों और हाथ त्रिपताक मुद्रा में किञ्चित् तिरछा हो तो **'उत्तानवञ्चित'** नृत्तहस्त होता है। यदि वे हस्त मणिबन्ध से मुक्त होकर पताक मुद्रा में स्थित हों तो **'पल्लव'** हस्त होता है। यदि पताकहस्तों को बाहुशीर्ष से निकाल दिया जाय तो **'नितम्ब'** हस्त कहलाता है। यदि दो पताक-हस्तों को केशप्रदेश से निकाल कर दोनों बाहुओं पर रख दिये जाँय तो **'केशबन्ध'** नृत्तहस्त कहलाता है। यदि दोनों पताक हस्त तिरछे फैलाये हुए पार्श्व में संस्थित हों तो **'लताहस्त'** होता है और यदि एक लताहस्त समुन्नत होकर पार्श्व से दूसरे पार्श्व में विलोलित हो और दूसरा त्रिपताक मुद्रा में कान के पास हो तो **'करिहस्त'** कहलाता है। यदि त्रिपताक हस्तों को क्रमशः कटि और शीर्ष पर रख दिया जाय तो **'पक्षवञ्चित'** हस्त कहलाता है और यदि पक्षवञ्चित हस्तों को परावर्त्तित कर दिया जाय तो **'पक्षप्रद्योतक'** हस्त होता है तथा यदि हथेलियों को अधोमुख कर आविद्ध कर दिया जाय तो **'गरुड़पक्ष'** हस्त कहलाता है।

यदि हंसपक्ष हस्तों को क्रमशः व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित कर दिया जाय तो **'दण्डपक्ष'** नृत्तहस्त हकलाता है और यदि दण्डपक्ष हस्त को ऊर्ध्वदेश में विवर्त्तित कर दिया जाय तो **'ऊर्ध्वमण्डलिन्'** हस्त हो जाता है और यदि उन्हीं ऊर्ध्वमण्डलिन् हस्तों को एक बगल में रख दिया जाय तो **'पार्श्वमण्डलिन्'** हस्त कहलाता है। यदि एक हाथ को उद्वेष्टित और दूसरे हाथ को अपवेष्टित कर दोनों को वक्षःस्थल पर घुमाते हुए रख दिया तो **'उरोमण्डलिन्'** हस्त होता है । इसी प्रकार अराल और अलपल्लव हस्तों को वक्षःस्थल पर आधा घुमा देने और पार्श्व में आवर्त्तित कर देने से **'उरःपार्श्वमण्डलिन्'** हस्त होता है। यदि खटकामुख हस्त को मणिबन्ध के समीप कुञ्चित और अञ्चित कर दिया जाय तो **'मुष्टिक-स्वास्तिक'** हस्त कहलाता है। यदि पद्मकोश हस्त को व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित कर दिया जाय तो

'नलिनीपद्मकोश' हस्त होता है। यदि हाथों के अग्रभाग को उद्वेष्टित कर अल-पल्लव मुद्रा में ऊपर की ओर प्रसारित कर आविद्ध कर दिया जाय तो **'उल्वण'** नृतहस्त होता है और यदि अलपल्लव हस्तों को शिर पर रख दिया जाय तो **'ललित'** हस्त कहलाता है। इसी प्रकार यदि लताहस्तों को कोहनियों पर स्वस्तिक मुद्रा में रख दिया जाया तो **'वलित'** नृत्तहस्त कहलाता है। नाट्य और नृत्य में इन हस्तों का प्रयोग होता है।

करणहस्त—

भरत ने सभी प्रकार के हाथों के करण चार प्रकार के बताये हैं—आवेष्टित, उद्वेष्टित, व्यावर्त्तित और परिवर्त्तित। जब तर्जनी आदि अंगुलियाँ क्रमशः भीतर की ओर आवेष्टित हों तो **'आवेष्टित'** करण कहा जाता है। यदि बाहर की ओर उद्वेष्टित कर दी जाय तो **'उद्वेष्टित'** करण कहलाता है। यदि कनिष्ठा आदि अंगुलियाँ क्रमशः भीतर की ओर आवर्त्तित कर दी जाँय तो **'व्यावर्त्तित'** करण कहा जाता है और यदि बाहर की ओर परिवर्त्तित कर दी जाय तो **'परिवर्त्तित'** करण कहलाता है। नृत्त और अभिनय के प्रयोग में करणों का प्रयोग करना चाहिए।

उरःकर्म—

नाट्यशास्त्र में आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित और सम ये पाँच प्रकार के उरःकर्म कहे गये हैं। उरस् (हृदय) यदि सामने नत हो, पृष्ठ उन्नत हो और कन्धे झुके हुए शिथिल हों तो **'आभुग्न'** उर कहा जाता है। यदि उर स्तब्ध हो, पृष्ठ झुका हुआ हो और स्कन्ध निर्भुग्न और समुन्नत हो तो **'निर्भुग्न'** उर कहलाता है। यदि निरन्तर ऊर्ध्वक्षेप से उर में कम्पन हो तो **'प्रकम्पित'** उर कहा जाता है। ऊपर की ओर उठे हुए उर को **'उद्वाहित'** उर कहते हैं। चतुरस्र एवं सौष्ठवयुक्त सभी अङ्गों के विन्यास से 'सम' नामक उर होता है।

पार्श्वकर्म—

नाट्यशास्त्र में नत समुन्नत, प्रसारित, विवर्त्तित और अपसृत ये पाँच प्रकार के पार्श्वकर्म बताये गये हैं। यदि कटि और पार्श्व आभुग्न (झुका हुआ) और स्कन्ध कुछ अपसृत हो तो **'नत'** पार्श्व कहलाता है और यदि नत पार्श्व का अपर पार्श्व विपरीत हो और कटि, पार्श्व, भुज, स्कन्ध ऊपर उठे हुए हों तो **'समुन्नत'** पार्श्व कहलाता है। यदि पार्श्वों को दोनों ओर फैला दिया जाय तो **'प्रसारित'** पार्श्व होता है और यदि त्रिक परिवर्त्तित कर दिया जाय तो **'विवर्तित'** पार्श्व कहा जाता है और विवर्तित पार्श्व के अपनयन से **'अपसृत'** पार्श्व होता है। उपसर्पण, अपसर्पण प्रहर्ष आदि में इनका विनियोग होता है।

उदरकर्म—

नाट्यशास्त्र में तीन प्रकार के उदरकर्म बताये गये हैं—क्षाम, खल्व और पूर्ण। इनमें क्षीण उदर **'क्षाम'**, नत उदर **'खल्व'** और भरा हुआ उदर **'पूर्ण'** उदर कहलाता है। हास्य, रुदन, व्याधि आदि के अभिनय में इनका विनियोग होता है। कुछ आचार्य उदर के चार भेद मानते हैं—क्षाम, खल्व, सम और पूर्ण।

कटिकर्म--

नाट्यशास्त्र के अनुसार कटि कर्म के पाँच प्रकार बताये गये हैं--छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता और उद्वाहिता। मध्यभाग के वलन से **'छिन्ना'** कटि, पराङ्मुख व्यक्ति के सम्मुख निर्वतित होने वाली कटि **'निवृत्ता'** चारों ओर भ्रमण करने से **'रेचिता'** कटि और तिरछा आने जाने वाली कटि **'प्रकम्पिता'** तथा नितम्ब के पार्श्व भाग में धीरे धीरे उद्वहन करनेवाली कटि **'उद्वाहिता'** कटि कहलाती है। व्यायाम, भ्रमण आदि में इनका विनियोग होता है।

ऊरुकर्म—

नाट्यशास्त्र में पाँच प्रकार के ऊरुकर्म कहे गये हैं--कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन और निवर्तन। एड़ी के बार-बार नमन-उन्नमन से **'कम्पन'**, ऊरु के जानु के भीतर की ओर होने पर **'वलन'**, ऊरु के निष्क्रिय होने पर **'स्तम्भन'** और ऊरु के वलित एवं आविद्ध करने से **उद्वर्तन'** तथा एड़ी के भीतर की ओर जाने से **'निवर्तन'** ऊरु कहलाता है। गति, भय, विषाद व्यायाम आदि में इनका विनियोग होता है।

जङ्घाकर्म—

नाट्यशास्त्र के अनुसार जङ्घाकर्म के पाँच प्रकार होते हैं—आवर्तित नत, क्षिप्त, उद्वाहित और परिवृत्त। यदि बायें पैर को दाहिनी ओर और दाहिने पैर को बायीं ओर घुमा दिया जाय तो **'आवर्तित'** जङ्घा कहलाती है। जङ्घा के आकुञ्चन से **'नत'** जङ्घा, जङ्घा को यदि ऊपर की ओर उठाया जाय तो **'उद्वाहित'** जङ्घा, और जङ्घा के बाहर की ओर फेंकने से **'क्षिप्त'** जङ्घा तथा पीछे की ओर मोड़ देने **'परिवृत्त'** नामक जङ्घा होती है। विदूषक के परिक्रमण, स्थान, आसन, व्यायाम, ताण्डव आदि में इनका विनियोग होता है।

पादाभिनय--

नाट्य में पादाभिनय का बड़ा महत्त्व माना जाता है। भरत ने पादाभिनय के पाँच प्रकार बताये हैं--उद्घट्टित, सम, अग्रतलसञ्चर, अञ्चित और कुञ्चित। संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में पादाभिनय के तेरह प्रकार बताये गये है। भरतार्णव में चौंतीस प्रकार के पादाभिनयों का उल्लेख है किन्तु अभिनयदर्पण में

चार प्रकार के पादाभिनय वर्णित है—मण्डल, उत्प्लवन, भ्रमरी और पादचारी। यदि पैर के तलवे के अग्रभाग से स्थित होकर एड़ी को भूमि पर गिराया जाय तो '**उद्घट्टित**' पाद कहलाता है। स्वाभाविक रूप में समतल भूमि पर स्थित पैर '**समपाद**' कहलाता है समपाद की एड़ी यदि दूसरे पैर के भीतर ही और अंगूठा बाहर की ओर बगल में हो तो '**त्र्यस्र**' पाद कहलाता है। यदि एड़ी उठी हुई हो और अंगूठा फैला हुआ हो और सारी अङ्गुलियाँ अञ्चित हो तो '**अग्रतलसञ्चर**' पाद कहलाता है। यदि एड़ी भूमि पर अञ्चित हो और पैर का अग्रतल आगे की ओर हो तथा सारी अङ्गुलियाँ अञ्चित हो तो '**अञ्चित**' पाद कहा जाता है। यदि एड़ी ऊपर उठी हुई हो, अङ्गुलियाँ तथा मध्यभाग कुञ्चित हो तो उसे '**कुञ्चित**' पाद कहते हैं।

चारी--

नाठ्यशास्त्र के अनुसार कटि, पार्श्व, ऊरु और जङ्घा के द्वारा किये जाने वाले अभिनयों का समानोकरण 'चारी' कहा गया है। भरतमुनि का कथन है कि नाट्य को स्थिति चारी से ही होती है, चारी के विना कोई अङ्ग प्रवृत्त नहीं होता है, चारी के द्वारा ही नृत्त और अङ्गहारों की रचना होती है, चारी के द्वारा ही शस्त्र-मोक्षण होता है, चारी का प्रयोग युद्ध में होता है, अभिनय की सारी चेष्टाएँ चारी से ही निष्पन्न होती हैं। अतः नाट्य और नृत्त में चारी का विशेष महत्त्व है।

नाठ्यशास्त्र के अनुसार एक पैर से किये जाने वाले अभिनय को 'चारी' कहते हैं और दोनो पैरों के सञ्चालन से जो अभिनय किया जाता है उसे 'करण' कहते हैं। तीन करणों के समायोग से 'खण्ड' और तीन-चार खण्डों के योग से 'मण्डल' की रचना होती है। इनका प्रयोग विशेष रूप से नृत्त में होता है किन्तु नाट्य, युद्ध, शस्त्रमोक्षण आदि में भी चारी का प्रयोग होता है।

भरत ने चारी को दो वर्गों में विभाजित किया है—भौमीचारी और आकाश-चारी। नाट्यशास्त्र में आकाशचारी के सोलह और भूचारी के सोलह कुल बत्तीस भेद बताये गये हैं। भरत के अनुसार समपादा, स्थितावर्त्ता, शकटास्या, अध्यर्धिका, चाषगति, विच्यवा, एलकाक्रीडिता, बद्धा, उरूद्वृत्ता, अड्डिता, उत्स्यन्दिता, जनिता, स्यन्दिता, उपस्यन्दिता, समोत्सारितमत्तलो और मतली ये सोलह भौमी चारियाँ हैं तथा अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता, पार्श्वक्रान्ता, ऊर्ध्वजानु, सूची, नूपुरपादिका, डोलापादा, आक्षिप्ता, आविद्धा, उद्वृत्ता, विद्युद्भ्रान्ता, अलाता, भुजङ्गत्रासिता, हरिणोप्लुता, दण्डपादा और भ्रमरी ये सोलह आकाशिकी चारियाँ हैं।

संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में कोहलादि आचार्यों के मतानुसार देशी चारियों का वर्णन है जिनमें पैंतीस भूचारी और उन्नीस आकाशिकी चारी का विस्तृत

वर्णन है। संगोतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने कोहल के मतानुसार पचीस मधुप चारियों का उल्लेख किया है। जिनमें पाद-सञ्चालन का विशेष महत्त्व होता है। भरतार्णव में आकाशचारी के नौ और भूचारी के सोलह भेद बताये गये हैं। किन्तु अभिनय-दर्पण में केवल आठ चारियों का उल्लेख है। वहाँ भूचारी और आकाशचारी भेदों की परिकल्पना नहीं की गई है। भरतार्णव में दोनों प्रकार की चारियों का वर्णन है। कोहल का कथन है कि चारियों की संख्या में नृत्तवेत्ताओं द्वारा आवश्यकतानुसार समुचित परिवर्त्तन किया जा सकता है। यही कारण है कि विभिन्न विद्वानों ने चारियों की विभिन्न संख्यायें निर्दिष्ट की है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भूचारो का प्रयोग मुख्यरूप से द्वन्द्व युद्ध में और करणों के आश्रयभूत नृत्य में होता है और आकाशिको चारी का प्रयोग मुख्य रूप से ललित अङ्गों की क्रिया के प्रसङ्ग में तथा धनुष, वज्र, असि आदि शस्त्रों के सञ्चालन में होता है।

भरत के अनुसार नाट्य और नृत्य में पादचारी (पाद-प्रचार) के साथ हस्त प्रचार का भो प्रयोग होता है। इनमें कभी तो पाद-प्रचार की प्रधानता होती है तो कभी हस्त प्रचार को प्रधानता होती है और कभी दोनों की प्रधानता होती है। भरत के अनुसार जिस ओर पाद-प्रचार हो उसी ओर हस्त-प्रचार करना चाहिए और जिधर हस्त प्रचार हो, उधर त्रिक को घुमाना चाहिए तथा पाद-प्रचार के अनुसार भ्रू, नेत्र आदि उपाङ्गों की योजना करनी चाहिए। पाद-प्रचार के प्रदर्शन के बाद जैसे ही पैर को भूमि पर रखा जाता है उसो प्रकार हस्त-प्रचार का प्रदर्शन कर हाथ को कटि-प्रदेश पर रखा जाता है।

स्थान—

स्थान करणों का एक तत्त्व है। नृत्य में खड़े होने की मुद्रा को 'स्थान' कहा जाता है और हस्त तथा पाद की स्थितियों को 'करण' कहा गया है। खड़े होने की मुद्रा एक प्रकार से पादस्थिति है। अतः स्थान को करण का तत्त्व माना गया है। नाट्यशास्त्र में छः पुरुष-जातीय और तीन स्त्रीजातोय स्थानों का उल्लेख है। नाट्यशास्त्र के अनुसार छः पुरुषजातोय स्थान हैं—वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़ और प्रत्यालीढ़ तथा तोन स्त्रीजातोय स्थान हैं—आयत, अवहित्थ और अश्वक्रान्त। नाट्यशास्त्र में इन स्थानों के लक्षण और विनियोग भी बताये गये हैं। भरतार्णव में बत्तीस प्रकार के स्थानों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें सात पुरुषजातोय, सात स्त्रोजातोय और अठारह मिश्रित जातीय स्थान है। नाट्यशास्त्र में मिश्रित जातीय स्थानों का निरूपण नहीं है।

न्याय—

नाट्यशास्त्र में शस्त्रमोक्षण की चार विधियाँ बताई गई हैं। जिनकी शास्त्रीय संज्ञा 'न्याय' है। भारत, सात्त्वत, वार्षगण्य और कौशिक ये चार न्याय हैं। भारत न्याय के अनुसार कटि पर, सात्त्वत के अनुसार पाद पर, वार्षगण्य के अनुसार वक्षःस्थल पर और कौशिक के अनुसार शिर पर अस्त्र-प्रहार का विधान बताया गया है। भारत-न्याय के अनुसार पात्र बायें हाथ में खेटक (ढ़ाल) और दाहिने हाथ में उपयुक्त शस्त्र लेकर रङ्गमञ्च पर विचरण करता है। सात्त्वत न्याय में भारत न्याय के अनुसार ही प्रविचरण (चाल) होता है। इसमें केवल पीछे से शस्त्रों का घुमाना होता है। वार्षगण्य न्याय में भी सात्त्वत के अनुसार ही चाल होती है। इसमें शस्त्र और ढाल को साथ-साथ घुमाया जाता है। भारत-न्याय में जो प्रविचार (चाल) किये जाते हैं वही कौशिक न्याय में भी करने चाहिए।

सौष्ठव—

भरत के अनुसार नाट्य में अङ्गसौष्ठव से युक्त तथा अङ्गहारों से विभूषित ताल एवं लय से समन्वित चारी का प्रदर्शन करना चाहिए। क्योंकि नाट्य की सारी शोभा सौष्ठव पर ही आधारित है। नाट्य और नृत्य में सौष्ठव से रहित अङ्ग सुशोभित नहीं होता। जहाँ पर कटि कर्ण (पतवार) के समान हो और कुहनी, कन्धे तथा शिर भी वैसा ही तथा वक्षःस्थल समुन्नत हो तो वह सौष्ठव कहलाता है।

मण्डल-विधान—

नाट्यशास्त्र के अनुसार कई चारियों के संयोग से मण्डलों की निष्पत्ति होती है। नन्दिकेश्वर ने मण्डल को पादाभिनय का एक भेद माना है। नाट्यशास्त्र में दश आकाशगामी और दस भूमिगत मण्डलों का विवेचन किया है। भरत के अनुसार अतिक्रान्त, विचित्र, ललितसञ्चर, सूचीविद्ध, दण्डपाद, विहृत, अलातक, वामबन्ध, ललित और क्रान्त ये दस आकाशगामी मण्डल हैं तथा भ्रमर, आस्कन्दित, आवर्त्त, समोत्सारित, एडकाक्रीडित, अड्डित, शकटास्य, अध्यर्धक, पिष्टकुट्ट और चाषगत ये दस भूमिगत मण्डल हैं। युद्ध, नियुद्ध, परिक्रमण आदि में इनका विनियोग होता है।

●

संकेताक्षर

अ० पु०	=	अग्निपुराण
अ० श०	=	अमरुशतक
अभिनव	=	अभिनवभारती
उ० सू०	=	उणादिसूत्र
अभिनव	=	अभिनवगुप्त
गायकवाड़	=	गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज बड़ौदा
गा० ओ० सी०	=	,, ,, ,,
चौखम्बा	=	चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी
काव्यमाला	=	निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित सम्पूर्ण नाटयशास्त्र (काव्यमाला संस्करण)
कुमा०	=	कुमारसंभव
जे० ए० एच० आर० यस०	=	जनरल आफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी
ध्वन्या०	=	ध्वन्यालोक
ना० शा०	=	नाटयशास्त्र
नि० सा०	=	निर्णयसागर
न्याय सू०	=	न्याय सूत्र
म० म० घोष	=	मदनमोहन घोष
मेघ०	=	मेघदूत
शाकु०	=	शाकुन्तल
काणे (पी० वी० काणे)	=	पाण्डुरङ्गवामन काणे
सं० र०	=	संगीतरत्नाकर
वेणी०	=	वेणीसंहार
रघु०	=	रघुवंश

रत्ना०	=	रत्नावली
विक्रमो०	=	विक्रमोर्वशीय
विक्र०	=	विक्रमोर्वशीय
राजत०	=	राजतरङ्गिणी

●

विषयानुक्रमणिका

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम–अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

भौमो चारियों के लक्षण

आकाशिकी चारियों के लक्षण

एकादश अध्याय

॥ श्रीरस्तु ॥

भरतमुनिप्रणीतं

नाट्यशास्त्रम्

षष्ठोऽध्यायः

[1]पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वा पुनराहुर्महत्तमाः ।
[2]भरतं मुनयः सर्वे प्रश्नान्पञ्चाभिधत्स्व नः ॥१॥

हिन्दी-व्याख्या

पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्ग का विधान बताया गया है। अब छठें अध्याय में रस का निरूपण करेंगे। प्रथम अध्याय में मुनियों ने भरत से पाँच प्रश्न पूछे थे—(१) नाट्यवेद कैसे उत्पन्न हुआ ? (२) किसके लिए बनाया गया ? (३) नाट्य के कितने अङ्ग हैं ? (४) नाट्य का प्रमाण क्या है ? और (५) इस नाट्य का प्रयोग किस प्रकार होता है ? इन प्रश्नों का समाधान पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। अब ऋषिगण पुनः पाँच प्रश्न पूछते हैं, जिनका समाधान अगले अध्यायों में किया जायेगा। अभिनवगुप्त ने भरतमुनि द्वारा छठें अध्याय में पूछे गये प्रश्नों को प्रथम अध्यायोक्त प्रश्नों का उपबृंहणमात्र माना है। जैसा कि प्रथम अध्याय में यह बताया जा चुका है कि उन मौलिक पाँच प्रश्नों का विस्तार विगत पाँच अध्यायों में ही नहीं, अपितु समस्त नाटयशास्त्र में है तथापि ऋषियों ने स्पष्टता के लिए फिर से पाँच प्रश्न पूछे। अब उन पाँच प्रश्नों को ग्रन्थकार उपस्थित करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार पूर्वरङ्ग के विधान को सुनकर फिर सभी श्रेष्ठ मुनियों ने भरतमुनि से कहा—हमारे पाँच प्रश्नों का उत्तर दीजिये ॥ १ ॥

---

१. एकस्मिन् संस्करणेऽयं श्लोको नास्ति, तत्स्थाने 'ऋषय ऊचुः' इति पाठो लभ्यते ।
२. ख. घ. मुनयो भरतं सर्वे पञ्च प्रश्नान् ब्रवीहि नः ।

अभिनव-भारती

पूर्वरङ्गविधिं श्रुत्वेति । पञ्च प्रश्नानिति । यद्यपि पूर्वमपि प्रथमाध्याये प्रश्नपञ्चकमुपन्यस्य सामान्यतोऽङ्गादिस्वरूपं निरूपितं...., तथापि नाट्यतत्त्वं सम्यङ्निर्ज्ञाते[1] निर्णीतं भवति, न वचनमात्रात् । अनेनैवाभिप्रायेण दशरूपकनिरूपणे प्रथमप्रश्नार्थो निगमयिष्यते—

"भविष्यति युगे प्रायो भविष्यन्त्यबुधा नराः ।"
ये चापि हि भविष्यन्ति ते यत्नार्जितबुद्धयः ॥[2]
(ना. शा. १९-१४०) इत्यादि ।

तथा—

"बुद्धयः कर्मशिल्पानि वैचक्षण्यं कलासु च ।"
[3]सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति ॥
(ना शा १९-१५१) इत्यादि ।

सिद्ध्यध्याये च द्वितीयप्रश्नार्थविषयो निर्णेष्यते । "तुष्यन्ति तरुणाः कामे" (ना. शा. २७-५८) इत्यादिना । एवमन्यत्रापि तत्र तत्रेति । एतच्च तद्व्याख्यानप्रसङ्ग एव दर्शयिष्यामः । तेन पूर्वप्रश्नितवस्तुतत्त्वनिर्णय एव तात्पर्यम् । प्रश्नान् पञ्चेति ॥ १ ॥

अभिनव—पूर्वरङ्ग की विधि को सुनकर मुनियों ने पाँच प्रश्नों के समाधान के लिए भरतमुनि से निवेदन किया । यद्यपि प्रथम अध्याय में पाँच प्रश्नों को उपस्थित करके नाट्य के अङ्गादि का विवेचन किया जा चुका है, किन्तु नाट्यतत्त्व का सम्यक् ज्ञान होने पर ही उनका निर्णय (ग्रहण) हो सकता है, केवल वचनमात्र से ही नहीं, अर्थात् केवल कह देने मात्र से ही उसका ज्ञान नहीं हो सकता । इसी अभिप्राय से उन्नीसवें अध्याय में दशरूपकों के निरूपण के अवसर पर प्रथम अध्याय में पूछे गये प्रथम प्रश्न के अर्थ का निगमन (निरूपण) करेंगे—

"भविष्य काल (आगामी युग) में मनुष्य प्रायः मूर्ख होंगे और जो होंगे भी वे अत्यन्त अल्प बुद्धि वाले होंगे ।" (ना० शा० १९।१५०)

और भी—

"जब मनुष्यों की बुद्धि, कर्म, शिल्प और कलाओं में निपुणता नष्ट हो जाती है तो लोक भी नष्ट हो जाता है ।" (ना० शा० १९।१५१)

१. भ. सम्यङ्निर्णीतम् ।
२. तेऽप्यल्पश्रुतबुद्धयः ।
३. सर्वाणि पुंसां नश्यन्ति ।

ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ।
रसत्वं केन वै[1] तेषामेतदाख्यातुमर्हसि ॥२॥

ये रसा इत्यादि तु यत्प्रश्नत्रयं तत्रायं भावः—इहाङ्गगणनायां "जग्राह पाठ्यम्" (ना. शा. १-१७) इत्यादौ पाठ्यगीतयोस्तावत्सुप्रसिद्धं रूपम् । अभिनयानामपि ।

"महागीतेषु चैवार्थान्सम्यगेवाभिनेष्यसि" इति (ना. शा. ४-१५)

"यदा प्राप्त्यर्थमर्थानां तज्ज्ञैरभिनयः कृतः" (ना. शा. ४-२६६)

इत्यादिवचनबलाच्च स्वरूपं हृदयङ्गमम्[2] ।

अतः उनकी रक्षा के लिए नाटकों की भी रचना करनी चाहिए । इसके बाद सिद्ध्यध्याय में अर्थात् सिद्धि नामक सताइसवें अध्याय में प्रथम अध्यायोक्त द्वितीय प्रश्न के अर्थ का निर्णय किया जायगा ।

"तरुण लोग कामप्रधान दृश्य (नाटकों) से सन्तुष्ट होते हैं, विदग्ध जन धर्म में, धनार्थी धन में और विरक्त पुरुष मोक्ष के विषय में प्रसन्न रहते हैं।" (ना० शा० २७।५८)

इसलिए उन-उन लोगों की तुष्टि के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रधान नाटकों की रचना करनी चाहिए । इसी प्रकार अन्यत्र भी उन-उन स्थलों पर समझना चाहिए । यह विषय उनके व्याख्यान के अवसर पर हम दिखायेंगे । इसलिए पूर्व में पूछे गये तत्त्व (वस्तु) का निर्णय ही करना चाहिए, यह तात्पर्य है । भाव यह कि पूर्व में पूछे गये पाँच प्रश्नों के समाधान के लिए वस्तु के तत्त्व का निर्णय करना चाहिए, यह अभिप्राय है ॥१॥

अनुवाद –नाट्य के विद्वान् नाट्य में जिसे रस कहते हैं, उसे 'रस' क्यों कहा जाता है ? इसे बतलाने की कृपा करें ॥२॥

अभिनव—'ये रसाः' इत्यादि जो तीन प्रश्न हैं, उनका भाव यह है कि यहाँ नाट्य के पाठ्य, गीत, अभिनय और रस इन चार अङ्गों की गणना में 'जग्राह पाठ्यम्' (ना० शा० १।१७) इत्यादि में पाठ्य और गीत का स्वरूप तो स्पष्ट है । अभिनय के सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में कहा गया है कि—

"महागीतों के प्रयोग में अर्थों का अभिनय अच्छी तरह करोगे" (ना० शा० ४।१५) ।

"जब नाट्य में निहित अर्थों की प्राप्ति के लिए प्रयोक्ताओं ने अभिनय की योजना की" (ना० शा० ४।२६१) ।

इत्यादि वचनों के बल से अभिनय का स्वरूप भी हृदयङ्गम हो जाता है ।

---

१. ख. ध. केन वा ।

२. क. सु (स्व) रूपं तावन्नातीव हृदयङ्गमम् ।

ये तु 'रसानाथर्वणात् (ना. शा. १-१७) इति रसा उक्तास्ते तावत्प्रसिद्धाः षाडवादयः। न प्रकृतौ न विकृतौ युक्ताः। ये त्वन्ये शृङ्गारादयः केचन रसशब्देन सह प्रयुक्ताः "शृङ्गाररससम्भवः" (ना. शा. ४-२६९) इति "ततो रौद्ररसं श्लोकम्"(ना. शा. ५-१३२) इति तत्रापि शृङ्गारादिषु कथं रसशब्दवाच्यत्वम्। वैशब्दोऽक्षर (क्षमायाम्)। रसनेन्द्रियग्राह्यो हि रसशब्दः प्रसिद्धः। न चायमनादरस्थानभूतोऽर्थो येनाविचारित एवोपेक्ष्यते "खिन्नानां रसभावेषु"(ना.शा. ५-१५९) इत्यादावादरातिशयप्रतीतेः। अत एव शब्दप्रादुर्भाव इति शब्दो रसा इति पठ्यन्त इति। तेन प्राधान्यादङ्गाभिनयप्रश्नान्तर्भूतमप्येतत्पुनः प्रश्नितमित्यर्थः। पुनः प्रश्नाभिप्रायेणैवाख्यातुमर्हसीत्युपपन्नम्। पूर्वाख्यानेषु तु पुनरुक्तमभिधत्स्वेत्युक्तत्वात्॥ २॥

'रसानाथर्वणादपि' अर्थात् 'अथर्ववेद से रसों को लिया गया', इसमें जिन रसों को कहा गया है, जो षाडव आदि रस प्रसिद्ध हैं, उनसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि वे न तो प्रकृति नाटक के लिए उपयुक्त हैं और न विकृति अर्थात् डिम, डोम्बी आदि उपरूपकों से ही उनका कोई उपयोग है और जो अन्य लोग रस शब्द के साथ शृङ्गार आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं—'शृङ्गार रस से सम्भव' (ना० शा० ५।२६९) तथा 'तदनन्तर रौद्र रस के श्लोक को' (ना० शा० ५।१३२) इत्यादि स्थलों पर शृङ्गारादि का रस शब्द के साथ प्रयोग किया जाता है, वहाँ भी शृङ्गारादि में रस शब्द की वाच्यता कैसे होगी ? अर्थात् शृङ्गारादि रस शब्द से कैसे कहे जा सकते हैं ? क्योंकि रसना इन्द्रिय से ग्राह्य गुण रस कहे जाते हैं। शृङ्गारादि रसनेन्द्रिय से ग्राह्य नहीं, इसलिए उसे रस' नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त रस अनादर का विषय भी नहीं कि उस पर विना विचार किये ही उपेक्षित कर दिया जाय। क्योंकि 'खिन्नानां रसभावेषु' इत्यादि स्थलों पर बड़े आदर की प्रतीति होती है। इसलिए "रसा इति पठ्यन्ते" में इति शब्द के प्रयोग का तात्पर्य है शब्दप्रादुर्भाव अर्थात् रस शब्द के स्वरूप ज्ञान के लिए ही इति शब्द का प्रयोग है। इसलिए अङ्ग और अभिनय विषयक प्रश्न के अन्तर्गत होने पर भी रस की प्रधानता के कारण यहाँ फिर प्रश्न किया जा रहा है। फिर (दोबारा) प्रश्न पूछे जाने के अभिप्राय से ही 'इसे बतलाने की कृपा करें' (एतदाख्यातुमर्हसि) यह कथन संगत होता है। किन्तु पूर्वोक्त विषय में पुनः पूछे जाने पर 'पूर्वकथित बात को फिर समझाने की कृपा करें' इस प्रकार कहा जाता है। यहाँ पर 'वै' शब्द पादपूर्त्ति के लिए है ॥ २॥

[1]भावाश्चैव कथं प्रोक्ताः किं वा ते भावयन्त्यपि[2] ।
संग्रहं कारिकां चैव निरुक्तं चैव[3] तत्त्वतः ॥३॥

भावाश्चेति चशब्दस्तुशब्दार्थे । भावास्त्वपठिता अपि कथं प्रोक्ताः । अथ पाठ्यादय एव भावास्तत्किमेषां रूपम् । तेनादरविषयत्वाद्रसे प्रश्नान्तरमभूतावृत्त्या विस्मयस्थानत्वाद्भावेषु प्रश्नचतुष्कम् । तथा हि—रससहभावेन भावा केचन प्रोक्ताः "खिन्नानाम्" इत्यत्र । ते च केन प्रकारेणोक्ताः । "जग्राह" इत्यादौ हि तेषां नामापि न श्रुतम् । अथैतेष्वेव भावशब्दः प्रवर्तितः । तत्रापि भवन्तीति व्युत्पत्तिः । भावयन्तीति किमेतत् । किमुत्पादयन्ति । अथ व्याप्नुवन्ति । द्वयोः कर्म किं स्यादिति वाशब्देन चशब्देनापिशब्देन च चत्वारो भावेषु प्रश्नाः । एवं प्राधान्यात्प्रश्नपञ्चकान्तरम् । वस्तुतः पुनः पञ्चप्रश्नी पूर्वोक्तैवेयं विष्फार्यते ।[4]सङ्ग्रहादि चाभिधत्स्व ।

अनुवाद—भाव क्यों कहे गये हैं ? और वे किसको भावित करते हैं ? और इसके साथ संग्रह, कारिका और निरुक्त को भी समुचित रूप में बतलाने की कृपा करें ॥ ३ ॥

अभिनव—'भावाश्च' यहाँ पर 'च' शब्द 'तु' अर्थ में प्रयुक्त है। भाव तो अपठित होने पर भी क्यों कहे गये हैं अर्थात् भावों का नाट्य के अङ्ग के रूप में कहीं भी पाठ नहीं है अर्थात् कहीं भी उनका वर्णन नहीं हुआ है तो फिर उनका कथन यहाँ क्यों किया गया है ? यदि पाठ्य आदि को ही भाव मान लिया जाय अर्थात् पाठ्य, गीत, अभिनय, रस ही भाव हैं तो उनका स्वरूप क्या होगा ? यह दूसरा प्रश्न उदित होता है। इसलिए आदर का विषय होने से रस के सम्बन्ध में अलग से दुबारा प्रश्न किया गया है। विस्मय का स्थान होने के कारण भावों के सम्बन्ध में चार प्रश्न उपस्थित होते हैं। 'भाव क्यों कहे गये हैं ?' और 'भाव किसको भावित करते हैं ? ये दो प्रश्न तो शब्दतः कथित हैं। अन्य दो प्रश्न 'भवन्तीति भावाः' तथा 'भावयन्ति इति भावाः' ये दो प्रश्न अर्थतः आक्षिप्त हैं। ये चार प्रश्न हैं। जैसे—'खिन्नानां रसभावेषु" इत्यादि श्लोक में रस के साथ कुछ भावों का कथन है। वे यहाँ किसलिए कहे गये हैं ? 'जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्' इत्यादि श्लोक में उनका नाम भी नहीं सुना है। तो उन भावों का कथन कैसे किया गया ? यह प्रथम प्रश्न है। यदि यह कहा जाय

१. ख. भावाश्चैव हि ये प्रोक्ताः । क. प. भावश्चापि कथं प्रोक्ताः ।

२. ख–घ. भावयन्ति हि ।

३. क-न. चाभिधत्स्व नः । क–अ. चापि तत्त्वतः ।

४. क–सङ्ग्रहादिति चाभिधत्स्व ।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं रसभावविकल्पनम् ॥४॥

ननु तैरिह किं प्रयोजनम् । आह—तत्त्वत इति तुशब्दो हेतौ । तदित्याख्यानं परामृष्टम् । यतस्तदाख्यानमत एव एभ्यः सङ्ग्रहादिभ्यस्त्रिप्रकाररूपेभ्यः सदुपायेभ्यः । तस्मान्नोऽभिधत्स्वेति ॥ ३ ॥

कि 'जग्राह' इत्यादि श्लोक में प्रोक्त पाठ्य, गीत, अभिनय, रसादि के लिए ही भाव शब्द का प्रयोग किया गया है तो वहाँ भी 'भवन्तीति' (होते हैं) इसलिए भाव हैं अथवा 'भावयन्तीति' (किये जाते हैं) इसलिए भाव हैं अथवा व्याप्त होते हैं इसलिए भाव हैं। अब प्रश्न यह होता है कि जब 'भावयन्ति' का अर्थ उत्पन्न करते हैं अथवा व्याप्त करते हैं तो इन दोनों क्रियाओं का अर्थ क्या होगा ? इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत श्लोक में 'वा' शब्द 'च' शब्द 'अपि' शब्द और 'एव' शब्द के आधार पर भावों के सम्बन्ध में चार प्रश्न होते हैं। भाव क्या हैं ? प्रथम प्रश्न। भाव का अर्थ क्या है ? द्वितीय प्रश्न। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'उत्पन्न करते हैं इसलिए भाव हैं ? तृतीय प्रश्न। 'व्याप्त करते है इसलिए भाव हैं ? यह चौथा प्रश्न है। इस प्रकार रस और भाव की प्रधानता के कारण ये अङ्गविषयक पाँच प्रश्न अलग हैं। वस्तुतः प्रथम अध्याय में पूछे गये पाँच प्रश्नों का ही यहाँ स्पष्टीकरण किया गया है। सङ्ग्रह कारिका और निरुक्त आदि के विषय में कहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि यहाँ सङ्ग्रह, कारिका और निरुक्त का क्या प्रयोजन हैं ? इस प्रकार कहते हैं—'तत्त्वतः'। अभिनवगुप्त 'तत्त्वतः पद का पदच्छेद 'तत् + तु + अतः' करते हैं। यहाँ 'तु' शब्द हेतु अर्थ में है। 'तत्' पद से रसभावादि के आख्यान का निर्देश किया गया है। क्योंकि वह रस-भाव आदि का आख्यान (कथन) इन संग्रह आदि रूप तीन प्रकार के उपायों से होता है, इसलिए हमें बतलाइये ॥ ३ ॥

विमर्श—संग्रहादि—संग्रहादि पद से संग्रह, कारिका और निरुक्त अभिप्रेत है। यहाँ संग्रह का अर्थ उद्देश, लक्षण का अर्थ कारिका और निरुक्त का अर्थ परीक्षा लिया जाना उचित है। इस प्रकार उद्देश (संग्रह) लक्षण (कारिका) और परीक्षा (निरुक्त) का आख्यान (कथन) करना यहाँ उचित है। इसलिए मुनि लोग कहते हैं कि रस-भाव आदि विषय को संग्रह, कारिका और निरुक्त अर्थात् उद्देश, लक्षण और परीक्षा के साथ कहने की कृपा करें ॥ ३ ॥

अनुवाद - उन मुनियों के वचन को सुनकर भरतमुनि ने रस और भाव के निश्चय करने वाले वचन को पुनः कहा ॥ ४ ॥

अहं वः[1] कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
संग्रहं कारिकां[2] चैव निरुक्तं च यथाक्रमम्[3] ॥५॥

पुनश्शब्दो भिन्नक्रमः। भरतमुनिः पुनः रसभावा विकल्प्यन्ते निश्चीयन्तेऽनेन वचनेन तादृग्वाक्यमुवाच न तु तदीयं वचनमुक्तमुत्तरदानेन समादृतमिति पुनश्शब्दार्थः ॥ ४ ॥

तदाह—निखिलेनेति उद्देशलक्षणपरीक्षादिषु प्राधान्यात्तदुपक्रममेव सङ्ग्राह्यलक्षणीयनिर्वचनीयात्मनोपलक्षितं सर्वमभिधेयम्। मुनेश्चायं भावो रसादिषु समुच्चयार्थश्च । तदभिधानेऽन्यन्न किंचिदभिधेयमवशिष्यत इत्येवशब्दः। सङ्ग्रहादित्रयमेव वक्ष्यामीति। यथाक्रममिति। पूर्व(प्राप्त)सङ्ग्रहः। उद्देशप्रकारत्वादित्यादिक्रमेण स (स्व)बुद्धिविषयं बहुमानं गृह्णताममीषामित्यभिप्रायेण भवद्भिर्युक्तमेतदुक्तम् ॥ ५ ॥

अभिनव--यहाँ 'पुनः' शब्द का क्रम भिन्न है अर्थात् यह जहाँ पर पढ़ा गया है उससे भिन्न स्थान पर उसका अन्वय होता है। भरतमुनि रस और भाव का निश्चय जिसके द्वारा होता है उस प्रकार का वचन कहने लगे। मुनियों के कथन का उत्तर देकर समादर किया है, यह पुनः शब्द का अर्थ है ॥४॥

अनुवाद—हे तपोधनों! अब मैं आप लोगों से संग्रह, कारिका और निरुक्त का विधिपूर्वक पूर्ण रूप से कथन करूँगा ॥५॥

अभिनव—'निखिल' पद से यह अभिप्राय है कि भरतमुनि का उद्देश, लक्षण और परीक्षा आदि की प्रधानता होने के कारण उन्हीं से संग्राह्य, लक्षणीय और निर्वचनीय रूप से उपलक्षित सब का कथन करना है। 'च' शब्द रस, भाव आदि के समुच्चय का बोधक है। उसके कह देने पर और कुछ भी कहना शेष नहीं रहता, यह 'एव' शब्द का अभिप्राय है। इसलिए संग्रह, कारिका और निरुक्त तीनों का कथन करूँगा। 'यथाक्रम' का अर्थ है विधिपूर्वक क्रम से कहूँगा अर्थात् पहिले संग्रह फिर कारिका फिर निरुक्त इस क्रम से कथन करूँगा। अपनी बुद्धि से गम्य विषय को बड़े आदर के साथ ग्रहण करने वाले आप लोगों के लिए सब विषय कहूँगा, इस अभिप्राय से 'वः' शब्द का ग्रहण किया गया है ॥५॥

---

१. ख—अहं च
२. क—अ. कारिकाश्चैव।
३. क—अ. यथाविधि।

न शक्यमस्य[1] नाट्यस्य गन्तुमन्तं कथञ्चन ।
[2]कस्माद्बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाप्यनन्ततः[3] ॥६॥

सङ्ग्रहमित्यादि तान्निदर्शयन्मुनिराह—न शक्यमस्येति ।

शक्यमिति सामान्योपक्रमात् माध्यस्थ्यविवक्षा । गन्तुमिति प्राप्तुम् । अन्तो निश्चयः । कथञ्चनेति । अमुं सङ्ग्रहादिप्रकारं वर्जयित्वाऽन्येन प्रतिपद-निरूपणादिनेत्यर्थः । यत्किल प्रतिपदं निरूपयितुं न शक्यं तल्लक्षणद्वारेणोच्यते । लक्षणस्यैवाङ्गमुद्देशपरीक्षे । तस्य विषयप्रदर्शने परिशुद्धौ च तयोर्व्यापारात् । न चात्र प्रतिपदं निरूपणं युक्तमिति ।

अत्र हेतुमाह—बहुत्वादिति । ज्ञानाख्यानि व्याकरणादीनि शास्त्राणि । शिल्पानि चित्रपुस्तादिकर्माणि । तेषामनन्तत्वादन्ताभावात् ॥ ६ ॥

उक्त संग्रह आदि का निदर्शन करते हुए मुनि कहते हैं—

अनुवाद—ज्ञान का बाहुल्य और शिल्पों की अनन्तता होने के कारण इस नाट्य का अन्त अर्थात् निश्चय (निर्णयात्मक ज्ञान) प्राप्त करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥६॥

अभिनव—'शक्यम्' इस पद का सामान्य रूप से कथन होने से माध्यस्थ विवक्षा है। 'गन्तुम्' का अर्थ है प्राप्त करने के लिये। 'अन्त' पद का अर्थ है निश्चय। 'कथञ्चन' पद का अभिप्राय है कि इस संग्रह आदि प्रकारों को छोड़कर अन्य प्रतिपद निरूपण आदि के द्वारा अर्थात् जिसका प्रतिपद प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग निरूपण करना सम्भव नहीं है उसका लक्षण द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। लक्षण का ही अङ्ग उद्देश और परीक्षा है। क्योंकि लक्षण के विषय के प्रदर्शन में उद्देश का और लक्षण की परिशुद्धि में उद्देश और परीक्षा दोनों का व्यापार देखा जाता है। अतः यहाँ रस-भावादि का प्रतिपद निरूपण सम्भव न होने के कारण लक्षण और उसके अङ्ग उद्देश और परीक्षा के द्वारा उन सब का विवेचन सम्भव माना जाता है। इसमें हेतु को कहते हैं ज्ञानों में बहुत्व होने से यहाँ पर 'ज्ञान' पद से व्याकरण आदि शास्त्रों का कथन है और शिल्प पद का अर्थ चित्र और पुस्तादि (लेप्यादि) कर्म है। इस प्रकार ज्ञान की बहुलता और शिल्प अर्थात् चित्रपुस्तादि के अनन्त होने से नाट्य का अन्त निश्चयात्मक ज्ञान पाना सम्भव नहीं है ॥ ६ ॥

---

१. ख. घ. न शक्यमिह ।

२. ग. कस्माद्बहुत्वाद्भावानाम् ।

३. क–अ. चापि तत्त्वतः । ख–चाप्यनन्तः ।

एकस्यापि न वै [1]शक्यस्त्वन्तो ज्ञानार्णवस्य हि ।
[2]गन्तुं किं पुनरन्येषां ज्ञानानामर्थतत्त्वतः ॥७॥
[3]किन्त्वल्पसूत्रग्रन्थार्थमनुमानप्रसाधकम् ।
नाट्यस्यास्य प्रवक्ष्यामि रसभावादिसङ्ग्रहम् ॥८॥

एतदेवोपोद्बलयत्येकस्येति । नाट्याङ्गभूतस्य कस्यचिदिति शेषः । अर्थस्याभिधेयस्य तत्त्वतः । तननं विस्तारः । तेन । अन्येषामिति । अङ्गभूतस्यापि याम्यङ्गत्वेनायान्तीत्यर्थः ॥७॥

सङ्ग्रहादयस्त्वत्र सदुपाया इति दर्शयति—किन्त्विति । नाट्यस्य नाट्यविषयस्यार्थस्य संग्रहं संक्षिप्य गृह्यतेऽनेनेति तमुद्देशं वक्ष्यामीति । कथम् । रसभावादि कृत्वा प्राधान्यात्तदुपक्रममित्यर्थः । किं तेनेत्याहानुमानं लक्षणं तद्धि केवलव्यतिरेकिहेतुरूपम् । तस्य चोद्देशधर्मिणं प्रकल्पयन् प्रकृष्टः साधकः । आश्रयासिद्धत्वशङ्काशमनेन पक्षधर्मत्वमूलाङ्गपोषकत्वात् ।

अनुवाद—(नाट्य के अङ्गभूत) किसी एक भी ज्ञान रूपी सागर का पार पाना सम्भव नहीं है तो अर्थ के विस्तार के कारण नाट्य सम्बन्धी अन्य विद्याओं (ज्ञानों) का पार पाना कैसे सम्भव है ? ॥ ७ ॥

अभिनव—इसी ज्ञान का उद्बलन करते हुए कहते हैं कि नाट्यविद्या के अङ्गभूत किसी एक भी ज्ञान का पार पाना सम्भव नहीं है तो सागर के समान विशाल अङ्गभूत नाट्यविद्या के ज्ञान के अनन्त होने से कैसे पार पाया जा सकता है ? अर्थात् नाट्यकला किसी एक अङ्ग को पार पाना सम्भव नहीं है तो नाट्य के विभिन्न अङ्गों के अर्थ विस्तार के कारण कैसे पार पाया जा सकता है ॥ ७ ॥

अभिनव—सङ्ग्रह आदि यहाँ ठीक उपाय है, इस बात को दिखाते हैं—

अनुवाद—किन्तु सूत्र (लक्षण) और ग्रन्थ (परीक्षा) के बीज (अर्थसंक्षेप) से निहित, अनुमान के प्रसाधक इस नाट्य के रस, भाव आदि संग्रह की व्याख्या करूँगा ॥ ८ ॥

अभिनव—नाट्य का अर्थात् नाट्यविषयक अर्थ का संग्रह अर्थात् जिसके द्वारा विषय का संक्षेप करके ग्रहण किया जाता है, उस उद्देश का कथन करूँगा । कैसे ? प्रधान होने के कारण रस, भाव से प्रारम्भ करके कहूँगा । उससे क्या लाभ है ? इस पर कहते हैं—अनुमान अर्थात् लक्षण केवल व्यतिरेक रूप होता है । यह लक्षण

---

१. क-त. भ. म. शक्यमन्तम् ।

२. ख. घ. गन्तुं पुनः किं सर्वेषां भावानामर्थतत्त्वतः ।

३. ख. घ. किन्त्वल्पसूत्रगूढार्थं । क—अ. किन्त्वल्पग्रन्थसूत्रार्थं ।

तस्य सङ्ग्रहस्य स्वरूपमाह—सूत्रग्रन्थयोर्लक्षणपरीक्षयोर्योऽर्थो लक्ष्यपरीक्षितव्यलक्षणः सोऽल्पः सङ्कुचितो नाममात्रेणोद्देश्यतया यत्र ॥ ८ ॥

(अनुमान) उद्देश के धर्मी को सिद्ध करता है और वह उद्देश अनुमान का प्रकृष्ट साधक है। इस प्रकार उद्देश के द्वारा हेतु का आश्रय रूप पक्ष के निर्धारित हो जाने से आश्रयासिद्ध रूप शङ्का का निराकरण हो जाने से अनुमान के पक्षधर्मता रूप मुख्य अङ्ग के पोषक होने से यहाँ संग्रह (उद्देश) अनुमान का प्रकृष्ट साधन माना गया है।

अब उस संग्रह के स्वरूप को कहते हैं—सूत्र और ग्रन्थ अर्थात् लक्षण और परीक्षा का जो लक्षणीय एवं परीक्षणीय विषय (अर्थ) है वह जहाँ पर अल्प अर्थात् नाम मात्र से कथित होने के कारण सङ्कुचित होता है। वह सङ्ग्रह (उद्देश) है ॥८॥

विमर्श—यहाँ पर अभिनवगुप्त ने 'आश्रयासिद्ध' और पक्षधर्मता' न्याय के इन दो परिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया है। यहाँ दोनों की व्याख्या अपेक्षित है। जहाँ पर साध्य सन्दिग्ध अवस्था में रहता है उसे 'पक्ष' कहते हैं (**सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः**)। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमत्वात् महानसवत्' इस अनुमान में पर्वत पक्ष है, अग्नि साध्य है, धूम हेतु है और महानस दृष्टान्त है। प्रस्तुत उदाहरण में पर्वत पक्ष है क्योंकि साध्य अग्नि उसमें सन्दिग्ध अवस्था में विद्यमान है। पक्ष (पर्वत) में हेतु (धूम) का विद्यमान होना पक्षधर्मता है। साध्य की सिद्धि के लिए पक्षधर्मता का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ पर हेतु का आश्रय ही पक्ष है। जहाँ पर हेतु का आश्रय या पक्ष सर्वथा अविद्यमान रहता है उससे साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे—'वन्ध्यातनयः पण्डितः तार्किकत्वात् अन्नभटवत्' अर्थात् बाँझ का पुत्र पण्डित है, तार्किक होने से, अन्नभट्ट के समान। यहाँ पर वन्ध्यातनय पक्ष या आश्रय है। पण्डित होना साध्य है, तार्किक होना हेतु और अन्नभट दृष्टान्त है। यहाँ पर पक्ष या आश्रय वन्ध्यातनय का अस्तित्व ही नहीं है अर्थात् तार्किक रूप हेतु का आश्रय वन्ध्यातनय का अस्तित्व न होने से यहाँ आश्रयासिद्ध है। अतः इससे साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रस्तुत प्रसङ्ग में उद्देश, लक्षण, परीक्षा में से उद्देश पक्ष आश्रय है। उसकी विद्यमानता स्पष्ट है, अतः यहाँ आश्रयासिद्ध दोष नहीं हो सकता है। इस प्रकार उद्देश रूप पक्ष या आश्रय से स्पष्ट रूप से विद्यमान होने के कारण आश्रयासिद्ध दोष का शमन (निवारण) हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने यहाँ पर लक्षण को केवलव्यतिरेकि अनुमान कहा है। सामान्यतः असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं (**असाधारणधर्मवत्त्वं लक्षणम्**)। तर्कशास्त्र में लक्षण को भी हेतु के रूप में उपन्यस्त किया जाता है। जब लक्षण हेतु के रूप में प्रस्तुत होता है तो वह केवलव्यतिरेकि हेतु होता है। इसलिये इसे यहाँ केवलव्यतिरेकि अनुमान कहा गया है ॥ ८ ॥

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययोः ।
[1]निबन्धो यः समासेन सङ्ग्रहं तं विदुर्बुधाः ॥९॥
[2]रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मी[3] वृत्तिप्रवृत्तयः ।
[4]सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च[5] सङ्ग्रहः ॥१०॥

अन्येऽप्येवमेव मन्यन्त इति दर्शयति—विस्तरेणेति ।

[6]सूत्रं लक्षणम् । भाष्यं तद्व्यक्तीकरणरूपा परीक्षा । अल्पौ सूत्रग्रन्थौ यत्रार्थे सोऽर्थो यत्रेति तु व्याख्यानमनेन श्लोकेन संवदते[7] ॥ ९ ॥

सङ्ग्रहं दर्शयति—रसा भावा इत्यादिना ।

अन्य आचार्य भी इसी प्रकार (संग्रह का रूप) मानते हैं, यह 'विस्तरेण' इत्यादि श्लोक के द्वारा दिखलाते हैं—

अनुवाद—सूत्र और भाष्य में विस्तार के साथ उपदिष्ट (निरूपित) अर्थों का जो समास अर्थात् संक्षेप रूप से निबन्ध (कथन) है विद्वान् लोग उसे संग्रह कहते हैं ॥ ९ ॥

अभिनव—'सूत्र' पद का अर्थ लक्षण है, 'भाष्य' उस लक्षण का स्पष्टीकरण रूप परीक्षा है। जिस अर्थ में सूत्र (लक्षण) और ग्रन्थ (भाष्य या परीक्षा) अल्प अर्थात् बीज रूप में विद्यमान हो, वह अर्थ जहाँ पर हो वह संग्रह है। भाव यह कि जिन अर्थों का प्रतिपादन सूत्रों के भाष्य के रूप में विस्तार से हुआ है उसी का संक्षेप रूप में कथन करना संग्रह है। इस प्रकार का यह व्याख्यान इस श्लोक के साथ सङ्गत होता है। अन्य व्याख्याकार यहाँ 'संवदते' के स्थान पर 'न संवदते' पाठ मानकर यह व्याख्या करते हैं कि 'जिस अर्थ में सूत्र और ग्रन्थ (भाष्य) अल्प (बीज रूप में) विद्यमान हों, वह अर्थ जहाँ पर हो, वह संग्रह है' इस प्रकार का व्याख्यान इस श्लोक के साथ मेल नहीं खाता। किन्तु यह अर्थ यहाँ युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता ॥ ९ ॥

अब संग्रह को दिखाते हैं—

अनुवाद—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य गान और रङ्ग ये ग्यारह संग्रह हैं ॥ १० ॥

---

१. क-अ. त. म. निबद्धो ।
२. क—म. रसभावा ।
३. ख. धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः । क—त. धर्मवृत्तप्रवृत्तयः ।
४. ख. ग. सिद्धिस्वराः ।
५. ख. रङ्गं च संग्रहः । ख (टि.) रङ्गस्य च संग्रहः ।
६. सूत्र का लक्षण—
अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥
७. क. श्लोकेन न संवदते ।

[1]उपचारस्तथा विप्रा मण्डपश्चेति सर्वशः ।
त्रयोदशविधो ह्येष ह्यादिष्टो नाट्यसंग्रहः ॥११॥

चशब्द इतिशब्दार्थे । अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्गं नाट्यम् । अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेनैकादशाङ्गत्वमुच्यते । न तु भरते । तत्सङ्गृहीतस्यापि पुनरत्रोद्देशः निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासनादन्तर्भूतादन्तर्भूतस्यापि प्रयोजनवशेन पुनरुद्देशदर्शनात् क्रमस्य चाविवक्षितत्वात् नटस्य हि रसभावयोगे मरणादौ तत्त्वावेशो लयादिभङ्गश्च स्यात् । दृष्टस्तु तत्प्रत्ययो नटे भ्रमः इत्यौद्भटाः । नैतदिति भट्टलोल्लटः । रसभावानामपि [2]वासनावेशवशेन नटे सम्भवादनुसन्धिबलाच्च लयाद्यनुसरणात् । वयन्त्वत्र तत्त्वमग्रे वितनिष्याम इत्यास्तां तावत् ॥१०-११॥

कुछ आचार्य यहाँ 'उपचारस्तथा' इत्यादि प्रक्षिप्त श्लोक के साथ उपर्युक्त 'रसा भावाः' इत्यादि श्लोक की व्याख्या करके तेरह संग्रह का उल्लेख करते हैं—

अनुवाद—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, अतोद्य, गान, रङ्ग, उपचार और मण्डप ये तेरह नाट्य संग्रह उपदिष्ट हैं ॥ ११ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'च' शब्द 'इति' के अर्थ में प्रयुक्त है। तीन प्रकार के अभिनय आङ्गिक, वाचिक और आहार्य तथा गान और वाद्य ये नाट्य के पाँच अङ्ग हैं। इस श्लोक के द्वारा कोहल के मतानुसार ग्यारह अङ्गों का वर्णन किया गया है किन्तु यह भरत का मत नहीं है। कोहल के द्वारा संगृहीत मत का ही यहाँ पुनः कथन किया गया है। हाँ उनके अर्थात् कोहल द्वारा निर्दिष्ट क्रम का यहाँ परिवर्त्तन कर दिया है। भरत द्वारा प्रतिपादित अङ्गों का इसमें अन्तर्भाव होने पर भी प्रयोजनवश पुनः कथन देखे जाने से और क्रम के विवक्षित न होने से क्रम में परिवर्त्तन कर दिया गया है। यदि नट में रस और भाव आदि का योग सम्बन्ध मानते हैं अर्थात् नट में रस की प्रतीति (रसानुभूति) मानते हैं तो किसी की मृत्यु आदि के अवसर पर उसमें शोकादि का आवेश होने के कारण लय आदि का भङ्ग हो जायगा। यदि कभी नट में उसकी प्रतीति हो भी तब भ्रम है, भ्रान्ति है। यह उद्भट का कथन है। किन्तु भट्टलोल्लट इस मत से सहमत नहीं हैं। भट्टलोल्लट के मतानुसार वासना (संस्कार) के आवेश के कारण नट में भी रस और भावों की अनुभूति सम्भव है और शिक्षा तथा अभ्यास के अनुसन्धान के कारण लयादि का भङ्ग नहीं होता अर्थात् अनुसन्धान के बल से लयादि का अनुसरण हो जाता है। हम तो इस विषय में अपना मत आगे विस्तार से कहेंगे, अतः इसे यहीं रहने दिया जाय ॥ १० ॥

१. पद्यमिदं क. ख. घ. ङ. पुस्तकेषु नास्ति ।
२. क—भ. म. भावनावेशवशेन ।

अल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोच्यते बुधैः ।
[1]सूत्रतः साऽनुमन्तव्या कारिकार्थप्रदर्शिनी[2] ॥१२॥

अथ कारिकां लक्षयति—अल्पाभिधानेनेति । **अनेनार्थस्य कारिकात्वं लक्षणरूपस्य दर्शयति । तद्वाचकस्य सूत्रस्य तत्संक्षिप्तार्थविवरणात्मकस्य च श्लोकस्य । अनेन लक्षणवाक्यं द्विधेति तात्पर्यम् । योऽर्थोऽल्पैः शब्दैः समासेन बहुतरलक्ष्यसङ्ग्रहेण सूत्रं वाचकमाश्रित्योच्यते सोऽर्थः कारिका । ज्ञप्तिसाधकत्वात्तदर्थिनी कारिका । सूत्रतः सूत्रणेन । एतेन सूत्रमपि कारिका । तत्सूत्रमपेक्ष्य या अनु पश्चात्पठिता श्लोकरूपा सापि कारिका ।**

तथा हि—सूचनात्मकत्वात्सूत्राल्लब्धो योऽर्थो लक्षणात्मकः स एव सम्यगतिश्रव्यतया वर्णनात्मनेति वृत्तबन्धेनोच्यमानोऽल्पैश्च शब्दैर्निरूप्यमाणोऽर्थस्य लक्षणीयस्य प्रकर्षं धर्म्यन्तराद्यवच्छेदं दर्शयन् धर्मः कारिका । क्रियतेऽनेन ज्ञप्तिरिति कारिका । लक्षणमिति यावत् । तदर्थप्रकाशकत्वात् श्लोकोऽप्युपचारात्कारिका ।

अब कारिका का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—संक्षेप रूप से स्वल्प शब्दों में विद्वानों के द्वारा सूत्र रूप में जो अर्थ कहा जाता है उक्त अर्थ को प्रकाशित करने वाली उक्ति को कारिका कहते हैं ॥ १२ ॥

अभिनव—इस श्लोक के द्वारा लक्षण रूप अर्थ का कारिकात्व प्रदर्शित करते हैं अर्थात् लक्षणरूप अर्थ 'कारिका' हैं, यह प्रदर्शित करते हैं । उस लक्षण के वाचक सूत्र और उसके संक्षिप्त अर्थ के विवरण रूप श्लोक 'कारिका' है, यह दिखाते हैं । इस प्रकार लक्षण रूप अर्थ उसके (उस लक्षण से) वाचक सूत्र और उस सूत्र के संक्षिप्त अर्थ का विवरणात्मक श्लोक इन तीनो को 'कारिका' कहा गया है । इस प्रकार यह लक्षण वाक्य दो प्रकार का माना गया है, यह इस कथन का तात्पर्य है (१) जो अर्थ अधिक विषय को संग्रह (ग्रहण) करने वाले स्वल्प शब्दों के द्वारा समास रूप में वाचक सूत्र के द्वारा कहा जाता है, वह अर्थ 'कारिका' है और (२) ज्ञान का साधक होने के कारण उस अर्थ को बतलाने वाली उक्ति भी 'कारिका' हैं । 'सूत्र' पद से यहाँ तात्पर्य है सूत्रण से । इससे सूत्र भो कारिका है, यह द्योतित होता है । उस सूत्र की अपेक्षा जो पीछे पढ़ा गया है, वह श्लोक है, वह श्लोक रूप भो 'कारिका' हैं ।

---

१. क. सूत्रतः सानुपठिता । ख. ग. घ. सूत्रतः सा तु विज्ञेया
क (टि.) सा तु मन्तव्या ।

२. ख. कारिकार्थप्रयोगिनी ।

नानानामाश्रयोत्पन्नं [1]निघण्टुं निगमान्वितम् ।
धात्वर्थहेतुसंयुक्तं नानासिद्धान्तसाधितम् ॥१३॥
[2]स्थापितोऽर्थो भवेद्यत्र समासेनार्थसूचकः[3] ।
धात्वर्थवचनेनेह निरुक्तं तत्प्रचक्षते[4] ॥१४।

एतदुक्तं भवति—उद्दिष्टस्य धर्म्यन्तरव्यवच्छेदकं लक्षणं वक्तव्यम् । तच्च पूर्वं सूत्रेण । ततोऽप्यकृताक्षेपोत्तरप्रपञ्चेन तद्विवरणमात्ररूपेण सुखग्राह्येण श्लोकेन। उभयोरपि हि लक्षणमेव प्रतिपाद्यम् । तदेव कारिकोच्यते । सूत्रश्लोकावुपचाराविति ॥१२॥

अथ परीक्षात्मकं निरुक्तं लक्षयति श्लोकद्वयेन—नानानामेत्यादिना ।

और भी सूचनात्मक सूत्र से प्राप्त जो लक्षण रूप अर्थ है वही अच्छी तरह श्रव्य होने से तथा वर्णनात्मक इतिवृत काव्य रूप छन्दोबद्ध रचना से उच्यमान और थोड़े से शब्दों के द्वारा निरूपित लक्षणीय अर्थ का अन्य धर्मियों से विभेद कराने वाले प्रकर्ष को दिखाने वाला अर्थात् प्रकाशित करने वाला धर्म भी 'कारिका' है। जिसके द्वारा पदार्थ के स्वरूप का बोध कराया जाता है वह भी 'कारिका' है। लक्षण ही कारिका है और जिस श्लोक के द्वारा लक्षण रूप अर्थ का प्रकाशन होता है वह श्लोक भी उपचार से 'कारिका' कहा जाता है ॥

इसका अभिप्राय यह है कि उद्दिष्ट (नाममात्र से कथित) पदार्थ का अन्य धर्मियों से भेदक अर्थात् भेद कराने वाले धर्म को लक्षण कहना चाहिए। जो पहिले सूत्र से, फिर आक्षेप और उत्तर अर्थात् शङ्का और समाधान आदि प्रपञ्च से रहित उसके (उस सूत्र के) केवल विवरणरूप से, सुख (सरलता) से ग्राह्य श्लोक रूप कारिका के द्वारा प्रतिपाद्य है। दोनों का ही प्रतिपाद्य लक्षण है। वही 'कारिका' कही जाती है, वही सूत्र है, उपचार से श्लोक है और वही श्लोक उपचार से कारिका है ॥ १२ ॥

अब इसके बाद दो श्लोकों के द्वारा परीक्षा रूप निरुक्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—अनेक प्रकार के नामों (संज्ञाओं) के आश्रय से उत्पन्न, रूढि (निघण्टु अर्थात् कोष) तथा यौगिक (निगम, शब्दशास्त्र) शब्दों के विवेचन से समन्वित, धात्वार्थ और हेतु अर्थात् क्रिया और क्रिया के हेतु कारक के विवेचन से युक्त, संक्षेप रूप से अर्थ का सूचक लक्षण रूप अर्थ जहाँ पर धात्वर्थ के निर्वचन (कथन) के द्वारा स्थापित किया जाता है उसे 'निरुक्त' कहते हैं ॥ १३-१४ ॥

---

१. ख. घ. निघण्टुं नियमान्वितम् । क–अ. नाट्यं तु निगमान्वितम् ।
२. क–न. त. साधितोऽर्थो ।
३. ख–समासेनार्थसूचकम् । क–अ. समासेनार्थसूत्रयोः । ४. ख. विदुर्बुधाः ।

समासेन संक्षेपेणानेकव्यक्तिभेदभिन्नस्यार्थस्य लक्षणीयस्य यः सूचकोऽर्थो लक्षणात्मकः स यत्राक्षेपप्रतिसमाधानलक्षणे वस्तुनि सति स्थापितो भवति तत्परीक्षारूपनिरुक्तम् । न चैवं परिभाषा । किन्त्वर्थमेतं निर्भज्याक्षेपप्रतिसमाधानाभ्यां लक्षणस्य वचनमिति । एतदाह—धात्वर्थवचनेनेति ।

कथं तल्लक्षणं स्थाप्यत इत्याशङ्क्य क्रियाविशेषणाभिधानद्वारेणाक्षेपप्रतिसमाधानप्रकारं दर्शयति—नानेत्यादिना। नानाप्रकाराणि यानि नामानि लक्षणवाक्येऽर्थप्रतिपादकाः सुबन्ताः शब्दास्तानाश्रित्योत्पन्नः उत्पाद आक्षेपप्रतिसमाधानयोर्यत्र । ननु नामपदेषु कथमाक्षेपप्रतिसमाधाने । आह—निघण्टुनाऽभिधानकोशे रूढिषु । अन्येषु प्रकृतिप्रत्ययविभागनिगमनया । अन्वितमन्वयो यत्रोत्पादे । यानि च लक्षणवाक्ये तिङन्तानि पदानि तेषु प्रकारमाह—धात्वर्थस्य क्रियाया हेतूनां च क्रियानिमित्तानां कारकाणां संयोजनं विचारो यत्र स्थापने। इयता लक्षणवाक्ये पूर्वं शब्दपरीक्षा दर्शिता । अयं शब्दः कथमत्रार्थे वर्तते इत्याक्षेपः । इत्थमिति च प्रतिसमाधानम् । एतत् प्रदर्शितवस्तुप्रणीतमेव[1] ।

अभिनव—संक्षेप रूप से अनेक व्यक्तियों के भेद से भिन्न लक्षणीय अर्थ का सूचक लक्षण रूप जो अर्थ, वह जहाँ पर आक्षेप (शङ्का) और प्रतिसमाधान (समाधान) लक्षण वस्तु के होने पर स्थापित होता है वह परीक्षा रूप निरुक्त कहा जाता है अर्थात् शङ्का और समाधान के द्वारा लक्षण की परीक्षात्मक व्याख्या करना 'निरुक्त' है। इस प्रकार यह परिभाषा नहीं है अपितु निरुक्त का अर्थ है। इस प्रकार शङ्का और समाधान के द्वारा निर्वचन करके लक्षण का कथन करना 'निरुक्त' है, इसी बात को 'धात्वर्थवचनेन' इत्यादि के द्वारा कहते हैं।

अब प्रश्न होता है कि उस लक्षण की स्थापना कैसे की जाती है ? इस प्रकार शङ्का करके क्रियाविशेषणों के अभिधान के द्वारा आक्षेप और प्रतिसमाधान के प्रकार को दिखलाते हैं—

लक्षणवाक्य में नाना प्रकार के जो नाम अपितु अर्थ के प्रतिपादक जो सुबन्त शब्द, उनके आश्रय से जहाँ आक्षेप और प्रतिसमाधान की उत्पत्ति होती है वह 'निरुक्त' है। अब फिर प्रश्न होता है कि निघण्टु अर्थात् नामकोश (शब्दकोष) के द्वारा रूढ़ि शब्दों में और प्रकृति-प्रत्यय के विभाग के निगमन (शब्दशास्त्र) के द्वारा यौगिक शब्दों में जहाँ उत्पाद में अन्वय होता है वह 'निरुक्त' है और लक्षणवाक्य में जो तिङन्त पद हैं उनमें प्रकार को कहते हैं—धात्वर्थ अर्थात् क्रिया का और हेतु अर्थात् क्रिया के निमित्त रूप कारकों का संयोजन अर्थात् विचार जहाँ पर जिस

१. क–प्रदर्शितवस्तुप्राणितमेव ।

अर्थपरीक्षामपि दर्शयति–नानाप्रकारैः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्रादिभिः सिद्धान्तैः। प्रमाणमूलैरर्थैः साधितमाक्षेपोत्तरयोः साधना यत्र स्थापने । एवं परीक्षाऽनेन दर्शिता। तन्त्रादिन्यायास्तु तदङ्गम् । निरुक्तमपि । तच्चतुर्धा–नाम्ना वा– ऊर्ध्वं खमस्योलूखलः। धातुना वा रस्यत इति रसः । द्वाभ्यां वा–पिशितमश्नातीति पिशाचः। समयेन च—सोऽपि त्रिधा–लौकिको यथा—भूसत्तायाम् । वैदिको यथा—दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः, वेवीङ्वेतिना तुल्ये। प्रतिशास्त्रपार्षदो यथा –गान्धर्ववेदे गीतकविशेषे ओवेणकादिशब्दः । तदेतदुक्तं नानेत्यादिना। निरुक्तस्य तु प्रयोजनं संक्षेपेणार्थावधारणम् । तदुक्तं स्थापित इति ।१३॥

स्थापन में किया जाता है वह 'निरुक्त' है। इतने से लक्षण वाक्य में पहिले शब्द को परीक्षा दिखाई गयी है। यह शब्द इस अर्थ में कैसे प्रवृत्त होता है ? यह आक्षेप (शङ्का) है। 'इत्थम्' अर्थात् इस प्रकार प्रवृत्त है, यह प्रतिसमाधान है। यह सब प्रदर्शित वस्तु से ही प्राप्त है। पाठभेद से 'प्रणीतम्' के स्थान पर 'प्राणितम्' पाठ मानकर यह अर्थ किया गया है कि यह सब प्रदर्शित वस्तु लक्षण का प्राण रूप है।

अर्थ परीक्षा को भी दिखलाते हैं—नाना प्रकार के सर्वतन्त्र-प्रतितन्त्र इत्यादि सिद्धान्तों अर्थात् प्रमाणमूल अर्थों के द्वारा साधित अर्थात् जहाँ पर जिस स्थापन में आक्षेप और उत्तर की साधना हो वह परीक्षा है वही निरुक्त है। इस प्रकार इस श्लोक के द्वारा परीक्षा दिखला दी है अर्थात् परीक्षा का प्रतिपादन किया गया है। तन्त्रादिन्याय तो उस परीक्षा के अङ्ग हैं।

निरुक्त भी चार प्रकार का होता है—(१) नाम अर्थात् प्रातिपदिक के द्वारा। जैसे–उलूखल पद का निर्वचन-'ऊर्ध्वं खमस्योलूखलः' अर्थात् जिसके ऊपर आकाश है। यहाँ पर उलूखल शब्द का निर्वचन 'ऊर्ध्वं' और 'खं' इन दो प्रातिपदिक शब्दों द्वारा हुआ है। (२) धातु के द्वारा। जैसे-'रस्यते इति रसः' अर्थात् जिसका रसन (आस्वादन) किया जाय वह 'रस' है। यह 'रस आस्वादने' धातु के द्वारा निष्पन्न है। (३) नाम और धातु दोनों के द्वारा। जैसे–'पिशितमश्नाति इति पिशाचः' अर्थात् जो पिशित (कच्चे मांस) को खाता है वह 'पिशाच' है। यहाँ पर 'पिशित' प्राति-दिक और 'अश्नाति' क्रिया के द्वारा निर्वचन किया गया है। (४) सङ्केत के द्वारा यह सङ्केत तीन प्रकार का होता है—लौकिक, वैदिक और प्रतिशास्त्रपार्षद अर्थात् प्रत्येक शास्त्र के अङ्गरूप में पारिभाषिक संकेत। लौकिक सङ्केत जैसे, 'भू सत्तायाम्' धातु अर्थात् 'भू' धातु सत्ता अर्थ में है। वैदिक शब्द–जैसे, 'दीधीङ् धातु' दीप्ति और देवन अर्थ में है। पारिभाषिक संकेत जैसे–गान्धर्व वेद में गीतिविशेष के अर्थ में प्रयुक्त 'ओवेणक' शब्द। यही बात 'नानानामाश्रयोपेतम्' इत्यादि के द्वारा कही गई है। निरुक्त का प्रयोजन संक्षेप रूप में अर्थ का अवधारण करना है। इसीलिये 'स्थापित' यह कहा गया है॥ १३-१४॥

सङ्ग्रहो यो मया प्रोक्तः समासेन द्विजोत्तमाः ।
विस्तरं तस्य वक्ष्यामि सनिरुक्तं सकारिकम् ॥१५॥

अथोद्दिष्टानां विभागं सूचयति—सङ्ग्रहो यो मयेति । तस्येति सङ्ग्रहस्य । सङ्ग्रह एव विस्तारितो विभाग इत्यर्थः । किं तदुक्तावेव सर्वं सम्पन्नम् । नेत्याह । सनिरुक्तं परीक्षापर्यन्तमित्यर्थः । अन्तवचनेऽव्ययीभावः । न चालक्षितस्य परीक्षेत्याह—सकारिकं कारिकासम्पदोपेतम् । सम्पत्तौ समासः ॥१५॥

विमर्श—तेरहवीं कारिका में 'नानासिद्धान्तसाधितम्' क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ 'सिद्धान्त' पद की व्याख्या अपेक्षित है। न्यायसूत्र में सिद्धान्त का लक्षण दिया गया है—"**तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः**' अर्थात् शास्त्राधिकरण अर्थात् प्रमाणरूप शास्त्र के आधार पर स्वीकृत अर्थ 'सिद्धान्त' है। यह सिद्धान्त चार प्रकार का होता है—सर्वतन्त्र-सिद्धान्त, प्रतितन्त्र-सिद्धान्त, अधिकरण-सिद्धान्त और अभ्युपगम-सिद्धान्त (**स चतुर्धा—सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसिद्धान्तभेदात्**)। तन्त्र का अर्थ है शास्त्र। जो सिद्धान्त सब शास्त्रों में सामान्य रूप से पाया जाय उसे सर्वतन्त्रसिद्धान्त कहते हैं। जैसे—घ्राण आदि इन्द्रियाँ हैं, गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय हैं, पृथ्वी गन्धवती है, इत्यादि सभी शास्त्रों में समान रूप से मान्य है। इसीलिए यह 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' है। जो सिद्धान्त सब शास्त्रों में समान रूप से मान्य न हो अर्थात् भिन्न-भिन्न शास्त्रों में अलग-अलग रूप में मान्य हो अर्थात् जिस सिद्धान्त को एक शास्त्र मानता हो और दूसरा विरोध करता हो वह 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' है। जैसे—न्यायवैशेषिक में मन को इन्द्रिय माना गया है, वेदान्ती उसे इन्द्रिय नहीं मानते। इसलिए यह 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' है। जिस सिद्धान्त के मान लेने पर अन्य अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाते हैं उसे 'अधिकरण सिद्धान्त' कहते हैं। जैसे—ईश्वर को यदि जगत् का कर्त्ता मान लिया जाय तो उसकी सर्वज्ञता, व्यापकता, सर्वशक्ति-मत्ता आदि स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। अतः इसे 'अधिकरण-सिद्धान्त' कहते हैं। जिस सिद्धान्त के मान्य न होने पर भी कारणवश थोड़ी देर के लिए स्वीकार कर लिया जाता है उसे 'अभ्युपगम' सिद्धान्त कहते हैं ॥१३-१४॥

अनुवाद—हे श्रेष्ठ द्विजों ! मैंने संक्षेप में जिस संग्रह को कहा है, निरुक्त और कारिका के साथ उसी का विस्तारपूर्वक वर्णन करूँगा ॥ १५ ॥

अभिनव—इसके बाद उद्दिष्ट के विभाग को कहते हैं—"जिस संग्रह का कथन किया है" इत्यादि। 'तस्य' अर्थात् उस संग्रह का। संग्रह ही विस्तारित होकर विभाग होता है अर्थात् संग्रह का विस्तार कर देना विभाग कहलाता है। क्या उसके कथन मात्र से ही सब कुछ सम्पन्न हो गया ? कहते हैं नहीं। 'सनिरुक्तं' का अर्थ है परीक्षा पर्यन्त। यहाँ पर अन्त वचन के अर्थ में अव्ययीभाव समास है। विना लक्षण

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः[1] ।
[2]बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥१६॥

तत्र विभागं तावदाह—शृङ्गारस्येत्यादिना नाट्यसङ्ग्रह (१६-३३) इत्यन्तेन ।

तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानस-निश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः । स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा तथापि सर्वेषां जडानां संविदि तस्याश्च भोक्तरि भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानान्नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायि-चित्तवृत्तिस्वभावः ।

सा चैकचित्तवृत्तिः [3]स्वपरकीयमितिप्रतीयमानानन्तचिवृत्त्यन्तरगत-विशेषितालौकिकगीतगेयपदादिलास्याङ्गदशकोपजीवनस्वीकृतलक्षणगुणालङ्कार-गीतातोद्यादिसम्यक्सुन्दरीभूतकाव्यमहिमप्रयोगमालाऽभ्यास[4]विशेषाश्रयत्वात्

के परीक्षा नहीं हो सकती, इसलिए 'सकारिकम्' कहा है अर्थात् कारिका (लक्षण) की सम्पत्ति से युक्त। यहाँ सम्पत्ति अर्थ में अव्ययीभाव समास है ॥ १५ ॥

अब 'शृङ्गार-हास्य-करुणा' इत्यादि श्लोक से लेकर 'नाट्यसंग्रहः' इस छठें अध्याय के तैंतीसवें श्लोक तक विभाग का कथन करते हैं—

अनुवाद—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये आठ नाट्य में रस माने गये हैं ॥ १६ ॥

अभिनव—नट के द्वारा प्रस्तुत अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीत होने वाला, एकाग्र मन की निश्चलता के कारण अनुभव किये जाने वाला और नाटक एवं काव्यविशेष से प्रकाशित अर्थ 'नाट्य' कहा जाता है। वह नाट्य यद्यपि विभावादि के अनन्त होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है किन्तु समस्त जड़ विभावों के ज्ञान में पर्यवसित होने से तथा उस ज्ञान का भोक्ता में और भोक्ताओं का प्रधान भोक्ता में पर्यवसान होने के कारण नायक नामक भोक्ता विशेष की स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति रूप अर्थ भी 'नाट्य' है।

१. क–अ. म. वीररौद्रभयानकाः ।
२. क. अ. त. ब. बीभत्साद्भुतसंज्ञाश्चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।
क- ज. बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः ।
३. क–स्वपरमितिप्रतीयमाना० ।
४. क. मालाभ्यां विशेषाश्रयत्वात् ।

स्वपरभावात्[1] प्रच्याविता अत एव साधारणीभूततया सामाजिकानपि[2] स्वात्मसद्भावेन समावेशयन्ती तादात्म्यादेव [3]चानुमानागमयोगिप्रत्यक्षादिकरणकतटस्थप्रमातृप्रमेयपरकीयलौकिकचित्तवृत्तिविलक्षणतया निर्भासमाना परिमितस्वात्माश्रयतानिर्भासनाविरहाच्च लौकिकप्रमदादिजनितनिजरतिशोकादिवत् [4]चित्तवृत्त्यन्तरजननाक्षमा तत एव निर्विघ्नस्वसंवेदनात्मक (हर्ष) विश्रान्तिलक्षणेन रसनापरपर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद्रसशब्देनाभिधीयते ।

तेन रस एव नाट्यम् । अस्य व्युत्पत्तिः फलमित्युच्यते । तथा च रसाद्वृत (ना. शा. ६--३१) इत्यत्रैकवचनोपपत्तिः । ततश्च मुख्यभूतात् महारसात् स्फोटदृशीवासत्यानि वा अन्विताभिधानदृशीवोपायात्मकानि सत्यानि वा अभिहितान्वयदृशीव तत्समुदायरूपाणि वा रसान्तराणि भावाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते । तद्वक्ष्यन्ते "काव्यार्थान् भावयन्ति" इति । तेन प्रथमं रसाः । ते च नव । शान्तापलापिनस्त्वष्टाविति तत्र पठन्ति ।

और वह एक चित्तवृत्ति स्व-पर-भेद से प्रतीयमान अनन्त चित्तवृत्तियों की विशेषताओं से रहित, नाटक में प्रयुक्त लौकिक गीतों के गेयपदादि, लास्य के दश अङ्गों से युक्त, स्वीकृत-लक्षण-सम्पन्न, गुण, अलङ्कार, गीत, वाद्य आदि के संयोग से अतिशय सौन्दर्य को प्राप्त होकर काव्य की महिमा और प्रयोग-परम्परा एवं अभ्यास-विशेष के प्रभाव से स्वकीय-परकीय भाव से रहित साधारणीकरण की भूमि को प्राप्त होकर सामाजिकों को भी अपनी सीमा में समाविष्ट करती हुई, दोनों अर्थात् नायक एवं सामाजिक की चित्तवृत्ति के तादात्म्य होने के कारण अनुमान, आगम (शब्दज्ञान) रूप परोक्षज्ञान और इन्द्रिय सन्निकर्षादि के विना होने वाले योगिप्रत्यक्ष ज्ञान से विलक्षण, तटस्थ, प्रमाता और प्रमेय से विलक्षण और परकीय लौकिक चित्तवृत्ति से विलक्षण रूप में प्रतीत होने वाली, नायक के अपने परमित स्वरूप के आश्रय से प्रतीत न होने के कारण लौकिक अङ्गना आदि से उत्पन्न निज रति-शोक आदि के समान अन्य चित्तवृत्तियों को उत्पन्न करने में असमर्थ होने से निर्विघ्न स्वसंवेदनात्मक विश्रान्तिरूप आस्वादन (रसन) नामक व्यापार से गृहीत होने से 'रस' शब्द से कही जाती है ।

१. क. पुस्तके इदं नास्ति ।

२. क–भ. म. सामाजिका अपि ।

३. क भ. म. चाननुमाना० ।

४. क. षड्ज (तज्ज) हानादिचित्तवृत्यन्तरजननाक्षमा ।

तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयाऽत्यन्तपरिचितत्वेन [1]सर्वान्प्रति हृद्यतेति पूर्वं शृङ्गारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततस्तन्निमित्तं रौद्रः। स चार्थप्रधानः। ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीरः। स हि धर्मप्रधानः। तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात्। तदनन्तरं भयानकः। तद्विभावाधारण्यसंभावनात्। ततो बीभत्सः इति यद्वीरेणाक्षिप्तम्। वीरस्य पर्यन्तेऽद्भुतः फलमित्यनन्तरं तदुपादानम्। तथा च वक्ष्यते 'पर्यन्ते कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतः।" (ना. शा. १८-४३) इति। ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः। तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणेत्युक्तम्॥ १६॥

इसलिये रस ही नाट्य है, जिसकी व्युत्पत्ति (अनुभूति) ही इस नाट्य का फल है, परिणाम है अर्थात् नाट्य की अनुभूति रस में ही है, और 'रसादृते' (रस से भिन्न) 'रसात्' पद में एकवचन की संगति ठीक बैठती है। इसलिए जिस नाट्यरस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है। यह स्फोट के समान असत्यरूप अन्य रस है अथवा अन्विताभिधान के समान उपायभूत अन्य रस है अथवा अभिहितान्वयवाद के समान मुख्यरस का समुदायरूप है। इस प्रकार अन्यरस उस मुख्य रस के अङ्ग (अंश) रूप में दिखाई देते हैं और वर्णन किये जाते हैं। इसलिये 'काव्य के अर्थ को भावित करते हैं' यह आगे कहा जायगा। इसीलिए संग्रह में पहिले रसों को कहा गया है। वे संख्या में नौ हैं। नाट्य में शान्त रस को न मानने वाले आठ ही रस स्वीकार करते हैं (**अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः**)।

उसमें काम (रति) के समस्त जातियों में सुलभ होने से अत्यन्त परिचित होने के कारण और सबके प्रति (सब के लिए) आह्लादक होने से सबसे पहिले शृङ्गार रस का निर्देश किया गया है। शृङ्गार रस का अनुगामी हास्य रस है, इसलिए शृङ्गार के बाद हास्य रस का विवेचन किया गया है। इसके बाद निरपेक्ष भाव होने से उसके विपरीत अर्थात् हास्य रस के विपरीत करुण रस का निर्देश है। तत्पश्चात् करुण रस के निमित्तभूत रौद्ररस का वर्णन है। वह अर्थप्रधान होता है। इसके बाद काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से वीर रस का उल्लेख किया गया है, क्योंकि वह वीररस धर्मप्रधान होता है। वीर रस का प्रयोजन भयभीत अर्थात् डरे हुए लोगों को अभय प्रदान करना है। उस वीर रस के बाद भयानक रस का वर्णन है। भयानक रस के समान विभावों के होने के कारण भयानक के बाद बीभत्स रस का उल्लेख किया गया है। वीर रस के आक्षिप्त फल (परिणाम) अद्भुत (विस्मय)

१. क. सर्वान्प्रतिहत्येति।

होता है, इसलिए वीर रस के बाद अद्भुत रस का उल्लेख है। अभिनवगुप्त अद्भुत रस को सबसे अन्त में स्वीकार करते हैं। जैसा कि आगे अठारहवें अध्याय में कहेंगे कि—"विद्वानों को रूपकों के अन्त में अद्भुत रस की योजना करनी चाहिए"। (ना० शा० १८।४३)। उसके बाद त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के साधनभूत प्रवृत्ति धर्म के विपरीत निवृत्तिधर्मप्रधान मोक्ष फल वाला शान्त रस आता है। उस शान्त रस में आत्मनिष्ठ होने से रस चर्वणा होती है, रस का आस्वादन होता है, यह कहा गया है ॥ १६ ॥

विमर्शः—नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय के सोलहवें श्लोक में 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' कहा गया है। इनमें पहले 'नाट्यरस' का विवेचन करते हैं। नाट्य रस क्या है ? अभिनवगुप्त के अनुसार नट के द्वारा प्रयुक्त अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय नाटकादि में से किसी एक काव्यविशेष से प्रकाश्य अर्थ 'नाट्य' है। यह नाट्य यद्यपि विभावादि के अनन्त होने के कारण अनन्तविभावादि रूप हैं, तथापि सभी विभावों का ज्ञान में पर्यवसान होने से तथा ज्ञान का भोक्ता में और भोक्तृवर्ग का प्रधान भोक्ता अर्थात् नायक में पर्यवसान होने से नायक नामक भोक्तृविशेष की चित्तवृत्ति भी 'नाट्य' है। स्वगत-परगत भेद से शून्य यह चित्तवृत्ति आस्वाद्यमान होने से 'रस' है। इस प्रकार रागात्मिका चित्तवृत्ति का परिणाम ही रस है। यतश्च नाट्य की पूर्णतः अनुभूति रस में होती है, अतः रस ही नाट्य है। यह रस नाट्यसमुदाय से समुद्भूत होता है। अतः नाट्य में रस निहित है। इस प्रकार रस समुदाय ही नाट्य है। वह केवल नाट्य ही नहीं होता, अपि तु काव्य में भी नाट्यरूप ही रस होता है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार समुदायरूप अर्थ नाट्य है और नाट्य ही रस है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि स्वगत-परगत भेद से शून्य चित्तवृत्ति सामाजिकों को स्व-पर-भाव से रहित बनाकर साधारणीकरण की सीमा में लाकर अपने में समाविष्ट कर लेती है और उसमें तादात्म्य हो जाता है। साधारणीकरण की यह तादात्म्य स्थिति रसानुभूति का कारण है। अभिनव के अनुसार काव्य की महिमा एवं अभिनय के प्रभाव से विभावादि में स्वगत-परगत-भाव का विलोप हो जाता है, यही साधारणीकरण है। इस अवस्था में साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से मुक्त होकर सामाजिक से सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जाती। इस प्रकार विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर रसादि स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है। यह साधारणीकृत स्थायीभाव रस के रूप में परिणत हो जाता है। साधारणीकरण की तादात्म्य स्थिति के कारण जो रसानुभूति होती है, वह अनुमान, आगम और योगिप्रत्यक्ष ज्ञान से विलक्षण है। क्योंकि अनुमान और आगम से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है और रसानुभूति साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्ष है।

यह अनुभूति योगिप्रत्यक्ष ज्ञान से भी भिन्न है । क्योंकि योगिप्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात्कारात्मक होने पर भी इन्द्रियसन्निकर्ष आदि की अपेक्षा नहीं रखता । किन्तु रसानुभूति के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की आवश्यकता होती है । यह रसानुभूति लौकिक चित्तवृत्ति से परे विलक्षण होती है ।

नाट्यकला का मुख्य उद्देश्य साभाजिकों को रसानुभूति कराना है । जिस नाट्यरस की अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है । वह एक है । अन्य रस उसी महारस के अंशभूत हैं । वैयाकरणों के स्फोटवाद सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार पदस्फोट में वर्णों का और वाक्यस्फोट में पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उसी प्रकार नाटक के प्रधानभूत महारस में अन्य रसों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता । अखण्ड पदों को पदस्फोट और अखण्ड वाक्यों को वाक्यस्फोट कहते हैं और स्फोट ही अर्थ का बोधक होता है । इस प्रकार वैयाकरण वर्ण-विभाग-रहित पदस्फोट और पदविभागरहित वाक्यस्फोट को ही अर्थ का बोधक मानते हैं । यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्फोटवाद के सिद्धान्त के अनुसार पद और वाक्य अखण्ड हैं और उनके वर्ण एवं पद रूप अवयवों की प्रतीति असत्य है उसी प्रकार नाट्यरस ही मुख्य रस है और अन्यरस स्फोट के अङ्गों के समान असत्य हैं । इसीलिए कहा गया है कि मुख्यभूत महारस की अपेक्षा अन्यरस स्फोट के समान असत्य हैं ।

अभिनवगुप्त दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि उस प्रधानरूप महारस की अपेक्षा अन्यरस अन्विताभिधान के समान उपायात्मक सत्य है । तात्पर्य यह है कि अन्विताभिधानवाद के अनुसार यद्यपि पदार्थ सत्य हैं, वाक्यार्थ बोध के समय उनकी अलग-अलग प्रतीति होती है, किन्तु वह अलग-अलग प्रतीति उपायभूत मात्र है । वास्तव में अन्वित पदार्थ की ही प्रतीति होती है । इसी प्रकार नाट्यरस अर्थात् मुख्यभूत महारस के साथ अन्य रसों की स्थिति उपायभूत सत्य के समान है । अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहिले पदार्थ का बोध होता है, फिर उनके पदार्थों के समुदाय से ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । उसी प्रकार नाटक में अन्यरस गौण होते हैं, वे समुदाय रूप में प्रधानरस का ज्ञान कराते हैं । इस प्रकार रससमुदाय ही नाट्य है और नाट्य ही रस है । **'अष्टौ नाट्ये रसाः'**—भरतमुनि के अनुसार नाट्य में आठ रस होते हैं । यहाँ पर **'अष्टौ रसाः'** के साथ **'नाट्ये'** पद प्रयुक्त होने से यह सूचित होता है कि नाट्य से भिन्न काव्य में शान्त नामक नवाँ रस भी होता है । इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर मम्मट ने **'शान्तोऽपि' नवमो रसः'** कहा है । अभिनवगुप्त **'अष्टौ नाट्ये रसाः'** इस कथन को उपलक्षण मानते हैं । उनके अनुसार नाट्य में भी शान्त रस होता है । जैसाकि उन्होंने कहा है **'एवं नव रसाः दृष्टाः'** (ना० सा० ६।८७) ।

अभिनवगुप्त ने रसक्रम का अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है । उन्होंने शृङ्गाररस को प्रथम स्थान दिया है । पुरुषार्थ चतुष्टय में काम का प्रमुख स्थान है । यह काम समस्त

[1]एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना।
पुनश्च भावान्वक्ष्यामि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजान्[2] ॥ १७ ॥
[3]रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ १८ ॥

स च विभावादिबलादिति भावा वक्तव्याः। तत्र नाज्ञातलौकिकरत्यादिचित्तवृत्तेः कवेर्नटस्य वा तद्विषयविशिष्टविभावाद्याहरणं शक्यमिति स्थायिन उद्दिष्टाः। तत्र शान्तस्य स्थायी 'विस्मयशमा" इति कैश्चित्पठितः। उत्साह एवास्य स्थायीत्यन्ये। जुगुप्सेति केचित्। सर्वं इत्येके। तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी। एतदर्थमेवोभयधर्मोपजीवित्वख्यापनायामङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वं निर्दिष्टो [4]व्यभिचारिषु। अभिनयस्योपजीवका इति (तदनन्तरं) सात्त्विका। स्थायिषु च सङ्ख्या नोक्तेत्यपरे। अत एव स्थायिन एते तु व्यभिचारिणोऽपि भवन्ति। एतच्चाग्रे वितनिष्यामः ॥१७-१८॥

प्राणियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। उसके प्रति सभी लोगों का स्वाभाविक आकर्षण होता है। इसीलिये शृङ्गार रस का सबसे पहिले निरूपण किया गया है। शृङ्गार का अनुगामी होने से हास्यरस को द्वितीय स्थान प्राप्त है। हास्य का विरोधी होने से उसके बाद करुण को तृतीय स्थान दिया गया है। करुण से सम्बन्ध होने से रौद्र रस को चतुर्थ स्थान प्राप्त है। रौद्र रस अर्थप्रधान होता है। उसके बाद काम और अर्थ के धर्म मूलक होने से वीर रस को पञ्चम स्थान दिया गया है। वीर रस धर्मप्रधान है। भय से पीड़ितों को अभय प्रदान करना वीरों का काम है। इसलिये वीर रस के बाद उसके विरोधी भयानकरस का प्रतिपादन किया गया है। भयानक रस के समान बीभत्सरस के भी विभावादि होते हैं, इसलिये भयानक के बाद बीभत्स रस का सातवें स्थान पर निरूपण किया गया है। वीर के बाद अद्भुत रस का आठवाँ स्थान है। नारायण पण्डित ने समस्त रसों में अद्भुत रस की स्थिति मानी है और उसे 'चमत्कारसार' कहा है। अभिनव उक्त आठ रसों के अतिरिक्त शान्त नामक नवाँ रस भी मानते हैं। यह शान्त रस धर्मरूप मोक्षफल का दायक है। शान्त रस में भी रस का आस्वादन होता है ॥ १६ ॥

अनुवाद—महात्मा ब्रह्मा ने इन आठ रसों को कहा है अब इसके बाद स्थायी, सञ्चारी और सात्त्विक भावों का वर्णन करूँगा ॥ १७ ॥

अनुवाद—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये आठ स्थायीभाव कहे गये हैं ॥ १८ ॥

---

१. क (टि.) एते नव रसा दृष्टा द्रुहिणेन महात्मना।
२. क—अ. स्थायिसञ्चारिसात्त्विकान्।
३. क—न. हासो रतिश्च, ४. क, व्यभिचारित्वाभिनयत्वोपजीविका।

[1]निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः[2] ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः[3] ॥ १९ ॥
व्रीडा [4]चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ २० ॥
सुप्तं [5]विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
[6]मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २१ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २२ ॥

अभिनव—वह रसचर्वणा विभावादि के बल से होती है, अतः भावों का कथन करना चाहिए। उनमें लौकिक इत्यादि रूप चित्तवृत्ति के परिचय के विना कवि और नट रस के साथ सम्बद्ध विभावादि को उपस्थित करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए भरत ने सर्वप्रथम स्थायीभावों का निर्देश किया है। उनमें कुछ लोग 'शम' को शान्त रस का स्थायीभाव कहते हैं। दूसरे लोग 'उत्साह' को शान्तरस का स्थायीभाव मानते हैं। अन्य लोग जुगुप्सा को शान्त का स्थायी कहते हैं। कुछ लोग अन्य सभी को शान्तरस का स्थायीभाव कहते हैं। वस्तुतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही शान्तरस का स्थायीभाव है। इसीलिए ही इसमें स्थायीभाव और संचारीभाव दोनों के धर्म होते हैं। उभयधर्म के उपजीवित्व को प्रकट करने के लिए अमङ्गलरूप होने पर भी व्यभिचारीभावों में निर्वेद को प्रथम स्थान दिया है और उसके बाद अभिनय के उपजीवक सात्त्विक भाव का निर्देश है। स्थायीभावों की निश्चित संख्या नहीं कही गई है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। इसीलिए ये स्थायीभाव व्यभिचारीभाव भी हो जाते हैं। इसका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे ॥ १७-१८ ॥

अनुवाद—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निन्द्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क ये तैंतीस व्यभिचारी भाव नाम से गिनाये गये हैं। इन्हीं को सञ्चारीभाव भी कहते हैं ॥ १९-२२ ॥

१. क–ग. निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिशङ्कारूपा मदश्रमाः ।
२. ख. ग. ध. मदश्रमाः । ३. क–म. मोहमतिस्मृतीः ।
४. क–(टि.) व्रीड़ा चपलता चैव आवेगो जड़ता धृतिः ।
५. ख–सुप्तं प्रबोधो । क–म. सुप्तं प्रबोधो हर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
क–न. त. सुप्तिविबोधो ।
६. क–म मतिर्व्याधिरथोन्मादः । क–अ. अरतिर्व्याधिरुन्मादः ।

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः [1]स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय [2]इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥ २३ ॥
आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
चत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यसंश्रयाः [3] ॥ २४ ॥

व्यभिचारिण एत इत्युभयतो नियमार्थं सङ्ख्योपादानम् ॥१९-२२॥

सात्त्विका व्यभिचारिवृत्तमभिनयवृत्तं चोपजीवन्तीति पृथगभिनयादिभ्यो गणिताः ॥२३॥

चत्वार इति । आहार्यस्यापि धनुःप्रतिशीर्षकमुकुटादेः प्रत्यक्षबुद्धावुपयोगेऽन्तरङ्गत्वं सूचयति । नाट्यसंश्रया इति । लोके तु कदाचिन्न भवत्यपि गृहीतत्वात् । नाट्ये तु त एव जीवितम् । अत एव रसभावानन्तरमभिनया उद्दिष्टाः । ॥ २४ ॥

अभिनव—ये तैंतीस व्यभिचारी भाव है । इस प्रकार दोनों ओर नियम करने के लिए संख्या का उपादान (ग्रहण) किया गया है ॥ १९–२२॥

अनुवाद—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्च्छा) ये आठ सात्त्विकभाव हैं ॥ २३ ॥

अभिनव—सात्त्विकभाव अभिनय और व्यभिचारीभाव दोनों के स्वभाव का उपजीवन करते हैं अर्थात् दोनों के धर्म से युक्त होते हैं, इसलिए व्यभिचारीभावों के बाद अभिनय आदि (अभिनय और व्यभिचारीभाव) से अलग इनकी गणना है ॥२३॥

इसके बाद सात्त्किक भावों को कहते हैं—

अनुवाद—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक नाट्य के आश्रित ये चार प्रकार के अभिनय समझने चाहिए ॥ २४ ॥

अभिनव—'चत्वारः' पद से धनुष, पगड़ी, मुकुट आदि आहार्य अभिनय की साक्षात्कार बुद्धि के उपयोग में अन्तरङ्गता सूचित होती हैं । 'नाट्यसंश्रयाः' पद का तात्पर्य यह है कि लोक में सहज परिचय होने के कारण कदाचित् इनका उपयोग न भी हो किन्तु नाटक में तो वे ही आहार्य वेष-भूषादि प्राण हैं । इसलिए रस और भाव के बाद अभिनयों का कथन किया गया है ॥ २४ ॥

विमर्श—अभिनवगुप्त ने स्थायी आदि भावों का सम्बन्ध अभिनय से जोड़ा है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में चित्तवृत्ति के रूप में कुछ न कुछ भाव सदा विद्यमान रहते हैं जो भाव निरन्तर विद्यमान रहते हैं वे स्थायीभाव कहे जाते हैं और जो भाव अनियमित रूप से यदा कदा

१. ख. घ. स्वरसादोऽथ वेपथुः । ख–त. न. स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
२. क–व. भावास्त्वष्टौ तु सात्त्विकाः ।
३. क–न. विज्ञेया नाट्यकर्मणि । क–त. येषु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।

अभिनयाश्च लौकिकं धर्मं तन्मूलमेव तदुपजीविनं सामयिकं वानुवर्तन्त इत्यतस्तदनन्तरं धर्मी—

आकर प्रवहमान जीवनधारा में गति देकर लौट जाते हैं वे सञ्चारीभाव कहे जाते हैं। ये सञ्चारीभाव रसों में विविध रूप में सञ्चरण करते हैं। इस प्रकार अभिनेता आङ्गिक आदि चेष्टाओं के द्वारा मानव-हृदय में निरन्तर स्थायी रूप से विद्यमान मनोगत भावों को जब प्रदर्शित करता है तो वह भाव अर्थात् स्थायीभाव रसत्व पद को प्राप्त कर लेता है। अभिनेता जब जिस रस का प्रदर्शन करना चाहता है तदनुकूल भाव-भङ्गिमाओं का ही प्रदर्शन करता है। इस प्रकार भाव ही रस है। कोई भी भाव रसहीन नहीं होता और न कोई रस भावहीन होता है (**न भावहीनो रसोऽस्ति न भावो रसवर्जितः**)। नाटक में रस को प्रकट करने में आहार्य अभिनय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। आहार्य का प्रयोजन नाट्य में स्थायीभावों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करना है। रस की दृष्टि से सात्त्विक अभिनय का विशेष महत्त्व है। मनोगत भावों को प्रकट करने वाला अभिनय ही नाट्य में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और अभिनय वह होता है जिसमें सात्त्विक की मात्रा अधिक होती है। अभिनव का कथन है कि सात्त्विक भाव के पूर्ण योग होने पर ही नाट्य प्रशस्य होता है। उनके अनुसार नाट्य ही रस है और रस का अन्तरङ्ग सात्त्विक है और सात्त्विक (अभिनय) में नाट्य प्रतिष्ठित है (**सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितम्**)। सात्त्विक भावों की उत्पत्ति चित्त की एकाग्रता से होती है। चित्त की एकाग्रता के कारण ही सामाजिक पात्रों के सुख-दुःख को अपना समझने लगता है, तभी उसे रसानुभूति होती है।

ये चार प्रकार के अभिनय नटराज भगवान् शिव के चार रूप हैं। यह समस्त विश्व उस लीलाताण्डव नटराज का आङ्गिक अभिनय है, सम्पूर्ण वाङ्मय वाचिक अभिनय है, चन्द्रतारादि से मण्डित आकाश आहार्य अभिनय है और स्वयं शिव सात्त्विकरूप हैं। इसीलिए अभिनय में सात्त्विक अभिनय का विशेष महत्त्व है, जिसमें सुख-दुःखादि मनोभावों का अभिव्यञ्जन होता है। आङ्गिक अभिनय में अङ्गों के द्वारा विविध चेष्टाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। वाणी के द्वारा संवादादि का अभिव्यञ्जन वाचिक अभिनय है। वेश-भूषादि का प्रदर्शन आहार्य अभिनय है। अभिनेता अभिनय के द्वारा अभिनेय के क्रियाकलापों, विविध चेष्टाओं, वेष-भूषा एवं भाव-मुद्राओं को रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित करता है, अभिनेय पात्रों के मानसिक भावों का प्रकाशन करता है। इस प्रकार अभिनय में केवल बाह्य चेष्टाओं का ही नहीं, अपितु बाह्य चेष्टाओं के साथ मनोगत भावों का भी प्रकाशन होता है। इन सबका आगे विस्तार से वर्णन किया जायगा ॥ २४ ॥

अभिनव—अभिनय लौकिक धर्म तथा तन्मूलक उसके उपयोगी सामयिक परम्पराओं का अनुसरण करता है, इसलिए उसके बाद धर्मी का कथन करते हैं—

[1]लोकधर्मी नाटचधर्मी [2]धर्मीति द्विविधः स्मृतः ।
भारती सात्त्वती चैव [3]कैशिक्यारभटी तथा ॥
[4]चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु [5]नाट्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥
आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवौढ्रमागधी[6] ॥
[7]पाञ्चालमध्यमा चेति विज्ञेयास्तु प्रवृत्तयः ॥ २६ ॥
[8]दैविकी मानुषी चैव सिद्धिः स्याद्द्विविधैव[9] तु ॥ २७ ॥

न चाभिनयोऽभिनेतव्यमन्तरेणास्तीति दशरूपकयोगद्वारेण तदुपकारिण्यो वृत्तयः । द्वे तिस्रः पञ्चेति निराकरणाय चतस्र इत्युक्तम् । ता अपि देशवशाद्-भूयसा भवन्तीति तदनन्तरं प्रवृत्तयः ॥२५-२६॥

सर्वमेतत्सिद्धिपर्यवसानमिति ततो द्विविधा सिद्धिः ॥२७॥

अनुवाद—लोकधर्मी और नाटचधर्मी ये दो प्रकार के धर्मी कहे गये हैं ।

अनुवाद—भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी ये चार प्रकार की वृत्तियाँ हैं जिन पर नाटच प्रतिष्ठित है ॥२५॥

अनुवाद—आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी, पाञ्चाली तथा मध्यमा ये पाँच प्रकार की प्रवृत्तियाँ कही गई हैं ॥२६॥

अभिनव—अभिनय अभिनेय के विना सम्भव नहीं है । इसलिए दश रूपकों के सम्बन्ध के कारण तदुपकारक वृत्तियों का कथन किया गया है । दो, तीन, पाँच संख्या के निराकरण के लिए चार (संख्या) का उल्लेख किया गया है । वे वृत्तियाँ भी अधिकांशतः देश के आधार पर होती हैं, इसलिए इन वृत्तियों के बाद प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है ॥२५-२६॥

१. क-ड. लौकिकी नाटचधर्मी च धर्मी तु द्विविधा स्मृता ।
२. ख. घ. धर्मी तु ।
३. क-ड. त. भारती सात्त्वती चैव वृत्तिराभटी तथा ।
चतस्रो वृत्तयो ह्येताः कैशिक्या सह कीर्तिताः ।
५. क-अ. विज्ञेया नाटचसंश्रया ।
६. क-प. तथा चैवार्धमागधी । क-ख. तथा चैवान्ध्रमागधी ।
७. ख. घ. पाञ्चाली मध्यमा चैव ज्ञेया नाटचप्रवृत्तयः ।
८. क-म. दैवीति । क-अ. पुस्तके इदमर्धं नास्ति ।
९. क-ङ. सिद्धिस्तु द्विविधैव च ।

[1]शारीराश्चैव वैणाश्च सप्त षड्जादयः स्वराः ।
[2]निषादर्षभगान्धारमध्यपञ्चमधैवताः ॥ २८ ॥

स्वराः पाठ्य गानसंगृहीता अपि पृथगुपात्ताः । केवलानामपि प्रयोगोपरञ्जकत्वं यल्लक्ष्ये दृश्यते यत्रान्तरालाप इति प्रसिद्धिस्तदभ्युपगमार्थम् ॥२८॥

अनुवाद—दैवी और मानुषी ये दो प्रकार की सिद्धियाँ कही गयी है ॥ २७ ॥

अभिनव—ये समस्त अभिनय विभिन्न सिद्धियों में समाप्त हो जाते हैं। इसलिए प्रवृत्तियों के बाद दो प्रकार की सिद्धियों का कथन किया गया है ॥ २७ ॥

अनुवाद—शारीर स्वर (शरीर से उत्पन्न) और वैणस्वर (वीणा आदि वाद्यों से निकलने वाले स्वर) षड्ज आदि सात प्रकार के होते हैं। ये सात स्वर हैं—षड्ज निषाद, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम और धैवत ॥ २८ ॥

अभिनव—पाठ्य और गान के अन्तर्गत स्वरों का अन्तर्भाव हो जाने पर भी उनका पृथक् ग्रहण किया गया है। केवल स्वरों के प्रयोग से भी नाट्य में सौन्दर्य परिलक्षित होता है जो अन्तरालाप के नाम से प्रसिद्ध है। उसके अभ्युपगम के लिए इसका पृथक् से उपादान (ग्रहण) किया गया है ॥ २८ ॥

विमर्श—जो स्वयं राजित होता है उसे 'स्वर' कहते हैं। स्वर के दो अधिष्ठान हैं—शारीर और वैण। जो स्वर शरीर या कण्ठ से उद्भूत होते हैं उन्हें 'शारीर' स्वर कहते हैं और जो स्वर वीणा आदि वाद्ययन्त्रों से उत्पन्न होते हैं वे 'वैण' स्वर कहे जाते हैं। ये दोनों प्रकार के स्वर सात होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हीं को क्रमशः 'स रि ग म प ध नि' कहते हैं। प्रस्तुत श्लोक में शारीर स्वर और वैण स्वर षड्जादि सात प्रकार के बताये गये हैं किन्तु श्लोक के प्रक्षिप्तार्ध में छः स्वर ही गिनाये गये हैं। षड्ज ही मुख्य स्वर है। पूर्वार्द्ध में उसी षड्ज की स्थापना की गई है। उसके बाद अन्य छः स्वरों का स्वरूप स्थिर हो सका है। कुछ विद्वान् षड्ज श्रुति को ही स्वर मानते हैं (**षड्जश्रुतिरेवेत्यपरे**) क्योंकि षड्ज से ही अन्य स्वर उत्पन्न होते हैं। इसीलिए इसके नाम की सार्थकता होती है (**षण्णां स्वराणां जनकः अथवा षट् स्वरान् जनयति प्रकाशयति इति षड्जः**) अर्थात् जो छः स्वरों का जनक है अथवा छः स्वरों को उत्पन्न करता है, प्रमाणित करता है उसे 'षड्ज' कहते हैं। इसीलिए पहिले षड्ज स्वर की स्थापना की गई है और बाद में उस षड्ज से उत्पन्न अन्य छः स्वरों का कथन किया गया है ॥ २८ ॥

---

१. ख. घ. शारीरा वैणवाश्चैव ।
२. ख. ग. घ. पुस्तकेषु इदमर्धं नास्ति ।

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधं च विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥ २९ ॥
ततं [1]तन्त्रीगतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम्।
घनस्तु तालो विज्ञेयः सुषिरो वंश एव च ॥ ३० ॥

लक्षणान्वितमिति। अन्यत्तु मल्लकपटफलकज्वालामुखपक्षवाद्यादि-लौकिकं नैतत्सङ्गृहीतं बाध्यत्वादित्यर्थः। एतच्चान्ते वक्ष्यते। यद्यपि चतुर्विधं न सर्वमिदं बहुलचर्मकारादिवाद्यमपि च वक्ष्यमाणलक्षणान्वितम्। आतूद्यतेऽभिहन्यत इत्यर्थः ॥२९॥

पौष्करमिति। पुष्करशब्दश्रवणादागतं पुष्करावर्तकदेवताधिष्ठितं पद्मपत्राकारं चर्मपुटभाषं चेति पौष्करम्। हन्यते कलासाम्यार्थमिति घनः। अत एव तालैकप्रमाणत्वात्स्वरवर्णसम्भवात्ताल इत्युक्तः कांस्यतालादिः। एवकारः काहलादिव्युदासाय ॥३०॥

अनुवाद—तत, अवनद्ध, घन और सुषिर लक्षणों से युक्त ये चार प्रकार के वाद्य (आतोद्य माने गये हैं ॥ २९ ॥

अनुवाद—इनमें तन्त्रीगत वाद्य को 'तत' और अवनद्ध वाद्य को 'पौष्कर' समझना चाहिए। ताल को घन वाद्य और बांस के बने बाँसुरी आदि वाद्यों को 'सुषिर' जानना चाहिए ॥ ३० ॥

अभिनव—'लक्षणों से युक्त' इस कथन से यह निर्देश है कि मल्लक पट, फलक, ज्वालामुख, पक्षवाद्य आदि लौकिक वाद्यों का बाध होने से उनका यहाँ संग्रह नहीं किया गया है। यह बात आगे विस्तार से कहेंगे। ये चार प्रकार के वाद्य ही सब प्रकार के वाद्य नहीं हैं, क्योंकि वक्ष्यमाण लक्षणों से अन्वित बहुत से चर्मकार आदि वाद्य भी हैं। ताड़ित अर्थात् अभिहनन किये जाने के कारण 'आतोद्य' वाद्य कहलाता है ॥२९॥

पुष्कर (मेघविशेष) के शब्द के श्रवण से प्राप्त अर्थात् पुष्कर की शब्द ध्वनि के आधार पर बनाया गया, पुष्करावर्त्तक (मेघविशेष) देवता से अधिष्ठित, कमलपत्र के समान आकार वाला और चमड़े से मढ़ा होने से शब्द (ध्वनि) करने वाला वाद्य 'पौष्कर' कहा जाता है। कला अर्थात् मात्राकाल की समानता के लिए पीटकर बजाया जाने वाला वाद्य 'घनवाद्य' होता है। इसलिए ताल ही के मुख्य प्रमाण होने से और स्वर एवं वर्णों का उत्पादक होने के कारण कांस के बने हुए घण्टा, घड़ियाल, करताल आदि वाद्यों को 'ताल' कहा गया है। बांस के बने हुए वाद्य 'सुषिर' कहे जाते हैं। ये काहल आदि वाद्यों से भिन्न है। सुषिर वाद्यों से काहल आदि वाद्यों का पार्थक्य दिखलाने के लिए कारिका में 'वंश एव च' पाठ किया गया है ॥३०॥

१. क—अ तन्त्रीकृतम्।

प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम्[1] ।
गानं पञ्चविधं ज्ञेयं ध्रुवायोगसमन्वितम्[2] ॥ ३१ ॥

पात्रस्य प्रवेशे भावप्रकृत्यवस्थानादिसूचकं यद्गीयते तत्प्रवेशगानम् । प्रविष्टस्यान्तर्गतां चित्तवृत्तिं सामाजिकान्प्रति प्रसादयितुं प्रथयितुं [3]प्रसादगानम् । रसान्तरोपक्षेपार्थमाक्षेपगानम् । आन्तरमिति गतिपरिक्रमणनिरूपणादिरवसरः । तत्र यद्गीयते तदान्तरं गानम् । पात्रस्य निष्क्रमणे तु निष्क्रामगानम् । प्रवेशादय उपचाराद्गाने । प्रसादोऽस्य प्रयोजनं प्रासादिकम् । अन्ये तु समासान्मत्वर्थीयं ठनं कृत्वा प्रसादिकमिति । ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः । तत्र योगेन युज्यमानतया समन्वितं तदर्थप्राधान्येन नियतरूपत्वादिति गानस्य गान्धर्वाद्भेदः सूचितः ॥३१॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख है—तत, अवनद्ध, धन और सुषिर । इनमें तार से बने हुए तन्त्रीवाद्यों को 'तत' वाद्य कहते हैं । जैसे, वीणा; सितार आदि । चमड़े से मढ़े हुए मृदङ्ग आदि वाद्यों को 'अवनद्ध' वाद्य करते है । पुष्कर अर्थात् मेघ के शब्दों के अनुकरण पर बजाये जाने के कारण इसे 'पौष्कर' वाद्य भी कहते हैं । नाट्यशास्त्र में उसे 'भाण्डवाद्य' कहा गया हैं । कांस्य धातु से निर्मित करताल, झांझ, घण्टा आदि को 'धनवाद्य' कहते हैं । कांस्यताल कांसे का बना हुआ एक धनवाद्य है । फूंक फूंक कर बजाये जाने वाले छिद्रयुक्त बांसुरी आदि वाद्यों को 'सुषिर' वाद्य कहते हैं । नाट्यशास्त्र में नाट्य-प्रयोग की सफलता के लिए वाद्यों का प्रयोग आवश्यक बताया गया है ॥ ३० ॥

अनुवाद—ध्रुवा के संयोग से समन्वित गान पाँच प्रकार का होता है—प्रवेशक, आक्षेपक, निष्क्रामक, प्रासादिक और आन्तर ॥ ३१ ॥

अभिनव—पात्रों के प्रवेश के समय भाव, प्रकृति तथा अवस्था आदि की सूचना देने वाला जो गान गाया जाता है उसे 'प्रवेशक' गान कहा जाता है । प्रकृत रस से भिन्न रस का आक्षेप करने वाला गान 'आक्षेपक' गान कहा जाता है । पात्रों के रङ्गमञ्च से निकलने के समय गाया जाने वाला गान 'निष्क्रामक' गान होता है । प्रविष्ट हुए पात्र की चित्तवृत्ति को सामाजिकों के प्रति प्रसन्न या प्रकट करने के लिए जो गान गाया जाता है उसे 'प्रासादिक' गान कहते हैं । गति, परिक्रमण आदि के अवसर पर गाया जाने वाला गान 'आन्तर गान' कहा जाता है । प्रवेश आदि

१. ख. प्रवेशाक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथापरम् ।
घ. प्रवेशाक्षेपनिष्कामप्रासादिकमथान्तरम् ।
२. क–अ. ध्रुवायोगसमुद्भवम् ।
३. क–भ. म. प्रासादगानम् ।

चतुरश्रो विकृष्टश्च रङ्गस्त्र्यश्रश्च[1] कीर्तितः ॥ ३२ ॥

कक्ष्याविभागेन गत्युपकारेण सर्वाभिनयानुभावोपकारी गानातोद्योपकारी च मण्डपः। यथोक्तम्—"यश्चाप्यास्यगतो भाव" (ना. शा. २-२०) इति। तथा "गम्भीरस्वरता येन कुतपस्य" इत्यादि (ना. शा. २-८२)। रङ्गेणैव च कक्ष्याविभागः सङ्गृहीत इति नानुद्दिष्टं कक्ष्यायाः ॥३१॥

शब्द उपचार से (लक्षणा से) गान में प्रयुक्त है। प्रसाद ही जिसका प्रयोजन है वह प्रासादिक गान है। प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता लिये जाने पर सामाजिकों को प्रसन्न करने वाला गान भी प्रासदिक गान कहा जा सकता है। अन्य आचार्य तो यहाँ पर समास से मत्वर्थीय ठन् प्रत्यय करके 'प्रसादिक' शब्द निष्पन्न मानते हैं। गीत के आधारभूत नियत पदसमूह को 'ध्रुवा' कहते हैं । 'समन्वित' पद से उनमें योग से युक्त होने के कारण और उसके अर्थ की प्रधानता से नियत (निश्चित) रूप होने के कारण गान का गान्धर्वगान से भेद सूचित कर दिया गया है ॥ ३१ ॥

विमर्श—नाट्य में ध्रुवागीतों का विशिष्ट स्थान है। ध्रुवागीतों का उद्देश्य नाट्यानुकूल भावों का अभिव्यक्त करना है। जिस प्रसङ्ग की अभिव्यञ्जना कथोपकथन आदि उपादानों द्वारा असंभाव्य थी, नाट्य में उनकी अभिव्यञ्जना ध्रुवागीतों के द्वारा करायी जाती है। गीत के निश्चित पद ससूह को ध्रुवा कहते हैं ॥३१॥

अनुवाद—चतुरस्र, विकृष्ट और त्र्यस्र ये तीन प्रकार के मण्डप कहे गये हैं ॥ ३२ ॥

अभिनव—मण्डप कक्ष्याविभाग से अर्थात् रङ्गशीर्ष, नेपथ्यगृह आदि रङ्गमञ्च के विभाग से पात्रों की गति अर्थात् पात्रों के गमनागमन में उपकारक होता है और समस्त प्रकार के अभिनयों, अनुभावों, गायन और वादन आदि में सहायक (उपकारक) होता है। जैसा कि कहा गया है कि 'मण्डप के अत्यन्त बड़ा होने पर पात्रों के मुखगत भाव (अनुभाव आदि) अस्पष्ट हो जाँयेगे' (ना. शा. २।२३) अतः मण्डप की रचना ऐसी करनी चाहिए जिससे गायन-वादन आदि के स्वर गम्भीर बने रहें (ना. शा. २।८८) इत्यादि। रङ्ग के अन्तर्गत कक्ष्या विभाग अर्थात् रङ्गशीर्ष, नेपथ्यगृह आदि विभाग आ जाते हैं इसलिए कक्ष्याविभाग का यहाँ कथन नहीं किया गया है। चतुरस्र, विकृष्ट और त्र्यस्र नाट्यमण्डपों का विस्तृत वर्णन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है ॥ ३२ ॥

---

१. क–अ. त्र्यस्रश्चैव हि मण्डपः।

एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो निर्दिष्टो[1] नाट्यसंग्रहः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि सूत्रग्रन्थविकल्पनम् ॥ ३३ ॥

एतदुपसंहरत्येवमित्यादिना ।

एवमुद्देशविभागभेदेन द्विधा सङ्ग्रहमभिधाय लक्षणपरीक्षे वक्तुं प्रतिजानीते—अतः परमिति । सूत्रग्रन्थविकल्पनमिति । सूत्रं सूत्रकं लक्षणं वक्ष्यामि । तेनैव च कारिका सङ्गृहीता । ग्रन्थो भाष्यम् । तत्कृतं च विकल्पनमाक्षेपप्रतिसमाधानात्मकमिति परीक्षा निरुक्तशब्दवाच्या प्रतिज्ञाता । सूत्रविवरणस्वभावा तु कारिका सूत्रमपि प्रकाशयन्ती बहुतराक्षेपसमाधानव्याकुलशिष्यजनं स्थिरपक्षनिरूपणेनोपकरोतीति भाष्यस्य पश्चावस्याः पाठः ॥३३॥

अब 'एवमित्यादि' श्लोक के द्वारा इसका उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार संक्षेप में सूत्र रूप में लक्षण सहित नाट्य का उद्देश (संग्रह) बतलाया दिया गया है। अब इसके बाद सूत्र (लक्षण) और ग्रन्थ (भाष्य) द्वारा विकल्पन (परीक्षा) का कथन करूँगा ॥ ३३ ॥

अभिनव—इस प्रकार उद्देश और विभाग के भेद से दो रूपों में संग्रह का कथन करके लक्षण और परीक्षा को कहने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'इसके बाद सूत्र और ग्रन्थ का विकल्पन कहूँगा। सूत्र अर्थात् लक्षण को कहूँगा । इसी से कारिका का भी संग्रह हो गया। ग्रन्थ का अर्थ है भाष्य। उसके द्वारा किया गया आक्षेप-प्रति समाधान रूप विकल्पन अर्थात् निरुक्त शब्द से वाच्य शङ्का-समाधान रूप परीक्षा की प्रतिज्ञा की गयी है। सूत्र का विवरण रूप कारिका तो सूत्र का भी प्रकाश करती हुई अनेक प्रकार के शङ्का और समाधान से व्याकुल शिष्य जन का स्थिर (सिद्धान्त) पक्ष के निरूपण के द्वारा उपकार करती है। इसलिए भाष्य के बाद कारिका का पाठ किया गया है ॥ ३३ ॥

विमर्श:—ग्रन्थकार ने यहाँ पर नाट्य के एकादश अङ्गों का सूत्ररूप अर्थात् संक्षेप में उद्देश और विभाग दो रूपों में कथन किया है। अब इसके बाद लक्षण और परीक्षा रूप में व्याख्या करने की प्रतिज्ञा करते हैं। भाव यह कि भरत मुनि ने नाट्य के अङ्गों का संक्षेप में नाममात्र से कथन किया है। अब सूत्र रूप में कथन करने के बाद लक्षण और परीक्षा के रूप में व्याख्या की जायगी । सूत्रग्रन्थविकल्पनम्' यहाँ सूत्र का अर्थ है लक्षण। इसी को कारिका भी कहते हैं। ग्रन्थ का अर्थ है भाष्य। विकल्पन का अर्थ है निरुक्त। अर्थात् यहाँ सूत्र और ग्रन्थ से शङ्का-समाधान रूप परीक्षा की जायेगी ॥३३॥

१. क-भ. व्यादिष्टो ।

तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः[1] ।
न हि रसादृते [2]कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।

रस-निरूपणम्

एवं सूत्रं भाष्यं परीक्षां च प्रवक्ष्यामीति प्रतिज्ञाय रसविषयमेव सूत्रप्रभृति प्रथमं वक्तव्यमित्यत्र परिकरबन्धं घटयितुमाह—तत्रेति।

तेषां रसादीनां मध्ये। एवकारोऽवधारणे। ताववित क्रमे। अभितः आदितः मूलग्रन्थपरीक्षाक्रमेण विभज्याख्यास्यामः।

उद्देशक्रमस्यैव पर्यनुयोज्यतामाशङ्क्यापरं क्रमहेतुमाह—न हीति।

हि यस्मात् रसं विना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्त्तते यतश्च तं विनाऽर्थः प्रयोजनं प्रीतिपुरस्सरं [4]व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते यतश्च रसं प्रत्यादृते रसनात्मकप्रतीत्येकघनविश्रान्ते सामाजिकलोकेऽन्यो भावादिरर्थः प्रविभागेन बुद्धौ न वर्तते। सर्वस्य जडस्य चित्तवृत्यन्तरोपकृतप्रधानस्थायिनामधेयचित्तवृत्तिमग्नत्वेन विभावानुभावादिवर्गस्यावभासात्। अतो व्याख्यातृनटसामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव प्राधान्यमिति रस एव तावत्पूर्वमुद्दिष्ट इति तस्यैव लक्षणादि कर्तव्यमिति तात्पर्यम्।

रस-निरूपण

इसके बाद सूत्र, भाष्य और परीक्षा को कहूँगा, इस प्रकार प्रतिज्ञा करके रस-विषयक सूत्र आदि अर्थात् रसविषयक, सूत्र, भाष्य और परीक्षा को ही पहिले कहना चाहिए, इस विषय की भूमिका बनाने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—उनमें रस की ही सबसे पहले पूर्णरूप से (विशेषरूप से) व्याख्या करेंगे।

अभिनव—उन रसादि के मध्य में यहाँ पर 'एव' शब्द अवधारण अर्थ में है। 'तावत्' पद क्रम का सूचक है। 'अभिधास्यामः' का अर्थ है—'आदितः' अर्थात् प्रारम्भ से ही सूत्र, ग्रन्थ (भाष्य) और परीक्षा का क्रम से विभाजन करके कहेंगे॥

उद्देश के क्रम के सम्बन्ध में ही सबसे पहले प्रश्न हो सकता है, इस प्रकार आशङ्का करके क्रम का दूसरा हेतु कहते हैं—

अनुवाद—क्योंकि रस के विना कोई अन्य अर्थ (नाटयाङ्ग) प्रवृत्त नहीं हो सकता।

---

१. ख. घ. तावदभिधास्यामः। क—न. तावदभिधास्ये।
२. ख. घ. कश्चिदपि। क—न. कश्चित्।

तत्र[1] विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

पूर्वत्र बहुवचनमत्र चैकवचनं प्रयुञ्जानस्यायमाशयः—एक एव तावत्परमार्थतो रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति । तस्यैव पुनर्भागदशा विभागः । सोऽपि च न तदेकमुखप्रेक्षितामतिवर्तते । एतच्चोद्देश एवास्माभिरभिहितचरम् । अभिधास्यते चाग्रे ।

एवं क्रमहेतुमभिधाय रसविषयं लक्षणसूत्रमाह—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

अभिनव—क्योंकि रसके विना विभावादि अर्थ व्याख्येय रूप से बुद्धि में नहीं आ सकते। क्योंकि रस के विना आनन्दपूर्वक ज्ञानरूप नाट्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता और क्योंकि रस के प्रति आदर भाव रखने वाले और रसनात्मक प्रतीति में एकमात्र विश्रान्ति (आनन्द) का अनुभव करने वाले सामाजिक लोक में रस से भिन्न भावादि अर्थ अलग-अलग स्पष्ट रूप से बुद्धि में नहीं आते। समस्त जड़ पदार्थ की अन्य चित्तवृत्तियों से उपकृत स्थायीभाव नामक प्रधान चित्तवृत्ति में निमग्न होने से विभाव अनुभाव आदि की रस रूप में अनुभूति होती है। इसलिए व्याख्याता नट तथा सामाजिकों से अभिप्राय से उसी की हो प्रधानता है, इसलिए रस को ही सर्वप्रथम उद्दिष्ट किया गया है अतः उसी के ही लक्षण आदि करने चाहिए, यह तात्पर्य है।

इसके पूर्व सोलहवें श्लोक में 'रस' शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया गया है और यहाँ एकवचन में रस का प्रयोग है, इसका आशय यह है कि वास्तव में नाटक में सूत्र रूप में विद्यमान एक ही प्रधान रस प्रतिभासित होता है। फिर उसी के ही अन्य अवान्तर विभाग होते हैं। भाव यह कि नाटक में मुख्यरूप एक ही रस प्रतीत होता है उसी के अन्तर्गत अन्य अवान्तर रसों के विभाग स्वीकार किये गये हैं। वह विभाग भी उसो प्रधान रस का मुखापेक्षी है। यह बात मैंने उद्देश के कथन के अवसर पर पहिले ही कह दिया है। और आगे भी कहेंगे।

अभिमव इस प्रकार उद्देश के क्रम का हेतु बतलाकर अव रसविषयक लक्षण सूत्र को कहते हैं—

अनुवाद—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है।

१. तत्र इति ख पुस्तके नास्ति ।

अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः । तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम् । अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः । तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् । अपि तु भावानामेव । (ते) येऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः । दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत् । अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत् । तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः । स्थायी भवत्वनुपचितः । स चोभयोरपि । मुख्यया वृत्त्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्—इति ।

विमर्श—भरतमुनि के रससूत्र पर आचार्यों ने अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की है। अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में पूर्ववर्ती उन सभी आचार्यों के मतों को प्रस्तुत कर उनकी सम्यक् समीक्षा की है। अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम भट्लोल्लट का मत प्रस्तुत किया है। भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी आचार्य हैं अतः उन्होंने उत्पत्तिवाद सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर भरतसूत्र को व्याख्या की है।

१—भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

अभिनव—भट्टलोल्लट प्रभृति आचार्य भरत के रससूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—विभाव आदि के साथ स्थायीभाव का जो संयोग होता है उससे रसनिष्पत्ति होती है। उनमें अर्थात् विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव में से विभाव स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति में कारण होता है। यहाँ पर अनुभाव शब्द से रसजन्य अनुभाव विवक्षित नहीं हैं, क्योंकि रस के कारणों में उनका परिगणन नहीं होता है, अपितु भावों की ही गणना की जाती है। जिस अनुभाव और सञ्चारिभाव का चित्तवृत्ति रूप होने से यद्यपि स्थायीभाव के साथ सहभाव नहीं होता तथापि यहाँ उस स्थायीभाव के साथ वासना (संस्कार) के रूप में विवक्षित हैं। दृष्टान्त में भी व्यञ्जन आदि के मध्य में किसी की स्थायीभाव के समान वासनारूप में स्थिति रहती है और किसी की व्यभिचारीभाव के समान उद्भूत रूप में स्थिति रहती है। इसलिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव से उपचित (परिपुष्ट हुआ) स्थायीभाव ही रस होता है। अपरिपुष्ट स्थिति में तो वह स्थायीभाव ही रहता है। वह रस अनुकार्य और अनुकर्त्ता दोनों में रहता है। मुख्य रूप से राम आदि अनुकार्य में और रामादि के रूप का अनुसन्धान करने के कारण उपचार से अनुकर्त्ता (नट आदि) में उस रस की प्रतीति होती है। यह भट्टलोल्लट आदि विद्वानों का मत है।

चिरन्तनानां चायमेव पक्षः । तथा हि दण्डिना स्वालङ्कारलक्षणेऽभ्यधायि ।
"रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन" इति (काव्यादर्श २-२८१)
"अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः ।" (काव्यादर्श २·२८३) ।
इत्यादि च ।

भट्टलोल्लट के मत का अनुसरण करने वाले दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों का भी यही मत है। जैसाकि दण्डी ने काव्यादर्श नामक अपने अलङ्कारशास्त्र के ग्रन्थ में कहा है कि—

"रूप बाहुल्य के योग से रति (स्थायीभाव) शृङ्गाररसत्व को प्राप्त करता है ।"
(काव्यादर्श २।२८१)
और
"पराकाष्ठा पर पहुँचकर क्रोध ही रौद्ररसरूपता को प्राप्त करता है ।"
(काव्यादर्श २।२८३)

विमर्श—भरतसूत्रों के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी आचार्य है। आचार्य मम्मट ने भी भट्टलोल्लट के मत को उद्धृत किया है, किन्तु उनके विवेचन की शैली कुछ भिन्न है। भट्टलोल्लट के अनुसार संयोग शब्द के तीन अर्थ होते हैं—उत्पाद्य-उत्पादक भाव, गम्य-गमक भाव और पोष्य-पोषक भाव। इसी प्रकार निष्पत्ति के भी तीन अर्थ हैं—उत्पत्ति, प्रतीति और उपचिति। इस प्रकार स्थायीभाव का विभाव के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध होने पर निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति होगी, अनुभावों के साथ संयोग अर्थात् गम्य-गमक भाव सम्बन्ध होने पर निष्पत्ति का अर्थ प्रतीति होगी और व्यभिचारी भावों के साथ पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होने पर निष्पत्ति का अर्थ उपचिति होगी। इस प्रकार रत्यादि स्थायीभावों का आलम्बन और उद्दीपन रूप विभावों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव सम्बन्ध होने पर रस की उत्पत्ति होती है और कटाक्ष आदि अनुभावों के साथ गम्य-गमक भाव होने पर रस प्रतीति के योग्य होता है और व्यभिचारी भावों के साथ पोष्य-पोषक सम्बन्ध से रस की उपचिति (पुष्टि) होती है। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन विभावों के कारण उत्पन्न रत्यादि भाव कटाक्षादि अनुभावों से प्रतीति के योग्य बनाया गया निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा उपचित (परिपुष्ट) होकर रस रूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार उनके मतानुसार विभावादि के संयोजन से रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति (प्रतीति) और परिपुष्टि होती है। इस प्रकार विभावादि के द्वारा उपचित स्थायीभाव ही रस रूप को प्राप्त होता है। जो अनुकार्य में रहता हैं किन्तु अनुसन्धान के बल से अनुकर्त्ता नट में भी प्रतीयमान होता है। गोविन्द ठक्कुर के अनुसार "नट में अनुकार्य की तुल्यता के अनुसन्धान के कारण सामाजिक अनुकर्त्ता नट में अनुकार्य का आरोप कर लेता है और चमत्कृत होता है" इसीलिए इस सिद्धान्त को 'आरोपवाद' भी कहा जाता है। भट्टलोल्लट का यह सिद्धान्त-मीमांसा और वेदान्त मत का अनुगामी सिद्धान्त कहा जाता है।

एतन्नेति श्रीशङ्कुकः । विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात् स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् मन्दतरतममाध्यस्थाद्यानन्त्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसङ्ख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च ।

भट्टलोल्लट के मत का खण्डन

अभिनव—भट्टलोल्लट का यह मत ठीक नहीं है, यह शङ्कुक का कथन है। शङ्कुक ने उनके मत के विरोध में आठ हेतु दिये हैं। विभावादि के योग के विना स्थायीभाव के अनुमापक हेतु के अभाव में स्थायीभाव की रस रूप में प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् विभावादि के अभाव में स्थायीभाव का साक्षात्कारात्मक ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि विभावादि का योग होने पर ही रत्यादि का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है और रत्यादि का साक्षात्कारात्मक ज्ञान हो रस है। इसके पूर्व अर्थात् विभावादि के योग के पहिले स्थायीभावों का अभिधेय अर्थात् शाब्दिक परोक्षात्मक ज्ञान होने से (साक्षात्कारात्मक ज्ञान होने से) स्थायीभाव को रस नहीं माना जा सकता। विभावादि के योग के पहिले रस को स्थिति स्वीकार करने पर अन्य लक्षण व्यर्थ हो जाँयगे। क्योंकि विभावादि के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है। चतुर्थ हेतु है कि यदि रत्यादि स्थायीभाव को रस मानते हैं तो रति आदि भावों में मात्रा का न्यूनाधिक होने से रस के मन्द, मन्दतर, मन्दतम, मध्यस्थ आदि अनेक भेद होने लगेंगे और स्थायीभाव के तारतम्य से हास्य रस के जो छः भेद होते हैं, उनका अभाव होने लगेगा। यदि स्थायीभाव के तारतभ्य से रस का भेद मानते हैं तो काम की दश अवस्थाओं में असंख्य रस और भाव मानने पड़ेंगे। भट्टलोल्लट का 'उपचित स्थायीभाव रस होता है' यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं है। शोक में पहिले तोव्रता होती है और बाद में क्रमशः मन्दता आती है। इसी प्रकार क्रोध, उत्साह, और रति आदि स्थायीभावों में अमर्ष, स्थैर्य तथा सेवा के विपर्यय से ह्रास दिखाई देता है। इस प्रकार उपचय के स्थान पर अपचय रूप विपर्यय के देखे जाने से 'उपचित स्थायीभाव रस है' यह कथन सर्वथा अनुचित है।

विमर्श—भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद पर आक्षेप करते हुए शङ्कुक कहते हैं कि आप मुख्य रूप से अनुकार्य राम में और गौड़ रूप से अनुकर्त्ता नट में रस की उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि मानते हैं तो सामाजिकों के हृदय में रस की उत्पत्ति कैसे होगो ? दूसरे अनुकार्य राम तो अब इस जगत् में नहीं हैं तो इस समय के अभिनय में उनसे रसानुभूति

तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्त्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायीभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः । अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः ।

विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः । अनुभावाः शिक्षातः । व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात् । स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः । रतिः शोक' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन । न तु वाचिकाभिनयरूपतयाऽवगमयन्ति । न हि वागेव वाचिकम् । अपि तु तया निर्वृत्तम् । अङ्गैरिवाङ्गिकम् । तेन –

कैसे होगी ? तीसरे अनुकार्य कल्पित होते हैं जिनका अस्तित्व ही प्रामाणिक नहीं तो अप्रमाणिक वस्तु से रसानुभूति कैसे ? चौथे हास्यरस के छः भेद जो आश्रयगत और सहृदय गत भी होते हैं और दोनों में रस को परमित मान लेने पर सहृदय में हास्य के छः भेद कैसे होंगे ? पाँचवें यदि स्थायीभाव के तारतम्य से रसभेद मान भी ले तो काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस मानने पड़ेंगे । छठे करुण रस के प्रारम्भ में शोक तीव्र होता है और बाद में मन्द होता जाता है तथा इसी प्रकार रौद्र, वीर; शृङ्गार में भी क्रोध, उत्साह और रति आदि स्थायीभावों का अमर्ष, स्थैर्य, सेवा के विपर्यय से ह्रास भी देखा जाता है । अतः उपचय के स्थान पर अपचय (ह्रास) की स्थिति से 'उपचित स्थायीभाव रस है' यह कथन अनुचित होगा ? सातवें स्थायीभाव का विभावादि के साथ संयोग न होने से विभावादि के लिङ्गत्व (हेतु) के अभाव में अनुमान कैसे होगा ? आठवें जो साक्षात्कार का विषय है उसका अनुभव ज्ञानमात्र से नहीं हो सकता । इस प्रकार रसानुभूति आरोपज्ञान से सम्भव नहीं है । रामादि में रति है यह समझ लेने मात्र से रसानुभूति नहीं हो सकती । अतः भट्टलोल्लट का आरोपवाद सिद्धान्त मान्य नहीं किया जा सकता ।

श्री शङ्कुक का अनुमितिवाद

अभिनव—इसलिए कारण रूप विभावों, कार्यरूप अनुभावों तथा सहकारी रूप स्थायीभावों के द्वारा कवि के शिक्षा और अभ्यासादि रूप प्रयत्न से अर्जित (उत्पन्न) होने के कारण कृत्रिम होने पर भी उस प्रकार के कृत्रिम न प्रतीत होने वाले विभावादि के द्वारा अनुकर्त्ता नट में स्थित होने से लिङ्ग (अनुमान) के सामर्थ्य से प्रतीयमान मुख्य अनुकार्य रामादि में विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव का यह अनुकरण रूप होता है और अनुकरण रूप होने के कारण ही यह स्थायीभाव उससे भिन्न नाम से व्यवहृत होने वाला पदार्थ 'रस' कहलाता है ॥

["विवृद्धात्माऽप्यगाधोऽपि दुरन्तोऽपि महानपि ।]
बाडवेनेव जलधिः शोकः क्रोधेन पीयते ॥" इति ।

तथा—

"शोकेन कृतः स्तम्भः तथा स्थितो योऽनवस्थिताक्रन्दैः[1]
[हृदयस्फुटनभयार्त्तैरवितुमभ्यर्थ्यते सचिवैः ।"]

इत्येवमादौ न शोकोऽभिनेयः, अपि त्वभिधेयः ।

"भाति पतितो लिखन्त्याः तस्या बाष्पाम्बुशीकरकणौधः ।
स्वेदोद्गम इव करतलसंस्पर्शादेष मे वपुषि ॥"

(रत्नावली २-११)

विभावों का काव्य के द्वारा अनुसन्धान किया जाता है, अनुभावों का शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारीभावों का अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन के द्वारा अनुसन्धान (प्रतीति) होता है। स्थायीभाव तो काव्य के बल से भी प्रतीत नहीं होता। रति, शोक आदि शब्द अभिधा के द्वारा रत्यादि का अभिधान करते हैं। वाचिक अभिनय के रूप में उनका (रत्यादि का) बोध नहीं कराते। क्योंकि वाणी ही वाचिक अभिनय नहीं है, अपितु उस वाणी के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है। जिस प्रकार अङ्गों द्वारा किया जाने वाला अभिनय आङ्गिक अभिनय कहलाता है। इसलिए—

'जिस प्रकार अत्यधिक बढ़ा हुआ, अगाध, दुरन्त होने पर भी महान् समुद्र (जलधि) को भी वाडवाग्नि पी जाता है उसी प्रकार अत्यन्त बढ़े हुए, अगाध, अनन्त शोक को भी क्रोध पी जाता है' ।

और भी—

"शोक के कारण निश्चेष्ट और अनवस्थित रूप से निरन्तर क्रन्दन करता हुआ जो उदयन ऐसा पड़ा हुआ है कि कहीं उसका हृदय शोक से फट न जाय, इस भय से डरे हुए दुःखी मन्त्री केवल उसकी रक्षा के लिए प्रार्थना कर रहे हैं।"

इत्यादि में शोक अभिनेय नहीं है, अपितु अभिधेय है अर्थात् स्वशब्द से वाच्य है (अतः स्वशब्दवाच्यता दोष हो जायगा) ।

"उस विरहिणी नायिका के आंसुओं की बूंदे चित्र बनाते समय चित्र पर गिरी हुई ऐसी सुशोभित हो रही है, मानो उसके हाथ के स्पर्श से मेरे शरीर में सात्त्विक भाव स्वेद का उद्गम हो गया है।" (रत्नावली २।११)

१. क–भ. म. तथा स्थितो योऽव्यस्थिताक्रन्दैः ।

इत्यनेन तु वाक्येन स्वार्थमभिदधता उदयनगतः सुखात्मा रतिः स्थायीभावोऽभिनीयते न तूच्यते। अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या। अत एव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च [1]युक्तम्।

उपर्युक्त वाक्य से वाच्यार्थ को कहने वाले से उदयन गत सुखरूप रति स्थायीभाव का अभिनय होता है, न कि शब्द से कथन किया जा रहा है। अभिनय वाचक शक्ति से भिन्न अर्थ का बोध कराने वाली दूसरी शक्ति है। इसलिए आचार्य ने रस सूत्र में स्थायी शब्द का भिन्न विभक्ति में प्रयोग नहीं किया है। इसलिए 'अनुकरण की गई रति ही शृङ्‌गार रस है'। अतः रस को स्थायीभावरूप या स्थायीभावजन्य मानना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रस है।

doesn't agree with the lexical reading

विमर्श—श्री शङ्कुक रससिद्धान्त का अनुकरणवाद तथा अनुमितिवाद के नाम से जाना जाता है। इस मत के अनुसार सूत्र में निर्दिष्ट संयोग पद का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापक भाव और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' है। इस सिद्धान्त के अनुसार रस अनुमेय हैं, विभाव कारण, अनुभाव कार्य तथा व्यभिचारी भाव सहकारी हैं। अनुकर्त्ता में इनका प्रयत्नपूर्वक अर्जन किया जाता है, अतः कृत्रिम हैं। अनुकर्त्ता में रस की प्रतीति अनुमान के बल से होती है। रत्यादि स्थायीभाव अनुकार्य में विद्यमान रहते हैं। वही रत्यादि स्थायीभाव विभावादि के द्वारा अनुमित होकर रस कहलाते हैं। इस प्रकार रामादिगत रत्यादि स्थायीभाव अनुकरण रूप है और अनुकरण रूप होने से वह 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार श्री शङ्कुक के मतानुसार विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव के योग से रस का अनुमान होता है, अनुकरण होता है और अनुकियमाण रत्यादि स्थायीभाव रस के रूप में अनुमित होते हैं, अतः उनके मत में अनुक्रियमाण स्थायीभाव ही रस है।

9.

मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में अभिनव के आधार पर श्री शङ्कुक का मत उद्धृत किया है किन्तु उनकी विवेचन-शैली में कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है। मम्मट की व्याख्या के अनुसार रसानुमिति में विभावादि की प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है। भाव यह कि रामादि के अनुकरण नट में कटाक्ष आदि अनुभावों के यथार्थ न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास के बल से कृत्रिम कटाक्षादि का प्रकाशन करता है। इस प्रकार कृत्रिम रामादि रूप नट के द्वारा कृत्रिम कटाक्षादि रूप अनुभावों के प्रकाशन से अनुमान के द्वारा रस की प्रतीति होती है अर्थात् कृत्रिम रामादिगत रति (रस) का सामाजिक अनुमान के द्वारा अनुभव करता है। यद्यपि विभावादि उपकरण कृत्रिम हैं फिर भी सहृदय सामाजिक उन्हें कृत्रिम न मानता हुआ भी काव्य में विभावादि नाम से व्यवहृत होता है। शङ्कुक का कहना है कि यद्यपि अनुमीयमान रस कृत्रिम रसादि रूप नट में नहीं रहता और न सामाजिक में ही रहता है किन्तु वासना के बल से सामाजिक अनुयीयमान रस का आस्वादन करता है।

१. क. चायुक्तम्।

अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा[1]—

["मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।

मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ।।" इति]

इस प्रकार शङ्कुक के अनुसार सहृदय का रसबोध अनुमित अर्थ है और अनुमान का आधार नट है जिसमें रत्यादि स्थायीभाव रूप रस अनुकृत है। नट अनुकारक है। सहृदय नट में अनुमान करके वस्तु सौन्दर्य के बल से रसबोध प्राप्त करता है। इस प्रकार नट द्वारा अनुकृत और सहृदय द्वारा अनुमित रत्यादि स्थायींभाव 'रस' है, यह श्री शङ्कुक का अभिप्राय है।

इस प्रकार रसानुभूति के कारणरूप विभाव काव्य के द्वारा कटाक्षादि शारीरिक अनुभाव और स्वेदादि सात्त्विक अनुभाव शिक्षा के द्वारा और व्यभिचारीभाव अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन के द्वारा उपस्थित होते हैं। स्थायीभाव तो विभावादि रूप लिङ्गों के द्वारा अनुकरण रूप में अनुमित होता है। इसीलिए अनुकरणात्मक होने के कारण स्थायीभाव को रस नाम से अभिहित किया जाता है। श्री शङ्कुक अनुकरण शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि भट्टलोल्लट ने रसों को अतदात्मक अर्थात् स्थायीभाव रूप अथवा स्थायीभावजन्य जो माना है वह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायीभाव ही रस होता है।

श्री शङ्कुक के अनुसार अनुमित या अनुकृत रत्यादि स्थायीभाव रस है और अनुकृत रत्यादि वास्तविक नहीं अपितु मिथ्याज्ञान हैं तो उस अवास्तविक रत्यादि की भ्रान्त प्रतीति से वास्तविक आनन्द रूप रसानुभूति कैसे होगी ? इस पर कहते हैं—

अभिनव—मिथ्याज्ञान से भी अर्थक्रिया (फलप्राप्ति) देखी जाती है—

"मणि तथा दीप की प्रभा में मणि की बुद्धि से अर्थात् मणि और दीपप्रभा दोनों को मणि समझकर दौड़ने वालों में मिथ्यज्ञान समान होने पर भी अर्थक्रिया (फलप्राप्ति) में भेद पाया जाता है"।

विमर्श—भाव यह कि एक व्यक्ति मणि-प्रभा को मणि समझकर दौड़ रहा है और दूसरा व्यक्ति दीप-प्रभा को मणि समझ कर दौड़ रहा है। प्रारम्भ में दोनों प्रभाओं को मणि समझना मिथ्याज्ञान है, किन्तु लक्ष्य तक पहुँचने पर एक को मणि-प्रभा और दूसरे को दीप-प्रभा का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार दोनों में मिथ्याज्ञान समान होने पर भी फलप्राप्ति में भिन्नता है।

---

१. क—भ. म. मिथ्याज्ञानादृष्टा।

न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। न चापि तत्सदृश इति। किन्तु [सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन] यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह—

"प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसंप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कथा॥ इति।

अभिनव—यहाँ पर 'नर्तक (नट) ही सुखी है' यह प्रतीति नहीं होती है और 'यही राम है' इस प्रकार की (सम्यक्) प्रतीति भी नहीं होती। 'यह सुखी नहीं है' इस प्रकार की (मिथ्या) प्रतीति भी नहीं होती। 'यह राम है अथवा नहीं' इस प्रकार की (संशयात्मक) प्रतीति भी नहीं होती और 'राम के समान है' इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति भी नहीं होती। इस प्रकार यह न सम्यग् ज्ञान है, न मिथ्याज्ञान है, न संशय ज्ञान है और न सादृश्य ज्ञान है, अपितु 'चित्रतुरगन्याय' से सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य इन समस्त प्रतीतियों से विलक्षण 'जो सुखी राम है, वह यह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। जो निम्नलिखित कारिकाओं में बताया गया है—

"न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थ की और न विपर्यय (भ्रान्ति) की प्रतीति होती है। 'यह वह है' इस प्रकार की बुद्धि होती है और 'यह वह नहीं है' इस प्रकार की भी बुद्धि है।"

"इसलिए विरुद्ध बुद्धियों (प्रतीतियों) के संमिश्रण से, विरोध (अव्यवस्था) की विवेचना किये बिना स्फुरित होने वाले अनुभव को किस युक्ति से व्यक्त किया जाय, यह निश्चय नहीं किया जा सकता।"

विमर्श—मम्मट ने भी अभिनवभारती के आधार पर श्रीशङ्कुक के मत का विवेचन किया है। उनके अनुसार "यह राम ही है या यही राम है' इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति, 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तरकाल में बाध होने पर 'यह राम है' इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति, 'यह राम है अथवा नहीं' इस प्रकार का संशयज्ञान तथा 'यह राम के समान है' इस प्रकार का सादृश्यज्ञान से विलक्षण चित्रतुरगन्याय से 'यह राम है' इस प्रकार होने वाला ज्ञान उक्त चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न है। इसे हम अनुकृत प्रत्यय कह सकते हैं और यह अनुकृत प्रत्यय उक्त चारों प्रतीतियों से विलक्षण है। यह अनुकृति रत्यादि भावों की प्रतीति का कारण है। इस अनुकृति रूप साधन से भावानुमिति निष्पन्न होती है।

तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः। तथा हि—अनुकरण-रूपो रस इति यदुच्यते तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण उत नटाभिप्रायेण किं वा वस्तुवृत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बनेन 'यथाहुर्व्याख्यातारः खल्वेव विवेचयन्ति' इति। अथ भरतमुनिवचनानुसारेण।

आद्यः पक्षोऽसङ्गतः। किञ्चिद्धि प्रमाणेनोपलब्धं तदनुकरणमिति शक्यं वक्तुम्। यथा, 'एवमसौ सुरां पिबति' इति सुरापानानु-करणत्वेन पयःपानं प्रत्यक्षावलोकितं प्रतिभाति। इह च नटगतं किं तदुपलब्धं सदनुकरणतया भातीति चिन्त्यम्। तच्छरीरं तन्निष्ठं प्रतिशीर्षकादि रोमाञ्चक-गद्गदिकादिभुजाक्षेपवलनप्रभृति भ्रूक्षेपकटाक्षादिकं च न रतेश्चित्तवृत्तिरूप-तयानुकारत्वेन कस्यचित्प्रतिभाति। जडत्वेन (भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन) भिन्नाधि-करणत्वेन च ततोऽतिवैलक्षण्यात् मुख्यामुख्यावलोकने च तदनुकरणप्रति-भासः। न च रामगतां रतिमुपलब्धपूर्विणः केचित्। एतेन रामानुकारो नट इत्यपि निरस्तः प्रवादः।

ये कारण, कार्य और सहकारी भाव जब अनुकृत होकर काव्य में आते हैं तो विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव कहलाते हैं। इस प्रकार विभावादि काव्य में अनुकृत होते हैं और भाव अनुमित होने के साथ-साथ अनुकृत भी होता है। तभी अनुकृत विभावादि के द्वारा अनुकृत अनुमित स्थायीभाव रस कहलाता है। इस अनुकृत भाव रूप रस में एक विलक्षण सौन्दर्य होता है, वह वस्तु-सौन्दर्य सहृदय में एक विलक्षण आवेग उत्पन्न करता है जिसे सहृदय (सामाजिक) की रसानुभूति कही जा सकती है। इस प्रकार सामाजिक वासना के बल से अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है और वही वासना से चर्व्यमाण रस कहलाता है। यह शङ्कुक का अभिप्राय है।

श्री शङ्कुक के मत का खण्डन

अभिनव—अभिनवगुप्त अपने उपाध्याय भट्टतौत के मत का अनुसरण करते हुए श्री शङ्कुक के मत का खण्डन करते हैं। उपाध्याय का मत है कि श्री शङ्कुक का यह अनुमितवाद सारहीन सिद्धान्त है। यह विचार-विमर्श या परीक्षण में ठहर नहीं सकता। यहाँ पर अभिनवगुप्त उपाध्याय के मतानुसार चार पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—(१) यह जो अनुकरण रूप रस कहा जाता है, वह क्या सामाजिक की प्रतीति के अभिप्राय से कहा जा रहा है ? अथवा (२) नट के अभिप्राय से ? अथवा (३) वस्तुतत्त्व के विवेचक व्याख्याता की बुद्धि के अवलम्बन से, जैसा कि कहते हैं कि व्याख्याता लोग इस रससूत्र की इस प्रकार विवेचना करते हैं अथवा (४) भरतमुनि के अनुसार स्थायीभाव के अनुसरण को रस कहा जाता है ?

अथ नटगता चित्तवृत्तिरेव प्रतिपन्ना सती रत्यनुकारः शृङ्गार इत्युच्यते, तत्रापि किमात्मकत्वेन सा प्रतीयत इति चिन्त्यम् । ननु प्रमदाभिः कारणैः कारणरूपा सहचारिरूपा च चित्तवृत्तिः प्रतीतियोग्या तदात्मकत्वेन सा नटचित्तवृत्तिः प्रतिभाति । हन्त तर्हि रत्याकारेणैव सा प्रतिपन्नेति दूरे रत्यनुकरणता वाचोयुक्तिः ।

प्रथम पक्ष का खण्डन—इसमें पहला पक्ष असंगत है। क्योंकि जो किसी वस्तु के प्रमाण से उपलब्ध होता है वह अनुकरण है, यह कहा जा सकता है। जैसे—'इस प्रकार वह सुरापान करता है' (जिस प्रकार मैं दूध पी रहा हूँ)। यहाँ पर दुग्धपान प्रत्यक्ष अवलोकित होने के कारण 'यह सुरापान का अनुकरण रूप है, इस प्रकार ज्ञात होता है। यहाँ पर नट (अभिनेता) में कौन ऐसी बात पायी जाती है जो अनुकरण के रूप में भासित होती हो ? यह विचारणीय है। क्या उसका (नट का) शरीर, अथवा उस शरीर पर स्थित मुकुट आदि, अथवा रोमाञ्च, गद्गद आदि अथवा भुजक्षेप, अङ्गवलन आदि ? अथवा भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि चित्तवृत्तिरूप रत्यादि स्थायीभाव के अनुकरण रूप में किसी को भासित नहीं होते। शरीर से लेकर कटाक्ष पर्यन्त सभी वस्तुओं के जड़ होने से, भिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य होने से, भिन्न आश्रय होने के कारण अर्थात् आधार की भिन्नता के कारण उन रत्यादि भावों से भिन्न है। दूसरे मुख्य और अमुख्य का विचार करके देखने पर यह उसका अनुकरण है' यह प्रतिभासित होता है। राम गत रति का किसी ने प्रथम साक्षात्कार नहीं किया है, इसलिए नट राम का अनुसरण करता है, यह मत भी निरन्तर (खण्डित) हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि नटगत रत्यादि रूप चित्तवृत्ति के ग्रहण होने पर रति का अनुकरण स्वरूप शृङ्गार है तो भी किस रूप में प्रतीति होगी, यह प्रश्न विचारणीय है। यदि यह कहा जाय कि प्रमदादि विभावरूप कारणों, कटाक्षादि अनुभाव रूप कार्यों, धृत्यादि सञ्चारिभाव रूप सहकारियों के लिङ्गों (हेतुओं) के द्वारा विभावादि कारणों से कार्यरूप, अनुभाव आदि कार्यों के कारण रूप और व्यभिचारी भाव के सहचारी रूप जो लौकिक चित्तवृत्ति प्रतीति के योग्य होती है उसी रूप में नट की चित्तवृत्ति (सामाजिकों को) प्रतिभासित होती है। इस पर आक्षेप करते हुए उपाध्याय कहते हैं कि इस प्रकार तो रति के रूप में ही उसका ग्रहण होगा, अनुकरण के रूप में नहीं, अतः रति के रूप में गृहीत न होने से रति की अनुकृति (अनुकरण) के रूप में उसका ग्रहण करना कहाँ तक उपयुक्त होगा ? इस प्रकार वह रति का अनुकरण नहीं, अपि तु रतिरूप ही है।

ननु ते विभावादयोऽनुकार्ये पारमार्थिकाः। कारणता त्वनुकर्तरि न तथेति विशेषः। अस्त्वेवम्। किन्तु ते हि विभावादयोऽतत्कारणातत्कार्यातत्सहचाररूपा अपि काव्यशिक्षादिबलोपकल्पिता कृत्रिमाः सन्तः किं कृत्रिमत्वेन सामाजिकैः गृह्यन्ते न वा। यदि गृह्यन्ते तदा तैः कथं रतेरवगतिः।

नन्वत एव तत्प्रतीयमानं रत्यनुकरणबुद्धेः कारणम्। कारणान्तरप्रभवेषु हि कार्येषु सुशिक्षितेन न तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावद्युक्तम्। [1]असुशिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य। यथा वृश्चिकविशेषाद्गोमयस्यैवानुमानम्। वृश्चिकस्यैव तत्परं मिथ्याज्ञानम्। यत्रापि लिङ्गज्ञानं मिथ्या तत्रापि [2]तदाभासानुमानमयुक्तम्। न हि बाष्पाद्धूमत्वेन ज्ञातादनुकारप्रतिभासमानादपि लिङ्गात्तदनुकारानुमानं युक्तम्[3]।

शङ्कुक के पक्ष से यदि यह कहा जाय कि अनुकार्य (रामादि में) जो आलम्बनादि विभाव हैं वे पारमार्थिक हैं, यहाँ अनुकर्त्ता में तो वैसा नहीं होता, यह दोनों में विशेषता है, विलक्षणता है, भिन्नता है। अभिनव इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यही सही है, किन्तु ये विभाव आदि उस रति के कारण (विभाव) कार्य (अनुभाव) सहकारी (व्यभिचारी भाव) न होते हुए भी काव्य और शिक्षा आदि के बल से उपकल्पित होने से कृत्रिम होते हुए भी सामाजिकों द्वारा कृत्रिम रूप से ग्रहण किये जाते हैं अथवा नहीं ? यदि वे सामाजिकों के द्वारा कृत्रिम रूप से ग्रहण किये जाते हैं तो उन कृत्रिम साधनों से वास्तविक रति की प्रतीति कैसे हो सकती है ?

इस पर शङ्कुक की ओर से यह कहा जा सकता है कि इसीलिए प्रतीयमान रति को अनुकरण बुद्धि का कारण मानते हैं अर्थात् कृत्रिम विभावादि के द्वारा अनुकरणात्मक रत्यादि की प्रतीति होती है और यह अनुकरण रूप रति की प्रतीति ही 'रस' है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रसिद्ध वास्तविक विभावादि ही रत्यादि भावों क प्रसिद्ध (वास्तविक) कारण हैं, कृत्रिम विभावादि तो अप्रसिद्ध कारण हैं। सामान्य पुरुष तो कार्य के द्वारा प्रसिद्ध कारण का ही अनुमान कर सकता है अप्रसिद्ध कारण का अनुमान तो तत्विषयविशेषज्ञ ही कर सकता है। जैसे विच्छू को देखकर सामान्य रूप से 'यह विच्छू से ही उत्पन्न हुआ है' इस प्रकार प्रसिद्ध कारण का ही अनुमान होता है। किसी विशेष विच्छू को देखकर उसे गोबर से उत्पन्न होने का अनुमान साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता, वह तो विशेषज्ञ ही कर सकता है।

---

१. क-भ. म. अस्तु सुक्षितेन।
२. क-भ. म. तदस्यासानुमानं युक्तम्।
३. क. तदनुसारानुमानमयुक्तम्।

धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारान्नाटचग्न्यनुकारजपापुष्पप्रतीति-र्दृष्टा ।

नन्वक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति । सत्यम् । क्रुद्धेन सदृशः । सादृश्यं च भ्रुकुटयादिभिः । गौरिव गवयेन मुखादिभिरिति । नैतावताऽनुकारः कश्चित् न चापि सामाजिकानां सादृश्यमतिरस्ति । सामाजिकानां च न भावशून्या नर्तके प्रतिपत्तिरित्युच्यते । अथ च तदनुकारप्रतिभास इति रिक्ता वाचो-युक्तिः ।

साधारण व्यक्ति द्वारा गोबर से विच्छू की उत्पत्ति का ज्ञान मिथ्याज्ञान है । इसी प्रकार सामाजिक पुरुष नटगत रति आदि के प्रसिद्ध कारणों का ही अनुमान कर सकता है, कृत्रिम अप्रसिद्ध कारण का नहीं । इसीलिए नटगत रत्यादि के वास्तविक विभावादि से उत्पन्न होने के कारण वास्तविक रत्यादि रूप है अनुकरण रूप नहीं है । अनुकरण रूप रत्यादि स्थायीभाव को रस कहना उचित नहीं है ।

जहाँ भी धूलिपटल या कोहरे में धूमादि हेतु का मिथ्याज्ञान होता है वहाँ भी अग्नि का आभास अर्थात् कृत्रिम अग्नि का अनुमान मानना (उचित) नहीं है । क्योंकि धूम रूप में कल्पित वाष्प के धूम के समान प्रतीत होने पर भी उसे कृत्रिम अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता अथवा धूमसदृश प्रतीत होने वाले कुहरे से अग्नि के समान आकार वाले जपाकुसुम को प्रतोति नहीं हो सकतो । अतः नटगत कृत्रिम विभावादि से कृत्रिम रत्यादि की प्रतीति नहीं हो सकती । अतः अनुक्रियमाण रत्यादि को रस मानना युक्तिसंगत नहीं है ।

अभिनवगुप्त पुनः शङ्कुक के मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं । नट क्रुद्ध न होने पर भी क्रुद्ध सा प्रतीत होता है । इससे ज्ञात होता है कि वह स्वयं क्रुद्ध न होकर किसी क्रुद्ध व्यक्ति के क्रोध का अनुकरण कर रहा है । अतः रति आदि का अनुकरण अथवा अनुक्रियमाण रत्यादि को रस माना जा सकता है । इस पर कहते हैं कि ठीक है किन्तु नट क्रुद्ध नहीं है अपितु क्रुद्ध के समान प्रतीत हो रहा है और वह सादृश्य भ्रकुटि आदि से प्रतीत होता है । जैसे 'यथा गौस्तथा गवयः' अर्थात् जैसे गौ है वैसा गवय है, इस उदाहरण में मुख आदि के द्वारा गौ का नीलगाय के साथ सादृश्य होता है । किन्तु इससे कोई अनुकरण सिद्ध नहीं होता और सामाजिकों को सादृश्य को प्रतीति नहीं होती । यदि सामाजिकों में यह प्रतीति मान भी ली जाय तो सामा-जिकों को भवावेश कैसे सम्भव होगा ? किन्तु सामाजिकों का नट के विषय में भावावेश रहित प्रतीति नहीं होती, फिर अनुकरण को प्रतीति का कथन निःसार है, निरर्थक है ।

यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिः तदपि यदि तदात्वेति विनिश्चितं तदुत्तरकालभाविबाधकवैधुर्याभावे कथं न तत्त्वज्ञानं स्यात् । बाधकसद्भावे वा कथं न मिथ्याज्ञानम् । वास्तवेन च वृत्ते बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञानमेव स्यात् । तेन विरुद्धबुद्धिसंभेदादित्यसत् । नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति । ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यायातम् ।

यच्चोच्यते विभावाः [1]काव्यादनुसन्धीयन्ते (इति) तदपि न विद्मः । न 'ममेयं सीता काचित्' इति स्वात्मीयत्वेन प्रतिपत्तिर्नटस्य । अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः क्रियन्त इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते तर्हि स्थायिनि सुतरामनुसन्धानं स्यात् । तस्यैव हि मुख्यत्वेन 'अस्मिन्नयम्' इति सामाजिकानां प्रतिपत्तिः ।

यत्तु 'वाग्वाचिकम्' इत्यादिना भेदाभिधानसंरम्भगर्भमहीयानभिनयरूपताविवेकः कृतः स उत्तरत्र स्वावसरे (ना. शा. अ-१४) चर्चयिष्यते । तस्मात्सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्थाय्यनुकरणं रस इत्यसत् ।

यदि यह कहा जाय कि नट को देखकर 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतीति होती है तो इस प्रतिपत्ति (निश्चित प्रतीति) के उत्तरकाल में बाधक का अभाव होने पर उसे तत्त्वज्ञान क्यों नहीं माना जाय ? और बाधक होने पर उसे मिथ्याज्ञान क्यों न कहा जाय ? वास्तविक दृष्टि से इतिवृत्त (आख्यान, कथानक) में बाधक के उपस्थित न होने पर भी मिथ्याज्ञान होगा । इसलिए दो विरुद्ध बुद्धियों के सम्बन्ध के कारण यह कथन भी असंगत है । अन्य नटों में भी 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतिपत्ति होती है । इसलिए रामत्व सामान्य रूप है, यह सिद्ध होता है । इस प्रकार रामत्व के सामान्य होने से अनेक नटों में रामत्व का भान होता है ।

और जो यह कहा गया है कि 'काव्य के द्वारा विभाव का अनुसन्धान किया जाता है' वह भी समझ में नहीं आता । क्योंकि 'यह मेरी सीता है' इस प्रकार नट को अपनत्व के रूप में प्रतीति नहीं होती, यदि यह कहा जाय कि काव्य के द्वारा विभावादि सामाजिक के लिए उस प्रकार प्रतीति के योग्य बनाये जाते हैं, और इसी को अनुसन्धान कहा जाता है तो वह अनुसन्धान विभावादि की अपेक्षा स्थायीभाव के सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त होगा । उसी स्थायीभाव के मुख्य होने से 'इस रामादि में यह रत्यादि स्थायीभाव है' इस प्रकार सामाजिकों को प्रतिपत्ति (प्रतीत) होती है । अतः रत्यादि के अनुकरण को रस कहना उचित नहीं है, अपितु रत्यादि स्थायीभाव ही रस है ।

१. क-म. म. कार्यादनुसन्धीयन्ते ।

न चापि नटस्येत्थं प्रतिपत्तिः 'रामं तच्चित्तवृत्तिं वाऽनुकरोमि' इति। सदृशकरणं हि तावदनुकरणमनुलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात्करणमनुकरणं तल्लोकेऽप्यनुकरणात्मतातिप्रसक्ता[1]। अथ न नियतस्य कस्यचिदनुकारः अपि तूत्तमप्रकृतेः शोकमनुकरोति तर्हि के नेतिचिन्त्यम्। न तावच्छोकेन तस्य तदभावात्। न चाश्रुपातादिना शोकस्यानुकारः तद्वैलक्षण्यादित्युक्तम्। इयत्तु स्यात्-उत्तमप्रकृतेर्ये शोकानुभावाःताननुकरोमीति। तत्रापि कस्योत्तमप्रकृतेः। यस्य कस्यचिदिति चेत्सोऽपि विशिष्टतां विना कथं बुद्धावारोपयितुं शक्यः। य एवं रोदितीति चेत्स्वात्मापि मध्ये नटस्यानुप्रविष्ट इति गलितोऽनुकार्यानुकर्तृभावः।

और श्री शङ्कुक ने वाक् और वाचिक का भेद दिखलाते हुए अपने को अभिनय का विशेषज्ञ कहा है। आगे चौदहवें अध्याय में यथावसर उसकी चर्चा करेंगे। इस लिए सामाजिक की प्रतीति के अनुसार 'स्थायीभाव का अनुकरण रस है' यह कहना असङ्गत है।

द्वितीय पक्ष का खण्डन—नट के अभिप्राय से भी स्थायीभाव के अनुकरण को रस नहीं माना जा सकता। क्योंकि नट में भी इस प्रकार की प्रतिपत्ति नहीं होती है कि "मैं राम अथवा उनकी चित्तवृत्ति का अनुकरण करता हूँ"। यदि सदृशकरण अनुकरण है तो अनुकार्य के जाने विना वह उसका अनुकरण नहीं कर सकता और यदि पश्चात्करण को अनुकरण कहते हैं तो वैसी अनुकरणात्मकता लोक में भी अतिव्याप्त हो जायेगी और सर्वत्र लौकिक रत्यादि स्थायीभाव को अनुकरण के रूप में देखकर रस की प्रतीत होने लगेगी।

और यदि यह कहा जाय कि अनुकरण किसी विशेष व्यक्ति का नहीं होता है, अपि तु नट सामान्य रूप से उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है तो किस साधन से नट अनुकरण करता है। यह प्रश्न विचारणीय हैं। यदि यह कहा जाय कि अपने शोक के द्वारा नट उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है, क्योंकि नट में शोक का अभाव है। यदि यह कहा जाय कि अश्रुपात आदि के द्वारा शोक का अनुकरण करता है यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुकरण का स्वरूप विलक्षण होता है। हाँ इतना कहा जा सकता है कि उत्तम प्रकृति के जो शोकगत अनुभाव हैं उनका नट अनुकरण करता है, किन्तु उनमें भी किस उत्तम प्रकृति के शोक के अनुभाव का अनुकरण करता है यह प्रश्न उपस्थित होता है। यदि यह कहा जाय "जिस किसी के' तो यह भी विशेष के विना (विशिष्टता के विना) बुद्धि में कैसे लाया जा सकता है ? यदि यह कहा जाय कि 'जो इस प्रकार मुझ नट की तरह रोता है उसका अनुकरण करता हूँ, तो उस अनुकार्य की प्रतीति के बीच में नट का अपना स्वरूप भी अनुप्रविष्ट हो जाता है इस प्रकार अनुकार्य और अनुकर्तृभाव समाप्त हो जाता है।

१. क-म. ० करणात्मकेऽतिप्रसङ्गः।

किञ्च नटः शिक्षावशात्स्वविभावस्मरणाच्चित्तवृत्तिसाधारणीभावेन हृदयसंवादात्केवलमनुभावान्प्रदर्शयन् काव्यमुपचितकाकुप्रभृत्युपस्कारेण पठंश्चेष्टत इत्येतावन्मात्रेऽस्य प्रतीतिर्नत्वनुकारं वेदयते। कान्तवेषानुकारवद्धि[1] न रामचेष्टितस्यानुकारः। एतच्च प्रथमाध्यायेऽपि दर्शितमस्माभिः।

नापि [2]वस्तुवृत्तानुसारेण तदनुकारत्वम्। अनुसंवेद्यमानस्य वस्तुवृत्तत्वानुपपत्तेः। यच्च वस्तुवृत्तं तद्दर्शयिष्यामः।

न च मुनिवचनमेवंविधमस्ति क्वचित्स्थाय्यनुकरणं रसा इति। नापि लिङ्गमत्रार्थे मुनेरुपलभ्यते। प्रत्युत ध्रुवागानतालवैचित्र्यलास्याङ्गोपजीवनं (न) निरूपणादि विपर्यये लिङ्गमिति सन्ध्यङ्गाध्यायान्ते वितनिष्यामः। 'सप्तद्वीपानुकरणम्' ना. शा. १-११७) इत्यादि त्वन्यथापि शक्यगमनिकमिति। तदनुकारेऽपि च क्व नामान्तरं कान्तवेषगत्यनुकरणादौ।

और भी नट शिक्षा के बल से अपने विभावों के स्मरण से चित्तवृत्ति के साधारणीभाव के कारण हृदय के संवाद (समरूपता) से केवल अनुभावों का प्रदर्शन करता हुआ काव्य को उपचित (समुचित) काकु (कण्ठध्वनि) प्रभृति स्वरों से पढ़ता हुआ चेष्टा करता है, केवल इतने अंश की प्रतीति अनुकरण का बोध नहीं कराती। क्योंकि स्त्री के वेष के अनुकरण के समान राम की चेष्टाओं का अनुकरण नहीं हो सकता। इस बात को हमने प्रथम अध्याय में भी दिखलाया है।

तृतीय विकल्प का खण्डन—व्याख्याताओं अर्थात् वस्तुवृत्त के अनुसार उन स्थायीभावों का अनुकरण नहीं हो सकता क्योंकि बाद में प्रतीत होने वाले का वस्तुवृत्तत्व सिद्ध नहीं होता अर्थात् बाद में प्रतीत होने वाले को वस्तु-वृत्त नहीं कह सकते और जो वास्तव में वस्तु-वृत्त है, उसे हम आगे दिखायेंगे।

चतुर्थ पक्ष का खण्डन—भरतमुनि का इस प्रकार का कहीं कथन भी नहीं है कि 'स्थायीभाव का अनुकरण रस है' इस विषय में भरतमुनि का कोई अनुमापक हेतु भी नहीं है जिससे अनुमान किया जा सके। अपितु इसके अतिरिक्त अभिनय की परिपुष्टि के लिए ध्रुवा, गान, ताल के वैचित्र्य तथा लास्य के अंगों के विपरीत पक्ष के समर्थन में हेतु होने से 'स्थायीभाव का अनुकरण रस नहीं है' इसी पक्ष के समर्थन का ही अनुमान किया जा सकता है। इस बात को हम सन्ध्यङ्गों के निरूपण वाले अध्याय के अन्त में विस्तार से कहेंगे। प्रथम अध्याय के १२०वें श्लोक में (सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति) में नाट्य को जो सप्तद्वीप का अनुकरण बतलाया है।

१. क-भ. म. कान्तवेषानुकारवद्धिनः रामचेष्टितस्यानुकारः।

२. क-भ. म. वस्तुत्वानुसारेण।

यच्चोच्यते वर्णकैर्हरितालादिभिः संयुज्यमान एव गौरित्यादि । तत्र यद्यभिव्यज्यमान इत्यर्थोऽभिप्रेतः । तदसत् । न हि सिन्दूरादिभिः पारमार्थिको गौरभिव्यज्यते प्रदीपादिभिरिव । किन्तु तत्सदृशः समूहविशेषो निर्वर्त्यते । अत एव हि सिन्दूरादयो गवावयवसन्निवेशसदृशेन सन्निवेशविशेषेणावस्थिता गोसदृगिति प्रतिभासस्य विषयः । नैवं विभावादिसमूहो रतिसदृशताप्रतिपत्ति-ग्राह्यः । तस्माद्भावानुकरणं रसा इत्यसत् ।

येन त्वभ्यधायि—सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव । साङ्ख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः । तस्यां च सामग्र्यां [1]दलस्थानीया विभावाः । संस्कारकाः अनुभावव्यभिचारिणः । स्थायिनस्तु तत्सामग्रीजन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति । तेन 'स्थायिभावान् रसत्वम्' इत्यादावुपचार-मङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौर्ख्यात् प्रमाणिको जनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते । [2]यत्त्वन्यत् नः प्रतीतिवैषम्यप्रसङ्गादि [3]तत्कियदत्रोच्यताम् ।

और यदि स्थायीभाव का अनुकरण मान भी लिया जाय तो 'रस' इस दूसरे नाम की आवश्यकता ही क्या है ? कान्ता के वेष और गति के अनुकरण आदि में नामान्तर की आवश्यकता कहाँ होती है । फिर स्थायीभाव के अनुकरण को रस कहने का प्रयोजन ही क्या है ?

और जो यह कहा गया है कि जिस प्रकार हरताल आदि रङ्गों के मिश्रण से चित्र में गौ आदि की प्रतीति होती है उसी प्रकार विभावादि के संयोग से रस की प्रतीति या उत्पत्ति होती है और विभावादि से भिन्न उसका 'रस' नया नाम भी हो जाता है । उसमें यदि अभिव्यज्यमान अर्थ अभिप्रेत है तो वह असत् है (ठीक नहीं है) । क्योंकि जिस प्रकार अन्धकार के कारण अनभिव्यक्त गाय दीपक के प्रकाश में वास्तविक गाय के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है उस प्रकार सिन्दूर आदि रङ्गों से चित्रित गाय की अभिव्यक्ति नहीं होती, किन्तु गोसदृश अंगों की रचना होती है । इसलिए सिन्दूर आदि गाय के अवयवों के सन्निवेश के समान समूहविशेष (सन्निवेश-विशेष) के रूप में स्थित होकर 'यह गाय के सदृश हैं' इस प्रकार भासित होता है । किन्तु इस प्रकार विभावादि समूह रति के समान है, यह ग्राह्य नहीं है । इसलिए रत्यादि स्थायीभावों का अनुकरण रस है, यह कहना सर्वथा असंगत है अर्थात् ठीक नहीं है ।

१. क. तलस्थानीया
२. क. 'यत्त्वत्यन्तं' ।
३. क. तत्कियदत्रोच्यताम् ।

रस की त्रिगुणात्मकता का खण्डन—और जिसने यह कहा है कि सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाली उत्पादिका शक्ति से युक्त विषय-सामग्री बाह्य हो होती है, और सांख्यदर्शन के अनुसार रस सुख-दुःख स्वभाव वाला होता है। उस सामग्री में दाल आदि के स्थान पर विभाव हैं और उसमें संस्कार करने वाले छौंक के समान अनुभाव और व्यभिचारीभाव होते हैं और उस सामग्री से उत्पन्न आन्तरिक सुख, दुःख और मोहरूप रत्यादि स्थायीभाव होते हैं। इसलिए 'स्थायीभावों को रसत्व को प्राप्त करायेंगे' इत्यादि मुनि के वचन में उपचार (लक्षणा) को स्वीकार करते हुए ग्रन्थ के साथ अपने विरोध को स्वयं जानते हुए व्याख्याकार ने दोष प्रदर्शित करने की मूर्खता से प्रामाणिक पुरुषों को बचा लिया, अतः उसे क्या कहा जाय, कितना धन्यवाद दिया जाय और जो अन्य प्रतीतिवैषम्य आदि दोष होंगे, उनके अनौचित्य के सम्बन्ध में कितना कहा जाय ?

विमर्श—अभिनवगुप्त भट्टतौत आदि आचार्यों द्वारा उठाई गई आपत्तियों को प्रस्तुत कर श्री शङ्कुक के मत का खण्डन करते हैं। उनका कहना हैं कि शङ्कुक के मत में सहृदय और नट में जो विभावादि हैं वे सब कृत्रिम हैं और कृत्रिम विभावादि के आधार पर रसानुभूति नहीं हो सकती; क्योंकि उन्होंने रसानुभूति का आधार अनुमान माना है और अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, प्रत्यक्ष नहीं। वस्तुतः प्रत्यक्षज्ञान से जो रसानुभूति होती है वह अनुमानज्ञान के द्वारा नहीं हो सकती; क्योंकि अन्य में विद्यमान आनन्द का अनुमान अन्य में कदापि नहीं हो सकता है। दूसरे यहाँ अनुमान में सब कुछ कृत्रिम ही कृत्रिम है। अतः कृत्रिम साधन से अनुमान संभव नहीं है।

श्री शङ्कुक का अनुकरण-सिद्धान्त सहृदय दर्शकों की दृष्टि से आदरणीय नहीं है। क्योंकि अनुकरण सादृश्य-प्रतीति पर आधारित होता है। अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्त्ता नट को देखने पर ही अनुकरण की प्रतीति होती है किन्तु अनुकार्य के रत्यादिभाव दर्शकों में किसी के द्वारा भी प्रत्यक्ष नहीं होते। अतः नट के द्वारा रत्यादिभाव का अनुकरण तथा अनुक्रियमाण रत्यादि का रस रूप में अनुमान कैसे सम्भव है ? क्योंकि प्रत्यक्षीकरण के अभाव में अनुकार्य रामादि का अनुकरण संभव न होने से रस रूप में अनुक्रियमाण रत्यादि को रस का अनुमाप्य कैसे माना जा सकता है ? दूसरे नाट्यशास्त्र में इस अनुकरण-सिद्धान्त का कहीं कोई भी सङ्केत नहीं मिलता। अतः यह सिद्धान्त भरतमुनि द्वारा अभिमत नही है। इस प्रकार उनका अनुकरण सिद्धान्त भी मान्य नहीं हैं।

अभिनव कहते हैं कि शङ्कुक का 'चित्रतुरगन्याय' का सिद्धान्त भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'चित्रतुरगन्याय' सादृश्य-विधान की देन है। सिन्दूरादि रङ्गो के द्वारा तूलिका से रञ्जित चित्रस्थ तुरग में वास्तविक अश्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, केवल अश्व के सदृश

भट्टनायकस्त्वाह–रसो न प्रतीयते । नोत्पद्यते । नाभिव्यज्यते । स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात् । न च सा प्रतीतिर्युक्ता । सीतादेरविभावत्वात् स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात् । देवतादौ[1] साधारणीकरणायोग्यत्वात् । समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात् । न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः[2] अनुपलब्धत्वात् । न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता[3] प्रयुक्ता प्रत्यक्षादिव । नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदय[4]व्यग्रतयाकाशकरसत्वमथापि स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता ।

अङ्गों के सन्निवेश की रचना होती है। इसलिए चित्रस्थ अश्व में अश्वसादृश्य की प्रतीति होती है। किन्तु विभावादि के समूह में रत्यादि भावों का आकृत्यात्मक अनुकरण नहीं होता हैं। अतः भावानुकरण रस है, यह मत ठीक नहीं है।[5]

अभिनवगुप्त का कथन हैं कि और जो कि यह कहते हैं कि सांख्यदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार विश्व के समस्त पदार्थों के त्रिगुणात्मक होने से रस भी सुख-दुःख स्वभाव वाला है और सुख-दुःखादि को उत्पन्न करने वाली सामग्री बाह्य है। इस आधार पर स्थायीभाव बाह्य-सामग्री-जन्य सिद्ध होते हैं; जबकि भरतमुनि ने कहा है कि 'स्थायीभावों को रसत्व की प्राप्ति करायेंगे'। अतः सांख्यदर्शन पर आधारित यह मत भरत सिद्धान्त विरोधी होने से अमान्य है। (विशेष विवरण–डा० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा लिखित काव्यप्रकाश की टीका में देखिये)।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

अभिनव—भट्टनायक कहते हैं कि—रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है, क्योंकि स्वगत (सामाजिकगत) रूप से रस की प्रतीति मानने पर करुण रस में सामाजिक को दुःख की प्रतीति होने लगेगी । किन्तु वह प्रतीति उचित नहीं है। सीता आदि के विभाव के रूप में उपस्थित न होने से अपनी स्त्री की स्मृति न होने से, देवता आदि के विभाव होने पर उनके साधारणीकरण के अयोग्य होने से और समुद्रलंघन आदि कार्यों के असाधारण होने से सामाजिक को स्वगत रूप से रस की प्रतीति होना असम्भव है और राम के पूर्व में उपलब्ध न होने

१. क-भ. म. देवतादौ न साधारणीकरणायोग्यत्वात् ।
२. क-भ. म. स्मृतिरुपलब्धत्वात् ।
३. क. सरसतापि युक्ता ।
४. क. वृत्यन्तरोदयव्यग्रतयानेकरस० । क-भ. म. वृत्यन्तरोदयमव्यग्रतयाकाशरस० ।
५. डा० पारसनाथद्विवेदी कृत–काव्यप्रकाश (पृ० १३६-३७) ।

उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः स्वगतत्वपरगतत्वादि च पूर्ववद्विकल्प्यम्।

तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।

के कारण उस विभाव आदि से युक्त राम को स्मृति नहीं हो सकती तथा शब्द और अनुमान प्रमाणों से रस की प्रतीति मानने पर प्रत्यक्ष ज्ञान के समान सरलता नहीं होगी अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान में जैसी सरसता (आनन्द) होती है, सामाजिक को शब्द अनुमान से वैसी सरसता नहीं आ सकती। अपितु प्रत्यक्षरूप से नायक-नायिका-युगल के अवभास होने पर रस के स्थान पर लज्जा, जुगुप्सा, स्पृहा आदि दूसरे प्रकार की चित्तवृत्तियों का उदय होगा। इस प्रकार एकाग्रता (तन्मयता) न होने से आकाश रस (आकाशकुसुम) के समान रस की प्रतीति का अभाव होगा। इसलिए अनुभव, स्मृति आदि के रूप में रस की प्रतीति उचित नहीं है।

रस की उत्पत्ति मानने पर भी ये सब दोष समान रूप से होते हैं। अतः स्वगत रूप से रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शक्ति के रूप में पूर्व स्थित रस की (बाद में विभावादि के योग से) अभिव्यक्ति मानने पर विषयों के अर्जन के साथ रसानुभूति में तारतम्य (न्यूनाधिक्य) होने लगेगा और वह अभिव्यक्ति फिर पहले के समान स्वगत रूप से होती है अथवा परगत रूप से? यह विकल्प खड़ा हो जायेगा अर्थात् यह प्रश्न विचारणीय हो जायेगा।

इसलिए काव्य में दोषाभाव, गुण और अलङ्कार रूप लक्षण के कारण और नाट्य में चार प्रकार के अभिनय रूप निबिड़ (घने) अपने मोह (अज्ञान) एवं संकट का निवारण करने वाले तथा विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा शक्ति से तथा द्वितीय अंश पर होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान रस अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण, रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण के वैचित्र्य द्रुति (द्रवीभाव), विस्तार और विकास रूप सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश्य और आनन्दमय संविद् के विश्रान्त स्वरूप तथा परब्रह्म के आस्वाद के सदृश भोग से अर्थात् भोजकत्व व्यापार द्वारा भोग किया जाता है, अनुभव किया जाता है, यह भट्टनायक का मत है।

विमर्श—भट्टनायक का मत भुक्तिवाद के नाम से विख्यात है। भट्टनायक सांख्यवादी है। इनका सिद्धान्त सांख्य-दर्शन पर आधारित है। भट्टनायक के अनुसार 'संयोग' पद का अर्थ भोज्य-भोजक भाव और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' है। इस प्रकार इनके मतानुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा भोज्य-भोजक-भाव सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) होती है अर्थात् सामाजिक के द्वारा रस का भोग (आस्वादन) किया जाता है। भट्टनायक पूर्वोक्त मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि रस की न प्रतीति होती है, न उत्पत्ति होती है और न अभिव्यक्ति होती है। अपितु विभावादि साधारणीकरण रूप भावकत्व व्यापार के द्वारा भावित होता हुआ सत्त्वोद्रेक, प्रकाशानन्दरूप संविद्विश्रान्तिस्वरूप भोजकत्व (भोग) व्यापार के द्वारा आस्वादित होता हैं।

भट्टनायक भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि भट्टलोल्लट मुख्य रूप से अनुकार्य (राम) में और गौण रूप से अनुकर्त्ता (नट) में रस की उत्पत्ति या प्रतीति मानते हैं, वह ठीक नहीं है। क्योंकि रस की उत्पत्ति अथवा प्रतीति परगत अर्थात् नट में होने से सामाजिक को रस की प्रतीति कैसे होगी ? इसी प्रकार रस की परगत (नट-निष्ठ) अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। इसके अतिरिक्त स्वगत अर्थात् सामाजिक में रस की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि स्वगत (सामाजिकनिष्ठ) प्रतीति मानने पर करुण रस में सामाजिक को दुःख की प्रतीति होने लगेगी और ऐसी स्थिति में तन्मयता न होने से सामाजिक को रसानुभूति नहीं होगी। 'रस की अभिव्यक्ति नहीं होती' इस पक्ष का प्रति-पादन करते हुए भट्टनायक कहते हैं कि स्थायीभाव रूप रस की अभिव्यक्ति न तो अनुकर्ता में संभव है और न सामाजिक में। क्योंकि अभिव्यक्ति सदैव विद्यमान वस्तु को होती है और वस्तु की सत्ता अभिव्यक्ति के पूर्व भी रहती है और बाद में भी। किन्तु रस के अनुभूति स्वरूप होने से अनुभूति काल में ही उसकी सत्ता रहती है। उसके पहिले या बाद में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता, अतः सामाजिक को उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार भट्टनायक ने उपर्युक्त तीनों मतों का खण्डन कर भुक्तिवाद की स्थापना की है।

भट्टनायक ने भुक्तिवाद की सिद्धि के लिए अभिधाशक्ति के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियों की कल्पना की है। इनमें सर्वप्रथम अभिधाशक्ति के द्वारा काव्य का अर्थमात्र समझा जाता है। भाव यह कि अभिधाशक्ति के द्वारा उत्पन्न अर्थ व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध होता है और भावकत्व व्यापार उस अभिधाजन्य अर्थ को परिष्कृत कर व्यक्तिविशेष से उसका सम्बन्ध हटाकर साधारणीकृत कर देता है। इस भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से उन्मुक्त होकर सामाजिक से सम्बद्ध हो जाते हैं तब उसमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जाती। इस प्रकार विभावादि के साधारणीकरण हो जाने पर रत्यादि स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व व्यापार उस

तत्र पूर्वपक्षोऽयं भट्टलोल्लटपक्षानभ्युपगमादेव नाभ्युपगत इति तद्दूषणमनुत्थानोपहतमेव। प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत्। सापि प्रतिपत्तिरेव। केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यतां दर्शनानुमितिश्रुत्युपमिति प्रतिभानादिनामान्तरवत्। निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति न तृतीया गतिरस्याम्[1]। न चाप्रतीतं वस्त्वस्ति व्यवहारे योग्यम्।

अथोच्यते—प्रतीतिरिति तस्य भोगीकरणम्। तच्च रत्यादिस्वरूपम्। तदस्तु। तथापि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरणस्वभावाः सत्त्वादिगुणानां चाङ्गाङ्गिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति का त्रित्वेनेयत्ता[2]—

साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव का रस के रूप में भोग करवाता है। तात्पर्य यह है कि भट्टनायक के अनुसार साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव सामाजिकों के हृदय में स्थित रजस् और तमस् को अभिभूत करके सत्त्वगुण का उद्रेक होने से आस्वादन किया जाता है। प्रकाशमय और आनन्दरूप भोजकत्व व्यापार के द्वारा यह आस्वाद ही रसभोग है। यह साधारण आनन्द से उत्कृष्ट और ब्रह्मास्वादसहोदर सदृश होता है।

इस प्रकार भट्टनायक के मतानुसार काव्य के श्रवण (सुनने) और नाटक के देखने से पहिले उसका अर्थ समझा जाता है, फिर भावकत्व व्यापार द्वारा भावित अर्थात् साधारणीकृत किया जाता है फिर उसके बाद भोजकत्व व्यापार के द्वारा सत्त्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण के दब जाने से प्रकाशमय आनन्द का अनुभव होता है। यही आनन्दानुभव वेद्यान्तर-सम्पर्क-शून्य, ब्रह्मास्वादसविध है, यही रसानुभव है[3]।

भट्टनायक के मत का खण्डन

अभिनव—भट्टनायक के मत का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भट्टनायक का यह पूर्वपक्ष भट्टलोल्लट के मत के खण्डन में दिये गये तर्क से स्वयं खण्डित हो जाता है। अतः उनके मत के प्रत्याख्यान (खण्डन) करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त प्रतीति, उत्पत्ति और अभिव्यक्ति से अतिरिक्त संसार में भोग और क्या है ? यह हम नहीं जानते। यदि यह कहा जाय कि रस न (आस्वादन) भोग है तो वह भी तो प्रतिपत्ति अर्थात् प्रतीति ही है। केवल उपाय की विलक्षणता के कारण उसका दूसरा नाम (आस्वादन, रसन) भले ही रख लिया जाय। जैसे विभिन्न प्रमाणों से उपलब्ध एक ही ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और प्रतिभान आदि अनेक नाम दिये जाते हैं।

१. क. न. तृतीया गतिः स्यात्।

२. क. कर्त्तृत्वेनेयत्ता।

३. डा० पारसनाथ द्विवेदी कृत–काव्यप्रकाश पृ० १३७-१४०

("अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतमेव च।
अभिधाधामतां यातो शब्दार्थावलङ्कृती ततः ॥)
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत्।
(तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरैः[1] ॥) इति।

यत् "काव्येन भाव्यन्ते रसाः" इत्युच्यते तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावनं तदभ्युपगम्यत एव।

यत्तूक्तम्—

"संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्माऽनुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥" इति।

भट्टनायक के अनुसार रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों न मानने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि रस नित्य है अथवा असत् (अनित्य) ? इसके अतिरिक्त अन्य तीसरी गति (स्थिति) नहीं है। क्योंकि ऐसी कोई वस्तु व्यवहार के योग्य नहीं है जिसकी प्रतीति न होती हो। भट्टनायक की ओर से इसका उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि—इस रस की प्रतीति ही भोगीकरण रूप है और वह रत्यादि रूप है। ठीक है, ऐसा मान लिया; फिर भी केवल एक ही दोष तो नहीं है। जितने भी शृङ्गारादि रस हैं उतनी ही भोगीकरण स्वभाव वाली (भोगात्मक) रसनात्मक (आस्वादन रूप) प्रतीतियाँ हैं। सत्त्वादि गुणों के अङ्गाङ्गिभाव की विचित्रता के कारण रस के अनन्त भेदों की कल्पना करनी पड़ेगी तो भट्टनायक के अनुसार अभिधा, भावकत्व, भोजकत्व रूप तीन ही व्यापार कैसे माने जा सकते हैं ?

"अभिधा, भावना (भावकत्व) और तीसरा भोगीकरण (भोजकत्व) रूप शब्द के व्यापार हैं। उनसे पहले शब्दार्थ और अलङ्कार अभिधा के विषय (के रूप में उपस्थित) होते हैं। फिर ये शृङ्गारादि गण (समूह, विषय) भावना अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावित होकर भोगीकरण रूप से सहृदय सामाजिकों के द्वारा विशेष रूप से आस्वादित किये जाते हैं।"

जो कि 'काव्य के द्वारा रसों की भावना की जाती है' यह कहा जाता है, उसमें यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप प्रत्यय (प्रतीति या ज्ञान) को विषय बनाना ही भावना है, तो वह मुझे स्वीकार है। किन्तु इससे भावकत्व व्यापार की सिद्धि नहीं होती।

जो कि कहा गया है—

"संवेदन नामक प्रवृत्ति से व्यङ्ग्य दूसरे की साक्षात्कारात्मक प्रतीति का विषय आस्वादनरूप अनुभवभूत रस काव्य का प्रयोजन है।"

१. क. सिद्धिमान्नरः।

तत्र व्यज्यमानतया व्यङ्ग्यो लक्ष्यते। अनुभवेन च तद्विषयः इति मन्तव्यम्।

वहाँ व्यज्यमान रूप से व्यङ्ग्य लक्षित होता है और अनुभव का अर्थ रस का विषय है अर्थात् व्यञ्जनारूप रस हैं, ऐसा समझना चाहिए। अतः व्यञ्जनाशक्ति के अतिरिक्त भोजकत्व व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है ?

विमर्श—अभिनवगुप्त ने यहाँ भट्टनायक के मत के खण्डन में अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उनका कहना है कि भट्टनायक न तो रस की उत्पत्ति मानते हैं, न अनुमिति और न अभिव्यक्ति। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रतीति आदि से भिन्न संसार में भोग और क्या हो सकता है ? विषय-सामग्री की प्रतीति और उसका अनुभव ही भोग कहा जा सकता है, यदि भट्टनायक के अनुसार रस की प्रतति नहीं होती तो भोग किसे कहा जायगा ? क्योंकि भोग पद का अभिप्राय आस्वादन है और आस्वादन प्रतीतिरूप होता है। केवल उपाय की विलक्षणता के कारण उसके रसन, आस्वादन आदि भिन्न-भिन्न नाम है। इसके अतिरिक्त रस की उत्पत्ति (निष्पत्ति) और अभिव्यक्ति दोनों ही न मानने पर यह प्रश्न उठता है कि वह रस नित्य होगा अथवा असत् (अनित्य) ? इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता हैं ? क्योंकि व्यवहार में कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जिसकी प्रतीति न होती हो।

यदि यह कहा जाय कि किसी वस्तु की प्रतीति ही उसका भोगीकरण है और वह रत्यादिरूप है। ऐसा मान लेने पर केवल नाट्य सम्बन्धी एक ही दोष तो नहीं है। जितने ही शृङ्गारादि रस हैं उतनी ही आस्वादन स्वभाव वाली भोगात्मक प्रतीतियाँ हैं और सत्त्वादि गुणों के अङ्गाङ्गिभाव के वैचित्र्य के कारण रस के अनन्त भेदों या व्यापारों की कल्पना करनी पड़ेगी। तब भट्टनायक के अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व ये तीन ही व्यापार कैसे स्वीकार किये जा सकते हैं ?

भट्टनायक के अनुसार "अभिधा, भावना और भोजकत्व ये तीन शब्द के व्यापार है। उनसे पहिले वाच्यार्थ और अलङ्कार आदि अभिधा के विषय वाच्यरूप में उपस्थित होते हैं। फिर भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण द्वारा शृङ्गारादि विषय भावित होकर भोगीकृत रूप में (भोजकत्व व्यापार के द्वारा) सहृदय सामाजिक द्वारा विशेष रूप से आस्वादित होता है" और यह जो कहा जाता है कि 'काव्य से रसों की भावना की जाती हैं' उसमें यदि विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद रूप प्रतीति को विषय बनाना ही भावना है तो हमें यह स्वीकार है। किन्तु इससे भावकत्व व्यापार की सिद्धि नहीं होती।

और जो यह कहा गया है कि "संवेदनात्मक व्यङ्ग्य, साक्षात्कारात्मक प्रतीति का विषय आस्वादन रूप अनुभूत रस ही काव्य का प्रयोजन है"। यहाँ व्यज्यमान रूप से व्यङ्ग्य का बोध होता है और अनुभव का विषय रस है। अतः व्यञ्जना के अतिरिक्त भोजकत्व नामक कोई व्यापार नहीं है। वह तो व्यञ्जना का ही नामान्तर प्रतीत होता है।

नन्वेवं कथं रसतत्त्वमास्ताम् ?

किं कुर्मः ?

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत्संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम् ।
इत्थं स्वयंग्राह्यमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ॥
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती ।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम् ॥
चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम् ।
सन्मार्गलाभे इति सेतुबन्धपुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय ।
तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि ।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति ॥

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अभिनव—अभिनवगुप्त द्वारा सबके मत का प्रत्याख्यान करने के बाद पूर्वपक्ष की ओर से प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में रसतत्त्व कहाँ रहेगा ? तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी कहता है कि जब आपने भट्टोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक आदि सभी के मतों का खण्डन कर दिया है तो आप ही बतायें कि रसतत्त्व कहाँ रहेगा ? इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि रसतत्त्व कहीं रहे या न रहे हम क्या करें ? हम किसी की अप्रामाणिक बात को थोड़े ही मान लेंगे । इस बात को लेकर ग्रन्थकार कहते हैं कि हम क्या करें ?

"शास्त्रसिद्ध अर्थात् वेदप्रमाण विषय की विवेचना के विषय में यह कोई नयी बात नहीं है । बुद्धि के विकास के साथ वस्तु का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार स्वतः प्रमाण स्वरूप (स्वयं ग्राह्य) बहुमूल्य शब्द प्रमाण के साथ विरोध करने से क्या लोक (लौकिक प्रमाण) दूषित नहीं होगा ?"

"श्रान्ति का अनुभव न करने वाली अर्थात् निरन्तर प्रयत्नशील विवेचक-बुद्धि ऊर्ध्व-प्रदेश पर आरोहित होकर जिस अर्थतत्त्व को देखती हैं (प्रतिपादन करती हैं) वही प्रमुख हैं । वह प्राचीन आचार्यों द्वारा परिकल्पित विवेकरूपी सोपान (सीढ़ी) परम्पराओं का फल है ।"

"प्रमेय की सिद्धि में प्रथम अवतार (आधार, सीढ़ी) आलम्बन (आश्रय)-रहित चित्र के समान मानता हूँ । किन्तु एक बार मार्ग का लाभ हो जाने पर अर्थात् आधार बन जाने पर पुल का निर्माण और नगर की प्रतिष्ठा (नगर की रचना) आदि आश्चर्यजनक नहीं होती ।"

तह्य् च्यतां परिशुद्धतत्त्वम्

उक्तमेव मुनिना न त्वपूर्वं किञ्चित्। तथाह्याह–"काव्यार्थान् भावयन्ति" इति (ना. शा. अ-७) तत्काव्यार्थो रसः।

यथा हि [1]"रात्रिमासत'। 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्राददतितीव्रप्ररोचिततात्प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैव 'आसे' 'प्रददानि' इत्यादिरूपा संक्रमणादिस्वभावा यथादर्शनं प्रतिभाभावना[2]विध्युद्योगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्तिः।

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्" इति (शाकु-अ. १) "उमापि नीलालक" इति (कुमा-३-६२) 'हरस्तु किञ्चित्' (कुमा-३ ६७) इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।

"इसलिए हमने यहाँ प्राचीन आचार्यों के मतों का खण्डन नहीं किया है, अपितु संशोधन किया है। क्योंकि प्राचीन आचार्यों द्वारा स्थापित मतों की सम्यक् विवेचना करने से मूल सिद्धान्तों को स्थापना जैसा ही फल प्राप्त होता है।"

अब पुनः प्रश्न होता है कि तो फिर परिशुद्ध रसतत्व का कथन करिये ?

उत्तर—भरतमुनि ने कह दिया है कि हमें कोई अपूर्व नयी बात नहीं कहनी है। जैसाकि कहा है कि "जो काव्य के अर्थों को प्रकाशित करते हैं" वही काव्यार्थ रस है।

जैसा कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'रात्रिमासत' 'तामग्नौ प्रादात्' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों में सामर्थ्यादि लक्षणों से लक्षित अधिकारी पहले तो अत्यन्त प्रशंसित सामान्य प्रतीति मात्र से प्रवृत्ति के अनन्तर उपात्त (प्राप्त) काल को उपेक्षा करके 'बैठूं' 'दूँ' इत्यादि रूप में संक्रमण स्वभाव वाली दर्शन के अनुसार अर्थात् मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रतिभा, भावना, विधि, नियोग इत्यादि शब्दों से व्यवहृत होने वाली प्रतिपत्ति (प्रतीति) अधिक ही होती है। इसी प्रकार काव्यात्मक शब्दों से अधिकारी सामाजिक को अधिक प्रतीति होती है।

यहाँ पर निर्मल प्रतिभा से सम्पन्न हृदय वाला (सहृदय) व्यक्ति 'अधिकारी' होता है। उस अधिकारो को अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के 'ग्रीवाभङ्गाभिरामं' इत्यादि

१. क. सत्रमासत।
२. क. विधिनियोगादि।

तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति[1] तस्य विशेषरूपत्वाभावाद्भीत इति [2]त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम् । तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादिबुध्यन्तरोदयनियमवत् ? तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये [3]निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः । तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखित. । एवं परोऽपि ।

तत एव न परिमितमेव साधारण्यम् । अपि तु विततम् । व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः । भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री । यस्यां [4]वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तमपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति । अत एव सर्वसामाजिकानामेकघनतयैव [5]प्रतिपत्तिः सुतरां रसपरिपोषाय । सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात् । सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारस्तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लसनकादिर्विकारश्चमत्कारो यथा—

और कुमारसंभव के 'उमापि नीलालक' (३।६२) तथा 'हरस्तुकिञ्चित्' (३।६७) इत्यादि वाक्यों से होने वाली वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उन-उन काव्य-वाक्यों में उपात्त (प्राप्त, गृहीत) कालादि के विभागों को उपेक्षा करने वाला साक्षात्कारात्मक मानस अनुभव होता है, अर्थात् काव्यवाक्यों में प्राप्त कालादि विभाग की परवाह न कर (उपेक्षाकर) साक्षात्कार रूप मानस अनुभव होता है।

उसमें जो मृगशावक आदि का भान होता है। उसके (साधारणीकरण हो जाने के कारण) निर्विशेष होने जाने से 'यह भीत है' यह ज्ञान होता है और त्रास (भय) देने वाले दुष्यन्त के अयथार्थ (कल्पित) होने से भय ही देश-काल आदि से असम्बद्ध प्रतीत होता है। इसलिए "मैं भीत हूं, यह भीत है, शत्रु, मित्र अथवा मध्यस्थ भीत है" इत्यादि प्रत्ययों (ज्ञान) से दुःख के हान (त्याग) एवं सुख उपादान (ग्रहण) से नियमतः अन्य ज्ञानों (बोधों) को उत्पन्न करने वाले अतः विघ्नबहुल (लौकिक) ज्ञानों से विलक्षण, निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य हृदय में साक्षात् प्रवेश करता हुआ, आँखों के सामने घूमता हुआ सा भय स्थायीभाव भयानक रस होता है। इस प्रकार के भय में आत्मा अत्यन्त तिरस्कृत नहीं होता और न विशेषरूप से उल्लिखित (संसक्त) हो। इसी प्रकार अन्य रसों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

१. क-भ. मृगपोतकादिभीतिः । २. क-म. ग्राहकस्य । ३. क-म. निधीय ।
४. क-भ. वस्तुतः सतां । ५. क. प्रतिपत्तेः ।

[1]"अज्जवि हरी चमक्कइ कहविण मंदरेण दलिआइं ।
चंदकलादलसच्छीआइं लच्छीए अंगाइं ॥"
[अद्यापि हरेः चमत्कृतिः कथमपि न मन्दरेण दलितानि ।
चन्द्रकलाकन्दलसच्छायानि लक्ष्म्या अङ्गानि ॥]
इति संस्कृत-छाया ।

तथा हि स चातृप्तिव्यतिरेकेणाविच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते । भुञ्जानस्याद्भुतभोगस्पन्दाविष्टस्य च मनश्चमत्करणं चमत्कार इति। स च साक्षात्कारस्वभावो मानसोऽध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरन्नस्तु । यदाह—

इसलिए विभावादि का साधारणीकरण परमित नहीं होता, अपितु विस्तृत होता है। जिस प्रकार धूप और अग्नि के व्याप्तिग्रह अथवा जिस प्रकार भय एवं कम्पन के व्याप्तिग्रह (साहचर्य नियम) विस्तृत होता है उसी प्रकार साधारणीकरण भी विस्तृत होता है। यहाँ पर साक्षात्कार रूप (प्रत्यक्ष देखे जाने वाले) नाटकों में नट आदि उपकरण परिपोषक होते हैं, जिसमें काव्य-वस्तु में निबद्ध और काव्य में निहित देश, काल, प्रमाता आदि के नियामक हेतुओं के परस्पर प्रतिबन्ध के बल से (पारस्परिक सम्बन्ध से) अत्यन्त दूर हो जाने पर वह साधारणीकरण अत्यन्त पुष्ट हो जाता है। इसलिए समस्त सामाजिकों को एक रूप से प्रतीति रस के अत्यन्त परिपोष के लिए हो जाती है। अनादि वासना (संस्कार) से चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों में समान वासना होने के कारण समान रस की प्रतीति होती है और विघ्नों से रहित वह प्रतीति आनन्दरूप चमत्कार है और उससे उत्पन्न होने वाले कम्प, पुलक (रोमाञ्च), हर्ष, आनन्द आदि अनुभाव भी चमत्कार हैं। जैसे—

"हरि को चमत्कार (आश्चर्य) हो रहा है कि समुद्र के मन्थन के समय मन्दराचल द्वारा लक्ष्मी का शरीर किसी प्रकार से भी दलित नहीं हुआ, क्योंकि आज भी वे अङ्ग चन्द्रकला के खण्ड के समान (सश्रीक) शोभा से सम्पन्न हैं।"

और वह चमत्कार अतृप्ति से भिन्न अर्थात् पूर्णरूप से तृप्त भोगावेश कहा जाता है। इस प्रकार रस का भोग करने वाले अद्भुत भोग व्यापार से आविष्ट (स्फुरित) मन का चमत्कृत हो जाना 'चमत्कार' है और वह चमत्कृत मानस की साक्षात्कारात्मक अनुभूति मानस अध्यवसाय या संकल्प या स्मृति के रूप में प्रस्फुरित होती है। जैसाकि कहा गया है—

१. संस्कृत छाया–
अद्यापि हरिश्चमत्करोति कथमपि न मन्दरेण दलितानि ।
चन्द्रकलादलसच्छायानि लक्ष्म्या अङ्गानि ।

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥" (शाकु ५) इत्यादि ।

अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरुपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा । पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात् । अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति । सर्वथा तावदेषास्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्यां रतिरेव भाति । तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात्सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा । तथैव चोपचयावस्थासु देशाद्यनियन्त्रणादनुकारोऽप्यस्तु भावानुगामितया करणात् । विषयसामग्र्यपि भवतु विज्ञानवादावलम्बनात् । सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः ।

तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः । तथा हि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव [1]चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते ।

"रमणीय वस्तुओं को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर सुखी प्राणी भी जो उत्कण्ठित हो जाता है, तो निश्चय ही संस्कार के रूप में स्थित पूर्वजन्म के सौहार्द (प्रेम सम्बन्ध) को बिना जाने ही अपने चित्त से स्मरण करता है।" (अभिज्ञानशाकुन्तल ५।२) ।

यहाँ पर 'स्मरति' पद से जो स्मृति दिखाई गई है वह तर्कशास्त्र में प्रसिद्ध अनुभवजन्य संस्कारविशेष रूप स्मृति नहीं है, क्योंकि पहिले इस अर्थ का अनुभव नहीं हुआ है अर्थात् काव्य में वर्णित रमणीय पदार्थ का दर्शन तथा मधुर-शब्द-श्रवण पूर्वानुभूत विषय नहीं है। अपितु यह स्मृति, प्रतिभान अपर नाम वाला साक्षात्कारात्मक स्वभाव रूप है और यह प्रतीति सर्वथा आस्वादरूपा है जिसमें रति का ही केवल भान होता है। इसीलिए अन्य विशेषों से रहित होने के कारण आस्वाद योग्य होते हुए भी वह (रति) न लौकिकी है, न मिथ्या है, न अनिर्वचनीया है, न लौकिक-सदृश है और न आरोपादि रूप में माना जा सकता है। उसी प्रकार (रत्यादि स्थायी की) उपचय की अवस्था में देश-काल आदि का नियन्त्रण न होने से अनुकरण भी भावानुगामी रूप में वैसा ही होता है। विज्ञानवाद का अवलम्बन करने से बाह्य विषय-सामग्री भी वैसी हो जाती है। इस प्रकार सर्वथा रसात्मक (आस्वादात्मक) एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।

१. क-भ. चमत्कारविनिवेश ।

[1]विघ्नाश्चास्यां प्रतिपत्तावयोग्यता संभावनाविरहो नाम स्वगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशो निजसुखादिविवशीभावः प्रतीत्युपायवैकल्यं स्फुटत्वाभावो अप्रधानता संशययोगश्च ।

तथाहि—संवेद्यमसंभावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव (यो) न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिरिति प्रथमो विघ्नः । तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः । अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेष्वखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः । अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूपयिष्यते । न तु प्रहसनादाविव[2] । तच्च स्वावसर एव वक्ष्याम इत्यास्तां तावत् ।

इसमें विघ्नों को दूर करने वाले विभावादि हैं । जैसेकि—लोक में समस्त विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति (प्रतीति) ही चमत्कार, निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से (नामों से) कही जाती है । इसमें सात विघ्न होते हैं--

१. प्रतिपत्ति अर्थात् रसप्रतीति में अयोग्यता अर्थात् रस की संभावना का अभाव । २. स्वगत अथवा परगत रूप से देश-काल विशेष का आवेश । ३. अपने सुख-दु:खादि के वश में होना । ४. प्रतीति के उपायों का अभाव । ५. स्फुट प्रतीति न होना । ६. अप्रधानता और ७. संशय का योग ।

१. प्रतिपत्तावयोग्यता—इनमें से पहिले प्रथम विघ्न प्रतीति में अयोग्यता का निराकरण करते हुए कहते हैं कि—ज्ञान के विषय को असम्भव समझने वाला जो व्यक्ति उस विषय में अपने ज्ञान को निश्चित नहीं कर पाता, उसमें विश्रान्ति कहाँ हैं ? यह पहला विघ्न है । उसके निराकरण का उपाय अन्य सामाजिकों के साथ लोक के सामान्य वस्तुओं के विषय में हृदय का तादात्म्य (संवाद) है, हृदय की एकरूपता है । लोकोत्तर व्यापार चेष्टाओं में अखण्ड प्रसिद्धि (अविच्छिन्न प्रख्याति) से उत्पन्न प्रगाढ़ विश्वास को परिपुष्ट करने वाले प्रख्यात राम आदि के नामों का ग्रहण करना ही उपाय है । इसलिए—लोकोत्तर उत्कर्ष के उपदेश एवं ज्ञान (व्युत्पत्ति) प्रयोजन वाले नाटकों में नियमपूर्वक प्रख्यात इतिवृत्त एवं विषय (नायक) आदि का निरूपण किया जाता है । प्रहसन आदि के समान विषय-वस्तु का विवेचन नहीं होता । इसका अपने अवसर पर विस्तार से निरूपण करेंगे, इसलिए यहाँ रहने दिया जाय ।

१. क-भ. भ. विघ्नानाञ्चास्यां ।
२. क-भ. भ. प्रहसनादेव ।

स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा [1]तत्सदृशार्जिजीषया वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः।

परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसंभावनादवश्यंभावी विघ्नः।

तदपाकरणे 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र (ना शा ५-१५८) इत्यादिना 'पूर्वरङ्गविधिं प्रति' पूर्वरङ्गानिगूहनेन "नटी विदूषको वापि' इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च यो नटरूपताधिगमस्तत्पुरस्सरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः अलौकिकभाषादिभेदलास्याङ्गरङ्गपीठमण्डपगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहितः। तस्मिन् हि 'तस्यैवात्रैवैतस्यैव च सुखं वा' इति न भवति। प्रतीतिस्वरूपस्य निह्नवात्। रूपान्तरस्य चारोपितस्य प्रतिभासंविद्विश्रान्तिवैकल्येन स्वरूपे विश्रान्त्यभावात्। [2]सत्यं तदीयरूपनिह्नवमात्र एव पर्यवसानात्।

२. स्वागतत्व-परगतत्व-नियमेनेति—सामाजिक स्वगत (अपने निजी) सुख-दुःख रूप ज्ञान (संविद्) के आस्वादन में यथासंभव कभी उसके नष्ट होने के भय से अथवा कभी उसकी रक्षा के लिए व्यग्र हो जाने से अथवा उसी के समान अन्य सुख को प्राप्त करने की इच्छा से अथवा उस दुःख के त्याग की इच्छा से अथवा उसके प्रख्यापन की इच्छा से अथवा उसके छिपाने की इच्छा से अथवा अन्य किसी प्रकार से अन्य ज्ञान का उत्पन्न होना ही रसास्वादन में परम विघ्न है।

और रस की स्थिति परगत (नटगत) मानने पर परगतत्व नियम से अनुकार्य नटगत सुख-दुःखादि के संवेदन में सामाजिक को नियमतः अपने भीतर सुख, दुःख, मोह, माध्यस्थ्य आदि भिन्न ज्ञानों के उद्गमन की संभावना से रसानुभूति में अवश्य ही विघ्न होगा।

इन विघ्नों के निराकरण के लिए पाँचवें अध्याय में पूर्वरङ्ग के प्रसंग में कहा गया है कि—"नाट्य में नृत्य-गीत आदि का अतिशय प्रयोग नहीं करना चाहिए" (ना. शा. ५।१५८) इत्यादि से तथा 'पूर्वरङ्ग-विधि के प्रति' (पूर्वरङ्गविधिं प्रति) पूर्वरङ्ग के प्रकटन से "नटी विदूषको वापि" (नटी अथवा विदूषक) इस प्रकार लक्षित प्रस्तावना के अवलोकन से जो नटरूपता की प्रतीति होती है उसके साथ अनुकार्य (रामादि) की वेश-भूषा के अनुरूप मुकुट आदि के द्वारा अलौकिक भाषा आदि के भेद,

१. क-भ. तत्सदृशोज्जिजीषया।
२. क, सत्ये।

तथा हि—आसीनपाठ्यपुष्पगन्धिकादि लोके न दृष्टम्। न च तन्न किञ्चित् कथञ्चित्संभाव्यत्वात् इति का एष सर्वो मुनिना साधारणीभावसिद्धया रसचर्वणोपयोगित्वेन परिकरबन्धः समाश्रित इति तत्रैव स्फुटीभविष्यतीति तदिह तावन्नोद्यमनीयम्। ततः स एष स्वपरनियतताविघ्नापसरणप्रकारो व्याख्यातः।

निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः [1]शब्दादिविषयमयीभिरातोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकाविभिरुपरञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। उक्तं हि "दृश्यं श्रव्यं च" (ना. शा. १-११) इति।

लास्य के अङ्ग, रङ्गपीठ तथा मनुष्य के कक्ष्या आदि के परिग्रह और नाट्यधर्मी के साथ नट के स्वरूप के प्रच्छादन का प्रकार भी एक उपाय है। क्योंकि उसके होने पर 'इसी का, यहाँ हो, इसी से हो सुख या दुःख प्राप्त होता है, यह नहीं कहा जा सकता। अभिनेता के स्वरूप की प्रतीति का प्रच्छादन होने से, आरोपित रूपान्तर का प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान की विश्रान्ति न होने से, अपने स्वरूप में विश्रान्ति के अभाव होने से और स्वरूप में विश्रान्ति होने पर नट के स्वरूप के आच्छादन में पर्यवसान होने से विघ्नों का निराकरण हो जाता है।

जैसाकि--आसीन पाठ्य, पुष्पगन्धिका आदि लोक में नहीं दिखाई देते। इसलिए वे नहीं होते, यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि नाट्य में उनकी कथञ्चित् सम्भावना ही रहती है, यह सब भरतमुनि ने रसास्वादन के उपयोगी साधारणीकरण की सिद्धि के द्वारा संगृहीत कर दिया है। यह सब यथास्थान वहीं स्पष्ट होंगे, इसलिए यहाँ उसके लिए उद्योग (प्रयास) नहीं करना चाहिए। इस प्रकार यह स्वगत और परगत रूप से विघ्नों के निराकरण के प्रकार का व्याख्यान किया गया है।

३. निजसुखादिविवशीभाव—अपने निजी सुख-दुःख के वशीभूत व्यक्ति अन्य वस्तु में अपना चित्त (ध्यान) कैसे लगा सकता है? इसलिए विघ्न के निवारण के लिए प्रत्येक पदार्थ में स्थित साधारणीकरण की महिमा से समस्त भोग्यता के सहिष्णु शब्दादि विषयों से समन्वित गायन, वादन और विचित्र नृत्य आदि में कुशल गणिकाओं के द्वारा उपरञ्जन (मनोरञ्जन) का आश्रय लिया जाता है। जिससे असहृदय व्यक्ति भी हृदय की विमलता (सरसता) को प्राप्त कर सहृदय बन सकता है। इसीलिए 'दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्' कहा गया है।

१. क. शब्दादिविषयमयैः।

किञ्च प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिः ?

[1]अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात् ।

यथाऽऽहुः—'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' (न्यायसू. भा. १-३) इति । स्वसाक्षात्कृते आगमानुमानशतैरप्यनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात् । अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदवधारणादिति लौकिकस्तावदयं क्रमः । तस्मात्तदुभयविघ्नविघातेऽभिनया लोकधर्मिवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समभिषिच्यन्ते । अभिनयनं हि सशब्दलिङ्गव्यापारविसदृशमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निश्चेष्यामः ।

अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति । तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्[2] । अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखसंप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम् ।

४. प्रतीत्युपायवैकल्य—प्रतीतियों के उपायों के अभाव होने से रस की प्रतीति कैसे हो सकती है ? यह चतुर्थ विघ्न है ।

५. स्फुटत्वाभाव—अस्पष्ट प्रतीति के जनक शब्द और अनुमान के होने पर भी और स्फुट प्रतीति रूप प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) के अनुकूल प्रतीति की आकांक्षा होने से उस प्रतीति की विश्रान्ति नहीं होती ।

जैसाकि कहा गया है कि "यह सारी प्रमिति प्रत्यक्षपरक है" स्वयं साक्षात्कार किये हुए वस्तु में सैकड़ों शब्द (आगम) और अनुमान प्रमाणों से स्वानुभव के सिद्ध होने से अन्यथाभाव अर्थात् परिवर्त्तन नहीं हो सकता । अलातचक्र आदि में प्रबल साक्षात्कार रूप ज्ञान होने से उसकी प्रतीति होती है । यह लौकिक प्रतीति का क्रम है । इसलिए इन दोनों विघ्नों के निवारण के लिए लोकधर्मी, वृत्ति और प्रवृत्तियों से उपस्कृत (युक्त) अभिनयों का अभिषेक किया जाता है । अभिनय शब्द एवं अनुमान प्रमाणों से भिन्न (विलक्षण) प्रत्यक्ष व्यापार के सदृश है । यह आगे निश्चय करेंगे !

६. अप्रधानता—अप्रधान वस्तु में किसकी प्रतीति विश्रान्त होती है ? अर्थात् किसी की नहीं । क्योंकि प्रधान की ओर दौड़ने वाली उसी अप्रधान प्रतीति की अपने आप में विश्रान्ति नहीं हो सकती । इसलिए वह अप्रधानत्व जड़ विभाव एवं

१. क. स्फुटप्रतीतिकारि ।

२. क-भ. स्वात्मनि विश्राम्यत्वात् ।

तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित्संविद इति[1] एव प्रधानम्। तद्यथा—रतिः कामः तदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा। क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः। कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादिपर्यवसितः। तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायो विभावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम्।

यद्यपि चैषामप्यन्योन्यं गुणभावोऽस्ति तथापि तत्तत्प्रधाने रूपके तत्तत्प्रधानं भवतीति रूपकभेदपर्यायेण सर्वेषां प्राधान्यमेषां [2]लक्ष्यते। [3]अदूरभागाभिनिविष्टदृशस्त्वेकस्मिन्नपि रूपके पृथक्प्राधान्यम्।

तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके [4]स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात्। अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तत एव कापिलैर्दुःखस्य चाञ्चल्यमेव प्राणत्वेनोक्तं रजोवृत्तितां वदद्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्।

अनुभाव के समुदाय में ज्ञान रूप होने पर भी नियमतः अन्य स्थायी के मुख की ओर देखने वाले व्यभिचारीभावों में भी सम्भव है। इसलिए उसके अतिरिक्त स्थायीभाव ही चर्वणा का पात्र है अर्थात् आस्वाद के योग्य होता है।

उनमें पुरुषार्थनिष्ठ कोई रसानुभूति ही प्रधान होती है। जैसे—रति (स्थायीभाव) मुख्य रूप से काम (पुरुषार्थ) और गौणरूप से धर्म और अर्थ (पुरुषार्थ) से सम्बद्ध होती है। क्रोध प्रधानरूप से अर्थनिष्ठ होता है। काम और धर्म में पर्यवसित होने वाला उत्साह भी धर्मादि समस्त पुरुषार्थों में पर्यवसित होता है। तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद-प्रधान स्थायीभाव मोक्ष का उपाय है। इसलिए इन रति, क्रोध, उत्साह, निर्वेद आदि स्थायीभावों की प्रधानता होती है।

यद्यपि इनमें भी परस्पर गुणभाव (गौण और प्रधान भाव) होता है, तथापि उस-उस रस-प्रधान रूपक में उस-उस रस की प्रधानता होती है अर्थात् एक रूपक में कई रस हो सकते हैं किन्तु उनमें एक रस की प्रधानता होती है। दूसरे रूपक में दूसरे रस की प्रधानता और शेष रस गौण होते हैं। अतः जिस रूपक में जिस रस की प्रधानता होगी वही प्रधान रस होता है शेष गौण रस होते हैं। अतः रूपकों के भेद के क्रम से सभी रसों की प्रधानता होती है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि वाले विचारक एक ही रूपक में अलग-अलग रसों की प्रधानता मानते हैं।

१. क. इति प्रधानम्।

२. क. लक्ष्यते।

३. क. भ. आदूर०।

४. क. भ. लोकेऽस्ति लोकस्य।

किन्तूपरञ्जकविषयवशात्तेषामपि [1]कटुतास्पर्शो किं नास्ति वीरस्येव । स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव । एवं रत्यादीनां प्राधान्यम् ।

हासादीनां तु सातिशयं सकललोकसुलभविभावतयोपरञ्जकत्वमिति न प्राधान्यम् । अत एवानुत्तमप्रकृतिषु बाहुल्येन हासादयो भवन्ति । पामरप्रायः सर्वोऽपि हसति शोचति बिभेति परनिन्दामाद्रियते । अल्पसुखभाषितत्वेन च सर्वत्र विस्मयते । रत्याद्यङ्गतया तु पुमर्थोपयोगित्वमपि स्यादेषाम् । एतद्-गुणप्रधानभावकृत एव च दशरूपकादिभेद इति वक्ष्यामः ।

उनमें ये सभी रस सुखप्रधान होते हैं। संविद्रूप, आस्वाद-स्वरूप, एकधन, स्वप्रकाश रस के आनन्दमय होने के कारण ये सभी रस सुखप्रधान होते हैं। जैसे—एकघन शोकानुभव के चर्वण (आस्वादन) में भी निर्विघ्न विश्रान्ति रूप होने से लोक में स्त्रीसमुदाय से हृदय की विश्रान्ति होती है । दुःख अविश्रान्ति रूप होता है। अर्थात् मन की अविश्रान्त स्थिति दुःख है। इसलिए दुःख को रजोगुण की वृत्ति कहने वाले महर्षि कपिल ने चञ्चलता को दुःख का प्राण कहा है। इसलिए सभी रसों को आनन्दरूप माना गया है।

किन्तु उपरञ्जक विषय के कारण उनमें भी वीर रस के समान क्या कटुता का स्पर्श नहीं होता ? क्योंकि वह (वीर रस) क्लेश, सहिष्णुता आदि प्रधान होता है। इस प्रकार रत्यादि स्थायीभावों की अन्यों की अपेक्षा प्रधानता है।

हास आदि (हास, शोक, भय, जुगुप्सा, विस्मय) स्थायीभाव सर्वसाधारण में पाये जाने वाले विभावों के द्वारा अधिक उपरञ्जक होते हैं, इसलिए उनको प्रधानता नहीं मानी जाती, इसलिए अनुत्तम अर्थात् निम्न प्रकृति के लोगों में हास आदि अधिक पाये जाते हैं। निम्न स्तर के प्रायः सभी लोग हँसते हैं, शोक करते हैं, भयभीत होते हैं (डरते हैं) और दूसरों की निन्दा में रुचि लेते हैं और थोड़ा सुख प्राप्त करने के कारण विस्मित भी होते हैं। रति आदि के अङ्ग के रूप में इन हासादि की पुरुषार्थ के प्रति उपयोगिता भी हो सकती है। इन रसों के गुण-प्रधान भाव (गौण और प्रधान भाव) के कारण ही रूपक के दस भेद होते हैं, इस बात को आगे कहेंगे।

१. क. कटु किं नास्ति । स्पर्शो वीरस्य ।
क. (टि.) कटुकितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव ।

स्थायित्वं चैतावतामेव। जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति। तथा हि—

"दुःखसंश्लेषविद्वेषी सुखास्वादनसादरः।"

इति न्यायेन सर्वो रिरंसया व्याप्तः स्वात्मन्युत्कर्षमानितया परमुपहसन्नभीष्टवियोगसंतप्तस्तद्धेतुषु कोपपरवशोऽशक्तौ च ततो भीरुः किञ्चिदार्जिजीषुरप्यनुचितवस्तुविषयवैमुख्यात्मकतयाक्रान्तः किञ्चिदनभीष्टतयाऽभिमन्यमानस्तत्तत्स्वपरकर्तव्यदर्शनसमुदितविस्मयः किञ्चिच्च जिहासुरेव जायते। न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना। कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता कस्यचिदन्यथा। तत्काचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या। [1]तद्विभावकृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः।

स्थायीभाव - स्थायीभाव इतने ही होते हैं; क्योंकि प्राणी उत्पन्न होने पर इतनी ही वासनाओं से युक्त होता है। जैसे कि—

"दुःख के संसर्ग से द्वेष करता है तथा सुख के आस्वादन में आदर करता है।"

इस न्याय के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति रमण करने की इच्छा से युक्त होता है (रति स्थायीभाव)। २. अपने को उत्कृष्ट मानकर दूसरों का उपहास करता हैं (हास स्थायीभाव)। ३. अभीष्ट (प्रिय) के वियोग से संतप्त होता है (शोक स्थायीभाव)। ४. उस वियोग के कारणों पर क्रोध करता है (क्रोध स्थायीभाव)। ५. शक्ति के अभाव में उससे डरता है (भय स्थायीभाव)। ६. किसी की प्राप्ति की इच्छा करता है (उत्साह स्थायीभाव)। ७. अनुचित वस्तु के विषय में कुछ को अनभीष्ट मानता हुआ विमुखता से आक्रान्त होता है अर्थात् उससे घृणा करता है और कुछ को अनभीष्ट मानता है (जुगुप्सा)। ८. आश्चर्यजनक अपने और दूसरे के कार्य को देखने से विस्मित होता है (विस्मय स्थायीभाव) और ९. कुछ को छोड़ना चाहता है (निर्वेद स्थायीभाव) सूचित होता है। इन रत्यादि चित्तवृत्तियों की वासना (संस्कार) से शून्य कोई भी प्राणी नहीं होता। केवल अन्तर इतना होता है कि किसी प्राणी में कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है और किसी की कम। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय में नियन्त्रित होती है और उसके विपरीत अनियन्त्रित होती है। इसलिए कोई चित्तवृत्ति ही पुरुषार्थ के लिए उपयोगिनी होने से उपदेश के योग्य होती है। इनके विभाव के अनुसार ही उत्तम, मध्यम, अधम आदि प्रकृतियों का व्यवहार होता है।

---

१. क. तद्विभागकृतश्चोत्तमप्रकृत्यादिव्यवहारः।

ये पुनरपि ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्येऽपि[1] न भवन्त्येव । तथा हि—रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्तिष्ठन्ति । यस्यापि भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति । उत्साहादयस्तु संपादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते । कर्तव्यान्तरविषयस्योत्साहादेरखण्डनात् ।

यथाह पतञ्जलिः—"न हि चैत्र एकस्यां स्त्रियां रक्त इत्यन्यासु विरक्तः ।" (पातञ्जल. व्यासभाष्य २.४) इत्यादि ।

तस्मात्स्थायिरूपचित्तवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी व्यभिचारिणः स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमाना रक्तनीलादिसूत्रस्यूतविरलभावोपलम्भनसम्भावितभङ्गीसहस्रगर्भस्फटिककाचाभ्रकपद्मरागमरकतमहानीलादिमयगोलकवत्तस्मिन् सूत्रे स्वसंस्कारवैचित्र्यमनिवेशयन्तोऽपि तत्सूत्रकृतमुपकारसन्दर्भं बिभ्रतः[2] स्वयं च विचित्रार्थस्थायिसूत्रं च विचित्रयन्तोऽन्तरान्तरा शुद्धमपि स्थायिसूत्रं प्रतिभासावकाशमुपनयन्तोऽपि पूर्वापरव्यभिचारिरत्नच्छायाशबलिमानमवश्यमानयन्तः प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिण उच्यन्ते ।

और जो ये ग्लानि, शङ्का प्रभृति विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं वे समुचित विभावों के अभाव के कारण जन्म के भीनर भी (अथवा संसार के मध्य में भी) सदा नहीं रहती । जैसे—रसायन का सेवन करने वाले मुनियों में ग्लानि, आलस्य, श्रम प्रभृति भाव कभी नहीं उठते । विभावों के द्वारा यदि कभी उठते भी हैं तो कारण के क्षय (नाश) हो जाने पर क्षीण होकर संस्कार के रूप में भी शेष नहीं रहते अर्थात् संस्कार के रूप में भी विद्यमान नहीं रहते । उत्साह आदि तो अपने कर्त्तव्य का संपादन करने के बाद विलीन जैसे हो जाने पर भी संस्कार रूप से निःशेष नहीं रहते अर्थात् संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं । क्योंकि अन्य कर्त्तव्यों के विषय में उत्साह आदि की अखण्डता बनी रहती है । जैसाकि पतञ्जलि ने कहा है—

"चैत्र किसी एक स्त्री में अनुरक्त है तो वह अन्य स्त्रियों से विरक्त हो, यह आवश्यक नहीं है अर्थात् वह अन्य स्त्रियों में भी अनुरक्त हो सकता है । (पातञ्जलयोगसूत्र, व्यासभाष्य २।४) ।

व्यभिचारीभाव—इसलिए स्थायीभाव रूप चित्तवृत्ति के सूत्र में पिरोये हुए ये व्यभिचारीभाव उदय और अस्त (उत्पत्ति और विनाश) रूप सैकड़ों, हजारों विचित्र-

---

१. क-भ. म. भावाज्जगन्मध्येऽपि ।

२. क-म. म. विभुतमः ।

तथा हि—ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेन स्थायी तस्य सूच्यते। न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः। अत एव विभावास्तत्रोद्बोधकाः सन्तः स्वरूपोपरञ्जकत्वं विदधाना रत्युत्साहादेरुचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति। न तु तदभावे सर्वथैव ते निरुपाख्याः। वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनोक्तत्वात्। व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्तीति। वितनिष्यते चैतद्यथायोगं व्याख्यावसरे। एवमप्रधानत्वनिरासः स्थायिनिरूपणायां "स्थायिभावान् रसत्वम् (ना. शा. अ-६) इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृतः।

ताओं से अपने स्वरूप को प्राप्त होते हुए लाल-नीले आदि सूत्र (डोरे) में पिरोये हुए विरलभाव से (अलग-अलग) पाये जाने के कारण हजारों भेदों के सम्भव होने से स्फटिक, काँच, अयस्कान्त, पद्मराग, मरकत, महानील आदि मणियों के गुरियों (दानों) के समान उस सूत्र में अपने संस्कार के वैचित्र्य (विचित्र संस्कारों) का समावेश न कराते हुए भी उस सूत्र के द्वारा किये गये उपकार के सन्दर्भ को धारण करते हुए और स्वयं विचित्र अर्थ वाले उस स्थायीभावरूपी सूत्र को चित्रित करते हुए और बीच-बीच में कहीं-कहीं उस शुद्ध स्थायीभावरूपी सूत्र को प्रकाशित होने का अवसर देते हुए पूर्वापर सम्बन्ध से स्थायीभाव रूपी रत्नों की प्रतिच्छवि (प्रतिच्छाया) से शबलित (विचित्रता, चमक) को अवश्य प्राप्त होते हुए प्रतिभासित होते हैं, इसलिए व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं।

और भी—'यह ग्लान है' (अर्थात् मालिन है) ऐसा कहने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि "किससे ग्लानि हो रही है ?" इस प्रकार हेतु विपयक प्रश्न उपस्थित होने से उसका स्थायित्व सूचित होता है। किन्तु 'राम उत्साह शक्ति से युक्त है' ऐसा कहने पर हेतु विषयक प्रश्न उपस्थित नहीं होता। इसलिए विभाव वहाँ उद्बोधक होते हुए उनके स्वरूप को उपरञ्जित करते हुए रति, उत्साह आदि स्थायीभावों के उचित-अनुचित भाव का आवहन करते हैं। किन्तु उन विभावादि के अभाव में वे रत्यादि स्थायीभाव सर्वथा असत् नहीं होते अर्थात् विभावादि के अभाव में भी विद्यमान रहते हैं। वासना के रूप होने से समस्त प्राणियों को उत्साहमय कहा गया है। व्यभिचारीभावों का तो अपने विभावों के अभाव में नाम भी नहीं रहता। इसे हम व्याख्यान के अवसर पर विस्तार से प्रतिपादन करेंगे। इस प्रकार स्थायीभावों के निरूपण के अवसर पर 'स्थायीभावों को रसरूपत्व को प्राप्त करायेंगे' इस सामान्य लक्षण के अङ्गभूत विशेषलक्षण के निरूपण द्वारा 'अप्रधानता' रूप छठें रसविघ्न का निराकरण किया गया है।

तत्रानुभावानां विभावानां व्यभिचारिणां च पृथक्स्थायिनि नियमो नास्ति। बाष्पादेरानन्दाक्षिरोगादिजत्वदर्शनात्। व्याघ्रादेश्च क्रोधभयादिहेतुत्वात्। श्रमचिन्तादेरुत्साहभयाद्यनेकसहचरत्वावलोकनात्। इत्येवं संशयोदये शङ्कात्मकविघ्नशमनाय संयोग उपात्तः। सामग्री (संयोगस्तु) तु न व्यभिचारिणी। तथा हि—बन्धुविनाशो यत्र विभावः परिदेविताश्रुपातादिस्त्वनुभावः [1]चिन्तादैन्यादिर्व्यभिचारी सोऽवश्यं शोक एवेति।

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकी कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपभेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी [2]स्थायिविलक्षण एव रसः।

७. **संशययोग**—उन स्थायीभावों में विभाव अनुभाव और व्यभिचारीभावों का अलग-अलग रहने का कोई नियम नहीं है। क्योंकि आँसू आदि करुण रस के अनुभाव आनन्द तथा नेत्र रोग आदि से भी उत्पन्न होते हैं। व्याघ्र आदि विभाव रौद्र के स्थायीभाव क्रोध और भयानक रस के स्थायीभाव भय के भी हेतु होते हैं। श्रम, चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव उत्साह, भय आदि स्थायीभावों के साथ देखे जाते हैं। संशयात्मक सातवें विघ्न के निराकरण के लिए रससूत्र में संयोग पद उपात्त है अर्थात् रससूत्र में संयोग पद का ग्रहण है। क्योंकि सामग्री अर्थात् संयोग व्यभिचारी (संशयजनक) नहीं हो सकता और जहाँ पर बन्धु का विनाश विभाव है, रोना, आँसू गिरना आदि अनुभाव हैं और चिन्ता, दैन्य आदि व्यभिचारीभाव हैं, वहाँ अवश्य शोक है। इस प्रकार संशययोग नामक सातवें दोष का परिहार हो गया।

रस की विलक्षणता—

अभिनव—लोकव्यवहार में कार्य, कारण और सहकारी रूप अनुमापक हेतुओं के देखने पर स्थायीभाव रूप अन्य की चित्तवृत्ति अनुमान के अभ्यास की कुशलता से इस समय उन्हीं उद्यान, कटाक्ष, अवलोकन आदि अनुभावों के द्वारा लौकिक कारणत्व आदि की भूमि का अतिक्रमण कर विभावन, अनुभावन और

१. क-भ. म. चिन्तादैन्यादिव्यभिचारिणः।

२. क. स्थायिलक्षण एव रस।

[1]ननु यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधीयत, "स्थाय्येव विभावादिप्रत्याय्यो रस्यमानत्वाद्रस उच्यते।" इति। एवं हि लौकिकोऽपि किं न रसः। असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात्तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा वाच्या[2], न रसः। अतएव सूत्रे स्थायिग्रहणं न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति।

[3]औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वावलम्बनात्। तथा[4] हि लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकसंवेदनविलक्षण[5] एव।

उपरञ्जकत्व रूप को प्राप्त, इसलिए अलौकिक विभाव आदि नामों से कहे जाने वाले, कारण आदि रूप पूर्व संस्कारों के उपजीवन के प्रकाशन के लिए विभावादि नाम से निर्दिष्ट और भावाध्याय में भी जिनके स्वरूप एवं भेद कहे जाँयगे इस प्रकार सामाजिक की बुद्धि में गुण और प्रधान भाव से सम्यग् योग (उचित संयोग) अथवा एकाग्रता को प्राप्त करने वाले विभावादि के द्वारा अलौकिक एवं निर्विघ्न संवेदन रूप चर्वणा (आस्वाद) की विषयता को प्राप्त इत्यादि रूप अर्थ, जिसका चर्वणा ही एक मात्र सार है, विद्यमान स्वरूप वाला नहीं अर्थात् आस्वादन काल में ही विद्यमान और चर्वणा के अतिरिक्त काल में न रहने वाला स्थायीभाव से विलक्षण रूप 'रस' होता है।

अभिनव—और जैसा कि शङ्कुक आदि आचार्यों ने कहा था कि 'विभावादि के द्वारा प्रतीत कराया गया स्थायीभाव ही रस्यभाव होने से रस कहा जाता है' यह ठीक नहीं है। इस प्रकार तो लौकिक रत्यादि स्थायीभाव भी रस क्यों नहीं होगा? शङ्कुक के अनुसार विभावादि के द्वारा अनुमेय स्थायीभाव रस है, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि तब तो लौकिक स्थायीभाव भी रस कहलाने लगेगा। क्योंकि जब विद्यमान न रहने पर भी रत्यादि की रसनीयता हो जाती है तो लौकिक पुरुष में जहाँ वास्तव में रत्यादि स्थायीभाव विद्यमान हैं वहाँ रत्यादि की रसनीयता क्यों न मानी जाय? इसलिए लौकिक स्थायीभाव की प्रतीति अनुमिति कहनी चाहिए, न कि रस रूप। इसलिए भरत मुनि ने रससूत्र में स्थायीभाव का ग्रहण नहीं किया है। यदि वहाँ स्थायीभाव का ग्रहण किया जाता तो वह शल्य के समान कष्टदायक होता। केवल औचित्य के कारण ही ऐसा कहा जाता है कि 'स्थायीभाव रस रूप है'।

---

१. क. न तु। २. क. प्राप्या। प्राच्या
३. क-भ. म. अचिन्त्यम्। ४. क. तदा हि।
५. क-म. स्वसंवेदविलक्षण एव।

तथाहि—लौकिकेनानुमानेन संस्कृतः [1]प्रमदादि ताटस्थ्येन प्रतिपद्यते। अपि तु हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात्पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमनारुह्यैव[2] तन्मयीभावोचितचर्वणाप्राणतया। न च सा चर्वणा प्राङ्मानान्तरात् येनाधुना स्मृतिः स्यात्। न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापारः। किन्त्वलौकिकविभावादिसंयोगबलोपनतैवेयं चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधतः तथा योगिप्रत्यक्षजनित[3]तटस्थपरसंवित्तिज्ञानात्सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। [4]एतेषां यथायोगमर्जनादिविघ्नान्तरोदयात्ताटस्थ्येऽस्फुटत्व[5]विषयावेशवैवश्यकृतसौन्दर्यविरहात्।

अभिनव—उस स्थायीभावगत कारणादि रूप से प्रसिद्ध इस समय चर्वणा अर्थात् रसास्वादन के उपयोगी होने के कारण विभावादि रूप से अवलम्बन होने से स्थायीभाव के रसत्व होने का यही औचित्य है। तब लौकिक चित्तवृत्ति के अनुमान से रसत्व माना जा सकता है? इसलिए अलौकिक चमत्कार रूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान तथा लौकिक अनुभूतियों से विलक्षण है, भिन्न है।

अभिनव—और लौकिक अनुमान से संस्कृत सामाजिक प्रमदा आदि को तटस्थ रूप में स्वीकार नहीं करता, अपितु हृदयसंवादात्मक सहृदयता के बल से पूर्ण रसास्वाद के अङ्कुर रूप से अनुमान, स्मृति आदि सोपान परम्परा पर आरोहण किये विना तन्मयी भाव के योग्य चर्वणा (आस्वाद) के प्राणरूप विभावादि को स्वीकार करता है। और वह चर्वणा पूर्व में किसी अन्य प्रमाण से स्थित नहीं है जिससे उसे स्मृति कहा जाय। इसमें लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यापार भी नहीं होता है, अपितु अलौकिक विभावादि के संयोग बल से यह चर्वणा प्राप्त होती है। और वह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि लौकिक प्रमाण से उत्पन्न रत्यादि के बोध (ज्ञान) से तथा योगिप्रत्यक्ष से जन्म (उत्पन्न) तटस्थ पर संवेदन रूप ज्ञान से एवं और समस्त विषयों के प्रति रागशून्य (वैराग्य युक्त) शुद्ध परम योगी में रहने वाले शुद्ध, एकधन आत्मानन्द के अनुभव से विलक्षण होता है। क्योंकि इनमें यथायोग्य अर्जन आदि विघ्नों के आ जाने से, तटस्थ एवं अस्पष्टता की स्थिति में विषयावेश की विवशता के कारण सौन्दर्य का विरह (अभाव) हो जाता है।

१. क. प्रमदादिना ताटस्थ्येन।
२. क. सोपानमारुह्यैव। क–म. सोपानमारुह्यैव।
३. क-भ. पुस्तके 'तटस्थ' इति पदं नास्ति।
४. क-भ. म. एतासाम्।
५. क. वेशिमिवावश्य।

अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासंभवात् न विषयावेशवैवश्यम् स्वानुप्रवेशात् परत्परगतत्वनियमाभावात् न ताटस्थ्यास्फुटत्वे तद्विभावादिसाधारण्यवशसंप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च न विघ्नान्तरादीनां सम्भव इत्यवोचाम बहुशः।

अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य। तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गात्।

नापि ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्ह्येतद्धि विभावादय इति। अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः।

क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद्भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्।

नन्वेवं रसोऽप्रमेयः स्यादेवम्। युक्तं भवितुमर्हति। रस्यतैकप्राणो ह्यसौ न प्रमेयादिस्वभावः। तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ? नेयं रसस्य, अपि तु तद्विषयरसनायाः तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः।

अभिनव – यहाँ तो अपने में रहने के नियम के संभव न होने से विषयावेश की विवशता नहीं होती; अपने का उसमें अनुप्रवेश होने से और परगतत्व के नियम का अभाव होने से तटस्थ एवं अस्पष्ट प्रतीति (अनुभूति) नहीं होती; उन विभावादि के साधारणीकरण हो जाने और उचित रूप से प्रबुद्ध अपनी रत्यादि वासना के आवेश के कारण अन्य (अर्जनादि) विघ्नों की संभावनाएँ नहीं रहती, यह अनेक बार कह चुका हूँ।

अभिनव—इसलिए विभावादि रसनिष्पत्ति के हेतु (कारण) नहीं हैं क्योंकि उनके ज्ञान के न होने पर भी रस (निष्पत्ति) की संभावना बनी रहती है। किन्तु विभावादि के ज्ञान के बिना रस की निष्पत्ति नहीं देखी जाती।

अभिनव और विभावादि रस के ज्ञापक हेतु भी नहीं हैं। जिससे प्रमाणों में उनकी गणना की जाय। क्योंकि पहिले से सिद्ध प्रमेयभूत रस की सत्ता नहीं है तो फिर ये विभावादि क्या हैं ? इस प्रकार चर्वणा (आस्वाद) के उपयोगी यह विभावादि व्यवहार अलौकिक है।

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि इस प्रकार का पदार्थ अन्यत्र कहाँ देखा है ? इस पर कहते हैं कि यह तो रस की अलौकित्व सिद्धि में हमारे लिए भूषण है। जैसे पानक रस का स्वाद उसके अङ्गभूत गुड़-मिर्च आदि में कहाँ देखा जाता है ? यह दोनों में समान है।

सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः। स्वयं तु नाप्रामाणिकः, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।

अभिनव—अब पुनः प्रश्न उठता है कि इस प्रकार रस प्रमेय नहीं हो सकता, यह कथन ठीक हो सकता है। क्योंकि उसका प्राणतत्त्व रसमयता है, प्रमेय रूप नहीं हैं। तो रस सूत्र में 'निष्पत्ति' क्यों कहा गया? उत्तर यहाँ रस की निष्पत्ति नहीं कही गई है, अपितु उसके विषयभूत आस्वाद (रसना) की निष्पत्ति कही गई है और उसके निष्पत्ति से यदि केवल उस रसना पर आश्रित रस की निष्पत्ति कही जाती है तो इसमें कोई दोष नहीं है।

अभिनव—वह रसना (आस्वाद) न तो ज्ञापक हेतु रूप प्रमाण व्यापार है और न कारक व्यापार है और स्वसंवेदन रूप होने के कारण उसे अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अतः रसना (चर्वणा) बोध रूप ही है। किन्तु विभावादि उपायों के लौकिक विलक्षणता के कारण अन्य लौकिक प्रमाणों (ज्ञानों) से विलक्षण है, भिन्न है। क्योंकि विभावादि के संयोग से रसना (आस्वादन) की निष्पत्ति होती है। इसलिए उस प्रकार आस्वाद (रसना) का विषयभूत लोकोत्तर अर्थ 'रस' है, यह सूत्र का तात्पर्य है।

विमर्श—अभिनव ने अपनी व्याख्या में रससूत्र के अनेक व्याख्याकारों के मतों को प्रस्तुत कर उनका खण्डन किया है। इस पर पूर्वपक्षी की ओर से यह प्रश्न होता है कि आपने तो सभी मतों का खण्डन कर डाला है तो आप ही बतायें कि ऐसी स्थिति में रसतत्त्व कहाँ रहेगा? इस पर अभिनव कहते हैं कि रसतत्त्व कहीं रहे या न रहे, इस विषय में हम क्या कर सकते हैं? उनका अभिप्राय रस का खण्डन करना नहीं है, अपितु संशोधन करना है। उनका कहना है कि मैंने सभी व्याख्याकारों के मत की आलोचना की है किन्तु इससे रसतत्त्व का खण्डन नहीं होता है; क्योंकि रसतत्त्व तो आम्नाय से सिद्ध है, वेद प्रमाण से प्रतिपादित है। मत-मतान्तरों की आलोचना से आम्नाय सिद्ध अर्थ का खण्डन नहीं होता, अपितु परिमार्जित होकर उसका प्रामाणिक स्वरूप निखर कर सामने आ जाता है। तो फिर उसका परिशुद्ध स्वरूप क्या है? इस पर कहते हैं कि भरतमुनि ने स्वयं उस परिशुद्ध तत्त्व को कह दिया है हमें कोई नई बात नहीं कहनी है। जैसा कि भरतमुनि ने कहा है कि 'काव्य के अर्थो को प्रकाशित करते हैं' और यही काव्यार्थ रस है। काव्य का यही अर्थ सारभूत तत्त्व है। यही काव्य की आत्मा है।

अभिनव के अनुसार काव्यार्थ का अधिकारी सहृदय सामाजिक होता है। उनका कहना है कि सहृदय को काव्य में वर्णित विभावादि की साधारण प्रतीति से विलक्षण साक्षात्कारात्मक अनुभूति होती है। यह अनुभूति सामाजिकों की स्थायीभावों के आधार पर समान रूप से भावित होती है, और यह आनन्दानुभूति सामान्य जीवन के अनुभवों से विलक्षण होती है। मानस की यह साक्षात्कारात्मक रसानुभूति अध्यवसाय, संकल्प और स्मृति के रूप में प्रतीत होती है। यह साक्षात्कारात्मक अनुभूति आनन्दस्वरूप होती हैं। इसमें रत्यादि भावों का मान भी होता हैं। इसलिए यह काव्यात्मक अनुभूति लौकिक, मिथ्या, अनिर्वचनीय, लौकिक-सदृश या उसके आरोपादि रूप से विलक्षण प्रतीति रूप है। अभिनव के अनुसार यह साक्षात्कारात्मक अनुभूति ही सकलविघ्नविनिर्मुक्त चमत्कार, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि नामों से अभिहित की जाती है।

अभिव्यक्तिवाद—अभिनवगुप्त अभिव्यक्तिवादी आचार्य हैं। उनके मतानुसार भरत के रस सूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध' और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। उनके मत में विभाव, अनुभाव, सञ्चारिभाव के साथ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध से रस की अभिव्यक्ति होती हैं अर्थात् विभावादि के व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध से रत्यादि स्थायीभाव रस के रूप में अभिव्यक्त होता हैं।

आचार्य मम्मट ने भी अभिनवगुप्त का मत काव्यप्रकाश में उद्धृत किया है। काव्य-प्रकाश के अनुसार "लोक में प्रमदा आदि के द्वारा रत्यादि स्थायीभाव के अनुमान करने में निपुण सामाजिकों को काव्य और नाटक में कारणत्व आदि के परिहार से विभावन आदि व्यापार से युक्त होने से अलौकिक विभावादि शब्दों से व्यवहृत किये जाने वाले 'ये मेरे ही हैं' 'ये शत्रु के हैं' 'ये तटस्थ के हैं' 'ये मेरे नहीं हैं' 'ये शत्रु के नहीं हैं' 'ये तटस्थ के नहीं हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष के स्वीकार करने अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण रूप से प्रतीत होने वाले से अभिव्यक्त सामाजिकों में वासना के रूप में स्थित रत्यादि स्थायीभाव नियतप्रमातृ-रूप से स्थित होने पर भी साधारण उपायों के बल से उसी समय परिमित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने के कारण वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य अपरिमित प्रमातृभाव के उदय होने से प्रमाता के द्वारा समस्त सहृदयों में समान अनुभव से युक्त सामान्य रूप से अपन आकार के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता हुआ आस्वादन स्वरूप वाला, विभावादि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला, पानकरस के समान आस्वाद्यमान सामने परिस्फुरित होता हुआ सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा, सारे अङ्गों को स्पर्श करता हुआ सा, अन्य सबको तिरोभूत करता हुआ सा, ब्रह्मानन्द का अनुभव कराता हुआ सा अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाला शृङ्गार आदि रस कहा जाता है।"[१]

---

१. डा० पारसनाथ द्विवेदी कृत—काव्यप्रकाश की टीका देखिये—पृ० १४१-१४२।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार काव्य और नाटक में प्रमदा आदि कारण, कार्य और सहकारी आदि विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभाव के नाम से व्यवहृत किये जाने वाले इन्हीं विभावादि के द्वारा सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान रत्यादि स्थायीभाव व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव संबन्ध से शृङ्गारादि रस के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यही रसाभिव्यक्ति रसचर्वणा है।

इस प्रकार सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान स्थायीभाव नियत प्रमातृगत अर्थात् व्यक्तिविशेष में स्थित होने पर भी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से रहित विभावादि के द्वारा काव्य और नाटक में उनका साधारणीकरण हो जाता है। जिससे वेद्यान्तर-सम्पर्क-शून्य की स्थिति हो जाती है, उससे स्वगत, परगत, तटस्थ भेद से रहित हो जाता है। उस समय अभिनेय रामादि को व्यक्तिगत विशेषताएँ हटकर साधारण पुरुष आदि के रूप में भान होता है उसके साथ ही रत्यादि भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है। तब समस्त सामाजिकों के हृदय में समान अनुभूति होती है। उस समय सामाजिक का व्यक्तित्व अपरिमित हो जाता है और परिमित प्रमातृभाव विगलित हो जाता है। उसकी व्यक्तिगत भावना मिट जाती है। तब उसे रस का आस्वादन होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि रस आस्वादरूप है और रत्यादि स्थायीभाव का ही रस के रूप में आस्वादन होता है तो जब रत्यादि का ही आस्वादन होता है तो रस का आस्वादन होता है ऐसा क्यों कहा जाता है? इस पर कहते है कि रस का आस्वादन होता-है अतः रस आस्वाद्य है। फिर भी उसे आस्वाद कहते हैं। यह आस्वाद रूप रस आस्वाद्यमान कहा जाता है। इस प्रकार रस आस्वाद और आस्वाद्यमान में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। इस प्रकार रस का स्वरूप आस्वाद रूप है और इसका आस्वादन तभी तक होता है जब तक विभावादि रहते हैं। विभावादि के न रहने पर रसास्वादन नहीं होता। इस प्रकार रस का आस्वादन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पानक रस का आस्वादन होता है। भाव यह कि जिस प्रकार इलायची, कालीमिर्चं, शक्कर आदि के मिश्रण से निर्मित पानक रस का स्वाद इलायची, आदि के स्वाद से भिन्न विलक्षण होता है उसी प्रकार विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त रस विभावादि से विलक्षण अलौकिक आस्वाद रूप होता है। इस प्रकार रस का आस्वाद पानक रस के समान विलक्षण एवं अलौकिक एवं अनिर्वचनीय होता है।[1]

इस प्रकार यह आस्वाद्यमान रस सहृदयों के हृदय में लौकिक जीवन के अनुभवों से विलक्षण अनुभूति कराने वाला अलौकिक चमत्कारजनक है। उस समय सहृदय वेद्यान्तरसम्पर्क-शून्य, सहृदयसंवेद्य, चमत्कारैकप्राण, स्वयंप्रकाश, आनन्द स्वरूप अखण्ड रस का आस्वादन करता है। यह आस्वाद ब्रह्मास्वादसदृश चमत्कारात्मक आस्वाद है, यह आस्वाद ही रस है और यही अनुभूति है।

१. डॉ० पारसनाथद्विवेदी कृत—काव्यप्रकाश की टीका पृ० १४२-१४३।

अभिनवगुप्त को रस के अभिव्यक्तीकरण की प्रेरणा अग्निपुराण से मिली है। यद्यपि अग्निपुराण में रससूत्र की व्याख्या नहीं की गई है, किन्तु रस की व्याख्या की गई है। अग्निपुराण में अभिमान से रति की अभिव्यक्ति बताई गई है और व्यभिचारी आदि (भावों) को परिपोषक। (अभिमानद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी। व्यभिचार्यादिसागान्याच्छृङ्गार इति। अग्नि० ४१४)। अग्निपुराण के अनुसार अभिमान से ही रति की अभिव्यक्ति होती है और वही रति व्यभिचारी आदि भावों से परिपोषित शृङ्गार रस है। अग्निपुराण के रस लक्षण (४१२) में 'व्यज्यते' और 'व्यक्तः' दो शब्द आये हैं। दोनों अभिव्यक्ति अर्थ को प्रकट करते है। अग्निपुराण के अनुसार परब्रह्म परमेश्वर सहज आनन्दरूप है। उस सहज आनन्द की अभिव्यक्ति कभी-कभी होती है। उसी अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य, चमत्कार या रस है। उसका प्रथम विकार महान् है। उसी से अभिमान या अहङ्कार की अनुभूति होती है और अभिमान से रति की अभिव्यक्ति होती है और वही अभिव्यक्ति रूप रति व्यभिचार्यादिभावों से परिपोषित शृङ्गार है और शृङ्गार ही रस है। अग्निपुराण का अभिमान उत्तेजनाजन्य मिथ्या गर्व नहीं है यह आत्मनिष्ठ विशेष गुण है जो रस्यमान होने रस कहा जाता है। वह मनुष्य को शृङ्ग तक पहुँचा देता है इसलिए शृङ्गार कहा जाता है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार अभिमान या अहङ्कार ही रस है और वही शृङ्गार है। सहृदय द्वारा उनकी अनुभूति होती है और यह अनुभूति ही अस्वाद है, यही चैतन्य, चमत्कार है और यही रस है।[1]

इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार अहङ्कार रूप शृङ्गार ही रस है। इसी शृङ्गार से कामशृङ्गार, हास्य आदि अन्य रसों की अभिव्यक्ति होती है। वे अपने-अपने स्थायीभावों की विलक्षणता से अलग-अलग प्रतीत होते हैं।

रस की अलौकिकता—

अभिनवगुप्त ने भट्टलोल्लट आदि आचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि भट्टलोल्लट के अनुसार विभावादि से उपचित स्थायीभाव रस नहीं कहलाता और न शङ्कुक के अनुसार विभावादि से अनुमित स्थायीभाव रस होता है अपितु स्थायीभाव से विलक्षण रस होता है। उनका कहना है कि स्थायीभाव व्यक्त अथवा अव्यक्त अवस्था में सदा विद्यमान रहता है किन्तु रस की स्थिति केवल प्रतीति के समय तक ही रहती हैं। प्रतीति या अनुभूति के पूर्व या बाद में उसकी उपस्थिति नहीं रहती। जबकि स्थायीभाव संस्कार के रूप में सदा विद्यमान रहता है। अतः स्थायीभाव को रस नहीं कहा जा सकता है। यह रस तो अलौकिक चमत्कार स्वरूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान तथा लौकिक प्रत्यक्षादि से विलक्षण होता है और विभावादि तो रसानुभूति में सहायक हैं उपकारक हैं। इसीलिए भरतमुनि ने रससूत्र में स्थायीभाव का उपादान नही किया है।

१. डा० पारसनाथद्विवेदीकृत—'अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् की व्याख्या देखिये— अध्याय चतुर्थ, पृष्ठ ७१-७५।

अभिनवगुप्त के अनुसार रस अलौकिक है। लोक में दो प्रकार के कारण होते हैं—कारक और ज्ञापक। उनके कार्य भी दो होते हैं–कार्य और ज्ञाप्य। अभिनव के अनुसार रस न कार्य है और न ज्ञाप्य, अपितु दोनों से विलक्षण अलौकिक है। क्योंकि रस को यदि हम कार्य मानते हैं तो उसका कोई न कोई कारण होना चाहिए। विभावादि को उसका कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विभावादि के नष्ट हो जाने पर रस का अस्तित्व होना चाहिए किन्तु विभावादि रूप कारण के नष्ट हो जाने पर रस रूप कार्य नहीं रहता। अतः रस कार्य नहीं है। रस ज्ञाप्य भी नहीं है, क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के पूर्व विद्यमान रहता हैं और बाद में भी, किन्तु रस का अस्तित्व न तो अनुभव के पूर्व रहता है और न बाद में, अतः रस ज्ञाप्य नहीं है।

इस प्रकार रस जब कार्य नहीं है तो उसका कारण कारक भी नहीं है और रस जब ज्ञाप्य नहीं तो उसका कारण ज्ञापक भी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि कारक और ज्ञापक हेतुओं से भिन्न तीसरा हेतु क्या कहीं देखा गया है? तो इसका उत्तर होगा कि 'कहीं नहीं'। यही तो इसकी अलौकिकता है।

इस प्रकार रस की अलौकिकता का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस विभावादि कारणों से उत्पन्न नहीं होता। अतः कार्य नहीं है और विभावादि उसके कारक हेतु नहीं है। क्योंकि विभावादि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी रस की संभावना बनी रहती है। (**अतएव विभावादिनाशे विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गात्**)। इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है और न विभावादि रस के ज्ञापक हेतु हैं। क्योंकि पूर्वसिद्ध घट के समान प्रमेयभूत रस का पूर्व अस्तित्व नहीं रहता (**नापि ज्ञप्तिहेतवः, येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्**)। इस प्रकार लौकिक विषयों से भिन्न होना रस की अलौकिकता सिद्धि का भूषण है। अतः रस न कार्य है और न ज्ञाप्य है, अपितु इन दोनों से विलक्षण अलौकिक पदार्थ है।

इस प्रकार रस लौकिक ज्ञान से सर्वथा विलक्षण संवेदन का विषय है। लौकिक ज्ञान तीन प्रकार के कहे गये हैं—१–प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त लौकिक वस्तुओं का साक्षात्कारात्मक ज्ञान। २–प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान। यह युञ्जान नामक योगियों का ज्ञान है। जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना सविकल्प समाधि में होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है। ३– मितेतर ज्ञान। यह निर्विकल्पक समाधि में स्थित सिद्धयोगियों का ज्ञान है। यह ज्ञान वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य आत्मानुभूतिमात्र है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। किन्तु रसानुभूति इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण अलौकिक है। इस प्रकार रसानुभूति (आस्वाद) ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से रहित विलक्षण है। अलौकिक है, अनिर्वचनीय है, और आनन्दरूप है।

अयमत्र संक्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तत्रापि लौकिकात्रावलोकिता देशकालानियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्माऽपि तद्वासनावत्त्वादनुप्रविष्टः। अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियतकारणतया। येनार्जनाभिषङ्गादिसम्भावना। न च नियतपरात्मैकगततया। येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरभूता रतिः शृङ्गारः। साधारणी भावना च विभावादिभिरिति।

तत्र विभावप्राधान्येन[1] साधारणीभावो यथा—

"केलीकन्दलितस्य विभ्रममधोः धुर्यं वपुस्ते दृशो-
भंङ्गीभङ्गुरकामकार्मुकमिदं भ्रूनर्मकर्मक्रमः।
[2]आघ्रातोऽपि विकारकारणमहो वक्त्राम्बुजन्माऽऽसवः
सत्यं सुन्दरि [3]वेधसस्त्रिजगतीसारः त्वमेका कृतिः॥"

अभिनव—यहां संक्षेप में यह कहा गया है कि मुकुट, पगड़ी आदि के द्वारा नट की बुद्धि आच्छादित हो जाती है। प्राक्तन (पूर्वकाल के, प्राचीन) प्रगाढ़ ज्ञान-संकारों और काव्य के बल से लाई गई भी राम बुद्धि ('रामोऽयम्' 'यह राम है' इस प्रकार की बुद्धि) उसमें विश्रान्त नहीं होती, स्थिर नहीं होती। इसलिए दोनों अर्थात् अनुकार्य और अनुकर्त्ता से सम्बद्ध देश-काल का त्याग हो जाता है और रोमाञ्च आदि अधिकतर रति को प्रतीति कराने वाले रूप में देखे गये है फिर भी वे रोमाञ्च आदि देश-काल के नियम के विना रति की प्रतीति कराते हैं जिसमें अपनो आत्मा भी वासना (संस्कार) युक्त होने के कारण अनुप्रविष्ट है। इसलिए तटस्थ रूप से रति की प्रतीति नहीं होती और न नियत (निश्चित) कारणों से रत्यादि की प्रतीति होती है जिससे अर्जन विषयक आवेश आदि विघ्नों की सम्भावना हो और नियत रूप से परगत रूप से उसकी प्रतीति होती है जिससे सुख-दुःखादि की उत्पत्ति हो। इसलिए साधारणीभूत सन्तानवृद्धि (चित्तप्रवाह) अथवा एक ही ज्ञान का प्रत्यक्ष रूप रति शृङ्गार है। यह साधारणीकरण विभावादि के द्वारा होता है।

उनमें विभाव-प्रधान साधारणीकरण का उदाहरण। जैसे—

१. क. विभावप्राधान्यस्य धामणिमया।

२. क. आपातेऽपि।

३. क–भ. म. बोधशास्त्र।

अत्र च विभावकृतं तत्सौन्दर्यं प्राधान्येन भाति। तदनुगतत्वेन केलीविभ्रमभङ्गुरनर्मवचोमहिम्ना चानुभाववर्गो भङ्गीक्रमविकारादिशब्दबलाच्च व्यभिचारिवर्गः प्रतिभातीत्यत एव नास्फुटत्वाशङ्काऽत्र रत्यास्वादमये शृङ्गारे विधेया।

अनुभावप्राधान्यं यथा शुद्धसारस्वतप्रवाहपवित्रसकलवाङ्मयमहार्णवपूर्णभावसंपादनात् द्विजराजस्येन्दुराजस्य —

"यद्विश्रम्य विलोकितेषु बहुशो निस्थेमनी लोचने
यद्गात्राणि दरिद्रति प्रतिदिनं लूनाब्जिनीनालवत्।
दूर्वाकाण्डविडम्बकश्च निबिडो यत्पाण्डिमा गण्डयोः
कृष्णे यूनि सयौवनासु वनितास्वेषैव वेषस्थितिः॥" इति।

अत्र विश्रम्येति बहुश इति प्रतिदिनमिति च पदसमर्पितो [1]व्यभिचारिगणः कृष्ण इत्यादिपदार्पितश्च विभावो गुणत्वेन प्रतिभासते। विश्रान्तिलक्षणस्तम्भविलोकनवैचित्र्यगात्रतानवतारतम्यपुलकवैवर्ण्यप्रभृतिस्त्वनुभावसञ्चयः प्रधानतया।

अभिनव—"हे सुन्दरि! तुम्हारा शरीर केलिक्रीड़ा से अङ्कुरित हाव-भाव रूपी मधु को धारण करने वाला है, आँखों की भङ्गिमा से युक्त भौहों का विलास (सकटाक्ष निरीक्षण), काम का भञ्जक धनुष है, तुम्हारे मुखरूपी कमल से उत्पन्न आसव केवल सूंघने से ही विकार को उत्पन्न करने वाला है। हे सुन्दरि! तुम सचमुख तीनों लोकों की सारभूत विधाता (ब्रह्मा) की एकमात्र रचना हो।"

अभिनव—यहाँ पर विभाव नायिका का सौन्दर्य प्रमुखरूप से सुशोभित हो रहा है और केलि, विभ्रम, भङ्गुर, नर्मकथन आदि शब्दों की महिमा से अनुभाववर्ग और भङ्गी, क्रम, विकार आदि शब्दों के सामर्थ्य से व्यभिचारीवर्ग उस विभाव के अनुगामी प्रतीत हो रहे हैं। इसलिए रति के आस्वादरूप शृङ्गार में अस्पष्टता की शङ्का नहीं करनी चाहिए।

अभिनव—अनुभाव की प्रधानता का उदाहरण जैसे—शुद्ध सारस्वत (सरस्वती) के प्रवाह से पवित्र समस्त वाङ्मय रूपी महासागर को परिपूर्ण करने वाले द्विजश्रेष्ठ इन्दुराज का यह पद्य है—

अभिनव—"गोपियों की जो आँखे रुक-रुक कर देखने में स्थिर नहीं हो पा रही हैं, कटे हुए (टूटे हुए) कमलिनी के नाल के समान जिसके अङ्ग प्रतिदिन क्षीण होते जा रहे है, दूर्वाङ्कुर के समान कपोलों पर जो गहरी पीलिमा (पीलापन) है। वह श्री कृष्ण के युवक होने तथा गोपियों के युवती होने के कारण उनके वेश (वेष) की स्थिति है।"

१. क–भ. व्यभिचारिणः।

व्यभिचारिणां तु प्राधान्यं तद्विभावानुभावप्राधान्यकृतम् । तत्राद्यम् । यथा महाकवेः कालिदासस्य[1]—

"आत्तमात्तमधिकान्तमीक्षितुं[2]कातरा शफरशङ्किनी जहौ ।
अञ्जलौ जलमधीरलोचना लोचनप्रतिशरीरलाञ्छितम् ।"

इत्यत्र सुकुमारप्रमदाजनभूषणभूतस्य व्यभिचारिवर्गस्य वितर्कत्रासशङ्कादेः प्राधान्यं तद्विभावानां प्राधान्यात् सौन्दर्यातिशयकृतम् । आत्तमित्याद्यर्पितानुभाववर्गस्तु तदनुयायी ।

एवं द्वयप्राधान्ये चोदाहार्यम् । किन्तु समप्राधान्य एव रसास्वादस्योत्कर्षः । तच्च प्रबन्ध एव भवति । वस्तुतस्तु दशरूपक एव । यदाह वामनः—"सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः । तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात् ।" (काव्यालङ्कारसूत्र १।३।३०-३१) इति ।

अभिनव—यहाँ पर 'विश्रम्य' 'बहुशः' और 'प्रतिदिनम्' इत्यादि पदों से व्यभिचारीभाव और 'कृष्णः' इत्यादि पद से विभाव गौणरूप से व्यञ्जित हो रहे हैं । विश्रान्ति रूप स्तब्धता, अवलोकन की विचित्रता, शरीर की दुर्बलता का तारतम्य, रोमाञ्च और विवर्णता आदि अनुभाववर्ग प्रधान रूप से व्यक्त हो रहे हैं ।

व्यभिचारीभावों की प्रधानता विभाव और अनुभावों की प्रधानता से व्यक्त होती है । उनमें पहिले का उदाहरण महाकवि कालिदास का यह श्लोक है—

अभिनव—"चञ्चल नेत्रों वाली नायिका प्रियतम के ऊपर फेंकने के लिए बार-बार हाथ में लिए हुए नेत्रों के प्रतिबिम्ब से युक्त जलको मछली समझकर छोड़ देती है,"

अभिनव—यहाँ पर सुकुमार नायिकाओं के आभूषण रूप वितर्क, त्रास, शङ्का आदि व्यभिचारीभावों की प्रधानता उनके विभावों की प्रधानता से उनके सौन्दर्यातिशय के कारण प्रतीत हो रहा है। यहाँ पर 'आत्त-आत्त' पदों के बार-बार ग्रहण होने से अनुभाव वर्ग व्यभिचारी भावों का अनुगामी प्रतीत होता है ।

अभिनव—इस प्रकार दो-दो की प्रधानता के उदाहरण भी समझना चाहिए । किन्तु तुल्यप्रधानता में ही रसास्वाद का उत्कर्ष होता है और वह (समप्रधानताजन्य उत्कर्ष) प्रबन्ध-काव्य में ही होता है। वस्तुतः यह उत्कर्ष दश रूपकों में ही होता है। जैसा कि वामन ने कहा है कि—"प्रबन्ध-काव्यों में दश रूपक ही श्रेष्ठ होते हैं । क्योंकि वे चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने से विचित्र होते हैं"। (काव्यालङ्कार सूत्र १।३।३१-३१) ।

१. क. कलशकस्य ।
२. क. मुक्षितुं ।

[1]तद्रूपरसचर्वणया तु प्रबन्धे भाषावेषप्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य 'ईदृगत्र वक्तास्मिन्नवसरे' इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते।

तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृदनपेक्षितनाट्यमपि। तेषामपि तु नाट्यं "निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः" इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानां च तदेव नैर्मल्याधायि। यत्र [2]पतिता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति [3]नाट्योपकरणात्।

तत्र च नटो ध्यायिनामिवेदं ध्यानपदम्। न हि तत्रायमेव सिन्दूरादिमयो वासुदेवः स्मरणीय इति प्रतिपत्तिः। अपि तु तदुपायद्वारेणातिस्फुटीभूतसङ्कल्पगोचरो देवताविशेषो ध्यायिनां फलकृत्। तद्वन्नटप्रक्रियाद्वारोदिताऽतिस्फुटाध्यवसायविषयीकृतो नियतदेशकालाद्यस्पृष्टो 'अत इदं फलम्' इति विधि-

इस प्रकार प्रबन्ध-काव्यों में भाषा, वेष, प्रवृत्ति, औचित्य आदि की कल्पना के द्वारा रस-चवर्णा का उत्कर्ष होता है और मुक्तक काव्यों में ही प्रबन्धकाव्य के आश्रित होने से उसी प्रकार रस चवर्णा होती है और उनमें सहृदय व्यक्ति पूर्वपर की उचित परिकल्पना करके 'यहाँ पर इस प्रकार का वक्ता हैं, इस अवसर पर (यह कहा)' इत्यादि बहुत सी भूमिकाओं का विधान करते हैं।

अभिनव—इसलिए जो काव्य के अभ्यास तथा पूर्वजन्म के पुण्य आदि हेतुओं के प्रभाव से सहृदय पुरुष हैं उनके परिमित विभाव आदि के उन्मीलन होने पर ही अत्यन्त स्पष्ट साक्षात्कारकल्प काव्यार्थ स्फुरित होता है अर्थात् रस की अनुभूति होती है। इसलिए नाट्य की अपेक्षा न करके काव्य ही उनके लिए प्रीति (आनन्द) तथा व्युत्पत्ति को करने वाला है। उनके लिए भी नाट्य "जिस प्रकार मणि आदि पदार्थों पर पड़कर चन्द्रमा की किरणें और अधिक प्रकाशित होती हैं" इस सिद्धान्त के अनुसार और अधिक निर्मल करने वाला होता है। केवल सहृदय ही नहीं अपितु असहृदय लोगों के लिए भी यह नाट्य निर्मलता का आधान करने वाला होता है अर्थात् असहृदयों के हृदय को भी निर्मल बना देता है। यहाँ नाट्य का उपकरण होने से अथवा (पाठभेद से) नित्य प्रयोग (अभ्यास) के कारण गीत, वाद्य, गणिका आदि व्यसन रूप नहीं होते।

१. क–म. तद्रूपसमर्पणया। २. क. प्रतीता।
३. क. नाट्योपलक्षणात्। नित्योपकरणात्।

स्थानीयोऽर्थो व्युत्पत्तिं वितरति। [1]यत्र दृश्येऽभिनयादौ चित्तवृत्त्यादौ वा न बाधकोदयः। सम्यग्ज्ञानभूतं ह्येवेदं पूर्णम्। तेन राम इत्येव प्रतीतिर्न त्वयं रामोऽन्योऽयमिति। स्फुटीकरिष्यते चैतदग्रतः।

यहाँ नाट्य में नट की स्थिति ध्यान करने वालों के ध्यान के आधार मूर्त्ति के समान है। वहाँ सिन्दूर आदि से लिप्त वासुदेव स्मरणीय हैं, इस प्रकार की प्रतिपत्ति नहीं होती। अपितु सिन्दूरादि उपायों के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट रूप से संकल्प का विषय होकर देवताविशेष ध्यान करने वालों को फल प्रदान करता है। उसी प्रकार नाट्य की प्रक्रिया द्वारा अत्यन्त स्फुट रूप में उत्पन्न अध्यवसाय (ज्ञान) का विषय होकर नियत देश-काल आदि की सीमा के स्पर्श से मुक्त विधि स्थानीय अर्थ "इससे यह फल मिलता है" इस प्रकार व्युत्पत्ति (बोध) कराता है। जहाँ दृश्य अभिनय आदि में अथवा तज्जन्य चित्तवृत्ति आदि में कोई बाधक उपस्थित नहीं होता। अतः यह ज्ञान सम्यग्ज्ञान और पूर्णरूप है। इसलिए 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। 'यह राम से भिन्न है' 'यह नट है' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। आगे इस बात को स्पष्ट करेंगे।

साधारणीकरण—

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि नट जब मुकुट आदि धारण कर रङ्गमञ्च पर उपस्थित होता है तो अनुकर्त्ता और अनुकार्य के मध्य सामाजिक की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है और वह दोनों (अनुकर्त्ता और अनुकार्य) के देश-काल की भावना को भूल जाता है। उस समय उसे न यह भान होता है कि 'यह राम है' और न यही भान होता है कि 'यह राम नहीं हैं, नट है'। ऐसी स्थिति में वह उसके (सामाजिक के) अन्तःकरण में संस्कार के रूप में रक्षित स्थायीभाव स्वपरभाव को भूलकर साधारणीकृत हो जाते हैं। यही साधारणीकरण की स्थिति रसानुभूति की स्थिति कही जा सकती है। यह साधारणीकरण की स्थिति दो रूपों में ग्रहण की जा सकती है। क्षणिकतावादी बौद्धों के अनुसार धारा-प्रवाह रूप चित्तवृत्ति का साधारणीकरण होता है और स्थिरतावादी नैयायिकों के अनुसार ज्ञान के विषयभूत रत्यादि का साधारणीकरण होता है। यह साधारणीकरण विभावादि के द्वारा होता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार इनमें कभी विभाव की प्रधानता के कारण साधारणीकरण की स्थिति उत्पन्न होती है। जैसे—"केलीकन्दलितस्य" इत्यादि उदाहरण में विभाव की प्रधानता है और उसका सौन्दर्य प्रमुख रूप से व्यक्त हो रहा है। इसमें केलि, विभ्रम आदि के द्वारा अनुभाव और भङ्गीक्रम, विकार आदि के द्वारा व्यभिचारीभाव उस विभाव के अनुगामी प्रतीत हो रहे हैं।

---

१. क. युते (यत्र) दृश्या (दृश्येऽ) न्यनियभादौ।

तत्रालौकिकोऽयमर्थो न दृष्टान्तमन्तरेण हृदयङ्गमो भवेदित्याशयेनाह—दृष्टान्त इति।

इसी प्रकार कभी कभी अनुभाव की प्रधानता से साधारणीकरण की स्थिति व्यक्त होती है। जैसे—"यद्विश्रम्य विलोकितेषु" इत्यादि उदाहरण में अनुभाव की प्रधानता है। यहाँ विश्रान्ति रूप स्तब्धता, अवलोकन की विचित्रता, शरीर की दुर्बलता का तारतम्य, रोमाञ्च आदि अनुभाव प्रधानरूप से व्यक्त हो रहे हैं। इसमें 'विश्रम्य' 'बहुशः' आदि पदों से व्यभिचारीभाव और 'कृष्ण' पद से विभाव अप्रधान रूप से प्रतीत हो रहे हैं।

इसी प्रकार कभी कभी व्यभिचारीभाव की प्रधानता से साधारणीकरण की स्थिति व्यक्त होती हैं। व्यभिचारीभावों की प्रधानता विभावों और अनुभावों की प्रधानता से व्यक्त होती है। विभाव की प्रधानता से व्यभिचारीभाव की प्रधानता किस प्रकार व्यक्त होती है? इसका उदाहरण कालिदास के 'आत्तमात्तम्' इत्यादि पद्य में व्यक्त है। यहाँ नायिका के सौन्दर्य की सुकुमारता से उसके आभूषणरूप वितर्क, त्रास, शङ्का आदि व्यभिचारीभावों की प्रधानता व्यक्त होती है और 'आत्त आत्त' पदों को बार-बार ग्रहण होने से अनुभाव व्यभिचारीभावों के अनुगामी प्रतीत होते हैं।

इसी प्रकार दो-दो की प्रधानता का उदाहरण भी समझना चाहिए। किन्तु दोनों की समप्रधानता में रसास्वाद का उत्कर्ष सम्पादित होता है और वह उत्कर्ष प्रबन्ध काव्यों में ही सम्भव है। प्रबन्धकाव्यों में दश रूपक श्रेष्ठ होते हैं। अतः वह उत्कर्ष विशेष रूप से दश रूपकों में ही पाया जाता है और उन दश रूपकों के समान वेश-भूषा, भाषा, प्रवृत्ति के औचित्य की कल्पना के द्वारा प्रबन्ध-काव्य तथा प्रबन्ध-काव्य के आश्रित मुक्तक काव्य में भी उसी प्रकार रसानुभूति होती है। इस प्रकार रसानुभूति का प्रधान साधन नाट्य है किन्तु सहृदय सामाजिक को प्रबन्धकाव्य और मुक्तककाव्य से भी रसानुभूति होती है किन्तु असहृदय को तो केवल नाट्य से ही रसानुभूति होती है। इस प्रकार सहृदय और असहृदय दोनों ही नाट्य से रसास्वाद में समर्थ हो सकते हैं। प्रबन्धकाव्य और मुक्तककाव्य से तो केवल सहृदय ही रसास्वादन कर सकते हैं।

अभिनवगुप्त का कथन है कि जिस प्रकार ध्यान करने वाला व्यक्ति मूर्ति के द्वारा देवताविशेष का ध्यान करता है और उससे फल-सिद्धि होती है। इसी प्रकार सामाजिक नाट्य में नट के द्वारा रामादि का ज्ञान प्राप्त कर रसास्वादन रूप फल को प्राप्त करता है। सामाजिक नाट्याभिनय में अभिनेता को 'यह राम है' इसी प्रकार के अनुभव को प्राप्त कर रसास्वादन करता है। उस समय उसे 'यह राम नहीं है, नट है' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है।

अभिनव—यह अलौकिक अर्थ दृष्टान्त के विना हृदयङ्गम नहीं हो सकता, इस आशय से कहते हैं—

को दृष्टान्तः[1]। अत्राह—यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः[2] तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः[3]।

यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो[4] रसा निर्वर्त्यन्ते[5] तथा[6] नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।

बहूनां संयोगादपूर्वो रस उत्पद्यमानः क्व दृष्ट इत्यर्थः। अत्र प्रश्ने भाष्येण प्रतिवचनमाह—यथेत्यादिना आप्नुवन्तीत्यन्तेन।

व्यञ्जनमुपसेचनद्रव्यम्। तच्च [7]नानातिक्तमधुरचुक्रादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादि। ओषधयश्चिञ्चागोधूमदलहरिद्रादयः। द्रव्यं गुडादि। एषां पाकक्रमेण सम्यग्योजनारूपात्कुशलसम्पाद्यात्संयोगात्। षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः

अनुवाद—इसमें दृष्टान्त क्या है? कहते हैं कि जिस प्रकार नानाविध व्यञ्जनों एवं औषधि आदि द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है, उसी प्रकार अनेकविध भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

जिस प्रकार गुण आदि द्रव्यों, व्यञ्जनों एवं औषधि आदि से षाडव रस (पानक रस) आदि तैयार किये जाते हैं उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों से युक्त स्थायीभाव 'रसत्व' को प्राप्त होते हैं।

अभिनव—'दृष्टान्त' पद से तात्पर्य है कि बहुत से पदार्थों के संयोग से अपूर्व रस उत्पन्न होता है, यह कहाँ देखा गया है? इस प्रश्न का उत्तर भाष्य के द्वारा ग्रन्थकार 'यथा' इत्यादि से लेकर 'आप्नुवन्ति' पर्यन्त अंश से देते हैं।

---

१. अ. को दृष्टान्तः? यथा च गुडादिद्रव्यैरौषधिविशेषैश्च स्वाद्वादयो रसा निष्पद्यन्ते एवं नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।
क-म. को दृष्टान्तः इति चेदुच्यते। यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

२. ग. रसनिष्पत्तिर्भवति।

३. ग. पुस्तके 'तथा नानाभावोपगमाद् रसनिष्पत्तिः। यथा' इत्यंशो नास्ति।

४. ख. ध. रसा। क-अ. स्वाद्वादयो रसा। क-त. षाडवादयो रसा। क-म. षड्रसा।

५. ग. निवर्तन्ते।

६. ख-ध. एवं नानाभावोपहिता। ख-घ. तथा नानाभावोपहिता।

७. क. नानान्तप्रमधुर।

परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणः षाडवशब्दवाच्यः। तत्प्रधाना बहुतरा रसनयोग्याः क्रियन्ते। तथैव नानाभूतैर्विभावादिभिरुप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीविनं रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते।

एतदुक्तं भवति—पाकरूपया सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते। तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयम्। चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावप्रायम्। द्रव्याणि तु गुड़ादीनि तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद्व्यभिचारिकल्पम्। स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्वरससङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात्।

अभिनव—व्यञ्जन का अर्थ है उपसेचन द्रव्य और वह तिक्त, मधुर, खट्टा आदि भेदों से दही, कांजी आदि अनेक प्रकार के होते हैं। 'ओषधि' शब्द से इमली, गेहूँ, दाल, हल्दी आदि का ग्रहण होता है। 'द्रव्य' पद से गुड़ आदि का ग्रहण अभिप्रेत है। इनके पाक के क्रम से कुशल पाचक के द्वारा अच्छी तरह योजन (मिलाने) रूप संयोग से पानक-रस तैयार होता है। 'षाडव आदि' पद से लोकप्रसिद्ध परस्पर अलग-अलग मधुर, तिक्त, अम्ल, लवण, कटु, कषाय इन छः रसों के मिश्रण से विलक्षण 'षाडव' शब्द वाच्य विशेष रस का ग्रहण होता है। भाव यह कि लोक में प्रसिद्ध मधु, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त रसों के मिश्रण से भिन्न-भिन्न प्रकार के 'षाडव' नामक विलक्षण रस बनते हैं। इस प्रकार षाडव-प्रधान आस्वादन योग्य बहुत से रस तैयार किये जाते हैं। उसी प्रकार नाना प्रकार के विभावादि के द्वारा प्रत्यक्षकल्प सामीप्य को प्राप्त लौकिक भावों की अपेक्षा जो स्थायीभाव हैं वे रस्यमान रूप प्राणतत्त्व के साथ रसत्व को प्राप्त होते हैं।

अभिनव—यह कहा गया है कि—पाक रूप सम्यक् योजना से लौकिक रस उत्पन्न होता है और इस प्रकार के पदार्थों में प्रधान रूप से रस का अभिव्यञ्जक जलत्व होने के कारण उपसेचन रूप व्यञ्जन को विभाव समझना चाहिए। इमली, हल्दी आदि औषधियां अनुभाव रूप हैं। गुड़ आदि द्रव्य हैं, उनके साथ चुक्र (खट्टे) आदि रसों से विलक्षण मधुर आदि रसों का योग होने से उन्हें व्यभिचारीभाव के स्थान पर समझना चाहिए। वे अपने भीतर तथा उसके उपजीवन अन्य द्रव्यों में स्वरस अर्थात् अपने रस के सङ्क्रमण के द्वारा वैचित्र्य का आधायक होने से वे व्यभिचारीभाव के समान माने जाते हैं।

अत्राह[1]—रस इति कः पदार्थः ?

[2]उच्यते—आस्वाद्यत्वात् ।

कथमास्वाद्यते[3] रसः ?

अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः । स हि लौकिकः । अयन्तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति । तेनान्नीयस्येत्यध्याहारो न युक्तः । यथा हि दार्ष्टान्तिकसूत्रे स्थायिग्रहणं शल्यकल्पमिति त्रयमेवोपात्तं तथा दृष्टान्तेऽपि त्रयस्यैवोपादानं युक्तम् ।

एवं सूत्रं व्याख्याय लक्षणपदं परीक्षितुमाक्षिपति—रस इति क इत्यादिना ।

अभिनव—यहाँ पर तो स्थायीभाव के समान उसके मिश्रण के समय अलग-अलग द्रव्यों में न रहने वाला रसविशेष विभावसदृश व्यञ्जनों से उत्पन्न समझना चाहिये। यह लौकिक रस है। यह तो कुशल पाचकों द्वारा उत्पन्न किया जाता है और अनुभवी सहृदय व्यक्तियों द्वारा रसनीय आस्वादनीय होता है। इसलिए यहाँ 'अन्न' पद का अध्याहार करना उचित नहीं है। जिस प्रकार दार्ष्टान्तिक सूत्र में स्थायीभाव का ग्रहण शल्य के समान बाधक है अर्थात् भरत के रससूत्र में स्थायीभाव का ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिए केवल तीन (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव) का ही ग्रहण किया गया है। उसी प्रकार यहाँ लौकिक रस की प्रक्रिया में भी 'अन्न' को छोड़कर केवल तीन (जल विभावस्थानीय, इमली आदि अनुभावस्थानीय, और गुड़ आदि व्यभिचारीभाव स्थानीय) का ही ग्रहण किया जाना ठीक है, उचित है।

इस प्रकार रससूत्र की व्याख्या करके लक्षण पद की परीक्षा के लिए आक्षेप करते हैं—

अनुवाद—रस कौन सा पदार्थ है ?

अनुवाद—उत्तर देते हैं कि आस्वाद्य होने के कारण (रस कहा जाता है)।

अनुवाद—रस का आस्वादन कैसे किया जाता है ?

---

१. ख. ऋषय ऊचुः ।

२. क-म. अत्रोच्यते ।

३. क-म. किमिति चेदत्रोच्यते । यथा हि नाना । क-अ. कथं स्वाद्यत इति । यथा नाना । क-स. प. ब. कथमास्वाद्यो ।

यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा [1]हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः [2]प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्यरसा[3] इत्यभिव्याख्याताः ।

मधुरादौ पारदे विषये सारे जलसंस्कारेऽभिनिवेशे क्वाथे [4]देहधातोर्निर्यासे वाऽयं प्रसिद्धो न त्वन्यत्र । तेन रस इति पदस्य शृङ्गारादिषु प्रवर्तितस्य कोऽर्थः । किं प्रवृत्तिनिमित्तं कथ्यते स्वाभिधेयनियमाय शब्देन यदि वा तत्प्रयोक्तृप्रतिपत्तृभिरिति । अर्थः प्रवृत्तिनिमित्तम् आस्वाद्यत्वात् । प्रवृत्तिहेतोर्यतः प्रश्नस्तेनोत्तरं हेतुविभक्त्यैव दत्तम् । तेन क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तमस्येत्युक्तं भवति ।

अनुवाद—(उत्तर देते हैं कि) जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जनों से संस्कृत (निर्मित) अन्न को खाने वाले पुरुष प्रसन्नचित रस का आस्वादन करते हैं और प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनयों के द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों से युक्त स्थायीभावों का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार नाट्यरसों की व्याख्या की गयी है ।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि रस शब्द का प्रयोग अनेक सन्दर्भों में किया जाता है । जैसे--मधुर आदि रसों में, पारद में विषय में, सार अर्थ में, जल के संस्कार में, अभिनिवेश में, कढ़े में, देहधातु के सारत्व के अर्थ में यह रस शब्द प्रसिद्ध है, अन्य अर्थों में प्रसिद्ध नहीं है । अतः शृङ्गार आदि के अर्थ में प्रवृत्त रस पद का क्या अर्थ है ? और उसकी प्रवृत्ति का निमित्त (कारण) क्या है ? शब्द के द्वारा अपने अभिधेय अर्थ का नियमन करने के लिए उसके प्रयोक्ताओं अथवा उसके ज्ञाताओं के द्वारा प्रवृत्ति का निमित्त किसे कहा जाता है ? 'अर्थ' शब्द प्रवृत्ति-निमित्त का बोधक है । इस विषय में उत्तर देते हैं कि 'आस्वाद्य होने के कारण' अर्थात् रस्यमान होने से शृङ्गारादि को रस कहा जाता है । प्रवृत्ति के निमित्त (कारण) के विषय में जो प्रश्न किया गया है उसका उत्तर (आस्वाद्यत्वात् पद में प्रयुक्त) हेतु बोधक पञ्चमी विभक्ति से ही दे दिया गया है । इसलिए क्रिया (आस्वादन क्रिया) इसकी प्रवृत्ति का निमित्त है, यह कहा गया है ।

---

१. क-अ. हर्षञ्चाधिगच्छन्ति ।

२. अ. त. ब. म. प्रेक्षकास्तस्मान्नाट्यरसा इति व्याख्याताः ।
　क-अ. रसा रस इत्यभिव्याख्याताः ।

३. क. देहधातौ निर्यासे ।

यस्तु भङ्क्त्वा व्याचष्टे—रस इति [1]कोऽयं शब्दः। तत्रोत्तरम्। पदार्थः। उच्यत इति। तस्यानेनेत्यध्याहारं विना प्रकृतपदार्थवाचकोऽयं शब्दः। इति [न] तात्पर्यकल्पनं विना नातीव सङ्गतमुत्तरम्। प्रश्नमन्तरेण चास्वाद्यत्वादि-त्यल्पपदप्रायमित्यास्तामेतत्।

अथ प्रवृत्तिनिमित्तं व्याक्षिपति—कथमास्वाद्यत इति। आस्वादनं हि रसनेन्द्रियजज्ञानं प्रसिद्धमिति भावः। अत्रोपचरितक्रियाश्रयेणोत्तरमाह—यथा नानेत्यादिना। यथातथाशब्दाभ्यां सादृश्यमत्रोपचारे निमित्तमिति दर्शयति।

तत्र भोग्यस्य भोक्तुः फलस्य च साम्यं दर्शयति। यथा हि व्यञ्जनसंस्कृतेऽन्ने आस्वाद्यता एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता अन्यचित्तस्य भुञ्जानस्याप्या-स्वादाभिमानाभावात्। प्रहर्षाप्यायजीवनपुष्टिबलारोग्याणां चास्वादफलता।

अनुभाव – जो लोग 'रसः कः? पदार्थ उच्यते' इस प्रकार विभाग करके व्याख्या करते हैं कि 'रस' क्या है? उसका उत्तर देते हैं--पदार्थ कहा जाता है अर्थात् रस एक पदार्थ है। उनके मत में 'उच्यते' क्रिया के साथ 'अनेन' पद का अध्याहार किये विना यह रस शब्द प्रकृत पदार्थ का वाचक है। इस प्रकार तात्पर्य की कल्पना किये बिना, कहना समीचीन उत्तर नहीं होगा और प्रश्न से सम्बद्ध हुए विना 'आस्वाद्यत्वात्' यह वाक्य अधूरा रहेगा। अतः इसे रहने दिया जाय। भाव यह कि इस प्रकार 'रस पदार्थ है' इस प्रकार कहकर 'आस्वाद्यत्वात्' कहने के लिए 'अनेन' पद का अध्याहार करना पड़ेगा और यह कल्पना करनी पड़ेगी कि रस शब्द अपने प्रकृत अर्थ का वाचक न होकर विशिष्ट अर्थ का वाचक है। 'आस्वाद्यमानत्वात्' यह वाक्य भी अधूरा प्रतीत होता है। अतः उक्त व्याख्या ठीक नहीं है।

अभिनव—इसके बाद प्रवृत्ति-निमित्त पर आक्षेप करते हैं--रस का आस्वादन कैसे किया जाता है? क्योंकि आस्वादन रसनेन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान के रूप में प्रसिद्ध हैं। शृङ्गार आदि रसों का ज्ञान तो रसनेन्द्रियजन्य नहीं होता तो उन्हें आस्वादन कैसे कहा जा सकता है? अभिनव इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि यहाँ उपचरित क्रिया का आश्रय लेकर उत्तर देते हैं--जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जनों से निष्पन्न अन्न को खाने वाले सुमना पुरुष रस का आस्वादन करते हैं और प्रसन्न होते हैं इत्यादि। यहाँ पर 'यथा' और 'तथा' शब्द से यह सूचित होता है कि औप-चारिक व्यवहार में सादृश्य निमित्त होता है यह दिखाया गया है।

१. क. योऽयं शब्दः।

१. क-अ. स. म. ब. प्रेक्षकास्तस्मान्नाट्यरसा इति व्याख्याताः।

तथाभिव्यञ्जिते तेऽपि चिन्त्या। स्थायिशब्दव्यपदेश्ये रसे आस्वाद्यता। एकाग्रे च सामाजिके तन्मयीभूते आस्वादयितृता। हर्षप्रधानानां धर्मादिव्युत्पत्तिवैदग्ध्यादीनामास्वादफलत्वमिति कर्मकर्तृफलसादृश्याद्विभावादिजः प्रतीतिविशेषो रसनाक्रियेति व्यपदिष्ट इति तात्पर्यम्। येन[1] सुमनसो भुञ्जाना हर्षादींश्च यान्ति तेन रसानास्वादयन्तीत्यनेन शब्देन[2]।

अभितः सर्वत्र। विशेषेण अन्यभोक्तृविलक्षणतया। आ समन्तात् ख्याताः प्रसिद्धाः। यथा चैते तथा प्रेक्षका अपि। तेन तेऽपि स्थायिनः आस्वादयन्तीति आभिमुख्येन सादृश्ये व्याख्याता अस्माभिर्व्यवहृताः। अत्रोपसंहारः। तस्मान्नाट्यरसाः।

अभिनव—यहाँ भोक्ता, भोग्य और उसके फल की समानता को दिखाते हैं—जिस प्रकार व्यञ्जनों से संस्कृत अन्न में आस्वाद्यता, एकाग्रचित वाले भोक्ता में आस्वादयितृता होती है। क्योंकि एकाग्रचित हुए विना अन्यत्र लगे हुए चित्त वाले (अन्यमनस्क होकर) खाते हुए व्यक्ति को आस्वाद का अभिमान नहीं होता अर्थात् उसे भोजन का स्वाद नहीं मिलता और प्रसन्नता, तृप्ति, जीवन, पुष्टि, बल आरोग्य आदि आस्वाद के फल होते हैं। इसी प्रकार अभिनय के द्वारा व्यञ्जित रस के विषय में भी समझ लेना चाहिए। स्थायी शब्द से वाच्य रस में आस्वाद्यता होती है और एकाग्रचित्त तन्मय हुए सामाजिक में आस्वादयितृता होती है। हर्ष-प्रधान (आनन्द ही जहाँ प्रधान हो) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि के ज्ञान और नैपुण्य आदि में आस्वाद रूप फल है, इसलिए कर्म, कर्त्ता और फल के सादृश्य के कारण विभाव आदि से उत्पन्न प्रतीति-विशेष को रसनाक्रिया (आस्वादन क्रिया) इस नाम से कहा गया है यह तात्पर्य है। जिसे खाने वाले सहृदय हर्ष आदि को प्राप्त होते हैं और रस का आस्वादन करते हैं, इसलिए उन्हें सहृदय (सुमना) कहते हैं।

अभिनव—'अभितः' का अर्थ है चारों ओर। 'विशेषेण' पद का अभिप्राय है अन्य भोक्ताओं से विलक्षणता। 'आ' का अर्थ है आसमन्तात् चारों ओर। 'ख्याता' का अर्थ है प्रसिद्ध। जिस प्रकार अन्नादि को खाने वाले सहृदय होते हैं उसी प्रकार प्रेक्षक भी सहृदय होते हैं, क्योंकि वे भी स्थायीभावों का आस्वादन करते हैं। इसलिए वे भी सादृश्य के कारण सहृदय शब्द से कहे गये हैं अर्थात् हमने उन्हें सहृदय शब्द से व्यवहृत किया है। इस प्रकार नाट्यरस की व्याख्या की गयी है। इस प्रकार उपसंहार करते हैं।

१. क-भ. यदन्नं भुञ्जाना।

२. क-भ. शेषेणाभिहतः।

अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः—

यथा [1]बहुद्रव्ययुतैर्व्यंञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना [2]भक्तं भक्तविदो जनाः ॥३३॥

अन्येत्वादिशब्देन शोकादीनामत्र सङ्ग्रहः । स च न युक्तः । सामाजिकानां हि हर्षैकफलं नाट्यं न शोकादिफलम् । तथात्वे निमित्ताभावात्तत्परिहारप्रसङ्गाच्चेति मन्यमाना हर्षांश्चाधिगच्छन्तीति पठन्ति ।

एवं ग्रन्थयोजनायां स्पष्टायां कैश्चिदत्र चोदितं दृष्टान्ते आत्मा रसना मनश्चेति त्रयम् । प्रकृते तु रसनैवेति । परिहृतं चात्मन एवात्र स्थानान्तरसङ्क्रान्तस्य मनःस्थानीयता । मनसश्च रसनास्थानीयतेति । तत्सर्वं वृथा नाट्यमात्रम् । उपचारबीजस्य सादृश्यस्यात्र प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितत्वादित्यास्ताम् ।

एवं रसत्वं केन तेषामिति यत्प्रश्नितं तत्प्रतिसमाहितम् ।

अभिनव – अन्य व्याख्याकार यहाँ पर 'आदि' शब्द से शोक आदि का संग्रह मानते हैं । किन्तु यह ठीक नहीं है । सामाजिकों के लिए तो नाटक केवल आनन्द को देने वाला होता है, शोक आदि उसके फल नहीं हैं । उसमें कोई निमित्त न होने से और उसके परिहार का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा, इस प्रकार मानते हुए 'हर्षांश्चाधिगच्छन्ति' पाठ मानते हैं 'हर्षादींश्च' नहीं ।

अभिनव—इस प्रकार ग्रन्थ की स्पष्ट योजना हो जाने पर जो किसी ने यहाँ कहा है कि यहाँ दृष्टान्त में अर्थात् अन्नादि के आस्वादन में आत्मा, रसना और मन ये तीन स्वीकार किये गये हैं और प्रकृत में केवल रसना (आस्वादन) को ही स्वीकार किया गया है और उसका जो परिहार किया गया है कि यहाँ आत्मा ही स्थानान्तर में सङ्क्रान्त होकर अर्थात् स्थानान्तरित होकर मनःस्थानीय हो जाता है और मन रसस्थानीय हो जाता है । यह सब व्यर्थ है, अर्थात् इस प्रकार शङ्का-समाधान करना व्यर्थ है । उपचार (लक्षणा) का बीज 'सादृश्य' ही यहाँ प्रधान रूप से प्रतिपादन करना अभीष्ट है, इसलिए अब रहने दिया जाय ।

अनुवाद—इस विषय में परम्परागत (अनुवंश्य) दो श्लोक प्राप्त होते हैं--

---

१. क-त. बहुद्रव्यगुणैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
२. ख. भुक्तं भुक्तविदो जनाः । क-म. भक्तं भुक्तविदो जनाः ।

भावाभिनयसंबद्धान्स्थायिभावांस्तथा[1] बुधाः ।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः[2] स्मृताः ॥३४॥

अनुवाद – जिस प्रकार अनेक प्रकार के द्रव्यों से युक्त बहुत से व्यञ्जनों से बने हुए भात को खाने वाले भात के स्वाद के विशेषज्ञ लोग खाते हुए उसका आस्वादन करते हैं उसी प्रकार अनेक प्रकार के भावों एवं अभिनयों से सम्बद्ध स्थायीभावों का सहृदय पुरुष मन से आस्वादन करते हैं, इसलिए उन्हें 'नाट्यरस' कहा गया है ॥३३–३४॥

विमर्श—रस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। लोक-व्यवहार में रस शब्द मधुर आदि षड्रस अर्थात् मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त आदि छः रसों में, पारद, विषय, सार, जल, संस्कार, क्वाथ, अभिनिवेश और देहधातु के सार के रूप में रस शब्द का प्रयोग प्रचलित है, अन्य अर्थों में इसका प्रयोग प्रसिद्ध नहीं है। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में शृङ्गार आदि के अर्थ में प्रयुक्त रस शब्द का क्या अभिप्राय है? और उसका प्रवृत्ति-निमित्त क्या है? और यह अपने विशिष्ट अर्थ का नियमन कैसे करता है? प्रयोक्ता और ज्ञान ग्राहक इस विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करने में कैसे प्रवृत्त होता है? इत्यादि शङ्काओं के शमन के लिए भरत ने रस के आस्वाद्य होने का विधान बताया है। इस प्रकार रस आस्वाद्य है और सामाजिक उसका आस्वादयिता। भरत ने एक लौकिक उदाहरण देते हुए इसे स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार संसार में नाना प्रकार के व्यञ्जनों से सुसंस्कृत अन्न को खाने वाला व्यक्ति रस का आस्वादन करता है और प्रसन्नता को प्राप्त होता है और उस अन्नरस का आस्वादयिता सहृदय (सुमना) होता है। इसी प्रकार विभाव, अनुभाव तथा आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयों से युक्त सहृदय प्रेक्षक (सामाजिक) स्थायी-भाव रूप रस का आस्वादन करता है और हर्ष आदि को प्राप्त करता है।

अब प्रश्न उठता है कि लोक में रस का आस्वादन रसनेन्द्रिय से होता है और शृङ्गारादि रस तो काव्य या नाट्य रस कहा जाता है जिसका आस्वादन रसनेन्द्रिय द्वारा नहीं होता, अपितु मन से होता है अर्थात् नाट्य-रस या काव्य-रस का आस्वादन मन से होता है, यह एक मानस व्यापार है। नट के द्वारा अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय काव्य या नाट्य विशेष से प्रकाश्य अर्थ नाट्य होता है और नाट्य-समुदाय से रस आविर्भूत होता है। अतः नाट्य में रस निहित है। इस प्रकार नाट्य-समुदाय रूप रस है अथवा नाट्य ही रस है।

१. ख. भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो बुधाः ।
घ. भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।
क-म. भावाभिनयसंयुक्तान् स्थायिभावांस्ततो बुधाः ।
२. क-अ. तस्मान्नाट्ये रसाः स्मृताः ।

अभिनवगुप्त का कथन है कि जिस प्रकार व्यञ्जन और द्रव्यों से सुसंस्कृत अन्न का आस्वादन एकाग्रचित्त आस्वादयिता को ही होता हैं। उसी प्रकार एकाग्रचित्त तन्मय सामाजिक नाना भावों से अभिव्यञ्जित तथा अभिनयों से सुसमृद्ध स्थायीभाव रूप रस का आस्वादन करता है और अलौकिक आनन्द को प्राप्त करता है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार रस रूप फल का एकमात्र आस्वादयिता सहृदय सामाजिक ही होता है क्योंकि नाटय-प्रयोग तो सुमना (सहृदय) प्रेक्षक के लिए ही होता है, और रस आस्वाद्य होता है आस्वाद्य होने के कारण ही उसे रस कहा जाता है। इस प्रकार सुमनस प्रेक्षक रस का आस्वादन कर हर्षादि को प्राप्त करता है। यहाँ पर आदि शब्द के द्वारा शोकादि का संग्रह है, ऐसा कुछ आचार्य कल्पना करते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त इससे सहमत नहीं दिखायी देते। उनका कथन है कि नाटक सामाजिकों को केवल आनन्द ही देता है, सामाजिक नाट्य में आनन्द ही प्राप्त करते हैं शोकादि नहीं। यदि शोकादि को नाट्य का फल मानते है तो बिना कारण उसके परिहार का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। अतः यहाँ पर शोक का निर्देश मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि करुण आदि रसों में भी आनन्द ही प्राप्त होता है। विश्वनाथ का कथन है कि करुण आदि रस भी आनन्दात्मक है यदि इनमें शोकादि होते तो कौन सहृदय व्यक्ति होगा जो नाट्य की ओर प्रवृत्त होता। (करुणादावपि रसे जायते परमं सुखम्—सा० द० ३।३)। इसलिए अभिनवगुप्त कहते हैं कि सभी रस स्वसाक्षात्कारात्मक आस्वाद रूप ज्ञान के आनन्दमय होने से आनन्दरूप होते हैं।

नाट्यरसाः—अभिनवगुप्त ने नट के द्वारा प्रयुक्त अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय नाटकादि में से किसी एक काव्यविशेष से प्रकाश्य अर्थ 'नाट्य' है। यह नाट्य यद्यपि विभावादि के अनन्त होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है तथापि सभी विभावों का ज्ञान में पर्यवसान होने से नायक नामक भोक्तृविशेष की स्थायी भावात्मक चित्तवृत्ति रूप अर्थ भी नाट्य हैं। स्वगत-परगत भेद से शून्य यह चित्तवृत्ति आस्वाद्यमान होने से 'रस' है। यतश्च नाट्य की पूर्णतः अनुभूति रस में होती है अतः 'रस' ही नाट्य है। यह रस नाट्य समुदाय से समुद्भूत होता है अतः समुदाय रूप अर्थ 'नाट्य' है और नाट्य ही रस है। यह रस एक है और यही 'नाट्यरस' कहा जाता है और यही मुख्यभूत महारस है।

अभिनवगुप्त अपने गुरु भट्टतौत के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि रस की स्थिति केवल नाट्य में ही नहीं होती, बल्कि काव्य में भी उसकी स्थिति स्वीकृत है। काव्य भी दश रूपकों के समान होते हैं। इनमें भी भाषा, वृत्ति, काकु, एवं नेपथ्य आदि से रसात्मकता का पूर्ण विकास होता है। फिर भी महाकाव्यों में कथोपकथन आदि नहीं होते, अतः नाटय का अपेक्षा उन्हें कम महत्त्व का माना जाता है। जैसा कि वामन ने काव्यालङ्कारसूत्र में कहा है कि 'काव्य-रचनाओं में दश रूपक श्रेष्ठ माने गये हैं'। दश रूपकों का

अत्रेति भाष्ये अनुवंशे भवौ शिष्याचार्यपरम्परासु वर्तमानौ श्लोकाख्यौ वृत्तविशेषौ सूत्रार्थसंक्षेपप्रकटीकरणेन कारिकाशब्दवाच्यौ भवतः । तौ पठति—यथेत्यादि ।

मधुरादिभेदाद् बहूनि द्रव्याणि गुडादीनि । बहुभिरिति दधिकाञ्जिकादिभिः । अनेन विभावभेदं रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति । भुञ्जाना आस्वादयन्तीति । रसनाव्यापाराद्भोजनाधिको यो मानसो व्यापारः स एवास्वादनमिति दर्शयति । एतदुक्तं भवति—न रसनाव्यापार आस्वादनम् । अपि तु मानस एव । स चात्राविकलोऽस्ति । केवलं लोके रसनाव्यापारानन्तरभावी स प्रसिद्ध इत्युपचार इह दर्शित इति ।

अर्थ (विषय) ही नाट्य कहा जाता है । उसका यह विषय ही नाट्य का शरीर है । दूसरे नाट्य में सहृदय और असहृदय सभी समान रूप से रसास्वादन करते है जबकि काव्य में केवल सहृदय ही रसास्वादन कर सकता है । नाट्य सबका उपकारक है । अतः नाट्यरस सबसे विलक्षण है ।

कुछ व्याख्याकार नट के कर्म रूप धर्म को 'नाट्य' मानते हैं और उस नाट्य से उत्पन्न रस को 'नाट्यरस' कहते हैं। किन्तु अभिनवगुप्त आदि आचार्य विभावादि के समुदाय रूप अर्थ को 'नाट्यरस' कहते हैं । अतः समुदाय रुप अर्थ ही नाट्य है और नाट्य ही रस है और यही 'नाट्यरस' है ।

अभिनव—इस प्रकार रस के सम्बन्ध में 'उनका (रस का) रसत्व किस कारण से होता है ?' इस प्रकार जो प्रश्न किया गया था उसका समाधान हो गया ।

अभिनव—'अत्र' पद का अर्थ है भाष्य में । 'अनुवंश्य' का अर्थ है वंश-परम्परा से प्राप्त अर्थात् शिष्य एवं आचार्य परम्परा में विद्यमान । 'श्लोकौ' पद से वृत्तविशेष का ग्रहण होता है । जो सूत्र के अर्थ में प्रकट करने के कारण 'कारिका' शब्द से वाच्य होते हैं, उन श्लोकों को कहते हैं—यथा आदि ।

अभिनव—मधुर आदि के भेद से गुड़ आदि बहुत से द्रव्य होते हैं । 'बहुभिः' पद से दही, कांजो आदि का ग्रहण होता है। इससे 'विभावों का भेद रस के भेद का हेतु है' यह सूचित होता है। 'भुञ्जाना आस्वादयन्ति' अर्थात् 'खाते हुए आस्वाद लेते हैं' इस कथन से रसना (रसनेन्द्रिय) के भोजन रूप व्यापार से अधिक जो मानस व्यापार है वही आस्वादन है, यह दिखाया गया है । इससे यह कहा गया है कि आस्वादन रसना का व्यापार नहीं है अपितु मानस व्यापार है और वह व्यापार यहाँ अविकल है अर्थात् वह मानस व्यापार यहाँ पर पूर्णरूप से विद्यमान है। केवल लोक में यह आस्वादन रूप व्यापार रसना व्यापार के बाद होता है, यह प्रसिद्ध है । इसलिए यहाँ उसका प्रयोग उपचार से दिखाया गया है ।

शुद्धतत्त्वरूपज्ञानस्वभावा अत्र 'भावा' विभावव्यभिचारिणः । 'अभिनया' अनुभावा एव । [1]इदं पृथग्वचनं प्राधान्यात् । [2]तैर्ये सम्यग्बद्धा 'हृदयसंवादक्रमेण' तन्मयीभावापन्नप्रमातृभूम्यभेदमुपसम्प्राप्ता अचिन्त्याः स्थायिनः आ समन्तात्साधारणीभावेन निर्विघ्नप्रतिपत्तिवशात् । 'मनसा' इन्द्रियान्तरविघ्नसंभावनाशून्येन 'स्वादयन्ति' स्वपरविवेकशून्यस्वादचमत्कारपरवशतया लौकिकात्प्रत्ययादुपार्जनादिविघ्नबहुलाद्योगिप्रत्ययाच्च विषयास्वादशून्यतापरुषाद्विलक्षणाकारसुखदुःखादिविचित्रवासनानुवेधोपनतहृद्यतातिशयसंविच्चर्वणात्मना भुज्यते । 'बुधा' इति [3]पूर्वोपयोगो लौकिकानां प्रत्यक्षादीनामत्र दर्शितः ।

एतदुपसंहरति—तस्मादिति । नाटयात्समुदायरूपाद्रसाः । यदि वा नाटयमेव रसाः । रससमुदायो हि नाटयम् । न नाटय एव च रसाः । काव्येऽपि नाटयायमान एव रसः । काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदय इत्युपाध्यायाः ।

अभिनव—यहाँ पर 'भाव' शब्द शुद्ध स्वरूप के ज्ञानरूप विभाव और व्यभिचारीभाव के लिए प्रयुक्त है। 'अभिनय' पद से अनुभाव अभिप्रेत है। प्रधान होने के कारण अनुभाव का भावों से पृथक् कथन किया गया है। उनसे अच्छी तरह सम्बद्ध अर्थात् विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभावों से अच्छी तरह हृदय की एकरूपता के क्रम से तन्मयता को प्राप्त प्रमाता की भूमि (स्वभाव) से अभिन्नता को प्राप्त अनिर्वचनीय (अचिन्त्य) स्थायीभाव सभी ओर से साधारणीभाव के द्वारा निर्विघ्न प्रतिपत्ति के कारण। 'मनसा' से तात्पर्य है अन्य इन्द्रियों के विघ्नों की सम्भावना से शून्य। 'स्वादयन्ति' का अभिप्राय है स्वगत-परगत भेद से रहित आस्वाद रूप चमत्कार के कारण उपार्जन आदि बहुत से विघ्नों से युक्त लौकिक प्रत्यय (ज्ञान) और विषयों के आस्वाद से शून्य होने से परुष (कठोर) योगियों के प्रत्यय (प्रत्ययज्ञान) से विलक्षण प्रकार का सुख-दुःखादि की विचित्र प्रकार की वासनाओं के सम्पर्क से प्राप्त अत्यन्त हृद्य (मनोहर) चर्वणा (आस्वाद, रसना) रूप से सहृदय भोग करता है। 'बुधा' पद से यहाँ लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों की पूर्ण उपयोगिता दिखाई गयी है ।

अभिनव—इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि—नाट्य से अर्थात् समुदाय रूप से रस आविर्भूत होता है। भाव यह कि विभावादि समुदाय रूप से व्यक्त होने वाला रस है अथवा नाट्य ही रस है। क्योंकि रस समुदाय ही नाट्य है। केवल नाट्य में ही रस नहीं होता, अपितु काव्य में भी नाट्यायमान रस होता है। काव्यार्थ के विषय

१. इयं पृथक्वचनं । २. क. तैर्यैः ।
३. क. पूर्णोपयोगो ।

यदाहुः काव्यकौतुके—

"प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः" इति।

"वर्णनोत्कलिता भोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।

उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः॥" इति॥

अन्ये तु काव्येऽपि गुणालङ्कारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणमाहुः। वयं तु ब्रूमः—काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव। तत्र हृद्य चितैर्भाषावृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते रसवत्ता। सर्गबन्धादौ हि नायिकाया अपि संस्कृतैवोक्तिरित्यादि बहुतरमनुचितं केवलं शक्तिरहितत्वाद् व्यावर्ण्यते। तावतीव हृद्यमिति न्यायेनानौचित्यं न[1] प्रतिजहाति।

तत एवोच्यते 'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' (वामन. का. सू १.३.३०) इति। तेन [2]तदङ्गसन्ध्याविसङ्घटनमुद्धृत्य सर्गबन्धादि यावन्मुक्तं। यत्तु दशरूपकं तस्य योऽर्थस्तदेव नाट्यम्। यद्वक्ष्यते 'नाट्यस्यैषा तनूः स्मृताः (ना. शा १४.२) इति। तस्य हृदयसंवादतारतम्यापेक्षया श्रोतृप्रतिपत्तस्फुरणं स्फुटत्वेनातिविचित्रम्।

में साक्षात्कारकल्प ज्ञान के उदय होने पर रस का उदय होता है। यह उपाध्याय जी का मत है।

जैसाकि काव्यकौतुक में कहा गया है कि—

"अभिनय प्रयोग के रूप को प्राप्त न होने पर काव्य में रस का आस्वाद सम्भव नहीं है।"

"वर्णन शैली के प्रस्फुटन तथा विस्तार की प्रौढोक्ति से अच्छी तरह से अर्पित उद्यान, कान्ता, चन्द्रमा आदि भाव प्रत्यक्ष के समान होते हैं।"

अभिनव—अन्य व्याख्याकार तो गुण और अलङ्कारों के सौन्दर्य की अतिशयता से भी रस-चर्वणा (रस की प्रतीति) होती है, ऐसा कहते हैं। हम तो कहते हैं कि काव्य तो मुख्य रूप से दश रूपकात्मक ही होते हैं। क्योंकि उसी में उचित भाषा, व्यापार (वृत्ति), काकु, नेपथ्य (वेष-भूषा) आदि के द्वारा रसवत्ता पूर्ण होती है। सर्गबन्ध आदि महाकाव्यों में नायिका की संस्कृत में ही उक्ति होती है, इत्यादि बहुत सा अनौचित्य केवल शक्ति के अभाव के कारण उस रूप में वर्णित किया जाता है। 'उतने पर भी (उस रूप में भी) वह हृद्य (सुन्दर) है' इस न्याय के अनुसार अनौचित्य का निवारण नहीं किया जा सकता।

१. क. न प्रतिहारि।
२. क. तदंशसन्ध्यादि।

तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवशमनसो न भवन्ति। तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मकचर्वणग्राह्यो रससञ्चयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये त्वतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविचर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया। स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यर्थः। काव्यञ्च नाट्यमेव।

अत एव च नटे न रसः कुत्र तर्हि। विस्मृतिशीलो न बोध्यते। उक्तं हि देशकालप्रमातृभेदान्नियन्त्रितो रस इति। केयमाशङ्का। नटे तर्हि किम्। आस्वादनोपायः। अत एव च पात्रमित्युच्यते। न हि पात्रे मद्यास्वादः। अपि तु तदुपायकः। तेन प्रमुखपात्रे नटोपयोग इत्यलम्।

अभिनव—इसीलिए कहा गया है कि 'सभी प्रबन्धों (काव्यों) में दशरूपक ही श्रेष्ठ हैं' (वामन काव्यालङ्कारसूत्र १।३।३०)। इन रूपकों के अङ्ग-मुख, सन्धि आदि रचना रूप अंशों को छोड़कर सर्गबन्ध आदि से लेकर मुक्तक पर्यन्त काव्य हैं। उनमें से जो दश रूपक है उसका जो अर्थ है वही नाट्य है। जैसाकि आगे कहेंगे—"यह वाणी ही नाटय प्रयोग का शरीर है।" (ना. शा. १५।२)। उसमें हृदय संवाद के तारतम्य की अपेक्षा से श्रोताओं और बोद्धाओं की स्फूर्ति (अनुभूति) स्फुट और अस्फुट रूप से अत्यन्त चित्रित हैं।

अभिनव—उसमें से जो स्वभाव से ही दर्पण के समान निर्मल हृदय हैं, वे ही संसारोचित क्रोध, मोह, अभिलाष के परवश नहीं होते अर्थात् उनका ही मन लोकोचित क्रोध, मोह, अभिलाष आदि के परवश नहीं होता है। उनके उस प्रकार दशरूपक के सुनने के समय साधारण (साधारणीकरण से) रसना रूप चर्वणा (आस्वाद) से ग्राह्य नाट्यरूप रस की प्रतीति स्पष्ट ही है अर्थात् नाट्यरूप रस का स्पष्ट अनुभव करते हैं और जो उस प्रकार निर्मल हृदय नहीं हैं उनके लिए साक्षात्कारात्मक उस प्रकार की चर्वणा की प्राप्ति के लिए नट आदि की प्रक्रिया का और स्वगत (अपने भीतर उत्पन्न क्रोध, शोक आदि के सङ्कट से ग्रस्त हृदय की ग्रन्थियों के नाश के लिए गीत आदि की भरतमुनि ने प्रक्रिया का निर्माण किया है। क्योंकि 'नाट्यशास्त्र सब का उपकारक है' इस न्याय से साधारण जन भी रसास्वादन करते हैं। इसलिए नाट्य में ही रस है लोक में नहीं है और काव्य नाट्य ही है।

अभिनव—इसलिए नाट्य में रस नहीं है तो फिर रस कहाँ है? यह हम पहिले बतला चुके हैं। अतः भूल जाने वाले को हम नहीं बतलाते हैं। किन्तु पुनः बतलाते हैं कि यह रस देश, काल और प्रमाता (ज्ञाता) के भेद से नियन्त्रित नहीं होता, यह पहिले कहा जा चुका है तो फिर यह कैसी शङ्का? अर्थात् शङ्का करने का अवसर नहीं है।

चित्रपुस्ताद्यपि च नाटयस्यैवार्थभागाभिष्यन्दो यथा सर्गबन्धादिशब्दभागाभिष्यन्दः । एतच्च 'योऽर्थो हृदयसंवादी' (ना. शा. ७.१०) इत्यत्र वितत्य वक्ष्याम ।

अन्ये त्वभिनयादिसामग्रीमयं बहिर्दृश्यमानं नाटयं नटधर्मः कर्मरूपमित्याशयेन नाटयाद्रसा इत्याहुः । स्मृता इति साम्प्रदायाविच्छेदं दर्शयति ।

ये तु रत्याद्यनुकरणरूपं रसमाहुः । अथ चोदयन्ति शोकः कथं सुखहेतुरिति । परिहरन्ति च अस्ति कोऽपि नाटयगतानां विशेष इति । तत्र चोद्यं तावदसत् । शोको हि प्रतीयमानः किं स्वात्मनि प्रत्येतुर्दुःखं वितनोतीति नियमः । शत्रुदुःखे प्रहर्षात् । अन्यत्र च मध्यस्थत्वात् । उत्तरं तु भावानां वस्तुस्वभावमात्रेणेति न किञ्चिदत्र तत्वम् ।

पुनः प्रश्न होता है कि फिर नट में क्या होता है ? उत्तर देते हैं कि वह तो आस्वादन का उपाय है, साधन है । इसीलिए नट को 'पात्र' कहा जाता है । पात्र में मद्य का आस्वादन नहीं होता, अपितु आस्वादन का उपाय है । इसीलिए प्रमुख पात्र के रूप में नट का उपयोग होता है । बस, इतना ही पर्याप्त है ।

अभिनव—चित्र, पुस्त (शिल्प) आदि भी नाट्य के ही अर्थभाग के निष्यन्द हैं, सार रूप हैं, जिस प्रकार सर्गबन्ध आदि शब्दभाग के सार हैं । यह सब सातवें अध्याय में 'योऽर्थो हृदयसंवादी' (ना० शा० ७।१०) इत्यादि में विस्तार से कहेंगे ।

अभिनव—अन्य व्याख्याकार कहते हैं कि अभिनय आदि सामग्री रूप बाहर दिखाई देने वाला नाट्य नट का धर्म, कर्म और रूप है (नटस्य धर्मं, नटस्य कर्म वा नटस्य रूपं वा नाट्यम्) । इस आशय से नाट्य से व्यक्त रस नाट्यरस कहा जाता है । 'स्मृताः' शब्द से सम्प्रदाय का अविच्छेद दिखाया गया है ।

अभिनव—और जो लोग रत्यादि स्थायीभाव के अनुकरण को रस कहते हैं वे स्वयं शङ्का करते हैं कि करुण रस का स्थायीभाव शोक सुख का हेतु (कारण) कैसे हो सकता है ? इसका समाधान करते हुए वे स्वयं कहते हैं कि नाट्यगत शोकादि में कुछ विशेषता होती है जिससे शोक भी आनन्द रूप हो जाता है । अतः उस विषय में शङ्का करना ही असङ्गत है । क्योंकि प्रतीयमान शोक प्रतीतिकर्त्ता (सहृदय) की अपनी आत्मा में दुःख उत्पन्न करता है, क्या ऐसा कोई नियम है ? शत्रु के दुःख में हर्ष होने के कारण और अन्यत्र दूसरे के प्रति उदासीन होने के कारण शोक दुःख का हेतु हैं यह नहीं माना जा सकता है । यहाँ उत्तर में विषय के प्रतिपादन में कोई युक्ति न दी जाकर वस्तु के स्वभावमात्र का कथन किया गया है, अतः इसमें कोई तत्त्व नहीं हैं ।

अत्राह—किं रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्ति[1]रुताहो भावेभ्यो रसानामिति । केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बन्धादेषामभिनिर्वृत्तिरिति ।

तन्न[2] कस्मात् । दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्तिर्न तु रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिरिति ।

अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते । तत्र का दुःखाशङ्का । केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारः । तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः ॥३४॥

यदेतदुक्तं रसत्त्वं [3]तदेवोपशोधयितुमुपक्रमते—अत्राहेत्यादिना चोद्यमुखेन—

नर्तकगतेभ्यो रसेभ्यो भावाः सामाजिके[4] । यथा करुणाच्छोकः । ततो विभावाद्युपचितसामाजिके करुण इति रसाद्भावो भावाद्रस इति सन्देहः । अत एव परस्परमपि[5] जन्म कालभेदेनेति तृतीयः पक्षः । यदि वा नट एव राम एव [6]चापूर्वं भावः । तत उपचये रसः । [7]ततोऽप्यपचये भाव इत्येवं पक्षत्रयोत्थानम् इदं चासत् । एवम्भूतस्य रसस्वरूपस्य निराकृतत्वात् ।

अभिनव—हमारे मत में तो आनन्दधन (आनन्दमय) ज्ञानरूप आत्मा का ही आस्वादन होता है । अतः उसमें दुःख की आशङ्का ही क्या है ? केवल उसमें विचित्रता के लिए रति, शोकादि वासनाओं का व्यापार होता है और उनके (रत्यादि स्थायीभावों के) उद्बोधन में अभिनयादि का व्यापार होता है ॥३४॥

अभिनव—इस प्रकार जिस रसतत्त्व का वर्णन किया गया है उसी का उपशोध करने के लिए भरतमुनि कहते हैं—

अनुवाद—इस विषय में कहते हैं कि क्या रस से भावों की निष्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की ? (उत्पत्ति होती है ?) इस पर कहते हैं—किन्हीं आचार्यों के मत में परस्पर (एक दूसरे के) सम्बन्ध से इनकी निष्पत्ति होती है ।

अनुवाद—यह जिसका मत है वह ठीक नहीं है । क्योंकि भावों से रस की निष्पत्ति देखी जाती है और रस से भावों की निष्पत्ति नहीं देखी जाती ।

---

१. ग. अभिनिष्पत्तिः ।

२. क–त. एतन्न । क–म. तत्कस्मात् ।

३. क–म. तदेवमुपक्रमते ।

४. क–म. सामाजिकैः ।

५. क–म. परस्परमिव ।

६. क–म. वा पूर्वं भावः ।

७. क–भ. ततोऽप्युपचये ।

श्रीशङ्कुकस्त्वाह अनुकर्तरि रसानास्वादयतोऽनुकार्ये भावप्रतीतिः प्रयोगे। लोके प्रकृति[1] रसं निष्पादयतीति। द्वितीयपक्षो नाट्याचार्याभिप्रेत-शिक्षानुसारेण। अत एव च तृतीयोऽपि संभवति। एतदप्यसत्। न हि सामाजिकोऽनुकार्यानुकर्तृ विभागमवैति। दूषितश्चानुकरणवादः।

तस्मादित्थमेतत् - किं रसेभ्यो भावा उत विपर्ययः? आहो अन्योन्यजनकतेति त्रयः प्रश्नाः। आहोशब्दो भिन्नक्रमः। विभावादिभ्यस्तावद्रसनिष्पत्ति-रुक्ता। स एव द्वितीयः पक्षोऽभ्युपगतः पूर्वम्। एतच्च कथम्। न हि लोके विभावानुभावादयः केचन भवन्ति। हेतुकार्यावस्थामात्रत्वाल्लोके तेषाम्।

अभिनव—अभिनवगुप्त का कथन है कि नर्तक में स्थित रसों से सामाजिक में भाव उत्पन्न होते हैं। जैसे करुण रस के अभिनय में शोक (उत्पन्न होता है)। फिर उससे विभावादि के द्वारा उपचित होकर शोक सामाजिक में करुण रस बन जाता है। इस प्रकार रस से भाव उत्पन्न होता है अथवा भावों से रस, यह सन्देह होता है। इसलिए कालभेद से परस्पर एक दूसरे की उत्पत्ति होती है, यह तीसरा पक्ष है। कालभेद का तात्पर्य है कि नटगत रसाभिनय में भाव की उत्पत्ति होती है उसके बाद सामाजिकगत भाव से रस की उत्पत्ति होती है अथवा पहिले अनुकर्त्ता नट में अथवा अनुकार्य रामादि में अपूर्व भाव की उत्पत्ति होती है, फिर इस भाव के उपचित (उपचय) होने पर उससे अनुकर्त्ता नट में अथवा अनुकार्य राम में रस की उत्पत्ति होती है और अपचय होने पर रस से भावों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार रस से भाव, भाव से रस और परस्पर एक दूसरे से दोनों की उत्पत्ति होने से तीन पक्ष बनते हैं। इनमें रत्यादि भावों के उपचय को रस मानने वाला भट्टलोल्लट का मत पहिले खण्डन किया जा चुका है। इस प्रकार रस के स्वरूप का खण्डन हो जाने से यह पक्ष उचित नहीं है प्रतीत होता है।

अभिनव—दूसरे व्याख्याकार शङ्कुक कहते हैं कि नाट्य प्रयोग में अनुकर्त्ता नट में रस का आस्वादन करने वाले सामाजिक अनुकार्य राम में भावों को प्रतीति होती है। वह प्रतीति लोक (जनता) में प्रकृत रस निष्पन्न करती हैं। यह द्वितीय पक्ष नाट्याचार्य के अभिमत शिक्षा के अनुसार होता है। इसलिए तीसरा भी सम्भव है। किन्तु शङ्कुक का यह कथन भी असङ्गत है। क्योंकि सामाजिक अनुकर्त्ता और अनुकार्य के भेद को नहीं समझता है और उनका अनुकरण-सिद्धान्त दोषपूर्ण सिद्ध किया जा चुका है।

१. क–प्रकृतिः रसः।

अथ त एव रसनोपयोगित्वे विभावादिरूपतां प्रतिपद्यन्ते । तर्हि रसप्रसादाद्भावा विभावादयः । अथोच्यते विभावादिप्रसादाद्रसो यथोक्तं प्राक् । रसप्रसादाच्च विभावादिरूपत्वम् । तर्हि परस्पराश्रयत्वम् । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्त इत्याक्षेपः ।

अत्र सिद्धान्तमाह—दृश्यते हीति । प्रमदादयः प्रतीताः ।

सन्तो रसास्वादं विदधते यथोक्तं प्राक् । अतो न रसेभ्यो भावाः ।

अभिनव—इस प्रकार अभिनव के अनुसार इस पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार है--क्या रसों से भावों की उत्पत्ति होती है ? अथवा उसके विपरीत अर्थात् भावों से रस की निष्पत्ति होती है ? अथवा परस्पर एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं ? ये तीन पक्ष हैं। यहाँ 'आहो' का प्रयोग भिन्न क्रम है अर्थात् उसका अन्वय भिन्न स्थान पर होगा। विभावादि से रस को निष्पत्ति होती है, यह पहले कहा जा चुका है। यह दूसरा पक्ष भावों से रस निष्पत्ति होती है पहिले स्वीकृत हो चुका है। अब प्रश्न होता है कि यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि लोक में विभाव, अनुभाव आदि कोई पदार्थ नहीं होते। लोक में तो उन्हें कारण, कार्य या अवस्था रूप ही माना जाता है। यदि यह कहा जाय कि वे ही नाट्य आदि में प्रयुक्त होने पर आस्वादन के उपयोगी होने से विभावादि रूप को प्राप्त हो जाते हैं। तो यह स्वीकार करना होगा कि रस की कृपा से ही विभावादि होते हैं और यदि यह कहा जाय कि विभावादि की कृपा से रस की निष्पत्ति होती है तो अन्योऽन्याश्रय दोष आ जाता है। क्योंकि विभावादि का व्यवहार रस के कारण और रस की निष्पत्ति विभावादि से होती है तो एक दूसरे पर आश्रित रहने वाले कार्य नहीं हो सकते। अतः भावों से रस की निष्पत्ति होती है। इस स्वीकृत सिद्धान्त पर यह आक्षेप है।

इस पर सिद्धान्त पक्ष को कहते हैं—प्रमदा आदि की प्रतीति ही रसास्वाद को उत्पन्न करती हैं। जैसाकि पहिले कहा जा चुका है। इसलिए रसों के भावों की उत्पत्ति नहीं होती।

विमर्श—भरत मुनि यहाँ रस और भावों के सम्बन्ध में तीन पक्ष प्रस्तुत करते हैं—(१) क्या भावों से रसों की निष्पत्ति (अभिनिर्वृत्ति) होती है ? (२) क्या रसों से भावों की निष्पत्ति (अभिनिर्वृत्ति) होती है ? (३) क्या परस्पर एक दूसरे के सम्बन्ध से इनकी उत्पत्ति होती है ?

इनमें प्रथम पक्ष भट्टलोल्लट का है। भट्टलोल्लट भावों के उपचय होने पर उससे रस की सृष्टि मानते हैं। द्वितीय पक्ष के समर्थक श्री शङ्कुक हैं। उनका कथन है कि अनुकर्त्ता (अभिनेता) के अभिनय में रस का आस्वादन करने वाले सामाजिक को अनुकार्य

भवन्ति[1] चात्र श्लोकाः—

[2]नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ ३५ ॥

भावशब्दार्थपर्यालोचनया चैतदेवोपपन्नमिति श्लोकेनाह—

नानाभिनयैः सम्यग्बद्धान् हृदयं गतान् भावयन्ति सम्पादयन्ति रसास्तस्माद्भावाः ॥३५॥

नन्वेतद्भावशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् । न तत्प्रकृतं किञ्चिदुक्तमित्याशङ्क्य प्रकृते योजयितुमाह—नानाद्रव्यैरिति ।

में रत्यादि स्थायी भावों की प्रतीति होती है। तीसरा पक्ष भाव और रस को परस्पर एक दूसरे का उपकारक मानता है। उनका कथन है कि रस भावहीन नहीं होता है और न भाव रसहीन होता है। भाव रस को भावित करते हैं, और रस भावों से भावित होते हैं। इसीलिए उन्हें भाव कहा जाता है। इस प्रकार भरत के अनुसार भावों से ही रस की अभिनिर्वृत्ति होती है क्योंकि भावों में रस का अस्तित्व अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति का तो उन्होंने स्पष्ट निषेध किया है (न रसेभ्यो भावानामभिनिर्वृत्तिः)। अभिनवगुप्त भी इसी मत के समर्थक है। (अतो न रसेभ्यो भावाः)। अतः रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति नहीं मानी जा सकती है। किन्तु दोनों को परस्पर आश्रित माना है। रस भाव के आश्रित होता है और भाव रसाश्रित।

अभिनव—भाव शब्द के अर्थ की पर्यालोचना करने से यही तथ्य युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इसी बात को इस श्लोक से कहते हैं—

अनुवाद—इस सम्बन्ध में परम्परागत श्लोक प्राप्त हैं—

अनुवाद—क्योंकि अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों को भावित करते हैं इसलिए नाट्य प्रयोक्ताओं को उन्हें भाव समझना चाहिए ॥३५॥

अभिनव नाना प्रकार के अभिनयों से अच्छी तरह से सम्बद्ध अर्थात् हृदयगत रसों को भावितकरते हैं, सम्पादित करते हैं, इसलिए ये भाव कहें जाते हैं ॥३५॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि यह तो भाव शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त (कारण) कहा गया है। किन्तु इससे प्रकृत विषय में कुछ भी नहीं कहा है। इस प्रकार आशङ्का करके प्रकृत विषय में उसकी योजना करने के लिए कहते हैं—

१. क–त. भवन्ति वंश्ये श्लोकाः । ख. तत्र श्लोका ।
क–अ. भवतश्चात्र श्लोकौ ।
२. ख. नानाभिनयसम्बन्धान् ।

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥ ३६ ॥
न भावहीनोऽस्ति रसो न[1] भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ ३७ ॥

व्यज्यत इति व्यञ्जनञ्चानुपानादि रसोऽत्राभिप्रेतः । बहुविधैरिति व्यञ्जनस्योपलक्षणम् । अभिनयैरित्यस्य वा विशेषणम् ॥ ३६ ॥

एवं स्थितपक्षमुपसंहरति—न भावहीनोऽस्ति रस इति । अत्र चोद्यवादी स्वाशयमुन्मीलयति—न भावो रसवर्जित इति । लोके हि न कश्चिद्विभावादिव्यवहार इति भावाः । अथोत्तरमाह परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ।

अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने तदुपयोगितया विभावादिव्यपदेश इत्यतो या परस्परकृता सिद्धिः सा भद्रं भवेदिति संभाव्यते । एवम्भूतमितरेतराश्रयजं न दूषणमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अनुवाद - जिस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों से व्यञ्जनों की भावना (उत्पत्ति, अभिव्यक्ति या संस्कार) होती है उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ मिलकर रसों को भावित करते हैं, निष्पन्न करते हैं ॥३६॥

अभिनव—अनेक द्रव्यों से जो व्यक्त होता है वह व्यञ्जन है। व्यञ्जन शब्द से यहाँ अनुपानादि रस अभिप्रेत हैं। 'बहुविधैः' यह व्यञ्जन का उपलक्षण है अथवा 'अभिनयैः' अर्थात् अभिनय पद का विशेषण है ॥३६॥

विमर्श—यहाँ पर 'बहुविधैः' पद को व्यञ्जन का उपलक्षण कहा गया है अथवा अभिनय पद का विशेषण बतलाया गया है। जो विद्यमान रहते हुए अन्य का व्यावर्त्तक होता है उसे विशेषण कहते हैं और जो विद्यमान न रहते हुए अन्य का व्यावर्त्तन करता है उसे उपलक्षण कहते हैं। जैसे यहाँ पर 'बहुविधैः' पद 'अभिनयैः' का विशेषण है। क्योंकि अभिनय में भावों का बहुविधत्व परिलक्षित होता है अतः वह अभिनय का विशेषण है। किन्तु व्यञ्जन में बहुविधत्व नहीं दिखाई देता, इसलिए 'बहुधिधैः' पद व्यञ्जन का उपलक्षण है ॥३६॥

अनुवाद—भाव से रहित रस नहीं होता और न भाव रस-विहीन होता है। अभिनय में एक दूसरे के आश्रय से इनकी सिद्धि होती है ॥३७॥

अभिनव—इस प्रकार सिद्धान्त पक्ष का उपसंहार करते हैं कि 'भाव से रहित रस नहीं होता है, इस पर शङ्काकर्त्ता अपने आशय को प्रकट करता है—'रस से रहित भाव नहीं होता।' अर्थात् लोक में रस के विना विभाव आदि का कोई व्यवहार नहीं देखा जाता है। इसका उत्तर देते हैं—'अभिनय में दोनों के परस्पर योग से सिद्धि होती है।'

१. क-त. भावो वा रसवर्जितः । क-म. न रसो भाववर्जितः ।

[1]व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं भावा रसाश्चैव भावयन्ति परस्परम् ॥ ३८ ॥

अत्रैव दृष्टान्तमाह—व्यञ्जनौषधिसंयोग इति । व्यञ्जनौषधिसंयोगोऽन्नं च कर्तृ यथा परस्परमन्योन्यं कर्मभूतं स्वादुतां नयेत् तथा भावा रसाश्चान्योन्यं भावयन्ति । भावा रसान्भावयन्ति निष्पादयन्ति । रसास्तु भावान् भावयन्ति । भावान्कुर्वन्ति । भावादिव्यपदेश्यान्कुर्वन्तीत्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—एकत्रैकदा क्रियायामन्योन्याश्रयत्वं दोषो न तु क्रिया-भेदे । यथा व्यञ्जनादिसंयोगेनान्नस्याम्लादि[2] रसवत्ता क्रियते । अन्नेन चाश्रय-रूपेण सता व्यञ्जनसुखयोग्यता क्रियते । एवं भावै रस्यमानता रसैश्च विभावा-दिव्यपदेश्यता कारणादीनाम् । यथा पटापेक्षया तन्तवः पटकारणमिति व्यपदेश्याः । तन्त्वपेक्षया पटः कार्यः । न चेतरेतराश्रयत्वं तथा प्रकृतेऽपीति ॥ ३८ ॥

अभिनव—अभिनय में रस का साक्षात्कार होने पर उसके उपयोगी (सहायक) होने से इन्हें विभावादि का व्यवहार होता है । इसलिए इन दोनों के परस्पर संयोग से अभिनय रूप सिद्धि होती है । यह ठीक ही प्रतीत होता है । इसलिए यहाँ पर अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता है ॥३७॥

अनुवाद—जिस प्रकार व्यञ्जन और औषधि का संयोग अन्न अर्थात् भोजन को स्वादु (स्वादिष्ट) बना देता है उसी प्रकार भाव और रस परस्पर एक दूसरे को भावित करते हैं ॥३८॥

अभिनव—अभिनवगुप्त यहाँ पर दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार व्यञ्जन और औषधि का संयोग कर्त्तारूप में और कर्मरूप अन्न परस्पर एक दूसरे को सुस्वादु बनाते हैं इसी प्रकार भाव और रस परस्पर एक दूसरे को भावित करते हैं । भाव रस को भावित करते हैं, निष्पादन करते हैं और रस भावों भावित करते हैं, भाव बनाते हैं अर्थात् भावादि को भाव पद से कहने योग्य बनाते हैं ।

अभिनव—यह कहा गया है कि—एक विषय में (एक-जगह) एक ही समय में एक क्रिया होने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होता है । क्रियाभेद अर्थात् क्रिया की भिन्नता होने पर अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता । जिस प्रकार व्यञ्जन आदि द्रव्यों के संयोग से अन्न की आह्लादक (स्वादु) रसवत्ता होती है और आश्रयरूप (आधारभूत)

१. ख. व्यञ्जनौषधिसंयोगाद्यथा न स्वादुता भवेत् ।
क–अ. व्यञ्जनौषधिसंयोगाद्यथान्नमुपपादयेत् ।
क–म. व्यञ्जनौषधिसंयोगाद्यथान्नस्वादुता भवेत् ।
२. क-संयोगेनान्नस्याह्लादि ।

यथा बीजाद्भवेद्वृक्षो [1]वृक्षात्पुष्पं फलं यथा ।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो[2] भावा व्यवस्थिताः[3] ॥ ३९ ॥

ननु यदि भावेभ्यो रसास्तर्हि कथमुक्तं 'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते । तेन पूर्वं त एवोद्देश्याः' इत्याशंक्याह—यथेत्यादिना ।

बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः । [4]तन्मूला हि प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्तिरिति । [5]त एव च व्याख्यानार्हाः । कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः । सैव च संवित्परमार्थतो रसः । सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्धया विभावादिप्रतीतिरिति प्रयोजने (नं) नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च । तदेवं मूलं [6]बीजस्थानीय

अन्न से व्यञ्जन को आस्वादन के योग्य बनाया जाता है। इसी प्रकार भावों के द्वारा रसवत्ता होती है और रसों के द्वारा कारणादि को विभावादि नाम से अभिहित किया जाता है। जिस प्रकार पट की अपेक्षा से तन्तु को कारण नाम से अभिहित किया जाता है और तन्तु की अपेक्षा से पट कार्य कहा जाता है। किन्तु यहाँ क्रियाभेद से अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी क्रियाभेद के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होता है ॥३८॥

अभिनव—प्रश्न यह है कि यदि भावों से रस की उत्पत्ति मानते हैं तो आपने कैसे कहा कि "रस के विना कोई अर्थ प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए पहिले उन्हीं का कथन करना चाहिए" इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—**जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से फूल तथा फल होते हैं। उसी प्रकार रस मूल हैं, उन्हीं से सभी भाव व्यवस्थित हैं अर्थात् उन्हीं के द्वारा समस्त भावों की स्थिति है ॥३९॥**

विमर्श—नाट्यशास्त्र के कुछ संस्करणों में इस कारिका के बाद 'एवमेते स्थायिनो भावाः रससंज्ञाः प्रत्यवगन्तव्याः' यह अधिक पाठ मिलता है। इसका अर्थ है—'इस प्रकार इन स्थायी भावों को 'रस' संज्ञक (रस रूप में) समझना चाहिये।'

१. क–भ. वृक्षाद्बीजं भवेद्यथा । क–त. वृक्षात्पुष्पफलं तथा ।
२. ख. ध. ततो । क–अ. तेषाम् ।
३. क–त पुस्तके इतः परम्–'एवमेते स्थायिनो भावाः रससंज्ञा प्रत्यवगन्तव्या' इत्याधिकं दृश्यते ।
४. क–तन्मूलादि प्रीतिपूर्विका ।
५. क–ततरे च व्याख्यानार्हाः ।
६. क–बीजस्थानीयात्कविगतो रसः ।

कविगतो रसः । कविर्हि सामाजिकतुल्य एव । तत एवोक्तं "शृङ्गारी चेत्कविः ।" (ध्वन्या० ३-४२) इत्याद्यानन्दवर्धनाचार्येण । ततो वृक्षस्थानीयं काव्यम् । तत्र पुष्पादिस्थानीयोऽभिनयादिनटव्यापारः । तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः । तेन रसमयमेव विश्वम् ।

अत्र च विज्ञानवादो द्विधाभिधानं स्फोटतत्त्वं सत्कार्यवाद एकत्वदर्शनमित्यादि च द्रष्टव्यम । वयं तु प्रकृतानुपयोगिश्रुतलवसन्दर्शनमिथ्याप्रयाससंश्रयमशिक्षितपूर्विण इत्यास्ताम् ।

अन्ये तु बीजादिव भावाद्रसवृक्षस्ततोऽप्यभिनयकुसुमसुन्दरात्फलमिव भावः प्रतीत्या भुज्यत इति व्याचक्षते । तैः प्रकृतविरुद्धं सर्वं व्याख्यातम् । एवं हि भावस्यैवोपक्रमपर्यवसानवर्तित्वमुक्तं स्यादित्यास्तां चैतत् । एवं त्रयोऽपि पक्षाः कथञ्चिदुपगता अभिप्रायवैचित्र्येणेति तात्पर्यम् ॥३९॥

अभिनव—बीज जिस प्रकार वृक्ष के मूल में स्थित होता है उसी प्रकार रस भी काव्य के मूल में स्थित होते हैं । इसीलिए रसमूलक ही आनन्दमय ज्ञान (प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्तिः) होता है अर्थात् आनन्दमय व्युत्पत्ति रसमूलक होती है । इसलिए वही रस ही व्याख्यान के योग्य हैं । कविनिष्ठ साधारणीकरणरूप रस संविन्मूलन काव्य के द्वारा नट का (अभिनयरूप) व्यापार होता है और वही कविगत संवित् वास्तव में रस है । उस कविगत संवित् के वशीभूत सामाजिक को रसानुभूति के पश्चात् अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा विभावादि की प्रतीति होती है । इस प्रकार कविगत रस ही मूल बीज स्थानीय है और कवि सामाजिक के समान ही है । अतएव आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में कहा है कि—"यदि कवि शृङ्गारी है तो सारा जगत् रसमय होगा और यदि कवि वीतराग है तो सारा काव्य-जगत् नीरस होगा ।" (ध्वन्यालोक ३-४२) । अतः वृक्षस्थानीय काव्य है अर्थात् बीज स्थानीय रस से काव्यरूपी वृक्ष उद्भूत होता है । उसमें पुष्पस्थानीय अभिनय आदि नट का व्यापार होता है और सामाजिक का रसास्वादन फलस्थानीय है । इसलिए सारा विश्व रसमय ही है । भाव यह कि रस ही काव्यरूपी वृक्ष का बीजस्थानीय मूल कारण है । उस बीजस्थानीय रस से काव्य की सृष्टि होती है । फिर काव्य-वृक्ष से अभिनयादि नटगत व्यापार फूल के समान है और सामाजिक के द्वारा रसास्वादन उस काव्य-वृक्ष का फल है ।

अभिनव—यहाँ पर (रसचर्चा के प्रसङ्ग में) विज्ञानवाद, द्वैतवाद, स्फोटवाद, सत्कार्यवाद और अद्वैतवाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर रस-विषयक विवेचना उन-उन आचार्यों के ग्रन्थों में देखना चाहिए । हमने तो प्रकृत विषय के अनुपयोगी शास्त्रों के लेशमात्र ज्ञान के प्रदर्शन में मिथ्या प्रयास करना कभी सीखा ही नहीं है । इसलिए उसे रहने दिया जाय अर्थात् यहाँ उसकी चर्चा नहीं करेंगे ।

[1]तदेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः ।

एवमुद्दिष्टानां विभक्तानां च रसानां सामान्यलक्षणं परीक्षापरिशुद्धम-भिधाय तदनुवादपूर्वकं विशेषलक्षणं वक्तुं पीठबन्धं दर्शयति—तदेषामित्यादिना।

यतः सामान्यलक्षणमेतेषां कृतं तस्माद्विशेषलक्षणांशपूरकाण्युत्पत्त्यादीनि व्याख्यास्यामः । तत्रोत्पत्तिरुत्पादकानामुत्पाद्यानां च विशेषलक्षणमन्यो-न्यतो व्यवच्छेदात् । उत्पादकानामप्येतदुत्पादकत्वमुत्पादकान्तराद्वैलक्षण्यमुत्पा-द्यकृतम् । एवमुत्पाद्यानामुत्पादककृतमिति परस्परलक्षणत्वम् ।

वर्णः [2]श्वेतादिस्तु सुस्पष्टम् । एवं निदर्शनं तु शृङ्गारो नामेत्यादिना विभावादिविशेषसंयोगः । [3]उत्पत्तिलक्षणे ह्यन्योन्याश्रयङ्का । वर्णदेवतयोस्त्वा-गमानुविद्धत्वमिति स्फुटं निश्चयदर्शनोपायत्वमुत्पत्त्यादीनां च संभवति । विभावादिविशेषसंयोगस्तु तद्वैलक्षण्यान्निदर्शनमित्युक्तम् ।

अभिनव—अन्य व्याख्याकार तो बीज के समान भाव से अर्थात् भावरूपी बीज से रसरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और अभिनयरूप पुष्पों से सुन्दर रसरूपी वृक्ष से फल के समान प्रतीति के द्वारा भाव का भोग किया जाता है इस प्रकार व्याख्या करते हैं। उन्होंने प्रकृत (प्रस्तुत प्रकरण) के विरुद्ध (प्रतिकूल) व्याख्या की है । इस प्रकार प्रारम्भ और अन्त (पर्यवसान) में दोनों जगह भाव का ही कथन किया है, अतः इसे भी रहने दिया जाय। इस प्रकार अभिप्राय के भेद से तीनों पक्ष अर्थात् अभिनय के वैचित्र्य के कारण तीनों पक्ष कथञ्चित् स्वीकृत किये गये हैं। किन्तु अभिनवगुप्त दो पक्षों का खण्डन कर सिद्धान्त पक्ष भावों से रस की उत्पत्ति को स्वीकार किया है, यही तात्पर्य है ॥ ३९ ॥

अभिनव—इस प्रकार नाममात्र से कथित और विभक्त रसों के परीक्षा के द्वारा परिष्कृत सामान्य लक्षण को कहकर उसके अनुवाद के साथ विशेष लक्षण को कहने के लिए भूमिका बनाते हैं—

अनुवाद—अब इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण, देवता, और दृष्टान्त आदि की व्याख्या करेंगे ॥

अभिनव—क्योंकि इनका सामान्य लक्षण किया जा चुका है, अतः विशेष-लक्षण के पूरक उत्पत्ति आदि की व्याख्या करेंगे। उनमें उत्पत्ति, उत्पादक और उत्पाद्यों के परस्पर एक दूसरे से भेद होने से विशेष लक्षण हैं। उत्पादकों का यह उत्पादकत्व भी दूसरे उत्पादकों से उत्पाद्य अर्थात् हास्यादि के कारण ही विलक्षण होता है । इस प्रकार उत्पाद्यों की विलक्षणता (विशिष्टता) उत्पादक के कारण ही होती है, इस प्रकार एक दूसरे का लक्षण एक दूसरे से विशिष्ट होता है ।

१. क–व. एषान्त्विदानीमनुभावविभावव्यभिचारिसंयुक्तानामुत्पत्ति ।

२. क–श्वेतादिस्तु सुस्पष्टं विशेषलक्षणादि तु ।   ३. क–उत्पत्ति–लक्षणा ।

तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः । तद्यथा—शृङ्गारो [1]रौद्रो वीरो बीभत्स इति । [2]अत्र—

[3]शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो [4]रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥ ४० ॥

तत्रोत्पत्तिं तावदाह—तेषामित्यादिना ।

तेषां रसानामुत्पत्तौ हेतवः सूचकाश्चत्वारः । रसानामुत्पाद्योत्पादकप्रकारो यावान् सम्भवति स चतुर्भिरेव सूचित इति यावत् ।

तथा हि—तदाभासत्वेन तदनुकाररूपतया हेतुत्वं शृङ्गारेण सूचितम् । यतो विभावाभासादनुभावाभासाद्व्यभिचार्याभासात्प्रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृङ्गाराभासः कामना अभिलाषमात्ररूपा हि रतिरत्र व्यभिचारिभावाः, न स्थायी । तस्य स तु स्थायिकल्पत्वेनाभाति । तद्वशाद्धि·

अभिनव—वर्ण श्वेत आदि स्पष्ट हैं । इस प्रकार निदर्शन पद से 'शृङ्गारो नाम' इत्यादि के द्वारा विभावादि का विशेष संयोग अभिप्रेत है । उत्पत्ति अर्थ ग्रहण करने पर अन्योऽन्याश्रय दोष की आशङ्का होती है । वर्ण और देवता तो आगम में वर्णित होने से स्पष्ट है । 'निश्चय से दर्शन' (निश्चयेन दर्शनम् निदर्शनम्) इस व्युत्पत्ति के अनुसार उत्पत्ति आदि का उपायत्व सम्भव नहीं है । अतः उससे विलक्षण होने के कारण विभावादि का विशेष संयोग निदर्शन कहा जाता है ।

उनमें पहिले उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—

अनुवाद उन रसों के उत्पत्ति के हेतु चार रस हैं । जैसे—शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स । इनमें—

अनुवाद—शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है ।।४०।।

अभिनव—उन रसों की उत्पत्ति में चार हेतु हैं । रसों के जितने भी उत्पाद्य-उत्पादक भाव प्रकार (भेद) हो सकते हैं, वह इन चारों से ही सूचित हो जाता है ।

---

१. क–न.म. शृङ्गारो वीरो रौद्रो बीभत्स इति ।

२. क–अ. तत्र । घ–त.ब. नास्ति ।

३. क–अ. शृङ्गराच्च । शृङ्गारात्तु ।

४. क–न. रौद्रात्तु ।

भावाद्याभासता अतश्च स्थाय्याभासत्वं रतेः । यतो रावणस्य सीता द्विष्टा मय्युपेक्षिका वेति हृदयं नैव स्पृशतीति । तत्स्पर्शे [1]ह्यभिमानोऽस्या विलीयत एव । 'मयीयमनुरक्ता' इति तु निश्चयो ह्यनुपयोगी । कामजमोहसारत्वात् । शुक्तौ रूप्याभासवत् ।

यद्यपि—

"दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं,
चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां विना ।
एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरङ्गैरनङ्गातुरैः
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम् ॥"

इत्यादौ [3]रावणवाक्ये तावति रत्याभासतैव । न तु हासः स्फुरति । तथापि

जैसे—शृङ्गार के द्वारा तदाभास रूप से और तदनुकृति रूप से हेतुत्व सूचित होता है । क्योंकि विभावाभास, अनुभावाभास और व्यभिचार्याभास के द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर केवल चर्वणाभास रूप शृङ्गाराभास होता है अर्थात् रति के पूर्ण परिपाक न होने से शृङ्गार नहीं शृङ्गाराभास होता है । उसमें (शृङ्गाराभास में) कामना अर्थात् अभिलाषमात्र रूप रति व्यभिचारीभाव है, स्थायीभाव नहीं । क्योंकि उसका स्थायीभाव के समान आभास होता है । उस रत्याभास के कारण विभावादि का आभास होता है । इसलिए रत्यादि स्थायीभाव का आभास मात्र होता है । क्योंकि सीता रावण के प्रति द्वेष करती हैं अथवा मेरे विषय में उपेक्षा करती हैं, यह बात रावण के हृदय को स्पर्श नहीं करतो, क्योंकि उसके हृदय का स्पर्श करने पर तो उसका अभिमान ही विलीन हो जाता है । 'यह सीता मुझ पर अनुरक्त है' रावण का इस प्रकार का निश्चय काम-जनित मोहमात्र होने के कारण यहाँ पर अनुपयुक्त और शुक्ति में रजत (चाँदी) के अभास के समान भ्रममात्र है । यद्यपि—

अभिनव—"दूर से ही आकर्षित करने वाले मोहमन्त्र के समान उस सीता का नाम सुनते ही चित्त एकक्षण के लिए भी स्थिर रहने में असमर्थ हो जाता है । किन्तु व्याकुल एवं उद्विग्न मेरे इन कामातुर अङ्गों के द्वारा उसकी प्राप्ति का सुख कैसे प्राप्त हो, यह स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता ।"

१. क—ह्यभिमानोऽस्य विलीयत । क–भ.म. ह्यभिमानोऽस्यापि लीयत ।
२. क–भ. म. मयीयमनुरक्तेति मतिश्च यो ह्यन्वययोनिकामृजुमोहसारत्वात् ।
३. क–भ. रावणकाव्ये ।

[1]सीताविभावविलक्षणं रावणवचः प्रकृतिविरुद्धञ्च चिन्तादैन्यमोहादिक-[2]व्यभिचारिगणमश्रुपातपरिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूपं सद्धास्यविभावरूपम् । तद्वक्ष्यते—विकृतपरवेषालङ्कारेत्यादि । एवं [3]तदाभासतायाः प्रकारः शृङ्गारेण सूचितः ।

तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्वं सर्वेषु मन्तव्यम् । अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम् । [4]तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते । तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता । अत एव संवित्सतत्त्वनिपुणैश्चिरन्तनै रसभावतदाभासव्यवहारस्तत्र तत्र क्रियते ।

अभिनव—रत्यादि रावण के वचन में रति का आभास ही स्फुरित हो रहा है, हास का स्फुरण नहीं होता है। तथापि[5] सीता रूप विभाव से विलक्षण रावण का वचन प्रकृति के विपरीत होने से चिन्ता, दैन्य, मोह, आदि व्यभिचारिभावों और अश्रुपात, विलाप आदि अनुभावों के अनुचित होने के कारण तदाभास (रत्याभास) होकर हास्य के विभाव रूप हो जाते हैं। जैसाकि 'विकृतपरवेषालङ्कारेत्यादि' के द्वारा आगे कहेंगे। इस प्रकार तदाभासता का प्रकार शृङ्गार के द्वारा सूचित किया गया है।

अभिनव—इसी प्रकार करुणाभास आदि सभी रसाभासों में हास्यत्व मानना चाहिए। क्योंकि अनुचित प्रवृत्ति के कारण कोई हास्य विभाव हो सकता है और वह अनौचित्य सभी रसों के विभाव एवं अनुभाव आदि में हो सकता है। इस प्रकार व्यभिचारीभावों की भी यही स्थिति है। इसलिए अनुभूति के तत्त्व को जानने में निपुण प्राचीन आचार्य रस, भाव, रसाभाव, भावाभास आदि का व्यवहार उन-उन स्थानों पर करते हैं।

१. क–सीताविभावलक्षणं रावणवयः प्रकृतविरुद्धश्च ।
२. क–व्यभिचारिगणोऽश्रुपातः ।
३. क. तदाभासतया प्रकारः ।
४. क. तत्रानौचित्यम् ।
५. पाठभेद के कारण इसका अर्थ निम्न प्रकार किया जाता है—तथापि सीतारूप विभाव से लक्षित रावण की अवस्था एवं प्रकृति के विरुद्ध चिन्ता, दैन्य, मोहादि व्यभिचारीगण अश्रुपात, विलाप रूप अनुभावों के अनौचित्य के कारण रत्याभास होकर हास्य विभाव बन जाते हैं।

अमोक्षहेतावपि तदाभासतायां शान्ताभासो हास्य एव [1]प्रहसनरूपस्य अनौचित्यत्यागः सर्वपुरुषार्थेषु व्युत्पाद्यः । एतच्च लक्षणे वक्ष्यते ।

तत्र हास्याभासो यथाऽस्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य—

"लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एष
सम्मन्यते यदि किमङ्ग वदाम नाम ।
यस्त्वत्र [2]हासमुखरत्वममुष्य तेन
पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति[3] ॥"

एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम् । एतदेवोदाहरणम् । एवमन्यत्तेनानुमेयमिति मुनिना यथाग्रहणं कृतम् ।

यदीयफलानन्तरं द्वितीयरसोऽवश्यम्भावी तस्योदाहरणं रौद्रः । रौद्रस्य हि फलं वधबन्धादि । तद्विभावकेनावश्यं करुणेन भाव्यम् ।

मोक्ष का हेतु न होने पर भी जहाँ पर तदाभास अर्थात् मोक्ष का हेतु जैसा आभासित होता है वहाँ शान्ताभास प्रहसन रूप हास्य ही होता है । प्रहसन रूप अनौचित्य का परित्याग सभी पुरुषार्थों में करना चाहिए। लक्षण के प्रकरण में इसका निरूपण करेंगे ।

उनमें हास्याभास का उदाहरण हमारे चाचा वामनगुप्त का यह श्लोक है--

अभिनव—"हे अङ्ग ! यदि यह लोक आपके लोकोत्तर चरितों का सम्मान नहीं करता तो हम क्या कहें ? किन्तु उनके सामने आप जो हंसते हैं, उससे कौन ऐसा है जिसके हंसते-हंसते पार्श्व (कोंख) न दुखने लगे ।"

यहाँ पर उपहास (मजाक) करने के लिए हास्य का वर्णन किया गया है अतः यहाँ हास्य न होकर हास्याभास हो गया है ।

अभिनव—इसी प्रकार जो जिसका बन्धु नहीं है उसके शोक में करुण रस भी हास्य ही होता है। इस प्रकार अनौचित्य की स्थिति में सब जगह हास्याभास ही समझना चाहिए। यही अर्थात् 'लोकान्तराणि चरितानि' इत्यादि श्लोक इसका उदाहरण है । इसी प्रकार अन्यों का भी उसी से अनुमान कर लेना चाहिए, इसी के लिए भरतमुनि ने 'यथा' पद का ग्रहण (सन्निवेश) किया है ।

अभिनव—जिसके फलके अनन्तर दूसरे रस की उत्पत्ति (अवश्यंभावी) हो, उसका उदाहरण रौद्र रस है। रौद्र रस का फल वध और बन्धन आदि है। उसके विभाव ही करुण रस में होते हैं ।

१. क.प्रहसनरूपः स्यानौचित्यत्यागः ।
२. क. हासमुखतत्त्वममुष्य ।
३. क-भ. केनापि जहासीति ।

तथा वेणीसंहारे—

"अद्यैवावां रणमुपगतौ तातमम्बां च दृष्ट्वा
घ्रातस्ताभ्यां शिरसि विनतोऽहं च दुश्शासनश्च।
तस्मिन्बाले प्रसभमरिणा प्रापिते तामवस्थां
पित्रोः पार्श्वं व्यपगतघृणः किं नु वक्ष्यामि गत्वा॥"

एवं रौद्रानन्तरं नियमेन भयानकः। शृङ्गारानन्तरं नियमेन करुणः। व्याप्रियते त्वसौ तज्जन्मनि यथा तापसवत्सराजे वासवदत्तादाहाद्वत्सराजस्य। ननु [1]तत्र रतेरविच्छेदाद्बन्धुताकृतः शोकः। नैतत्। करुणोत्पत्तिकालेऽपि हि क्रोधस्य [2]विच्छेद एव। यदाह—

'निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन'।
(वेणी. १-७) इति।

जैसे, वेणीसंहार नाटक में—

अभिनव—"आज ही हम दोनों (दुर्योधन और दुःशासन) माता और पिता का दर्शन करके युद्धभूमि में गये थे। उन दोनों अर्थात् माता-पिता ने विनम्र हुए मेरे और दुःशासन के शिर को सूंघा था। उस बालक दुःशासन के शत्रु (भीम) के द्वारा इस अवस्था में पहुँचा दिये जाने के बाद मैं निर्लज्ज माता-पिता के पास जाकर क्या कहूँगा।"

अभिनव—यहाँ पर रौद्र रस के प्रदर्शन के बाद करुण रस की उत्पत्ति होती है। करुण के समान ही रौद्र रस के बाद नियमतः भयानक रस होता है। शृङ्गार रस के अनन्तर नियमतः करुण रस होता है और नायक-नायिका के चिर-वियोग या मृत्यु या जीवित होते हुए भी करुण रस होता है। जैसा कि तापसवत्सराज में वासवदत्ता के दाह के समाचार से वत्सराज को करुण का उदय होता है। वहाँ तापसवत्सराज में आगे वासवदत्ता के मिल जाने से रति का विच्छेद न होने से करुण रस नहीं माना जा सकता, अपितु केवल बन्धुभाव के कारण शोकमात्र है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि करुण रस की उत्पत्ति के समय क्रोध का विच्छेद हो जाता है। जैसा कि वेणीसंहार नाटक में कहा गया है कि—

अभिनव—"शत्रुओं का विनाश हो जाने से वैर (शत्रुता) रूप अग्नि के शान्त हो जाने पर पाण्डुपुत्र (पाण्डव) कृष्ण के साथ प्रसन्न हों।" (वेणी० १।७)

१. क. तत्र रतेर्विच्छेदात्।
२. क. क्रोधस्याविच्छेद एव।

न च बन्धुमात्रं हेतुः । एवं हि सति—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्वितेन वहनेन न वीक्षितासि ॥'
(तापसवत्सराजे २-१६)

इत्यादौ ते इति प्राणभूतं पदं निरुपयोगितां गमितं स्यात् ।

रतिप्रलापेषु च शृङ्गार एव करुणस्य जीवितम्—

'हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥' (कुमार. ४-९)
इत्याद्युक्तिषु ।

एवं वीराद्भयानकोत्पत्तिः । यथा—

'कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत् फाल्गुनात्'
(वेणी. ५-५)

यहाँ पर क्रोध के विच्छेद से करुण रस की उत्पत्ति होती है। केवल बन्धुता-मात्र करुण का हेतु नहीं है । ऐसा होने पर तो—

"काँपती हुई, भय से खिसके हुए आंचल वाली, उन विधुर नेत्रों को चारों ओर घुमाती हुई धूम से स्वयं अन्धे हुए क्रूर अग्नि ने निर्दयता से जला डाला, उसे देख नहीं सका ।" (तापसवत्सराज २।१६)

इत्यादि में प्राणभूत 'ते' पद अनुपयुक्त हो जाता है ।

रति के प्रलाप में शृङ्गार ही करुणरस का जीवित है, प्राण है । जैसे—

अभिनव—"हे दयित ! 'तुम मेरे हृदय में वसती हो' इस प्रकार प्रिय वचन जो तुमने कहा था, उसे मैं छल (कपट) समझती हूँ । यदि उपचारमात्र (दिखावटी) न होता तो तुम तो जलकर अङ्गहीन (अनङ्ग) हो गये और तुम्हारे हृदय में वास करने वाली अर्थात् रहने वाली रति अक्षत कैसे रहता ?"

यहाँ पर शृङ्गार रस के आधार पर करुण रस की उत्पत्ति हो रही है ।

अभिनव—इसी प्रकार वीर से भयानक रस की उत्पत्ति होती है । जैसे—

"कर्ण के पुत्र वृषसेन को कर्ण के समान ही मारने वाले अर्जुन से सारा जगत् भयभीत हो रहा है ।" (वेणीसंहार ५।५) ।

यहाँ पर अर्जुन की वीरता से जगत् को भय उत्पन्न हो रहा है, अतः यहाँ वीर रस से भयानक रस की उत्पत्ति हो रही है ।

यत्वत्र श्रीशङ्कुकेनोक्तम्—नात्रोत्साहस्य व्यापार इति । तदसत् । एवं हि निर्विषय एवोत्साहः स्यात् कर्तव्याननुसन्धानात् । युद्धवीरे च परपराजयजनित प्रतापापरपर्यायः शत्रुहृदयदाहदायी तद्वनितादिषु भयानक एव जीवितम् । यथा—

'स पातु वो यस्य हतावशेषास्तत्तुल्यवर्णाञ्जनरञ्जितेषु ।
लावण्ययुक्तेष्वपि वित्रसन्ति दैत्याः स्वकान्तानयनोत्पलेषु ॥'

नियमेन तु भवतीति वक्तव्यम् । नियमश्चकारेणोक्तो रौद्रादित्यानन्तर्यसूचकपञ्चम्यनन्तरं प्रयुक्तेन ।

यस्तु रसो रसान्तरं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते तस्योदाहरणं वीरः । महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयफलाभिसन्धानेनैव । यथा—

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ॥
(महावीरचरिते २-५४) इत्यादि ।

अभिनव—जो कि यहाँ पर शङ्कुक ने यह प्रश्न उठाया है कि भयानक रस की उत्पत्ति में वीररस के स्थायीभाव उत्साह का कोई व्यापार नहीं दिखाई दे रहा है, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो कर्त्तव्य की प्रतीति न होने से उत्साह ही निर्विषय हो जायगा। क्योंकि वीर रस तो सदा शत्रु में भय उत्पन्न करता है। युद्धवीर रस में तो शत्रु के पराजय से उत्पन्न शत्रु के हृदय को जलाने वाला प्रताप का पर्याय रूप भयानक रस प्राणभूत है। जैसे—

अभिनव—"जिस विष्णु के द्वारा मारे गये दैत्यों में से बचे हुए दैत्य उनके (कृष्ण) वर्ण के समान वर्ण वाले अञ्जन से रञ्जित लावण्ययुक्त अपनी स्त्रियों के नीलकमल के समान नेत्रों से भी भयभीत हो उठते हैं, वह विष्णु आप लोगों की रक्षा करें।"

यहाँ पर नियम से वीर रस से भयानक की उत्पत्ति होती है और यह नियम पञ्चमीविभक्त्यन्त 'रौद्रात्' शब्द के बाद प्रयुक्त 'चकार' के प्रयोग से सूचित होता हैं।

अभिनव-तृतीय प्रकार का उत्पत्ति-हेतुत्व—जो रस दूसरे रस को फल मानकर प्रवृत्त होता है उसका उदाहरण वीर रस है। क्योंकि महापुरुषों का उत्साह जगत् को विस्मयान्वित करने रूप फल को मानकर प्रवृत्त होता है। जैसे—

अभिनव-"भुजदण्ड के द्वारा खींचे गये शिव के धनुष का दण्ड टूटने से उत्पन्न, रामचरित की बाल-लीला की प्रस्तावना को घोषित करने वाला ब्रह्माण्ड रूपी भाण्ड के भीतर भ्रमित होने के कारण बढ़ी हुई उग्रता वाला वह टङ्कार अब भी शान्त नहीं हो पा रहा है, यह आश्चर्य है।" (महावीरचरित २।५४)।

इसमें वीर रस का परिणाम (फल) रूप अद्भुत रस वर्णित है।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स [1]हास्यस्तु प्रकीर्तितः ।
[2]रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ॥ ४१ ॥

रौद्रस्तु परविनाशनं फलत्वेनाभिसन्धाय प्रवर्तते न करुणमिति विशेषः । विदूषकहासस्तु नायिकाहासं फलत्वेनाभिसन्धत्त इति मन्तव्यम् ।

यस्तु रसस्तुल्यविभावत्वान्नियमेन रसान्तरं हि परमाक्षिपति तस्योदाहरणं वीभत्सः । तस्य हि ये विभावा रुधिरप्रभृतयस्तेऽवश्यं भयहेतवः तथा [3]तद्व्यभिचारिणो मरणमोहापस्माराद्याः । तदनुभावास्तु मुखविकूणनादयः ।

यथा वेणीसंहारे—

'संस्तभ्यन्तां निहतदुश्शासनपीतशेषशोणिततस्नपितबीभत्सवृकोदरदर्शनवैक्लव्यस्खलितप्रहरणानि रणाद्विद्रवन्ति बलानि' इति (वेणी. ४.)

अभिनव—रौद्र रस तो दूसरे के विनाश को फल मानकर प्रवृत्त होता है। करुण को फल मानकर नहीं प्रवृत्त होता है। यही विशेष है, यही वैलक्षण्य है। विदूषक का हास तो नायिका के हास को फल रूप में अभिसन्धान करता है, ऐसा मानना चाहिए।

अभिनव—चतुर्थ प्रकार का उत्पत्ति–हेतुत्व—जो रस तुल्य विभाव होने के कारण नियमतः दूसरे रस का आक्षेप करता है उसका उदाहरण वीभत्स है। उस वीभत्स रस के रुधिर आदि जो विभाव हैं वे अवश्य ही भय के हेतु हैं और उसके व्यभिचारीभाव मरण, मोह, अपस्मार आदि हैं तथा उसके अनुभाव मुख सिकोड़ना आदि हैं। वे भयानक रस के भी अनुभाव और व्यभिचारीभाव होते हैं।

जैसे—वेणीसंहार नाटक में—

अभिनव—"मारे हुए दुःशासन की छाती से रक्त निकालकर पीने से बचे हुए खून से स्नान करने से वीभत्स दिखाई देने वाले भीम को देखकर घबराहट से जिनके अस्त्र-शस्त्र गिरे जा रहे हैं, ऐसी रणभूमि से भागती हुई सेना को रोको।"

यहाँ पर समान विभावों के वर्णन के आधार पर वीभत्स से भयानक का आक्षेप रूप में वर्णन है।

अनुवाद—शृङ्गार रस का जो अनुकरण है वह हास्य कहलाता है और रौद्र रस का जो कर्म है उसे करुण रस समझना चाहिए ॥ ४१ ॥

---

१. क–अ. प. म. हास्य इति संज्ञितः ।
२. ख. घ. रौद्रस्यापि तु यत्कर्म । क–त. रौद्रस्य चैव यत्कर्म ।
३. क–म. तथा न तद्व्यभिचारिणो ।

[1]वीरस्यापि च यत्कर्म सोद्भुतः परिकीर्तितः ।
बीभत्सदर्शनं यच्च [2]ज्ञेयः स तु भयानकः ॥ ४२ ॥

एवं [3]तदाभासद्वारेण रसान्तराक्षेपकत्वे शृङ्गार उदाहरणम् । तेन शृङ्गारानुकृतिरित्यत्र तुशब्दो वीप्सायाम् । द्वितीयो हेतौ । तेनैवं योजना—या अनुकृतिः स हास्यो यतः प्रकीर्तितः । एवंविभावको हास्य इति शेषः । तद्यथा शृङ्गार [4]आद्यः । शृङ्गारवत्यनुकृतिरित्यर्थः ।

यत्त्वत्र शृङ्गारादद्भुतोत्पत्तेराशङ्का 'दृशः पृथुतरीकृता' (रत्ना० २-१५) इत्यादौ तन्निर्मूलमेव । [5]उदयने हि शृङ्गारः । ब्रह्मणि विस्मयसम्भावना । सा च न तात्कालिकत्वेन नोत्तरकालिकत्वेन । किन्तु पूर्वतरमेवेति न किञ्चिदेतत् ।

अनुवाद--और वीर रस का जो कर्म है वह अद्भुत रस कहा गया है और जो वीभत्स रस का दर्शन होता है उसे भयानक रस समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

अभिनव—इस प्रकार तदाभ्यास के द्वारा रसान्तर अर्थात् दूसरे रस का आक्षेप कराने में श्रृङ्गार रस उदाहरण है। इसलिए 'श्रृङ्गारानुकृतिर्या तु' यहाँ पर 'तु' शब्द का प्रयोग 'वीप्सा' अर्थ में है और दूसरा 'तु' शब्द (हास्यस्तु में) हेतु अर्थ में है। इसलिए इस प्रकार योजना है श्रृङ्गार रस की जो अनुकृति है वह हास्य है। क्योंकि इस प्रकार के विभावों वाला हास्य रस कहा गया है। वह जैसे श्रृङ्गार आद्य रस है और श्रृङ्गार की अनुकृति हास्य है।

अभिनव—और जो शङ्कुक आदि यहाँ 'दृशः पृथुतरीकृताः' इत्यादि (रत्नावली २।१५) उदाहरण में श्रृङ्गार से अद्भुत रस की उत्पत्ति की आशङ्का करते हैं, वह निर्मूल है, निराधार है। उक्त उदाहरण में सागरिका की रचना करने वाले ब्रह्मा के विस्मय का वर्णन है। यहाँ पर उदयन में श्रृङ्गार है और ब्रह्मा में विस्मय की सम्भावना है और वह विस्मय की सम्भावना न तो तात्कालिक है और न उत्तरकालिक, अपितु पूर्वकालिक है अर्थात् पहिले से ही उसकी स्थिति है। इसलिए यह कुछ भी नहीं है। अतः यह मत ठीक नहीं है। इसलिए यहाँ श्रृङ्गार को विस्मय का कारण नहीं माना जा सकता।

१. क-अ. वीरस्य चापि ।
२. ग. यत्र ज्ञेयः स तु । क-अ. यत्त् भवेत् स तु । क-त. यत्र भवेत् स तु ।
३. क. तदाभासतद्द्वारेण ।
४. क. तद्यथा श्रृङ्गारः स्यात्, श्रृङ्गारवदनुकृतिरित्यर्थः । ५. क-भ. येन हि ।

[1]परम्पराफलत्वेन [2]रसान्तराक्षेपे रौद्र उदाहरणम् । रौद्रस्य यत्कर्म फलात्मकं वधादि चकारात्तस्य यत्कर्म फलरूपं स एव करुणः । एवकारेणात्यन्तव्यवहितां परम्परां पराकरोति ।

समनन्तरफलत्वेन रसान्तराक्षेपे उदाहरणं त्वस्योयोगः वीरस्य (वीरस्यापीति—यो वीरस्य) सम्यङ्‌निकटं यत्फलं सोऽद्भुतः परितः[3] समन्ताद्या कीर्तिः यशः प्रतापरूपा ततो हेतोः । अपिशब्दाच्छृङ्गारोऽपि वीरस्यानन्तरं फलं द्रौपदीस्वयंवरादौ ।

सहभावेन रसान्तराक्षेपे बीभत्स उदाहरणम् ।

यदेव बीभत्सस्य दर्शनं विभावादिरूपं स एव भयानकः तद्विभावत्वादुपचारस्य सहभावप्रतीतिः फलम् । तमेव चशब्दो द्योतयति । तुः पूर्वतो[4] विशेषमाह । अयमेव चाक्षेपः प्रकाशत्वात्संभाव्यते न त्वधिक इति । सा त्वस्यापि सन्न नोक्तः । ये चात्रोत्पत्तिहेतव उक्तास्ते यथा स्वयं पुरुषार्थचतुष्कव्याप्ताः । तद्धि तत्सौन्दर्यातिशयजननरूपम् । रञ्जका [5]भासादयस्तदनुगामित्वेन रूपकेषु निबन्धनीयाः ।

अभिनव—परम्परा को फल के रूप में मानकर रसान्तर के आक्षेप का उदाहरण रौद्र रस है। रौद्र रस का फलरूप जो वधादि कार्य है, चकार से उस वध का जो कर्म अर्थात् फल है वही करुण रस है। एवकार के द्वारा अत्यन्त व्यवहित परम्परा का निराकरण कर दिया गया है।

अभिनव—उनमें अव्यवहित फल के रूप में रसान्तर अर्थात् दूसरे रस के आक्षेप का उदाहरण--अद्भुत रस के समीपवर्त्ती वीर रस है और वीर रस का सम्यक् निकटवर्त्ती जो फल है वह अद्भुत रस है। वीरता के चारों ओर जो कीर्त्ति अर्थात् यश और प्रताप रूप है उसके कारण अर्थात् वह जगत् के विस्मय का कारण होता है। 'अपि' शब्द से यह सूचित होता है कि शृङ्गार भी वीर रस का निकटवर्त्ती फल है। जैसे, द्रौपदी-स्वयम्वर आदि में वीर रस के अव्यहित शृङ्गार रस फल रूप में अभिव्यक्त होता है।

---

१. क. परस्परफलत्वेन ।
२. क-भ. रसान्तरापेक्षया ।
३. क-भ. म. विपरीतः ।
४. क-भ. पूर्वपक्षमाह ।
५. क. हासादयस्तदनु ।

श्यामो भवति[1] शृङ्गारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।
[2]कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः ॥ ४३ ॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः [3]कृष्णश्चैव भयानकः ।
नीलवर्णस्तु वीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ ४४ ॥

एतावन्त एव च रसा इत्युक्तं पूर्वम् । तेनानन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्धया तावतां प्रयोज्यत्वमिति यद्भट्टलोल्लटेन निरूपितं [4]तदवलेपेनापरामृश्येत्यलम् ॥४१-४२॥

अभिनव—सहभाव से रसान्तर अर्थात् दूसरे रस के आक्षेप कराने में वीभत्स रस उदाहरण है। वीभत्स का जो विभावादि के रूप में दर्शन होता है, वही भयानक रस है। भयानक के विभाव होने के कारण दोनों की सहभाव से प्रतीति उपचार का फल हैं। यह बात 'च' शब्द से द्योतित होती है। 'तु' शब्द पहले से विशेष को बतलाता है। यही आक्षेप प्रकाश के रूप में संभावित हैं, इससे अधिक नहीं। भाव यह कि परस्पर एक दूसरे के आक्षेप से ये ही चार रस संभावित है इससे अधिक नहीं और जो यहाँ उत्पत्ति के हेतु कहे गये हैं वे स्वयं पुरुषार्थ चतुष्टय से व्याप्त हैं और वे ही चार रस सौन्दर्यातिशय के जनन रूप हैं। रञ्जकाभास आदि अर्थात् रसाभास आदि को रसों के अनुगामी रूप में ही रूपकों में निबद्ध किया जा सकता है।

अभिनव—इतने ही रस हैं यह पहिले कहा जा चुका है। इसलिए रसों के अनन्त होने पर भी नटों में प्रसिद्धि के कारण इतने रसों का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार भट्टलोल्लट ने जो अभिमान से विना विचारे कह दिया है वह अविचारणीय है अर्थात् उस पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥ ४१-४२ ॥

इसके बाद रसों के वर्णों का कथन करते हैं—

अनुवाद—शृङ्गार रस श्याम वर्ण का होता है और हास्य का वर्ण, श्वेत कहा गया है। करुण रस कपोत वर्ण और रौद्र रस रक्त वर्ण (लाल रङ्ग) का कहा गया है। वीर रस को गौर वर्ण समझना चाहिए और भयानक को कृष्ण वर्ण का जानना चाहिए। बीभत्स रस नीलवर्ण का होता है और अद्भुत रस पीत वर्ण का कहा गया है ॥ ४३-४४ ॥

१. ख. घ. भवेत्तु ।
२. क–त. म. रक्तो रौद्रो रसः प्रोक्तः कपोतः करुणस्तथा ।
३. ख. कृष्णश्चापि भयानकः ।
४. क–भ. तदवलेपनापरामृश्येत्पलम् ।

अथ [1]दैवतानि

> शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो[2] हास्यः प्रमथदैवतः ।
> रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः[3] करुणो यमदैवतः ॥ ४५ ॥
> बीभत्सस्य[4] महाकालः [5]कालदेवो भयानकः ।
> वीरो [6]महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥ ४६ ॥

वर्णाभिधानं पूजादौ ध्यान उपयोगि । मुखरागेऽपीत्यन्ये । स्वच्छपीतौ शमाद्भुताविति शान्तिवादिनां पाठः ॥४३-४४॥

तत्तद्रससिद्धौ सा सा देवता पूज्येति देवतानिरूपणम् । विष्णुः कामदेवः प्रमथा भगवतो गणाः क्रीडापराः । रुद्रस्त्रैलोक्यसंहारकर्ता । अत एव [7]रोदयतीति । यमयतीति [8]यमेन वधादिके सम्पादिते करुणः । महाकालोऽधिदैवतमिति शेषः । स हि तद्विभावं कङ्कालं श्मशानादि सेवते । महेन्द्रस्त्रैलोक्यराजः । ब्रह्मा अचिन्त्याद्भुतस्रष्टा ।

अभिनव—रसों के वर्णों का कथन पूजा आदि में तथा उनके ध्यान में उपयोगी होता है। अन्य व्याख्याकारों के अनुसार मुख के राग अर्थात् मुख रंगने में भी यह उपयोगी होता है । शान्तरस को मानने वाले आचार्यों के अनुसार 'पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः' के स्थान पर 'स्वच्छपीतौ शमाद्भुतौ' पाठ होना चाहिए। तदनुसार शान्त रस का वर्ण स्वच्छ (निर्मल) माना जाता है ॥ ४३-४४ ॥

इसके बाद रसों के देवता का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—शृङ्गार रस का देवता विष्णु है, हास्य रस के देवता प्रमथ-गण हैं, रौद्र रस का देवता रुद्र हैं और करुण रस का देवता यम है। बीभत्स रस का देवता महाकाल है, भयानक रस का देवता काल (पाठभेद से कामदेव) है। वीर रस का देवता इन्द्र और अद्भुत रस का देवता ब्रह्मा है ॥ ४५-४६ ॥

---

१. ग. अथाधिदैवतानि ।
२. क–अ. विष्णुदेवस्तु ।
३. क–अ. रुद्राधिदेवस्तु । ख. रुद्राधिदेवश्च ।
४. क–बीभत्सश्च ।
५. क–प. कामदेवो ।
६. क–भ. माहेन्द्रदैवत्य अद्भुतो ।
७. क. चोदयतीति ।
८. क. नियमेन ।

एवमेतेषां रसानामुत्पत्तिवर्णदैवतान्यभिव्याख्यातानि ।

'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' इति शान्तवादिनः केचित्पठन्ति । बुद्धो जिनः परोपकारैकपरः प्रबुद्धो वा ॥४५-४६॥

तत्रोत्पत्तिलक्षणमन्योन्याश्रयत्वान्न निश्चयकारि । वर्णदैवतात्मकमप्यागमसिद्धत्वादित्येकप्रघट्टकेनोपसंहरत्येवमित्यादिना । एतेषामिति सर्वेषामित्यर्थः ।

अथ विशेषलक्षणानि वक्तुमासूत्रयतीदानीमित्यादिना ।

अभिनव—अभिनव के अनुसार उन-उन रसों की सिद्धि में उन-उन देवताओं की पूजा करनी चाहिए। इसलिए देवताओं का निरूपण है। अभिनव ने विष्णु का अर्थ कामदेव कहा है। प्रमथ क्रीड़ा करने वाले भगवान् शिव के गण है। रुद्र तीनों लोक का संहार करने वाले हैं। इसलिए वे लोगों को रुलाते हैं। नियमन करने वाले यम के द्वारा वध आदि के सम्पादित हो जाने पर करुण रस होता है इसलिए करुण रस के देवता यम कहे गये हैं। बीभत्स रस के अधिदेवता महाकाल हैं, वे ही उसके अर्थात् वीभत्स रस के विभाव कङ्काल, श्मशान आदि का सेवन करते हैं। महेन्द्र पद से त्रैलोक्य के राजा का कथन है। ब्रह्मा अचिन्त्य और अद्भुत पदार्थों के रचयिता हैं, स्रष्टा हैं। इसलिए ब्रह्मा को अद्भुत रस का देवता कहा गया है।

शान्तरस को मानने वाले आचार्य 'स्याद्‌द्भुतो ब्रह्मदैवतः' के स्थान पर 'बुद्धः शान्तेऽब्जजोऽद्भुते' पाठ मानते हैं। तदनुसार अद्‌भुत रस के देवता ब्रह्मा और शान्तरस के देवता बुद्ध हैं। कुछ व्याख्याकार यहाँ पर 'बुद्ध' शब्द का अर्थ 'जिन' अर्थात् जैन सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भगवान् जिन करते हैं अथवा बुद्ध का अर्थ परोपकार में रत प्रकृष्ट ज्ञानवान् पुरुष है॥ ४५-४६ ॥

अभिनव—इनमें अर्थात् उत्पत्ति, वर्ण और देवता में से उत्पत्ति लक्षण में कुछ रसों से अन्य रसों की उत्पत्ति होने से अन्योऽन्याश्रय दोष आ जाने से वह रसों के स्वरूप का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं करा सकती। वर्ण और देवता आगमसिद्ध होने से रसों के परिचायक नहीं हो सकते। इसलिए एक ही प्रघट्टक से 'एवमेतेषामित्यादि' के द्वारा उसका उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण और देवताओं की व्याख्या कर दी गयी है।

अभिनव—अब 'इदनीमित्यादि' के द्वारा रसों के विशेष लक्षण कहने के लिए प्रस्ताव (उपक्रम) करते हैं—

[1]इदानीमनुभावविभावव्यभिचारिसंयुक्तानां [2]लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः। स्थायिभावांश्च रसत्वमुपनेष्यामः[3]।

विशेषलक्षण सजातीयाद्यवच्छेदकम्। न विजातीयाद्व्यवच्छेदं विना सजातीयत्वम्। न चासौ सामान्यलक्षणं विनेति तत्पृष्ठे विशेषलक्षणमिति दर्शयितुं सामान्यलक्षणमनुवदत्यनुभावेत्यादिना।

लक्षणानि च तानि निदर्शनानि च विशेषात्मकानि तेन प्रत्येकं लक्षणविशेषा उच्यन्त इत्यर्थः। विशेषलक्षानि वा सामान्यलक्षणस्य निदर्शनानि। ये येषु सामान्यलक्षणं निर्दिश्यते योज्यते उदाह्रियते च। तद्विना तस्योदाहर्तुमशक्यत्वात्। चकारो लोकोत्तरतयाऽऽदरं सूचयति। ये स्थायिनो भावो लोके चित्तवृत्त्यात्मानो बहुप्रकारपरिश्रमप्रसवनिबन्धनकर्तव्यताप्रबन्धाभिधायिनस्तानपि नाम रसत्वं विश्रान्त्येकायतनत्वेनोपदेशदिशा नेष्यामः। विभावान् यथायोगमुपहरद्भिः कविनटैर्हि ते रसतां नीयन्ते। यदाह—

अनुवाद—अब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से युक्त इन रसों के लक्षण एवं उदाहरणों की व्याख्या करेंगे और स्थायीभावों को रसत्व ग्रहण करायेंगे।

अभिनव—विशेष लक्षण सजातीय का व्यावर्त्तक होता है। किन्तु विजातीय के व्यावर्त्तन के विना सजायीयता नहीं होती और वह विजातीय का व्यावर्त्तन सामान्य लक्षण के ज्ञान के विना नहीं होता। इसलिए सामान्य लक्षण के बाद विशेष लक्षण होता है, यह दिखलाने के लिए सामान्य लक्षण का अनुवाद करते हैं—अनुभाव, विभाव और सञ्चारीभाव से संयुक्त रूप रस का सामान्य लक्षण दिया गया है।

अभिनव—लक्षणरूप निदर्शन अर्थात् विशेष लक्षण का प्रस्ताव प्रत्येक रस के विषय में है। इसलिए प्रत्येक रस के विशेष लक्षणों को कहते हैं अथवा विशेष लक्षण सामान्य लक्षण के उदाहरण कहे जाते हैं। जिनमें सामान्य लक्षण का निर्देशन किया जाता है, संयोजन किया जाता है और उदाहरण दिया जाता है। क्योंकि उनके विना अर्थात् विशेष के विना सामान्य का उदाहरण नहीं दिया जा सकता। 'चकार' पद लोकोत्तरता के कारण आदर को सूचित करता है। लोक में जो स्थायीभाव चित्तवृत्ति रूप होते हैं और अनेक प्रकार

१. क–त. एतेषां त्विदानीं विभावानुभाव। क-म. इदानीं विभावानुभाव।

२. क–अ. लक्षणानि सप्रयोजनानि व्याख्यास्यामः।
 क–त. लक्षणानि दर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः।

३. क–ब. स्थायिभावांश्च रसानामनुक्रमिष्याम इति।

"या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित्कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती ।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन ! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥") इति ।
(ध्वन्या ३.४३)

नटानां तु तदुपजीवितत्वान्न नवा दृक्पश्यति न रसयत्यतो नवेति । तस्माद्रसनोपयोगिविभावाद्यौचित्यमस्माभिरुपदिशद्भिः स्थायिनो रसतां नीता भवन्तीत्यनेन लक्षणरूपस्य फलं दर्शयति ।

अथ शृङ्गाररसप्रकरणम्

तत्र कामस्य फलत्वादशेषहृदयसंवादित्वाच्च तत्प्रधानं शृङ्गारं लक्षयति—तत्रेत्यादिनोज्ज्वलवेषात्मक इत्यन्तेन सूत्रेण ।

के परिश्रम (प्रयत्नों) से सिद्ध इतिकर्त्तव्यता रूप प्रबन्ध का अभिधान करने वाले जो स्थायीभाव हैं, उन्हें भी उपदेश के द्वारा विश्रान्ति (चर्वणा) एकान्त रूप रसत्व को प्राप्त करायेंगे। विभावों को यथोचित रूप में प्रस्तुत करने वाले कवि एवं नटों के द्वारा स्थायीभाव रसरूप में प्राप्त कराये जाते हैं। जैसा कि ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने कहा है—

"रसों के आस्वादन के लिए प्रयत्नशील कवियों की व्यापारवती जो नवीन दृष्टि है और जो परिनिष्ठित अर्थ को प्रकाशित करने वाली विद्वानों की वैपश्चिती दृष्टि है, उन दोनों का अवलम्बन करके विश्व का अहर्निश वर्णन करते हुए हम थक गये हैं किन्तु हे क्षीरसागरशायिन् ! भगवन् ! आप की भक्ति के सदृश सुख को कहीं नहीं पा सका।" (ध्वन्यालोक ३।४३)।

अभिनव—नटों (अभिनेताओं) के कवियों पर आश्रित रहने के कारण उनकी दृष्टि न तो नवीन को देखती है और न नवीन रस का आस्वादन करती हैं। इसलिए रसन अर्थात् आस्वादन के उपयोगी विभावादि के औचित्य का उपदेश देते हुए हमने स्थायीभावों को रसत्व (रसरूपता) को प्राप्त करा दिया है। इसके द्वारा लक्षण रूप फल दिखाया गया है।

अथ शृङ्गारस प्रकरण

अभिनव—उनमें (उन सभी रसों में) काम पुरुषार्थ रूप फल होने से और समस्त प्राणियों के हृदय के अनुरूप होने से सर्वप्रथम 'तत्र' से लेकर 'उज्ज्वलवेषात्मकः' तक काम-प्रधान शृङ्गार रस का निरूपण करते हैं—

तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः। [1]उज्ज्वलवेषात्मकः। [2]यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं [3]दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः[4] स शृङ्गारवानित्युच्यते।

तत्रेति क्रमनिर्धारणे। एवं सतीत्यर्थे वा। एतत्सूत्रभाष्येण व्यक्तम्। यल्लक्ष्यपदं नामेति। व्याचष्टे यत्किञ्चिदित्यादिना। [5]हारादिमण्डितः शृङ्गारवान्[6]। तेन शुचिमेध्याद्युपमीयते। तेनोज्ज्वलवेषात्मके शृङ्गारशब्दः। न चातिप्रसङ्गः। आप्तोपदेशस्य नियामकत्वादिति चिरन्तनाः। तदनुपपन्नम्। उपमानोमेययोर्विशेषविषयविभागानवभासात्तथा। तस्मादयमत्रार्थः रतिरेवास्वाद्यमानो मुख्यः शृङ्गारः। रतिमास्वादयद्भिस्तद्बहुमानपरः शृङ्गारीत्युच्चयते।

अनुवाद—उन रसों में शृङ्गार रस रति स्थायीभाव से उत्पन्न उज्ज्वलवेषात्मक है। संसार में जो कुछ शुद्ध, पवित्र, उज्ज्वल और दर्शनीय है उसकी शृङ्गार से उपमा दी जाती है। जो उज्ज्वल वेष हैं वह शृङ्गारवान् कहा जाता है।

अभिनव—यहाँ पर 'तत्र' पद क्रम के निर्धारण अर्थ में प्रयुक्त है अथवा 'एवं सति' (ऐसा होने पर) इस अर्थ में है। इस सूत्र के भाष्य से जो लक्ष्य पद व्यक्त होता है वह 'शृङ्गार' नाम से कहा जाता है। 'यत्किञ्चित्' पद से उसी की व्याख्या की गयी है। वस्तु के सौन्दर्य आदि से मण्डित शृङ्गारी (शृङ्गारवान्) होता है अर्थात् हार आदि अलङ्कारों को धारण करने वाला व्यक्ति शृङ्गारी कहा जाता है। इसीलिए उसके साथ शुचि, मेध्य आदि से उपमा दी जाती है। इसलिए उज्ज्वल वेषात्मा के लिए शृङ्गार शब्द प्रयुक्त होता है। आप्तपुरुष के उपदेश के नियामक होने से यहाँ अतिव्याप्ति दोष नहीं है। यह शङ्कुक आदि प्राचीन आचार्यों का मत है।

---

१. क–च. वेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः। क–त. हृद्योज्ज्वमवेषस्वभावः।
२. ख. ग.घ. तथा यत्किञ्चिल्लोके।
३. क–त. दर्शनीयं भवति तत्सर्वम्।
४. क–न. यस्तावद्हृद्योज्वलवेषः। क–त.म. यस्तावदुज्ज्वलवेषात्मकः।
क–ब. यस्तावदुज्ज्वलवेषवान् स शृङ्गार इति।
५. क–हस्तपृष्ठादिमण्डितः।
६. क–य. शृङ्गारस्तेन सूचीमध्याद्युपमीयते।

यस्तु [1]तज्जनकादिपर एव तद्व्यसनिता सा रसनास्वाददशा लोके भवन्त्यपि न चिरमवतिष्ठते । तदास्वादे चोपयोगि यथा स्वविभावादि तथा [2]शास्त्रानिषिद्धमजुगुप्सितं संस्फुटं मनोहरं च तदुपचाराच्छृङ्गारशब्दवाच्यम् । तदाह—उपमीयते । तदुपयोगितया तथा मीयते लक्ष्यत इति यावत् ।

क्व तथेति दर्शयति—यस्तावदिति । तावद्ग्रहणेनावधारणवाचिना श्रृङ्गारवाच्यो मुख्योऽर्थस्तत्र नास्तीति दर्शयति—स श्रृङ्गारवानिति । तदुज्ज्वल-वेषे श्रृङ्गारशब्द उपचरित इत्याह ।

किन्तु यह ठीक नहीं है । उपमान और उपमेय के विशेष विषय के विभाग की प्रतीति न होने से उस प्रकार का व्यवहार होता है । इसलिए उसका यहाँ यह अर्थ है कि आस्वाद्यमान रति ही मुख्य रूप से शृङ्गार रस है । रति का आस्वादन करने वाले सामाजिक लोग रति में अत्यन्त आसक्त व्यक्ति को श्रृङ्गारी कहते हैं ।

विमर्श—भरत ने श्रृङ्गार रस को उज्ज्वलवेषात्मक कहा है और उसी के साथ शुचि, मेध्य, उज्ज्वल आदि का सादृश्य बतलाया है । अब प्रश्न होता है कि श्रृङ्गार रस तो आस्वाद्य होता है, फिर उसे उज्वलवेषात्मक या उसके समान कहना अतिव्याप्ति दोष होगा, अतः वह संगत नहीं होगा । प्राचीन आचार्यों ने यहाँ आर्ष-प्रयोग मानकर अति-व्याप्ति दोष का निराकरण किया है । किन्तु अभिनवगुप्त इसे स्वीकार नहीं करते हैं । उनका कहना है कि शास्त्रों की यह सामान्य प्रक्रिया है कि कार्य-कारण, सामान्य-विशेष आदि का अभेद कथन करना औपचारिक प्रयोग है । अतः यहाँ असंगति रूप दोष नहीं है ।

अभिनव—किन्तु उस रति के जनक विभावादि में आसक्त पुरुष में जो आसक्ति पायी जाती है वह रसास्वादन की दशा लोक में विद्यमान होने पर भी चिरकाल तक नहीं ठहरती और उस रति के आस्वादन में जिस प्रकार अपने विभावादि उपयोगी हैं । उसी प्रकार शास्त्र में अनिषिद्ध, अनिन्दित, सुस्पष्ट और मनोहर जो वस्तु है वह सब उपचार से श्रृङ्गार शब्द से वाच्य हैं । इसीलिए कहते हैं—'उपमीयते' अर्थात् विभावादि रूप वस्तु उस रति के आस्वादन में उपयोगी होने के कारण उस रूप में लक्षित होते हैं । कहाँ लक्षित होते हैं ? इस बात को 'यस्तावत्' इत्यादि के द्वारा दिखाते हैं । यहाँ 'तावत्' शब्द का अर्थ अवधारण है । अतः अवधारणार्थक (निश्चयार्थक) 'तावत्' शब्द के ग्रहण से श्रृङ्गार शब्द का मुख्य अर्थ उज्ज्वलवेष नहीं है अपितु उज्ज्वलवेषधारी श्रृङ्गारवान् (श्रृङ्गारी) है और उसके प्रयोग में उज्ज्वलवेश में श्रृङ्गार शब्द उपचरित है । यह कहा गया है ।

१. क. वस्तु सञ्जनादिः अपर एव तु व्यसनी । क. यस्तु सज्जनादिप (दिः अप) र एव तद्व्यसनिता (तु व्यसनी) ।

२. क. शास्त्रनिषिद्धयजुगुप्सितं यत् स्फुटं ।

यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेव [1]आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः।

ननु मुख्यतया रत्यास्वादे शृङ्गारशब्दस्य प्रवृत्तौ किं निबन्धनमित्याशङ्क्याह यथा चेत्यादि।

गोत्रं पितृसन्तानादि। कुलं मातृसन्तानं सूचयति। आचारो व्यवहारः। तत्र उत्पन्नानि लोके प्ररूढानि। मूले तु न। आद्याप्तोपदेशेन नामकरणलक्षणेन समयेन सिद्धानि। पुंसामिति मनुष्यजातेर्नराणां नारीणां च। नराणां हि पितृसन्तानानुसारि नाम विष्णुशर्मेत्यादि। स्त्रीणां तु मातृवंशानुसारि कनकप्रभा चन्द्रप्रभेति। एवं रसादीनां तच्छास्त्रवेदिवृद्धव्यवहारतो निरूढानि प्राक्तनब्रह्माद्याप्तप्रणीतानि नामानि।

अब प्रश्न यह उठता है कि तब मुख्य रूप से रति के आस्वाद में शृङ्गार शब्द की प्रवृत्ति का क्या प्रयोजन है? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद—जैसे-गोत्र, कुल, आचार से उत्पन्न तथा आप्त पुरुषों के उपदेश से सिद्ध पुरुषों के नाम होते हैं। उसी प्रकार इन रसों, भावों और नाट्याश्रित पदार्थों के नाम भी (नाट्याचार्यों के) आचार-व्यवहार से उत्पन्न तथा आप्त पुरुषों के उपदेश से सिद्ध नाम होते हैं। इस प्रकार यह आचारसिद्ध, मनोहारी (आह्लाद्य) उज्ज्वलवेषात्मक होने के कारण शृङ्गार रस कहलाता है।

अभिनव—यहाँ पर 'गोत्र' शब्द से पितृकुल की परम्परा और 'कुल' पद से मातृकुल की परम्परा सूचित होती है। 'आचार' पद का अर्थ 'व्यवहार' है। उससे उत्पन्न अर्थात् लोक में प्रसिद्ध। किन्तु मूल में यह बात नहीं है। आप्त पुरुष के उपदेश से नामकरण का संकेत है अर्थात् आप्तपुरुष गुरुजन जो नाम रखते हैं वही लोक में प्रसिद्ध होते हैं। 'पुंसाम्' पद से मनुष्य जाति अर्थात् स्त्री और पुरुष दोनों का ग्रहण होता है। पुरुषों के नाम पितृ-परम्परा के अनुसार 'विष्णुशर्मा' इत्यादि होते हैं और स्त्रियों के नाम मातृवंश की परम्परा के अनुसार 'कनकप्रभा' 'चन्द्रप्रभा' आदि होते है। इसी प्रकार रस आदि के नाम नाट्यशास्त्र के वेत्ता वृद्ध पुरुषों के व्यवहार से लोक में प्रसिद्ध हैं और प्राचीन ब्रह्मा आदि आप्तपुरुषों के द्वारा प्रणीत अर्थात् रखे गये होते हैं।

---

१. ख–तदेवमेव गुर्वाचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मा शृङ्गारो रसः।

तदेवोपसंहरति—एवं शृङ्गारो रसः। स आचारव्यवहाराल्लोकेऽपि सिद्धः। कुतो हेतोः। हृद्यादिवेषात्मकत्वात्। एतदुक्तं भवति—प्रतिशास्त्रसमयानुसारिणोऽपि शब्दास्तद्वृद्धव्यवहारपरम्परया लोके प्रसिद्धा उपचारतोऽन्यत्रापि व्यवह्रियन्ते। यथा-साङ्ख्यपुरुषोऽयं न किञ्चित्करोति। पूर्वरङ्गोऽत्र तेन मे विरचितः। अत्र [1]महत्ताम्योन्यमस्य इति। तद्वदमी शृङ्गारादिशब्दा इहैव विषये मुख्याः। लोके तु साङ्ख्यपुरुषादिशब्दवत्।

अभिनव—उसी बात का उपसंहार करते हैं--इस प्रकार शृङ्गार रस होता है और वह आचार-व्यवहार से लोक में प्रसिद्ध है। किस लिए प्रसिद्ध हैं ? कहते हैं—हृद्य (मनोहर) वेष आदि के कारण। यह कहा जाता है कि प्रत्येक शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार भी शब्द उन वृद्धजनों के व्यवहार परम्परा से लोक में प्रसिद्ध होकर उपचार से अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त किये जाते हैं, व्यवहृत होते हैं। जैसे—"यह सांख्य का पुरुष कुछ नहीं करता है"। "उसने मेरे लिए यहाँ भूमिका बना दी है"। "इन दोनों में इसकी अधिक महत्ता है।" उसी प्रकार ये शृङ्गारादि शब्द रस के विषय में मुख्य रूप से प्रयुक्त होते हैं। लोक में तो सांख्य पुरुष आदि शब्दों के समान उपचरित है अर्थात् औपचारिक रूप में ही प्रयुक्त होते हैं।

विमर्श—यहाँ पर 'पुरुष' 'पूर्वरङ्ग' और 'महत्' शब्द उदाहरण रूप में प्रयुक्त हैं। ये तीनों शब्द क्रमशः सांख्य, नाटयशास्त्र और न्यायशास्त्र के परिभाषिक शब्द हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष निष्क्रिय है, वह न कर्त्ता है और न भोक्ता। वह तो पुष्कारपलाशवत् निर्लिप्त है। कर्त्री भोक्त्री आदि सब कुछ प्रकृति हैं। इसलिए लोक में निष्क्रिय पुरुष को जो कुछ करता नहीं है, उसे 'सांख्यपुरुष' कहा जाता है। इसी प्रकार 'पूर्वरङ्ग' शब्द नाटयशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। नाटकीय कथावस्तु के प्रसङ्ग के लिए पूर्वरङ्ग का प्रयोग किया जाता है। लोक में पूर्वरङ्ग भूमिका के लिए प्रयुक्त होता है। न्यायदर्शन के अनुसार 'महत्' शब्द 'महत् परिमाण' के लिए प्रयुक्त होता है। लोक में इसका प्रयोग बड़प्पन आदि अर्थों में होता है। जैसे—महापुरुष आदि। लोक में ये उपचार से प्रयुक्त होते हैं। उसी प्रकार शृङ्गारादि शब्द मुख्य रूप से रसादि के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। लोक में उज्ज्वलवेष आदि अर्थों में उनका प्रयोग उपचार से होता है। इस प्रकार उज्ज्वलवेषादि रूप अर्थ शृङ्गारादि शब्दों के मुख्य अर्थ नहीं है, अपितु उपचारित अर्थ हैं। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

१. क. अत्र महत् अन्योन्यमस्य।

स च स्त्रीपुरुषहेतुक [1]उत्तमयुधप्रकृतिः ।

यस्तु [2]शृङ्गारशब्दस्य मत्वर्थीयेन व्युत्पत्तिमाह तस्य रूपमपि विस्मृतम् । आरकन् हि प्रत्ययोऽत्र आरब्धः । ('शृङ्गबृन्दाभ्यामारकन्'-वार्तिक. ५-२-१२१) बृन्दारक इति यथा । अत्र एवोणादिषु निपातितोऽयं शब्दः । (शृङ्गारभृङ्गारौ । उ. सू.) ।

यस्तु पृथग्भावेन गोत्रादिनामानि व्याचष्टे व्यात्वर्याभावात् तत्तदीक्षितानि । तस्य प्रकृते न [3]किञ्चिदप्युपयुज्यते । न च गोत्राचारोत्पन्ने नामनि नियामक आप्तोपदेशो लोके इत्यास्तामेतत् ।

अथ रतिः स्थायीति सूत्रभागं भाष्येण स्पष्टयति—स चेत्यादिना ।

अभिनव—जो शृङ्गार शब्द की व्युत्पत्ति मत्वर्थीय 'आरकन्' प्रत्यय मानकर करते हैं वे उसके स्वरूप को भी भूल गये । क्योंकि 'शृङ्गबृन्दारकाभ्यामारकन्' इस वार्तिक के द्वारा 'शृङ्ग' शब्द से 'आरकन्' प्रत्यय का विधान (आरम्भ) किया गया है । तदनुसार शृङ्ग शब्द से आरकन् प्रत्यय करने पर 'शृङ्गारक' शब्द बनता है, शृङ्गार शब्द नहीं । जैसे बृन्द शब्द से आरकन् प्रत्यय करने पर 'बृन्दारक' शब्द बनता है उसी प्रकार शृङ्ग शब्द से 'आरकन्' प्रत्यय होने पर शृङ्गारक शब्द बनेगा, शृङ्गार शब्द नहीं । शृङ्गार शब्द तो 'शृङ्गारभृङ्गारौ' इस उणादि सूत्र से निपातन होकर बनता है ।

अभिनव—और जो (प्राचीन आचार्य) 'गोत्रादि नामानि' की गोत्राचार मूलक अर्थात् गोत्रमूलक, कुलमूलक और आचारमूलक नाम इस प्रकार की अलग-अलग व्याख्या करते हैं उनके मत में अलग-अलग अर्थ न होने से प्रकृत में उसका कोई उपयोग नहीं है और लोक में गोत्राचार से उत्पन्न नाम के विषय में आप्तपुरुषोपदेश भी नियामक नहीं है । इसलिए इसे रहने दिया जाय ।

इसके बाद 'शृङ्गारो रतिस्थायिप्रभवः' इस सूत्र के 'रतिः स्थायी' इस सूत्रांश को भाष्य के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुवाद—और वह शृङ्गार रस स्त्री-पुरुष-भाव-मूलक और उत्तम युवक युवतियों की प्रकृति से सम्बद्ध है ।

---

१. ख—उत्तमयुवतिप्रकृतिः ।
२. क—शृङ्गारशब्दस्यान्मीयेन व्युत्पत्तिमाह ।
३. क—किञ्चिदियमुपयुज्यते ।

स्त्रीपुरुषशब्देन परस्पराभिलाषसंभोगलक्षणया लौकिक्या 'अस्येयं स्त्री' इति[1] धिया तेनाभिलाषमात्रसारायाः कामावस्थानुवर्तिन्या [2]व्यभिचारिरूपिण्या रतेश्च विलक्षणैव इयं स्थायिरूपा प्रारम्भादिफलप्राप्तिपर्यन्ता व्यापिनी परिपूर्ण-सुखैकफला [3]रतिरुक्ता भवति हेतुरस्य।

कविर्हि लौकिकरतिवासनानुविद्धस्तथा विभावादीनाहरति [4]नटश्चानु-भावान् यथा रत्यास्वादः शृङ्गारो भवतीति। आस्वादयितुरपि प्राक्कक्ष्यायां [5]रत्यवगम उपयोगीत्युक्तः प्राक्।

एतदुक्तं भवति—रतिः क्रीडा[6]। सा च परमार्थतः कामिनोरेव। तत्रैव सुखस्य धाराविश्रान्तेः। अपरस्य तु माल्यादिविषयसौन्दर्यस्य कविना कृतस्य [7]संकल्पत्वात्संवेदनद्वितयान्योन्यनिमज्जनात्मकमीलनाख्यो हि परमो भोगः। संविद एव प्रधानत्वात्। [8]अन्यत्र तु जडस्य भोग्यत्वात।

अभिनव--यहाँ पर स्त्री-पुरुष शब्द से पारस्परिक अभिलाष और सम्भोग अर्थात् विप्रलम्भ और संयोग की लक्षणा द्वारा 'यह इसकी स्त्री है' इस प्रकार लौकिक बुद्धि का ग्रहण होता है। इसलिए केवल 'अभिलाष' ही सार है जिसमें, इस प्रकार और काम की दश अवस्थाओं का अनुसरण करने वाली अर्थात् कामावस्था में विद्यमान रहने वाली व्यभिचारिभावरूपा रति से विलक्षण यह प्रारम्भ से लेकर फल पर्यन्त प्राप्त रहने वाली तथा पूर्ण सुख देने वाली स्थायीभावरूपा रति शृङ्गार रस का हेतु (कारण) मानी जाती है।

अभिनव—कवि स्वयं ही लौकिक रति की वासना से अनुविद्ध (युक्त) होकर काव्य में विभावादि को इस प्रकार प्रस्तुत करता है और अभिनेता (नट) नाट्य में इस प्रकार अनुभव करता है कि रति के आस्वाद रूप शृङ्गार रस का अनुभव होने लगता है। आस्वादयिता (सामाजिक) का भी पूर्वकालीन संस्कार रति (शृङ्गार) की अनुभूति में उपयोगी होता है। यह पहिले कहा जा चुका है।

१. क-इति या (धिया)।
२. क-व्यभिचारिरूपाणीति या (पातनीया) विलक्षणैव।
   क-भ.म. व्यभिचारितरूपाणीति विलक्षणैव।
३. क. रतिशक्ता भवति।
४. क-नाट्यं चानुभावान्।
५. क-म. रत्यङ्गः।
६. क-रतिक्रीड़ासाधं च परमार्थतः कामिनोरेव।
७. व-संकल्पसंवेदनात्। ८. ङ-अन्यस्य तु।

अत एवाह—'श्वासायासविडम्बनैव वपुषि प्राणाः पुनर्जानकी' इति ।

अत एव यत्कैश्चिदचोद्यत—रतेराधारभेदेन भेदात्कथमेको रस इति । तदनभिज्ञतया । एकैव ह्यसौ तावती रतिः । यत्रान्योन्यसंविदा एकवियोगो न भवति । अत एवोत्तमयुवप्रकृतिः । उत्तमश्चोत्तमा चोत्तमौ । एवं युवानौ । तत्रोत्तमयुवशब्देन तत्संविदुच्यते । न तु कायः चैतन्यस्यैव हि परमार्थत

अभिनव—इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि वस्तुतः रति-क्रीड़ा कामी और कामिनी दोनों में ही होती है, क्योंकि सुख की धारा की विश्रान्ति उन्हीं में ही होती है। अन्य सामाजिक आदि को तो कवि द्वारा वर्णित ऋतु, माला आदि उद्दीपन विभावों के सौन्दर्य का मानसिक उद्भावन होने से और संवेदन द्वितय अर्थात् संवेदनशील कामी और कामिनी दोनों के परस्पर निमज्जन मिलन रूप तादात्म्य स्थापित करना परम भोग है, रसास्वादन है। संवित् अर्थात् अनुभव-ज्ञान के प्रधान होने से यह संविद्रूप प्रतीति (रसानुभूति) ही प्रधान है। भाव यह कि संवित् ही प्रधान होने से परमभोग रूप आस्वाद है और आस्वाद ही रस है, अन्य जड़ पदार्थों के भोग्य होने से यह अनुभूति (प्रतीति) ही रस रूप है, यही परमभोग रूप आस्वाद है और आस्वाद ही रस है।

अभिनव—इसीलिए कहा गया है कि—"शरीर में श्वास का व्यापार तो विडम्बना है, वास्तविक प्राण तो जानकी ही है।"

अभिनव—इसलिए किन्हीं व्याख्याकारों ने जो आशङ्का प्रकट की है कि आधार भेद से अर्थात् सामाजिक और अनुकार्य के भिन्न होने से रति के अनेक भेद होने के कारण एक रस की प्रतीति कैसे होगी ? यह उनको अज्ञानता है। वास्तव में दोनों (अनुकार्य-सामाजिक) में रहने वाली सारी रतियाँ एक ही है। जिसमें परस्पर संवित् (अनुभव) के द्वारा एक दूसरे का वियोग नहीं रहता। भाव यह कि परस्पर तादात्म्य स्थिति होने कारण अनुकार्य और सामाजिक गत रति एक हो होती है। इसलिए रस को 'उत्तमयुवप्रकृति' कहा है। यहाँ उत्तम युवक और युवती दोनों का ग्रहण है। 'उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ' अर्थात् उत्तम पुरुष और उत्तमा स्त्री दोनों मिलकर एकशेष द्वन्द्व समास होने पर 'उत्तमौ' शब्द बनता है। तदनुसार 'उत्तम' शब्द का अर्थ दो उत्तम होता है। इसी प्रकार 'युवा च युवतिश्च' इस विग्रह में एकशेषद्वन्द्व समास होने पर 'युवानौ' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है युवक और युवती। इस प्रकार 'उत्तमश्च उत्तमा च उत्तमौ' और 'युवा च युवतिश्च युवानौ' इस प्रकार एकशेष द्वन्द्व समास होने पर "उत्तमौ च तौ युवानौ प्रकृतिर्यस्य स उत्तम-

उत्तमयुवत्वं विशेषः । स [1]चावस्थावान् तत्र तत्र व्यवहारस्य भूतत्वात् तत्प्रकृतिः । सा संविदास्वादयोग्यत्वात् शृङ्गाररसीभवतीति । [2]अनुत्तमत्वे तु न दाढर्यमयुवत्वे चेति न सा रतिसंवित् । वियोगस्य संभावनात् । अवियुक्त-संवित्प्राणस्तु शृङ्गारः । यथा—

"वारिसिणि०चरिहिअदि हिल०गणाहुकंहविएव्व ।
हुहिमुलजलमरणिमअलहुतीतिहविप०सि ॥" इति ।

अस्फुटा चेयमार्या ।

व्याख्याता परस्परं जीवितसर्वस्वाभिमानरूपा रतिः ।

वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनया संक्रमयतीति वेषो विभावा-नुभावात्मा । व्याप्नुवन्ति वेषयन्ति स्थायिनमिति व्यभिचारिणः । ते चोज्ज्वला उत्कृष्टा यस्मिंस्तथाभूत आत्मा यस्येति ।

प्रकृतिः" शब्द बनता है। अतः यहाँ उत्तम युव शब्द से उत्तम युवक और उत्तम युवती दोनों की संवेदन शक्ति का ग्रहण होता है, न कि शरीर का। क्योंकि वास्तव में उत्तमत्व रूप विशेष धर्म चैतन्य का ही होता है और वह चैतन्य विशिष्ट अवस्थाओं वाला शरीर जहाँ तहाँ सर्वत्र व्यवहार के अनुरूप होने से रति का कारण उत्तम युवक एवं उत्तम युवतो होती है, और वही संवित् आस्वादन के योग्य होने से शृङ्गार रस होता है। उत्तमत्व तथा युवत्व अर्थात् नर-नारी के उत्तम युवत्व न होने पर वह रति स्थायी नहीं होती, इसलिए वह 'रससंवित्' नहीं कहलाती; क्योंकि वहाँ वियोग की सम्भावना रहती है और अवियुक्त रति संवित् ही शृङ्गार रस का प्राण है। जैसे—

अभिनव—"वारिसिणि" इत्यादि। किन्तु यह पाठ अस्पष्ट है और बीच-बीच में खण्डित है। इसमें परस्पर जीवित सर्वस्व अर्थात् परस्पर एक दूसरे को अनुप्राणित करने वाली अभिमानरूपा रति की व्याख्या की गई है।

अभिनव—जो चित्तवृत्ति को व्याप्त करता है अर्थात् ज्ञापन के द्वारा रस के रूप में संक्रान्त होता है वह विभाव-अनुभाव रूप 'वेष' है और जो रत्यादि स्थायी-भाव में व्याप्त हो जाते हैं वे व्यभिचारीभाव भी 'वेष' हैं। इस प्रकार अभिनव के अनुसार वेष शब्द का अर्थ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव है। वे विभावादि जिसमें उज्ज्वल अर्थात् उत्कृष्ट हों, उस प्रकार का जिसका स्वरूप है वह उज्ज्वलवे-षात्मक शृङ्गार है।

---

१. क–सास्था यत्र तत्र व्यवहारस्य ।
२. अनुत्तमत्वे तु दाढर्यमयुवत्वे ।

तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।

तत्र सम्भोगस्तावत् [1]ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवर-भवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते[2]।

सूत्रे संक्षिप्य यद्विभावादि निरूपितं तद्विभागेन व्याख्येयमित्याशयेन शृङ्गारस्यावस्थाभेदमाह—तस्य द्वे इत्यादिना ।

अधिष्ठाने अवस्थे इत्यर्थः। अधिष्ठीयतेऽवस्थात्र शृङ्गाररूपेण । तेन शृङ्गारस्येमो भेदौ । गोत्वस्येव शाबलेयत्वबाहुलेयत्वे । अपि तु तद्दशाद्वयेऽप्यनुयायिनी या [3]रतिरास्वादनात्मिका तस्याश्चास्वाद्यमानं रूपं शृङ्गारः । यदाहुः—

"एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहह्रासिनस्तेऽप्यभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति" ॥ इति ॥

(मेघ० उ० ४९)

अभिनव—रस सूत्र में जिन विभावादि का संक्षेप में निरूपण किया गया है। उनकी व्याख्या अलग-अलग करनी चाहिए, इस आशय से शृङ्गार रस के दो अवस्थाओं का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—उस शृङ्गार रस की दो अवस्थाएँ हैं-सम्भोग और विप्रलम्भ।

अनुवाद—उनमें सम्भोग शृङ्गार ऋतु, मालाएँ, अनुलेपन, अलङ्कार, इष्टजन, प्रिय विषय, श्रेष्ठ भवन आदि का उपभोग, उपवन-गमन, अनुभवन, श्रवण, दर्शन, क्रीड़ा, लीला आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है।

अभिनव—'अधिष्ठाने' का अर्थ दो अवस्थाएँ हैं। यहाँ पर शृङ्गार के रूप में अवस्थाएँ अधिष्ठित होती हैं इसलिए अवस्था अधिष्ठान है। इसलिए ये शृङ्गार के दो भेद नहीं हैं। जिस प्रकार गोत्व के शाबलेयत्व और बाहुलेयत्व भेद नहीं होते अर्थात् शाबलेयत्व और बाहुलेयत्व गोत्व के भेदक धर्म नहीं हैं। उसी प्रकार सम्भोग और विप्रलम्भ शृङ्गार रस के भेद नहीं हैं अपितु शृङ्गार रस की दो अवस्थाएँ हैं। अपितु दोनों अवस्थाओं में अनुगत रहने वाली आस्वादात्मिका (आस्वादरूपा) जो रति है उस रति का आस्वाद्यमान रूप शृङ्गार है। जैसा कि कहा है—

---

१. क–अ. ऋतुमाल्यालेपनालङ्कारेष्टजनविषयभवनोपभोगोपवनभवनानुगमनश्रवणक्रीडा-लीलाश्रयादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

२. क–त. लीलादिभिर्भावैः समुत्पद्यते ।

३. क–म. रतिरास्थाबन्धा ।

अत एव सम्भोगे विप्रलम्भसम्भावनाभीरुत्वं विप्रलम्भेऽपि [1]सम्भोगमनोराज्यानुबंध इति इयच्छृङ्गारस्य वपुः । अभिलाषेर्ष्याप्रवासादिदशास्त्वत्रैवान्तर्भूताः । सत्यामास्थाबन्धात्मिकायां रतौ तेन सम्भोगशृङ्गार इत्यादिव्यपदेशोऽभोगेऽप्युपचारात् । अत एतद्दशाद्वयमेलन एव सत्यतः सातिशयचमत्कारः । यथा—

'एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहम् ॥"

(अ० श०-२३.)

तत्र हीर्ष्याविप्रलम्भसम्भोगमेलनात्मिकैकैकप्राणीभूतोभयगतविभावानुभावव्यभिचारिकृता सातिशया रसानुभूतिः ।

अभिनव—"हे श्याम नेत्रों वाली प्रिये ! मेघ के द्वारा दिये गये अभिज्ञान से 'मैं कुशलपूर्वक हूँ' यह जानकर लोकापवाद से मेरे प्रति अविश्वासिनी मत बनना । अर्थात् मुझ पर अविश्वास मत करना । वियोग में प्रेम का ह्रास हो जाता है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं । वस्तुतः भोग के अभाव में इष्ट वस्तु के प्रति अभिलाषाएँ बढ़ जाने से प्रेम गहरा हो जाता है ।" (मेघदूत, उत्तरार्द्ध २।४९) ।

अभिनव—इसलिए सम्भोग में विप्रलम्भ (वियोग) की सम्भावना का भय रहता है और विप्रलम्भ में सम्भोग (संयोग) की कामना बनी रहती है, इतना ही श्रृङ्गार रस का शरीर (स्वरूप) है । अभिलाष, ईर्ष्या, प्रवास आदि दशाएँ तो इसी में अन्तर्भूत हैं । आशाबन्ध रूप रति के होने पर भोग के अभाव में भी उपचार से सम्भोग श्रृङ्गार आदि का व्यवहार होता है । अतः इन दोनों दशाओं के मेलन (मिश्रण) से ही अतिशय चमत्कार उत्पन्न होता है । जैसे—

अभिनव—"एक ही शय्या पर मुख फेर कर लेटे हुए, एक दूसरे से न बोलने के कारण खिन्न, दोनों के हृदय में एक दूसरे को मना लेने की इच्छा होने पर भी अपने गौरव की रक्षा करते हुए दम्पति के धीरे-धीरे अपाङ्गों के चलाने से आँखों के मिल जाने पर हंसकर एक दूसरे के गले लग जाने से मान-क्रीड़ा भङ्ग हो गयी ।" (अमरुक-शतक, २३) ।

अभिनव—यहाँ पर ईर्ष्या विप्रलम्भ और सम्भोग के मिलन स्वरूप एक प्राणभूत उभय दम्पतिगत विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा सातिशय (अत्यधिक) रस की अनुभूति होती है ।

१. क-सम्भोगमनोरथानुवेध ।

तेन यच्चोदितं श्रीशङ्कुकेन पुरूरवस उन्मादे वत्सराजस्य तापसत्वे चानुज्ज्वलवेषत्वं विप्रलम्भशृङ्गारेऽपि (इति)। तदनवकाशमेव। भोगस्य रसत्वाभावात् स्नानाद्यवस्थानमिव। यत्वत्रोत्तरं [1]तावद्दत्तं स्थैर्यादुज्ज्वलवेषाभावेऽपि रतिमुत्तमा न विजहतीति तद्यक्षभाषितम्। प्रकृतचोद्यापरिहारात्। न हि चोदितमनुज्ज्वलवेषे कथं शृङ्गार इति। तदेवास्तु चोद्यमिति चेत्—न वचनस्यातिभारोऽस्ति। न तु मुनिनैवमुक्तं सत्युज्ज्वलवेषे शृङ्गार इति। [2]अपि तु विपर्यय इत्यास्तामेतत्।

तत्रेति। द्वयोरवस्थयोर्मध्ये सम्भोगावस्था तावदुच्यते। तत्रेह वस्तुतः स्त्रीपुंसौ परस्परं विभावौ। तयोरुत्तमत्वे चोपयोगीनि ऋत्वादीनि। उत्तमस्यानवसरे रत्यभावात्।

अभिनव—इसलिए शङ्कुक ने जो शङ्का उठायी है कि पुरूरवा के उन्माद के समय और वत्सराज उदयन की तपस्या के समय विप्रलम्भ शृङ्गार में भी अनुज्ज्वल वेष पाया जाता है वह कैसे सङ्गत होगा अर्थात् उसके लिए अवसर कहाँ है? किन्तु इस प्रकार की शङ्का स्नान आदि की अवस्था के समान वेष-भूषादि रूप भोग के रस न होने से अनुचित है। जो कि शङ्कुक ने यहाँ उत्तर दिया है कि उज्ज्वल वेष के अभाव में भी उदयन एवं वत्सराज स्थैर्य से उत्तम रति का परित्याग नहीं करते हैं, यह भी यक्षभाषित है अर्थात् यह कथन भी असङ्गत है। क्योंकि इससे प्रकृत शङ्का का समाधान नहीं होता है। यहाँ पर यह शङ्का तो नहीं की है कि उज्ज्वल वेष के न रहने पर शृङ्गार कैसे होता है? यदि इसे शङ्का का रूप मान भी लिया जाय तो क्या हानि है? क्योंकि कहने के लिए आप कुछ भी कहले, इसमे कोई भार (बोझ) नहीं है, किन्तु मुनि ने ऐसा नहीं कहा है कि उज्ज्वल वेष होने पर शृङ्गार होता है। अपितु इसके विपरीत अर्थात् उज्ज्वल वेष होने पर शृङ्गार नहीं होता है। इसलिए इसे रहने दिया जाय।

अभिनव—उनमें अर्थात् संयोग और विप्रलम्भ दोनों अवस्थाओं में पहिले सम्भोग शृङ्गार की अवस्था को कहते हैं। उनमें स्त्री और पुरुष परस्पर एक दूसरे के विभाव (आलम्बन विभाव) होते हैं और ऋतु, माला आदि उन दोनों की उत्तमता (उत्कर्षाधान) में उपयोगी होते हैं। क्योंकि उत्तम प्रकृति के अनवसर में अर्थात् अनुकूल अवसर के न रहने पर रति का उदय नहीं होता है।

१. क-म. तावत्तटस्थैर्यंदुज्ज्वलवेषाऽभावेऽपि।

२. क-न तु विपर्यये।

यदाह—

"असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं किं सन्ध्यां भजते रविः॥" इति।
(राजतर. ४.४४२.)

ऋतुर्वसन्तादिः। माल्यं कुसुमादिः। अनुलेपनं समालम्भनं यद्यत्कामस्योद्दीपकम्। अलङ्कारः कटकादिः। इष्टजनः विदूषकादिः। एतदुभयमुत्तमत्वसूचकम्।

विषया गीतादयः। तदन्तर्भूतमपि माल्यादि प्राधान्यात्पृथगुक्तम्। वरभवनं हर्म्यादि। एतद्देशविशेषोपलक्षणम्। एषामुपभोगः। उपवनस्योद्यानस्यानुभवनं श्रवणं वा परभवनस्थस्यापि। एतत्सङ्कल्पादेरप्युपलक्षणम्। क्रीडा जलावगाहनादिका। लीला जनस्यानुकृतिः। अनु ग्रहणादन्यदपि हृद्यं हंसयुगलकचित्रपुस्तकदर्शनादि। एतच्च समस्तमेव शृङ्गारविभावत्वेन मन्तव्यम्।

जैसा कि कहा है—

अभिनव—मनस्वी पुरुष विजय की कामना को पूरा किये बिना स्त्री की चिन्ता नहीं करते। क्योंकि समस्त जगत् को आक्रान्त किये बिना सूर्य सन्ध्या का सेवन नहीं करता है। (राजतरङ्गिणी ४।४४२)।

अभिनव—ऋतु वसन्त आदि हैं। माला कुसुम आदि हैं। अनुलेपन से अङ्गराग आदि का ग्रहण है। ये सभी काम के उद्दीपक हैं। अंगद (केयूर) आदि अलङ्कार हैं और विदूषक आदि प्रियजन हैं। ये सब दोनों अर्थात् नायक और नायिका की उत्तमत्ता (उत्तम प्रकृति) के सूचक हैं।

अभिनव—विषय गीत आदि हैं। उसके अन्तर्गत माला आदि का अन्तर्भाव हो जाता है किन्तु प्रधानता के कारण उसका पहिले अभिधान किया गया है। 'वर-भवन' पद से महल आदि का ग्रहण है। यह देश विशेष का उपलक्षण है। इनका उपभोग श्रृङ्गार के अन्तर्गत माना जाता है। उपवन (उद्यान) में जाना अर्थात् उद्यान का अनुभव या श्रवण अर्थात् श्रेष्ठ भवन में बैठकर भी श्रवण करना। यह सब सङ्कल्प आदि का उपलक्षण है। क्रीड़ा का अर्थ है जल में अवगाहन करना आदि। लीला से तात्पर्य है लोक चेष्टाओं का अनुकरण करना। आदि पद से अन्य भी मनोहर (आकर्षक) हंस-हंसी के जोड़े, चित्र तथा पुस्त रूप कला-कौशल आदि का दर्शन आदि का ग्रहण किया जाता है। इन सबको श्रृङ्गार रस का विभाव समझना चाहिए।

यावान्कश्चिदयं विषयसम्भारो हृद्यतमस्तत्पूर्णतायां सत्यामुत्तमस्य रत्युदयः। अत एव रत्नावल्यां हर्म्यवर्णनमुद्यानगमनं कामदेवपूजा वसन्त इत्यादि सर्वमेवात्र संगृहीतं 'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तम्' इत्यादिना। एवञ्च सर्व एव समुदितो विभाव इति काल्पनिकमालम्बनविभाव इति। अत एव मुनिना नायं क्वचिद्विभाग उक्तः सूचितो वा। युक्तञ्चैतत्। यथैकत्रैव रूपके उद्यानर्तुमाल्यादीनां सर्वेषां दर्शनादेको रसः स्यात् विभावाभेदात्।

ननु प्रथमं [1]प्रमदामात्रदर्शने नोद्यानभवनादिसम्भवः। क एवमाह। ऐश्वर्यपूर्णस्य हि तावदात्मीयसमृद्धिसम्भारसंस्कारानवगमात्[2] पूर्णतैव विभाववर्गस्य। तत्प्रधानं हि रूपकं तत्र तत्रोदाहरणम्। तेन पृथक्पृथगुदाहरण-दानमनुपपन्नम्[3]।

अभिनव—यह जितना भी कुछ हृद्य (आकर्षक) विषय सामग्री है उसके पूर्ण हो जाने पर ही उत्तम प्रकृति में रति का उदय होता है। अतएव रत्नावली नाटिका में राजभवन का वर्णन, उद्यान में गमन (उपवन-विहार), कामदेव की पूजा, वसन्त का वर्णन आदि सबका 'शत्रु से रहित राज्य को योग्य सचिवों पर विन्यस्त करना' इत्यादि के द्वारा यहाँ संग्रह किया गया है। इस प्रकार ये सब मिल कर (समुदित) विभाव हैं। इसीलिए आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव रूप भेद काल्पनिक है। इसलिए भरत मुनि ने इस प्रकार का कोई भी विभाव कहीं पर न कहा है और न सूचित किया है। यह ठीक भी है। जैसे एक ही रूपक में ऋतु, माला, उद्यान आदि सभी वस्तुओं के साथ देखने से विभावों के भेद न होने से एक ही रस की प्रतीति होती है।

अभिनव—अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहिले केवल प्रमदामात्र आलम्बन के देखने से उद्यान, भवन आदि (उद्दीपन विभावों) को सम्भावना नहीं भी हो सकती है तो समुदित विभाव रस के कारण कैसे हो सकते हैं? इसका उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि कौन ऐसा कहता है? क्योंकि ऐश्वर्य से परिपूर्ण नायकादि (आलम्बन विभाव) के उद्यान, भवनादि समृद्धि की सामग्री के संस्कार से विना उद्दीपन सामग्री के भो विभाव-वर्ग को पूर्णता होती है। ऐश्वर्य प्रधान ही रूपक यहाँ उदाहरण हैं। इसलिए अलग-अलग उदाहरण देना उचित नहीं है।

१. क–भ म. प्रमामात्रदर्शने।
२. क–संस्कारावगमात्।
३. क–म. पृथगुदाहरणमनुपपन्नम्।

या तु मुक्तकादौ [१]पृथक्तयाऽभावेऽपि रससंवित् तन्नोत्तमे च [२]तावत-स्तत्रानुसन्धानाच्चमत्कार इति । [३]इयांस्त्वनुत्तमादिविषयेऽपरिपूर्णोद्दीपनत्वे न चमत्कारो दृश्यते—

यथा हि 'वर्धते लुनाहि पणोलुदिसिगमिहा अमहंह भूवं हचदुघरोदुल्लए लंबा ।' इति तथा 'कमसूपे रङ्ग' इत्यादि ।

तत्रैकाङ्गस्य सौभाग्यस्य प्रधानान्याच्चमत्कारोदय इति तात्पर्यम् । [४]न तु तदभावकृता चमत्कृतिः ।

एतैः कविनोपनिबद्धैर्नटेन च साक्षात्कारकल्पतामानीतैः सम्यगित्यविघ्न-भोगात्मकसम्भोगो रस उत्पद्यते झटित्येव । न हि गमनक्रियावत् पर्यन्ते रसना-क्रिया निष्पद्यते । अपि तु प्रथम एवावसरे । स च विभावसाक्षात्कारात्मक एव ।

अभिनव—जो मुक्तक आदि में उद्दीपन सामग्री के अलग-अलग उल्लेख न होने पर भी रस की प्रतीति होती है वहाँ उत्तम में उतने विभावादि के अनुसन्धान से चमत्कार होता है और जो अनुत्तम मुक्तक आदि में उद्दीपन विभाव के परिपूर्ण न होने पर भी चमत्कार दिखाई देता है ।

जैसे—'वर्धते लुनाहि' इत्यादि तथा 'कमसूपे रङ्ग' इत्यादि में ।

अभिनव—वहाँ एक अङ्ग (केवल आलम्बन) के सौन्दर्य की प्रधानता के कारण चमत्कार का उदय होता है, यह तात्पर्य है। उद्दीपन विभाव के अभाव में चमत्कार नहीं होता है ।

अभिनव—कवि के द्वारा उपनिबद्ध और नट के द्वारा साक्षात्कारकल्प बनाये गये इन विभावादि के सम्यक् अच्छी तरह निर्विघ्न भोग-रूप सम्भोग-शृङ्गार रस तुरन्त उत्पन्न होता है । गमनक्रिया के समान अन्त में रसनक्रिया (आस्वादनक्रिया) निष्पन्न नहीं होती, अपितु प्रथम अवसर में ही निष्पन्न होती है और वह प्रथम अवसर विभावादि का साक्षात्कार ही है । भाव यह कि वह रसनक्रिया विभावादि के साक्षात्कार के अवसर पर ही होती है ।

१. क–पृथक्तया भावेऽपि ।
२. क–तापसस्तत्रानुसन्धानात् ।
३. क–वस्त्वनुत्तमादिविषये ।
४. क–भ. न तु तदा भवतु नाम चमत्कृतिः ।

तस्य [1]नयनचातुर्यभ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

तस्य तु प्रथमकक्ष्यायामेव रसनागोचरत्वाभिमतस्य नयनचातुर्यादिभी रसं रसनाद्याभिमुख्यं नीयते । अत एव तेऽभिनया अनुभावाश्च । आभिमुख्यनयनमनुभावनं च । तद्रसास्वादे समर्थाचरणमुद्दीपनम् । अत एव तदभावे विभावादिवर्णनप्रधानेऽपि काव्ये न चमत्कारः । रसनायास्तत्राभावात् । यथा कवीन्दोर्भट्टेन्दुराजस्य—

"उपपरिसरं गोदावर्या परित्यजताध्वगाः
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥" इति ।

एवमन्यत्राप्युपपद्यत इति तस्याभिनयादियोजनीयम् ।

अनुवाद—और उसका अभिनय नेत्रों के चातुर्य से, भौंहों के चालन से (भ्रूक्षेप से) कटाक्ष-निरीक्षण, ललित एवं मधुर अङ्गहार और मधुर वाक्य-प्रयोग आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अभिनव—इनका विभावों के साक्षात्कार को प्रथम कक्ष्या अर्थात् प्रथम अवसर में ही रसना के विषय के रूप में अभिमत सम्भोग श्रृङ्गार को नयन-चातुर्य आदि अनुभावों के द्वारा रसन (आस्वादन) आदि के अभिमुख ले जाया जाता है अर्थात् रसन के योग्य बनाया जाता है । इसलिए वे अभिनय और अनुभाव कहे जाते हैं । रसन के अभिमुख ले जाना (अभिमुख्य-नयन) अर्थात् अभिनय और अनुभावन रूप अनुभाव है । रस के आस्वादन में समर्थ बनाना उद्दोपन विभाव है । इसलिए उसके अभाव में विभावादि के वर्णन का जिसमें प्राधान्य रहता है ऐसे काव्यों में चमत्कार नहीं रहता है । क्योंकि वहाँ रसना (आस्वादन) का अभाव होता है ।

जैसा कि कवीन्द्र भट्टेन्दुराज का कथन है कि—

अभिनव—"हे पथिकों ! गोदावरी के तटवर्त्ती निकट के मार्ग को छोड़कर आप लोग कोई दूसरा मार्ग देख लें । क्योंकि यहाँ पर किसी निराश स्त्री ने अपने चरणकमलों के न्यास से लाल अशोक को नवीन किसलयाङ्कुर रूपी कञ्चुक को उदञ्चित कर दिया है ।"

यहाँ पर रक्ताशोक का वर्णन है । इसी प्रकार अन्यत्र भी वर्णन प्राप्त होते हैं । उनके अभिनय आदि की योजना कर लेनी चाहिए ।

---

१. क—नयनचातुरीभ्रूक्षेपकटाक्षसञ्चरणललितमधुराङ्गहारैर्वाक्यादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ।

नतु विभावानां साधारण्यं कथम्। [1]नियमेनैवं हि न नाट्ये। इयांश्चात्र कविप्रयत्नसमर्प्यमाणः। तेन तद्भावात्प्रयोजकधर्मोद्रेकप्रकाशविशिष्टसमबलात्प्रमुख एव विशेषविश्रान्ततां याति। तथा 'हा प्रिये जनकराजपुत्रीति' इत्ययं श्रुत एव न रतिव्यतिरेकेण भावान्तरविभावता शङ्क्या। 'एतेन कुणपे कामिनी' इत्यादिसम्भावन प्रत्युक्तम्।

तत्र नयनचातुर्यादिना कान्ता दृष्टिर्लक्ष्यते। यत्तु भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपश्चतुरमिति (ना. शा. ८-४७) वक्ष्यते। सभ्रूक्षेपेण चोक्तम्—'विवर्तनं कटाक्ष' (ना. शा. ८-१००) इति ताराकर्म।

एवं च योजना—नयनानां चातुर्येण सभ्रूक्षेपेण कटाक्षेण च यद्यत्सञ्चारणं ललितं मन्थरं मधुरं नयनाभिरामं कृत्वा यान्यङ्गानां हरणानि स्वकर्तव्यकाले ललितानि सुकुमाराभिधेयानि मधुराणि च श्रवणसुखकराणि यानि। वाक्यानीत्युपाङ्गाभिनय आङ्गिको वाचिकश्च लक्षितः।

अभिनव—प्रश्न यह होता है कि विभावों का साधारण्य कैसे होता है? नियम से तो नाट्य में ऐसा नहीं होता है। भाव यह कि विभावों का साधारण्य किस प्रकार होगा? क्योंकि नियत विभावों के अभाव में नाट्य में अभिनयादि की योजना कैसे होगी? नियम से तो ऐसा नहीं होना चाहिए। इस पर कहते हैं कि कवि के व्यापार अर्थात् रचना-कौशल की यही विशेषता है कि उससे अर्थात् उसके होने से प्रयोजक धर्मों के उद्रेक से प्रकाशित विशिष्ट रस के बल से विभिन्न रसों में प्रयुक्त होने वाले अनुभाव आदि की प्रमुख रस में विशेष रूप से विश्रान्ति होती है। जैसे—'हा प्रिये जनकराज पुत्रि?' इस प्रकार के वचन के सुनते ही रति के अतिरिक्त अन्य किसी भाव की आशङ्का नहीं हो सकती। 'इससे कुणप अर्थात् मृत शरीर में कामिनी की शङ्का का निराकरण हो गया'। भाव यह है कि एक ही प्रमदा में परिव्राजक मृत शरीर की बुद्धि से, युवक कामिनी के रूप में, कुत्ता उसे भक्ष्य बुद्धि से देखता है उसी प्रकार विभिन्न रसों में विभावादि के समान होने पर भी कवि के रचना-कौशल के द्वारा समर्प्यमाण वैशिष्ट्य के कारण प्रमुख रस में उसकी विश्रान्ति होती है।

अभिनव—यहाँ नेत्र के चातुर्य आदि के द्वारा 'कान्ता' की दृष्टि लक्षित होती है (ना० शा० ८।४७) यहाँ 'भ्रूक्षेप' से भौंहों के नीचे से ऊपर उठाने की प्रक्रिया लक्षित होती है। (ना० शा० ८।१२१) विवर्त्तन अर्थात् आँखों का घुमाना कटाक्ष है, इससे 'तारकाकर्म' सूचित होता है। (ना० शा० ८।१०१)।

१. क-भ. म. कथं नियममेव नहि नाट्ये।

[1]व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्रचजुगुप्सावर्ज्याः[2] ।

अत एव सामान्याभिनयाध्याय (ना. शा. अ-२२) वक्ष्यमाणाशेषचेष्टालङ्कारलाभ इति ललितमधुरशब्दौ तदर्थावित्यसत् । आदिग्रहणात्सात्त्विको मुखरागपुलकादिर्गृह्यते । अनुभावकत्वेन ताटस्थ्यपरिहारः । आभिमुख्यनयनेन स्वात्मैकविश्रान्तिशङ्कानिरासः । एवमुत्तरत्रापि ।

एवं विभावसमय एव रसनीयस्यानुभावावसरेऽवस्थावेशवैरस्यास्पदस्य पश्चाद्व्यभिचारिणः स्वामेव रसनीयतां चित्रयन्तः सातिशयं पुष्यन्तीति पश्चात्ते निरूप्यन्ते—व्यभिचारिणश्चास्येति ।

अभिनव—योजना इस प्रकार है—नेत्रों के चातुर्य, भौंहों के सञ्चालन, सकटाक्ष निरीक्षण के (सञ्चारण) के द्वारा जो सञ्चालन, ललित मन्दगति से अपने कर्त्तव्य के उचित अवसर पर मधुर नयनाभिराम बनाकर जो अङ्गों का हरण (सञ्चालन) अर्थात् अङ्गहार, ललित तथा सुकुमार अर्थों वाले और श्रवण को प्रिय लगने वाले जो मधुर वाक्य हैं, उससे आङ्गिक, वाचिक और उपाङ्गों का अभिनय लक्षित होता है।

अभिनव—इसलिए सामान्याभिनय अध्याय में कहे जाने वाले चेष्टा और अलङ्कारों का ग्रहण हो आता है, अतः ललित और मधुर शब्द को जो चेष्टा और अलङ्कार का वाचक मानते हैं उनका कहना ठीक नहीं है। आदि शब्द के ग्रहण से मुखराग, पुलक (रोमाञ्च) आदि सात्त्विक भावों का ग्रहण होता है। अनुभावकत्व अर्थात् अनुभावक होने से तटस्थता का परिहार हो जाता है। 'आभिमुख्यनयन' के द्वारा अपने आप में होने वाली विश्रान्ति की शङ्का का निराकरण हो गया। इसी प्रकार अन्यत्र अर्थात् अन्य रसों के प्रसङ्ग में भी समझना चाहिए।

इस प्रकार विभावों के अवसर पर रसनीय और अनुभावों के अवसर पर अवस्था विशेष के कारण विरस (विरसता को प्राप्त) और उसके बाद व्यभिचारी भाव अपनी रसनीयता को विचित्र बनाते हुए उसे अतिशय पुष्ट करते हैं, इसलिए उनके निरूपण के पश्चात् 'व्यभिचारिणश्चास्य' के द्वारा व्यभिचारीभाव का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—इस शृङ्गार के व्यभिचारीभाव आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़कर (शेष तीस) होते हैं॥

१. ख. ग. घ. व्यभिचारिणस्त्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्जम् ।

२. क-अ. च. वर्ज्याः । क-त. वर्जम् ।

आलस्यौग्र्यजुगुप्सा वर्ज्यमाना येभ्यस्ते सर्वे व्यभिचारिणः । अस्येति वशाद्वयमयस्येत्यर्थः । जुगुप्सा स्थायिन्यपीह निषिद्धा [1]न्यायसिद्धा स्थायिनामपि व्यभिचारित्वमनुज्ञापयति । आलस्यादि च [2]स्वविभावप्रमादादिविषयमेव निषिद्धम् । तेन 'वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः' (वेणी० १-२) इति । तथा 'कतिचिदहानि वपुरभूत् केवलमलसेक्षणं तस्याः' (विक्र० ५-८) इत्यादिनापि रूपकं मन्तव्यम् । एवं प्रयोगे काव्ये च विभावादीनां क्रम [3]एव समाश्रयणीयः । [4]उद्भूतस्य लब्धप्रतिष्ठता । तथाभूतस्य परिवासघटनमिति हि प्रतीतिक्रमः ।

ननु निर्वेदादयः सम्भोगे न व्यभिचारिण इत्याशङ्क्याह—विप्रलम्भकृतस्त्विति ।

अभिनव—आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़कर जो शेष हैं वे सब व्यभिचारीभाव हैं । 'अस्य' का अभिप्राय है दशाद्वय अर्थात् सम्भोग और विप्रलम्भ नामक अवस्थाओं वाला श्रृङ्गार रस । जुगुप्सा बीभत्स का स्थायीभाव होने पर भी यहाँ श्रृङ्गार रस के विषय में निषिद्ध है, इससे न्यायसिद्ध स्थायीभावों को भी व्यभिचारित्व अर्थात् स्थायिभावों को अन्य रसों में व्यभिचारी भाव होने की अनुज्ञा देता है अर्थात् स्थायीभाव अन्यरसों में व्यभिचारी भाव हो जाते हैं । आलस्य आदि अपने विभाव रूप प्रमदा आदि के विषय में ही निषिद्ध है । इससे 'लक्ष्मी का शरीर अलस बाहु से सुशोभित है' (वेणी. १।२) और 'कुछ दिनों तक उसका शरीर केवल अलसाए हुए नेत्रों से युक्त था' (विक्रमोर्वशीय ५।८) इत्यादि को भी रूपक समझना चाहिए । इस प्रकार नाट्यप्रयोग और काव्य में विभावादि के पूर्व निश्चित क्रम को ग्रहण करना चाहिए । पहिले उत्पन्न हुई वस्तु लब्धप्रतिष्ठ होती है अर्थात् प्रथम उद्भूत वस्तु की स्थिरता होती है और बाद में वह स्थिरवस्तु अपने परिवार (अनुभाव आदि सहायकों) का संघटन करती है, जिससे रस को प्रतीति संभव होती है । यही रस-प्रतीति का क्रम है ।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव सम्भोग श्रृङ्गार के व्यभिचारीभाव नहीं हो सकते इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं —

---

१. ङ. न्यायसिद्धस्थायिनामपि ।
२. क. स्वविभावप्रमादादिविषयेव ।
३. क-भ. एवं समाश्रयणीयः ।
४. क. उत्पूर्वस्य ।

विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रा-[1]स्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः ।

तुशब्दो विशेषं द्योतयति[2] । वाक्यकवाक्यतया दुःखप्रायनिर्वेदादि [3]मुक्त्वा आलस्यादिव्यतिरिक्ताश्च सुखमया एव धृत्यादयोऽत्र व्यभिचारित्वेन[4] सम्भोग उपन्यस्ता इति प्रकटयति । परस्परांशोपजीवनं चात्र जीवितमिति दर्शयितुमस्ये-यनुद्भिन्नमेवोक्तम् ।

तत एव च भगवदनुग्रहपवित्रवाचा कालिदासेन रघुवंशे सम्भोग-विप्रलम्भात्मकव्यामिश्ररसनासम्पत्तये प्रत्यनीकोद्देशेन रामभद्रस्य स्वकर्म पूर्वावस्थावर्णनेनावृतम् ।

अनुवाद—विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अभिनय निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चिन्ता, औत्सुक्य, निद्रा, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जाड्य, मरण आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अभिनव—यहाँ पर 'तु' शब्द विशेष को द्योतित करता है । निर्वेद आदि व्यभि-चारिभावों की विप्रलम्भ प्रतिपादक वाक्य के साथ एकवाक्यता होने से विप्रलम्भ से सम्बद्ध दुःखबहुल निर्वेदादि को छोड़कर आलस्य आदि से वर्जित (अतिरिक्त) सुख-प्रधान धृति आदि भाव यहाँ सम्भोग श्रृङ्गार में व्यभिचारीभाव के रूप में न्यस्त है, यह प्रकट करता है । सम्भोग और विप्रलम्भ परस्पर एक दूसरे पर अंशतः उपजीवित (आश्रित) अथवा उपजीवन प्राणभूत है, यह दिखाने के लिए यहाँ मुनि ने 'अस्य' पद का अस्पष्ट प्रयोग करके व्यक्त किया है ।

इसलिए ही भगवती की अनुग्रह से पवित्र वाणी वाले महाकवि कालिदास ने रघुवंश में सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों से मिश्रित रसास्वाद के लिए विपरीत क्रम से रामचन्द्रजी के स्वकर्म और पूर्वावस्था के वर्णन के द्वारा उद्धृत किया है । भाव यह कि श्री रामचन्द्रजी विमान से अयोघ्या लौटते समय सीताजी से अपने गत जीवन की दशाओं और स्थानों का वर्णन करते हुए सम्भोग और विप्रलम्भ श्रृङ्गार की मिश्रित रसास्वाद प्रस्तुत किया है ।

---

१. ख. ग. निद्रासुप्तस्वप्नविब्वोक । घ. निद्रासुप्तस्वप्नविबोध ।

२. क-भ. द्योतयतीति यदि वाक्यैक वाक्यतया ।

३. क-भ. मुक्त आलस्यादि ।

४. क-भ. व्यभिचारित्वेन परम्परा ।

'[1]स्वप्नान्तर्भूतोऽपि स्वप्नः प्रधान्यादुपात्तः । [2]'क्व नीलकण्ठ व्रजसि' इति (कु० स० ५-५४)।

'सिविणवए विहुदोसुजपउसुमराविउतरूढसंखुआसिपुअगलगालविडति ।'

तथा '[3]आहूतोऽपि सहायैः' इत्यादौ हि स एव प्राणः ।

अभिनव—निद्रा स्वप्न के अन्तर्भूत होने पर भी मिश्रित प्रतीति कराने में प्रधान होने के कारण व्यभिचारीभावों अर्थात् व्यभिचारिभाव के रूप में स्वप्न का पृथक् उपादान किया है।

जैसे—निम्नलिखित उदाहरणों में स्वप्न की व्यभिचारीभाव के रूप में स्थिति स्पष्ट की गई है।

त्रिभागशेषासु निशासु चक्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ ? व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥

(कुमारसम्भव ५।५७)

"पार्वती स्वप्नावस्था में शिव को अपने पास देखकर 'हे नीलकण्ठ ! कहाँ जा रहे हो ?" इस प्रकार असम्बद्ध प्रलाप करती हुई तथा काल्पनिक व्यक्ति के गले में हाथ डालती हुई सहसा जाग उठती है। यहाँ पर सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों की मिश्रित प्रतीति होती है।

और "सिविणवए विहुदोसुजपउसुमराविऊतरूढ़संखुआसिपुअगलगालविडति"

यह उदाहरण अपूर्ण और अस्पष्ट है।

तृतीय उदाहरण—

आहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

"साथियों के द्वारा बुलाया गया 'आ रहा हूँ' इस प्रकार कहकर निद्रारहित अर्थात् जागा हुआ भी तथा जाने का इच्छुक भी वह पथिक सङ्कोच को नहीं छोड़ रहा है।" यहाँ पर सम्भोग और विप्रलम्भ की मिश्रित प्रतीति हो प्राण है।

१. क–सुप्तान्तर्भूतोऽपि । ङ. निद्रान्तर्भूतोऽपि ।

२. क–त्रिभागशेषासु निशासु चक्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीव्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥
(कु० स० ५।५४)

३. आहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

सम्भोगदशायां तु विभावसान्निध्ये निद्राद्यभावाद्विबोधोऽपि व्यभिचारी। सम्भोगेऽपि रतिश्रमकृतनिद्रादि यद्यप्यस्ति तथाऽपि न रतौ तच्चित्रतामाधत्ते[1]। विप्रलम्भे तु [2]तद्रतिभावनापरमत एव निद्रादिबाहुल्यापेक्षं चेत्थमभिधानम्।

उन्मादापस्मारव्याधीनां या नात्यन्तं कुत्सिता दशा सा काव्ये प्रयोगे च दर्शनीया। कुत्सिता तु सम्भवेऽपि नेति वृद्धाः। वयं तु ब्रूमः। तादृश्यां दशायां स्वजीवितनिन्दात्मिकायां तद्देहोपभोगसाररत्यात्मकावस्थाबन्धोऽपि विच्छिद्यत एवेति सम्भव एव। मरणमचिरकालप्रत्यापत्तिमयमत्र मन्तव्यम्। येन शोकोऽवस्थानमेव न लभते। यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्य।
पूर्वावस्थाधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥
(रघु. ८-९४)

अभिनव—सम्भोग की दशा में तो विभाव के सान्निध्य में निद्रा आदि के अभाव में 'विबोध' भी व्यभिचारी भाव होता है। सम्भोग में भी रति-श्रम (थकावट) के कारण यद्यपि निद्रा आदि होती है, तथापि उससे रति में कोई विचित्रता का आधान नहीं होता, अतः सम्भोग में निद्रा को अनुभाव नहीं माना जा सकता है। विप्रलम्भ में तो रति की भावना विशिष्ट होती है, अतः निद्रा आदि की बहुलता की अपेक्षा से इस प्रकार कहा गया है कि विप्रलम्भ में निद्रा अनुभाव माना गया है।

अभिनव—उन्माद, अपस्मार, व्याधि की 'जो अत्यन्त कुत्सित दशा न हो' उसे काव्य तथा नाट्य-प्रयोग में दिखलाना चाहिए। कुत्सित दशा तो सम्भव होने पर भी नहीं दिखलाना चाहिए, यह प्राचीन आचार्यों का मत है। हम तो कहते है कि अपने जीवन की निन्दात्मक उस प्रकार की कुत्सित दशा में उस शरीर के द्वारा उपभोग का सारभूत तत्त्व रति रूप आस्थाबन्ध भी विच्छिन्न हो जाता है। इस प्रकार उस दशा का प्रदर्शन सम्भव ही है। यहाँ पर 'मरण' का अभिप्राय शीघ्र ही जिसके पुनर्मिलन की सम्भावना हो, समझना चाहिए। जिससे शोक के लिए स्थान ही न मिल सके। अर्थात् जहाँ पर मरण की केवल सम्भावना हो अथवा मरण के बाद शीघ्र ही पुनर्मिलन की आशा हो, इस प्रकार का वर्णन करना चाहिए। जिससे शोक स्थिर नहीं रह पाता है, अतः रति-विच्छेद नहीं होता है। जैसे—

१. क–भ. तच्चित्रतामभिधत्ते।
२. तद्रतिभावनापरस्परोऽत एव।

अत एव सुकविना वाक्यभेदेनापि मरणं नाख्यातम् । प्रतीतिविश्रान्तिस्थानत्व-परिहाराय तृतीयपादेन विभावानुसन्धानकं दर्शनम् । पुनर्ग्रहणेन स एवार्थः सुतरां द्योतितः[1] ।

अन्ये त्वाहुः मरणमिति न जीवितवियोग उच्यते । अपि तु चैतन्यावस्थैव प्राणत्यागकर्तृतात्मिका । या सम्बन्धाद्यवसरगता मन्तव्या व्यभिचारिभावेनेति सुलभोदाहरणमेतदिति । आदिशब्देन दैन्यमोहादयः । एते व्यभिचारिणोऽपि स्वानुभावैरनुभाविता विप्रलम्भमनुभावयन्ति । तस्मादनुभावैरित्युक्तम् ।

अन्ये त्वादिशब्दं करुणवाचिनमाश्रित्य तदीयानुभावान्प्राधान्येन दर्शयन्ति । एकशेषेण द्वयमप्यन्ये । विप्रलम्भो विडम्बनं सिद्धम् । इह तूपचारात्तदीयं फलं विरहात्मकं गृह्यते ।

अभिनव— जाह्नवी और सरयू के सङ्गम से बने हुए तीर्थ पर शरीर-त्याग करने के कारण तुरन्त देवताओं की गणना में आजाने से वह अज पहली अवस्था से अधिक चतुर अर्थात् पूर्व अवस्था से भी अधिक सुन्दर कान्ता इन्दुमती के साथ नन्दन वन के भीतर स्थित क्रीड़ा-भवन में फिर विहार करने लगा । (रघुवंश ८।९५) ।

यहाँ पर तत्काल होने वाले पुनर्मिलन के कारण मरणजन्य शोक को अज के हृदय में स्थान नहीं मिला । इसलिए सुकवि कालिदास ने वाक्यभेद करके भी मरण नहीं कहा है । अपितु प्रतीति के विश्रान्ति-स्थान के परिहार के लिए श्लोक के तृतीय पाद में कान्ता (इन्दुमती) रूप विभाव का अनुसन्धान दिखलाया है और चतुर्थ पाद में 'पुनः' शब्द के ग्रहण से वही सम्भोग रूप अर्थ प्रकाशित (द्योतित) कर दिया है ।

अभिनव—अन्य व्याख्याकार तो कहते हैं कि मरण शब्द से जीवन की समाप्ति अभिप्रेत नहीं है अपितु प्राण-त्याग-कर्तृत्व रूप चैतन्यावस्था का ग्रहण अभिप्रेत है । जो भाव-स्थिति सम्बन्ध और अवसर के अनुसार व्यभिचारीभाव के रूप में समझनी चाहिए, इस विषय में उदाहरण सुलभ हैं । ''आदि'' शब्द से दैन्य, मोह आदि का ग्रहण होता है । ये व्यभिचारीभाव भी अपने अनुभावों से अनुभावित होकर विप्रलम्भ श्रृङ्गार को अनुभावित करते हैं अर्थात् विप्रलम्भ श्रृङ्गार का अनुभव कराते हैं । इसलिए मूल में 'अनुभावैः' यह कहा गया है ।

अभिनव—अन्य आचार्य तो 'आदि' शब्द को करुणावाची मानकर उसके अनुभावों को प्रधान रूप से प्रदर्शित करते हैं । दूसरे आचार्य 'आदि शब्द' को एक शेष मानकर दोनों को मान्य करते हैं । 'विप्रलम्भ' शब्द विडम्बन (छलन, बञ्चना) अर्थ को सिद्ध कहता है अर्थात् विप्रलम्भ शब्द से विडम्बन अर्थ सिद्ध होता है । यहाँ पर तो उपचार से उसका परिणाम (फल) विरहात्मक (वियोगात्मक) ग्रहण होता है ।

१. क–म. चोदितः ।

न हि परस्परं रतिमतोर्विडम्बनमस्ति । तेन विरहेण कृतः सुष्ठुतमां प्रोषित इति दर्शयन्मुनिरनेन विना शृङ्गारो न प्रयोगे न काव्ये हृद्यतामवलम्बत इति वर्शयति ।

तथा हि – सम्भोगेऽप्येकघनशर्करास्वादस्थानीयतापरिहाराय वैषम्यं गोत्रस्खलितस्पर्धामन्यद्वा कलहविप्रलम्भहेतुभूतं कवयो निबध्नन्ति । 'वामो हि कामः' (काम. शा. २-७-१) इति वात्स्यायनादिभिरहितम् । मुनिनापि वक्ष्यते 'यद्वामाभिनिवेशित्वम्' इति (ना शा. २२-२०७) ।

एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेषनिमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति, न तु स्थिराः । यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिरः तथाऽपि संस्काररूपतया धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव । व्यभिचारिणस्तु नैवं क्षणमपि भवन्ति । संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रोढयन्ति । तथैव स्मरणाच्च ।

क्योंकि परस्पर एक दूसरे से प्रेम करने वाले प्रेमी-प्रेमिका में विडम्बना अर्थात् प्रवञ्चना नहीं होती । उस विरह के कारण प्रेम सुन्दर रूप में परिपुष्ट होता है, यह बात दिखाने के लिए भरतमुनि ने उस बिरह (विप्रलम्भ) के बिना शृङ्गार रस न तो नाट्य प्रयोग में और न काव्य में हृद्य (आकर्षक) होता है, यह दिखाया गया है ।

अभिनव—जैसा कि—सम्भोग शृङ्गार में एक धन मधुर आस्वाद की एकरसता का परिहार करने के लिए कवि लोग गोत्रस्खन से उत्पन्न ईर्ष्या अथवा अन्य प्रकार के कलह, विप्रलम्भ के कारण उत्पन्न विषमता को काव्य में उपनिबन्धन करते है, रचना करते हैं । क्योंकि वात्स्यायन आदि ने कहा है कि—"काम विपरीत होता है" (कामसूत्र २।७११) और भरत मुनि ने भी आगे कहेंगे—"काम वामाभिनिवेशी' होता है अर्थात् विपरीत अभिनिवेश (आग्रह) काम है । (ना. शा. २२।२०७) ।

अभिनव—ये व्यभिचारीभाव विजली के उन्मेष (चमक) और निमेष (लोप) के समान स्थायीभाव रूप सूत्र में कभी प्रकट और कभी तिरोहित होते हुए स्थायीभाव रूप सूत्र में प्रकटन एवं तिरोधान रूप से सौन्दर्य (वैचित्र्य) का आधान करते हैं । वे स्थायीभाव सदा स्थिर नहीं रहते । यद्यपि स्थायीभाव स्थिर नहीं हैं, फिर भी संस्कार रूप से तथा धारावाही सजातीय प्रवाह रूप से स्थिर माने जा सकते हैं । किन्तु व्यभिचारीभाव क्षण भर भी कभी स्थिर नहीं रहते । अपितु अपने संस्कार से स्थायीभाव के संस्कार को ही पुष्ट करते हैं । इसी प्रकार उनका स्मरण किया जाता है ।

तेन व्यभिचारिषु [1]पृथक्पृथग्यैः कैश्चिदुदाहृतं तन्न तन्त्रन्यायानुपाति। तथाहि—धृतौ यदुदाहृतं 'असम्भाव्यं दैवात्' इत्यादि। तत्रापि हर्षविस्मयगर्वमति-प्रभृतीनां च 'तातेति [2]मामिति' वलितेत्यादिसूचितानां सम्भार एव। 'किमपरं त्रैलोक्यम्' इत्यादौ चावान्तरवाक्यारम्भे स्मृतिप्रभृतिभिः सर्वत्र भाव्यम्। अन्यथा हि धृत्येकवचनत्वे सर्वत्र श्लोकार्थं दृष्टिरेकैव चित्रन्यस्तेव भवेत्। 'अस्यास्सर्ग-विधौ' (विक्रमो० १-१०) इत्यत्राप्यवान्तरवाक्यसमाप्तौ धृतिहर्षविस्मयादयो भवन्त्येव। अत एव विच्छिद्य विच्छद्य वितर्कान्तरं समुदेति। न तु व्यभिचारी क्षणमप्यवतिष्ठते। चलं हि गुणवृत्तमिति हि तत्रभवन्तः। अत एव प्रयोग-वैचित्र्यम्। अन्यथाऽवैचित्र्यात्स एव प्रयोगः स्यात्। मध्येऽन्ते चाश्रयाः स्फुटाः। ते [3]विस्मयधृतिप्रभृतीत्यास्तामेतत्।

अभिनव—इसलिए जो किसी व्याख्याकार ने व्यभिचारीभावों के अलग-अलग उदाहरण दिये हैं वे शास्त्र के अनुकूल नहीं है। जैसा कि—'धृति' का जो उदाहरण दिया है–'असंभाव्यं दैवात्' इत्यादि। उसमें भी "तात, माम्, वलित" इत्यादि पदों से सूचित किये गये हर्ष, विस्मय, गर्व, मति आदि व्यभिचारीभावों का समाहार ही है। 'किमपरं त्रैलोक्यम्' इत्यादि अवान्तर वाक्यों के आरम्भ में स्मृति आदि सर्वत्र होने चाहिए। अन्यथा 'धृति' का एकमात्र कथन होने पर सब जगह श्लोक के अर्थ में चित्रलिखित की तरह एक ही प्रकार की दृष्टि होगी। इसके अतिरिक्त विक्रमोर्वशीय नाटक के 'अस्याः सर्गविधौ' (विक्रमो० १।१०) इत्यादि उदाहरण में अवान्तर वाक्यों की समाप्ति पर धृति, हर्ष, विस्मय आदि भाव होते हैं। इसलिए विच्छिन्न हो-होकर अर्थात् एक के समाप्त होते ही दूसरे वितर्क का उदय होता है। व्यभि-चारीभाव तो क्षणभर भी स्थिर नहीं रहता। 'गुणों का स्वभाव चञ्चल है' ऐसा आचार्य लोग मानते हैं अर्थात् सांख्याचार्यों के अनुसार गुण चञ्चल है, स्थिर नहीं है। इसीलिए नाट्य प्रयोग में विचित्रता है, विलक्षणता है। अन्यथा प्रयोग की विचित्रता न होने पर उसी प्रकार का प्रदर्शन (अभिनय) बार-बार होगा। उपर्युक्त उदाहरण में मध्य में और अन्त में आश्रय की स्थिति स्पष्ट है और वे विस्मय, धृति आदि का सूचित करते हैं प्रकाशित करते हैं। इसलिए इसे रहने दिया जाय।

१. क–पृथक्पृथग्यत्कैश्चिदुदाहृतं।

२. क. तेति मामिति। क–भ. तेतितमाम्।

३. क-म. विस्मयधृतिप्रभृतीनित्यास्तामेतत्।

अत्राह—यद्ययं[1] रतिप्रभवः शृङ्गारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा[2] भवन्ति ।

अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः शृङ्गार इति । वैशिकशास्त्रकारैश्च[3] दशावस्थोऽभिहितः । ताश्च सामान्याभिनये वक्ष्यामः ।

वाक्यैकवाक्यत्वेनावस्थाद्वयस्तूतस्य शृङ्गारस्य यत्स्वरूपमुक्तमेतदेव परिशोधयितुं पूर्वपक्षयति—अत्राहेति ।

करुणविषये आश्रयणं विद्यते येषां भूम्ना । अत एव कर्मधारयमत्वर्षीयाभ्यामितीह नाश्रितम् । भूम्ना वहति ह्यत्र (वहतीत्यत्र) पूर्वपक्षस्य प्राणितम् ।

अभिनव—सम्भोग और विप्रलम्भ के प्रतिपादक वाक्यों की एकवाक्यता होने से दो दशाओं में रहने वाले शृङ्गार का जो स्वरूप बतलाया गया है उसकी परिशुद्धि करने के लिए पूर्वपक्ष उठाते हैं—

अनुवाद—यहाँ पर कहते हैं कि—यदि शृङ्गार रस रति (स्थायीभाव) से उत्पन्न होता है तो यहाँ करुण रस में रहने वाले (करुणाश्रयि) भाव कैसे होते हैं ?

अनुवाद इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—पहिले ही कहा जा चुका है कि शृङ्गार सम्भोग और विप्रलम्भ दो प्रकार का होता है । कामशास्त्र के आचार्यों ने भी काम (शृङ्गार) की दश अवस्थाओं का निरूपण किया है । उन्हें सामान्याभिनय के प्रसङ्ग में कहेंगे ।

अभिनव—करुण के विषय में जिनका अधिक आश्रय रहता है उसे 'करुणाश्रयी' कहते हैं । इसलिए कर्मधारय और मत्वर्थीय के द्वारा यहाँ आश्रय नहीं लिया है । क्योंकि 'भूम्ना वहति ह्यत्र' इस अर्थ में विहित मत्वर्थीय प्रत्यय पूर्वपक्ष का प्राण है ।

विमर्श—भाव यह कि यहाँ पर कर्मधारय समास कर देने पर मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं होगा । क्योंकि इसका विग्रह यदि हम 'करुणश्चासौ आश्रयश्च' इस प्रकार करके पहिले कर्मधारय समास करते हैं और उसके बाद 'करुणाश्रयोऽस्यास्तीति' इस विग्रह में मत्वर्थीय इनि प्रत्यय लगाकर 'करुणाश्रयी' शब्द बनाते हैं किन्तु व्याकरणशास्त्र के अनुसार "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः

---

१. क-त. यद्ययं शृङ्गारः तदा कथमिदानीमस्य करुणाश्रयिणो भावः ।

२. क-अ. रसाः ।

३. ख.घ. वैशिकशास्त्रैश्च । क-द. वैशिकशास्त्रकारेण ।

ननु त्वयोक्तमसदेवास्त्वित्याशङ्क्याह—[1]वैशिकेत्यादि ।

वेशो वेश्यावर्गः । करणं च सम्भोगात्मकम् । तत्प्रयोजनं शास्त्रं कामसूत्रं ये कृतवन्तस्तैः । शृङ्गारो दशभिरभिलषितादिभिर्मरणान्ताभिरवस्थाभिर्युक्तो दर्शितः । अवस्थाग्रहणेन च तावन्तो बहवो विप्रलम्भा इत्याशङ्कां निराकरोति । तेन चिन्तादयोऽपि व्यभिचारित्वेन रतेस्तैरनुज्ञाता इति तात्पर्यम् । चकारेणेद-माह—परस्परास्थाबन्धात्मकत्वे रतिरूपे स्थिते सति तदङ्गभूता दशावस्था विप्र-लम्भाङ्गम् । यथोदयनस्य चित्रफलकावलोकनतः प्रभृति ।

बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः' इस नियम के अनुसार कर्मधारय से मत्वर्थीय प्रत्यय करने पर जो अर्थ निकलता है यदि वह अर्थ बहुव्रीहि समास करने देने पर प्रतीत होता है तो कर्मधारय से मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं करना चाहिए । और यहाँ पर कर्मधारय समास निष्पन्न करुणाश्रय शब्द से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय होकर 'करुणाश्रयी—करुणाश्रयिणः' शब्द नहीं बनेगा। क्योंकि 'करुणः आश्रयो येषां ते' इस प्रकार बहुव्रीहि समास करने पर 'करुणाश्रयः' शब्द बनता है अतः यहाँ 'करुणाश्रयः' का प्रयोग करना चाहिए ।

इस पर कहते हैं कि जब बहुव्रीहि समास करने पर वही अर्थ निकलता हो जो कर्मधारय से मत्वर्थीय प्रत्यय करने पर निकलता है तो कर्मधारय से मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं होगा, किन्तु यहाँ पर किञ्चित् अर्थभेद है। क्योंकि यहाँ बहुव्रीहि समास ('करुणः आश्रयो येषां ते)' करने पर करुण और भावों का आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध मात्र प्रतीत होता है, किन्तु कर्मधारय से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करने पर 'भूमिनिन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽति-शायने' । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः' इस नियम के अनुसार आधिक्य अर्थ में मत्वर्थीय प्रत्यय करने पर अतिशय अर्थ द्योतित होता है। इसलिए अतिशय अर्थ के द्योतन के लिए 'करुणाश्रयिणः' पद का प्रयोग है।

अभिनव—यदि आप कहते हैं कि 'तुम्हारी कही हुई बात असत् है, अप्रा-माणिक है' इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अभिनव—यहाँ 'वैशिक' में 'वेश' पद का अर्थ 'वेश्यावर्ग' है और 'करण' पद का अर्थ 'सम्भोग रूप' फल है। वह प्रयोजन है जिसका, उसे वैशिक अर्थात् काम-शास्त्र कहते हैं। (वेशो वेश्यावर्गः, तत्करणं प्रयोजनं वाऽस्य शास्त्रस्य, तच्छास्त्रं वैशिकं कामसूत्रम्, तत्कामसूत्रं कृतवन्तः ये तैः वैशिकशास्त्रकारैः) अर्थात् वेश का अर्थ वेश्यावर्ग है, वह वेश करण या प्रयोजन है जिस शास्त्र का, उसे वैशिकशास्त्र अर्थात् कामशास्त्र या कामसूत्र कहते हैं और कामसूत्र के रचना करने वाले को वैशिक-

१. क. वैशिक्येत्यादि ।

ननु [1]तत्रापि रतिः क्व? [2]अस्य विषयस्यानवगमात्। न हि चित्रमात्रम्। नलिनीसंस्तरादेः साक्षिणो विद्यमानत्वात्। आकृत्या च काम्यमानतौचित्यस्य लाभात्। यदि परं नाम [3]तज्ज्ञास्तत्कुत्रोपयोगीति। यदा तु विप्रलम्भाङ्गता न भवति तदा स्वातन्त्र्यं—यथा रावणस्यापि। तदुक्तमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन—

'स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तौ तु सर्वप्राणिषु सम्भवः'। इति।

शास्त्रकार कहते हैं। वैशिकशास्त्रकारों अर्थात् कामशास्त्र के प्रणेताओं ने शृङ्गार रस को अभिलाष से लेकर मरणपर्यन्त दश अवस्थाओं से युक्त माना है[4], दिखाया है। यहाँ पर 'अवस्था' पद के ग्रहण से उतने बहुत से विप्रलम्भ शृङ्गार अलग-अलग होते हैं इस शङ्का का निराकरण हो जाता है। इसलिए उन कामशास्त्रकारों ने चिन्ता आदि को रति के व्यभिचारीभाव के रूप में स्वीकार किया है, यह तात्पर्य है। 'चकार' पद से यह कहा गया है कि परस्पर आस्थाबन्धात्मक रति रूप स्थायी होने पर उसके अङ्गभूत दश अवस्थाएँ विप्रलम्भ शृङ्गार के अङ्ग होती हैं। जैसे रत्नावली नाटिका में चित्रदर्शन से प्रारम्भ करके उदयन की दश अवस्थाओं का वर्णन है।

अभिनव—अब पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि वहाँ भी विषय सागरिका के उपस्थित न होने से केवल चित्र के अवलोकन मात्र से रति कहाँ है? कहते हैं कि यहाँ केवल चित्र मात्र नहीं है अपितु कमलिनीदल से सुसज्जित विछौना आदि साक्षी के रूप में विद्यमान है और उसकी (सागरिका की) आकृति से काम्यमानावस्था के औचित्य की सिद्धि हो जाती है। कौन सी सामग्री कहाँ पर उपयोगी होगी, यह तो उस विषय के विशेषज्ञ ही जानते हैं। जब वे विप्रलम्भ के अङ्ग नहीं होती हैं तो उनकी स्थिति स्वतन्त्र हो जाती है। जैसे--रावण की काम की दश अवस्थाएँ। यह बात हमारे उपाध्याय भट्टतौत ने कही है--

"स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्ति होने पर सभी प्राणियों में (दश कामावस्थाएँ) सम्भव है।"

१. क. ननु तत्रापि (न) रतिः क्वः।
२. क. तस्य विषयस्यानवगमात्
३. क–न ज्ञातं तत्कुत्रोपयोगीति।
४. नयनप्रीति, चित्त की असंगति, संकल्प, निद्राच्छेद, तनुता, विषय-निवृत्ति, त्रपानाश, उन्माद, मूर्च्छा और मरण ये काम की दश अवस्थाएँ हैं—

नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः।
निद्राच्छेदस्तन्द्रता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः।
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव तु॥

करुणस्तु [1]शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्षभावः । [2]औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः ।

नन्वेवं व्यभिचार्यभेदात्करुणः कथं विप्रलम्भाद्भिद्यत इत्याशङ्‌क्याह—करुणस्त्विति ।

अधमप्रकृतेस्तावन्न विप्रलम्भः । स्थाय्यभावात् । तदभावो विभावसामग्रीवैकल्यादिति । तत्र तावत्करुणः पृथक् लब्धप्रतिष्ठः । एवमुत्तमप्रकृतावपि रतिविपरीतः शोकः करुणे स्थायी । अत एवाह निरपेक्षः । बन्धुजनादिविषये याऽपेक्षा रताविवालम्बनम् । यथोक्तम्—

अभिनव—अब प्रश्न यह होता है कि यदि करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार में एक ही प्रकार का व्यभिचारीभाव होता है तो करुण का विप्रलम्भ से भेद कैसे होता है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं—

अनुवाद - **करुण तो शाप के क्लेश में पड़े हुए प्रियजन के विभव-नाश, वध या बन्धन से उत्पन्न निरपेक्षभाव रूप होता है और उत्सुकता तथा चिन्ता से उत्पन्न सापेक्षभाव विप्रलम्भ से होता है ।**

अभिनव—अधम प्रकृति के स्त्री-पुरुष में स्थायीभाव न होने से उनके वियोग में विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं होता है । विभाव-सामग्री न होने पर भी रत्यादि स्थायीभाव नहीं होता है । भाव यह कि अधम प्रकृति के स्त्री-पुरुष में स्थायीभाव सम्बन्ध नहीं होता है अतः वियोग काल में रत्यादि स्थायीभाव के न रहने से विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं होता है । किन्तु शोक स्थायीभाव पर प्रतिष्ठित करुण रस तो अलग से लब्धप्रतिष्ठित है । इस प्रकार उत्तम प्रकृति के स्त्री-पुरुष में भी रति के विपरीत शोक करुण रस में स्थायीभाव के रूप में विद्यमान रहता है । इसलिए भरतमुनि ने करुण को निरपेक्ष कहा है । जिस प्रकार रति स्थायीभाव में आलम्बन की अपेक्षा रहती है अर्थात् बिना आलम्बन के रति स्थायीभाव का उद्‌गम नहीं होता है उसी प्रकार बन्धुजनों के विषय में जो अपेक्षा रहती है वह अपेक्षा करुण में प्रिय की मृत्यु के कारण नहीं होती । इसलिए करुण को निरपेक्ष भाव कहा है और विप्रलम्भ शृङ्गार सापेक्ष है । जैसा कि कालिदास ने कहा है—

१. ख. शापक्लेशविनिपातनेष्टजनविप्रयोगविभवनाश० । ग. शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाश० । घ. शापक्लेशविनिपतनेष्टजनविप्रयोगविभवनाश० ।

२. क–त.न. चिन्ताभावसमुत्थः साक्षेपविप्रलम्भकृतः ।

"आशाबन्धः कुसुमसदृशः प्रायशो ह्यङ्गनानाम्" इति (मेघ० पू० १०)।

ततो निष्क्रान्तो भावः शोकाख्यो यस्मिन्। शापक्लेशे विनिपतितस्येष्टजनस्य यो विभवनाशो वधबन्धो वा ततः समुत्थानं यस्य। शापग्रहणेनाप्रतिकार्यत्वे सत्युत्तमप्रकृतेः शोकोदयस्थानमेतदिति दर्शयति। अन्यथोत्साहक्रोधादिविभावत्वं स्यात्। शोकत्वमेव च पराकर्तुं कविकुलचक्रवर्त्तिना पुरूरवस उर्वशीशापप्राप्तिरनुपलक्षितत्त्वेन[1] निबद्धा। एवं विभावस्थायिविभेदो दर्शितः। येऽपि चैते निर्वेदाद्यास्तेऽपि वस्तुतो रत्यननुगृहीता निरपेक्षाच्छोकाद्भवन्त्यन्य[2] एव। ततोऽप्याह निरपेक्षभाव इति।

अभिनव—"स्त्रियों में आशा का बन्धन प्रायः कुसुम के समान कोमल होता है"। (मेघदूत पूर्वार्द्ध १०)।

भाव यह कि विप्रलम्भ में आशा का बन्धन टूटता नहीं, अपितु सुदृढ़ होता है। उसमें पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। अतः उसमें आलम्बन की अपेक्षा रहती है। किन्तु करुण रस में आशा का बन्धन टूट जाता है उसमें पुनर्मिलन की आशा समाप्त हो जाती है। करुण का स्थायीभाव शोक है और शोक तभी होता है जब इष्ट वस्तु का नाश हो जाता है। इसलिए करुण को निरपेक्ष कहा है।

अभिनव—उस सापेक्ष भाव से निष्क्रान्त (बहिर्भूत) शोक नामक भाव जिसमें रहे वह निरपेक्ष-भाव-रूप करुण होता है। भाव यह कि शाप के क्लेश में पड़े हुए प्रियजनों के वैभव-नाश, वध अथवा बन्धन से जिस निरपेक्ष भाव की उत्पत्ति होती है वह निरपेक्षभाव रूप करुण है। शाप के ग्रहण से उतम प्रकृति के लोगों के लिए कोई प्रतीकार का उपादान न होने से केवल शोकोदय की ही सम्भावना रहती है, यह सूचित होता है। अन्यथा वह उत्साह, क्रोध आदि का विभाव हो जायगा और वीर, रौद्र रस की उत्पत्ति होने लगेगी। कविकुल चक्रवर्त्ती महाकवि कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा के शोक को दूर करने के लिए उर्वशी के शाप-प्राप्ति का पता न चल सके, इस प्रकार का प्रयत्न किया है। इस प्रकार विभाव और स्थायीभाव में भेद प्रदर्शित किया है। और जो ये निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं वे भी वस्तुतः रति से अनुगृहीत तथा निरपेक्ष शोकरूप होने के कारण भिन्न होते हैं। इसलिए भी करुण को निरपेक्षभाव रूप कहा गया है।

१. क. उर्वशीशापप्राप्तिरनुरूपलक्षितत्वेन। क-भ.म. उर्वशीशापप्राप्तिरुपलक्षितत्वेन।

२. क. भवन्तोऽन्य एव। भवन्त्यऽन्योन्य एव।

एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति । एवमेष सर्वभाव-संयुक्तः शृङ्गारो [1]भवति ।

एवं प्रसङ्गात्करुणस्य स्वरूपमभिधाय प्रकृते योजयति—औत्सुक्यचिन्तेति । चिन्ताशब्दोऽशेषनिर्वेदाद्युपलक्षणम् । औत्सुक्यप्रधाना ये चिन्तादयस्तेभ्यः सम्यगुत्थानं विजृम्भो यस्य । अत एव सापेक्षो यत्र रत्याख्यो भावः । ते च सापेक्षाद्रत्याख्याद्भवन्ति । न हि विप्रलम्भे विभावः स्थायी च सम्भोगाद्भिद्यते । एक एवासाविति हि बहुश उक्तम् ।

एतदुक्तं भवति । औत्सुक्यं विषयौन्मुख्यम् । तच्च नष्टे विषये न सम्भवति । एवं परीक्ष्य परीक्षाफलमुपसंहरति —एवमेष इति । शृङ्गार इत्येकवचनेनैक एव शृङ्गार इत्युपसंहृतम् ।

अभिनव—इस प्रकार प्रसङ्ग से करुण रस का स्वरूप कहकर प्रकृति में उसकी योजना करते हैं—'यहाँ पर 'चिन्ता' शब्द निर्वेद आदि समस्त स्थायीभावों का उपलक्षण हैं । औत्सुक्य-प्रधान जो चिन्ता आदि भाव हैं उनसे जिनका सम्यक् उत्थान है । इसलिए जहाँ रतिभाव सापेक्ष है, वह विप्रलम्भ शृङ्गार है और वे औत्सुक्य, चिन्ता आदि (व्यभिचारी भाव) सापेक्ष रति नामक भाव से उत्पन्न होते हैं । विप्रलम्भ शृङ्गार में विभाव और स्थायीभाव सम्भोग शृङ्गार (के विभाव और स्थायीभाव) से अलग नहीं होते हैं अपितु एक ही होते हैं, यह कई बार (अनेक बार) कहा जा चुका है ।

अनुवाद—इस प्रकार करुण रस अलग होता है और विप्रलम्भ अलग होता है । इस प्रकार समस्त भावों से युक्त यह शृङ्गार रस होता है ।

अभिनव—इसका तात्पर्य यह है कि उत्सुकता का अर्थ विषय की ओर उन्मुख होना है और वह औत्सुक्य विषय के नष्ट हो जाने पर सम्भव नहीं हो सकता है । अतः आलम्बन विभाव के नाश हो जाने पर विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं रहता है अपितु करुण रस हो जाता है । इस प्रकार परीक्षा करके परीक्षा के फल का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार शृङ्गार रस समस्त भावों से युक्त एक रूप होता है । 'शृङ्गार' इस एकवचन के प्रयोग से सूचित होता है कि शृङ्गार रस एक ही होता है । इस प्रकार उपसंहार किया गया है ।

१. क–म. भवेत् ।

[1]अपि च

[2]सुखप्रायेष्टसम्पन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः[3] ।
[4]पुरुषः प्रमदायुक्तः शृङ्गार इति संज्ञितः ॥ ४७ ॥

एवं सूत्रार्थे परीक्ष्य स्थापिते तदर्थस्य सुखग्रहणार्थं सूत्रार्थविवरणरूपत्वात्सूत्रसमीपेऽप्युपचितपाठात्कारिकामधुना पठति—अपि चेति । न केवलं सूत्रं परीक्षाऽपि यावदियं कारिकेति समुच्चयार्थः । एवं सर्वत्र मन्तव्यम् । तामेव कारिकां पठति सुखेति ।

पुरुष इति भोक्ता संवेदनात्मकोऽभिप्रेतः । भोक्तैव च स्थायिसंविद्रूपः । व्यभिचारिणस्तु भोगस्वभावाः । तेन रतिरेव पुरुषः । तथा चोक्तम् –'श्रद्धामयोऽय पुरुषः' इति । एवं प्रमदाऽपि ।

अभिनव--इस प्रकार परीक्षा करके सूत्र के अर्थ की स्थापना हो जाने पर उस अर्थ के सुखपूर्वक ग्रहण करने के लिए सूत्रार्थ के विवरण रूप होने से तथा सूत्र के समीप में विस्तृत पाठ रूप होने से अब कारिका को पढ़ते हैं—यह कारिका केवल सूत्र के अर्थ को ही नहीं कहती, अपितु परीक्षा रूप भी है । यह अर्थ 'चकार' से गृहीत होता है । इसी प्रकार सभी जगह समझना चाहिए । अब उसी कारिका को पढते हैं—

अनुवाद—और भी—

अनुवाद—सुखप्राय प्रिय वस्तुओं से सम्पन्न, ऋतु, माला आदि का सेवन करने वाला तथा स्त्री-पुरुष के मिलन से युक्त शृङ्गार रस कहा जाता है ॥४७॥

अभिनव—यहाँ पर 'पुरुष' पद से संवेदनात्मक (अनुभव करने वाला) भोक्ता अभिप्रेत है। भोक्ता ही स्थायीभाव का संवित् रूप है अर्थात् भोक्ता ही स्थायीभाव का अनुभावन आस्वादन करता है। व्यभिचारीभाव तो भोग्यस्वरूप होते हैं। इसलिए रतिरूप ही पुरुष है । जैसा कि कहा गया है—"यह पुरुष श्रद्धामय है, श्रद्धा स्वरूप है" । इसी प्रकार प्रमदा भी रतिरूपिणी है । इस प्रकार यहाँ पर पुरुष रति रूप है और स्त्री रतिरूपिणी है ।

१. क-त. अत्र श्लोकः । क-भ. अपि चात्र श्लोकः ।
२. क. सुखप्रायेषु सम्पन्नः ।
३. क–म.अ. ऋतुमाल्यानुसेवकः ।
४. क–म. अ. पुरुषप्रमदायुक्तः ।

तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यम्। प्रमदायास्तु भोग्यत्वम्। प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृङ्गारहानिः। भोग्यस्य तु पारतन्त्र्यादेवान्यसम्मीलने शृङ्गारभङ्ग इति दर्शितम्। अत एव न स्थायिभेदः शङ्कनीयः। सुखप्रायेष्टसम्पन्न इत्यादिपुरुषविशेषणत्वेन समुदितस्य विभावत्वं दर्शयति। विभावादयो [1]रसोदयेनाऽऽस्वादैश्च भोक्तरीति निमग्नत्वे भोक्तृप्रधानत्वं च दर्शयन्ति।

अभिनव—उनमें पुरुष की भोक्तृत्व में प्रधानता है अर्थात् प्रधानता के कारण पुरुष भोक्ता है और स्त्री भोग्या। प्रधान होने के कारण पुरुष भोग्या के परतन्त्र नहीं होता है। इसलिए दूसरी नायिका के साथ संयोग होने पर भी शृङ्गार रस की हानि नहीं होती है। भोग्या (नायिका) परतन्त्रा है, अतः परतन्त्र होने के कारण दूसरे भोक्ता पुरुष के संयोग होने पर शृङ्गार रस की हानि हो जाती है, यह दिखाया गया है। इसलिए स्थायीभाव के भेद होने की शङ्का नहीं करनी चाहिए। 'सुखप्रायेष्टसम्पन्नः' अर्थात् सुखप्राय प्रिय वस्तुओं से सम्पन्न इत्यादि के पुरुष के विशेषण होने से समुदित रूप अर्थात् सबको मिलाकर विभावत्व होता है, यह दिखाया गया है। विभाव आदि रसोदय या आस्वाद के रूप में भोक्ता में अन्तर्भूत हो जाते हैं अर्थात् आस्वादन काल में विभावादि भोक्ता पुरुष में निमग्न हो जाते हैं, तद्रूप हो जाते हैं। इसलिए भोक्ता की प्रधानता दिखाई गई है।

विमर्श—यहाँ पर पुरुष को भोक्ता कहा गया है। सांख्य-दर्शन में भी पुरुष को भोक्ता कहा गया है। जब पुरुष भोक्ता है तो पुरुष के लिए भोग्य सामग्री होनी चाहिए। अभिनव ने व्यभिचारी भावों को भोग्या कहा है। इस प्रकार भोक्ता पुरुष व्यभिचारीभावों का उपभोग करता है अतः पुरुष को रतिरूप कहा गया है और नारी को रतिरूपिणी। यतश्च पुरुष भोक्ता है अतः प्रधान है और रतिरूपा नारी भोग्या है। प्रधान होने के कारण ही वह स्वतन्त्र होता है अतः अन्य स्त्री के साथ सम्भोग होने पर भी शृङ्गार रस की अनुभूति होती है। स्त्री भोग्या नारी परतन्त्रा होती है अतः दूसरे के संयोग से रसभङ्ग होता है। किन्तु रति स्थायीभाव में मोक्ष नहीं है। सुखप्राय आदि जो पुरुष का विशेषण दिया गया है उससे विभावादि समुदित रूप में रसरूप में अभिव्यक्त होते हैं। अभिव्यक्ति के पूर्व अलग-अलग होने पर वे विभावादि कहे जाते हैं और जब समुदित रूप में रसास्वादन काल में पुरुष में निमग्न हो जाते हैं, तद्रूप हो जाते हैं तब रस के रूप में उनकी अनुभूति होती है और रस कहलाते हैं।

१. क. रसोदयं विनाऽऽस्वादैश्च।

[1]अपि चात्र सूत्रार्थानुविद्धे आर्ये भवतः—

विषयसम्भारपूर्णताभिमानजैव रतिरुचिता। एतदर्थमेव 'जंस अहं तादेण दिण्णेति' 'ईरिसव्स कव्णपूरदंसणव्स' इति च। एतत्सर्वसम्पन्नत्वमेव नायिकायाः प्रदर्शितम्। अन्यथा नोत्तमत्वं स्यात्। निजजातिकुलानुरूपसम्पदभावे तु रतिः [2]पुरुषार्थरूपत्वाभावादनुपदेश्या। अत एव तत्र सर्वस्य प्रतीतिवैरस्यानन्तर-संभावनमिति श्लोकस्य तात्पर्यार्थः।

विषयसामग्रीसम्पूर्णो रस इति ये मन्यन्ते [3]तेषां भ्रान्तिकारणमयं श्लोकः। स चेत्थं व्याख्यातो न भ्रान्तिजनकः। संज्ञित इत्यनेनान्वर्थतां पराकरोति। तथा हि—उणादिषु शृङ्गारशब्दो निपातित इति।

अभिनव—विषय-सामग्री की पूर्णता (समग्रता) का अभिमान हो जाने पर ही रति का उपचय होता है। इसीलिए ही 'रत्नावली' नाटिका में 'जंस अहं तादेण दिण्णेति'' तथा ''ईरिसन्स कवणपूरदंसणब्से'' इत्यादि उदाहरणों में सागरिका कहती है कि ''ये वही राजा उदयन हैं जिनको पिताजी ने मुझे समर्पित कर दिया था'' और ''इस प्रकार के कर्णपूर के दर्शन से मैं धन्य हो गई''। इन सबसे नायिका की सर्वसम्पन्नता दिखाई गई है, अन्यथा उदयन के प्रति नायिका की रति उत्तम नहीं होगी; क्योंकि जाति एवं कुल के अनुरूप सम्पत्ति के अभाव में रति के पुरुषार्थ रूप न होने से उपदेश के योग्य नहीं होगी। इसलिए उस रति के विषय में सहृदयों को प्रतीति में विरसता की सम्भावना रहती है। यह श्लोक का तात्पर्य है।

अभिनव—इस प्रकार जो (शङ्कुक आदि) विषय-सामग्री की पूर्णता को ही रस मानते हैं, उनकी भ्रान्ति का कारण यह श्लोक है। किन्तु इस प्रकार व्याख्या करने पर भ्रान्ति नहीं रहती। (कुछ संस्करणों में 'तेषां भ्रान्तिकारणम्' के स्थान पर 'तेषामभ्रान्तिकारणम्' पाठ मिलता है। तदनुसार इसका अर्थ होगा कि 'जो लोग विषय-सामग्री की पूर्णता को रस कहते हैं उनकी निर्भ्रान्ति (भ्रान्ति-हीन होने) का कारण यह श्लोक है अर्थात् इस श्लोक को इस प्रकार व्याख्या कर देने से भ्रान्ति नहीं रह जाती। 'संज्ञितः' पद से अन्वर्थता का निराकरण कर दिया गया है। जैसा कि--उणादि में शृङ्ग शब्द से 'शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्' इस सूत्र से 'आरकन्' प्रत्यय होकर 'शृङ्गार' शब्द निपातित हैं। अतः यह रूढ़ पद है ॥४७॥

अनुवाद—इस विषय में सूत्र के अर्थ से अनुविद्ध दो आयाएँ भी है :—

१. ख. ग. घ. अपि चात्र सूत्रानुविद्धे। क-त. न. अपि चात्र सूत्रानुबन्धे। क-अ.द. अपि चात्रानुविधे।

२. क. पुरुषार्थरूपत्वानुपदेश्या। ३. क. तेषामभ्रान्तिकारणमयं श्लोकः।

ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ ४८ ॥
नयनवदनप्रसादैः [1]स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च ।
[2]मधुरैश्चाङ्गविहारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ४९ ॥

न केवलं श्लोकवृत्तमिदं सूत्रार्थानुविद्धे यावदार्ये अपीत्यपि चेत्यस्य भिन्नक्रमस्यार्थः ।

प्रियो जनो विदूषकादिः । गान्धर्वशब्दो गीतादिहृद्यविषयोपलक्षणम् । काव्यसेवाशब्देन विषयसङ्कल्पं विभावत्वेन लक्षयति ॥ ४८ ॥

यस्त्वाह काव्यार्थीभूताद्रसात्काव्यार्थविदो भावान्तरं प्रादुर्भवति । अतः सुखजनकत्वात्काव्यार्थो रस इति । स प्रयुक्तः । न हि विषयसामग्रो रस इति पूर्वं दर्शितम् । धृतिप्रमोदशब्देन व्यभिचारिणो लक्षयति । एक एव च परमार्थतः शृङ्गार इत्यभिप्रायेणावावस्थोपलक्षणद्वारेण सर्व एवोपसंहृतो मन्तव्यः ॥४९॥

इति शृङ्गाररसप्रकरणम् ॥

अभिनव—यहाँ 'अपि च' इस भिन्नक्रम का अभिप्राय है कि यह केवल श्लोक को अर्थ ही नहीं है अपितु सूत्र के अर्थ का समर्थन करने वाली दो आर्याएँ भी हैं—

अनुवाद—ऋतु, माल्य, अलङ्कार, प्रियजन, गान्धर्व (संगीत), काव्य-सेवन उपवन-गमन, विहार आदि से शृङ्गार रस उत्पन्न होता है ॥४८॥

अनुवाद—नेत्र और मुख की प्रसन्नता से, मुस्कराहट, मधुर-वचन, धैर्य और प्रमोद (प्रसन्नता या आनन्द) से तथा मधुर अङ्गहारों के द्वारा उस शृङ्गार रस का अभिनय करना चाहिये ॥४९॥

अभिनव—यहाँ पर 'प्रियजन' शब्द से विदूषक आदि का ग्रहण है । 'गान्धर्व' शब्द गीत आदि हृद्य (आकर्षक) विषयों का उपलक्षण है । 'काव्य-सेवा' शब्द से विषय के संकल्प को विभाव रूप से लक्षित करते हैं ॥ ४८ ॥

अभिनव—जो कि यह कहते हैं कि 'काव्यार्थीभूत (काव्य के अर्थ रूप) रस से काव्यार्थ के मर्मज्ञ सहृदय में दूसरे भावों का उदय होता है । अतः सुख का जनक होने से काव्यार्थ रस रूप है ।' उसका निराकरण हो गया । केवल विषय-सामग्री ही रस रूप नहीं है, यह पहिले दिखाया जा चुका है । 'धृति और प्रमोद शब्दों से व्यभिचारी-भाव लक्षित होते हैं' । वस्तुतः शृङ्गार रस एक ही होता है, इस अभिप्राय से प्रारम्भ में दो अवस्थाओं के उपलक्षण के द्वारा सबका उपसंहार कर दिया है ॥४९॥

इस प्रकार शृङ्गार रस का प्रकरण समाप्त हुआ ।

१. क–अ.द. स्मृतिमधुरवचोधृतिप्रसादैश्च ।
२. ख. ग. घ. मधुरैश्चाङ्गविकारैः । क–भ. मधुरैश्चाङ्गविशेषैः ।
क-त.म. ललितैश्चाङ्गविलासैः । क–म. मधुरैश्चाङ्गविचारैः ।

अथ हास्यरसः

अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः ।

अथ हास्यरसप्रकरणम्

अथ हास्यं लक्षयितुमाह—अथेति ।

आत्मशब्देनेदमाह—रतिरास्वादनाख्यां प्रतीतिं विदधाना न तां रतिरूपामेव विधत्ते । प्रमुखे विभावादौ साधारण्यात् । हासे तु य आस्वादः सोऽपि विकृतवेषादीनां सामाजिकान्प्रति लोकवृत्तेन हासहेतुतेति विभावसाधारण्यद्वारेण तदेकस्वभाव एवेति हासात्मकरसनाख्यचर्वणीयत्वाच्चास्य । रतिशोकावेव परमतज्जातीयसंविदास्वादो[1] धारारूढसुखदुःखरूपत्वेन निस्साधारणात्मीयत्वनियमग्रहगृहीतहेतुबलादेवोत्पद्येते यतः अतोऽनयोर्मुनिना प्रभवग्रहणं कृतम् । अन्येषु तु विभावे साधारण्यसम्भावनात्तदात्मकग्रहणम् । नयविनयादेरन्यायकारिणः समानं कालादेरपूर्ववस्तुनश्च सर्वान्प्रत्युत्साहक्रोधभयजुगुप्साविस्मयहेतुत्वेन साधारण्यविभावत्वादित्यलं बहुना ।

हास्यरस-प्रकरण

इसके बाद हास्य रस का लक्षण करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—अब हास स्थायीभाव वाला हास्य नामक रस है ।

अभिनव—भरत ने हास्य रस को हास स्थायीभावात्मक कहा है। इसमें आये 'आत्म' शब्द का अभिप्राय है कि आस्वाद रूप प्रतीति को कराने वाली रति केवल रति रूप प्रतीति का ही विधान नहीं करती, अपितु विजातीय सुखात्मक प्रतीति को उत्पन्न करती है। क्योंकि रति की आस्वादन रूप प्रतीति में प्रमुख विभावादि असाधारण होते हैं और हास्य में जो आस्वाद होता है वहाँ तो विकृत वेष-भूषा आदि सामाजिकों के प्रति लोकवृत्त के अनुसार ही हास्य के हेतु होते हैं। इसलिए लोक और काव्य दोनों में विभावों के साधारण होने से एक स्वभाव वाला (लोक और काव्य में समान) होता है, इसलिए हासात्मक रसचर्वणा के द्वारा ही चर्वणीय (आस्वादनीय) होने से उसे हासस्थायीभावात्मक कहा गया है। केवल शृङ्गार और करुण रसों के स्थायीभाव रति और शोक में ही धारारूढ़ सुख-दुःख रूप होने से विजातीय संविदास्वादन में अर्थात् सुख-दुःख रूप विजातीय प्रतीति के आस्वादन में और असाधारण आत्मीयता के नियम ग्रह से ग्रहण किये गये विभावादि हेतुओं के बल से उत्पन्न होते हैं। इसलिए भरतमुनि ने दोनों अर्थात् शृङ्गार और करुण दोनों के

---

१. क–भ. म. संविदास्वादनधारारूढ०

लक्षणों में प्रभव ग्रहण किया है अर्थात् दोनों को 'स्थायीभावप्रभव' माना है। अन्य रसों में विभाव लोकसाधारण्य (अर्थात् लोक के समान विभावादि के होने से) की सम्भावना होने से 'तदात्मक' अर्थात् स्थायीभावात्मक पद का ग्रहण किया है। इस प्रकार उपर्युक्त दो कारणों से शृङ्गार और करुण को 'स्थायीभावप्रभव' तथा शेष रसों को 'स्थायीभावात्मक' माना गया है। अन्यायी व्यक्ति की नीति (नय) और विनय आदि और काल आदि तथा अपूर्व वस्तु के समान सबके लिए (सब के प्रति) उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, विस्मय के हेतु होने से विभावों में साधारण्य होता है अर्थात् जिस प्रकार लोक में साधारण विभावों से क्रोध, भय, विस्मय आदि भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार काव्य और नाट्य में भी क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते हैं, यही साधारण्य है। इसी साधारण्य के कारण सभी रसों को (शृङ्गार-करुण को छोड़कर) स्थायीभावात्मक माना गया है। अतः अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

विमर्श—शृङ्गार रस का विवेचन करने के पश्चात् भरतमुनि अब हास्य रस का विवेचन करते हैं। यहाँ हास्य रस को 'हासस्थायीभावात्मक' कहा गया है। किन्तु शृङ्गार रस को 'रतिस्थायीभावप्रभव' तथा करुण रस को 'शोकस्थायीप्रभव' कहा गया है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी रसों को 'स्थायीभावात्मक' माना गया है। भरतमुनि के शृङ्गार और करुण को 'स्थायीभावप्रभव' और अन्य सभी रसों को 'स्थायीभावात्मक' कहने का क्या प्रयोजन है ? इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि शृङ्गार और करुण को 'स्थायीभावप्रभव' कहने का कारण यह है कि शृङ्गार और करुण के स्थायीभाव सजातीय प्रतीति को उत्पन्न नहीं करते। शृङ्गार का स्थायीभाव रति से जो प्रतीति अर्थात् रसानुभूति होती है वह रति रूप नहीं, अपितु सुखात्मक होती है। इसी प्रकार करुण के स्थायीभाव शोक से उत्पन्न प्रतीति शोकरूप न होकर दुःखात्मक होती है। इस प्रकार रति और शोक ये दोनों विजातीय प्रतीति को उत्पन्न करते हैं। इसलिए शृङ्गार और करुण को 'स्थायिभावप्रभव' कहा है और हास आदि स्थायीभाव सजातीय प्रतीति को ही उत्पन्न करते हैं इसलिए उन्हें स्थायिभावात्मक कहा गया है।

इसके अतिरिक्त शृङ्गार और करुण के विभावादि असाधारण होते हैं अर्थात् उनका रसात्मक अनुभव लौकिक न होकर काव्य और नाट्य में विलक्षण प्रतीति के रूप में होता है। किन्तु हास्य आदि के विभावादि लौकिक (साधारण) होते हैं अर्थात् हास्यादि रसों में रसात्मक अनुभव (आस्वादन) लौकिक प्रतीति के समान होता है। इसलिए शृङ्गार और करुण को स्थायिभावप्रभव और हास्यादि शेष रसों को 'स्थायिभावात्मक' कहा गया है। यह अभिनवगुप्तपादाचार्य का अभिप्राय है।

स च [1]विकृतपरवेषालङ्कारधाष्टर्यलौल्यकुहकासत्प्रलापव्यङ्ग-दर्शनदोषोदाहरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तत्र वेशः केशादिरचना । अलङ्कारः कटकादिः । स चोभयोऽपि विकृतो देशकालप्रकृतिवयोऽवस्थाविपरीतो हास्यस्य विभावः । एतेन सर्वे रसा हास्येऽन्तर्भूता इति दर्शितम् । अथ विदूषकोऽपि तद्वेषं विदधद्धास्याभासं प्रथयतीति । एतच्च प्रागेवोक्तम् ।

परस्य सम्बन्धी परः । एवंभूतो देवदत्तस्य वेषोऽयमलङ्कारो वा इत्युद्घट्टक (ना. शा. ४-१८७) भाण्डनृत्तादौ दर्श्यमानो हासं करोति । वेषालङ्कारौ गतागतिकादेरप्युपलक्षणम् । धाष्टर्यं निर्लज्जता । लौल्यं विषयेष्वनियतता । कुहकं कक्षग्रीवादिस्पर्शनं विस्मापनविधिप्रसिद्धं बालानाम् । अङ्गविगमो विखनादि व्यङ्गम् । एषां दर्शनमिति समासः । दोषा अतत्प्रकृतेरपि भयादयः, अकार्यकरणादयश्च विकृतवेषादय एव वा । तेषामुदाहरणं वर्णनम् । आदिग्रहणात्सङ्कल्पस्मृत्यादि ।

अनुवाद—और वह दूसरे के विकृत वेष, अलङ्कार, धृष्टता, लोलुपता, कुहक अर्थात् कोख या गले का स्पर्श (पाठभेद के अनुसार कुहक के स्थान पर 'कलह' पाठ होने से कलह) असत्प्रलाप, व्यङ्गदर्शन (विकलाङ्ग-दर्शन) तथा दोषों के कथन आदि विभावों से उत्पन्न होता है ।

अभिनव—उसमें हास्य रस में 'वेश' का अर्थ केश-रचना आदि है । अलङ्कार कटक आदि हैं । ये दोनों ही विकृत अर्थात् देश, काल, प्रकृति, वय (आयु) अवस्था के विपरीत होने पर हास्य रस के विभाव हो जाते हैं । इससे सभी रस हास्य के अन्तर्गत आ जाते हैं यह दिखाया गया है । विदूषक भी उस विकृत वेष-भूषा को धारण कर हास्याभास को प्रदर्शित करता है, यह पहिले कहा जा चुका है ।

अभिनव—'परवेष' में 'पर' शब्द दूसरे से सम्बन्ध रखने वाले अर्थ को द्योतित करता है । इस प्रकार देवदत्त का यह वेष है अथवा अलङ्कार है, वह उद्घट्टक नामक अङ्गहार तथा भाण्डों (भाड़ों) के नृत्य आदि में दिखाये जाने पर हास्य को उत्पन्न करता है । वेष और अलङ्कार गतागतिक अर्थात् चाल-चलन, बोल-चाल आदि का भी उपलक्षण है । 'धाष्टर्य' का अर्थ निर्लज्जता है । 'लौल्य' का अर्थ विषयों में अनियतता अर्थात् लोलुपता है । 'कुहक' का अभिप्राय बालकों की कोख, ग्रीवा आदि का स्पर्श कर हँसाने की आश्चर्यजनक विधि (क्रिया) है । अङ्ग-हीनता

१. ख. विकृतिवेषालङ्कारधाष्टर्यलौल्यकलहासत्प्रलापव्यङ्ग्यदर्शनदोषादाहरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । क-अ. विकृतालोकनपरवेषधाष्टर्यलौल्यकुहकासत्प्रलाप० ।

[1]तस्यौष्ठनासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। [2]व्यभिचारिणश्चास्यावहित्थालस्यतन्द्रानिद्रास्वप्नप्रबोधासूयादयः।

द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।

ओष्ठादेः स्पन्दनशब्देन संबन्धः। व्याकोशनं विकासो निमीलनं च। आकुञ्चनं त्वीषत्। एतद्दृष्टया योज्यम्। आस्यरागो मुखरागः। पार्श्वयोर्ग्रहणं पीडनम्। तन्द्राशब्देन मोहः। एते च विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च प्रकृतित्रयभेदेन ये स्मितादिभेदा वक्ष्यन्ते तेषु यथायोगं योजनीयाः।

अर्थात् नकटापन आदि व्यङ्ग्य के अर्थ हैं। 'इन सबका दर्शन' मूलग्रन्थ में षष्ठी समास है। 'दोष' पद का अर्थ है प्रकृति के विरुद्ध भय को दिखलाना अर्थात् डरपोक होना अथवा अकार्य अर्थात् अनुचित कार्यों को करना अथवा विकृत वेष-भूषा को धारण करना। उनका उदाहरण अर्थात् कथन करना आदि। यहाँ आदि पद से संकल्प, स्मृति आदि का ग्रहण होता है।

अनुवाद – हास्य रस का अभिनय ओष्ठ (होठ), नाक, कपोल के स्पन्दन (फड़कने) दृष्टि अर्थात् नेत्र को खोलने, बन्द करने तथा झपकाने तथा स्वेद, मुखराग तथा पार्श्व के पीड़न आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। हास्य रस के व्यभिचारीभाव अवहित्थ, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया आदि हैं।

अभिनव—ओष्ठ आदि का स्पन्दन शब्द के साथ सम्बन्ध है। 'व्याकोशन' शब्द का अर्थ आंखों का खोलना एवं बन्द करना है। 'आकुञ्चन' का अर्थ आँखों का थोड़ा सा खोलना है। इस दृष्टि से योजना करनी चाहिए। 'आस्यराग' का अर्थ मुख का राग है। पार्श्वों के ग्रहण का तात्पर्य पीड़न (दबाना) है। 'तन्द्रा' शब्द से मोह का ग्रहण होता है। ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव तीन प्रकार की प्रकृतियों के भेद से जो स्मित आदि भेद कहे जाँयगे, उनमें यथायोग्य संयोजन करना चाहिए।

अनुवाद—यह हास्य रस दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। जब स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ हास्य होता है और जब दूसरे को हँसाता है तो परस्थ हास्य होता है।

---

१. ख. घ. तस्यौष्ठदंशननासा०। क–अ. तस्योष्ठविवरसंदर्शननासा.।
क-ड.म. तस्योष्ठदर्शननासा०।

२. ख. व्यभिचारिणश्चास्य आलस्यावहित्थ०। क-ज. व्यभिचारिणश्चास्य ग्लान्यवहित्थ०।

द्विविधश्चायमिति। आत्मस्थैर्विभावैर्विकृतवेषादिभिर्विदूषकः स्वयं हसति स तस्यात्मस्थः। देवीं च हासयतीति तस्याः परस्थः। तदिदमसत्। एवं हि विभावानामात्मस्थत्वविभागः स्यात्। न हासस्य।

किञ्च स्वामिनः शोकोऽनुजीविषु शोकं करोतीति परस्थता सर्वत्र स्यात्। स्वयंभूर्हि परत्र देव्यादौ व्यक्तः परस्थ इति चेद् गम्भीरस्य प्रभोरनुजीविगतोऽनुभावव्यक्तक्रोधोऽपि परस्थो भवेत्। तद्विभाव आत्मस्थोऽतोन्यविभावकस्त्वन्यस्थ इत्यप्यसत्। परहासोऽपि तद्धासे विभावः स्यात्। एतच्च रत्यादिषु सर्वेष्वप्यस्ति।

तस्मादयमत्रार्थः—परं हसन्तं दृष्ट्वा स्वयं विभावानपश्यन्नपि हसन् लोके दृष्टः। तथा विभावादिदर्शनेऽपि। गाम्भीर्यादनुदितहासोऽपि परकीयहासावलोकने तत्क्षणं हासविशेषः सम्पद्यत एवेति स्वभावः। यथाऽम्लदाडिमादिरसास्वादः सङ्क्रमणस्वभावोऽन्यत्रापि [1]दन्तोदकविकारानुरूपसङ्क्रमदर्शनादेव सङ्क्रामति। एवं हासः स्वभावतः सङ्क्रमशील इति [2]काष्ठभूयिष्ठता।

अभिनव—हास्य रस दो प्रकार का होता है—आत्मस्थ और परस्थ। अपने में रहने वाले विकृत वेष-भूषा आदि विभावों से विदूषक जब स्वयं हसता है तो वह उसका आत्मस्थ हास्य है और जब देवी (महारानी) को हँसाता है तो उसका परस्थ हास्य होता है। ऐसा जो शङ्कुक आदि आचार्य कहते हैं उनका यह कथन ठीक नहीं है। अभिनव का कथन है कि यह आत्मस्थ और परस्थ रूप भेद विभावों का होता है हास्य का नहीं।

अभिनव—और दूसरी बात यह है कि स्वामी का शोक परिजनों में भी शोक उत्पन्न करता है। इस प्रकार शोक हमेशा परस्थ होगा। यदि यह कहा जाय कि स्वयंभू अर्थात् स्वयं उत्पन्न होने वाला हास देवी (महारानी) आदि में परस्थ है तो गम्भीर प्रकृति के स्वामी में अनुजीविगत अर्थात् परिजनों के अनुभावों से व्यक्त होने वाला क्रोध भी परस्थ हो जायगा। अतः आत्मस्थ और परस्थ की यह व्याख्या युक्तिसंगत नहीं प्रतीति होती। और जो अन्य व्याख्याकार यह कहते हैं कि जिसमें स्वयं विभाव हो वह आत्मस्थ और जिसमें दूसरा विभाव हो वह परस्थ हास्य होगा, किन्तु यह व्याख्या भी ठीक नहीं है। क्योंकि परगत अर्थात् दूसरे का हास भी आत्मस्थ हास में विभाव हो जाता है। और इस प्रकार वह विभाव रति आदि सभी भावों में सम्भव हो सकता है।

१. क-भ. म. दन्तोदकविकाराननुरूप।
२. क. कास्य भूयिष्ठता। ङ. काष्ठभूयिष्ठताम्।

[1]अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च[2] ।
[3]विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः ॥ ५० ॥
[4]विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च[5] ।
हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ ५१ ॥
स्त्रीनीचप्रकृतावेष[6] भूयिष्ठं दृश्यते रसः ।
षड्भेदाश्चास्य विज्ञेयास्तांश्च वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ५२ ॥

अभिनव—इसलिए इसका अर्थात् आत्मस्थ और परस्थ रूप भेद का आशय यह है कि स्वयं विभावों को न देखते हुए भी दूसरे को हँसते हुए देखकर लोग हँसने लगते हैं ऐसा लोक में देखा गया है। और गम्भीर प्रकृति के होने के कारण जो लोग विभावादि को देखकर भी नहीं हँसते हैं वे भी दूसरे को हँसते हुए देखकर थोड़ा मुस्करा ही देते हैं, लोगों का यह स्वभाव ही है। जिस प्रकार खट्टे अनार आदि रसों का आस्वाद ऐसा सङ्क्रमणशील होता है कि उसके देखने से ही लोगों के मुंह में पानी भर आने से अनुरूप विकारों से सङ्क्रान्त हो जाता है। इसी प्रकार हास भी स्वभावतः सङ्क्रमणशील होता है और काष्ठ में स्थित अग्नि के समान फैल जाता है।

अनुवाद—इस विषय में वंशपरम्परागत दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—विपरीत अलङ्कार, विकृत आचरण, विकृत अभिधान (कथन या नाम) तथा विकृत वेष-भूषा और विकृत अर्थविशेषों (पाठभेद से विकृत अङ्गविकारों) द्वारा जो हँसता है वह (आत्मस्थ) 'हास्य' रस कहा गया है ॥५०॥

अनुवाद विकृत आचरणों, विकृत वचनों, विकृत अङ्गविकारों और विकृत वेषभूषा के द्वारा जो दूसरों को हँसाता है, इसलिये उसे (परस्थ) हास्य कहा जाता है ॥५१॥

अनुवाद—यह हास्य रस प्रायः स्त्री और नीच प्रकृति के लोगों में अधिक देखा जाता है। इस हास्य रस के छः भेद जानने चाहिये। जिन्हें मैं अभी कहूँगा ॥५ ।

---

१. क–त. न. भवतश्चात्रार्ये ।
२. क–अ. विकृतावेशाभिधानचेष्टाभिः ।
३. ध. ग. विकृतैरङ्गविकारैः
४. ख. घ. विकृताकारैः ।
५. क–त. न. विहारैर्विकृतवेषकृतैः ।
६. क-त. म. स्त्रीनीचप्रकृतिष्वेव ।

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधमप्रकृतौ[1] ॥ ५३ ॥

[2]तत्र

स्मितहसिते [3]ज्येष्ठानां मध्यानां विहसितोपहसिते च ।
अधमानामपहसितं [4]ह्यतिहसितं चापि विज्ञेयम् ॥ ५४ ॥

नानाभेदा इत्याह– षड्भेदाश्चेति । द्वौ द्वाविति । यथाक्रमं विभावतारतम्यमित्यादीति केचित् । तत्त्वसत् । भेदान्तराणामपि प्रसङ्गात् । तस्मात्सङ्क्रमणाभिप्रायेणैतत् । स्मितं हि यदुत्तमप्रकृतौ तत्सङ्क्रान्तं हसितं सम्पद्यते । अत एव ष्यवस्थो हास इति वक्ष्यते । षडवस्थो ह्यन्यथा स्यात् । [5]स्मितञ्चेषत्तायाम् । हसितं ततो विशेषेण । ततोऽपि परस्य गतं समीपगतमन्यत् । अपहसितमतिशयेन चेत्युपसर्गभेदादर्थभेदः ॥ ५४ ॥

अनुवाद—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित और अतिहसित हास्य रस के ये छः भेद होते हैं । इनमें उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के लोगों में क्रमशः दो-दो भेद होते हैं ॥५३॥

उनमें से –

अनुवाद—उनमें उत्तम प्रकृति के लोगों में स्मित और हसित, मध्यम प्रकृति के मनुष्यों में विहसित और उपहसित तथा अधम प्रकृति वालों में अपहसित और अतिहसित ये दो-दो भेद समझने चाहिये ॥५४॥

अभिनव—हास्य रस के अनेक भेद होते हैं । इस पर कहते हैं कि हास्य के छः भेद होते हैं और उन्हें उत्तम, मध्यम, अधम में दो-दो के क्रम में रखा है । कुछ व्याख्याकार इन दो-दो के क्रम को अर्थात् क्रमानुसार दो दो को विभावों के तारतम्य (न्यूनाधिक्य) के आधार पर स्वीकार करते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है । क्योंकि उस प्रकार विभावों के तारतम्य का आधार मानने पर तो अन्य अनेक भेद हो जाँयगे । अतः ये भेद सङ्क्रमण के अभिप्राय से स्वीकार किये जा सकते हैं । उत्तम प्रकृति के पुरुष में जो स्मित है वह सङ्क्रान्त होकर हसित हो जाता है । इसीलिए हास्य की

१. ख. मध्यमाधमप्रकृतौ ।

२. क-त.ब. अत्र श्लोकाः ।

३. क-प. स्मितहसिते श्रेष्ठानां । क-अ. स्मितहसितं ज्येष्ठानां ।
क-त. भ. स्मितहसितमुत्तमानां ।

४. ख. तथातिहसितं

५. क. स्मितस्येषत्तायाम् ।

अत्र श्लोकाः—

[1]ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवान्वितैः ।
अलक्षितद्विजं धीरमुत्तमानां स्मितं भवेत् ॥ ५५ ॥
[2]उत्फुल्लानननेत्रं तु गण्डैर्विकसितैरथ ।
किञ्चिल्लक्षितदन्तं च हसितं तद्विधीयते[3] ॥ ५६ ॥

तीन अवस्थाएँ आगे कही जाँयगी । अन्यथा हास की छः अवस्थाएँ हो जाँयगी । हास्य का ईषद्भाव अर्थात् मन्दहँसीं या मुस्कराहट स्मित होता है और उससे अधिक होने पर हसित हो जाता है और उस हसित से भी अधिक हँसी होने पर विहसित और उससे भी अधिक सामाजिक के समीप में पहुँचकर उपहसित हो जाता है । इस प्रकार उससे भी अधिक हँसो होने पर अपहसित तथा उससे अत्यधिक हँसी होने पर अर्थात् ठहाका लगाकर हंसने पर 'अतिहसित' कहा जाता है । इस प्रकार उपसर्गों के संयोग से अर्थ में भेद हो जाता है ।

विमर्श—अग्निपुराण में भी हास्य के छः भेद माने गये हैं । अग्निपुराण के अनुसार जिसमें दांत न दिखाई दे ऐसी हंसी को 'स्मित' कहते हैं । (५) और उससे कुछ अधिक हंसी होने पर और दांत थोड़ा दिखाई देने पर 'हसित' होता है (३) हसित की अपेक्षा अधिक और मधुर शब्द होने पर 'विहसित' (४) और विहसित से भो विशेष (अधिक) और कुटिल (वक्र) हास होने पर 'उपहसित' होता है। (५) और उससे भी विशेष सशब्द हंसी को 'अपहसित' (६) तथा जोर से हंसने पर तीव्र स्वर सुनाई देने पर 'अतिहसित' कहा जाता है ।

इस विषय में श्लोक पाये जाते हैं—

अनुवाद—ईषत् विकसित कपोल और सौन्दर्ययुक्त कटाक्षों से युक्त अर्थात् जिसमें कपोल थोड़ा विकसित हो और कटाक्ष सौष्ठवयुक्त हो तथा दाँत न दिखाई दे, ऐसे उत्तम प्रकृति वालों का धीर हास्य 'स्मित' कहलाता है ॥५५॥

अनुवाद जिसमें नेत्र और मुख उत्फुल्ल अर्थात् खिले हुये हों तथा कपोल विकसित हो और दाँत थोड़ा दिखाई देता हो उसे 'हसित' कहते हैं ॥५६॥

---

१. ख. ईषद्विहसितैर्गण्डैः ।
२. ख. घ. उत्फुल्लानननेत्रैस्तु गण्डैर्विहसितैरथ ।
३. क-त. म. किञ्चिल्लक्षितगण्डं च हसितं तत्प्रकीर्त्तितम् ।

अथ मध्यमानाम्—

आकुञ्चिताक्षिगण्डं [1]यत्सस्वनं मधुरं तथा ।
[2]कालागतं सास्यरागं तद्वै विहसितं भवेत् ॥ ५७ ॥
उत्फुल्लनासिकं यत्तु [3]जिह्मदृष्टिनिरीक्षितम् ।
[4]निकुञ्चिताङ्गकशिरस्तच्चोपहसितं भवेत् ॥ ५८ ॥

सौष्ठायमनुल्वणता । द्विजा दन्ताः । धीरमिति मन्थरं कृत्वा ईषत्त्व‑निर्वाहः । विकसितैरिति । अथेति । स्मितानन्तरं संक्रमणकाल इत्यर्थः । तदिति । स्मितमेव संक्रान्तं सदेवंरूपतामेतीत्यर्थः ॥ ५५-५६ ॥

जिह्माख्याया भाविन्या दृष्टया निरीक्षणं यत्र काल उचितं तेन संस्थानादौ ॥ ५८ ॥

अभिनव—'सौष्ठव' पद का अर्थ उज्ज्वलता है । 'द्विज' पद का अर्थ 'दांत' है । 'धीर' शब्द से 'धीरे-धीरे करके स्वल्पता का निर्वाह' अभीष्ट है । 'अथ' पद से स्मित (मुस्कराहट) अर्थात् सङ्क्रमण काल अर्थ अभिप्रेत है । 'तत्' पद का अभिप्राय है स्मित ही सङ्क्रान्त होकर अर्थात् आगे चलकर इस प्रकार का (हसित) हो जाता हैं ॥ ५५-५६ ॥

अनुवाद—इसके बाद मध्यम पुरुषों के हास्य का वर्णन करते हैं—

अनुवाद—जिसमें कपोल और आँखें संकुचित हों और जो मधुर शब्द हों तथा मुख लाल हो जाय, ऐसा उचित समय पर होने वाला मधुर हास्य 'विहसित' कहा जाता है ॥५७॥

अनुवाद—जिसमें नासिका उत्फुल्ल हो और जहाँ पर जिह्म (कुटिल) दृष्टि से निरीक्षण हो अर्थात् कुटिल दृष्टि से देखा जाता है और अङ्ग तथा शिर झुक जाय, वह हास्य 'उपहसित' कहलाता है ॥५८॥

अभिनव—जहाँ पर जिह्म नामक आगे कही जाने वाली 'जिह्मा' (वक्र) दृष्टि से निरीक्षण किया जाय और जो समय के अनुकूल हो अर्थात् जो सभा आदि में उचित हो, यह 'जिह्म-दृष्टि-निरीक्षण' अभिप्राय है ॥५७-५८ ॥

१ ख. घ. यत्स्वरं मधुरं तथा । क-त.न. स्यात्सस्वरं मधुरं च यत् ।
२. क-द. कलागतं ।
३. ख. यच्च जिह्मदृष्टिनिरीक्षणम् ।
४. ख. ग. निकुञ्चितांसकशिरः । घ. निहञ्चितांसकशिरः

अथाधमानाम् :—

अस्थानहसितं यत्तु[1] साश्रुनेत्रं तथैव च।
उत्कम्पितांसकशिरस्तच्चापहसितं भवेत् ॥ ५९ ॥
[2]संरब्धसाश्रुनेत्रं च [3]विकृष्टस्वरमुद्धतम्।
करोपगूढपार्श्वं च तच्चातिहसितं भवेत् ॥ ६० ॥
[4]हास्यस्थानानि यानि स्युः कार्योत्पन्नानि[5] नाटके।
उत्तमाधममध्यानामेवं तानि प्रयोजयेत् ॥ ६१ ॥

अस्थान इत्यकाले शोकाद्यवसरे। विकृष्टं श्रवणकटु।

नाटक इति। नाटकशब्दो रूपकमात्रवृत्तिः।

इसके बाद अधम पुरुषों के हास को कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर विना अवसर के हँसा जाय और हँसते-हँसते आँखों में आँसू आ जाय तथा कन्धा और सिर हिलने लगे, उसे 'अपहसित' कहते हैं ॥ ५९ ॥

अनुवाद—जहाँ पर नेत्र उद्वेलित और आँसुओं से पूर्ण हो, और श्रवणकटु अर्थात् सुनने में बुरा लगने वाला स्वर हो तथा हाथ से पार्श्व (कोंख) को दबाना पड़े उस उद्धत हास्य को 'अतिहसित' कहते हैं ॥ ६० ॥

अभिनव—'अस्थान' पद का अभिप्राय है अनुचित समय पर अर्थात् शोक आदि के अवसर पर। 'विकृष्ट' पद का अर्थ है श्रवण कटु अर्थात् जो सुनने में कड़वा लगे, अच्छा न लगे ॥ ५९-६० ॥

अनुवाद—नाटक में कार्यवश उत्पन्न जो हास्य के स्थान (अवसर) हैं, अर्थात् हास्य के जो अवसर प्राप्त हों, उनमें उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतियों के अनुरूप इस प्रकार से प्रयोग करना चाहिए ॥ ६१ ॥

अभिनव—यहाँ 'नाटके' में नाटक शब्द रूपक मात्र का बोधक है।

---

१. ख. घ. यत्र। क-न. त. यच्च।
२. क-त. संरब्धं सास्रनेत्रं च।
३. ख. घ. ग. विक्रुष्टस्वरमुद्धतम्। क-त. न. विकृष्टस्वनमुद्धतम्।
४. ख. हासस्थानानि।
५. क-त. म. काव्योत्पन्नानि।

[1]इत्येष स्वसमुत्थस्तथा परसमुत्थश्च विज्ञेयः ।
द्विविधस्त्रिप्रकृतिगतस्त्र्यवस्थभावो रसो हास्यः ।।६२।।

स्वसमुत्थ इत्यसंक्रान्तस्मितविहसितापहसितलक्षणः । परसमुत्थः संक्रान्तो हसितोपहसितातिहसितरूपः । हसितादिरूपसंक्रमणयोत्कृष्टप्रकृतौ[2] स्मितादिरूपम् ।

रतिक्रोधशोकादेस्तु न संक्रमणं भवतीत्युक्तमेव । तत्र हि युगपदेव वा स एव विभावस्तच्चित्तवृत्तिमान्वा पुरुषो विभावतामेति । न तु त एव विभावास्तस्य चित्तवृत्तिं प्रस्तूय [3]संक्रमयन्त्यन्यत्र प्रस्तुवतः हासमिव[4] । सर्वेषामात्मस्थ-परस्थभेदोपलक्षणमेतदित्यन्ये । एतच्चासत् । अनुभवसिद्धमेव हीदं हासः संक्रामतीति ।

अनुवाद—इस प्रकार यह स्वसमुत्थ और परसमुत्थ भेद से दो प्रकार का, उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकृतियों में स्थित तीन अवस्थाओं वाला हास्य रस समझना चाहिये ॥ ६२ ॥

अभिनव—'स्वसमुत्थ' पद से 'सङ्क्रान्त न होने वाले स्मित, विहसित और अपहसित का ग्रहण होता है और 'परसमुत्थ' पद से सङ्क्रान्त और दूसरे को देखकर सङ्क्रमणशील हसित, उपहसित और अतिहसित का ग्रहण होता है। हसितादि रूप में सङ्क्रमण होने से उत्तम प्रकृति में स्मितरूप हास होता है।

अभिनव—रति, क्रोध, शोक आदि का किसी दूसरे में सङ्क्रमण नहीं होता है, यह पहिले कहा जा चुका है। उसमें वही विभाव एक साथ ही रहता है अथवा उस प्रकार की चित्तवृत्ति वाला पुरुष ही विभाव बन जाता है। वे विभाव उसकी चित्तवृत्ति को प्रस्तुत करके हास के समान उस प्रस्तुत करने वाले पुरुष से अन्यत्र सङ्क्रान्त नहीं कराते हैं। अन्य व्याख्याकारों का कहना है कि आत्मस्थ और परस्थ रूप भेद सभी रसों के उपलक्षण हैं। किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है कि हास अन्य सङ्क्रान्त होता है।

१. ख. घ. एवमात्ममसमुत्थं च तथा परसमुत्थितम् ।
द्विविधस्त्रिप्रकृतिकः षड्भेदोऽथ रसः स्मृतः ।

२. क. सङ्क्रमणमेवोष्कृष्टप्रकृतौ ।

३. क. संक्रमयाद्यस्य प्रस्तुवतः । संक्रमयन्त्यन्यस्य प्रस्तुवतः ।

४. क. हास एव ।

अथ करुण-रसः

अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः[1]। स च [2]शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविप्रयोगविभवनाशवधविद्रवोपघातव्यसनसंयोगादिभिर्विभावैः समुपजायते।

अन्यस्त्वाह—तिसृषु प्रकृतिषु व्यवस्थो विभावतारतम्याद् द्विरूपः। पुनरात्मपरस्थत्वेन द्विधेति द्वादशभेदोऽयमिति कारिकातात्पर्यमिति। अत्र च पृथग्विभावनमपि भवति। तत्त्वतिप्रसङ्गावहं तन्मतमिति नोदाहृतम् ॥६२॥

इति हास्यरसप्रकरणम् ॥

अथ करुणरसप्रकरणम्

इदानीमवसरायातं करुणं लक्षयति—अथ करुणो नामेति।

अथेति क्रमे। तत्र चायं क्रमः—सम्भोगेन हास्योऽङ्गत्वेनापेक्षितः। विप्रलम्भेन च समानव्यभिचारिकत्वात्करुण इति टीकाकारः।

अभिनव—दूसरे व्याख्याकार कहते हैं कि तीन प्रकार की प्रकृतियों में तीन अवस्थाओं वाला हास्य विभावों के तारतम्य से दो प्रकार का अर्थात् कुल छः प्रकार का होता है। फिर यही आत्मस्थ और परस्थ भेद से प्रत्येक के दो-दो प्रकार होने से बारह प्रकार का हो जाता है। यह कारिका का तात्पर्य है। इनमें पृथक् विभावन व्यापार भी कहा गया है, किन्तु उसमें अतिप्रसङ्ग दोष प्राप्त होता है। इसलिए यह मत प्रतिपादित नहीं किया गया है।

इस प्रकार हास्य रस का प्रकरण समाप्त हुआ।

करुण रस प्रकरण

इसके बाद अवसर प्राप्त करुण रस का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—शोक स्थायीभाव से उत्पन्न रस करुण नाम से कहा जाता है। और वह शाप के क्लेश में पड़े हुए प्रिय जन के वियोग, विभव-नाश, वध, बन्धन, विद्रव (भगदड़), उपघात (चोट) तथा व्यसन आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

---

१. क—त. शोकस्थायिभावात्मकः।

२. क—त.म. सापेक्षक्लेशविनिपतनेष्टजनवियोगबन्धपरिक्लेशव्यसनसंशयादिभिः।

ख. घ. शापक्लेशविनिपातेष्टजनविप्रयोग०

एतच्च पूर्वापरविरुद्धम्। अस्माभिस्तूद्देशविभाग एव क्रमो दर्शितः। तस्याभिनयः प्रयोज्यो यस्यास्वाद्यमानस्य करुण इति व्यपदेशः। सदयहृदयता हि करुणा लोके प्रसिद्धा। सा च लिङ्गैरनुकर्तरि शोकं प्रतियतां सामाजिकानामिति करुणव्यपदेश इति श्रीशङ्कुकः।

एतच्च पूर्वापरविस्मरणविजृम्भितमस्य। यतः शोकं [1]प्रतिकृतिस्तस्य करुणा। दया च नाम परित्राणेच्छा। सा कथं शोकानुकरणम्। किं प्रति च तेषां दयेति न विद्मः।

तस्मात् करुण इति शोकः सर्वसाधारणत्वेन प्राग्युक्त्या आस्वाद्यमानस्य संज्ञा। तदर्थमेव नामशब्दः। तत्प्रभवत्वं शृङ्गारवद् व्याख्येयम्। अशक्यप्रतीकारहेतूपलक्षणं शापग्रहणम्। शापक्लेशे पतितस्येष्टजनस्य ये विप्रयोगादयः। तत्र [2]विप्रयोगोऽसङ्गमः। विभवनाशनादि प्रसिद्धम्। विद्रवो देशादुच्चाटनम्। तच्च विप्रयोगेऽपीति विशेषः। उपघातोऽग्न्यादिमरणम्। अग्न्यादिकृतो विद्रवः चोरादिकृत उपघात इति त्वसत्। विभवनाशेन गतत्वात्। व्यसनेन मृगयाक्षादिनाऽनर्थजनकेन संयोगः। विभवनाशादयोऽपि स्वात्मगता नोत्तमप्रकृतेः शोकं कुर्युः। मध्यमाधमप्रकृतीनां तु कुर्युरेवेत्यादिग्रहणम्।

अभिनव—यहाँ पर 'अथ' पद क्रम का बोधक है। क्रम यह है कि—सम्भोग शृङ्गार में अङ्गरूप से हास्य की अपेक्षा होती है और विप्रलम्भ शृङ्गार में दोनों के व्यभिचारीभावों के समान होने से करुण रस की अपेक्षा होती है, इसलिए हास्य के बाद करुण रस का स्थान है ऐसा किसी टीकाकार का मत है।

अभिनव—किन्तु यह मत पूर्वापर विरुद्ध है। हमने तो रसों के उद्देशविभाग के अवसर पर ही क्रम को दिखा दिया है। उसका अभिनय करना चाहिए जिसका आस्वादन होने पर करुण रस कहा जाता है। सहृदयों के हृदय में करुणा होती है यह लोक में प्रसिद्ध है और वह करुणा विलापादि अनुभाव रूप लिङ्गों के द्वारा अनुकर्त्ता नट में स्थित शोक की प्रतीति करने वाले सामाजिकों (सहृदयों) में रहती है। इसलिए उसका 'करुण' यह नाम सार्थक है। यह शङ्कुक का मत है।

अभिनव—किन्तु उनका यह कथन पूर्वापर सम्बन्ध को भुला देने का परिणाम है। क्योंकि उनके मत में शोक की प्रतिकृति (अनुकरण) ही करुणा है और करुणा दूसरों की रक्षा करने की इच्छा का नाम है। उससे शोक का अनुकरण कैसे हो सकता है ? और उन सामाजिकों की करुणा किनके प्रति होगी ? यह हम नहीं समझ पा रहे हैं। अतः यह मत ठीक नहीं है।

१. क–शोकप्रकृतिकस्य।
२. क–तत्र विप्रयोगोऽयं सङ्गमः।

[1]तस्याश्रुपातपरिदेवनमुखशोषणवैवर्ण्य[2]स्रस्तगात्रतानिश्श्वासस्मृतिलोपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

परिदेवनमात्मनो दैवस्यान्यस्य चोपालम्भः । निश्वासशब्देन तदनन्तरभावी उच्छ्वासोऽप्यूर्ध्वसनरूपो लक्ष्यते । स्मृतिलोपेन स्तम्भप्रलयौ लक्ष्येते ।

अभिनव—इसलिए पूर्व युक्ति से साधारणीकरण व्यापार के द्वारा सर्वसाधारण रूप से आस्वाद्यमान शोक ही करुण रस है, इसलिए 'नाम' शब्द का प्रयोग किया गया है। करुण रस शोकप्रभव अर्थात् शोक से उत्पन्न है, यह शृङ्गार के (रतिप्रभव शृङ्गार के) समान समझना चाहिए। यहाँ पर 'शाप' पद का ग्रहण अशक्य प्रतिकार रूप हेतुओं का उपलक्षण है। शाप के क्लेश में पड़े हुए प्रियजन के जो विप्रयोग आदि हैं उनमें विप्रयोग का अर्थ वियोग (असङ्ग) है। विभवनाश' पद का अर्थ प्रसिद्ध है। 'विद्रव' का अर्थ देश से उच्चाटन (देश-निष्कासन) है और वह निष्कासन करुण में ही नहीं, अपितु विप्रलम्भ शृङ्गार में भी होता है। यह विशेषता है। 'उपघात' का अर्थ अग्नि से जलकर मरना है। और जो शङ्कुक आदि आचार्य अग्नि आदि से उत्पन्न मरण को विद्रव मानते हैं और चोर आदि से उत्पन्न उपद्रव को उपघात कहते हैं वह ठीक नहीं है। क्योंकि वे विभाव-नाश से ही गतार्थ हो जाते हैं। 'व्यसन' पद का अर्थ शिकार खेलना, जूआ खेलना आदि अनर्थकारी कार्य हैं। उनसे संयोग अर्थात् मृगया, द्यूत आदि अनर्थजनक कार्यों में संयुक्त होना, या आसक्त होना 'व्यसन' है। आत्मगत विभवनाश आदि उत्तम प्रकृति के लोगों में शोक को उत्पन्न नहीं करते हैं, किन्तु मध्यम और अधम प्रकृति के लोगों में तो वे शोक को उत्पन्न करते ही हैं, इसलिए 'आदि' पद का ग्रहण किया गया है।

अनुवाद—उसका अभिनय अश्रुपात, परिदेवन (विलाप) तालु और मुख का सूख जाना, मुख की मलिनता, शरीर की शिथिलता, निःश्वास, स्मृति का लोप, आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये।

अभिनव—'परिदेवन' पद का अर्थ अपने आपको, दैव को अथवा अन्य किसी को उलाहना देना है। 'निःश्वास' शब्द से उसके अनन्तर होने वाले ऊर्ध्व-श्वसन रूप 'उच्छ्वास' का ग्रहण होता है। 'स्मृतिलोप' शब्द से स्तम्भ और प्रलय लक्षित होते हैं।

१. ख. अस्य चाश्रुपातन । क-म. तस्याश्रुपतन ।
२. क—न.म. वैवर्ण्यस्वरमुखभेद ।

व्यभिचारिणश्चास्य [1]निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगभ्रममोहश्रम-भयविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारत्रासालस्यमरणस्तम्भवेपथुवैवर्ण्या-श्रुस्वरभेदादयः ।

अत्रार्ये भवतः—

इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि[2] ।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति ॥ ६३ ॥

वैवर्ण्याश्रुस्वरभेदा अत्र बहिरुद्भिन्नस्वभावाश्चित्तवृत्त्यात्मानो गृह्यन्ते । तथा हि वक्तारो भवन्ति 'अश्रुणा पूर्णोऽस्य कण्ठो न च नयनजलं दृष्टम्' इति । एते ह्यश्रुप्रभृतयो व्यभिचारित्वाभिनेयत्वोपजीवनायैव मध्ये निर्दिष्टा इत्यवोचाम वक्ष्यामश्च । तेन न पौनरुक्यम् । एवमन्यत्रापि । व्याधेरुन्मादापस्मारौ भेदेन वक्ष्यामः ।

वधशब्दो बन्धादेरप्युपलक्षणम् । विप्रियमिष्टजनवधादि येन वाक्येनोच्यते तस्य श्रवणात् । तेन चेष्टजनस्य विभवनाशादि दृश्यमानं श्रूयमाणं वा कविभिः करुणविभावत्वेनोपनिबन्धनीयमिति तात्पर्यम् । एभिरित्येवंप्रकारैः । भावशब्दोऽत्रा-र्यायां विभाववाची ।

अनुवाद—करुण रस के व्यभिचारीभाव निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु (कम्पन), वैवर्ण्य, अश्रु तथा स्वरभेद आदि होते हैं ।

अभिनव वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभेद आदि सात्त्विकभाव होते हैं किन्तु यहाँ पर अन्तःकरण से बाहर प्रकाशित होने के कारण चित्तवृत्ति के रूप में ग्रहण किये जाते हैं । जैसा कि कहते हैं—'इसका कण्ठ आँसुओं से पूर्ण है किन्तु आँखों में आँसू नहीं दिखाई दिया' । ये अश्रु (आंसू) आदि व्यभिचारिभाव के रूप में अभिनेयत्व के उप-जीवन के लिए ही बीच में इनका निर्देश किया गया है, यह पहिले कहा जा चुका है और आगे कहेंगे । इसलिए यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए । उन्माद और अपस्मार व्याधि से भिन्न होते हैं, यह आगे कहेंगे ।

अनुवाद—इस सम्बन्ध में दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—प्रियजन के वध को देखने से अथवा अप्रिय वचनों के सुनने से इन विशेष भावों से करुण रस उत्पन्न होता है ॥ ६३ ॥

---

१. ख. निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यावेगमोहश्रमभय ।

२. ख. संश्रयाद्वापि ।

[1]सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च ।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥ ६४ ॥

अनुभावांस्तद्द्वारेण च व्यभिचारिणोऽप्युपलक्षयितुमार्यान्तरं सस्वनेत्यादि। बहुवचनं प्रकृतिदेशकालदशाहेत्वादिभेदेनानेकप्रकारत्वज्ञापनार्थम्। मोहो जडता। तेनान्ये व्यभिचारिण उपलक्ष्यन्ते। देहस्यायासनं पातनवेष्टनादि। अभिघात उरस्ताडनादिः। एते चानुभावाः प्रकृतिभेदेन यथायोगं विभजनीयाः। करुणो रौद्रादित्युक्तम्। स [2]कीदृग्रौद्र इति क्रमं केचिदाहुः ॥ (६३)

॥ इति करुणरसप्रकरणम् ॥

अनुवाद सशब्द रोना अर्थात् चिल्लाकर रोना, मोहित होना, परिदेवन (दैव को कोसना), विलाप, शरीर के गिराने, पटकने तथा छाती पीटने आदि के द्वारा करुण रस का अभिनय करना चाहिए ॥ ६४ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'वध' शब्द बन्धन आदि का उपलक्षण है। 'विप्रिय' पद का अभिप्राय है प्रियजन का वध आदि जिस वाक्य से कहे जांय उस अप्रिय वचन के श्रवण से। उससे प्रियजनों के दृश्यमान एवं श्रूयमाण विभवनाश आदि को कवियों के द्वारा करुण रस के विभाव के रूप में उपनिबन्धन करना चाहिए, यह तात्पर्य है। 'एभिः' का अर्थ है इन प्रकारों से। इस आर्या छन्द में आया हुआ 'भाव' शब्द 'विभाव' का वाचक है अर्थात् यहाँ भाव शब्द से विभाव का ग्रहण है।

अनुभावों और उनके द्वारा व्यभिचारिभावों को उपलक्षित करने के लिए दूसरी आर्या को कहते हैं—सस्वन इत्यादि। इस आर्या में बहुवचन का प्रयोग प्रकृति, देश, काल, दशा, हेतु आदि के भेद से अनुभाव आदि के अनेक प्रकार के होते हैं। इसके ज्ञापन के लिए किया गया है। 'मोह' का अर्थ जड़ता है। इससे अन्य व्यभिचारिभाव उपलक्षित होते हैं। 'शरीर का आयासन' से पातन (गिराना) वेष्टन आदि अर्थ अभिप्रेत है। 'अभिघात' का अर्थ छाती पीटना आदि है। ये अनुभाव प्रकृति के भेद से यथायोग्य प्रयुक्त करने चाहिए। करुण रस रौद्र से उत्पन्न होता है, यह कहा गया है। वह रौद्र कैसा है ? इस प्रकार करुण के बाद रौद्र का क्रम है ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं ॥ ६४ ॥

इस प्रकार करुण रस का प्रकरण समाप्त हुआ।

---

१. ख. श्वसनरुदितैर्मोहोद्गमैश्च। क-त.प. सस्वररुदितैर्मोहागमैश्च।
२. स हीदृग्रौद्र इति क्रमं केचिदाहुः।

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्य-प्रकृतिः[1] संग्रामहेतुकः ।

अथ रौद्ररसप्रकरणम्

अधुना रौद्ररसं लक्षयति—अथ रौद्रो नामेति ।

आत्मग्रहणस्यायमाशयः । अन्यायकारिता प्राधान्येन क्रोधस्य विषयः । तादृशि च जने सर्वेऽपि[2] मनोरथैरपि रुधिरपानमपि नामाद्रियन्ते । तथा चाह लोकः—'तादृशो यदि लभ्यते तत्तदीयं रुधिरमपि पीत्वा न तृप्यते' । महाकविना भासेनापि स्वप्रबन्ध उक्तम्—

'त्रेतायुगं तद्धि न मैथिली सा
रामस्य रागपदवी मृदु चास्य चेतः ।
लब्धा जनस्तु यदि रावणमस्य कायं
प्रोत्कृत्य तन्न तिलशो न वितृप्तिगामी[3] ॥' इति ॥

रौद्ररस निरूपण

अब इसके बाद रौद्र रस का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—राक्षस, दानव और उद्धत मनुष्यों की प्रकृति वाला युद्धहेतुक क्रोध स्थायीभाव रूप रौद्र रस होता है ।

अनुवाद—और वह रौद्र रस क्रोध, आधर्षण, अधिक्षेप, अनृत (मिथ्या-भाषण), उपघात, वाग्पारुष्य (गाली-गलौज), अभिद्रोह तथा मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है ।

अभिनव—रौद्र रस लक्षण में 'आत्म' पद के ग्रहण का आशय यह है कि अन्यायकारिता प्रधानरूप से क्रोध का विषय है। उस प्रकार के लोगों के विषय में सभी लोग मन से उसका खून भी पी जाना चाहते हैं। भाव यह कि अन्याय करना ही मुख्य रूप से क्रोध का विषय होता है। उस अन्यायकर्त्ता के प्रति लोगों के मन में क्रोध जागृत होता है, यहाँ तक कि वे उस अन्यायी का खून तक पी जाना चाहते हैं। लोगों का कहना है कि—'यदि ऐसा अन्यायी व्यक्ति मिल जाय तो उसका खून भी पीने से तृप्ति नहीं होगी'। महाकवि भास ने भी अपने प्रबन्धकाव्य में कहा है—

अभिनव—आज वह त्रेतायुग नहीं है और न राम की अनुराग भूमि वह मैथिली सीता है और न राम का वह कोमल मन है, किन्तु आज भी लोग यदि रावण को पा जाँय तो उसके शरीर को तिल के बराबर टुकड़े-टुकड़े करके भी तृप्त नहीं होंगे ।"

१. ख. घ. मनुष्यप्रभवः । २. क. सर्वोऽपि । ३. क—वितृप्तिमेति ।

तेन हास्यवत्साधारणविभावत्वाच्चर्वणापि क्रोधमय्येवेति तद्रसनाचरणौ[1] रौद्रः क्रोधात्मक एव। उद्रिक्तं हन्तृत्वं येषां त उद्धताः। तद्वेषधारिणो ये नटास्ते। प्रकृतिश्चर्वणोदयहेतुरस्य।

अत्र व्याचक्षते—युद्धहेतुक उद्धतमनुष्येषु भीमसेनादिषु रुधिरपानादिलक्षणः। रक्षोदानवास्तु स्वभावरौद्रा इति। तदसत्। भीमस्य रुधिरपानं न युद्धहेतुकम्। अपि तु विषर्ययेण। उद्धतस्वभावत्वादेव ह्यसौ क्रोधपरवशः सन्ननुचितमपि प्रतिज्ञातवान्। तन्निर्वाहायैव च राक्षसाधिष्ठानमस्य कविना वेणीसंहारे वर्णितम्। तस्मात्सर्व एवैते स्वभावात् क्रोधनाः। तदनुसारिणि नटे रौद्र आस्वाद्यत इति मनुष्यप्रकृतिः[2]।

संङ्ग्रमहेतुक इति चायमर्थः—युद्धस्य कविनटप्रदर्श्यमानस्य[3] हेतुकः [4]कुत्सितहेतुधीरोहितः। तस्योचितो हेतुर्न क्रोधः। तथा च प्राधान्येन युद्धेन वीर एव व्यपदेक्ष्यते।

अभिनव—इसलिए हास्य के समान साधारण विभाव होने से रौद्र रस की चर्वणा (आस्वादन) भी क्रोधमयी ही होती है। इसलिए उस रौद्र रस का आस्वादन होने पर रौद्र रस भी क्रोधात्मक ही होता है। जिनमें हन्तृत्वभाव अर्थात् हिंसा का भाव उद्रिक्त (उत्कट) होता है वे 'उद्धत' कहे जाते हैं। उनके वेष को धारण करने वाले जो नट हैं वे भी 'उद्धत' कहे जाते हैं। वे जिस चर्वणा (आस्वाद) के हेतु हैं वह रौद्र रस है।

अभिवन—इस विषय में प्राचीन व्याख्याकार इस प्रकार की व्याख्या करते हैं—'युद्ध के कारण उद्धत प्रकृति के भीमसेन आदि उद्धत मनुष्यों में रक्तपान आदि लक्षण पाये जाते हैं। राक्षस और दानव तो स्वभाव से ही रौद्र होते हैं। किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि भीमसेन का रुधिरपान युद्ध हेतुक नहीं है अर्थात् युद्ध के कारण भीमसेन ने रक्तपान नहीं किया था, अपितु उसके विपरीत उद्धत स्वभाव कारण है। उन्होंने अपने उद्धत स्वभाव के कारण क्रोध के वश में होकर रुधिरपान जैसी अनुचित प्रतिज्ञा कर ली थी। उस प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए ही वेणीसंहार नाटक में कवि ने भीमसेन की राक्षसी प्रवृत्ति का वर्णन किया है। इसलिए वे सभी स्वभाव से क्रोधी होते हैं और उनका अनुसरण करने वाले नट में रौद्र रस का आस्वादन करते हैं। वह मनुष्यों का स्वभाव है।

---

१. क–तद्रसनाशरणो। ङ. तद्रसनाचर्वणे।
२. क–म. स तस्य प्रकृतिः। क–भ. मतस्य प्रकृतिः।
३. क. कविनटप्रदर्श्यमानहेतुकः।
४. क. कुत्सितहेतुधीतिरोहितः।

स च [1]क्रोधाघर्षणाधिक्षेपानृतवचनोपघातवाक्पारुष्याभिद्रोह-मात्सर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

नन्वेते स्वभावक्रोधना अपि किमुद्दीपनमपेक्षन्ते । ओमित्याह—सचेति ।

क्रोधादि परकर्तृकम् । आघर्षणं दारादिखलीकरणम् । अधिक्षेपो देशजात्यभिजनविद्याकर्मनिन्दा । अनृतस्य कस्याप्यसत्यस्य वचनम् । उपघातो [2]गृहभृत्याद्युपमर्दनम् । वाक्पारुष्यं वधाद्युपन्यासेन तर्जनम् । अभिद्रोहो जिघांसा । मात्सर्यं गुणेष्वसूया । आदिग्रहणाद्राज्यापहरणादि । एतैरुत्पद्यते कविना विभावत्वेन वर्ण्यमानैः ।

अभिनव—'सङ्ग्रामहेतुक' पद का यहाँ यह अर्थ है—कवि अथवा नट के द्वारा वर्णित अथवा प्रदर्शित युद्ध का कुत्सित हेतु है यह बुद्धि होती है । क्रोध युद्ध का उचित हेतु नहीं है । इसीलिए युद्ध से प्रमुख रूप से वीररस का ही व्यपदेश किया जाता है ॥

अभिनव—अब प्रश्न यह उठता है कि स्वाभवतः क्रोधी व्यक्ति भी उद्दीपन विभाव की अपेक्षा करते हैं ? कहते हैं—हाँ । इसी बात को आगे 'स च' इत्यादि के द्वारा कहते हैं—

अनुवाद—वह रौद्र रस क्रोध, आघर्षण अधिक्षेप, असत्य-भाषण, उपघात वाक्पारुण्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है ।

अभिनव—क्रोधादि परकर्तृक होते हैं अर्थात् दूसरे के द्वारा उत्पन्न होते हैं । 'आघर्षण' का अर्थ स्त्रियों का तिरस्कार करना, घसीटना आदि है । 'अधिक्षेप' पद का अभिप्राय देश, जाति, अभिजन, विद्या एवं कर्म की निन्दा करना है । 'अनृतवचन' का अर्थ है किसी भी असत्य (झूठ) वचन का कथन । 'उपघात' पद से घर के भृत्य आदि को पीड़ा देना अभिप्रेत है । 'वाक्पारुष्य' पद से वध आदि की धमकी देना अर्थ गृहीत होता है । 'अभिद्रोह' का तात्पर्य मारने की इच्छा करना या क्रूरता करना है । गुणों में असूया दोष-देखना 'मात्सर्य' है । 'आदि' पद से राज्य का अपहरण आदि का ग्रहण होता है । कवियों के द्वारा विभाव के रूप में वर्ण्यमान इन विभावों से रौद्र रस उत्पन्न होता है ।

---

१. ख. ग. घ. स च क्रोधघर्षणाधिक्षेपावमानानृतवचनवाक्पारुष्यद्रोहमात्सर्यादिभिः ।
क-न.म. स च धर्षणाधिक्षेपामर्षकृतानृतवचनोपघातवाक्पारुष्य० ।

२. ङ. ग्रहभूताद्युपमर्दनम् ।

तस्य च [1]ताडनपाटनपीडनच्छेदनभेदनप्रहरणाहरणशस्त्रसम्पातसम्प्रहाररुधिराकर्षणाद्यानि[2] कर्माणि । पुनश्च रक्तनयनभ्रुकुटीकरणदन्तोष्ठपीडनगण्डस्फुरणहस्ताग्रनिष्पेषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अस्य ताडनादीनि कर्माणि रक्तनयनादयोऽनुभावा इति पृथङ्निरूपणं तुल्येऽप्यनुभावत्वे विशेषख्यापनार्थम् । विशेषस्तु पूर्वेषां वचनमात्रेण व्यावर्णनम् । रङ्गे प्रत्यक्षतोऽप्रदर्शनीयत्वात् । यद्वक्ष्यते—

'युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव ।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि ॥' इति ॥

(ना. शा. १८–३८)

रक्तनयनादि रङ्गे प्रत्यक्षेण कृतम् । प्रहरणाहरणं तु पूर्वत्र प्रमादपठितमिति केचित् । इदं तु पृथगभिधाने तुच्छं प्रयोजनम् ।

अनुवाद—उसका अभिनय ताड़न (पीटना), पाटन (फाड़ना), पीड़न (पीड़ा देना या दबाना), छेदन (काटना) भेदन (चीरना) प्रहरण (प्रहार करना), आहरण (शस्त्रों को ग्रहण करना), शस्त्रों का पातन, शस्त्रों का प्रहार करना, रक्तपात करना, आघर्षण (घसीटना) आदि उस रौद्र रस के कर्म हैं, अनुभाव हैं और फिर लाल आंखे करके भौंहें चढ़ाना, दांत किटकिटाना, अर्थात् दांत पीसना, होठ चबाना, गालों को फुलाना और हाथों को मलना आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ।

अभिनव—ताड़न आदि इसके कर्म हैं, रक्तनयन (लाल नेत्र) आदि अनुभाव हैं । इस प्रकार अनुभाव के रूप में दोनों के तुल्य होने पर भी दोनों में विशेष (भेद) बतलाने के लिए अलग निरूपण किया गया है । विशेष (भेद) यह है कि रङ्गमञ्च पर प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शनीय (प्रदर्शन के योग्य) न होने से ताड़न आदि कार्यों को केवल वचनमात्र से वर्णन किया जाना है अर्थात् वचनों के द्वारा केवल सूचना दी जाती है । जैसा कि आगे कहेंगे—

अभिनव—"युद्ध, राज्य का नाश, मरण और नगर का उपरोध (घेराव करना) आदि प्रत्यक्ष रूप से रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित न किये जाने वाले कार्यों को प्रवेशकों के द्वारा सूचित करना चाहिए ।" (ना. शा. १८।३८) ।

---

१. क–त.न. ताडनपाटनपीडनछेद्यभेद्यप्रहरणापहरण० ।
२. क–त. रुधिराकर्षणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । पुनश्च ।
ख. रुधिरास्त्रकर्षणाद्यानि कार्याणि पुनश्च ।

अयं चात्राशयः—रक्षोदानवोद्धतमनुष्या उद्दीपनहेतुर्भिर्विनाऽपि चेष्टितमात्रं यद्यपि कुर्वते नर्मगोष्ठ्याद्यपि च तत्र ताडनादि प्रधानम् । तद्वक्ष्यति—'यच्च किञ्चिदारभन्ते' इति उद्दीपनसम्भवे ताडनादिग्रस्त एव रक्तनयनाद्यधिकीभवति । अत एव पुनश्शब्दः ।

तत्र ताडनं तलाद्यभिघातः । पाटनं द्विधाकरणम् । पीडनं मर्दनम् । छेदनं कर्तनम् । भेदनं [1]परस्परमित्रादिवियोजनम् । भावे ल्युडन्तः । प्रहरणानामा-समन्ताद्धरणम् । शस्त्रस्य सम्पातनमविदारयतोऽपि । सम्प्रहरणं विदारयतः पातनम् । तेन रुधिरस्याकर्षणम् । रक्षःप्रभृतयो हि नर्मणाऽपि प्रहरन्ति । किन्तु रुधिरागमनमात्रफलं न त्वधिकम् । रक्ते च ते नयने । भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपो भ्रुकुटी । दन्तोष्ठस्य यथाभोगं पीडनम् । हस्ताग्रयोरन्योन्यनिपेषः सङ्घर्षणम् ।

अभिनव—रक्तनयन (आंखे लाल करना) आदि तो रङ्गमञ्च पर प्रत्यक्ष रूप में प्रदर्शित किये जा सकते हैं । यहाँ प्रथम वर्ग के अन्तर्गत 'प्रहरण' और 'आहरण' का पाठ प्रमादवश (भ्रमवश) आगया है, ऐसा कुछ व्याख्याकार कहते हैं । अभिनव के अनुसार दोनों प्रकार के अनुभावों के पृथक्-पृथक् कहने का प्रयोजन तुच्छ है अर्थात् महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

अभिनव—यहाँ पर इसका अभिप्राय यह है कि राक्षस, दानव, एवं उद्धत मनुष्य उद्दीपन विभावों के विना भी जो चेष्टाएँ करते हैं उनमें नर्मगोष्ठी आदि में भी ताड़न आदि प्रधान हैं, प्रमुख हैं । इसी बात को आगे "जो भी कार्य करते हैं" (यच्च किञ्चिदारभन्ते) इत्यादि के द्वारा कहेंगे । उद्दीपन विभाव के होने पर ताड़न आदि से ग्रस्त मनुष्य में ही रक्तनयन आदि का आधिक्य हो जाता है । इसीलिए पुनः शब्द का उपादन किया गया है ।

अभिनव—यहाँ पर 'ताड़न' पद का अर्थ करतल से अभिघात करना अर्थात् थप्पड़ मारना है । 'पाटन' का अर्थ 'दो टुकड़े कर देना' है । 'पीड़न' का अर्थ मसलना या दबाना है । 'छेदन' का अर्थ 'कतरना' या 'काटना' है । 'भेदन' पद से 'परस्पर एक दूसरे से अलग करना' अर्थ अभीष्ट है । यहाँ पर भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय हुआ है । प्रहरणों अर्थात् आयुधों का चारों ओर से आहरण करना 'प्रहरणाहरण' है । जिससे शरीर विदीर्ण न हो अर्थात् अङ्गभङ्ग न हो, ऐसे शस्त्र प्रहार को 'शस्त्रसम्पात' कहते हैं और जिससे शरीर विदीर्ण हो जाय, अङ्गभङ्ग हो जाय इस प्रकार के शस्त्रों के प्रहार को 'सम्प्रहार' कहते हैं अर्थात् शरीर का विदारण न करने वाले शस्त्र का पातन (गिराना, प्रहार करना) 'शस्त्र-सम्पात' हैं और अङ्गों को विदीर्ण करने वाले

१. क. परस्परमित्या (रमैत्र्या)दिवियोजनम् ।

[1]भावाश्चास्यासम्मोहोत्साहावेगामर्षचपलतौग्र्यगर्वस्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादयः[2] ।

भावा इति व्यभिचारिणः । असंमोहः सम्मोहविपरीतः । विरोधे न । तत्रावृत्तिसंगृहीतः सम्यग्बोधः । उत्साहोऽत्र व्यभिचारी । क्रोधस्य प्राधान्येन रसनीयत्वात् । स्वेदादयो बाह्याः । आभ्यन्तराः [3]सात्त्विकाभावेऽपि विषस्पर्शज्वरादिना भवन्ति । ततोऽनैकान्तिकाः । आन्तरा अनुद्रिक्ता व्यजनग्रहणादिभिरुद्रिक्ताः । बाह्यैः स्वेदादिभिर्व्यक्ता व्यभिचारिरूपाः पठिताः ।

शस्त्रों के पातन को 'सम्प्रहार' कहते हैं । सम्प्रहारण में रुधिर का स्राव होता है अर्थात् खून निकलता है । राक्षस आदि तो विनोद (परिहास, हंसी मजाक) में भी प्रहार करते हैं । किन्तु उसका फल रक्त का गिरना मात्र है उससे अधिक अङ्गभङ्ग आदि नहीं । रक्त पद नेत्रों का विशेषण है अर्थात् लाल-लाल आखें । भौहों के मूल को ऊपर उठाना या टेढ़ा करना 'भ्रुकुटी' है । दांत और होठों का यथायोग्य चबाना 'दन्तोष्ठ-पीड़न' है । हाथ के अग्रभाग का आपस में रगड़ना या मलना 'हस्ताग्रनिष्पेषण' है ।

अनुवाद—असम्मोह (मोह न होना), उत्साह, आवेश, अमर्ष, चपलता, उग्रता, गर्व, स्वेद (पसीना), कम्प, रोमाञ्च और गद्गद स्वर ये सब रौद्र रस के व्यभिचारी भाव है ।

अभिनव—'भाव' शब्द से यहाँ पर व्यभिचारिभाव का ग्रहण है । 'असंमोह' का अर्थ 'सम्मोह के विपरीत परिज्ञान' है । यहाँ पर विरोध अर्थ में नञ् है । सम्मोह में न रहने वाला असम्मोह है अर्थात् सम्मोह से असंगृहात ज्ञान असम्मोह सम्यग्बोध (सम्यग् ज्ञान) है । रौद्र में क्रोध के प्रधानरूप से रसनीय (आस्वाद्य) होने के कारण यहाँ पर उत्साह व्यभिचारी भाव है । स्वेद वेपथु आदि भाव बाह्य हैं जो आन्तरिक सात्त्विक भाव के विना भी विष के स्पर्श, ज्वर आदि से होते हैं अतः ये अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारीभाव है । अनुद्रिक्त अर्थात् अव्यक्त होने पर आन्तर अर्थात् सात्त्विकभाव कहे जाते हैं और व्यजन (पंखा) के ग्रहण आदि से व्यक्त होते हैं । इस प्रकार बाह्य स्वेदादि के रूप में दिखाई देने वाले सात्त्विकभाव व्यभिचारीभाव के रूप में पढ़े गये हैं ।

---

१. ख. घ. व्यभिचारिणचास्य संमोहोत्साहवेगामर्षचपलतौग्र्यस्वेदवेपथु० ।
क–अ. भावाश्चास्य संमोहोत्साह० ।

२. ग. चपलौग्रगर्वविकृतेक्षणस्वेदवेपथुरोमाञ्चगद्गदादयः ।
क–त. गर्वस्वेदरोमञ्चादयः ।

३. क. सात्त्विकभावेऽपि ।

अत्राह—यदभिहितं [1]रक्षोदानवादीनां रौद्रो रसः किमन्येषां नास्ति। उच्यते—अस्त्यन्येषामपि रौद्रो रसः। किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते। ते हि स्वभावत एव रौद्राः। [2]कस्मात्। [3]बहुबाहवो बहुमुखाः प्रोद्धूतविकीर्णपिङ्गलशिरोजाः रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव। यच्च [4]किञ्चित्समारभन्ते स्वभावचेष्टितं [5]वागङ्गादिकं तत्सर्वं रौद्रमेवैषाम्। [6]श्रृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते। तेषां [7]चानुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि [8]सङ्ग्रासम्प्रहारकृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः।

अनुवाद—इस विषय में कहते हैं अर्थात् इस विषय में प्रश्न करते हैं कि–जो यह कहा गया है कि राक्षस और दानव आदि में रौद्र रस रहता है तो क्या अन्यों (अन्य व्यक्तियों) में नहीं रहता? इस पर कहते हैं कि यह रौद्र रस अन्यों में भी होता है किन्तु यहाँ अधिकार का ग्रहण किया गया है क्योंकि वे (राक्षसादि) स्वभाव से ही क्रोधी होते हैं। कैसे? क्योंकि वे अनेक भुजाओं वाले, अनेक मुख वाले, कम्पित, बिखरे हुए एवं पीले बालों वाले, लाल और चढ़ी हुई आंखों वाले और भयानक एवं काले रङ्ग के होते हैं और जो वाचिक एवं आङ्गिक आदि स्वाभाविक चेष्टाएँ आरम्भ करते है वह सब स्वभावतः रौद्र ही होता है और भी वे प्रायः श्रृङ्गार का सेवन भी जवर्दस्ती करते हैं। और उनका अनुकरण करने वाले जो पुरुष होते हैं उनमें भी युद्ध और प्रहार आदि के कारण रौद्र रस ही समझना चाहिए।

---

१. ख. राक्षसादीनां रौद्रो रसः किमन्येषां नास्तीत्युच्यते।
क–त.म. रक्षोदानवानां रौद्ररसः सः किमन्यासां प्रकृतीनां नास्तीति। अत्रोच्यते–
क–न. रक्षोदानवादीनां रौद्रो रसः मानवप्रकृतीनां नास्तीति।

२. क–अ. यस्मात्।

३. क–अ. बहुशीर्षा बहुमुखाः।

४. ख. किञ्चित्समारभन्ते स्वभावचेष्टितं।
ग. किञ्चित्समारभन्ते स्वभावेन चेष्टितं।

५. ख. घ. वागङ्गादिकं वा तत्सर्वं रौद्रमेवेति।

६. ख. 'पुस्तके' एषभागः नास्ति।

७. ख. तेषां चानुगामिनो ये पुरुषास्तेषामपि।
क–त. न. तेषां चानुकारिणो येऽप्युद्धताः पुरुषास्तेषामपि।

८. ख. सम्प्रहारकृतो रौद्ररसोऽनुमन्तव्यः।

एष्वेव रौद्ररस इत्यभिप्रायं गृहीत्वा चोदक आह—यदभिहितमिति। सिद्धान्ती त्वेषु रौद्रो भवत्येवेत्यभिप्रायेणाह—अस्त्यन्येषामिति। अन्येषां कविनटाभ्यां प्रयुज्यमानानां सम्बन्धिजन्यत्वेन। अधिकारोऽनुवृत्तिः। अत्रेति राक्षसादिषु। एतदेव व्यनक्ति—ते हीति। स्वभावशब्दानन्तरमेवकारेण भवन्त्येवेत्ययोगव्यवच्छेद एव सूचितः। स्वयं तेषां भवनं तत इत्यर्थः। तेनाङ्गरौद्रोपन्यासोऽप्यविरुद्धः। अन्यथा स्वभावरौद्र एव रक्ताक्षादिभिरभिधेयः स्यात्। न बहुबाहुमुखादि।

तत्र राक्षसादयोऽपि न परिजने सदा क्रुद्धा इति प्रतीयन्त इत्याशयेनाह—कस्मादिति।

अत्रोत्तरं बहुबाहव इति लोकप्रसिद्धाकारविपरीतो हि तेषामाकारः। तत्र च परविनाशनाभिसन्धिजनितं तपश्चर्यादिकं दृष्टं वा कर्म तेषां व्याप्रियते। [1]अतस्तादृशेषु दृष्टेषु स एव क्रोधात्मकोऽभिसन्धिर्गम्यत इति [2]सामाजिकानान्तु दृश्यते रौद्रास्वादः। तेन च रागादिव यत्क्रोधकाले दृष्टं त सदैव तेषामुद्वृत्तं तारकयोः रक्तविलोचनम्। अत एव भोममसितं कृष्णं सदैव रूपं येषाम्। नित्ययोग इनिः। [3]अत एव बहुवचनबहुव्रीहिरत्र न कृतः।

अभिनव—इन्हीं राक्षसादि में ही रौद्र रस होता है, इस अभिप्राय को लेकर पूर्वपक्षी आशङ्का करता है कि जो राक्षसादि में रौद्र रस कहा है वह क्या अन्यों में नहीं होता? सिद्धान्ती तो इनमें (अन्यों में) रौद्र रस होता है, इस अभिप्राय से कहता है। कि अन्यों में भी रौद्ररस होता है। अन्यों में अर्थात् कवि और नट के द्वारा राक्षसादि का अनुकरण करने वाले सम्बन्धित मनुष्यों में भी रौद्ररस रस रहता है। यहाँ पर 'अधिकम्' की 'अनुवृत्ति' है। 'अत्र' पद का तात्पर्य है राक्षस आदि में। इसी बात को 'ते हि' इत्यादि के द्वारा व्यक्त करते हैं। 'स्वभावत एव' (स्वभाव शब्द के बाद) में एव शब्द के प्रयोग से 'अयोगव्यवच्छेद' सूचित होता है अर्थात् राक्षसादि रौद्र स्वभाव के अवश्य ही होते हैं। रौद्र होना उनका स्वभाव ही है। 'स्वभावतः' शब्द का अर्थ है कि उनका स्वयं का जो भाव (अपना स्वरूप,) है इससे। इसलिए उनमें आङ्गिक रौद्र रस का उपन्यास (वर्णन भी) विरुद्ध नहीं है, अनुचित नहीं है। अन्यथा 'रक्तनयन' आदि से स्वाभाविक रौद्र का ही अभिनय होगा। बहुमुख, बहुबाहु आदि के द्वारा आङ्गिक रौद्र का अभिनय नहीं होगा।

अभिनव—अब प्रश्न यह होता है कि वे राक्षस आदि भी अपने परिजनों के प्रति सदा क्रुद्ध नहीं दिखाई देते हैं, इस आशय से कहते हैं कि कैसे? किस कारण से?

---

१. क. अतस्तादृशेष्वदृष्टेषु।

२. क. सामाजिकानां नान्तदृश्यते।

३. क. अत एव च बहुव्रीहिरत्र कृतः।

न केवलं कायस्तदीय इत्थं यावच्चेष्टितमपि तदीयं दृश्यमानं रौद्रास्वादजनकमेवेति दर्शयति—यच्चेति। स्वभावेति। चित्तस्याविकारेऽपि यच्चेष्टितं वाचिकं कायिकं वा तदेषां ताडनादिप्रधानमिति दृश्यमानं काव्ये प्रयोगे रौद्रास्वादहेतु। वागङ्गे आदिकारणे यस्य। मानसं तु चेष्टितमप्रत्यक्षत्वान्नोक्तम्।

अभिनव—इसका उत्तर देते हैं 'बहुबाहवः' आदि। भाव यह कि उनका आकार लोकप्रसिद्ध मनुष्यादि के आकार से भिन्न होता है और उनमें दूसरों के विनाश की अभिसन्धि से अर्थात् दूसरों के विनाश के लिए किये गये तपश्चर्या आदि अथवा कोई दृष्ट कर्म होता है। अतः इस प्रकार के दृष्ट कर्मों में वही क्रोधात्मक अभिसन्धि प्रतीत होती है। इसलिए सामाजिकों को रौद्र रस का आस्वादन होता है। इसलिए उनमें राग के समान क्रोध के समय जो 'रक्तनयन' आदि लक्षण दिखाई देते हैं वे उनमें सदा विद्यमान रहते हुए उनकी आँखें लाल और चढ़ी हुई पुतलियों वाली होती हैं। इसलिए 'भयङ्कर और काला रूप जिनका सदैव विद्यमान रहता है' इस प्रकार भयङ्कर और काले रूप वाले राक्षस होते हैं यह 'भीमासितरूपिणः' का अर्थ है। 'भीमासितरूपिणः' में नित्ययोग के अर्थ में 'इनि' प्रत्यय है। इसलिए यहाँ पर बहुवचन बहुव्रीहि समास नहीं किया गया है।

विमर्श—यहाँ यह बताया गया है कि राक्षस, दानव आदि स्वभाव से ही रौद्र प्रकृति के होते हैं क्योंकि वे सदा अनेक बाहु और अनेक मुख वाले तथा लाल एवं चढ़ी हुई आखों वाले और भयङ्कर काले रंग के होते हैं। यहाँ पर राक्षसों का 'रक्तोद्वृत्तविलोचनाः' और 'भीमासितरूपिणः' विशेषण दिया गया है। 'रक्तोद्वृत्तविलोचनाः' का अर्थ किया गया है—लाल और चढ़ी हुई आँखें होती हैं जिनकी, वे 'रक्तोद्वृत्तविलोचनाः, राक्षस-दानव आदि हैं। किन्तु 'भीमासितरूपिणः' में बहुव्रीहि समास न होकर कर्मधारय समास (भीमम् असितं च तद्रूपं भीमासितरूपम्) करके मत्त्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय होकर 'भीमासितरूपिणः' रूप बनता है। क्योंकि बहुव्रीहि समास करने पर (भीमम् असितं च रूपं येषां ते भीमासितरूपाः) रूप बनेगा। यहाँ 'भीमासितरूपिणः' प्रयोग किया गया है, जो नित्ययोग में इनि प्रत्यय होने से अधिक अर्थ को द्योतित करता है।

अभिनव—उन राक्षसादि का केवल शरीर ही इस प्रकार का नहीं होता, अपितु दिखाई देने वाली उनकी चेष्टाएँ रौद्र रस का आस्वादन करने वाली होती है, इस बात को 'यच्चेत्यादि' के द्वारा दिखलाते हैं। 'स्वभावेन' पद का अभिप्राय यह है कि चित्त में विकार न होने पर भी जो वाचिक अथवा कायिक चेष्टाएँ है वे सब ताड़नादि प्रधान होती हैं इसलिए काव्य और नाटक में दृश्यमान वे रौद्र रस के आस्वादन का कारण होती हैं। वाणी और अङ्ग आदि कारण हैं जिसके, ऐसी वाचिक और कायिक चेष्टाओं का रौद्ररस प्रधान होना स्वाभाविक है। यहाँ पर प्रत्यक्ष न होने के कारण मानस व्यापार (मानसिक चेष्टा) का कथन नहीं किया गया है।

सर्वमिति यदुक्तं तत्स्फुटयति—शृङ्गारश्चेति । शृङ्गारशब्देनात्र तद्विभावः प्रमदोद्यानादिः । सोऽपि तैः प्रसभमिति क्रूराकारतया सेव्यते । यत्रौग्रयस्य वर्जनमुक्तं किं पुनरन्यदिति चशब्दस्यार्थः । तथा 'आः सीते पतिगर्वविभ्रमभरभ्रान्तभ्रमद्बान्धव०' इत्याद्युदाहरणम् । तथा नानात्वादेव 'गाढाम्रेडं मलयमरुतः शृङ्खलादाम दत्त' (बालरामायण ५-५१) इति रौद्ररसत्वेन । कदाचिदनुनयेनापीति दर्शयति—प्रायश इति ।

ननूद्धतमनुष्येषु तर्हि कथं रौद्रादिविकारः । न हि ते बहुबाहुत्वादियुक्ता इत्याशङ्क्याह—तेषां चेति । राक्षसादीनाम् । अनुकारिण इति । तामसप्रकृतितया तत्सदृशा अनुगामित्वेन मन्तव्या इत्यर्थः । कथमित्याह—सङ्ग्रामसम्प्रहारग्रहणेन पूर्वोक्तं ताडनपाटनादि गृह्यते । तेन बहुबाहुत्वाद्यभावेऽप्युद्धतमनुष्या वागङ्गचेष्टितेन क्रोधोचितेन रौद्रप्रकृतय इति लक्ष्यन्ते । एवं रक्षोदानवेत्यादावयोगव्यवच्छेदो निश्चितः । अन्येऽपि तु वीरप्रधाना अश्वत्थामजामदग्न्यादयः । तेषु कारणमहिम्ना भवत्येव क्रोधो रौद्रास्वादयोग्यः । राक्षसादीनामपि च हासशोकादिः स्वकारणोदितोऽभिभूतक्रोधः । हास्यकरुणादेश्चेह योगो भवत्येव । तेनैषां न रौद्र एव रसः ।

अभिनव 'सर्वम्' यह जो कहा गया है उसको स्पष्ट करते हैं—शृङ्गार रस का सेवन भी वे बलपूर्वक करते हैं । 'शृङ्गार' शब्द से यहाँ उसके विभाव प्रमदा, उद्यान आदि का ग्रहण होता है । उनका भी उपभोग वे जबर्दस्ती क्रूर आकार के द्वारा ही करते हैं । जहाँ पर क्रूरता का निषेध किया गया है वहाँ पर भी वे क्रूरता ही करते हैं तो औरों का क्या कहना है, यह 'च' शब्द का अभिप्राय है । जैसे—'आः सीते? पतिगर्वविभ्रम'०(पति के गर्व के विभ्रम से जिनकी भौंहें घूम रही हैं, ऐसी सीते ?) इत्यादि रौद्र रस का उदाहरण है और नानात्व होने से 'गाढ़ाम्रेडं' (मलयानिल के गाढ़ आम्रेडन के साथ शृङ्खलारूपी माला दे दी) इत्यादि रौद्ररस का उदाहरण है । कभी-कभी अनुनय-विनय से भी शृङ्गार रस का उपभोग करते हैं यह 'प्रायशः' इस पद से दिखाया गया है ।

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि उद्धत मनुष्यों में रौद्र रस का विकार कैसे होता है ? क्योंकि वे तो बहुबाहुत्व आदि से युक्त अर्थात् अनेक बाहु, मुख आदि से युक्त नहीं होते ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि उन राक्षस आदि का अनुकरण करने वाले मनुष्य भी तामस प्रकृति के होने के कारण उनका अनुगामी होने से तत्सदृश ही मानना चाहिए । कैसे ? इस पर कहते हैं—सङ्ग्राम और सम्प्रहार शब्दों के ग्रहण से पूर्वोक्त ताडन, पाटन आदि का ग्रहण होता है । अतः अनेक बाहुत्व आदि के अभाव

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

[1]युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव ।
[2]सङ्ग्रामसम्भ्रमाद्यैरेभिः सञ्जायते रौद्रः[3] ॥ ६५ ॥

ननु सामाजिकानां तथाभूतराक्षसादिदर्शने कथं क्रोधात्मक आस्वादः । उच्यते—हृदयसंवाद आस्वादः । क्रोधे च हृदयसंवादस्तामसप्रकृतीनामेव सामाजिकानामिति दानवादिसदृशास्तन्मयीभूता एवान्यायकारिविषयं क्रोधमास्वादयन्तीति न किञ्चिदवद्यम् ।

विकृतं यच्छेदनं व्यङ्गादिकरणं युद्धादीति परेण क्रियमाणौचित्यम् । तेन युद्धाद्यनुमितस्य परक्रोधादेर्विभावत्वमुक्तम् । सङ्ग्रामाय सम्भ्रमः शस्त्राहरणे त्वरा ॥६५॥

में भी उद्धत मनुष्य क्रोध के योग्य वाचिक और कायिक चेष्टाओं से रौद्र प्रकृति (रौद्र स्वभाव) के लक्षित होते हैं। इस प्रकार राक्षस और दानव आदि में रौद्र रस अयोग-व्यवच्छेद निश्चित होता है। अन्य अर्थात् उन उद्धत मनुष्यों से भिन्न अश्वत्थामा, परशुराम आदि वीरप्रधान है। उनमें भी कारण विशेष से कभी-कभी रौद्र रस के आस्वादन के योग्य क्रोध होता है, किन्तु उनका नित्य सम्बन्ध नहीं होता। राक्षस आदि में भी इसी प्रकार अपने कारणों से उत्पन्न क्रोध को अभिभूत कर देने वाले हास, शोक आदि होते हैं। हास्य और करुण आदि का भी यहाँ (इनमें) योग होता ही है। इसलिए इनमें केवल रौद्र रस ही नहीं रहता।

अभिनव—अब प्रश्न यह होता है कि उस प्रकार राक्षस आदि को देखने पर सामाजिकों को क्रोधात्मक आस्वाद कैसे होता है? कहते हैं कि हृदय-संवाद अर्थात् हृदय का तादात्म्य ही आस्वाद होता है। क्रोध में हृदय-तादात्म्य तामस प्रकृति वाले सामाजिकों में ही होता है। इसलिए दानव आदि के समान तन्मयीभूत होकर अन्याय-कारी अर्थात् अन्याय करने वाले के विषय में क्रोध का आस्वादन करते हैं, अतः यहाँ कोई दोष नहीं है।

अनुवाद—इस विषय में आनुवंशिक (परम्परागत) दो आर्याएँ प्राप्त होती हैं—

अनुवाद—युद्ध, प्रहार, घात, विकार, छेदन, विदारण, सङ्ग्राम में सम्भ्रम (घबराहट) आदि कारणों से रौद्र रस उत्पन्न होता है ॥ ६५ ॥

१. ख. सत्त्वप्रहारघातन । क–म. सत्त्वप्रहारघातौ विच्छेदविदारणैश्चैव ।
२. ख. सङ्ग्रामसम्भ्रमोत्थैः । क–अ. सङ्ग्रामसम्भवार्थैः ।
३. क–त. रौद्ररसो नाम सम्भवति ।

[1]नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
[2]एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ६६ ॥
इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः ।
शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः ॥ ६७ ॥

अनुभावानाह—नानेति । मारणप्राधान्यं नानाप्रहरणेन दर्शयति । शिरःकर्तनादिहृतशरीरस्यापि क्रोधातिशयं सूचयन्वीराद्भेदमाह । युद्धवीरेपि हि तन्नास्ति ।

भरतमुनिस्त्वेकेन श्लोकेनोपसंहरति—इति रौद्ररस इति ।

उग्रकर्मेति । उग्राण्यौग्र्यप्रधानानि यानि शिरःकर्तनादीनि तेषां या क्रिया अभिनीतिः सा आत्मा प्रधानं यस्येति ॥६७॥

इति रौद्ररसप्रकरणं समाप्तम् ।

अभिनव—विकृतच्छेदन का अर्थ है अङ्गहीन करना अर्थात् अङ्गों को विकृत कर देना । 'युद्धादि' पद से दूसरे के द्वारा किये जाने वाले औचित्य का सूचक है । इसलिए युद्धादि में अनुमित दूसरे के क्रोध आदि का विभावत्व सूचित होता है । सङ्ग्राम के लिए सम्भ्रम (घबराहट) अर्थात् शस्त्र ग्रहण में शीघ्रता 'सङ्ग्रामसम्भ्रम' है ॥ ६५ ॥

अनुवाद—अनेक प्रकार के अस्त्रों के प्रहार से तथा शिर, कबन्ध (धड़), और भुजाओं के कर्त्तन (काटने) से इस प्रकार अन्य विशेष कार्यों से रौद्र रस का अभिनय करना चाहिए ॥ ६६ ॥

अभिनव—अब अनुभावों को कहते हैं—नाना इत्यादि । अनेक प्रहरणों से किये गये मारण की प्रधानता दिखाते हैं । युद्ध में मृत शरीर अर्थात् मृतक के शिरःकर्त्तन आदि के द्वारा क्रोधातिशय को सूचित करते हुए वीर रस से क्रोध का भेद बतलाते हैं । क्योंकि युद्धवीर में भी मृतक के शिरःकर्त्तन की क्रियाएँ नहीं होती ॥६६॥

अभिनव—भरतमुनि एक श्लोक के द्वारा उपसंहार करते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार वाचिक एवं कायिक चेष्टाओं से युक्त, शस्त्र प्रहार की बहुलता से परिपूर्ण और उग्र कर्मों की चेष्टाओं से परिपूर्ण रौद्र रस देखा गया है ॥ ६७ ॥

अभिनव—उग्रता प्रधान जो शिरःकर्त्तन आदि कार्यों, का अभिनय (क्रियाएँ) प्रधान रूप से आत्मा है जिसका, इस प्रकार का रौद्र रस होता है ॥ ६७ ॥

इस प्रकार रौद्र रस का प्रकरण समाप्त हुआ ।

१. ख. नानाप्रहरणशङ्कुलशिरः ।
२. ख. एभिश्चार्थविशेषैस्तस्याभिनयः । क-अ. त. एभिस्त्वर्थविशेषैरस्याभिनयः ।

अथ वीररसः

अथ [1]वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः । स चासंमोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

अथ वीररसप्रकरणम्

क्रमप्राप्तं वीरं लक्षयति—अथ वीरेति ।

युद्धवीरे हि संग्रामसम्प्रहारयोगो रौद्रेऽपीति । आनन्तर्यमथशब्देनाह । उत्तमानां प्रकृतिः स्वभावो यत उत्साहोऽतो वीररसोऽपि तथा । यदि वा काव्ये नाट्ये च प्रयुज्यमान उत्तमप्रकृतिर्हेतुर्यस्य । उत्तमवर्णानां हि सर्वत्रोत्साह आस्वाद्यो भवति । अत एव चतुर्ष्वपि नायकेषु [2]धीरत्वमनुयायित्वेन वक्ष्यते धीरोदात्त इत्यादि । तत्र सर्वो जन उत्साहवानेव । किन्त्वविषय इत्यनुपदेश्यचरितता । यदीयं तु चरितमुपदेशार्हं तेषामुचित एवावसरे उत्साहाभिव्यक्तिः । उचितत्वं चावसरस्यासंमोहादिसम्पत्तिरिति सैव विभावत्वेनोपदिष्टा । असंमोहेनाध्यवसायो हि वस्तुतत्त्वनिश्चय इति मन्त्रशक्तिर्दर्शिता । असद्वस्त्वभिनिवेशोऽसंमोहो रावणादिगत उत्साहकारीत्यसत् । अशब्दार्थत्वात् । तत्रापि च पराक्रमनयादिरेव विभावः ।

अथ वीररस प्रकरण

अब क्रम प्राप्त वीररस का लक्षण लिखते हैं—

अनुवाद—उत्तम प्रकृति (स्वभाव) वाला और उत्साह स्थायीभाव वाला वीर रस होता है । और वह असम्मोह, अध्यवसाय नय, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप तथा प्रभाव आदि विभावो से उत्पन्न होता है ।

अभिनव युद्धवीर में सङ्ग्राम और सम्प्रहार का योग होता है और रौद्र में भी युद्ध और सम्प्रहार होता है । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है 'सङ्ग्रामसम्प्रहारकृतो रौद्रो रसोऽनुमन्तव्यः' अर्थात् सङ्ग्राम और प्रहार से रौद्ररस का अनुमान करना चाहिए । इस प्रकार रौद्र रस के समान युद्धवीर में भी सङ्ग्राम और सम्प्रहार आदि होता है । इसलिए रौद्र रस के बाद वीर रस का निरूपण किया गया है । 'अथ' शब्द के द्वारा इसी आनन्तर्य को कहा गया है । क्योंकि उत्तम जनों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव उत्साह है अतः वीर रस भी उसी प्रकार उत्तम प्रकृति है अथवा काव्य और नाट्य में प्रयुज्यमान उत्तम प्रकृति हेतु है जिसका । क्योंकि उत्तम वर्ण के पुरुषों का उत्साह सर्वत्र आस्वाद्य होता है । इसलिए चारों प्रकार के नायकों में धीरत्व को

१. क–त. वीररसो नाम ।

२. क–वीरत्वमनुयायित्वेन ।

सन्ध्यादिगुणानां सम्यक्प्रयोगो नयः। इन्द्रियजयो विनयः। बलं हस्त्यश्वरथपादातम्। पराक्रमः परकीयमण्डलाद्याक्रमेणावस्कन्दः। युद्धादिके सामर्थ्यशक्तिः। प्रताप. शत्रुविषये सन्तापकारिणी प्रसिद्धिः। प्रभावोऽभिजनधनमन्त्रिसम्पत्। आदिग्रहणेन यशःप्रभृति। एते च सम्पूर्णस्वभावा एव विभावा भवन्ति। उत्तमस्य कदाचित्कश्चिदधिक इति पृथक्पृथगुदाहरणम्[1]। वस्तुतो ह्यत्रोदाहरणं सर्वमेव रामादिचरितम्। सचिवायत्तसिद्धौ च वत्सराजप्राये नायके यथायोगं सचिवगता अप्येते मन्तव्याः। प्रतिनायकगता अपि च ते उत्साहव्यञ्जका इति यथायोगं व्यस्तसमस्तभेदकल्पनं कविना कार्यम्।

अनुगत रूप से कहेंगे–'धीरोदात्त धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त इत्यादि। उनमें सभी 'नायक' प्रायः उत्साह से युक्त होते हैं। किन्तु अविषय अर्थात् कवि द्वारा विवक्षित न होने से उसका चरित्र उपदेश्य (वर्णनीय) नहीं होता। जिसका चरित उपदेश (वर्णन) के योग्य होता है उनके उत्साह की अभिव्यक्ति उचित अवसर पर होती है और अवसर का औचित्य असम्मोह (यथार्थज्ञान) आदि की सम्पत्ति है, इसलिए उसे विभाव के रूप में स्वीकार किया गया है। अभिनव 'असम्मोहाध्यवसाय' को एक शब्द मानकर अर्थ करते हैं कि असम्मोह अर्थात् सम्मोह के विना अध्यवसाय अर्थात् वस्तु-तत्त्व का निश्चय। इससे मन्त्रशक्ति (विचारशक्ति) को प्रदर्शित किया गया है। रावण आदि में असत् वस्तु का अभिनिवेश (आग्रह) रूप सम्मोह भी उत्साह का जनक होता है किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वह असम्मोह शब्द का अर्थ नहीं है। वहाँ पर भी पराक्रम और नय आदि विभाव होते हैं।

अभिनव—सन्धि आदि छः गुणों का सम्यक् प्रयोग'नय' है। इन्द्रियों का विजय 'विनय' है। हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सेना आदि 'बल' हैं। शत्रु-मण्डल अर्थात् शत्रुओं की सेना को आक्रमण के द्वारा पराजित कर देना 'पराक्रम' है। 'शक्ति' पद का अर्थ युद्ध आदि का सामर्थ्य है। शत्रु को संतृप्त करने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' है। 'प्रभाव' पद से कुल मर्यादा, धन, मन्त्रिसम्पत् आदि अभिप्रेत है। 'आदि' पद से यश आदि का ग्रहण होता है। ये सब पूर्ण रूप से मिलकर ही विभाव होते हैं। उत्तम पुरुषों में इनमें कोई कभी अधिक होता है इसलिए उसका अलग-अलग उदाहरण है। वस्तुतः इसमें राम का सम्पूर्ण चरित ही उदाहरण है। सचिवायत्तसिद्ध नाटकों में अर्थात् वत्सराज उदयन सदृश सचिवायत्तसिद्ध (जिसमें नायक अपने सचिव पर आश्रित रहता है) नायक वाले नाटक में सचिव में भी ये गुण माने जा सकते हैं। प्रतिनायक में भी रहने पर ये गुण उत्साह के व्यञ्जक होते हैं, इसलिए कवियों को अलग-अलग गुणों वाले अथवा सम्मिलित गुणों वाले चरित्रों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिए।

१. क–भ. पृथक्पृथगुदाहरणमसत्।

तस्य [1]स्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
[2]भावाश्चास्य धृतिमतिगर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चादयः[3] ।
[4]अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—
[5]उत्साहोऽध्यवसायादविषादित्वादविस्मयामोहात्[6] ।
[7]विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम सम्भवति ।। ६८ ।।

स्थैर्यमचलनम् । गाम्भीर्यकृतं संवरणं धैर्यम् । शौर्यं युद्धादिक्रिया । त्यागो दानम् । वैशारद्यं सामाद्युपायचतुष्कस्यैकद्वित्रिचतुरादिभेदैर्यथाविषयं नियोजनम् ।

विविधधर्मादिलक्षणमर्थनीयं विशेषमभिसन्धाय [8]अविषादित्वादविस्मयादमोहाच्च योऽध्यवसायो निश्चयः स चोत्साहयतीत्युत्साहः । यदुक्तं भवति—

अनुवाद—उसका अभिनय स्थिरता, धीरता, शूरता, त्याग, निपुणता आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिये ।

अभिनव—'स्थैर्य' शब्द का अर्थ 'अविचलन' है । गम्भीरता के साथ मनोगत भावों का गोपन 'धैर्य' है । 'शौर्य' पद का अर्थ युद्धादि क्रिया है । 'त्याग' पद का अर्थ 'दान देना' है । साम, दान, दण्ड और भेद आदि उपायों में विषय के अनुसार एक, दो, तीन, अथवा चारों का प्रयोग करना 'वैशारद्य' है ।

अनुवाद—और उसके धृति, मति, गर्व, आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति तथा रोमाञ्च, आदि व्यभिचारी भाव हैं ।

इस विषय में परम्परागत दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—अध्यवसाय, अविषाद, अविस्मय (विस्मय-हीनता) मोहशून्यता एवं नाना प्रकार के अर्थ विशेष से उत्साह रूप वीर रस उत्पन्न होता है ।। ६८ ।।

---

१. ख. स्थैर्यशौर्यधैर्यत्याग० । क–त. न. धैर्यत्यागशौर्यवीर्यवैशारद्यादिभिः ।
२. ख. सञ्चरिभावाश्चास्य । क–त.म. व्यभिचारिणश्च ।
३. ग. रोमाञ्चप्रतिबोधादयः ।
४. क–अत्रार्ये रसविचारमुखे । ङ–अत्रार्ये भवतः ।
५. क. ख. उत्साहाऽध्यवसाय० । असंमोहाध्यवसाय० ।
६. ख. ग. अविस्मयान्मोहात् ।
७. ख. विविधार्थविशेषाद् ।
८. क–भ.म. विषादित्वात् ।

[1]स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥ ६९ ॥

[2]आपत्सङ्गतिनिमग्नतां स्वल्पे सन्तोषं मिथ्याज्ञानं चापास्य यस्तत्त्वनिश्चयः स एवोत्साहहेतुः प्रधानतया। रौद्रे तु तमःप्राधान्यादशास्त्रीयानुचितबन्धाद्यपीति मोहविस्मयप्राधान्यम्।

स्थितिः स्थैर्यम्। वीर्यं शौर्यम्। गर्वपदेन तदनुभावो लक्ष्यते। उत्साहन-मुत्साहोऽबलस्य विषण्णप्रायस्योत्तेजनं यथा सेतुबन्धकाव्ये। पराक्रमः पराक्रमणा। इत्थमत्र भवद्भिरासितव्यं योद्धव्यमिति बलस्य व्यापारणादितिकर्तव्यानां भृत्यानां प्रभावना प्रभावसम्पादनम्। आक्षेपो वस्त्वन्तरस्य सूचनं तेन कृतानि तत्प्रधानानि यानि वाक्यानीति गम्भीरदुरवगाहार्थत्वं वाक्यानामित्युक्तम् ॥६९॥

इति वीररसप्रकरणं समाप्तम्।

अभिनव—विविध धर्मादि रूप पुरुषार्थों में अर्थविशेष (पुरुषार्थ विशेष) का अभिसन्धान करके विषाद, विस्मय और मोह से रहित जो अध्यवसाय रूप निश्चय है वह व्यक्ति को उत्साहित करता है इसलिए वह 'उत्साह' है। इसका यह तात्पर्य है कि आपत्ति में ग्रस्तता, स्वल्प सन्तोष तथा मिथ्याज्ञान को छोड़कर जो तत्त्व का निश्चय होता है वही प्रधानरूप से उत्साह का कारण होता है। रौद्र रस में तमोगुण की प्रधानता के कारण अशास्त्रीय एवं अनुचित बन्धन आदि भी होते हैं, अतः वहाँ मोह और विस्मय की प्रधानता होती है।

अनुवाद—स्थिति, धैर्य, वीर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव और आक्षेप-पूर्ण वाक्यों के द्वारा वीर रस का अभिनय करना चाहिए ॥ ५९ ॥

अभिनव—'स्थिति' का अर्थ 'स्थिरता' है। 'वीर्य' का अर्थ शौर्य है। 'गर्व' पद से उसका अनुभाव लक्षित होता है। 'उत्साह पद का अभिप्राय निर्बल और निराश (विषण्ण) व्यक्ति को उत्साहित करना है। जैसे—सेतुबन्ध महाकाव्य में (सुग्रीव ने हतोत्साह) निराश वानरों को प्रेरित किया था। दूसरे पर आक्रमण करना 'पराक्रम' है। आप लोगों को यहाँ पर इस प्रकार खड़ा होना चाहिए, इस प्रकार युद्ध करना चाहिए, इस प्रकार सेना को युद्धादि कार्य में नियोजित करना और सेवकों को प्रभावित करना प्रभाव-सम्पत्ति है। अन्य वस्तुओं को सूचित करना 'आक्षेप' है। उससे अर्थात् आक्षेप प्रधान जो वाक्य उससे वीर रस का अभिनय होता है। इस प्रकार आक्षेप वाक्यों का अर्थ गम्भीर एवं दुरवगाह होता है, यह सूचित होता है।

इस प्रकार वीर रस का प्रकरण समाप्त हुआ।

१. क–अ. स्थितिशौर्यवीर्यधैर्यैरुत्साह०। क–म. स्मृतिशौर्यवीर्यगर्वैरुत्साह०। ख. स्मृतिधैर्यवीर्यशौर्योत्साह०। २. क–आपद्यङ्ककनिमग्नतां।

अथ भयानक रसः

अथ भयानको नाम भयस्थायिभावात्मकः[1]। स च [2]विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यगमनस्वजनवधबन्धदर्शनश्रवणकथादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

अथ भयानकरसप्रकरणम्

वीरस्य [3]भीताभयप्रधानत्वाद्भयानकं लक्षयति—अथेति।

विकृतो रवोऽट्टहासादिः। सत्त्वानां पिशाचानां दर्शनम्। त्रासोद्वेगौ परगतौ। शून्यागारस्यारण्यस्य च गमनं प्राप्तिः। स्वजनस्य यौ वधबन्धौ तयोर्दर्शनं प्रत्यक्षेण। श्रवणमागमेन। कथादि अतिक्रान्तयोरपि पुनरनुसन्धानेन स्मरणम्।

अथ भयानक-रस प्रकरण

अभिनव—भयभीत पुरुष को अभयदान करने के कारण वीर रस के बाद भयानक रस का लक्षण करते हैं--अथेत्यादि।

अनुवाद—भय स्थायीभाव वाला भयानक रस होता है। और वह विकृत शब्द (अट्टहास आदि), भूत-प्रेतादि का दर्शन, शृगाल (सियार) और उल्लू के भय, उद्वेग, शून्य गृह एवं सूने जंगल में जाना, बन्धुजनों के वध-बन्धन आदि के दर्शन, श्रवण अथवा कथा (चर्चा) आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

अभिनव—'विकृत शब्द' का अर्थ 'अट्टहास आदि है। 'सत्त्वदर्शन' का अर्थ पिशाचों का दिखाई देना है। भय और उद्वेग (घबड़ाहट) भयानक रस के जनक दूसरे में रहते हैं। शून्यगृह और जंगल में पहुँचना, स्वजनों का जो वध और बन्धन उनका प्रत्यक्ष रूप से देखना अथवा आगम प्रमाण के द्वारा श्रवण (सुनना) अथवा चर्चा (कथा) आदि के द्वारा पुरानी घटनाओं के बार-बार अनुसन्धान (चिन्तन) से स्मरण करना आदि कारणों से भयानक रस उत्पन्न होता है।

---

१. क–त.न. भयस्थायिभावप्रभवः।

२. क–अ. विकृतवेषदर्शनशिवोलूक।

क-त. विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकोलकात्रासोद्वेगशून्यागारारण्यश्मशानशून्यभवनगमनमरणस्वजनबधबन्धदर्शनश्रवणकथाभिर्विभावैः समुत्पद्यते।

क–भ. विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगारण्यश्मशानशून्यभवनप्रवेशमरण०।

ख. विकृतरवसत्त्वदर्शनशिवोलूकत्रासोद्वेगशून्यागारारण्यप्रवेशमरण०।

३. क. भीतावयवप्रधानत्वाद्भयानकं लक्ष्यति—

तस्य [1]प्रवेपितकरचरणनयनचपलपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

[2]भावाश्चास्य स्तम्भस्वेदगद्गदरोमाञ्चवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यशङ्कामोहदैन्यावेगचापलजडतात्रासापस्मारमरणादयः ।

[3]अत्रानुवंश्या आर्याः भवन्ति—

विकृतरवसत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकश्च भयानको ज्ञेयः ॥ ७०॥

वेपितं प्रवृत्तं यत्करचरणं [4]तदादिकमैव भयव्यञ्जकं व्याध्याद्विवैलक्षण्यसूचनात् । पुलको रोमकूपोन्नतिः । स्वरस्य भेदः स्वभावविपर्ययः ।

अनुवाद—उसका अभिनय हाथ-पैर के कम्पन, नेत्रों की चपलता, रोमाञ्च, मुख की मलिनता, स्वरभेद आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अनुवाद—भयानक रस के व्यभिचारीभाव स्तम्भ, स्वेद, गद्गद होना, रोमाञ्च, कम्पन, स्वरभेद, विवर्णता, शङ्का, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, जड़ता, त्रास, अपस्मार, मरण आदि हैं ।

अभिनव – 'प्रवेपित' अर्थात् हाँथ-पैर के कम्पन आदि कर्म ही व्याधि आदि से उत्पन्न कम्पन से विलक्षणता (भिन्नता) के कारण भय के व्यञ्जक हैं । 'पुलक' का अर्थ है 'रोमाञ्च' । 'स्वरभेद' का अभिप्राय है स्वभाव में विपर्यय होना ।

इस विषय में आनुवंशिक आर्याएँ प्राप्त हैं—

अनुवाद—विकृत शब्द, पिशाचादि (सत्त्वों) के दर्शन, सङ्ग्राम, जङ्गल तथा सूने घरों में जाना, गुरु और राजा का अपराध करना आदि के अनुकरण से भयानक रस उत्पन्न होता हैं ॥ ७० ॥

१. ख. घ. प्रवेशितकरचरणनयनचलनमुखपुलकमुखवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

२. ख. व्यभिचारिणश्चास्य ।
क–त म. व्यभिचारिणश्चास्य शङ्कादैन्यावेगचापलजड़तात्रासापस्मारमरणादयः । स्तम्भस्वेदरोमाञ्चगद्गदवेपथुस्वरभेदवैवर्ण्यादयः सात्त्विकाश्च । अत्राप्यार्या भवन्ति ।

३. क. अत्रार्याः— । क-त. म. अत्राप्यार्या भवन्ति ।

४. क. आदिकर्मैव ।

[1]गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः ।
[2]सन्नमुखशोषहृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥ ७१ ॥

गुरुनृपयोरिति । अयमाशयः—भयं तावत्स्त्रीनीचबालादिषु वक्ष्यते । नोत्तममध्यमप्रकृतिषु । तेऽपि तु गुरुभ्यो राज्ञश्च भयं दर्शयेयुः । [3]तदभावेऽप्येवं सुतरामुत्तमत्वं भवति । अप्रभुत्वं चामात्यानाम् । यथाह—'स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि' इति । (रत्ना. १.७) । अनुभावाश्च तथा श्लिष्टास्तत्र क्रियन्ते लोके येन सत्यत एव भीतोऽयमिति गुर्वादीनां प्रतीतिर्भवति । अस्वाभाविकत्वाच्च कृतकत्वं बहुतरकालानुवर्तनेनास्वाद्यत्वाच्च रसत्वम् । न च व्यभिचारित्वम् । तद्धि तदा स्याद्यदि स्वभावत एव [4]न किञ्चित्काललवमुत्पद्यते ॥ ७० ॥

अभिनव—गुरु और राजा के प्रति किये गये अपराध से भय होता है इसका अभिप्राय यह है कि भय तो स्त्री, बालक, नीच, आदि में स्वतः होता है, यह आगे कहेंगे । उत्तम और मध्यम प्रकृति के लोगों में यह स्वाभाविक भय नहीं होता, किन्तु उन्हें भी राजा और गुरुजनों का भय दिखलाना चाहिए । उस भय के अर्थात् राजा और गुरुजनों का भय होने पर भी उत्तमता रहती है और मन्त्रियों का अप्रभुत्व सूचित होता है । जैसा कि रत्नावली (१।७) में कहा है—'स्वेच्छाचारी होते हुए भी मैं (राजा से) डरता हूँ' । वहाँ लोक में अनुभाव (कार्य) इस प्रकार सुश्लिष्ट सुसंगत रूप से किये जाते हैं जिससे 'यह सचमुच डर रहा है' इस प्रकार की प्रतीति गुरु आदि की होती है । अस्वाभाविक होने से वह 'कृतक' होता है और बहुत समय तक भाव के रूप में स्थित रहने से आस्वाद के योग्य होने के कारण उसे 'रस' कहा जाता है । वह (भय) व्यभिचारीभाव नहीं है । वह व्यभिचारीभाव तभी हो सकता है यदि वह स्वभावतः कुछ ही देर तक स्थिर रहे । किन्तु भय चिरकाल तक स्थिर रहता है । अतः वह व्यभिचारीभाव नहीं हो सकता ॥ ७० ॥

अनुवाद—**शरीर के अवयव मुख और दृष्टि के परिवर्तन से, जङ्घाओं के जड़ होने से, चारों ओर देखने से, उद्वेग (घबड़ाहट) से, सन्नता (शिथिलता) मुख के सूखने से, हृदय के धड़कन और रोमाञ्च के द्वारा 'भय' का अभिनय होता है ॥ ७१ ॥**

१. क-न. गात्रमुखदृष्टिकम्पैरूरुस्तम्भादिवीक्षणोद्वेगैः ।
२. क-अ. सन्नमुखशोषहृदये ।
३. क. तद्भावेऽप्येवं ।
४. क. (न) किञ्चित्काललवमुत्पद्यते (न) ।

एतत्स्वभावजं स्यात्सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम् ।
पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ॥ ७२ ॥

गात्रादीनां भेदो वर्णकर्मसंस्थानादिविपर्ययः । [1]वीक्ष्यमतिक्राम्यति वीक्षणं[2] कान्दिशीकत्वेन निर्लक्षत्रक्षुःकृतम् । उद्वेगः चलनम् । सादो गात्राणां स्रस्तता । मुखस्य तालुनि शोषः । हृदयस्पन्दनमतिवेगेन । इह भयमित्यभिनेयमिति वीररस इत्यार्यातः सम्बध्यते ।

ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः । मुनिना तु सुखसङ्ग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः ।

सत्त्वसमुत्थमिति । सत्त्वं मनस्समाधानं तज्जन्मकमिति नटस्येयं शिक्षा । सा च सर्वविषयेति टीकाकारः । तदिदमसत् । कविनटशिक्षामेव सर्वमिदं प्रकरणम् । लोके विभावानुभावाभिनयादिव्यवहाराभावात् ।

अभिनव—शरीर के अवयव मुख और दृष्टि का भेद अर्थात् रङ्ग (वर्ण), कार्य, और स्थिति आदि का परिवर्त्तन होना 'गात्रमुखदृष्टिभेदैः' का अर्थ है । 'अभिवीक्षण' का अभिप्राय है दर्शनीय वस्तु को छोड़कर भय से इधर-उधर देखना । 'उद्वेग' का अर्थ है चंचलता, विचलित होना । शरीर की शिथिलता 'सन्नता' है । तालु का सूख जाना 'मुख-शोष' है । अत्यन्त वेग से हृदय का धड़कना 'हृदय-स्पन्दन' है । यहाँ 'भयम्' पद का सम्बन्ध वीर रस की आर्या में पठित 'अभिनेयम्' पद से है अर्थात् भयमभिनेयम्' भय का अभिनय करना चाहिए ।।७१।।

अभिनव—ये सब आर्याएँ पूर्वाचार्यों ने लक्षण के रूप में भयानक रस के साथ वीर रस के लक्षण लिखते समय एक साथ पढ़ी थीं । भरतमुनि ने सुख से ग्रहण करने के लिए यथोचित स्थान पर उन्हें उनका समावेश कर दिया है ।

अनुवाद यह स्वाभाविक भय का प्रकार है । इसी प्रकार हिंसक प्राणियों के देखने से उत्पन्न भय का अभिनय करना चाहिए । इसी प्रकार इन्हीं भावों और मृदु चेष्टाओं के द्वारा कृत्रिम भय का अभिनय करना चाहिए ॥ ७२ ॥

अभिनव—'सत्त्वसमुत्थ' पद में सत्त्व का अर्थ मन की एकाग्रता है और 'समुत्थ' का अर्थ है उत्पन्न होना । इस प्रकार सत्त्व से उत्पन्न होने वाला भय सत्त्व-समुत्थ भय अथवा कृत्रिम भय होता है । भाव यह कि मन के समाधान से उत्पन्न भय का अभिनय भी करना चाहिए, यह नट के लिए शिक्षा है । और वह शिक्षा केवल

१. क. वीक्ष्यमभिक्राम्यति ।
२. क–भ.म. वीक्षणकादर्शकनिर्मलचक्षुःकृताः ।

तस्मादयमत्रार्थः—एतत्तावद्भयं स्वभावजं रजस्तमःप्रकृतीनां नीचानामित्यर्थः। येऽपि च सत्त्वप्रधानास्तेषां सत्त्वसमुत्थं प्रयत्नकृतमेभिरेवानुभावैः कार्यम्। किन्तु मृदुचेष्टितैः यतस्तत्कृतकम्। पुनः शब्दो विशेषद्योतकः।

ननु च राजादि किमिति गुर्वादिभ्यो भयं कृतकं दर्शयित्वा किमिति मृदून् गात्रकम्पनादीन्प्रदर्शयति। किमिति च भयानक एव कृतकत्वमुक्तम्। सर्वस्य हि कृतकत्वमुक्तं भवति। यथा वेश्या धनार्थिनीति कृतकां रतिमादर्शयति-इत्याशङ्क्य साधारणमुत्तरमाह—तथैव कार्यमिति। भये हि प्रदर्शिते गुरुर्विनीतं जानाति। मृदुचेष्टितया [1]चाधमप्रकृतिमेनं न गणयति। कृतकशृङ्गारा (रात्) वेश्योपदिष्टानां न काचित्पुरुषार्थसिद्धिः। तेनैव ह्युक्तेन प्रकारेण कार्यपुरुषार्थविशेषो लभ्यते। यत्र तु राजा न कृतकं परानुग्रहाय क्रोधविस्मयादीन्दर्शयति—तत्र व्यभिचारितैव तेषां न स्थायितेत्येतदर्थसूचिकामेव गुरुवंशान्तरप्रसिद्धामार्या पठति—करचरणेति।

नट के लिए ही नहीं, अपितु सबके लिए है, यह शङ्कुक आदि टीकाकारों का मत है। किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि यह सब प्रकरण कवि और नट की शिक्षा के लिए है। लोक में विभाव, अनुभाव, अभिनय आदि शब्दों का व्यवहार नहीं होता है।

अभिनव—इसलिए इसका यहाँ यह अभिप्राय है कि यह स्वाभाविक भय तो रजोगुण एवं तमोगुण स्वभाव वाले नीच व्यक्तियों में होता है और जो सात्त्विक प्रकृति के हैं उनमें स्वसमुत्थ अर्थात् कृत्रिम भय होता है उनका अभिनय भी इन्हीं अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। किन्तु मृदु चेष्टाओं द्वारा करना चाहिए, क्योंकि वह कृत्रिम भय हैं। यहाँ पर 'पुनः' पद का ग्रहण विशेष (भिन्नता) का द्योतक है।

अभिनव—अब प्रश्न यह उठता है कि राजा तथा गुरु आदि से कृत्रिम भय को रङ्गमञ्च पर क्यों दिखाते हैं? और फिर उसका प्रदर्शन करके मृदुगात्र-कम्पन आदि चेष्टाओं को क्यों प्रदर्शित करते हैं? भयानक रस को ही क्यों कृत्रिम कहा गया है? क्योंकि इस प्रकार सभी रस कृत्रिम हो सकते हैं? जैसे धन चाहने वाली वेश्या कृत्रिम प्रेम का प्रदर्शन करती है, इस प्रकार आशङ्का करके सबका एक साधारण उत्तर देते हैं—उसी प्रकार कृत्रिम भय का भी अभिनय करना चाहिए। क्योंकि भय प्रदर्शित करने पर गुरु विनीत समझता है। और इस भय को मृदु चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शित किये जाने से उसे अधम प्रकृति का नहीं समझा जाता। कृत्रिम शृङ्गार से वेश्या विषयक

१. क—चाधमप्रकृतिमेनं गणयति।

[1]करचरणवेपथुस्तम्भगात्रहृदयप्रकम्पेन ।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥ ७३ ॥

अथ बीभत्सरसः

अथ वीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मकः । स [2]चाहृद्याप्रियाचोष्यानिष्टश्रवणदर्शनकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

नित्यमिति । कृतकत्वेऽकृतकत्वे च ।।७३।।

इति भयानकरसप्रकरणम् ॥

अथ बीभत्सरसप्रकरणम्

अथ अवसरप्राप्तं बीभत्सरसं लक्षयति—अथेति ।

प्रेम में किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती । इसीलिए उक्त प्रकार से पुरुषार्थ विशेष की प्राप्ति होती है । जहाँ पर राजा दूसरे पर अनुग्रह के लिए कृत्रिम क्रोध विस्मय आदि का प्रदर्शन करता है वहाँ चिर स्थायी न होने के कारण वे सञ्चारीभाव कहे जाते हैं, स्थायीभाव नहीं । इसी अर्थ को सूचित करने वाले गुरु वंश परम्परा से प्राप्त आर्या को मुनि पढ़ते हैं—करचरण इत्यादि ।

अभिनव—'नित्यम्' पद से कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों प्रकार के भय का अभिनय करना चाहिए, यह सूचित होता ।।७३।।

अनुवाद—हाथ-पैर के कम्पन, शरीर के स्तम्भन, हृदय के धड़कन, होठ, तालु और कण्ठों के सूखने से भयानक रस का अभिनय करना चाहिए ॥ ७३ ॥

इस प्रकार भयानक रस का प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ वीभत्स रस प्रकरण

अब अवसर प्राप्त वीभत्स रस का लक्षण बताते हैं—

अनुवाद—जुगुप्सा स्थायीभावात्मक वीभत्स रस होता है। और वह अहृद्य (अग्राह्य), अप्रिय, अचोष्य एवं अनिष्ट वस्तु के दर्शन, श्रवण एवं परिकीर्त्तन, उद्वेजन आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

---

१. ग. घ. करचरणवेपथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयकम्पेन ।
क–त.म. करचरणवेपनकृतंगात्रस्तम्भंश्च हृदयकम्पेन ।
क–न. वेपनेन स्तम्भेन च गात्रहृदयकम्पेन ।

२ ग. सचाहृद्याप्रशस्ताप्रियावेक्षानिष्टश्रवणदर्शनोद्वेजनया ।
घ. स चाहृद्याप्रियाचोक्षानिष्टश्रवण० ।
ख. स चाहृद्याप्रियावेक्षानिष्टश्रवण० ।

तस्य [1]सर्वाङ्गसंहारमुखविकूणनोल्लेखननिष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

[2]भावाश्चास्यापस्मारोद्वेगावेगमोहव्याधिमरणादयः ।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

[3]अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च ।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्वीभत्सरसः समुद्भवति ।। ७४ ।।

हृदयस्यापि किञ्चित्कस्यचिन्निसर्गतोऽप्रियं[4] लशुनमिव द्विजानाम् । अप्रियं जात्यादिदोषात् । यथा श्लेष्मोपहतस्य क्षीरम् । अचोक्षं स्वरूपेणादुष्टमपि तु मलाद्युपहतम् । अनिष्टं यत्रानिशं भुक्तत्वेनेच्छा निवृत्ता ।

संहारः पिण्डीकरणम् । मुखस्येति तदङ्गानां सङ्कोचनम् । उल्लेखनमुल्लाघः । निष्ठीवनं कफनिरासनम् । उद्वेजनं गात्रोद्धूननम् ।

अनुवाद—उसका अभिनय सब अङ्गों के संहार (सङ्कोचन), मुख विकूणन (मुख को टेढ़ा करना), उल्लेखन, निष्ठीवन (थूकना), उद्वेजन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ।

अनुवाद—उस वीभत्स रस के व्यभिचारीभाव अपस्मार, उद्वेग, आवेग, मोह, व्याधि, मरण आदि हैं ।

अभिनव—हृद्य होने पर भी कोई वस्तु दूसरे के लिए स्वभाव से अप्रिय होती है । जैसे ब्राह्मण के लिए लहसुन । धातु आदि के दोष से कुछ वस्तुएँ अप्रिय लगती हैं । जैसे—श्लेष्मा (कफ) के रोगी को दूध अप्रिय है । 'अचोष्य' का अर्थ है स्वरूप से दूषित न होने पर भी मल आदि से युक्त वस्तु । 'अनिष्ट' पद का अर्थ है निरन्तर भोग करते रहने से इच्छा (भोगेच्छा) की निवृत्ति ।

अभिनव—'संहार का अर्थ है एकत्र करना या सिकोड़ना । मुख का अर्थात् उसके अवयवों का सङ्कोचन अर्थात् नाक, आँख, भौंह आदि का सिकोड़ना । उल्लेखन का अर्थ है वमन करना । 'निष्ठीवन' का अर्थ है कफ को गिराना (थूकना) । 'उद्वेजन' का अर्थ शरीर का हिलाना है ।

अनुवाद—इस विषय में वंश परम्परा से प्राप्त दो आर्याएँ हैं—

---

१. ख. सर्वाङ्गहारमुखनेत्रविघूर्णनं हृल्लेखनिष्ठीवनोद्वेजनादिभिः ।
क-म. सर्वाङ्गसंप्रहारमुखनेत्रविकूणनोल्लेखननिष्ठीवनोद्वेजनादिभिः ।

२. ख. व्यभिचारिभावाश्चास्यापस्मारवेगमोहव्याधिमरणादयः ।

३. ख. अनभिहितदर्शनेन रसगन्धस्पर्शशब्ददोषैश्च । ४. क. निसर्गतोऽप्रयतं ।

[1]मुखनेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः[2] सम्यगभिनेयः ॥ ७५ ॥

अथाद्भुतरसः

अथाद्भुतो नाम विस्मयस्थायिभावात्मकः । स च [3]दिव्यजनदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युपवनदेवकुलादिगमनसभाविमानमायेन्द्रजालसम्भावनादिभि र्विभावैरुत्पद्यते ।

नासाप्रच्छादनं दुर्गन्धप्राये दृष्टम् । प्रतिघातादव्यक्तानि पादयोः पातनानि । यदि वाऽस्थिकङ्कालाद्याकुले पितृवने सञ्चरतोऽस्फुटितानि पादपतनानि क्वचिद्दीर्घाणि अन्यत्र ह्रस्वानि इति ॥७५॥

इति बीभत्सरसप्रकरणम् ॥

अथाद्भुतरसप्रकरणम्

सर्वत्रान्तेऽद्भुत इत्युक्तं लक्षयितुमाह—अथेति ।

अनुवाद—अनभिमत (अनभीष्ट, अप्रिय) वस्तु के देखने से, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द के दोषों से और अनेक प्रकार के उद्वेगजनक पदार्थों से बीभत्स रस उत्पन्न होता है ॥ ७४ ॥

अनुवाद—मुख और नेत्रों के टेढ़ा करने से, नाक के प्रच्छादन मुख के लटकाने, लड़खड़ाते हुए पैरों के गिरने आदि के द्वारा बीभत्स रस का अभिनय करना चाहिए ॥ ७५ ॥

अभिनव—नाक का दबाना प्रायः दुर्गन्ध युक्त स्थल में देखा जाता है । परस्पर टकराने पर या ठोकर लगने पर पैरों का अस्फुरित रूप में पड़ना अथवा हड्डी और कङ्काल से भरे हुए श्मशान में घूमते हुए अस्फुरित रूप में पैरों का पड़ना अर्थात् कहीं लम्बे कहीं छोटे कदमों (डगों) को रखना 'अव्यक्तपादपातन' शब्द का अभिप्राय है ॥ ७५ ॥

इस प्रकार बीभत्स रस का प्रकरण समाप्त हुआ ।

---

१. ख. मुखनेत्रविघूर्णननयननासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।

२. ख. अव्यक्तपादपतनैः सम्यगभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
क-म. अव्यक्तपादपतनैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

३. ख.घ. दिव्यदर्शनेप्सितमनोरथावाप्त्युत्तमवनदेवकुलाभिगमनासंभाव्यमानमाहेन्द्रजालसाधनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

तस्य [1]नयनविस्तारानिमेषप्रेक्षणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवाददानप्रबन्धहाहाकारबाहुवदनचेलाङ्गुलिभ्रमणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

दिव्या गन्धर्वादयः । ईप्सितः शक्यप्राप्तिरर्थः । अन्यो मनोरथः । तयोः प्राप्तिरुपचयनम् । देवकुले च गमनम् । तस्याद्भुतविभावो येन तत्रत्यं सरसनिवेशादि न क्वचित् दृष्टम् । सभा गृहविशेषः । विमानादीनि दिव्यरथः । माया रूपपरिवर्तनाधिका । इन्द्रजालं मन्त्रद्रव्यवस्तुयुक्त्यादिना असम्भवद्वस्तुप्रदर्शनम् ।

अथ अद्भुत रस प्रकरण

सर्वत्र (सब नाटकों) के अन्त में अद्भुत रस होता है, ऐसा कहा गया है। अब उसका लक्षण करते हैं—

अनुवाद—विस्मय स्थायीभाव वाला अद्भुत रस होता है और वह अद्भुत रस दिव्यजनों के दर्शन से, अभीष्ट मनोरथ की प्राप्ति से (मनोऽभिलषित वस्तु की प्राप्ति से), उपवन तथा देवमन्दिर आदि में गमन से, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल आदि की सम्भावना आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

अभिनव—यहाँ 'दिव्य' पद से गान्धर्व आदि का ग्रहण है। 'ईप्सित' पद का अर्थ है जिसकी प्राप्ति सम्भव हो और उससे भिन्न अर्थात् जिसकी प्राप्ति सम्भव न हो वह अर्थ 'मनोरथ' है। उन दोनों की प्राप्ति उपचयन है। देवकुल अर्थात् मन्दिर में जाना उसके लिए विभाव है जिसने वहाँ के सुन्दर भवन आदि कभी नहीं देखा है। 'सभा' का अर्थ 'गृहविशेष' है। विमान आदि दिव्यरथ है। रूप-परिवर्त्तन आदि 'माया' है। मन्त्र, द्रव्य और वस्तु की युक्ति से आदि से असम्भव वस्तु का प्रदर्शन 'इन्द्रजाल' है।

अनुवाद—नयन-विस्तार (आँखें फाड़कर देखना) निर्निमेष दृष्टि से देखना, रोमाञ्च, आँसू, स्वेद (पसीना), हर्ष (प्रसन्नता), साधुवाद, दान देना, निरन्तर हाहाकार करना, भुजा, मुख, वस्त्र, अँगुली आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

---

१. ख. नयनविस्तारानिमिषप्रेक्षणरोमाञ्चाश्रुस्वेदहर्षसाधुवादप्रदानबन्धहाहाकारकरणाङ्गुलिभ्रमणादिभिः ।

[1]भावाश्चास्य स्तम्भाश्रुस्वेदगद्गदरोमाञ्चावेगसम्भ्रमजडताप्रलयादयः[2] ।

अत्रानुवंश्ये आर्ये भवतः—

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्मरूपं वा ।
[3]तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥ ७६ ॥

तस्येत्यद्भुतस्य । हर्षशब्देनात्र तदनुभावाः । साध्विति वदनं साधुवादः । दानं धनादेः प्रबन्धं सततं कृत्वा । हाहाशब्दस्य करणम् । चेलस्याङ्गुलेश्च भ्रमणम् ।

अनुवाद अद्भुत रस के व्यभिचारीभाव स्तम्भ, अश्रु, स्वेद, गद्गद होना, रोमाञ्च, आवेग, सम्भ्रम (घबराहट), जड़ता, प्रलय आदि हैं । पाठभेद के अनुसार स्तम्भ, अश्रु, स्वेद, गद्गद, रोमाञ्च, आवेग, सम्भ्रम, प्रहर्ष, चपलता, धृति, जड़ता, प्रलय (मूर्च्छा) आदि अद्भुत रस के व्यभिचारी भाव हैं ।

अभिनव— 'तस्य' पद का अर्थ है उसका अर्थात् अद्भुत रस का । हर्ष शब्द से यहाँ उसके अर्थात् अद्भुत रस के अनुभावों का ग्रहण होता है । 'साधु' इस प्रकार कहना 'साधुवाद' है । 'दान' पद का अभिप्राय है सतत धन आदि का दान करना । 'हा हा' शब्द का कथन 'हाहाकार' है । 'चेलाङ्गुलि' पद का अभिप्राय है वस्त्र और अंगुली का घुमाना अथवा अङ्गुली पर वस्त्र लपेटना ।

इस विषय में वंश परम्परागत दो आर्याएँ प्राप्त हैं—

अनुवाद—जो वाक्य, शिल्प अथवा कर्म (कार्य) अतिशय अर्थ (विशिष्टता) से युक्त हो, अद्भुत रस में उन सबको विभाव के रूप में समझना चाहिए ॥ ७६ ॥

---

१. ख. व्यभिचारिभावाश्चास्य ।
२. क–म. जडतामोहमरणादयः ।
३. ख.घ. एभिस्त्वथ विशेषै रसोऽद्भुतो नाम विज्ञेयः ।
क (टि.) तत्सम्बद्धैः सर्वै रसोऽद्भुतो नाम विज्ञेयः ।

[1]स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गद्वचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ ७७ ॥

अतिशेत इत्यतिशयः । अन्यापेक्षया योऽर्थ उत्कृष्टः । तेन वाच्यभूतेन युक्तं यद्वाक्यं यच्च शिल्पं कर्मरूपं कर्मात्मकं 'प्रशंसायां रूपप्' । सर्वमित्येवं-प्रकारमिति यावत् । स्पर्शग्रहशब्देन तद्विभावादयः । अभिनयो वक्ष्यमाणो[2] लक्ष्यते ।

'किञ्चिदाकुञ्चिते नेत्रे कृत्वा भ्रूक्षेपमेव च ।
तथांसगण्डयोः स्पर्शात्स्पर्शमेवं विनिक्षिपेत् ॥'
(ना. शा. २२.७७) इति ।

गात्रस्योर्ध्वं साह्लादं धूननमुल्लुकसनम् । बहुवचनं प्रकृतिभेदेन प्रकारवैचित्र्यं सूचयति ॥ ७७ ॥

इत्यद्भुतरसप्रकरणं समाप्तम् ।

अनुवाद—स्पर्श, ग्रहण, उछल-कूद के द्वारा हाहाकार और साधुवाद के कथन के द्वारा, कम्पन और गद्गद वचनों के द्वारा स्वेद आदि के प्रदर्शन के द्वारा अद्भुत रस का अभिनय करना चाहिए ॥ ७७ ॥

अभिनव—जो अन्यों का अतिक्रमण करे वह 'अतिशय' है अर्थात् दूसरों की अपेक्षा जो अर्थ उत्कृष्ट हो उस वाच्यभूत अर्थ से युक्त जो वाक्य, जो शिल्प और जो कर्म रूप अर्थात् प्रशंसनीय या उत्तम कार्य है। 'कर्मरूपं' में प्रशंसा अर्थ में 'रूपप्' प्रत्यय है। 'सर्वम्' का अभिप्राय है इस प्रकार का सब। 'स्पर्शग्रह' शब्द से उसके विभाव आदि का ग्रहण होता है। अभिनय का लक्षण आगे कहा जायगा।

"नेत्र को थोड़ा आकुञ्चित करके (सिकोड़कर) और भौंहों को ऊपर चढ़ाकर (भ्रूक्षेप करके) तथा स्कन्धों को कपोल से घुमाते हुए 'स्पर्श' का अभिनय करे।"
(ना. शा. २२।७७)

शरीर को प्रसन्नतापूर्वक ऊपर उछालना 'उल्लुकसन' कहलाता है। यहाँ पर बहुवचन का प्रयोग प्रकृतिभेद से प्रकार वैचित्र्य को सूचित करता है ॥७७॥

इस प्रकार अद्भुत रस का प्रकरण समाप्त हुआ।

१. ख. स्पर्शग्रहोत्कहसनैर्हाहाकारैश्च । क–ब. स्पर्शग्रहणैरुल्वकशनैर्हाहाकारैश्च । क–म. स्पर्शग्रहोग्रहसनैर्हाहाकारैश्च ।
२. क–लक्ष्यमाणो लक्ष्यते ।

अथ रसभेदाः

शृङ्गारं त्रिविधं [1]विद्याद्वाङ्नैपथ्यक्रियात्मकम् ।
अङ्गनैपथ्यवाक्यैश्च हास्यरौद्रौ त्रिधा[2] स्मृतौ ॥ ७८ ॥
[3]धर्मोपघातजश्चैव [4]तथार्थापचयोद्भवः ।
तथा [5]शोककृतश्चैव करुणस्त्रिविधः स्मृतः ॥ ७९ ॥

अथ रसभेदाः

अथ प्रधानभूतविभावप्रतिपादनं भेदप्रदर्शनव्याजेन करोति—शृङ्गारमित्यादिना ।

वाक्यरौद्रो हि तत्र स्वभावरौद्र इति व्यवहरिष्यते । स्वभावानुसारित्वाद्वाक्यस्य ॥ ७८ ॥

धर्मोपघातज उत्तमानामपि शोभनहेतुत्वात् । शोकशब्देन स्वजनादिनाशश्च । एते त्रयो विभावाः । धर्मशब्देनाग्निष्टोमादिक्रिया । अत [6]एतद्यजनादि नियमानुभावात्मकम् । प्रतिनायकगतं तु विभावरूपमपि ॥७९॥

अथ रसभेद निरुपण

अभिनव—इसके बाद रसों के भेद प्रदर्शन के व्याज से प्रधानभूत विभावों के अनुरूप भावों का प्रतिपादन करते हैं—

अनुवाद—शृङ्गार रस तीन प्रकार का होता है—वागात्मक, नेपथ्यात्मक और क्रियात्मक। इसी प्रकार हास्य और रौद्र रस भी अङ्ग, नेपथ्य (वेष-भूषा) और वाक्य प्रयोग के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। ७८ ॥

अभिनव—उनमें वाक्यरौद्र का स्वभाव रौद्र के नाम से व्यवहार होता है। क्योंकि वाक्य का प्रयोग तो स्वभाव के अनुसार होता है ॥ ७८ ॥

अनुवाद—धर्मोपघातजन्य, वित्तनाशजन्य (अर्थापचयोद्भव) तथा शोकजन्य भेद से करुण रस तीन प्रकार का होता है ॥ ७९ ॥

अभिनव—धर्मोपघातज अर्थात् धर्म की हानि से उत्पन्न शोक उत्तम पुरुषों में होता है। धर्म की हानि तो उत्तम नहीं होती, किन्तु उसका मूलरूप धर्म की रक्षा है अतः उसे 'शोभन हेतु' कहा गया है। 'शोक' शब्द से स्वजनों का नाश कहा गया है क्योंकि स्वजनों के विनाश से शोक होता है। ये तीनों विभाव है। 'धर्म' शब्द से अग्निष्टोम आदि क्रियाओं का ग्रहण होता है। इसलिए यजन आदि नियमतः अनुभाव रूप होते हैं और प्रतिनायक में तो ये विभावरूप हैं ॥ ७९ ॥

---

१. क–म. विद्यादभ्र्नेपथ्यक्रियात्मकम् ।
२. क. (टि.) तथा स्मृतौ ।
३. क–म. धर्मोपघातकश्चैव ।
४. ख. तथा त्वपचयोद्भवः ।
५. क–म. तथा योगकृतश्चैव ।
६. क. एतद्यजनादीनि नियमानुभावकम् ।

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं [1]तथैव च ।
[2]रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥ ८० ॥
व्याजाच्चैवापराधाच्च वित्रासितकमेव च ।
पुनर्भयानकश्चैव[3] विद्यात् त्रिविधमेव हि ॥ ८१ ॥

व्याजादिति ! कृतक इत्यर्थः । अनेनानुभावमार्दवं दर्शितम् । अपराध्यन्तीत्यपराद्धाश्चोरादयः । यत्तु स्वभावत्रस्तहृदयानां स्त्रीबालादीनां तृणेऽपि कम्पमाने भयं तद्वित्रासितकम् । विशेषेण त्रास्यत इति वित्रासितो बालादिः । तत्प्रकृतित्वाद्भयानकं तथोक्तम् । ततः संज्ञायां कन् ।

गुर्वाद्यपराधात्परमार्थतोऽप्युत्तमानां भयावेग[4] इति त्वसत् । भयं हि विनाशशङ्कात्मकं नोत्तमेषु संभवति । तथा च भयं नाम स्त्रीनीचप्रकृतिकमिति [5]सामान्येन वक्ष्यते ॥८१॥

अनुवाद—ब्रह्मा ने दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर भेद से वीर रस के तीन प्रकार बताये हैं ॥ ८० ॥

अनुवाद—व्याज से, अपराध करने वाले से और त्रास भेद से तीन प्रकार के भयानक रस समझने चाहिए अर्थात् भयानक रस तीन प्रकार का होता है—(१) कृत्रिम (व्याज से) (२) अपराधजन्य तथा (३) त्रासज ॥ ८१ ॥

अभिनव—व्याज से उत्पन्न भय कृत्रिम होता है। इससे अनुभावों की मृदुता दिखाई गयी है। 'अपराध' शब्द से अपराध करने वाले चोर आदि अभिप्रेत है। स्वभाव से ही डरपोक हृदय स्त्री, बालक आदि में तिनके के हिलने से भी जो भय होता है वह 'वित्रासितक' भय होता है। विशेष रूप से जो डराते हैं वे बालक आदि 'वित्रासित हैं। उनमें रहने वाला भय भी 'वित्रासित' है। यहाँ 'संज्ञाया कन्' सूत्र से संज्ञा में 'कन्' प्रत्यय होकर 'वित्रासितक' शब्द बना है।

अभिनव—जो प्राचीन व्याख्याकार यह कहते हैं कि गुरुजन आदि के प्रति अपराध करने पर उत्तम प्रकृति के लोगों में भी वास्तविक भय पाया जाता है उनका यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि भय का अर्थ विनाश की आशङ्का है और यह आशङ्का उत्तम प्रकृति में सम्भव नहीं है। जैसा कि—स्त्री, बालक तथा नीच प्रकृति के लोगों में वास्तविक भय होता है, यह सामान्य रूप से कहा जायगा ॥ ८१ ॥

१. क–व. युद्धवीरमतस्त्रिधा ।
२. घ. रसवीरमपि प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधमेव हि । ख. रसवीरमपि प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधसम्मतम् । क-म. वीरमपि प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधमेव हि ।
३. ख. पुनर्भयानकं चापि । ४. क–भ. भयावह इति । ५. क. सामान्येन लक्ष्यते ।

बीभत्सः क्षोभजः[१] शुद्ध उद्वेगी स्यात् द्वितीयकः[२] ।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो[३] रुधिरादिजः ॥ ८२ ॥

रुधिरान्त्रादिदर्शनाद्यो बीभत्सः क्षोभणत्वाच्छुद्धः । यस्तु विष्ठादिभ्यः स उद्वेगी हृदयं चालयति सोऽशुद्धः । अशुद्धविभावकत्वात् ।

उपाध्यायस्त्वाह—बीभत्सस्ताव द्विभावविशेषात्[४] । यत्र तु संसारनाट्यनायकरागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधनत्वाच्छुद्धः । यदाहुः—'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा' इति । तथा 'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।' (योगसू. २.४०.३३) इति । तेन सोऽपि परमार्थतस्त्रिविध एव । द्वितीयक इत्यनेन तस्य दुर्लभत्वेनाप्राचुर्यं सूचयति ॥८२॥

अनुवाद—बीभत्स रस क्षोभज (क्षोभण) अर्थात् शुद्ध और उद्वेजक (अशुद्ध) भेद से दो प्रकार का होता है । उनमें उद्वेजक (अशुद्ध) बीभत्स विष्ठा (मैला), कृमि आदि घृणित वस्तुओं को देखकर उत्पन्न होता है और क्षोभण (क्षोभज) रुधिर आदि के देखने से उत्पन्न होता है ॥ ८२ ॥

अभिनव—रुधिर (खून), आँत (अंतड़ी) आदि के देखने जो बीभत्स रस उत्पन्न होता है वह क्षोभण (क्षुब्ध) करने के कारण शुद्ध कहलाता है । और जो विष्ठा आदि के देखने से हृदय को विचलित कर देता है वह अपवित्र (अशुद्ध) विभावों से उत्पन्न होने के कारण 'अशुद्ध' कहलाता है ।

अभिनव--अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत तो कहते हैं कि--बीभत्स रस तो भाव विशेष के कारण जहाँ पर संसार रूपी नाटक के नायक में रहने वाले रागादि का विरोधी होने से मोक्ष का साधन है वह शुद्ध होता है । जैसा कि पतञ्जलि ने कहा है--'शौच के सिद्ध होने से अपने शरीर से घृणा (जुगुप्सा) हो जाती है ।' और 'वितर्कों के द्वारा बाधा उपस्थित होने पर उनमें प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए (योगसूत्र २।४०, ३३) । इसलिए बीभत्स रस भी वस्तुतः तीन ही प्रकार का होता है । 'द्वितीयक' इस पद से शुद्ध बीभत्स रस के दुर्लभ होने से उसकी न्यूनता सूचित होती है ॥ ८२ ॥

---

१. ग. क्षोभणः ।

२. ख.घ. स्यात् तृतीयकः ।

३. क–त. क्षोभणो ।

४. क–भ. म. विभावविशेषादि ।

दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः ।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः ॥ ८३ ॥

दिव्य इति। यत्र सभाविमानादयोऽनुभावाः । आनन्दयतीत्यानन्दो मनोरथावाप्त्यादिः । स एव हर्षयतीति हर्षः ॥८३॥

विमर्श—अभिनवगुप्त अपने गुरु भट्टतौत के मतानुसार बीभत्स रस के तीन भेद बतलाते हैं। उनका कहना है कि बीभत्स रस के क्षोभण और उद्वेजन दोनों भेद अशुद्ध हैं और उनसे भिन्न तीसरा शुद्ध नामक भेद होता है। शुद्ध बीभत्स रस मोक्ष का साधक होता है। क्योंकि बीभत्स का स्थायीभाव जुगुप्सा है और जुगुप्सा मोक्ष का साधन है। पतञ्जलि ने भी जुगुप्सा को मोक्ष का साधन बताया है। उन्होंने योगसूत्र में कहा है कि शौच योग का एक अङ्ग है और शौच के सिद्ध होने पर शरीर से घृणा हो जाती है। इसलिए जुगुप्सा भी मोक्ष के साधन में उपयोगी है। जैसे किसी सुन्दरी कामिनी में अनुरक्त साधक को कामिनी शरीर पर से चमड़े के हटा देने पर उस बीभत्स रूप को देखकर उससे घृणा हो जाती है, उसका राग विगलित हो जाता है। इस प्रकार उत्पन्न जुगुप्सा मोक्ष का साधन है और रुधिरादि दर्शन एवं कृमि विष्ठादि दर्शन से उत्पन्न क्षोभण एवं उद्वेजन बीभत्स रस अशुद्ध होता है। यह आचार्य भट्टतौत का मत है।

इसके अतिरिक्त काशी संस्करण तथा अन्य संस्करणों में "बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्याद् द्वितीयकः' में 'स्याद् द्वितीयकः' के स्थान पर 'स्यात्तृतीयकः' पाठ मिलता है। इस आधार पर भी यही अर्थ निकलता है कि बीभत्स रस के तीन भेद होते हैं—क्षोभण, उद्वेजन और तीसर शुद्ध बीभत्स। इस प्रकार विष्ठा, कृमि आदि घृणित वस्तु को देखकर उद्वेजन और रुधिर आदि को देखकर क्षोभण बीभत्स रस उत्पन्न होता है, ये दोनों ही अशुद्ध है। इसके अतिरिक्त बीभत्स रस शुद्ध नाम तीसरा भेद होता है जो राग की विरोधी होने से मोक्ष का साधन होता है ॥ ८२ ॥

अनुवाद—**दिव्यज और आनन्दज भेद से अद्भुत रस दो प्रकार का होता है। उनमें दिव्य दर्शन से उत्पन्न दिव्यज और हर्ष से उत्पन्न आनन्दज-अद्भुत रस होता है।। ८३ ॥**

अभिनव—जहाँ पर सभा, विमान आदि अनुभाव होते हैं वह 'दिव्य' कहलाता है। जो आनन्द प्रदान करते हैं वह आनन्द है मनोरथ आदि प्राप्ति। वही हर्ष देने के कारण 'हर्ष' कहा जाता है॥ ८३ ॥

एषु च 'शृङ्गारम्' इत्यादिषु श्लोकेषु चकारा [1]विभानुभावान्तरनिरासशङ्कां पराकर्तुम् । एवकाराः इयन्त एव तेषां मुख्यत्वेन सङ्गता इति दर्शनार्थाः । तथाशब्दा अनुक्तविभावाद्यूहनार्था इति यथायोगं योज्यम् ।

इति रसभेदनिरूपणं समाप्तम् ।

अभिनव—इनमें अर्थात् 'शृङ्गारं च' इत्यादि श्लोकों में आये हुए समस्त चकार अन्य विभावों, अनुभावों के निरास करने की शङ्का का निराकरण करने के लिए है । उनमें 'एवकार' शब्द का प्रयोग 'उनमें इतने ही यहाँ सङ्गत है, यह दिखलाने के लिए है । 'तथा' शब्द का प्रयोग अनुक्त विभावों के संग्रह के लिए किया गया है । इस प्रकार यथोचित योजना कर लेनी चाहिए ।

इस प्रकार रस भेद निरूपण समाप्त हुआ ।

विशेष—काशी संस्करण में यहीं पर रस प्रकरण समाप्त कर दिया गया है । वहाँ 'दिव्यश्चानन्दजश्चैव' इत्यादि श्लोक के बाद रसप्रकरण अध्याय की समाप्ति सूचक एक श्लोक तथा पुष्पिका वाक्य आया है—

"एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावनामपि लक्षणम् ॥ ८४ ॥"

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसविकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अर्थात् इस प्रकार लक्षणों से लक्षित ये आठ प्रकार के रस समझने चाहिए । अब इसके बाद भावों का लक्षण कहूँगा ।

'इस प्रकार भरतनाट्यशास्त्र में रसविकल्प नामक छठाँ अध्याय समाप्त हुआ ।'

इस प्रकार उपर्युक्त के अनुसार यहीं पर रसाध्याय की समाप्ति हो गई है ।

१. क–म. चकाराद्विभावानुभाव० ।

[1]अथ शान्तरसप्रकरणम्

अथ [2]शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः। स तु तत्त्वज्ञानवैराग्याशयशुद्ध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते ।

तस्य यमनियमाध्यात्मध्यानधारणोपासनसर्वभूतदयालिङ्गग्रहणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेदस्मृतिसर्वाश्रमशौचस्तम्भरोमाञ्चादयः ।

अथ शान्त रस प्रकरण

नाट्यशास्त्र की कुछ प्रतियों में शान्त रस का प्रकरण प्राप्त नहीं होता है। केवल एक प्रति में यह प्रकरण प्राप्त हुआ है। उसी के अनुसार गायकवाड़ संस्करण में यह प्रकरण कोष्ठक में दिया गया है और इस प्रकरण में आये हुए श्लोकों पर संख्या भी नहीं पड़ी है। अतः इस अंश को प्रक्षिप्त माना जाता है किन्तु अभिनवगुप्त ने इस प्रकरण को नाट्यशास्त्र का अंश मानकर इस पर अभिनवभारती नामक व्याख्या लिखी है। कुछ आचार्य तो शान्त रस को मानते ही नहीं है। उनका कहना है कि शान्त रस का नाटक में अभिनय हो ही नहीं सकता। काव्य में उसका अस्तित्व भले ही मान लिया जाय, किन्तु नाट्य में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः' कहा है और इसीलिए अधिकांश प्रतियों में इसका विवेचन प्राप्त नहीं होता।

अनुवाद—शम स्थायीभावात्मक मोक्ष का प्रवर्त्तक शान्त नामक रस होता है। और वह तत्वज्ञान, वैराग्य, आशय अर्थात् चित्त की शुद्धि आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

अनुवाद—शान्त रस का अभिनय यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा उपासना, सभी प्राणियों पर दया, सन्यास (प्रव्रज्या) का ग्रहण आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अनुवाद—शान्त रस के व्यभिचारीभाव निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि हैं।

---

१. क-त. पुस्तक एवोपलभ्यते शान्तरसविवेचनम्।
   ख.घ. पुस्तकयोः शान्तरसविवेचनं नोपलभ्यते।

२. क-न. शान्तमिदानीं व्याख्यास्यामः तत्र—

अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति—

मोक्षाध्यात्मसमुत्थस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
[1]नैःश्रेयसोपदिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवति ॥ ८४ ॥

[2]बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।
[3]सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥ ८५ ॥

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥ ८६ ॥

भावाः विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः ।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥ ८७ ॥

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥ ८८ ॥

एवं नवरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ॥ ८९ ॥

अनुवाद—इस विषय में आर्याछन्द प्राप्त होते हैं ।

अनुवाद—मोक्ष और अध्यात्म ज्ञान से उत्पन्न, तत्त्वज्ञान के हेतुभूत अर्थों से युक्त, निःश्रेयस प्राप्ति के लिए उपदिष्ट शान्त नामक रस होता है ।

अनुवाद—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के निरोधक, अध्यात्म की स्थिति से युक्त समस्त प्राणियों के सुख एवं हित करने वाला शान्त रस समझना चाहिए ।

अनुवाद—जहाँ पर न सुख है न दुःख है, न द्वेष है, न ईर्ष्या है, जो समस्त प्राणियों में समभाव रखता है वह शान्त रस नाम से प्रसिद्ध है ।

अनुवाद—रति आदि भाव विकार रूप है और शान्त रस प्रकृति रूप है । विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में विलीन हो जाते हैं ॥

अनुवाद—अपने अपने निमित्त को प्राप्त कर सभी भाव शान्त रस से आविर्भूत होते हैं और निमित्त का अभाव हो जाने पर फिर शान्त रस में ही लीन हो जाते हैं ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाट्यशास्त्र के विज्ञ विद्वानों ने लक्षणों से युक्त नौ रसों का विवेचन किया है ।

---

१. क–त. निःश्रेयससंयुक्तः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ।

२. क–त. बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियनिरोधतोऽध्यात्मसंज्ञितश्चैव ।

३. क–त. सर्वप्राणिहितः खलु ।

[1]अथ शान्तरसविचारः ।

ये पुनर्नव रसा इति पठन्ति तन्मते शान्तस्वरूपमभिधीयते । तत्र केचिदाहुः—शान्तः शमस्थायिभावात्मकस्तपस्यायोगिसम्पर्कादिभिः विभावैरुत्पद्यते । तस्य कामक्रोधाद्यभावरूपैरनुभावैरभिनयः । व्यभिचारी धृतिमतिप्रभृतिः (इति) ।

एतदपरे न सहन्ते । शमशान्तयोः पर्यायत्वात् । एकान्नपञ्चाशद्भावा इति संख्यात्यागात् । किञ्च विभावा ऋतुमाल्यादयस्तत्समनन्तरभाविनि शृङ्गारादावनुसन्धीयन्ते इति युक्तम् । तपोऽध्ययनादयस्तु न शान्तस्य शमस्य (शमनस्य) हेतवः । तत्त्वज्ञानस्यानन्तरहेतव इति [2]चेत्पूर्वोदिततत्त्वज्ञानेऽपि तर्हि प्रयोज्यतेति तपोऽध्ययनादीनां विभावता त्यक्ता स्यात् । कामाद्यभावोऽपि नानुभावः ।

अभिनव—अभिनवगुप्त शान्त को नवम रस के रूप में स्वीकार करते हुए कहते हैं कि जो लोग नौ रस मानते हैं उनके मत से शान्त (नामक नवें) रस का स्वरूप कहते हैं । उनमें कुछ आचार्य कहते हैं कि शम स्थायीभावात्मक शान्त रस तपस्या और योगियों के सम्पर्क आदि विभावों से उत्पन्न होता है । उसका काम-क्रोधादि के अभाव रूप अनुभावों से अभिनय करना चाहिए । धृति, मति आदि उसके व्यभिचारीभाव है ।

अभिनव—दूसरे आचार्य इसे सहन नहीं करते अर्थात् अन्य आचार्य इस मत को स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि—शम और शान्त दोनों पर्यायवाची (समानार्थक) शब्द हैं । उनमें से एक को स्थायीभाव और दूसरे को रस मानना कहाँ तक उचित है ? भाव उनचास होते हैं । यदि शम को भाव मानते हैं तो शम के बढ़ जाने से भावों की संख्या पचास हो जायगी, जिससे निर्धारित संख्या में अन्तर आ जायगा । अतः शम को भाव मानना उचित नहीं प्रतीत होता । और तीसरी बात यह है कि ऋतु, माला आदि विभाव बाद में उत्पन्न होने वाले शृङ्गार आदि रसों में कारण रूप से प्रतीत होते हैं किन्तु तप और अध्ययन आदि बाद में शान्त या शम में कारण (हेतु) रूप में प्रतीत नहीं होते हैं । यदि यह कहा जाय कि ये तप-अध्ययनादि तत्त्वज्ञान के अनन्तर भावी (होने वाले) साक्षात् हेतु हैं तो पूर्वोदित (पूर्व में उत्पन्न) तत्त्वज्ञान के प्रति कारण होने से शम के विषय में तप और अध्ययन की विभावता (कारणता) नहीं रहेगी अर्थात् शम के विभाव नहीं हो सकेंगे । और काम आदि का

---

१ क-अ.ब.म. पुस्तकेषु 'अथ शान्तरसविचारो' नोपलभ्यते ।

२. क. चेत्पूर्वकरोदिततत्त्वज्ञानेऽपि ।

[१]शान्ताद्विपक्षादव्यावृत्तेः। आगमकत्वात्प्रयोगासमवायित्वाच्च। न हि चेष्टाव्युपरमः प्रयोगयोग्यः। सुप्तमोहादयोऽपि हि निःश्वासोच्छ्वासपतनभूषणादिभिश्चेष्टाभिरेवानुभाव्यन्ते। धृतिप्रभृतिरपि प्राप्तविषयोपभोगः कथं शान्ते स्यात्। न चाकिञ्चित्करत्वमात्रेण तत्त्वज्ञानोपाये व्युत्पाद्यन्ते। [२]विनेये चैते परदुःखदुःखितमनसो दृश्यन्ते सम्यग्दर्शनसमावस्थां प्राप्ताः। अपि तु संसारे। तन्न शान्तो रस इति।

अत्रोच्यते—इह तावद्धर्मादित्रितयमिव मोक्षोऽपि पुरुषार्थः शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम्। यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कविनटव्यापारेणास्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान्प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयत इति वक्तव्यम्। सा चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः।

अभाव शान्तरस का अनुभाव भी नहीं माना जा सकता। और शान्तरस के विरोधी वीर आदि रसों से व्यावृत्ति न होने के कारण अर्थात् शान्तविरोधी वीरादि रसों में कामादि का अभाव होने के कारण शान्त रस का बोधक (द्योतक) न होने से और प्रयोग (नाट्य-प्रयोग) में समवायित्व (समवाय-सम्बन्ध) न होने से कामादि का अभाव शान्त रस का अनुभाव नहीं हो सकेगा। क्योंकि चेष्टा का उपरम अर्थात् चेष्टा का अभाव प्रयोग (अभिनय) के योग्य नहीं होता। क्योंकि चेष्टा–रहित शयन, मोह आदि का भी निःश्वास, उच्छ्वास, पतन, भूमिशयन आदि चेष्टाओं के द्वारा अभिनय किया जाता है। अतः शम के निश्चेष्ट होने से उसका अभिनय कैसे होगा? और विषयों के उपभोग से प्राप्त तृप्ति रूप धृति भो शान्त रस में कैसे सम्भव है? और अकिञ्चित्कर अर्थात् निष्क्रिय (निश्चेष्ट) पुरुष के द्वारा तत्त्वज्ञान के उपाय के विषय में विनेयों को व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि सम्यग्दर्शन अर्थात् तत्त्वज्ञान की अवस्था को प्राप्त हुए ये विनेय (साधक) संसार में दूसरे के दुःख से दुःखित मन वाले देखे जाते हैं। अतः शान्तरस नहीं है।

इस प्रकार शान्त रस न मानने वालों का पक्ष प्रस्तुत कर अब शान्तरस के समर्थन का पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

अभिनव—इस विषय में कहते हैं कि इस संसार में तो धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थों के समान मोक्ष पुरुषार्थ भी शास्त्रों में, स्मृतियों तथा इतिहास आदि में प्रधान रूप से उपायों के द्वारा बतलाया जाता है, यह प्रसिद्ध है। जिस प्रकार काम

---

१. क. अशान्तात्।   २. क–म. विनये।

एतत्तु चिन्त्यम् किं नामासौ—तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्। तथा हि—दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः स ततोऽन्य एव। हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसञ्चारिमध्ये चैतदर्थमेवायं पठितः। अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत्। जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन श्रृङ्गारे निषेधन्मुनिर्भावानां सर्वेषामेव [1]स्थायित्व-सञ्चारित्वचिन्तनात्तावत्वानुभावभावत्वानि योग्यतोपनिपातितानि शब्दार्थबला-कृष्टान्यनुजानाति।

तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमः स्थायिशीलः स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः। इदमपि पर्यनुयुञ्जते—तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य च स्थायीति वदता तत्त्वज्ञानमेवात्र विभाव-त्वेनोक्तं स्यात्। वैराग्यबीजादिषु कथं [2]विभावत्वम्। तदुपायत्वादिति चेत्कारण-कारणेऽयं विभावताव्यवहारः। स चातिप्रसङ्गावहः।

आदि पुरुषार्थों के समुचित रत्यादि शब्दों से वाच्य (कथित, निर्दिष्ट) चित्तवृत्तियाँ कवि और नटों के व्यापार के द्वारा उस प्रकार के सहृदय सामाजिकों के प्रति श्रृङ्गा-रादि के रूप में आस्वाद्य (आस्वादन के योग्य) बनाई जाने पर रसत्व को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के उचित (उपयुक्त शम रूप) चित्तवृत्ति रसत्व को क्यों नहीं प्राप्त कराई जा सकती ? यह बताना चाहिए और जो यह उस प्रकार की चित्तवृत्ति है वही यहाँ स्थायीभाव है।

अभिनव—यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि स्थायीभाव क्या है ? तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' शान्तरस का स्थायीभाव है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। क्योंकि (तत्त्वज्ञान के हेतु के भिन्न होने के कारण) निर्धनता आदि से उत्पन्न निर्वेद उस शान्तरस के निर्वेद से भिन्न है। इसीलिए भरत ने स्थायोभाव और व्यभिचारीभावों के मध्य में इसका पाठ किया है। अन्यथा माङ्गलिक मुनि ऐसा पाठ नहीं करते (नहीं पढ़ते) अर्थात् भरतमुनि इसका प्रथम उल्लेख नहीं करते। बीभत्स के स्थायी जुगुप्सा का श्रृङ्गार रस में व्यभिचारीभाव के रूप में निषेध करते हुए भरतमुनि सभी स्थायी-भावों का अपने रसों में स्थायीभावत्व और अपने से भिन्न रसों में व्यभिचारिभावत्व के चिन्तन से योग्यता को प्राप्त शब्द और अर्थ के बल से आकृष्ट उतने ही अनुभावों की अनुज्ञा (अनुमति) देते हैं।

---

१. क. स्थायित्वसञ्चारित्वचिन्तनात्तावत्वानुभावस्थत्वान्नियोग्यतोपनिपतितानिश्शब्दार्थबला-दाकृष्टान्यनुजानाति। क–भ. स्थायित्वसञ्चारित्वचिन्तनात्तापत्वानुभाव०।

२. क–भ.म. उपायम्।

किञ्च निर्वेदो नाम सर्वत्रानुपादेयताप्रत्ययः। [1]वैराग्यलक्षणस्य च तत्त्वज्ञानस्य प्रत्युक्तोपयोगी। विरक्तो हि तथा प्रयतते यथा अस्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। तत्त्वज्ञानादि मोक्षः। न तु [2]तत्त्वं ज्ञात्वा निर्विद्यते निर्वेदाच्च मोक्ष इति। 'वैराग्यात्प्रकृतिलयः।' इति हि तत्रभवन्तः। (सांख्यकारिका ४५.)।

ननु तत्त्वज्ञानिनः सर्वत्र दृढतरं वैराग्यं दृष्टम्। तत्रभवद्भिरप्युक्तं—'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इति (योगसूत्र–१-१६)। भवत्येवम्। तादृशं तु 'वैराग्यं ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा।' इति (व्यासभाष्य–१-१६) भुजङ्गविभुनैव

अभिनव—तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद अन्य स्थायीभावों का उपमर्दक है। जो व्यभिचारीभावों के वैचित्र्य को सहन करने वाले रति आदि से भी अधिक स्थायी स्वभाव वाला है वही अन्य स्थायीभावों का उपमर्दक होता है। यह भी प्रश्न होता है कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद इसका (शान्त रस का) स्थायीभाव है, इस प्रकार कहते हुए मुनि ने तत्त्वज्ञान को ही यहाँ विभाव के रूप में कहा है, अर्थात् तत्त्वज्ञान ही शान्तरस में विभाव (कारण) होता है। अब पुनः प्रश्न होता है कि मोक्ष का कारण वैराग्य है और वैराग्य के बीज (कारण) तत्त्वज्ञान आदि में उसका विभावत्व कैसे माना जाय अर्थात् वैराग्य के मूल कारण तत्त्वज्ञान को शान्त रस का विभाव कैसे माना जाय? यदि यह कहा जाय कि उसका उपाय होने से बिभाव माना जा सकता है तो कारण के कारण में विभावत्व का व्यवहार होगा, जिससे अतिव्याप्ति दोष आ जायगा।

अभिनव—और भी सर्वत्र अनुपादेय बुद्धि रूपनिर्वेद वैराग्य स्वरूप है और वह वैराग्य रूप तत्त्वज्ञान के लिए विपरीत रीति से उपयोगी है। क्योंकि विरक्त पुरुष ही उस प्रकार प्रयत्न करता है जिससे उसे तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है और तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार पहिले वैराग्य फिर तत्त्वज्ञान होता है न कि तत्त्वज्ञान से निर्वेद होता है और निर्वेद से मोक्ष। जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में कहा है कि—'वैराग्य से प्रकृति का लय होता है' (वैराग्यात्प्रकृतिलयः–सांख्यकारिका ४५)॥

अभिनव—अब प्रश्न यह होता है कि तत्त्वज्ञानी का सर्वत्र दृढ़तर वैराग्य देखा गया है। पतञ्जलि मुनि ने कहा है—"आत्मज्ञान हो जाने पर प्रकृत गुणों के प्रति वितृष्णा होना परम वैराग्य है" (योगसूत्र १।१६) ठीक है। किन्तु इस प्रकार का वैराग्य ज्ञान की ही पराकाष्ठा है।' यह व्यास भाष्य में (१।१६) में भुजङ्गविभु

---

१. क–वैराग्यलक्षणा। स च तत्त्वज्ञानस्य।

२. क–भ. तंत्रं ज्ञात्वा।

भगवताऽभ्यधायि । ततश्च तत्त्वज्ञानमेवेदं तत्त्वज्ञानमालया परिपोष्यमाणमिति न निर्वेदः स्थायी । किन्तु तत्त्वज्ञानमेव स्थायीति भवेत् । यत्तु व्यभिचारिव्याख्यानावसरे वक्ष्यते तच्चिरकालविभ्रमविप्रलब्धस्योपादेयत्वनिवृत्तये । यत्सम्यग्ज्ञानम् ।

यथा—

'वृथा दुग्धोऽड्वांस्स्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्डो युवतिरिति लावण्यरहितः ।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता ॥' इति

तन्निर्वेदस्य खेदरूपस्य भावत्वेन[1] । एतच्च तत्रैव वक्ष्यामः ।

ननु मिथ्याज्ञानमूलो विषयगन्धस्तत्त्वज्ञानात्प्रशाम्यतीति दुःखजन्मसूत्रेणाक्षपादपादैर्वदद्भिर्मिथ्याज्ञानापचयकारणं तत्त्वज्ञानं वैराग्यस्य दोषापायलक्षणस्य कारणमुक्तम् । ननु ततः किम् । ननु वैराग्यं निर्वेदः । क एवमाह । निर्वेदो हि

शेषावतार पतञ्जलि मुनि ने कहा है। इसलिए तत्त्वज्ञान की श्रृङ्खला से परिपोषित तत्त्वज्ञान ही यह परवैराग्य है अतः निर्वेद स्थायीभाव नहीं है। किन्तु तत्त्वज्ञान ही (शान्तरस का) स्थायीभाव है। और जो व्यभिचारी की व्याख्या के अवसर पर कहेंगे—चिरकाल तक भ्रान्ति से विप्रलब्ध (वञ्चित, ठगे गये) लोगों की विषयभोगों के प्रति उपादेयता बुद्धि को निवृत्ति के लिए निर्वेद के कारण को 'तत्त्वज्ञान' कहा है। जैसे—

अभिनव—"गुणों को न जानने वाले कृपण तुझे (तुझको) अपनी मूर्खता से प्रणाम करते हुए मैंने स्तन के भार से झुकी हुई गौ समझ कर व्यर्थ में बैल दुहने का प्रयास किया और लावण्य (सौन्दर्य) से रहित हिजड़े नपुंसक को सुन्दर युवती समझकर व्यर्थ में आलिङ्गन किया तथा किरणों को विकीर्ण करने वाले कांच के टुकड़े को व्यर्थ में वैदूर्यमणि की आशा की।"

वह खेद रूप निर्वेद का विभाव (कारण) रूप में कहा गया है। और यह बात उसी समय वहीं पर (व्यभिचारीभाव के निरूपण के अवसर पर) कहेंगे।

अभिनव—प्रश्न यह है कि मिथ्याज्ञान मूलक विषयों का सम्बन्ध तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है, इस बात को 'दुःखजन्यप्रवृत्ति' (न्या. सू. १।१।२) इत्यादि सूत्र के द्वारा कहते हुए अक्षपाद ने मिथ्याज्ञान के नाश के हेतु तत्त्वज्ञान को दोषापाय (दोषा-

---

१. क–भ. विभावत्वे ।

शोकप्रवाहप्रसररूपश्चित्तवृत्तिविशेषः । वैराग्यं तु रागादीनां प्रध्वंसः । भवतु वा वैराग्यमेव निर्वेदः । तथापि तस्य स्वकारणवशान्मध्यभाविनोऽपि न मोक्षे साध्ये सूत्रस्थानीयता[1] प्रत्यपादि ।

किञ्च तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति शमस्यैवेदं निर्वेदनाम कृतं स्यात् । शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम् । सिद्धसाध्यते तथा लौकिकालौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव । तस्मान्न निर्वेदः स्थायीति ।

अन्ये मन्यन्ते रत्यादय एवाष्टौ चित्तवृत्तिविशेषा उक्ताः । त एव कथित-[2]विभावविविक्तश्रुताद्यलौकिकविभावविशेषसंश्रया विचित्रा एव तावत् । ततश्च तन्मध्यादेवान्यतमोऽत्र स्थायी । [3]तत्राव्याहतानन्दमयस्वात्मविषया रतिरेव मोक्षसाधनमिति सैव शान्ते स्थायिनीति । यथोक्तम्—

भाव) रूप वैराग्य का कारण कहा है । तो उससे क्या हुआ ? यह कि वैराग्य ही निर्वेद है । यह कौन कहता है ? क्योंकि निर्वेद हो शोक-प्रवाह के प्रसार रूप चित्तवृत्ति विशेष हैं और वैराग्य रागादि भावों का प्रध्वंस रूप है अथवा वैराग्य ही निर्वेद है ऐसा मान भी लिया जाय तो भो अपने कारण से उत्पन्न उसके बीच में मिथ्याज्ञान के अभाव के बाद होने वाले वैराग्य का मोक्ष-प्राप्ति-रूप फल की प्राप्ति में सूत्रस्थानी-यता अर्थात् प्रत्यक्ष कारण नहीं माना जा सकता, यह कहा गया है ।

अभिनव—और यदि यह कहा जाय कि तत्त्वज्ञान से निर्वेद उत्पन्न होता है तो शम का ही निर्वेद नाम है, सिद्ध हो जाता है । और यदि शम एवं शान्त दोनों पर्यायवाची है तो 'हास्य' और 'हास' की पर्यायता से उसका परिहार हो जाता है । 'सिद्धसाध्यता' (पिष्टपेषण) दोष का समाधान स्थायीभाव के लौकिक और रस के अलौकिक होने से हो जाता है । और स्थायी के साधारण तथा रस के असाधारण का अन्तर होने से शम और शान्त में विलक्षणता (अन्तर) सुलभ है । अतः निर्वेद शान्त रस का स्थायीभाव नहीं है । अपितु शम स्थायीभाव है ।

अभिनव—अन्य आचार्य मानते हैं कि रति आदि ही आठ चित्तवृत्ति विशेष (स्थायीभाव) को पहिले कहा जा चुका है । वे ही चित्तवृत्तियाँ पूर्वकथित शृङ्गारोपयोगी विभावों से भिन्न श्रुत (श्रुति) आदि अलौकिक विभावविशेष के आश्रय से भिन्न (विचित्र) रूप में होती हैं । अतः उनमें से कोई एक यहाँ शान्तरस में स्थायीभाव

---

१. क. सूत्रस्थानीयतात्यगादाचारीव (प्रत्यपादि) ।
२. क–कथितविभावविविक्तया श्रुत्याद्यलौकिक० ।
३. क–तत्रानाहतानन्दमयस्वात्मविषया ।

यश्चात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥' इति ॥ (गीता ३-१७) ।

एवं समस्तविषयं वैकृतं पश्यतो विश्वं च शोच्यं विलोकयतः सांसारिकं च वृत्तान्तमपकारित्वेन पश्यतः सातिशयमसम्मोहप्रधानं [1]वीर्यमाश्रितवतः सर्वस्माद्विषयसार्थाद्बिभ्यतः[2] सर्वलोकस्पृहणीयादपि [3]प्रमदादेर्जुगुप्समानस्यापूर्वस्वात्मातिशयलाभाद्विस्मयमानस्य मोक्षसिद्धिरिति ।

[4]रतिहासादीनां विस्मयान्तानामन्यतमस्य स्थायित्वं निरूपणीयम् । न चैतन्मुनेर्न सम्मतम् । यावदेव हि [5]विशिष्टान्विभावान्परिगणयति आदिशब्देन च तत्प्रकारानेवान्यान्संगृह्णीते तावदेव तद्व्यतिरिक्तालौकिकहेतूपनतानां रत्यादीनामनुजानात्येवापवर्गविषयत्वम् । एवंवादिना तु परस्परमेव विचारयतामेकस्य स्थायित्वं विशीर्यंत एव । तदुपायभेदात्तस्य तस्य स्थायित्वमित्यप्युच्यमानं [6]प्रत्युक्तमेव । स्थायिभेदेन प्रतिपुरुषं रसस्याप्यानन्त्यापत्तौ मोक्षैकफलत्वादेको रस इति चेत् [7]क्षमैक फलत्वे वीररौद्रयोरप्येकत्वं स्यात् ।

हो सकता है। इस प्रकार उनमें अव्याहत (अखण्ड) आनन्दमय आत्मविषयक रति ही मोक्ष का साधन है अतः वही शान्त में स्थायीभाव है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—

"जो मानव आत्मा में ही रति (प्रेम) करता है, आत्मा में तृप्त रहता है और आत्मा में सन्तुष्ट है उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता।" (गीता ३।१७)

अभिनव—इस प्रकार समस्त विषयों (वस्तुओं) को विकृत रूप में देखने वाले और संसार को शोचनीय रूप में देखने वाले और सांसारिक घटनाओं को अपकारी रूप में देखने वाले और अत्यन्त असम्मोह अर्थात् ज्ञान-प्रधान उत्साह (वीर्य) का आश्रय लेने वाले समस्त विषयों (वस्तुओं) से डरने वाले, समस्त लोक के (सभी लोगों के लिए) स्पृहणीय प्रमदा आदि से घृणा करने वाले और अपने अपूर्व आत्मस्वरूप के अतिशय लाभ अर्थात् साक्षात्कार से विस्मय का अनुभव करने वाले साधकों को मोक्ष की सिद्धि होती है।

अभिनव—इसी प्रकार हास्य से लेकर विस्मय पर्यन्त स्थायीभावों में से किसी एक का (शान्त रस का) स्थायीभाव निरूपण करना चाहिए। किन्तु यह मत भरतमुनि को सम्मत नहीं है। क्योंकि भरतमुनि ने विशिष्ट विभावों के परिगणन (गणना करने)

१. क. विनयाश्रितवन्तः ।
२. क. विषयसार्थाद्वाह्यतः ।
३. क. प्रमदादेजुगुप्समानस्य पूर्वस्वात्माः ।
४. क. हासादीनां ।
५. क–भ. म. विशेषाद्विभावात् ।
६. क. प्रगुणमेव ।
७. क. क्षयैकफलत्वे । क–म. क्षामैकफलत्वे ।

अन्ये तु पानकरसवदविभागं प्राप्ताः सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिन इत्याहुः। चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावादन्योन्यं च विरोधादेतदपि न मनोज्ञम्।

कस्तर्ह्यत्र स्थायी। उच्यते—इह तत्त्वज्ञानमेव तावन्मोक्षसाधनमिति तस्यैव मोक्षे स्थायिता युक्ता। तत्त्वज्ञानं च नामात्मज्ञानमेव। [1]आत्मनश्च व्यतिरिक्तमिन्द्रियस्यैव ज्ञानम्। परो ह्येवमात्माऽनात्मैव स्यात्। विपश्चितं चैतदस्मद्गुरुभिः। अस्माभिश्चान्यत्र वितन्यत इतीह नातिनिर्बन्धः कृतः। तेनात्मैव ज्ञानानन्दादिविशुद्धधर्मयोगी परिकल्पितविषयोपरागरहितोऽत्र स्थायी।

के साथ 'आदि' शब्द से उसी प्रकार के अन्य विभावों का भी संग्रह करते हैं और उसी से सामान्य हेतुओं से भिन्न अलौकिक हेतुओं से उपनत रत्यादि की भी अपवर्गता (मोक्षविषयत्व) स्वीकार करते हैं अर्थात् अलौकिक हेतुओं से उत्पन्न रत्यादि से भी मोक्ष की सिद्ध मानी है, इस मत के मानने वालों में परस्पर विचार करने पर किसी एक की स्थायीभावत्व समाप्त हो जाता है, खण्डित हो जाता है। उन उपायों के भेद से उस-उस का स्थायिभावत्व होता है, यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्तियों में अलग-अलग स्थायीभाव मानने पर शान्त रस के भी अनन्त भेद हो जाँयगे। यदि यह कहा जाय कि मोक्ष रूप फल के एक होने से रस भी एक रूप होगा तो क्षमा रूप एक फल वाले रौद्र, वीर आदि रस भी एक हो जाँयगे।

अभिनव—अन्य व्याख्याकार तो कहते हैं कि पानक रस के समान सभी रत्यादि स्थायीभाव एक साथ मिलकर शान्त रस में स्थायीभाव हो जाँयगे किन्तु चित्तवृत्तियों के एक साथ मिलना असम्भव होने से और परस्पर एक दूसरे से विरोध होने से यह भी ठीक नहीं है॥

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि तो फिर शान्त रस का स्थायीभाव क्या है? इस पर कहते हैं—तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन है अतः उसी को स्थायीभाव मानना उचित है। और तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान न हो नाम है तथा आत्मज्ञान इन्द्रियज्ञान से भिन्न होता है और रत्यादि ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है। इस प्रकार आत्मा अनात्मा से भिन्न है। यदि इन्द्रिय-ज्ञान आत्मज्ञान मानेगे तो परमात्मा भी अनात्मा हो जायगा। यह बात हमारे गुरुजी भट्टतौत ने विस्तार से प्रतिपादन किया है। और हमने भी अन्यत्र इसका विस्तार से विवेचन किया है, इसलिए यहाँ उसके विशेष रूप से वर्णन का प्रयास नहीं किया है। इस प्रकार ज्ञान, आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और परिकल्पित विषय-भोग से रहित आत्मा ही यहाँ स्थायीभाव है।

१. क. आत्मनश्चाव्यतिरिक्तं स्यादस्यैव ज्ञानम्।

न [1]चास्य स्थायितया स्थायित्वं वचनीयम्। रत्यादयो हि तत्तत्कारणान्तरोदयप्रलयोत्पद्यमाननिरुध्यमानवृत्तयः कश्चित्कालमापेक्षिकतया स्थायिरूपात्मभित्तिसंश्रयाः [2]सन्तः स्थायिन इत्युच्यन्ते। तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः स्थायितमं सर्वाः रत्यादिकास्स्थायिचित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयत् निसर्गत एव सिद्धस्थायिभावमिति[3]। अत एव पृथगस्य गणना न युक्ता। न हि रुण्डमुण्डयोर्मध्ये तृतीयं गोत्वमिति गण्यते। तेनैकान्नपञ्चाशद्भावा इत्यव्याहतमेव।

अस्यापि [4]कथं पृथग्गणनेति चेत्— [5]पृथगास्वादयोगादिति ब्रूमहे। न हि रत्यादय इवेतरासम्पृक्तेन वपुषा तथाविधमात्मरूपं लौकिकप्रतीतिगोचरम्[6] [7]स्वगतमप्यविकल्परूपव्युत्थानावसरेऽनुसन्धीयमानं चित्तवृत्त्यन्तरकलुषमेवावभाति।

अभिनव—पुनः प्रश्न होता है कि इस आत्मा को स्थायीभाव मानने पर अन्यों का स्थायित्व वचनीय (दूषणीय) हो जायगा अर्थात् वे रत्यादि स्थायी नहीं होंगें, क्योंकि रत्यादि स्थायीभाव भिन्न-भिन्न कारणों से उदय और प्रलय (विलीन) होने से उत्पद्यमान और निरुध्यमान होकर आत्मा रूप स्थायीभाव के आश्रित (व्यभिचारीभावों) की अपेक्षाकृत कुछ अधिक समय तक स्थिर रहने के कारण स्थायीभाव कहलाते हैं और तत्त्वज्ञान तो अन्य समस्त भावों का भित्ति-स्थानीय और अन्य सभी स्थायियों की अपेक्षा अधिक स्थायी और सभी रत्यादि चित्तवृत्तियों को व्यभिचारीभाव बनाता हुआ स्वभावतः स्वयं सिद्ध स्थायोभाव रूप है। इसलिए इसकी अलग से गणना उचित नहीं है। क्योंकि रुण्ड और मुण्ड के बीच में तीसरे गोत्व की गणना नहीं की जाती। इसलिए उनचास भाव है यह अव्याहत है।

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि इस शान्त रस की पृथक् गणना क्यों की गई? इस पर कहते है कि—अलग आस्वाद होने से अर्थात् इसका आस्वाद अलग (भिन्न) प्रकार का होता है, इसलिए रत्यादि के समान अन्य भावों से असंपृक्त का आत्मा का स्वरूप लौकिक प्रतीति का विषय नहीं होता। और स्वगत आत्मा निर्विकल्प रूप समाधि में अवस्थित होने पर व्युत्थान काल में अनुसन्धान करने पर अन्य चित्तवृत्तियों से कलुषित रूप में ही प्रतोत होता है।

---

१. क. चास्यास्थायितया। २. क. विरुध्यमानवृत्तयः। ३. क. षट्।
४. क. सिद्धस्थायिभावमिति तन्त्रवचनेन (तन्न वचनीयम्)।
५. क. कथं न पृथग्गणनेति। ६. क. पृथगास्वादायोगात्।
७. क. गोचरः। ८. क. स्वगतमप्यविकलरूपं।

भासतां वा लोके तथा तथापि न [1]सम्भावनामात्रस्थायिनां गणनम्। रसेषूक्तेष्वनुपयोगात्। अपि तु व्यभिचारित्वाल्लक्षणीयत्वं विज्ञायते [2]नेतरथा। तथाह्येकान्नपञ्चाशता भावैरित्येतत्प्रघट्टकोपपत्तिः।

न चास्यात्मस्वभावस्य [3]व्यभिचारित्वमसम्भवादवैचित्र्यावहत्वादनौचित्याच्च [4]शमशब्देन मुनिर्व्यपदिष्टः। यदि तु स एव शमशब्देन व्यपदिश्यते निर्वेदशब्देन तन्न [5]कश्चिद्बाधः। केवलं शमश्चित्तवृत्त्यन्तरम्। निर्वेदोऽपि दारिद्र्यादिविभावान्तरोत्थितनिर्वेदतुल्यजातीयो न भवति तज्जातीय एव। हेतुभेदेऽपि तद्व्यपदेश्यो रतिभयादिभिरिव।

अभिनव—अथवा लोक में इस प्रकार की अनुभूति हो तो भी सम्भावना मात्र से स्थायीभावों में उसकी गणना नहीं की जा सकती। क्योंकि उक्त रसों में उसका उपयोग नहीं होता है। अपितु व्यभिचारीभाव रूप होने से इसकी लक्षणीयता ज्ञात होती है अन्य प्रकार से नहीं। इसलिए उनचास भाव हैं यह प्रघट्टक (प्रकरण) उपपन्न है, युक्ति संगत है।

अभिनव—इस आत्मस्वरूप का व्यभिचारीभाव रूप में असम्भव होने से तथा कोई विचित्रता न होने से और अनौचित्यपूर्ण होने से मुनि ने 'शम' शब्द से नहीं कहा है। यदि मुनि उस आत्मस्वरूप को शम या निर्वेद शब्द से कहते तो कोई बाधा (आपत्ति) नहीं होती। केवल इतना ही है कि शम एक अलग चित्तवृत्ति होती। यह निर्वेद भी दारिद्र्य आदि अन्य विभावों से उत्पन्न निर्वेद के सजातीय (समान) नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि दोनों प्रकार के विभावों से उत्पन्न निर्वेद को एक ही नाम से अभिहित किये जाने पर विजातीय क्यों कहा जाता है? इस पर कहते हैं कि कारण-भेद होने पर भी सजातीय पदार्थ को उसी नाम से अभिहित किया जाता है। दरिद्रता तथा तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिये। रति, भय आदि भावों में भी यही बात पायी जाती है।

---

१. क. सम्भवन्मात्रस्थायिनां।
२. क-नेति।
३. क. व्यभिचारित्वसम्भवात्।
४. क. समात्मस्वभावस्य दमशब्देन मुनिर्व्यपदिष्टः।
शम आत्मस्वभावः। स शमशब्देन मुनिर्व्यपदिष्टः।
५. क. कश्चिद्भावः।

तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं [1]शमः। तथा च यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादयः। तदनुगमेऽपि विशुद्धमस्य रूपमव्यवधानसमाधिबलादधिशय्य[2] व्युत्थानेऽपि प्रशान्तता भवति। यथोक्तं—'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (योगसू. ३-१०) इति। तत्त्वज्ञानलक्षणस्य[3] च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति। तदनुभावा एव च यमनियमाद्युपकृता अनुभावा[4] उपाङ्गाभिनयस्य आङ्गिकाध्यायत्रये त्र ये स्वभावाभिनया वक्ष्यन्ते। अत एते तद्विषया[5] एव। अयमेव हि स्वभावः। विभावा अपि कथम्। ईश्वरानुग्रहप्रभृतयः। प्रक्षयाश्च[6] रत्यादयोऽत्रास्वाद्याः केवलम्।

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न रति, हास, भय आदि भिन्न-भिन्न स्वरूप वाले होने पर भी एक ही शब्द से अभिहित किये जाते हैं उसी प्रकार निर्वेद भी तत्त्वज्ञान तथा दरिद्रता आदि भिन्न कारणों से उत्पन्न होने पर भी 'निर्वेद' नाम से कहा जाता हैं। किन्तु यह निर्वेद या शम आत्मा का स्वरूप नहीं है अपितु चित्तवृत्तिरूप हैं। अतः ये शान्त रस के स्थायीभाव नहीं हैं। अपितु आत्मस्वरूप तत्त्वज्ञान ही स्थायी भाव है। इसी बात को ग्रन्थकार कहते हैं—

अभिनव—इसलिए यह आत्मस्वरूप ही तत्त्वज्ञान शम है। और जिसके कालुष्य के उपराग विशेष हो आत्मा के रत्यादि भाव हैं। उन रत्यादि भावों के विद्यमान रहने पर भी समाधि के बल से उसके अव्यहित विशुद्ध स्वरूप को जानकर व्युत्थान काल में भी (समाधि के अभाव में भी) चित्त की प्रशान्तवाहिता रहती है। जैसाकि योगदर्शन में कहा गया है कि (समाधि के बाद भी) 'संस्कारों के कारण चित्त की प्रशान्तवाहिता बनी रहती है' (योगसूत्र ३।१०)। यह समस्त लौकिक और अलौकिक चित्तवृत्ति कलाप (समुदाय) तत्त्वज्ञान रूप स्थायीभाव से व्यभिचारीभाव रूप को प्राप्त होते हैं। उसके अर्थात् तत्त्वज्ञान के अनुभाव ही यम-नियम इत्यादि उपकृत होकर शान्तरस के अनुभाव होते हैं और आङ्गिक अभिनय के तीन अध्यायों में जो स्वभावाभिनय कहे जाँयगे वे तद्विषयक हैं अर्थात् वे शान्त रस विषयक ही हैं। यही शान्तरस

१. क. शमता च यत्कालुष्य०।
२. क-भ. बलादतिशय्य।
३. क-भ. तत्त्वज्ञानलक्षणस्यावस्था समन्ततोऽयम्।
४. क-भ.म. अनुभावादुपाङ्गस्य।
५. क-भ. एतद्विषया एव।
६. क-भ.म. वृक्षयोश्च।

यथा विप्रलम्भे औत्सुक्यं संभोगेऽपि वा 'प्रेमासमाप्तोत्सवम्' (तापसवत्सराज. १-१७) इति । यथा च रौद्रे औग्रयं यथा च करुणवीर-भयानकाद्भुतेषु निर्वेदधृतित्रासहर्षा व्यभिचारिणोऽपि प्राधान्येनावभासन्ते तथा न जुगुप्सायाम् । [1]सर्वथैव रागप्रतिपक्षत्वात् । तथा हि महाव्रते नरकपालादि-धारणम् [2]सुराभार्यादिसम्मदादिविस्तारसंक्षेपादिकर्मीकृतिर्हि धर्मे जुगुप्साहेतु-त्वेनैव । निजाभ्यङ्गघृताञ्जनेन च देवरात्पुत्रजन्माद्युपदिष्टम् ।

स्वात्मनि च कृतकृत्यस्य परार्थघटनायामेवोद्यम इत्युत्साहोऽस्य परोपकार-विषयेच्छाप्रयत्नरूपो दयापरपर्यायोऽभ्यधिकोऽन्तरङ्गः । अत एव तत्केचिद्दया-वीरत्वेन व्यपदिशन्ति । अन्ये धर्मवीरत्वेन ।

ही स्वभाव है और अन्य रस विकार हैं । भाव यह कि शान्त रस प्रकृति है और अन्य सभी रस विकृति हैं । अब प्रश्न यह है कि जब शान्त रस प्रकृति है अजन्य है तो उसके विभाव कैसे ? क्योंकि विभावों से ही रस उत्पन्न होते हैं । कहते हैं कि शान्त रस स्वभाव रूप है और ईश्वर का अनुग्रह आदि विभाव हैं । प्रक्षय अर्थात् क्षीण होते हुए रत्यादि स्थायीभाव यहाँ केवल आस्वाद्य है ।

अभिनव—जिस प्रकार विप्रलम्भ श्रृङ्गार में 'औत्सुक्य' अथवा सम्भोग श्रृङ्गार में भो 'प्रेमासमाप्तोत्सवम्' (तपसवत्सराज १।१७) इत्यादि में 'औत्सुक्य' व्यभिचारीभाव होने पर भी प्रधान रूप से प्रतीत होता है । अथवा जैसे रौद्र रस में उग्रता, करुण में निर्वेद, वीर रस में धृति, भयानक में त्रास और अद्भुत में हर्ष आदि व्यभिचारीभाव होने पर भी प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं, उस प्रकार जुगुप्सा में उसके राग के सर्वथा विपरीत होने के कारण व्यभिचारीभावों की प्रधान रूप से प्रतीति नहीं होती । जैसे महाव्रत में नरकपाल आदि का धारण करना, मद्य तथा स्त्री आदि मादक (सम्मद) वस्तुओं का न्यूनाधिक रूप से सेबन करना धर्म में जुगुप्सा का हेतु होता है । इस प्रकार नियोग के द्वारा देवर से विधवा के लिए पुत्रों के उत्पादन का विधान भो जुगुप्सा का हेतु कहा गया है ।

अभिनव—अपने में कृतकृत्य पुरुष का परोपकार करने में ही उद्यम (प्रयास) होता है इसलिए परोपकार-विषयक इच्छा और प्रयत्न रूप उत्साह जिसका अपरनाम दया है, शान्त रस का विशेष अन्तरङ्ग होता है । इसलिए उसे कोई दयावीर और कोई धर्मवीर के नाम से अभिहित करते हैं ।

---

१. क–भ. सर्वे तथैव ।

२. क. स्वभार्यादि । असुभार्यादि ।

ननूत्साहोऽहङ्कारप्राणः । शान्तस्त्वहङ्कारशैथिल्यात् [1]तद्विरुद्धात्मकः । व्यभिचारित्वं हि विरुद्धस्यापि न नोचितं रताविव निर्वेदादेः ।

'शय्या शाद्वलम्' आसनं शुचि शिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
इत्यप्रार्थितसर्वलभ्यविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत्परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥"
(नागानन्द. ४-२)

इत्यादौ हि परोपकारकरणे ह्युत्साहस्यैव प्रकर्षो लक्ष्यते । न तूत्साहशून्या काचिदप्यवस्था । इच्छाप्रयत्नव्यतिरेकेण पाषाणतापत्तेः । यत एव परिदृष्टपरापरत्वेन स्वात्मोद्देशेन कर्तव्यान्तरं नावशिष्यते । अत एव शान्तहृदयानां परोपकाराय शरीरसर्वस्वादिदानं न शान्तविरोधि । 'आत्मानं गोपायेत्' (गौतम-धर्मसूत्र-९.३५) इत्यादिना ह्यकृतकृत्यविषयं [2]शरीररक्षणमुपदिश्यते । सन्न्यासिनां तद्रक्षादितात्पर्याभावात् । तथा हि —

अभिनव—अब प्रश्न यह कि उत्साह तो अहङ्कारप्राण (अहङ्कारमूलक) होता है और शान्तरस में अहङ्कार की शिथिलता होती है । अतः शान्त रस वीर रस (उत्साह) से विरुद्ध होता है । कहते हैं कि जिस प्रकार रति अर्थात् शृङ्गार में निर्वेद आदि विरुद्ध भावों का वर्णन अनुचित नहीं माना जाता है । उसी प्रकार विरुद्ध भावों का भी व्यभिचारीभाव के रूप में वर्णन अनुचित नहीं माना जाता है । जैसा कि नागानन्द नाटक में वर्णन है—

अभिनव—"हरी घास का मैदान ही शय्या है, पवित्र शिलातल ही आसन है, वृक्षों का अधस्तल (पेड़ों के नीचे) घर है, झरनों का जल ही शीतल पेय है, कन्दमूल फल भोजन है, और हिरण (मृग) साथी हैं, इस प्रकार बिना माँगे ही समस्त वैभव के सुलभ होने पर भी वन में एक यही महान् दोष है कि याचकों का मिलना कठिन है अतः परोपकार के सम्पादन के विना यहाँ रहना व्यर्थ है !" (नागानन्द ४।२)

अभिनव—इत्यादि उदाहरण में परोपकार करने के लिए उत्साह का ही प्रकर्ष दिखाई देता है । किन्तु उत्साह से शून्य कोई अवस्था नहीं होती है । क्योंकि इच्छा और प्रयत्न के विना तो मनुष्य पाषणमय हो जायगा । क्योंकि पर और अपर अर्थात् ब्रह्म और जीवात्मा का स्वरूप ज्ञान हो जाने पर उसे अपने लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, इसलिए शान्त हृदय वाले व्यक्ति का दूसरे के उपकार के लिए अपने

---

१. क. द्वैविध्यात्मकः । द्वैविध्यात्तदात्मकः ।
२. क–भ.म. शरीरभूततामुपदिश्यते ।

"धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किन्न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ॥"

(हितोपदेश–१.८३) इति ।

सुप्रसिद्धचतुर्वर्गसाधकत्वमेव देहरक्षायाः निदानं दर्शितम् । कृतकृत्यस्य 'जलेऽग्नौ श्वभ्रे वा पतेत्' इति सन्न्यासित्वे श्रवणात् । तद्यथाकथञ्चित्त्याज्यं शरीरं यदि [1]परार्थं त्यज्यते तत्किमिव न सम्पादितं भवति ।

जीमूतवाहनादीनां न यतित्वमिति चेत् किं तेन ? नः तत्त्वज्ञानित्वं तावदवश्यमस्ति । अन्यथा देहात्ममानिनां देह एव सर्वस्वभूतः । [2]धर्माद्यनुद्देशेन परार्थे त्यागस्यासम्भवात् । [3]युद्धेऽपि हि न शरीरस्य त्यागायोद्यमः ।

शरीर और सर्वस्व का दान कर देना शान्तरस का विरोधी नहीं होता । 'आत्मानं गोपायेत्' अर्थात् 'अपनी रक्षा करनी चाहिए' इत्यादि गौतम सूत्र (९।३५) के द्वारा अपने अपने कर्त्तव्य का पालन न करने वाले पुरुषों के लिए शरीर रक्षा का उपदेश दिया गया है । सन्यासियों के लिए तो उस रक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है । जैसा कि कहा गया है—

अभिनव—"मानव-जीवन धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की स्थिति (रक्षा) के लिए है । उसका नाश करने वाले ने क्या नहीं नष्ट किया ? और उनकी रक्षा करने वाले ने क्या नहीं रक्षित किया ?" (हितोपदेश १।८३) ।

यहाँ पर चतुर्वर्ग को शरीर रक्षा का कारण बताया गया है । कृतकृत्य (तत्त्वज्ञानी) के लिए 'जल, अग्नि अथवा गर्त्त में गिरकर शरीर त्याग करना चाहिए' इस प्रकार का उपदेश सन्यासी के विषय में सुना गया है । इसलिए उन्हें जिस किसी प्रकार शरीर का त्याग करनो चाहिए' यह विधान बताया गया है । यदि परोपकार के लिए शरीर का त्याग किया जाय तो क्या नहीं सम्पादित होता ? अर्थात् उसने सब कुछ कर दिया ।

अभिनव—यदि यह कहा जाय कि जीमूतवाहन आदि यति (सन्यासी) नहीं है तो इससे हमारा क्या मतलब ? हमारे लिए तो तत्त्वज्ञानी होना आवश्यक है, वह तत्त्वज्ञान जीमूतवाहन में है ही । यदि जीमूतवाहन में तत्त्वज्ञान नहीं मानते हैं तो शरीर को आत्मा मानने वाले (देहात्माभिमानी) के लिए शरीर ही सर्वस्व है अतः उसे धर्म आदि के उद्देश्य से दूसरे के लिए शरीर का त्याग करना कैसे सम्भव

१. क. परार्थं न त्यज्यते तत्किमिव न सम्पादितं भवति ।

२. क–भ. धर्माद्यनुशेते न ।

३. क–म. युद्धे विहीनशरीरस्य । क–भ. युद्धे विहीनवीरस्य ।

[1]परापजयोद्देशेनैव प्रवृत्तः। भृगुपतनादावपि शुभतरदेहान्तरसम्पिपादयिषैवाधिकं विजृम्भते। तत्स्वार्थानुद्देशेन परार्थसम्पत्त्यै यद्यच्चेष्टितं देहत्यागपर्यन्तमुपदेशदानादि यत्तदलब्धात्मतत्त्वज्ञानानामसम्भाव्यमेवेति तेऽपि तत्त्वज्ञानिनः। 'ज्ञानिनां सर्वेष्वाश्रमेषु मुक्तिः' इति स्मार्तेषु श्रुतौ च। यथोक्तम्—

'देवार्चनरतस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धं कृत्वा ददद्द्रव्यं गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥' इति

केवलं परार्थाभिसन्धिजाद्धर्मात्परोपकारात्मकफलत्वेनैवाभिसंहितात् पुनरपि देहस्य तदुचितस्यैव प्रादुर्भावो बोधिसत्त्वादीनाम्। तत्त्वज्ञानिनामपि विश्रान्तिलाभस्वभावौचित्यात्। यथा रामस्य वीरोऽङ्गं पितुराज्ञां पालयितुः। एवं शृङ्गाराद्यङ्गेष्वपि मन्तव्यम्। अत एव शान्तस्य स्थायित्वेऽप्यप्राधान्यम्। जीमूतवाहने त्रिवर्गसम्पत्तेरेव परोपकृतिप्रधानायाः फलत्वात्। अनेनैवाशयेन नाटक-

होगा ? युद्ध में भी शरीर-त्याग की प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु शत्रु को पराजित करने के लिए प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार भृगुपतन अर्थात् पर्वत शिखर से गिरकर प्राणत्याग आदि में दूसरे शुभतर (दिव्य) देह की प्राप्ति की इच्छा ही प्रमुख रूप से विजृम्भित होती है। इसलिए निःस्वार्थ भाव से दूसरे के उपकार के लिए उपदेश देने से लेकर शरीर-त्याग पर्यन्त जितनी चेष्टाएँ होती हैं वे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के बिना सम्भव नहीं हैं इसलिए वे भी (इस प्रकार की चेष्टा करने वाले जीमूतवाहन आदि भी) तत्त्वज्ञानी है। 'तत्त्वज्ञानियों को सभी आश्रमों में मुक्ति मिलती है' वह श्रुति और स्मृति दोनों में बताया गया है। जैसाकि कहा गया है—

"देवार्चन में रत अर्थात् देवपूजा में लीन, तत्त्वज्ञान में स्थित, अतिथिप्रिय, श्राद्ध करके दान देने वाला गृहस्थ भी मोक्ष को प्राप्त करता है।"

अभिनव—परोपकार रूप फल की प्राप्ति की कामना से तथा परोपकार साधन से प्राप्त धर्म से बोधिसत्त्व आदि महात्माओं को फिर अनुरूप शरीर आदि की प्राप्ति पुनः हो जाती है। तत्त्वज्ञानियों में भी स्वभाव के औचित्य के कारण विश्रान्ति का लाभ अर्थात् परम सुख की प्राप्ति (निर्वाण की प्राप्ति) हो जातो है। जैसे, राम का पिता की आज्ञा का पालन करना वीर का अङ्गभूत होकर सुख का कारण बनता है—उसी प्रकार शृङ्गार आदि के अङ्गों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इसलिए शान्तरस का स्थायित्व होने पर उसकी प्रधानता नहीं हैं। जीमूतवाहन में परोपकार प्रधान धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग की प्राप्ति ही फल होने से शान्तरस का स्थायित्व होने पर भी उसकी प्रधानता नहीं है। इसी आशय से नाटक के लक्षण में कहेंगे—

१. क—म. पराजयोद्देशेनैव।

लक्षणे वक्ष्यते 'ऋद्धिविलासादिभिर्गुणैः' (ना शा. १८-११) इति। अनेन हि ऋद्धिविलासप्रधानमर्थकामोत्तरं [1]सर्वं चरितं सकललोकहृदयसंवादसुन्दरप्रयोजनं नाटके निवेशयितव्यमित्युक्तम्। एतच्च तत्रैव वर्णयिष्यामः। अनेनैव चाशयेन न शान्ते कश्चन (क्वचन) मुनिना [2]ऋद्ध्यङ्को विनियोक्ष्यते। तेन [3]ऋद्ध्यङ्क-विनियोगाभावात्तदसत्त्वमिति प्रत्युक्तम्।

अन्ये तु जीमूतवाहनः 'कस्ते पुत्र त्राता भविष्यति' (नागानन्द ४-९) इति शरणार्थिनीं वृद्धामेव त्रातवान्। शक्तिश्चास्य न काचित्। परहिंसा च न काचिदित्येवमाहुः। तच्चानुमतमेव। न हि बोधिसत्त्वानां पुनरप्युत्थानात्मक-जीवितमभिसन्धानानुप्रविष्टं [4]शक्तिश्चेति। न च काकतालीयवृत्त्या शास्त्रमुप-दिशति। तत्सिद्धं दयालक्षणो ह्युत्साहोऽत्र प्रधानम्।

"ऋद्धि, विकास आदि गुणों से युक्त नायक होना चाहिए" (ना० शा० ८।११) इत्यादि कथन से यह सिद्ध होता है कि ऋद्धि और विलास प्रधान अर्थ और काम सम्पन्न समस्त लोगों (सामाजिकों) के हृदय की भावना के अनुरूप सुन्दर प्रयोजन वाले समस्त चरित का निवेश नाटक में करना चाहिए, यह कहा गया है। यह बात वहीं नाटक लक्षण में कहेंगे। इसी आशय से भरतमुनि ने शान्तरस में ऋद्धि के अङ्गों का विनियोग नहीं किया गया है। इसलिए शान्तरस में जाति के अङ्गो का विनियोग न होने से इस प्रकार नाटक में शान्तरस की सत्ता नहीं है, इसका प्रत्याख्यान (खण्डन) हो गया।

अभिनव—अन्य आचार्य तो कहते हैं कि नागानन्द नाटक में "हे पुत्र ! जब राजा ने तुम्हारी रक्षा नहीं की तो और कौन तुम्हारी रक्षा करेगा ?" (नागानन्द) (४.९) इस प्रकार कहने वाली शरणार्थिनी वृद्धा नागमाता की जीमूतवाहन ने रक्षा की। किन्तु यहाँ पर उन्होंने कोई शक्ति नहीं दिखाई और न किसी दूसरे की हिंसा ही की है। क्योंकि शक्ति का प्रदर्शन और परहिंसा वीररस में होती है और जीमूतवाहन में ये दोनों बातें नहीं है, फिर उसे दयावीर या धर्मवीर कैसे कहा जा सकता है ? इस पर कहते हैं कि यह बात तो हमें भी मान्य है। किन्तु बोधिसत्त्वों के मन में पुनः अभ्युदय की भावना नहीं होती है, और न शक्ति का प्रयोग ही अभीष्ट है और न काकतालीयन्याय से शास्त्र उपदेश देता है। इससे सिद्ध है कि यहाँ पर दयालक्षण उत्साह प्रधान है।

---

१. क–भ. सर्वं खल्विदं सकललोक०

२. क. जात्यङ्को क–म. जात्यंशको।

३. क. जात्यङ्कविनियोगाभावात्।

४. क. शक्तिश्चेदिति।

अन्ये तु व्यभिचारिणो यथायोगं भवन्ति। यथोक्तं 'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः' (योगसूत्र ४·२७) इति। अत एव निश्चेष्टत्वादनुभावाभाव इति प्रत्युक्तम्। यदा तु [1]पर्यन्तभूमिकालाभहेतुभावाभावदास्याप्रयोज्यत्वम्। रतिशोकादावपि पर्यन्तदशायामप्रयोगस्यैव युक्तत्वात्। हृदयसंवादोऽपि तथाविधतत्त्वज्ञानबीजसंस्कारभावितानां भवत्येव। यद्वक्ष्यति 'मोक्षे चापि विरागिणः' (ना. शा २७-५८) इति। 'सर्वस्य तु' (ना. शा १-१०७) इत्यत्र हृदयसंवादे भयानके वीरप्रकृतेरभावात्।

ननु तादृशि प्रयोगे वीरस्य क आस्वादः? उच्यते—यत्रायं निबध्यते तत्रावश्यं [2]पुरुषार्थोपयोगि शृङ्गारवीराद्यन्यतममस्त्येव। तन्निष्ठस्तेषामास्वादः। यत्रापि प्रहसनादौ हास्यादेः प्रधानता तत्राप्यनुनिष्पादिरसान्तरनिष्ठ [3]एवास्वादो भिन्नभिन्नाधिकारिणः। एतदुद्देश एव रूपकभेदचिन्तननिमित्तमिति केचित्।

अभिनव—अन्य आचार्य तो कहते हैं कि यहाँ पर व्यभिचारीभाव भी यथोचित रूप से रहते हैं। जैसाकि योगदर्शन में कहा गया है कि "उस समाधि के छिद्रों में संस्कारों के कारण प्रत्यय ज्ञान भी रहते हैं।" (योगसूत्र ४।२७)। इस प्रकार शान्तरस के निश्चेष्ट (व्यापार शून्य) होने से अनुभावों का अभाव है, इसका प्रत्याख्यान (खण्डन) हो गया। और जब मोक्ष की अन्तिम भूमिका में पहुँच जाने पर उत्साह आदि भावों का अभाव हो जाता है तब शान्तरस अप्रयोज्य अर्थात् अनभिनेय हो जाता है। कहते हैं कि अन्तिम भूमिका में पहुँचकर केवल शान्तरस ही अनभिनेय नहीं होता, अपितु रति, शोक आदि का भी परमदशा में प्रयोग (अभिनय) न करना ही उचित है। भाव यह कि मोक्ष की अन्तिम भूमिका में पहुँच कर रति, शोक आदि भी अनभिनेय हो जाते हैं। हृदय की तन्ययता भी जिस प्रकार रत्यादि स्थायीभावों से संस्कार के कारण शृङ्गारादि रसों में होती है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के बीजभूत संस्कारों से संस्कृत व्यक्तियों में भी तन्मयता होती है। जैसाकि आगे कहेंगे—"मोक्ष में भी विराग करने वाले होते हैं" (ना० शा० २७।५८) और "यह नाट्य समस्त त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्त्तन है" "(ना० शा० १.१०८)" इत्यादि में हृदय के संवाद के विषय में भयानक में भी प्रवीर प्रकृति का अभाव होता है।

---

१. क. पर्यन्तभूमिकालाभहेतुभावस्तदास्याप्रयोज्यम्।

२. क–म. पुरुषार्थोपयोगिनि।

३. क. एवास्वादभिन्नादिकार्यम्··· ···धिकादोऽप्युद्देशे दैवरूपकभेदचिन्तननिमित्तमिति-केचित्।

तस्मादस्ति शान्तो रसः। तथा च चिरन्तनपुस्तकेषु 'स्थायिभावान् रसत्व-मुपनेष्यामः' (ना. शा. पृ० २९९) इत्यनन्तरं 'शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मकः' (ना. शा. पृ० ३१२) इत्यादिशान्तलक्षणं पठ्यते। तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो न विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या, तन्मुख्यतालाभात्केवलं वासनान्तरोपहित [1]इत्यस्य सर्वप्रकृतित्वाभिधानाय पूर्वमभिधानम्।

[2]लोके च पृथक्पृथक्सामान्यस्य न गणनमिति स्वाख्यस्य [3]पृथङ्नोक्तः। सामान्यमपि तु विवेचकेन पृथगेव गणनीयमिति विवेचकाभिमतसामाजिका-स्वादलक्षणप्रतीतिविषयतया स पृथग्भूत एव।

अभिनव—अब प्रश्न यह उठता है कि उस प्रकार प्रयोग (अभिनय) में वीर रस का आस्वाद कैसा होता है? कहते हैं कि जहाँ पर शान्तरस का निबन्धन (प्रयोग) होता है वहाँ पुरुषार्थों के उपयोगी शृङ्गार वीर आदि में से कोई एक रस अवश्य रहता है और उसी (शान्त रस) में उनका आस्वादन होता है। जहाँ प्रहसन आदि में हास्य आदि की प्रधानता होती है वहाँ भी बाद में निष्पन्न होने वाले अन्य रस अन्तरनिष्ठ रूप में आस्वाद्य होते हैं। यह उद्देश ही रूपक के भेदों के चिन्तन का निमित्त है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

अभिनव—अभिनव कहते हैं कि इसलिए शान्त रस है, यह सिद्ध हो गया। इसीलिए प्राचीन पुस्तकों में "स्थायिभावों को रसत्व प्राप्त करायेंगे" (ना० शा० पृष्ठ २९९) इस कथन के बाद "शमस्थायीभावात्मक शान्त रस होता है" (ना० शा० पृ० ३२२) इस प्रकार शान्त रस का लक्षण दिया गया है। उनमें सभी रसों को विषयों से विमुखता के द्वारा उस शान्तरस की प्रधानता के कारण प्रायः शान्तरस के रूप में ही चरमास्वाद होता है। केवल अन्तर इतना है कि अन्य रस प्रायः स्थायीभावात्मक वासनाओं से उपहित होते हैं अर्थात् अन्य रसों की स्थिति में वासनाएँ स्थित रहती हैं और शान्तरस में अपनी चरमावस्था में ये वासनाएँ शान्त हो जाती है अतः अभिनव ने सभी रसों की परिणति शान्तरस में मानते हैं। इसीलिए समस्त रसों की प्रकृति होने के कारण शान्त रस का प्रथम अभिधान किया गया है।

अभिनव—और लोक में सामान्य रूप से जिसकी सर्वत्र स्थिति होती। उसकी अलग-अलग गणना नहीं की जाती, इसीलिए शान्तरस के स्थायीभाव की गणना अलग से नहीं की गई है। किन्तु विवेचकों को तो सामान्य का भी अलग-

१. क. म. इत्यत्र।
२. अ. लोकेश्च पृथक् पृथक् सामान्यस्य गणनमिति।
३. क. पृथग्युक्तः।

इतिहासपुराणाभिधानकोशादौ च [1]नव रसाः श्रूयन्ते श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्रेष्वपि । तथा चोक्तम्—

'अष्टानामिह देवानां शृङ्गारादीन् प्रदर्शयेत्[2] ।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पतेत् ॥' (इति) ।

तस्य च वैराग्यसंसारभीरुतादयो विभावाः । स हि [3]तैरुपनिबद्धैर्विज्ञायते । मोक्षशास्त्रचिन्तादयोऽनुभावाः । निर्वेदमतिस्मृतिधृत्यादयो व्यभिचारिणः । अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे [4]स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेऽस्यैवाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम् । अत्र सङ्ग्रहकारिका—

परिगणन करना चाहिए, अत एव विवेचकों को अभिमत सामाजिकगत आस्वाद रूप प्रतीति का विषय होने से शान्तरस का स्थायीभाव अलग होता है ।

अभिनव—इतिहास, पुराण और अभिधानकोश आदि में नौ रसों का वर्णन पाया जाता है । श्रीमत्सिद्धान्तशास्त्र में भी कहा गया है—

"यहाँ आठों देवताओं के शृङ्गार आदि आठ रसों का प्रदर्शन करे और उनके बीच में महादेव के शान्त रूप की रचना करे ॥"

विमर्श—इस प्रकार स्पष्ट है कि रस नौ ही है । इसीलिए भक्ति को अलग से रस नहीं माना गया है । अभिनव के अनुसार शान्त रस में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है । अतः नौ रस मानना ही युक्ति-संगत है । इसी बात को अभिनव अगले अनुच्छेद में स्पष्ट करते हुए कहते हैं ।

अभिनव—वैराग्य और संसार से भय आदि उसके (शान्तरस के) विभाव हैं । क्योंकि उसके अर्थात् वैराग्य आदि के उपनिबन्धन (वर्णन) से उसका ज्ञान होता है । मोक्षशास्त्र का चिन्तन उसके (शान्तरस के) अनुभाव हैं । निर्वेद, मति, धृति, स्मृति, आदि (उसके) व्यभिचारीभाव हैं । अतएव स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदि से अनुप्रविष्ट ईश्वर-प्रणिधान विषयक भक्ति और श्रद्धा उसके अङ्ग हैं, इसलिए इनकी अलग से गणना नहीं की गई है । इस विषय में अभिनव संग्रहकारिका प्रस्तुत करते हैं—

---

१. क-म. नवैव रसाः ।

२. क-म. प्रचारयेत् ।

३. क-म. तैरुपनिबन्धैर्विज्ञायते ।

४. क. स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवाङ्गमिति । स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्ये एवाङ्गमिति ।

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्त्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः ।
निःश्रेयसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥

विभावस्थाय्यनुभावयोगः क्रमाद्विशेषणत्रयेण दर्शितः ।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एव प्रलीयते ॥

इत्यादिना रसान्तरप्रकृतित्वमुपसंहृतम् ।

अभिनव—"मोक्ष रूप अध्यात्म का कारण, तत्त्वज्ञान के अर्थ रूप हेतु से संयुक्त और निःश्रेयस (मोक्ष) रूप धर्म से युक्त शान्तरस को समझना चाहिए।"

यहाँ पर तीन विशेषणों के द्वारा क्रमशः विभाव, स्थायीभाव और अनुभाव का निर्देश किया गया है। भाव यह कि यहाँ पर 'मोक्षरूप अध्यात्म' जो विभाव, तत्त्वज्ञान रूप हेतु को स्थायीभाव और निःश्रेयस रूप (दो अप्रवर्त्तन) धर्म को अनुभाव के रूप में प्रदर्शित किया गया है। और भी—

अभिनव—"अपने अपने कारण को प्राप्त करके सभी भाव शान्तरस से प्रवृत्त होते हैं और निमित्त (कारण) के अपाय (विनाश) हो जाने पर फिर शान्त में ही प्रलीन हो जाते हैं"

इत्यादि के द्वारा शान्तरस ही समस्त रसों की प्रकृति है, इस प्रकार उपसंहार किया गया है।

विमर्श—यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि भरतमुनि ने 'डिम' को 'दीप्तरस काव्ययोनि' कहा है और उसे श्रृङ्गार और हास्य को छोड़कर छ रसों से युक्त बताया है। यदि शान्तरस का अलग अस्तित्व मानते हैं तो श्रृङ्गार और हास्य को छोड़ देने पर 'डिम' में सात रस होने चाहिए, किन्तु भरतमुनि ने 'श्रृङ्गार-हास्य-वर्ज' केवल छः रसों को माना है। उससे प्रतीत होता है कि शान्तरस का अलग अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार रस आठ होते हैं नौ नहीं। इस पर अभिनवगुप्त का कथन है कि रौद्र-रस-प्रधान डिम में श्रृङ्गार और हास्य की सम्भावना हो सकती है, इसलिए उनका नामोल्लेखपूर्वक 'डिम' के लक्षण में निषेध किया है और शान्तरस की तो 'डिम' में कोई सम्भावना ही नहीं है। इसलिए उसका नामोल्लेख पूर्वक निषेघ नहीं किया है किन्तु षड्रस कहने से उसका स्वतः निषेध हो जाता है अतः शान्त को अलग रस मानने की कोई बाधा नहीं है। इसी बात को अगले अनुच्छेद में स्पष्ट करते हैं—

यत्तु डिमे हास्यशृङ्गारपरिहारेण षड्रसत्वं च वक्ष्यते तत्रायं भावः। 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' (ना शा. १८-८५) इति भाविना लक्षणेन रौद्रप्रधाने तावड्डिमे तद्विरुद्धस्य शान्तस्य सम्भावनैव न, किं निषेधेन। शान्तासम्भवे तु दीप्तरसकाव्ययोनिरित्येतेन किं व्यवच्छेद्यम्। 'शृङ्गारहास्यवर्जं षड्रसयुक्तम्' (ना. शा. १८-८४) इति ह्युक्ते कस्तत्र प्रसङ्गः।

ननु [1]करुणबीभत्सभयानकप्राधान्यमनेन पादेन व्यवच्छेद्यते। नैतत्। 'सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्नः' (१८-८८) इत्यनेनैव तन्निरासात्। शान्ते तु सात्त्वत्येव वृत्तिरिति तद्व्यवच्छेदकमेवैतत्। तेन डिमलक्षणं प्रत्युत शान्तरसस्य सद्भावे लिङ्गम्।

अभिनव—जो कि डिम में शृङ्गार और हास्य को छोड़कर छः रस होने की चर्चा आगे की जायगी, उसका अभिप्राय यह है कि भरतमुनि ने डिम को 'दीप्तरसकाव्ययोनि' कहा है, इत्यादि आगे कहे जाने वाले लक्षण के अनुसार रौद्ररसप्रधान डिम में तो उसके विरोधी शान्तरस की सम्भावना ही नहीं है तो उसके निषेध का प्रश्न हो नहीं है अर्थात् उसका निषेध करने से क्या लाभ है अर्थात् उसका निषेध करना व्यर्थ है और शान्तरस का अभाव मानने पर 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इस विशेषण से किसका व्यवच्छेद किया जायगा ? और 'शृङ्गार-हास्य से रहित छः रसों से युक्त डिम होता है' इस प्रकार कहने पर उसमें और किसको प्राप्ति होती है ? जिसके निषेध के लिए 'दीप्तरसकाव्ययोनि' विशेषण किया गया है।

अभिनव—यदि यह कहा जाय कि 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इस पद से यहाँ पर करुण, बीभत्स, और भयानक रस की प्रधानता का निराकरण किया गया है तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि 'डिम' के लक्षण में डिम को 'सात्त्वती और आरभटो वृत्तियों से युक्त' कहा गया है और करुण तथा अद्भुत को इन सात्त्वतो और भारभटो वृत्तियों से रहित कहा गया है। अतः 'सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसम्पन्नः' इस विशेषण के द्वारा ही करुण और अद्भुत का डिम में निवारण स्वतः हो जाता है। अतः उसने निवारण के लिए 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इस विशेषण की आवश्यकता ही नहीं रहतो। शान्तरस में तो सात्त्वती वृत्ति रहती है अतः 'दीप्तरसकाव्ययोनि' आदि विशेषण उसी का व्यवच्छेदक है। इसलिए डिम का लक्षण बाधक नहीं, अपितु शान्तरस के सद्भाव (अस्तित्व) में साधक हैं।

---

१. ङ. करुणाद्भुतप्राधान्यमनेन।

शृङ्गारस्तु प्रसभं सेव्यमानः सम्भाव्य एव। तदङ्गं च हास्य इति तयोरेव प्रतिषेधः कृतः प्राप्तत्वात्सर्वसाम्याच्च। विशेषतो वर्णदेवताभिधानमनुचितमप्यस्य तत्कल्पितमिति ज्ञेयम्। [1]उत्पत्तिस्तु शान्तस्यापि दर्शितैव। सत्त्वाभावो हि हास्यः। [2]सहविभावत्वेन चास्य वीरबीभत्सौ। अत एवास्य रसस्य यमनियमेश्वरप्रणिधानाद्युपदेशेऽनुपयोगितया [3]महाफलत्वं सर्वप्राधान्यमितिवृत्तव्यापकत्वं चोपपन्नमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

तत्त्वास्वादोऽस्य कीदृशः? उच्यते—उपरागदायिभिरुत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव [4]विरलोम्भितरत्नान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवदाभातस्वरूपं[5] सकलेषु रत्यादिषूपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद्विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं परोन्मुखतात्मसकलदुःखजालहीनं परमानन्दलाभसंविदेक-

---

अभिनव—बलपूर्वक उपभोग किया जाने वाला शृङ्गार तो डिम में सम्भाव्य है और हास्य उसका (शृङ्गार का) अङ्ग है, इसलिए इन्हीं दोनों का यहाँ निषेध किया गया है (शृङ्गारहास्यवर्जः) अर्थात् डिम में उसकी प्राप्ति होने से तथा सब रूपकों में शृङ्गार और हास्य के समान होने से उसका निषेध शब्दतः (नामतः) किया गया है और शान्तरस का निषेध 'दीप्तरसकाव्ययोनि' इस विशेषण के द्वारा अर्थतः निषेध किया गया है। मूलभूत रस होने के कारण उसके (शान्तरस के) वर्ण और देवता का अभिधान (कथन) अनुचित होने पर भी अन्य रसों से समानता लाने के लिए विशेष रूप से कल्पना कर ली गई है। शान्तरस के अस्तित्व (सत्ता) के विषय में युक्ति पहिले दिखला चुके हैं। क्योंकि सत्त्व का अभाव हास्य है। वीर और बीभत्स इसके समान विभाव वाले हैं। इसलिए इस रस के यम, नियम, ईश्वर प्रणिधान आदि के उपदेश पर आश्रित, मोक्षरूप महाफल से युक्त, सब रसों में प्रधान समस्त इतिहास में व्याप्त शान्त रस का अस्तित्व मानना उचित है, अतः अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. क–म. उपपत्तिस्तु।

२. क–म. सहभावित्वेन।

३. क–उपदेशः अनुपयोगितया।

४. क–भ. विरलोभीतरत्नान्तराल।

५. क–भ.म. सूत्रं यदाह तत्स्वरूपम्।

त्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारणतया निर्भासमानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन [1]लोकोत्तरानन्दाय तथाविधहृदयं विधत्त इति।

एवं ते नवैव रसाः। पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्। तेन रसान्तरसंभवेऽपि[2]चार्षप्रसिद्ध्या सङ्ख्यानियम इति यदन्यैरुक्तं तत्प्रत्युक्तम्। भावाध्यायेऽपि चैतद्वक्ष्यते।

आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः। स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। तथा हि—[3]बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः। यूनोर्मित्रजने रतौ। लक्ष्मणादौ भ्रातरि स्नेहो धर्ममय एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादाविति द्रष्टव्यम्। एषैव गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यमिति।

अभिनव—अब प्रश्न होता है कि उसके तत्त्व का आस्वाद किस प्रकार होता है? कहते हैं कि अपने स्वरूप से उपरक्त कर देने वाले उत्साह, रति आदि स्थायीभावों से उपरक्त जो आत्मा का स्वरूप है वही बीच-बीच में अन्तराल देकर (दूर-दूर) पिरोई हुई मणियों के बीच में चमकते हुए उज्ज्वल सूत्र के समान भासित स्वरूप वाला समस्त रत्यादि स्थायीभाव रूप उपरञ्जकों में उस रूप में रहने पर भी 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इस न्याय से एक बार प्रकाशित हुआ यह आत्मस्वरूप विषयों को ओर उन्मुख होने वाले अर्थात् विषयोन्मुखता रूप समस्त दुःख समूह से रहित परमानन्द की प्राप्ति के साथ एक रूप से काव्य तथा नाट्यप्रयोग (अभिनय) अवस्था भेद से लोकोत्तर (अलौकिक) परम आनन्द प्राप्त करने के लिए हृदय को भी उसी प्रकार आनन्दमय कर देता है।

अभिनव—इस प्रकार वे नौ ही रस होते हैं। पुरुषार्थों के उपयोगी होने के कारण अथवा रञ्जन की अधिकता के कारण इतने ही रस उपदेश्य है अर्थात् नौ ही रस मानने योग्य हैं, इस प्रकार अन्य रस भी हो सकते हैं किन्तु प्रसिद्धि के कारण यहाँ संख्या का नियम है, ऐसा जो शङ्कुक आदि आचार्यों ने कहा है, उसका भी खण्डन हो गया है। आगे भावाध्याय में इस बात को कहेंगे।

---

१. क. लोकोत्तरानन्दानयनं। क-भ. लोकोत्तरानन्दनं।

२. क—म. पार्षतः प्रसिद्ध्या।

३. ङ. बालस्य मातापित्रादौ, यूनोर्मित्रजनने, लक्ष्मणादौ भ्रातरि च स्नेहोदयो रतौ विश्रान्तः।

एवमेते रसा ज्ञेया नव[1] लक्षणलक्षिताः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥ ८३ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसाध्यायः षष्ठः[2] ।

अध्यायार्थमुपसंहरन् भाविनोऽवकाशं ददत्सङ्गतिं प्रकटीकर्तुमाह—

अभिनव—और जो 'आर्द्रता स्थायीभाव वाला स्नेहरस होता है' ऐसा किसी ने कहा है वह ठीक नहीं है। क्योंकि स्नेह एक प्रकार का आकर्षण है जो रति और उत्साह आदि में पर्यवसित हो जाता है, अन्तर्भूत हो जाता है। जैसे बालक का माता-पिता आदि के प्रति स्नेह भय में विश्रान्त हो जाता है, दो युवक मित्रों का स्नेह (या नायक-नायिका का प्रेम) रति में पर्यवसित हो जाता है, लक्ष्मण आदि भाइयों का स्नेह धर्म में समाविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार बृद्ध का पुत्र आदि के प्रति स्नेह भी समझना चाहिए। गर्द्धरूप स्थायीभाव वाले लौल्य रस के खण्डन में भी यही सरणि (पद्धति) माननी चाहिए। हास अथवा रति में अथवा अन्य किसी रस में उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार भक्ति रस के विषय में भी समझना चाहिए। उसका अन्तर्भाव शान्त में माना जा सकता है।

अभिनव—अब प्रस्तुत अध्याय के विषय का उपसंहार करते हुए और अगले अध्याय के विषय को अवकाश (अवसर) देते हुए सङ्गति को प्रकट करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद—इस प्रकार लक्षणों से लक्षित नौ रस समझने चाहिए। इसके बाद आगे भावों का लक्षण कहेंगे ॥ ८४ ॥

इस प्रकार भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में रसाध्याय नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र के एक संस्करण ('त' संज्ञक) को छोड़कर प्रायः सभी संस्करणों (काशी संस्करण, काव्यमाला संस्करण, गायकवाड़ संस्करण, घोष द्वारा सम्पादित संस्करण) में **'एवमेते रसा ज्ञेया नव लक्षणलक्षिताः'** के स्थान पर **'एवमेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः'** पाठ मिलता है। वस्तुतः **'रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ'** पाठ ही शुद्ध है। **'रसा ज्ञेया नव'** यह पाठ तो अभिनव-भारती टीका में उपलब्ध **'एवमेते रसा ज्ञेया नव'** के आधार पर शुद्ध किया गया है। मूल पाठ के अनुसार इसका अर्थ होगा—'इस प्रकार आठ रस समझने

१. क–ज्ञेयास्त्वष्टौ ।
२. ख. इति भारतीये नाट्यशास्त्रे रसविकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥
क–त. रसस्वरूपपरिपातनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

एवमेते रसा ज्ञेया [1]नवेति । [2]समूला एवोपचारा इति दर्शयति—लक्षण-लक्षिता इति ।

भावानामपि लक्षणं रसलक्षणमेव पूरयति । विभावव्यभिचार्यनुभाव-लक्षणेन रसलक्षणमेव पूर्यते । रतिस्थायिभावप्रभवः ऋतुमाल्यादिविभावको नयनचातुर्याद्यनुभावक इत्युक्तमपि साकाङ्क्षमेव । कीदृशी हि रतिः कश्च विभावः कश्चानुभाव । तेन यद्यप्यापाततो भावानां लक्षणमिदं प्रतिभाति [3]साहचर्यात् तथापि वाक्यैकवाक्यतया रसलक्षणमेवेदमित्यपिशब्दस्यार्थं इति शिवम् ।

चाहिए' । इस प्रकार रस आठ होते हैं । अभिनव ने केवल एक ग्रन्थ के आधार पर नौ रसों का विवेचन किया है । वस्तुतः रसों की संख्या आठ है । भरत ने ब्रह्मा के मत से रसों की संख्या आठ बतायी है । (**एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना**) । भरत ने छठें अध्याय के प्रारम्भ में भी **'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः'** कहा है । अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस वस्तुतः नौ ही हैं । किन्तु शान्त रस को न मानने वाले 'आठ रस हैं' (अष्टौ नाट्यरसाः) ऐसा कहते हैं । अभिनव का कहना है कि पुरुषार्थ के उपयोगी होने से अथवा रञ्जन की अधिकता के कारण नौ ही रस मानना चाहिए । (**एवं ते नवैव रसाः । पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा**) । इस प्रकार भरत के अनुसार नाट्य में आठ रस होते हैं किन्तु अभिनवगुप्त शान्त नामक नवाँ रस भी मानते हैं ।

अभिनव—इस प्रकार ये नव ही रस समझने चाहिए । लक्षणा समूल होती है अर्थात् लक्षणा का भी कोई आधार होता है, कोई हेतु होता है, इस बात को दिखाते हैं—लक्षणों से लक्षित है (लक्षण-लक्षिता इति ।)

अभिनव—भावों का लक्षण भी रस लक्षण की ही पूर्ति करता है । और विभाव अनुभाव, व्यभिचारीभावों के लक्षण से रस लक्षण की ही पूर्त्ति होती है । रति स्थायी-भाव वाला, ऋतु, माला आदि विभावों से युक्त, नयन चातुर्य अर्थात् सकटाक्ष-निरीक्षण आदि अनुभावों से समन्वित शृंगार रस होता है । यह कथन भी साकाङ्क्ष हो है कि रति कैसी होती है ? विभाव क्या हैं ? अनुभाव किसे कहते हैं ? इसीलिए यद्यपि आपाततः ये साहचर्य से भावों के लक्षण प्रतीत होते हैं तथापि वाक्यैक्यता होने से रस के ही ये पूरक लक्षण हैं यह 'अपि' शब्द के द्वारा बतलाया गया है । 'इति शिवम्' ।

---

१. क. ज्ञेयास्त्वाष्टाविति ।

२. क. रसवद्गीतमित्यादिव्यपदेशात् स्तूयते । स मूला एवोपचारा इति ।
   क. रसवद्गीतमित्याविव्यपदेशास्तु ये ते रसमूला एवोपचारा ।

३. क. महाचार्या ।

[1]रत्यादिशक्त्यष्टकमध्यवृत्तिर्यस्य स्वहृन्मण्डलसम्प्रयोज्या ।[2]
स्थायी शिवश्चेतसि तेन वृत्तिः कृता रसाध्याय इह क्रमेण ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्तविरचितायां नाट्यवेदविवृतावभिनवभारत्यां
रसाध्यायः षष्ठः समाप्तः

अभिनव—रति आदि आठ शक्तियों के मध्य रहने वाले तथा अपने हृदय मण्डल में प्रयोक्ता (प्रेरक) शिव जिसके हृदय में स्थायीभाव के रूप में स्थित रहते हैं उस अभिनवगुप्त ने यहाँ रसाध्याय की क्रम से वृत्ति की रचना की है ।

इस प्रकार महामाहेश्वर अभिनवगुप्तविरचित नाट्यवेद को व्याख्या अभिनव-भारती में रसाध्याय नामक छठां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

इति डॉ० पारसनाथद्विवेदिविरचितायां मनोरमाख्यायामभिननवभाख्या हिन्दी व्याख्यायां षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार नाट्य में आठ रस स्वीकृत हैं किन्तु अभिनवगुप्त शान्त नामक नवाँ रस भी स्वीकार करते हैं । अग्निपुराण में भी शान्त को नवाँ रस माना गया हैं । मम्मट ने भी शान्त को नवाँ रस स्वीकार किया है । मम्मट निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव मानते हैं किन्तु उनका यह निर्वेद दरिद्रता आदि से उत्पन्न निर्वेद नहीं है अपितु तत्त्वज्ञान-प्रभव निर्वेद है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद ही शान्तरस का स्थायीभाव हो सकता है ? और रत्यादि स्थायीभावों का उपमर्दक भी । इस प्रकार मम्मट के अनुसार शान्त रस का स्थायीभाव 'निर्वेद' है किन्तु अग्निपुराणकार, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ प्रभृति आचार्य 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव मानते हैं । उनका कहना है कि निर्वेद चित्तवृत्तियों का अभाव रूप है और स्थायीभाव चित्तवृत्तियों के भावरूप होते हैं अतः अभावरूप निर्वेद को स्थायीभाव कैसे कहा जा सकता है ? इसलिए अभिनवगुप्त ने 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव कहा है । क्योंकि 'शम' चित्तवृत्ति रूप है और यही शान्तरस का स्थायीभाव है ।

कुछ आचार्यों का कथन है कि नाट्य में अवस्था का अनुकरण होता है और शान्त में समस्त विषयों से निवृत्ति होती है । अतः अवस्थानुकृति रूप नाट्य में सर्वविषयोपरक्तिरूप शान्तरस सम्भव नहीं है । क्योंकि नाट्य अभिनय-प्रधान होता है और शान्तरस निवृत्ति-प्रधान । अतः निवृत्ति प्रधान शान्तरस में रोमाञ्च आदि का अभाव होने से अभिनय नहीं हो सकता और गीत-वाद्यादि का भी शान्तरस के साथ विरोधी है जैसाकि कहा गया है—

---

१. क. इत्यादिशक्त्यष्टकमध्यवृत्तिर्यस्य ।
२. क. स्वहृन्मण्डलसम्प्रयोज्यः ।

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।
समः सर्वेषु भावेषु स शान्तः प्रथितो रसः॥

अतः अभिनय के योग्य न होने से अभिनय-प्रधान नाट्य में शान्तरस का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसीलिए भरतमुनि ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' कहा है।

अभिनवगुप्त आदि आचार्य 'अष्टौ नाट्ये रसाः' इस वाक्य को उपलक्षण मानते हैं। उनके अनुसार नाट्य में शान्त नामक नवां रस भी होता है। उन्होंने शान्तरस को अभिनेय भी माना है। उनका कहना है कि गीत-वाद्य आदि का भी शान्तरस से कोई विरोध नहीं है। जैसा कि संगीतरत्नाकर में कहा गया है—

'अष्टावेव रसा नाट्ये इति केचिदचूचुदन्।
तदचारु यतः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः॥

इस प्रकार नाट्य में भी शान्तरस होता है ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। अभिनवगुप्त ने तो शान्त को मूलभूत रस माना है। उनके अनुसार शान्तरस प्रकृति है और अन्य सभी रस विकृति। शृङ्गारादि विकृतरस अपने अपने विशिष्ट हेतुओं के आश्रयण से प्रकृत शान्तरस से आविर्भूत होते हैं और निमित्त का अपाय (विनाश) होने पर पुनः उसी में विलीन हो जाते हैं। जैसाकि कहा गया है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

इस प्रकार अभिनव के अनुसार शान्तरस प्रकृत रस है और अन्य विकृत रस है। नारद और वासुकि ने भी शान्त को प्रमुख रस माना है। महाभारत का प्रमुखरस शान्त है। नागानन्द नाटक का भी अङ्गीभूत (प्रधान) रस शान्त है और शान्तरस का स्थायीभाव शम है।

इनके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने आर्द्रता स्थायीभावात्मक स्नेह, लौल्प और भक्ति रस को भी माना है किन्तु दूसरे आचार्य उनका खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि स्नेह-लौल्यादि रति के ही विशेष नामान्तर हैं। समान व्यक्तियों का परस्पर रति (प्रेम) स्नेह है, छोटे का बड़े के प्रति रति (प्रेम) भक्ति है और बड़े का छोटे के प्रति रति (प्रेम) वात्सल्य है। इस प्रकार ये सब रति के ही विशेष रूप हैं। इस प्रकार 'प्रेयान्' और 'लौल्य' को भी अलग रस नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनका भाव में ही अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु रूपगोस्वामी आदि आचार्य 'भक्ति' के मुख्य पाँच भेद और सात गौण भेद स्वीकार करते हैं। भोज ने नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त और उद्धत तीन रस और मानते हैं।

भोज के अनुसार शान्त, प्रेयान्, उदात्त और उद्धत ये चार रस नायक के भेदों के अनुसार उद्भावित होते हैं। इनके अतिरिक्त भोज ने आनन्द, प्रशम, स्वातन्त्र्य, पारवश्य, साध्वस, विलास, अनुराग और सङ्गम आदि नये रस भी प्रस्तुत किये हैं। अग्निपुराणकार नौ रस मानते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र अग्निपुराणोक्त नौ रसों के अतिरिक्त स्नेह, लौल्य, व्यसन, सुख, दुःख आदि अन्य रस भी माने हैं। भानुदत्त ने वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, कार्पण्य और 'माया' रस का उल्लेख किया है। किन्तु वे इन्हें रस मानने के पक्ष में नहीं हैं। वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी ने भक्ति को प्रमुख रस माना है और शास्त्रीय रसों को गौण स्वीकारा है। इस प्रकार अनेक रस सम्भावित हैं। किन्तु पण्डितराज ने इन सब का खण्डन कर प्राचीन परम्परा का समर्थन करते हुए नौ रस माने हैं उनका कहना है कि भक्ति आदि को अलग रस मानने पर भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित संख्या भङ्ग हो जायेगी। अतः मुनि सम्मत नौ रस मानना ही उचित है।

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत नाट्यशास्त्र एवं
अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में
रसनिरूपण नामक छठां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

भावानिदानीं व्याख्यास्यामः[1]। अत्राह—भावा इति कस्मात्। किं [2]भवन्तीति भावाः किं [3]वा भावयन्तीति भावाः।

अभिनव–भारती

स्थायी प्रबुद्धहृदये व्यभिचारिभूतः
कामाकुलासु जनतासु महानुभावः।
अन्तर्विभावविषयो रसमात्रमूर्तिः
श्रीमान्प्रसन्नहृदयोऽस्तु मम त्रिणेत्रः॥

हिन्दी व्याख्या

भाव-निरूपण

अनुवाद अब भावों की व्याख्या करेंगे। इस विषय में कहते हैं कि—इन्हें भाव क्यों कहा जाता है ? क्या वे स्थित होते हैं अथवा भावन करने वाले हैं, इसलिए भाव कहे जाते हैं।

अभिनव—प्रबुद्ध जनता के हृदय में स्थायी (स्थायी रूप से स्थित), कामनाओं से आकुल (व्यस्त) जनता के हृदय में व्यभिचारिभूत (सञ्चरणशील), महानुभाव (महाशय), अन्तर्हित भावों के उद्बोधक अथवा अन्तःकरण के भावों के उद्बोधक, रसमात्रमूर्त्ति (केवल रस या आनन्द स्वरूप)' श्रीमान् (शोभा-सम्पन्न) त्रिनेत्रधारी भगवान् शिव हमारे ऊपर प्रसन्न होवें॥ ७॥

---

१. ख.घ. वक्ष्यामः

२. ख.ध. किं भवन्तीति भावाः इति नास्ति। क-त. किं भवतीति भावः।

३. ख. किं भावय तीति भावाः। क-ङ. किं भावयतीति भावः।

भावानिदानीमिति । नन्वध्यायान्त एवैतदासूत्रितमिति किमनेन पुनरुक्तेन । 'भावाश्चापि कथं प्रोक्ताः' (ना. शा. ६-३) इत्यत्रैव प्रश्ने कृते पुनरिहाध्याये किं भवन्ति' इत्यादि च किमर्थमुच्यते ।

अत्र केचिदाहु—'भावाश्चापि' इत्यध्यायादौ 'भावानामपि लक्षणम्' इत्यध्यायान्ते च विभावादीनां सर्वेषां साधारण्येन प्रश्नप्रतिज्ञादि । अधुना तु विभावादिषु वक्तव्येषु प्रथमं तावत्प्राधान्याच्चित्तवृत्तिरूपाः स्थायिव्यभिचारिणो लक्षणीया इति तद्विषयैवेयं प्रतिज्ञा प्रश्नश्च ।

विमर्श—यहाँ पर रसस्वरूप (रसमूर्त्ति रूप) त्रिनेत्रधारी शिव की वन्दना की गई है। भगवान् शिव प्रबुद्ध अर्थात् तत्त्वज्ञानी के हृदय में स्थायी रूप से निवास करते हैं, कामनाओं से आकुल जनता के हृदय में व्यभिचारिभाव अर्थात् अस्थिर रूप से रहते हैं, महान् अनुभाव वाले अर्थात् उदार है और अन्तःकरण में स्थित भावों को उजागर करने वाले है तथा स्वयं रसस्वरूप हैं। भाव यह कि तत्त्वज्ञानी के हृदय में स्थायी रूप से स्थित, कामाकुल लोगों में सञ्चरण करने वाले, महानुभाव, अन्तःकरण के भावों के उद्‌बोधक त्रिनेत्रधारी शिव हम लोगों पर प्रसन्न होवें। यहाँ पर स्थायी, व्यभिचारी, अनुभाव, विभाव आदि शब्दों के द्वारा इस अध्याय के वर्ण्य-विषय की ओर संकेत किया गया है। भाव यह कि छठें अध्याय में रस-स्वरूप की व्याख्या की जा चुकी है। अब सातवें अध्याय में रस निष्पत्ति के कारणभूत विभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव, और स्थायीभावों की चर्चा की जायगी।

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि 'इसके बाद मैं भावों का लक्षण कहूँगा' तो फिर उसी प्रसङ्ग को यहाँ पुनः कहने की क्या आवश्यकता है? और छठे अध्याय के प्रारम्भ में **भावाश्चापि कथं प्रोक्ताः**' (ना० शा० ६।३) अर्थात् 'भाव क्यों कहे गये हैं।' इस प्रकार भावों के सम्बन्ध में प्रश्न किया जा चुका है, फिर इस अध्याय में 'कि भवन्ति' इत्यादि के द्वारा उसी बात को क्यों कहते हैं, किस लिए कहते हैं?

अभिनव—इस विषय में कुछ आचार्य कहते हैं कि—पिछले (छठें) अध्याय के आरम्भ में 'भावाश्चापि' और अध्याय के अन्त में साधारण रूप से प्रश्न और प्रतिज्ञा आदि कर चुके हैं। अब यहाँ विभाव आदि के कथन-हेतु सर्वप्रथम प्रधान होने से चित्तवृत्ति रूप स्थायीभावों एवं व्यभिचारीभावों का लक्षण करना चाहिए, इसलिए उन्हीं के विषय में यह प्रतिज्ञा और प्रश्न हैं।

वयं तु ब्रूमः—भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः। तथा च 'एकोनपञ्चाशता भावैः' इत्यादौ तानेवोपसंहरिष्यति। तेषां तु योग्यतावशाद्यथायोगं स्थायिसंचारिविभावानुभावरूपता संभवति। ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च बाष्पप्रभृतयोऽनुभावा एकान्तजडस्वभावाः ते न भावशब्दव्यपदेश्याः।

ननु रससंवित्स्वभावे निमज्जनादत एवोन्मज्जनाच्च तेऽपि संविदात्मकाः। एवं तर्हि विश्वमेव भावमयं स्यादुपचारात् विज्ञानवादाश्रयाद्वेत्यभिनयधर्म्यादीनां पृथक्तानुपपत्तिः। तस्मात्स्थायिव्यभिचारिसात्त्विका एव भावाः। विभावानुभावानां च प्रासङ्गिकं लक्षणम्। एतच्च वक्ष्यामः।

यच्च पौनरुक्त्यं चोदितं तदसत्। तथा हि रसाध्यायप्रारम्भे चोदितमङ्गमध्ये भावा अनुद्दिष्टा एव कथं तत्र तत्रोदीरिता इति। तन्निराकरणार्थमाह—भावानिति। यतोऽतीताध्यायान्ते भावानां लक्षणं रसलक्षणमेव अत इदानीमपि[1] गतचोद्यांशकेऽवसरे भावान्वक्ष्यामो रसानामङ्गमध्ये पठितत्वादिति।

अभिनव—इस पर अभिनवगुप्त कहते हैं कि हमारे मत में भाव शब्द से चित्तवृत्ति विशेष ही विवक्षित है और 'उनचास भाव हैं' इत्यादि स्थल पर उन्हीं का उपसंहार किया जायगा तथा उन्हीं का ही योग्यता के अनुसार स्थायी, संचारी, विभाव और अनुभाव रूपता सम्भव है अर्थात् उन्हीं को ही योग्यता के अनुसार स्थायी, संचारी, विभाव और अनुभाव कहा जाता है। और जो ऋतु, माला आदि विभाव और अश्रुपात (आसू बहना) आदि अनुभाव हैं वे अत्यन्त जड़ स्वभाव के कारण भाव नहीं कहे जा सकते हैं।

अभिनव यदि यह कहा जाय कि संवित् स्वभाव आनन्द रूप रस में निमज्जन अत एव उन्मज्जन होने के कारग वे ऋतुमाल्यादि (विभाव) एवं अश्रुपातादि (अनुभाव) भी संवित् स्वभावात्मक हैं। इस प्रकार तो उपचार से अथवा विज्ञानवाद का आश्रयण करने के कारण सारा विश्व हो भावमय हा जायगा, तो इस प्रकार अभिनय आदि धर्मी का पृथक् कहना भी अनुपपन्न हो जायगा। इसलिए स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक भाव ही भाव हैं। विभाव और अनुभाव का लक्षण कथन तो प्रासङ्गिक है, यह बात आगे कहेंगे।

अभिनव—और जो यह कहते हैं कि छठे अध्याय की यहाँ पुनरुक्ति की हुई है वह कथन असत् (अनुचित) है। क्योंकि रसाध्याय के प्रारम्भ में नाट्य के अङ्ग रूप में भावों का उल्लेख मात्र किया गया है, उद्देश अर्थात् नाम मात्र से कथन नहीं है,

---

१. क–म. इदानीं विगतचोद्यांशके।

ननु चित्तवृत्त्यात्मान एव चेद्भावास्तर्ह्येतेषु व्युत्पत्तिद्वयमपि संभाव्यते। तथा हि 'भवति' रतिभूतप्रादुर्भावे। प्रकर्षगतिश्च। पुनरभिधानात्तेन येन तरतमपूर्वतयैव प्रादुर्भवति न तु क्षणं व्यवतिष्ठते। तेभ्यो भावाश्चित्तवृत्त्यात्मानोऽनुभावज्ञानस्य परिमितकालभावित्वात्। यदि वा भावयन्ति आस्वादनं कुर्वन्ति हृदयं व्याप्नुवन्तीति[1]। ततश्च व्युत्पत्तिद्वयसंभावनात्कथं 'भवन्ति' इति पक्षमनाशङ्क्यैव 'किं वा ते भावयन्ति' इति प्रश्नोऽयुक्त इत्यभिप्रायेणानुद्भिन्नमर्थं प्रश्नस्योद्भेदयन् प्रश्नार्थमेवानुभाषते—किं भवन्तीत्यादि[2]। [3]भवन्ति भावयन्ति वा। भावयन्तीति च किमेतत्कुर्वन्ति व्याप्नुवन्ति वा। तत्र च द्वयेऽपि किं कर्म।

तो फिर वहाँ बार-बार क्यों कहा है। उसके निराकरण के लिए कहते हैं—भावानिति। क्योंकि पिछले अध्याय के अन्त में जो भावों का लक्षण है वह रस का ही लक्षण है। इसलिये नाट्य के अङ्ग के मध्य में रस का पाठ (कथन) होने के कारण अब यहाँ भी अवसर पर भावों का कथन किया जायगा अथवा व्याख्या करूगा।

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि यदि भाव चित्तवृत्ति रूप ही हैं तो इनकी दो प्रकार को व्युत्पत्ति संभावित है। जैसे, यहाँ 'भवति' पद रति रूप वस्तुओं के प्रादुर्भाव में स्थित होने के 'भाव' है। प्रादुर्भाव का अर्थ है प्रकर्षगति और बार-बार कथन से प्रकर्ष या उत्कर्ष होता है अर्थात् बार-बार कथन से भाव उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। जिससे अधिकाधिक (अधिकतर-अधिकतम) रूप से भाव का प्रकर्ष होता है अर्थात् भाव विकसित होते हैं, क्षणभर भी एक रूप में स्थिर नहीं रहते। उनसे हो चित्तिवृत्ति रूप ये भाव अनुभाव ज्ञान के द्वारा परिमित (सीमित) काल में चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं अथवा भावित होते हैं, आस्वादन करते हैं, हृदय में व्याप्त होते हैं अर्थात् भाव हृदय में व्याप्त कर चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं, इसलिए 'भावं कहे जाते हैं। उस प्रकार दोनों प्रकार की वृत्तियों की संभावना होने के कारण 'भवन्ति' इस पक्ष की आशङ्का किये बिना ही 'क्या वे भावित करते हैं' इस प्रकार का प्रश्न अयुक्त है, इस अभिप्राय से प्रश्न के अनुद्भिन्न (अस्फुट) अर्थ को उद्भिन्न (स्फुट) करते हुए प्रश्न के अर्थ (भाव) को हो कहते हैं, स्फुट करते हैं—'किं भवन्ति भावा इत्यादि'। क्या 'भवति' अर्थात् स्थित होने के कारण 'भाव' हैं अथवा 'भावयन्ति' अर्थात् भावित करते हैं, हृदय को व्याप्त करते हैं, इसलिए 'भाव' है। और 'भावयन्ति' के अनुसार 'क्या इसको करते हैं'। उन दोनों में ही कर्म क्या है?

१. क—म. व्याप्यानुभवन्तीति।
२. क—म.भ. किं भवतीत्यादि।
३. क—भ. किं भवति भावयति वा।

[४]उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान्काव्यार्थान्भावयन्तीति भावा इति[५]।

एवं प्रश्नार्थमनुभाष्योत्तरमाह—वागङ्गसत्त्वोपेतानित्यादि।

कोः कवतेर्वा कवनीयं काव्यम्। तत्र च पदार्थवाक्यार्थौ रसेष्वेव पर्यवस्यत इत्यसाधारण्यात्प्राधान्याच्च काव्यस्यार्थाः रसाः। अर्थ्यन्ते प्राधान्येनेत्यर्थाः। न त्वर्थशब्दोऽभिधेयवाची। स्वशब्दानभिधेयत्वं हि रसादीनां ध्वनिकारादिभिर्दर्शितम्। तच्च मदीयादेव तद्विवरणात्सहृदयालोकलोचनादवधारणीयम्। इह तु यथावसरं वक्ष्यत एव।

एवं काव्यार्थान् रसान् भावयन्ति कुर्वते। स्थायिव्यभिचारिकलापेनैव ह्यास्वाद्योऽलौकिकार्थो निर्वर्तते। पूर्वं हि स्थाय्यादिकमवगच्छन्ति ततः सर्वसाधारणतयाऽऽस्वादयन्ति। तेन पूर्वावगमगोचरीभूतः सन्नुत्तरभूमिकाभागिन आस्वाद्यस्य भावको निष्पादक उच्यते। तेन भावयन्तीति करणे दर्शयति—वागङ्गेति।

इस प्रकार प्रश्न के अर्थ (अभिप्राय) व्याख्या करके उत्तर कहते हैं—

अनुवाद—कहते हैं कि –'वाणी, अङ्ग और सत्त्व से युक्त काव्य के अर्थ (रस) को भावित करते हैं, इसलिए 'भाव' कहे जाते हैं।

अभिनव—'कु' धातु अथवा 'कव' धातु से कवनीय काव्य शब्द बना है। उस काव्य में पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों का रस में ही पर्यवसान होता है, इसलिए असाधारणता और प्रधानता के कारण काव्य का अर्थ रस रूप ही होता है। प्रधान रूप से अभ्यर्थनीय होने से वे अर्थ हैं। यहाँ पर 'अर्थ' शब्द वाच्य (अभिधेय) अर्थ का पर्यायवाची नहीं है अर्थात् 'अर्थ' शब्द से यहाँ शब्दार्थ या वाच्यार्थ का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि रस, भाव आदि स्व शब्द से वाच्य नहीं होते, ऐसा यह ध्वनिकार आदि आचार्यों ने दिखाया है (कहा है)। इस सिद्धान्त को मेरे ही ध्वन्यालोक के विवरण सहृदयालोकलोचन से समझना चाहिए। यहाँ तो यथावसर कहेंगे।

अभिनव—इस प्रकार काव्य के अर्थ रस को भावित करते हैं। स्थायो एवं व्यभिचारी भावों के द्वारा ही यह आस्वाद्य (आस्वादनीय) एवं अलौकिक अर्थ (रस) निष्पन्न होता है। क्योंकि पहिले स्थायी आदि भावों की प्रतीति करते हैं, फिर सर्वसाधारण रूप से उसका आस्वादन करते हैं। इससे पूर्व परिचित ज्ञान के विषयभूत

४. क–न. अत्रोच्यते।

५. क–न.त. भावयतीति भावः। भवति चात्र श्लोकः।

वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।

वागादयस्तत्कर्मसु वर्तन्ते। तेन वर्णनात्मना[1] वाचिकेन संनिवेशवलनादीनाङ्गिकेनान्तर्बहिरात्मना सात्त्विकेन करणभूतेनोपेतान् सम्बद्धान्। करणं हि कर्मणि कर्तरि च यद्यपि संबध्यते [2]तथापीहास्य प्राधान्यात्संबन्धदृशि करणत्वमेव दर्शयितुं तृतीयया निर्दिश्यते—वागङ्गमुखरागेणेति।

अत्र आहार्यं तु यद्यपि नृत्यकलाध्रुवापातयोरन्तरङ्गं तथापि तदनन्तरचित्तवृत्यवगतौ वाचिकादीनामेवान्तरङ्गता। तथा हि काव्यादपि रसास्वादो भवतीत्युक्तम्। तत्र च न पूर्णताऽऽहार्यस्य। तेनास्य नोपादानम्।

होकर उत्तरवर्त्ती भूमिका भाग के आस्वाद का भावक अर्थात् निष्पादक कहा जाता है। अतः भाव का निष्पादक रसास्वादन है। अतः 'भावपन्ति' की व्युत्पत्तिकरण में दिखाते हैं—**वागङ्गेति।**

अभिनव—यहाँ पर वागादि शब्द उनके कर्म में प्रयुक्त है अर्थात् वाक् शब्द वाणी के कर्म में, अङ्ग शब्द अङ्ग के कर्म में और सत्त्व शब्द सत्त्व के कर्म में प्रयुक्त होते हैं। इसलिए वर्णनात्मक वाचिक, सन्निवेश, वलन आदि आङ्गिक और आत्मा के अन्तर्भूत एवं बाह्यगत सात्त्विक अभिनय से उपेत अर्थात् सम्बद्ध काव्यार्थ (रसास्वाद) कौ भावित करने अर्थात् अभिव्यक्त करने के कारण उसे 'भाव' कहते हैं। करण यद्यपि कर्म और कर्त्ता से सम्बद्ध है तथापि इसकी यहाँ प्रधानता होने से सम्बन्ध में करणत्व को ही दिखाने के लिए तृतीया का निर्देश करते हैं—'वागङ्गमुखरागेण' इत्यादि।

अभिनव—यद्यपि यहाँ पर नृत्यकला, ध्रुवापात आदि के अन्तरङ्गभूत आहार्य अभिनय भी है तथापि उसके अनन्तर चित्तवृत्तियों के समझने में वाचिक आदि अभिनयों की ही अन्तरङ्गता है। इसलिए काव्य से भी रसास्वादन होता है, यह कहा जा चुका है। वहाँ पर आहार्य की पूर्णता नहीं है, अतः आहार्य का यहाँ उपादान नहीं किया गया है।

विमर्श—पाठभेद के अनुसार यहाँ 'अत्रोच्यते'—के बाद एक श्लोक प्राप्त होता है।

"वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।

भाव यह कि कवि के अन्तर्गत भावों को वाणी, अङ्ग और मुखराग तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा भावित कर अर्थात् अभिव्यक्त करने के कारण भाव कहा जाता है।

---

१. क–भ. वर्णात्मना।
२. क. तथापि ह्यस्यप्राधान्यात्।

भू इति करणे धातुस्तथा च भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम्[1] । लोकेऽपि च प्रसिद्धम्[2] । अहो ह्यनेन[3] गन्धेन [4]रसेन वा सर्वमेव भावितमिति[5] । तच्च[6] व्याप्त्यर्थम् ।

एतदुक्तं भवति—चित्तवृत्तय एवालौकिकाः वाचिकाद्यभिनयप्रक्रियारूढतया स्वात्मानं लौकिकदशायामनास्वाद्यं कुर्वन्तीत्यतस्ता एव भावाः । भवतिर्हि ण्यन्तः प्रकृतं करोत्यर्थमाहेति दर्शयति—भू इतीति ।

चकार उच्चारणार्थः । णिचा सम्बन्धेनेति (सनाद्यन्तेति) इकारप्रत्यये सति भूधातुः करोत्यर्थे वर्तते । एतदेवोपसंहरति—भावमिति (भावितमिति) अनर्थान्तरमिति । एकोऽर्थ इति यावत् ।

अभिनव—यह कहा गया है कि ये लौकिक चित्तवृत्तियाँ ही वाचिक आदि अभिनय प्रक्रिया में आरूढ़ होने से अपने स्वरूप को लौकिक दशा का आस्वादन न करा कर रस रूप में भावित (आस्वाद्य) करती हैं, इसलिए उसे भाव कहते हैं। णिच् प्रत्ययान्त भू धातु (भावपति) प्रकृत में 'करोति' (करता है) अर्थ को कहता है, इस अर्थ को दिखाते हैं—

अनुवाद—भाव शब्द 'भू' धातु से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होकर बनता है, इसलिए भाव, वासना और कृत ये समानार्थक हैं। लोक में भी प्रसिद्ध हैं, 'अहो, इस गन्ध से अथवा इस रस से सब कुछ भावित है'। यहाँ भावित का अर्थ परिव्याप्त होना है अर्थात् भावित शब्द व्याप्ति अर्थ वाला है।

अभिनव—यहाँ पर चकार उच्चारणार्थक है। 'णिच्' से सम्बन्ध होने से इकार प्रत्यय होने पर 'भू' धातु से 'करोति' अर्थ में णिच् प्रत्यय होता है। भाव यह कि भू धातु का णिच् से सम्बन्ध होने से इकार प्रत्यय होने पर 'करोति' अर्थ में घञ् प्रत्यय है। इसी का उमसंहार करते हैं—भाव, वासित एवं कृत शब्द समानार्थक है अर्थात् ये तीनों एक अर्थ को कहते हैं। यहाँ 'अनर्थान्तर' का अर्थ है एक अर्थ।

---

१. ख. घ. भाव इति करणसाधनं—यथा भावितो वासितः कृत इत्यनर्थान्तरम् ।
क–त. भाव इति व्याप्तमर्थान्तरम् ।

२. ख. ग. घ. लोकेऽपि । क–न. लोकेऽपि न दृष्टम् ।

३. ख. घ. ह्यन्योऽन्यगन्धेन ।

४. क–न. रसेन गन्धेन ।

५. ख. घ. भावितम् ।

६. ख. घ. अपि च व्याप्त्यर्थम् । क–भ. तच्च व्याप्त्यर्थे ।

नन्वास्वाद्यान्तरान्तर्भाव्ये वाचिकादौ करणमितिकर्तव्यतांशे वक्तव्यमित्याशङ्क्य तन्त्रेण व्युत्पत्त्यन्तरं दर्शयन् तमाह—लोकेऽपि चेति । न केवलं भावितं कृतमिति लोके प्रसिद्धं यावद्व्याप्तमित्यपि । एतदपि चेत्यनेनोक्तम् । सर्वमित्येतद्गन्धरसमपि ।

ननु तत्रापि कृतमित्येवार्थोऽस्त्वित्याशङ्क्याह—तच्च व्याप्त्यर्थमिति । न हि कस्तूरिकागन्धेन[1] वस्त्रं तद्गन्धं क्रियते । गुणस्यासंक्रान्तेः । न च तत्सदृशगुणान्तरोत्पत्तिः । यावद्द्रव्यभावित्वाद्गन्धादीनाम् । वस्त्रादौ च विनाशप्रतिपत्तेः । केवलं कस्तूरिकाद्रव्यमेव तावद्रूपदेशचैतन्याक्रमणस्वभावं वस्त्रादिकेऽपि तथा प्रतिपत्तिमाधत्ते ।

अभिनव—जहाँ अन्य आस्वाद्यों से अन्तर्भावित वाचिक आदि अभिनय में इतिकर्त्तव्यता के अंश के विषय में किस करण को कहना चाहिए, इस प्रकार आशंका करके तन्त्र से दूसरी व्युत्पत्ति को दिखाते हुए उसे कहते हैं--'लोकेऽपि इत्यादि । केवल लोक में ही 'भाव' यह शब्द तथा 'कृत' यह शब्द प्रसिद्ध नहीं है, अपितु लोक में भी व्याप्त भी है, यह प्रसिद्ध है। यह परिव्याप्त होना अर्थ भी चकार के द्वारा कहा गया है। 'सर्वम्' पद से रस, गन्ध का भी ग्रहण होता है। अर्थात् रस और भाव भी व्याप्त हो जाते हैं यह 'सर्वम्' पद से द्योतित होता है।

अभिनव—अब प्रश्न यह है कि वहाँ भी 'कृतम्' यही अर्थ माना जाय, इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं--वह व्याप्त्यर्थक है अर्थात् उसका अर्थ व्याप्ति हैं, व्यापन है, व्याप्त होना है। क्योंकि कस्तूरी के गन्ध से वस्त्र कस्तूरी का गन्ध वाला नहीं बन जाता, क्योंक उसमें गुण की सङ्क्रान्ति नहीं होती और न उसके समान अन्य गुणों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि गन्ध आदि गुण यावद् द्रव्य व्यापी नहीं हैं अर्थात् जब तक वस्त्र आदि द्रव्य रहते हैं तब तक गन्धादि गुण नहीं रहते, क्योंकि वस्त्रादि में गन्ध का विनाश देखा गया है। वस्त्रादि का तो अस्तित्व रहता है किन्तु उसमें रहने रहने वाला गन्धादि गुण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार केवल द्रव्य, देश, काल आदि को आक्रान्त करने वाले स्वभाव से युक्त कस्तूरो का गन्ध वस्त्रादि में भी उसी प्रकार प्रतिपत्ति उत्पन्न कर देता है। उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए। भाव यह कि जिस प्रकार पदार्थ गन्ध आदि से भावित होते हैं उसी प्रकार वस्त्रादि में कस्तूरी की परिव्याप्ति समझनी चाहिए।

अभिनव—उसी प्रकार प्रकृत विषय में भी वाचिक आदि अभिनय देश-काल की प्रमुख अवस्थाओं और विशिष्ट स्थितियों में प्रस्तुत किये जाते हैं, तथापि

१. क–म. कस्तूरिकागन्धेन प्रस्तुतम् । क–भ. कस्तूरिकावस्त्रं तद्गन्धं ।

श्लोकाश्चात्र[1]—

[2]विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥ १ ॥

तद्वत्प्रकृतेऽपि । त एव हि वाचिकाद्या अभिनयाः प्रमुखदशायां देशकालविशेषगतत्वेन यद्यपि भान्ति तथापि नटस्य [3]निर्गुणादिह न तत्वादिह रामादेः [4]परमार्थसत्त्वात् भ्रान्तिज्ञानाभावाच्च नियततां विजहतः साधारणीभावमनुप्राप्ताः सामाजिकजनमपि मृगमदामोददिशा व्याप्नुवन्ति स्वचित्तव्यापनाद्वारेण । तेन भावयन्ति सामाजिकात्मानमिति भावाः ।

अथ व्युत्पत्त्यन्तरमपि दर्शयितुं प्राक्तनीं च व्युत्पत्तिं संग्रहीतुमाह—श्लोकाश्चात्रेति ।

नट कस्तूरी की तरह गुणविशिष्ट नहीं होता जो अपने गुण से देश-काल को व्याप्त कर दे और नट में रामादि का परमार्थ सत्ता भी नहीं होती तथा उत्तरकालीन बाध के अभाव में भ्रान्ति-ज्ञान भी नहीं है, अतः वे नियतता को छोड़कर साधारणीकरण भाव को प्राप्त होकर चितवृति के व्यापन के द्वारा कस्तूरी की गन्ध की तरह सामाजिक जन को भी व्याप्त कर लेते हैं अर्थात् सामाजिक अपने आत्मारूप (चित्तवृत्तिरूप) भावों को भावित करते हैं अतः भावित्व करने के कारण वे 'भाव' कहे जाते हैं । इस प्रकार भावित करने से वे भाव हैं ।

इस विषय में भरतमुनि का यह श्लोक भी है--

अनुवाद—जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होकर अनुभावों तथा वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा गम्य होता हैं अर्थात् प्रतीति के योग्य बनता है, वह 'भाव' कहा जाता है ॥ १ ॥

अभिनव—इसके बाद अन्य व्युत्पत्ति को दिखलाने के लिए और प्राचीन आचार्यों की व्युत्पत्ति का संग्रह करने के लिए भरतमुनि निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

---

१. क–म. त. अत्र श्लोका भवन्ति ।
२. ख. घ. विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते ।
   क–च. विभावेनोद्धृतो योऽर्थस्त्वनुभावैश्च गम्यते ।
३. क. निर्गुणत्वादिहतत्त्वाद् ।
४. क. रामादेरपरमार्थसत्त्वात् । क–भ. रामादेवं परमार्थसत्त्वाद् ।

विभावो विषयः। तेन यः आहृतो निष्पादितः। तेन विभावापेक्षया भाव्यते क्रियत इति भावः। अनुभावानेभ्यो निरूपति—वागङ्गेति।

अन्ये तु वागङ्गसत्त्वाद्यभिनया येषामिति तद्गुणसंविज्ञानेन बहुब्रीहिणा स्वाभिनयसहिता व्यभिचारिणो गृहीताः। तैरति व्यभिचारिभिश्च भाव्यते मिश्रीक्रियत इति व्यभिचारिणामपि च व्यभिचारिणो भवन्ति। तथा निर्वेदस्य चिन्ता श्रमस्य निर्वेद[1] इत्यादि निरूपयन्ति। तच्चासत्। स्थायिनो हि व्यभिचारिता भवति। न तु व्यभिचारिणां स्थायिता। एवं हि सति तदास्वादे रसान्तरमपि स्यात्। यत्रापि व्यभिचारिणि व्यभिचार्यन्तरं संभाव्यते तद्यथा—पुरूरवस उन्मादेऽपि तर्कचिन्तादि तत्रापि रतिस्थायिभावस्य व्यभिचार्यन्तरयोगः। स केवलममात्यस्थानीयेनोन्मादेन कृतोपरागः। एतच्च 'यथा नरेन्द्र' (ना. शा. ७-१०) इत्यत्र वक्ष्यामः॥ १॥

अभिनव—यहाँ विभाव का अर्थ है आलम्बनादि विषय उससे जो आहृत अर्थात् निष्पादित किया जाता है। अतः विभाव की अपेक्षा से जो भावित (निष्पादित) किये जाते हैं वे 'भाव' हैं। उसके लिए अनुभावों का निरूपण करते हैं—वाणी, अङ्ग और सात्विक अभिनयों के युक्त।

अभिनव—कुछ आचार्य तो यहाँ 'वाणी (वाचिक), अङ्ग एवं सत्व आदि अभिनय हैं जिसके' इस प्रकार तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि के द्वारा अपने अपने अभिनयों के साथ व्यभिचारीभावों का ग्रहण करते हैं (वागङ्गसत्वाद्यभिनया येषां ते तैः व्यभिचारिभिः)। उनके मत से वे अर्थात् व्यभिचारीभाव के साथ भावित होने अर्थात् मिश्रीभाव की प्रक्रिया की जाती है। इससे प्रतीत होता है कि व्यभिचारीभाव से भी व्यभिचारी भावों की उत्पत्ति होती है। जैसे निर्वेद से चिन्ता और श्रम से निर्वेद आदि व्यभिचारीभाव होते हैं, किन्तु यह कथन उचित नहीं है कि स्थायीभाव ही व्यभिचारीभाव होते हैं क्योंकि ऐसा मानने पर उसके आस्वादन में अन्य रस की प्रतीति होने लगेगी। और जहाँ कहीं भी व्यभिचारीभाव से अन्य व्यभिचारीभाव की सम्भावना करते हैं। जैसे—पुरूरवा के उन्माद की दशा में भी तर्क, चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव रति स्थायीभाव से मिलकर उसी का (रत्यादि का) पोषण करते हैं। और वहाँ केवल अमात्यस्थानीय होकर उन्माद के साथ सम्बन्ध है। यह बात आगे 'यथा नरेन्द्र' इत्यादि दसवीं कारिका में भरतमुनि ने स्वयं कहा है।

---

१. क–भ. निर्वेदादि। क–म. निर्वेदेत्यादि।

वागङ्गमुखरागेण[1] सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥ २ ॥

एवं लोकानुसारेण कविनटशिक्षोपयोगिना व्युत्पत्त्यन्तरमभिधाय सामाजिकाभिप्रायेण यो व्युत्पत्तिद्वयनिरूपितोऽर्थः तत्संग्रहाय श्लोकद्वयमाह—वागङ्गमुखरागेणेति ।

वागङ्गमुखरागात्मनाभिनयेन सत्त्वलक्षणेन चाभिनयेन करणेन कवेः [2]साधारणस्यापि वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयो न तु लौकिकविषयजो [3]रागान्त एव देशकालादिभेदाभावात्सर्वसाधारणीभावेनास्वादयोग्यस्तं भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन् भावश्चित्तवृत्तिलक्षण एवोच्यते । सत्त्वं चित्तैकाग्र्यं तज्जनितं च कृतकं वाष्पादिव्यभिचारिपरातिशयप्राप्त्यवस्थात्मकं चेति यथायोगं मन्तव्यम् । तदन्तर्भूतोऽपि वैवर्ण्यात्मा मुखरागः प्राधान्यात्पुनरुक्तः । यद्वक्ष्यति—

अभिनव—इस प्रकार लोकवृत्त के अनुसार कवि, और नट को शिक्षा के उपयोगी व्युत्पत्यन्तर को कहकर सामाजिकों के अभिप्राय से जो दो व्युत्पत्तियों के द्वारा अर्थ का निरूपण किया गया है उसके संग्रह के लिए दो श्लोकों को कहते हैं--

अनुवाद—वाचिक, आङ्गिक, मुखराग एवं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव को भावित (अभिव्यक्त) करने के कारण 'भाव' कहा जाता है ॥ २ ॥

अभिनव—वाचिक, आङ्गिक और मुखरागात्मक अभिनयों के द्वारा तथा सत्त्वलक्षण अर्थात् सात्त्विक अभिनय के द्वारा वर्णना में निपुण कवि के अन्तर्गत जो साधारण अन्तःकरण में स्थित, अनादि प्राक्तन (पूर्वजन्म के) संस्कार एवं प्रतिभा स्वरूप, किन्तु लौकिक विषयों से उत्पन्न होने वाला राग नहीं, अपितु वासनाजन्य एवं प्रतिभामय राग को देश-काल आदि भेदों के अभाव के कारण साधारणीकृत रूप से भावन अर्थात् आस्वादन के योग्य बनाता हुआ भाव चित्तवृत्ति लक्षण रूप ही कहा जाता है । सत्त्व का अर्थ है चित्त की एकाग्रता, और उससे उत्पन्न कृत्रिम आंसू आदि की प्राप्ति में अतिशय को प्राप्त करा देने वाली अवस्था वाले व्यभिचारिभावों को यथायोग अर्थात् योग्यता के अनुसार समझना चाहिए । इस प्रकार सात्त्विक भावादि में अन्तर्भूत होने पर भी विवर्णभाव रूप मुखराग को यहाँ प्रधानता के कारण पुनः कहा गया है । जैसा कि आगे कहेंगे—

१. ख. घ. वागङ्गमुखरागैश्च ।
२. क. साधारणं तदापि वर्णनानिपुणस्य । ३. क. रागस्स एव ।

'शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तः कृतोऽप्यभिनयः शुभः ।
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत् ॥' (ना. शा. ८-१६५) इति ।
अथेतिकर्तव्यतां निरूपयितुं सङ्ग्रहश्लोकमाह—नानाभिनयेति ।

'शाखा, अङ्ग एवं उपाङ्गों संयोग से किया गया शुभ अभिनय भी मुखराग से रहित हो तो शोभा से अन्वित (युक्त) नहीं होता अर्थात् शाखा, अङ्ग एवं उपाङ्गों युक्त अभिनय भी मुखराग के विना शोभित नहीं होता है ।" (ना० शा० ८।१६५)

विमर्श—भाव का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि अभिनेता वाचिक; आङ्गिक, मुखराग एवं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा काव्य-रचना में निपुण कवि के अन्तःकरण में स्थित भावों को भावित करता है किन्तु साधारणीकृत व्यापार के द्वारा प्रेक्षक की चित्तवृत्ति का भावन करता है परिव्याप्त करता है, इसी भावन-व्यापार के कारण ही वे भाव कहे जाते हैं । भाव यह कि नाट्य में कवि लोक-वृत्त (लोक के चरित) का उद्भावन करता है, और नट-शिक्षा के माध्यम से रङ्गमंच पर प्रस्तुत करता है । कवि अपनी वर्णना के अन्तर्गत इन भावों को अभिव्यक्त करता है अर्थात् उनको देश-काल के विभेदों से मुक्त साधारणीकृत रूप में काव्य-कौशल से आस्वादन के योग्य बनाता है । अभिनेता उनको वाचिक, आङ्गिक, मुखराग एवं सात्त्विक अभिनयों के द्वारा रङ्गमंच पर प्रस्तुत कर प्रेक्षकों के मनोभावों को भावित करता है और साधारणीकृत भावन-व्यापार के द्वारा आस्वादन के योग बनाता है, परिव्याप्त करता है, इसीलिए वे भाव कहे जाते हैं । यहाँ पर लौकिक रूप में मनोभाव का ग्रहण नहीं है, अपितु प्राक्तन संस्कार से युक्त प्रतिभाजन्य प्रकृत मनोभाव का ग्रहण है । इस प्रकार देश-काल आदि के विभेदों से नियुक्त साधारणीकृत रूप में आस्वादन के योग्य होने से चित्तवृत्ति को भी भाव कहा जाता है । सत्त्व का अर्थ है चित्त की एकाग्रता, उससे उत्पन्न सात्त्विक भाव हैं । सात्त्विक भाव में कृत्रिम आंसू आदि की उपलब्धि होती है । और संचारिभावों में उसकी अतिशय उपलब्धि होती हैं । इस प्रकार मुखराम सात्त्विक भाव में अन्तर्भूत हो जाते हैं फिर भी अभिनय में उसकी विशेष महत्ता होने के कारण मुखराग को प्रधानतया फिर कहा गया है । जैसा कि आगे कहा जायगा—

"शाखा, अङ्ग एवं उपाङ्गों से युक्त अभिनय भी मुखराग के विना शोभित नहीं होता ।" (ना० शा० ८।१६५) ।

वस्तुतः मुखराग के माध्यम से अत्यन्त सूक्ष्म मनोभावों की अभिव्यक्ति होती है ।

इसके बाद इतिकर्त्तव्यता का निरूपण करने के लिए संग्रह श्लोक को कहते हैं–

[1]नानाभिनयसंबद्धान्भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटचयोक्तृभिः ॥ ३ ॥

रसनयोग्यान् चित्तवृत्तिविशेषान् भावयन्ति गमयन्ति बोधयन्ति बुद्धिविषयान् प्रापयन्ति । इमान् सामाजिकान् । भावयतिः बुद्धयर्थकत्वाद् द्विकर्मकः । अभिनयसहितानित्यभिनया अपि बुद्धिगोचरं नीयन्ते । इयमेव चासौ अधिवासनात्मा भावना तथा रसान् रसनयोग्यान्निजेन योग्येन रूपेण भावयति यथा निर्वेदोपरक्ता रतिरौत्सुक्योपरक्तेति तथा रसानलौकिकास्वादविषयान् स्थायिनोऽधिवासयति लौकिकरतिवासनानुविद्धो हि शृङ्गाररस इत्यादि ॥ ३ ॥

अनुवाद—क्योंकि ये नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों का भावन करते हैं अर्थात् सामाजिकों को प्रतीति कराते हैं, इसलिए नाटचप्रयोक्ता इन्हें 'भाव' कहते हैं ॥ ३ ॥

अभिनव—नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध आस्वादन के योग्य विशिष्ट चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं, ले जाते हैं, बोध कराते हैं या बुद्धि का विषय कराते हैं, इसलिए 'भाव' हैं। 'इमान्' का अर्थ है सामाजिकों को। 'भावयति' बुद्धयर्थक होने से द्विकर्मक है। 'अभिनयसम्बद्धान्' का अर्थ है अभिनयों के सहित। इस प्रकार अभिनय भी बुद्धि का विषय किये जाते हैं अर्थात् बुद्धिगोचर किये जाते हैं। यही अधिवासना रूप भावना उस उस प्रकार से रसों को अपने योग्य रूप से भावित करती है। जिस प्रकार निर्वेद से उपरक्त रति औत्सुक्य से उपरक्त हो जाती है उसी प्रकार रसों को अर्थात् अलौकिक आस्वादन के विषय स्थायीभावों को अधिवासित करती है, अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार लौकिक रति की वासना से अनुविद्ध हो शृङ्गार रस होता है इत्यादि ॥ ३ ॥

विमर्श—ये भाव नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध आस्वादन के योग्य विशिष्ट चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं, सामाजिकों को रस भी प्रतीति कराते हैं। अभिनय भी बुद्धि का विषय बनाये जाते हैं। भाव यह कि अभिनयों के साथ रसों को भावित करने के कारण ये 'भाव' कहे जाते हैं। यह चित्तवृत्ति रूप वासना स्थायीरूप से व्यक्ति में विद्यमान रहती है। अभिनय के द्वारा यह वासना भावित होकर रस रूप में प्रतीति के योग्य हो जाती है अर्थात् भावन-व्यापार के द्वारा भावों का रस रूप में प्रतीति होती है। इस प्रकार रस-प्रतीति के सन्दर्भ में भावित करने के अर्थ में भाव शब्द का प्रयोग होता है। भावित करने के कारण ही इसे 'भाव' कहते हैं।

---

१. क-ङ. त. नानाभिनयसम्बन्धान् । क-म. नानाभिनयसम्बन्धात् ।

[1]अथ विभाव इति कस्मात् । उच्यते—विभावो विज्ञानार्थः[2] । विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः । विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः । यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्[3] ।

[4]अत्र श्लोकः—

बह्वोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः[5] ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥ ४ ॥

विभावेनाहृत इत्युक्तम्—तत्र यद्यपि प्रकरणाच्चित्तवृत्त्युद्भवहेतुर्विषयो विभावशब्दस्यार्थ इति ज्ञातम् । तथापि तत्र प्रवृत्तिनिमित्तं जिज्ञासमानः तदेव प्रश्नयति—विभाव इतीति । कस्मात् । ऋतुमाल्यादयोऽत्र विभावशब्देन किमिति व्यपदिष्टा इति भावः ।

अनुवाद—विभाव किसे कहते हैं ? उत्तर देते हैं – विभाव शब्द का अर्थ विज्ञान है । विभाव, कारण, निमित्त, हेतु ये पर्यायवाची शब्द हैं । इनके द्वारा वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनय विभावित होते हैं, जाने जाते हैं, इसलिए इन्हें 'विभाव' कहा जाता है । इस प्रकार विभावित और विज्ञात में अर्थ भेद नहीं है अर्थात् दोनों समानार्थक हैं ।

इस विषय में एक श्लोक है—

अनुवाद—क्योंकि इसके द्वारा वाचिक एवं आङ्गिक अभिनयों पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते हैं अर्थात् अनेक भावों का अवबोध होता है, इसलिए इसे 'विभाव' कहलाते हैं ॥ ४ ॥

अभिनव—सप्तम अध्याय के प्रथम श्लोक में 'विभावेनाहृतः' अर्थात् 'विभाव के द्वारा आहरण किया हुआ' ऐसा कहा गया है। उसमें यद्यपि प्रकरण से चित्तवृत्तियों को उद्बुद्ध करने के कारणरूप विषय विभाव शब्द का अर्थ है, यह ज्ञात होता है, तथापि विभाव शब्द के अर्थ के विषय में प्रवृत्तिनिमित्त की जिज्ञासा करते हुए उसी के विषय में प्रश्न करते हैं—'विभाव यह क्यों कहा गया है ?' यहाँ पर ऋतु, माला आदि को विभाव शब्द से क्यों कहा गया है ? यह 'कस्मात्' पद का अभिप्राय है।

१. क–न. अत्राह । ख. 'अथ' इति नास्ति ।
२. क–न. विभावो विज्ञातार्थः । क–त. विभावा नाम विज्ञानार्थः । ग. विभावो नाम विज्ञानार्थः ।
३. ख. घ. विज्ञातमित्यर्थान्तरम् । ४. क–न. भवति अत्र श्लोकः ।
५. ख. घ. वागङ्गाभिनयाश्रिताः । क–त. म. वागङ्गाभिनयोद्भवाः ।

अथानुभाव इति कस्मात् । उच्यते—[1]अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्ग-सत्त्वकृतोऽभिनय इति ।

अत्रोत्तरं विभाव्यन्त इत्यादि । वागादयोऽभिनया येषां स्थायिव्यभिचारिणां ते वागाद्यभिनयसहिता विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते यैस्ते विभावाः । अभिनया-नामनेकहेतुजत्वम् । तद्यथा—हर्षादिभ्यो हासः । धर्मधूमरोगादिभ्यो वाष्पः । तद्-वाष्पात्किं प्रतीयताम् । विभावात्तु झडित्येव निश्चयः । अत एव—

❀ इतः परमष्टमाध्यायान्तं यावदभिनवभारती नोपलभ्यते ।

अभिनव—इसका उत्तर देते हैं—जिनके द्वारा जिन स्थायीभावों एवं व्यभिचारिभावों को वाचिकादि अभिनयों के साथ विभावित किया जाता है अर्थात् विशिष्ट रूप से जाना जाता हैं वे 'विभाव' कहलाते हैं। भरतमुनि ने विभाव का अर्थ विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान माना है अर्थात् जिसके द्वारा स्थायी तथा व्यभि-चारी भाव वाचिक आदि अभिनयों के साथ विभावित होते हैं, विशेष रूप से जाने जाते है वे 'विभाव' कहे जाते हैं। अभिनय अनेक हेतुओं से उत्पन्न होते हैं। जैसे—हर्ष आदि से हास उत्पन्न होता है, धूप, धुआँ ओर रोग आदि से आंसू उत्पन्न होते हैं। तब वाष्प शब्द से इनको प्रतोति कैसे होगो ? विभाव से तो शीघ्र ही उसका निश्चय हो जाता है। इसलिए कहा गया है कि वाचिक आदि अभिनय जिससे जाने जाते हैं वह 'विभाव' है। भाव यह कि जो स्थायो एवं व्यभिचारी रूप चित्तवृत्तियों को वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों के आश्रय से विभावित करते हैं आस्वादन के योग्य बनाते हैं उसे 'विभाव' कहते हैं❀ ।

अनुवाद—इसके बाद 'अनुभाव' यह क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर देते हैं कि—इसके द्वारा वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते हैं, अनुभूति के योग्य बनाये जाते हैं, इसलिए इसे 'अनुभाव' कहते हैं।

१. ख. यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नो वागङ्गसत्त्वैः कृतोऽभिनय इति ।
घ. अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वैः कृतोऽभिनय इति ।
क–त. अनुभाव्यतेऽनेनार्थो वागङ्गसत्त्वकृतोऽभिनय इति ।
क–न. यदयमनुभावयति नानार्थनिष्पन्नान्वागङ्गसत्त्वकृतानभिनयानिति ।

❀ **विशेष**—इसके बाद अष्टम अध्याय पर्यंन्त 'अभिनव भारती' नहीं मिलती ।

अत्र श्लोकः—

[1]वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
[2]शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ५ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

अनुवाद—क्योंकि यहाँ नाट्य में वाचिक एवं आङ्गिक अभिनयों के द्वारा शाखा, अङ्ग एवं उपाङ्ग से युक्त अर्थ अनुभावित होता है, इसलिए इसे 'अनुभाव' कहा जाता है ॥ ५ ॥

विमर्श—इसके बाद अनुभाव की चर्चा करते हैं। अभिनय की दृष्टि से अनुभाव का विशिष्ट प्रयोग होता है। विभाव के प्रति आश्रय में जो भी भाव अभिनय के द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं उनका भावन, साक्षात्कार या प्रतीति अनुभावों के द्वारा होती है। इस प्रकार ये अनुभाव वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनय के अन्तर्गत अनेक चेष्टाएँ एवं व्यापार ही है। इस प्रकार वाणी, अङ्ग एवं सत्त्व से युक्त चेष्टाएँ या व्यापार ही 'अनुभाव' है। इस प्रकार सामाजिक द्वारा वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयों की चेष्टाओं का अनुभावन सहृदय के हृदय में होने के कारण 'अनुभाव' कहा जाया है। भरत का यही अभिप्राय है। परवर्त्ती आचार्यो ने अनुभाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ किया है (अनु पश्चाद् भावो यस्य सोऽनुभावः)। उनके अनुसार जो भावों के पश्चात् (अनु) होते हैं वे 'अनुभाव' हैं। भावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाले ये भाव कार्यरूप माने जाते हैं। क्योंकि इनके द्वारा हृदयान्वित भावों को अनुभावित किया जाता है। किन्तु उन आचार्यो का यह मत तर्कसंगत नहीं माना जा सकता; क्योंकि ये भावों के साथ ही व्यक्त होते हैं और तिरोहित होते हैं। अतः भरत के अनुसार ये भाव कारण रूप है। इस प्रकार शरीर की विविध अङ्गों एवं उपाङ्गों की चेष्टाओं द्वारा किये जाने वाले वाचिक आदि अभिनयों से नाटकीय वस्तु का अनुभावन होता है, अतः उसे 'अनुभाव' कहते हैं।

प्रस्तुत कारिका में 'वागङ्गाभिनयेनेह' के स्थान पर 'वागङ्गसत्त्वाभिनयैः' पाठ मिलता है। मूलपाठ के अनुसार इसका अर्थ होता है 'वाचिक एवं आङ्गिक अभिनयों के द्वारा'। किन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि केवल वाचिक एवं आङ्गिक अभिनय से युक्त व्यापार ही अनुभाव नहीं होता, अपितु वाचिक आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों से युक्त व्यापार ही अनुभाव होता है। अतः 'वागङ्गसत्त्वाभिनयैः' पाठ ही ठीक है। इसी प्रकार कारिका के उत्तरार्द्ध में 'शाखोपाङ्गसंयुक्तः' के स्थान पर 'वाङ्गोपाङ्ग-संयुक्तः' पाठ युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

१. क–च. ब. वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थो विभाव्यते ।
२. ख. घ. वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।

[1]एवं ते विभावानुभावसंयुक्ता भावा इति व्याख्याताः[2] । अतो ह्येषां[3] भावानां सिद्धिर्भवति । [4]तस्मादेषां भावानां विभावानुभाव-संयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्यभिव्याख्यास्यामः । तत्र [5]विभावानुभावौ लोकप्रसिद्धौ । [6]लोकस्वभावानुगतत्वाच्च तयोर्लक्षणं नोच्यतेऽतिप्रसङ्ग-निवृत्त्यर्थम्[7] ।

भवति चात्र श्लोकः—

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः[8] ।
[9]अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये[10] बुधैः ॥ ६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार वे भाव, विभाव एवं अनुभाव से युक्त होते हैं, इस प्रकार व्याख्या की गई है। इस प्रकार इन भावों की सिद्धि होती है। इसलिए अब विभाव एवं अनुभावों से संयुक्त इन भावों के लक्षण एवं उदाहरणों की व्याख्या करेंगे। उनमें विभाव एवं अनुभाव लोक में प्रसिद्ध हैं। इसलिए लोकस्वभाव के अनुगत (अनुगामी) होने के कारण ओर अतिप्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) दोष के निराकरण के लिए उन दोनों का लक्षण नहीं कहा जा रहा है ॥

इस विषय में एक श्लोक भी है—

अनुवाद—"विद्वानों को अभिनय के प्रसङ्ग में लोक-स्वभाव से सिद्ध और लोकयात्रा (लोक-व्यवहार) का अनुगमन करने वाले विभावों और अनुभावों को लोक के द्वारा हो समझना चाहिए ॥ ६ ॥

१. ख. घ. पुस्तकयोः 'एवं ते' इत्यारभ्य 'सिद्धिर्भवति' इत्यन्तं यावदंशो नास्ति ।
२. क–ङ.म. इत्यवगन्तव्याः । क–न. इत्यभिव्याख्याताः । ३. क–अ. ड. प. अतश्चैषाम् ।
४. ख. घ. एतेषां विभावानुभावसंयुक्तानां ।
क-ङ. म. तस्मादेतेषां भावानां विभावानुभावसंयुक्तानां ।
५. क–अ. द. विभावानुभावा लोकप्रसिद्धा एव । ख. तत्र विभावानुभावौ लोकप्रसिद्धावेव ।
क-ङ. तत्र विभावानुभावौ लोके प्रसिद्धावेव ।
६. ख. घ. लोकस्वभावोपगतत्वाच्चैषां लक्षणं नोच्यते ।
क–अ. द. लोकस्वभावोपगतत्वात् तयोर्लक्षणं नोच्यते ।
क–च. ब. लोकस्वभावानुगतत्वादनयोर्लक्षणं नोच्यते ।
७. ख. घ अतिप्रसङ्गनिवृत्यर्थं च । ८. ख. घ. लोकयात्रानुयायिनः ।
९. ख. घ. अनुभावविभावाश्च । क-अ .द. विभावानुभावाश्च ।
१०. ख. घ. ज्ञेयास्त्वभिनयैर्बुधैः ।

तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः । त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः । अष्टौ सात्त्विका इति भेदाः[1] । एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद्भावाः प्रत्यवगन्तव्याः । एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते ।

[2]अत्र श्लोकः—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥ ७ ॥

विमर्श —यहाँ पर यह बताया गया है कि विभाव एवं अनुभाव से संयुक्त ही भाव होते हैं अर्थात् दोनों का भाव से अनिवार्य सम्बन्ध है । इन्हीं विभाव एवं अनुभावों से सामाजिक के हृदय में भावों की सिद्धि (उत्पत्ति) होती है किन्तु यह अभिनय में होता है, जीवन में नहीं। इस प्रकार भरत ने प्रस्तुत विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि लोक-जीवन के भाव कला-स्तर पर किस प्रकार आस्वादन के योग्य होते हैं और विभाव एवं अनुभाव बाह्य होते हुए भी रस के प्रसङ्ग में लोक-स्वभाव के अनुरूप ही होते हैं और लोक में जैसा व्यवहार होता है उसी का अनुसरण करने वाले होते है । अतः नाट्य-प्रदर्शन में भी आलम्बन एवं उद्दीपन रूप विभाव तथा नयनोन्मीलन आदि अनुभाव लोक के अनुसार ही होते हैं अर्थात् विभाव और अनुभाव लोक में जैसे देखे जाते हैं वैसे ही नाट्य में भी देखे जाते हैं ।

अनुवाद—इन भावों में आठ स्थायीभाव हैं, तैंतीस व्यभिचारीभाव हैं और आठ सात्त्विक भाव हैं, इस प्रकार काव्यरस की अभिव्यक्ति के हेतुभूत (कारणरूप) ये उनचास भाव समझने चाहिए । सामान्य गुणों के योग्य से इन्हीं भावों से रस की निष्पत्ति होती है ।

इस विषय में एक श्लोक भी है—

अनुवाद—"जो अर्थ (वस्तु) हृदय को अभिभूत करने वाला है उसके भाव रस-निष्पत्ति के कारण हैं । वह सूखे काठ में अग्नि के समान शरीर में व्याप्त हो जाता है ।" ॥ ७ ॥

विमर्श—आठ स्थायीभाव, तैंतीस व्यभिचारीभाव और आठ सात्त्विक भाव ये उनचास भाव होते हैं । इन उनचास भावों से काव्यरस की अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार ये उनचास भाव रसाभिव्यक्ति के कारणभूत है । सामान्य गुणों के योग से इन्हीं भावों से

---

१. ग इति त्रिभेदाः । क-अ. ब. 'इति भेदाः' नास्ति ।
२. ख. घ. भवति चात्र श्लोकः ।

अत्राह—यदि[1] काव्यार्थसंश्रितैर्विभावानुभावव्यञ्जितैरेकोनपञ्चाशद्भावैः[2] सामान्यगुणयोगेनाभिनिष्पद्यन्ते रसास्तत्कथं[3] स्थायिन एव भावा रसत्वमाप्नुवन्ति । उच्यते—यथा हि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरशरीराः[4] समानाङ्गप्रत्यङ्गा[5] अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्प[6]विचक्षणत्वाद् राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः[7]स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति ।

सामाजिक के हृदय में रस की अनुभूति होती है। सामान्य-गुण-योग का तात्पर्य है कि इन विशिष्ट तथा व्यक्तिपरक भावों को साधारणीकरण की भूमि पर प्रतिष्ठित करना। तभी रस की प्रतीति होती है। अर्थ रूप नाट्यवस्तु का भावन सामाजिक के हृदय में विद्यमान भावों को साधारणरूप में स्पर्श करता है और वे भाव ही सामाजिक के हृदय में रसोद्रेक के रूप में भावित या व्याप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार शुष्क काष्ठ में अग्नि-तत्त्व विद्यमान है किन्तु वह बाह्य अग्नि के संस्पर्श से ही प्रज्वलित होती है उसी प्रकार प्रेक्षक के हृदय में विद्यमान भाव अभिनय के द्वारा भावित होते हैं अर्थात् अभिनय के द्वारा ही प्रेक्षक के हृदयस्थित भावाग्नि रसरूप में उद्दीप्त हो उठती है। इस प्रकार भरत के अनुसार कवि लोक-चरित का साधारणीकृत रूप में उद्भावन करता है और अभिनेता कवि के हृद्गत भावों को अभिव्यक्त करता है तथा प्रेक्षक की चित्तवृत्ति का भावन कर रसानुभूति का रूप प्रदान करता है।

अनुवाद—इस विषय में कहते हैं कि यदि काव्य में अर्थ पर आश्रित, विभाव एवं अनुभावों से व्यञ्जित उनचास भावों से सामान्य गुणों के संयोग से रस निष्पन्न होते हैं तो फिर स्थायीभाव ही रसत्व को क्यों प्राप्त होते हैं? अर्थात् रसरूप में क्यों उद्भूत होते हैं? इस पर कहते हैं कि—जिस प्रकार समान लक्षण वाले, समान हाथ, पैर, पेट (उदर) तथा शरीर वाले, और समान अङ्ग एवं

१. ख. यदान्योन्यार्थसंश्रितैः। घ. यदन्योन्यार्थसंश्रितैः। क-च.ब.म. यदान्योन्यार्थसम्भूतैः। क-अ.द. यदि काव्यार्थसम्मिश्रैः।
२. क-अ.ब द. पञ्चाशता भावैः।
३. ख. कथमिदानीमेते स्थायिनोऽष्टौ भावाः। क-अ. ड.म. कथमिदानीमेषां स्थायिनोऽष्टौ भावाः।
४. ख. पादोदरसमानाः।
५. ख. घ. समानप्रत्यया अपि।
६. ख. विचक्षणत्वयुक्ता।
७. ख. स्थायिभावानुपासृता भवन्ति। क-अ. द. स्थायिभावाननुसंश्रिता भवन्ति।

[1]बह्वाश्रयत्वात्स्वामिभूताः स्थायिनो भावाः। [2]तद्वत्स्थानीय-पुरुषगुणभूता अन्ये भावास्तान्गुणतया[3] श्रयन्ते। स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति[4]। परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः। [5]अत्राह—को दृष्टान्त इति। [6]यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि [7]स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः[8] तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः[9] स्थायीभावो रसनाम लभते[10]।

उपाङ्ग वाले पुरुष अपने कुल, शील, विद्या, कर्म, शिल्प आदि में विचक्षण (विलक्षण) होने के कारण राजा हो जाते हैं और वहीं उन्हीं में अन्य अल्पबुद्धि वाले उनके अनुचर हो जाते हैं उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव स्थायीभावों के आश्रित हो जाते हैं।

अनुवाद—जिस प्रकार बहुत से आश्रितों के कारण स्थायीभाव स्वामी के समान होते है। उसी प्रकार स्थानीय पुरुषों के गुणभूत अन्य भाव अप्रधान होकर स्थायीभावों का आश्रय ग्रहण करते हैं और स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थायीभाव रस रूप में अभिव्यक्ति को प्राप्त होते हैं। और व्यभिचारीभाव परिजन के समान होते हैं। इस विषय में कहते हैं कि दृष्टान्त क्या है ? कहते हैं कि जिस प्रकार राजा अनेक परिजनों से युक्त होने पर भी वह राजा ही नाम को पाता है। कोई दूसरा परिजन कितना ही बड़ा क्यों न हो वह 'राजा' नाम नही पा सकता। उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और स्थायीभावों से परिवृत (युक्त) स्थायीभाव ही राजा के समान रस नाम को प्राप्त करता है।

---

१ ख. घ. इत्याश्रयत्वात् स्वामिभूताश्च। निराश्रत्वात् स्वाभिभूताश्च।

२. ख. घ. तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूता। अन्ये भावाः तान् गुणवत्तयाऽऽश्रयन्ते।

३. ग तान् गुणतया आश्रयन्ते। क-अ.द. तानुपाश्रयन्ते।

४. ख. घ. ग. 'स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति' इति नास्ति।

५. ख. घ. पुस्तकयोः 'अत्राह' इति नास्ति।
क-त. प. अत्राह को दृष्टान्त इति नास्ति।

६. क-अ. न. यथा हि।

७. ख. ग. घ. सन् एव नात्र।

८. ख. सुमहानपि पुरुषः। बहुषु गच्छत्सु कश्चित् क्वचित् पृच्छति कोऽयमिति स च तमाह राजेत्येव।

९. क–ब. परिष्कृतः।

१०. ख. लभते नरेन्द्रवत्।

भवति चात्र श्लोकः—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः[1]।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥ ८ ॥

[2]लक्षणं खलु पूर्वमभिहितमेषां[3] रससंज्ञकानाम्[4]। [5]इदानीं भावसामान्यलक्षणमभिधास्यामः[6]। [7]तत्र स्थायिभावान्वक्ष्यामः—

इस विषय में एक श्लोक प्राप्त होता है—

अनुवाद—"जिस प्रकार मनुष्यों में राजा, शिष्यों में गुरु महान् होता है उसी प्रकार सभी भावों में स्थायीभाव ही महान् (श्रेष्ठ) होता है ॥ ८ ॥

विमर्श—यहाँ एक पक्ष प्रस्तुत किया गया है कि काव्यार्थ पर आश्रित, विभाव एवं अनुभाव से व्यञ्जित स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्त्विक भाव साधारणीकृत रूप में रस की प्रतीति कराते हैं तो केवल स्थायीभाव को ही रसत्व को प्राप्त होने वाला क्यों कहा गया है ? इस पर कहते हैं कि स्थायीभावों की विलक्षणता से अर्थात् स्थायीभाव, व्यभिचारीभावों तथा सात्त्विकभावों से विशिष्ट होते है। जिस प्रकार सामान्य लक्षणों वाले मनुष्यों के हाथ, पैर, उदर आदि समान होते हैं किन्तु उनमें कुल, शील, विद्या आदि में विलक्षण (विशिष्ट) होने से वे राजत्व को प्राप्त होते हैं और अन्यजन अल्पबुद्धि होने से उनके अनुचर होते हैं उसी प्रकार से विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव स्थायीभाव के आश्रित होने से अनुचर के समान हैं और अनेक आश्रितों के कारण स्थायीभाव राजा के समान प्रधान होता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारीभाव स्थायीभाव के चारों ओर संचरण करते हुए उसे घोषित करते हैं। इसके समर्थन में भरत ने एक परम्परागत श्लोक को उद्धृत किया है, तदनुसार जिस प्रकार मनुष्यों में राजा श्रेष्ठ होता है और शिष्यों में गुरु श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार समस्त भावों में स्थायीभाव श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार जैसे राजा अनेक परिजनों से युक्त होने पर भी वही प्रधान रूप में जाना जाता है। उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से परिवृत स्थायीभाव प्रधान होता है और वही रसत्व को प्राप्त होता है। अन्य भाव तो परिजन के समान पोषित करने वाले होते हैं।

अनुवाद—रस संज्ञा को प्राप्त होने वाले स्थायीभावों के लक्षण पहिले (षष्ठ अध्याय में) कहे जा चुके हैं। अब इस अध्याय में भावों के सामान्य लक्षण को कहेंगे। उनमें पहिले स्थायीभावों के लक्षण कहेंगे—

१. क–अ. द. गुरवो यथा। २. क–त. ब. 'लक्षणं खलु' इत्यादिसन्दर्भश्च नास्ति।
३. ख. एतेषां। ४. ग. रससंज्ञकानाम् निदर्शनं तु। ५. ख. इदानीं तु।
६. घ. व्याख्यास्यामः। ७. ख. घ. तत्रादौ स्थायिभावान् व्याख्यास्यामः।

[1]रतिर्नाम प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरण[2]भोजनवरभवनानुभवनाप्रातिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेत् [3]स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैः ।

[4]अत्र श्लोकः—

इष्टार्थविषयप्राप्त्या रतिरित्युपजायते[5] ।
[6]सौम्यत्वादभिनेया सा वाङ्माधुर्याङ्गचेष्टितैः ॥ ९ ॥

रति स्थायीभाव

अनुवाद—रति नामक आमोदात्मक भाव ऋतु, माला, अनुलेपन, आभरण, प्रियजन, उत्तम भोजन, सुन्दर भवन का अनुभवन (उपभोग) अप्रतिकूलता (अनुकूलता) आदि विभावों से उत्पन्न होता है। मुस्कराहट से युक्त मुख, मधुरवचन, भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में एक श्लोक है—

अनुवाद—"इष्ट अर्थ के विषय अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से 'रति' उत्पन्न होती है। वाणी की मधुरता तथा आङ्गिक चेष्टाओं के द्वारा सौम्य भाव से उसका अभिनय करना चाहिये ॥ ९ ॥

विमर्श—रति नामक स्थायीभाव आमोदात्मक माना गया है। रति को आमोदात्मक मानने में भरत का दृष्टिकोण रति को कान्ता-विषयक मानने की ओर प्रतीत होता है। मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने 'रति' का व्यापक अर्थ अनुराग या प्रेम किया है और कान्ता-विषयक रति को शृङ्गार का स्थायीभाव माना है। किन्तु यहाँ नाट्य के प्रसङ्ग में रति को शृङ्गार के स्थायीभाव रूप संकुचित अर्थ को ही ग्रहण किया है। षष्ठ अध्याय में शृङ्गार के विभावादि का वर्णन प्रस्तुत रति के विभावादि के समान है और सम्भोग-शृङ्गार के प्रसङ्ग में विभावों के रूप में ऋतुमाल्यादि के उपभोग का वर्णन प्रस्तुत विभावादि के समान है। यहाँ भरत ने रति को शृङ्गार का स्थायीभाव ही माना है।

---

१. ख. घ. रतिर्नाम आमोदात्मको भावः ।
२. ख.घ. प्रियजनपरभवनानु० ।
३. ख. घ. स्मितवचनमधुरवचनभ्रूक्षेप० ।
४. ख. घ. भवति चात्र श्लोकः ।
५. ग. रतिः समुपजायते ।
६. ख. घ. सौम्यत्वादभिनेयाऽसौ । क-न. सौम्यत्वात्साभिनेतव्या ।

[1]हासो नाम—[2]परचेष्टानुकरणकुहकासम्बद्धप्रलापपौरोभाग्यमौर्ख्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तमभिनयेत्पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनुभावैः[3] ।

भवति चात्र श्लोकः—

परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते ।
स्मितहासातिहसितैरभिनेयः स पण्डितैः ॥ १० ॥

शोको नाम—इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धदुःखानुभवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्यास्रपातपरिदेवितविलपितवैवर्ण्यस्वरभेदस्रस्तगात्रताभूमिपतनसस्वनरुदिताक्रन्दितदीर्घनिःश्वसितजडतोन्मादमोहमरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

हास स्थायीभाव

अनुवाद—'हास' नामक स्थायीभाव दूसरे की चेष्टाओं के अनुकरण, कुहक (पार्श्व तथा गर्दन का स्पर्श), असम्बद्ध प्रलाप, कुटिलता पूर्ण कार्य तथा मूर्खता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। पूर्व में अर्थात् छठे अध्याय में कहे गये हसित आदि अनुभावों से उसका अभिनय करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक श्लोक है

अनुवाद—'दूसरे लोगों की चेष्टाओं के अनुकरण से 'हास' उत्पन्न होता है। विद्वानों को स्मित, हसित और अतिहसित रूप में उसका अभिनय करना चाहिए। ॥ १० ॥

शोक स्थायीभाव

अनुवाद—शोक नामक स्थायीभाव प्रियजन के वियोग, विभव (सम्पत्ति) का नाश, वध, बन्धन तथा दुःख के अनुभव आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अश्रुपात, परिताप, विलाप, वैवर्ण्य (मुखों की विवर्णता), स्वर-भङ्ग (गले का रुंधना) शरीर को शिथिलता, भूमि पर पतन, चिल्ला-चिल्ला कर रोना, क्रन्दन, दीर्घनिःश्वास, जड़ता, उन्माद, मोह और मरण आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

१. ख. घ. अथ हासो नाम। क–अ. ब. तत्र हासो नाम।

२. ख. घ. परचेष्टानुकरणासम्बन्धप्रलापपौरोभाग्यसौख्यादिभिरनुभावैरुत्पद्यते।

३. ख. घ. 'अनुभावैः' इति नास्ति।

रुदितमत्र त्रिविधम्—आनन्दजमार्तिजमीर्ष्यासमुद्भवं[1] चेति ।
[2]भवन्ति चात्रार्याः—

[3]आनन्देर्ष्यार्तिकृतं त्रिविधं रुदितं सदा बुधैर्ज्ञेयम् ।
तस्य त्वभिनययोगान्विभावगतितः प्रवक्ष्यामि ॥ ११ ॥
हर्षोत्फुल्लकपोलं [4]सानुस्मरणादपाङ्गविसृतास्रम् ।
[5]रोमाञ्चगात्रमनिभृतमानन्दसमुद्भवं भवति ॥ १२ ॥
पर्याप्तविमुक्तास्रं सस्वनमस्वस्थगात्रगतिचेष्टम् ।
[6]भूमिनिपातनिर्वर्तितविलपितमित्यार्तिजं भवति ॥ १३ ॥

इस दशा में रोदन तीन प्रकार का होता है—आनन्द से उत्पन्न, पीड़ा से उत्पन्न और ईर्ष्या से उत्पन्न ।

इस विषय में परम्परागत आर्याएँ हैं—

अनुवाद—'आनन्द, ईर्ष्या और पोड़ा से उत्पन्न रोदन (रोना) विद्वानों को तीन प्रकार का समझना चाहिए। उसके अभिनय को विभाव की गति के अनुसार कहूँगा' ॥ ११ ॥

अनुवाद—'आनन्द से उत्पन्न होने वाले रोदन में कपोल हर्ष से उत्फुल्ल हो जाते हैं, स्मरण के साथ नेत्रों के कोने से (अपाङ्ग से) आँसू गिरने लगते हैं, और शरीर रोमाञ्च युक्त हो जाता है।" ॥ १२ ॥

अनुवाद—'आर्त अर्थात् किसी प्रकार पोड़ा से उत्पन्न होने वाले रोदन में उच्च स्वर से रोने के साथ पर्याप्त मात्रा में अश्रुप्रवाह होता है, शरीर अस्वस्थ और गति तथा चेष्टाएँ शिथिल हो जाती हैं, भूमि पर बार-बार पतन तथा विलाप करने लगता है।' ॥ १३ ॥

---

१. ख. ईर्ष्यासमुत्थं च ।
२. ख. तत्रार्याः ।
३. ख. ग. घ. पुस्तकेषु अयं श्लोको नास्ति ।
४. ख. घ. सानुस्मरणं च वागनिःसृतास्रम् ।
५. ख. रोमाञ्चितगण्डं रोदनमानन्दजं भवति ।
६. ख. भूमिनिपातितचेष्टित० । क–न. भूमिपतननिवर्तन० ।
क-ग.त.ब. भूमिनिपातविवर्त्तित० ।

प्रस्फुरितौष्ठकपोलं सशिरःकम्पं तथा सनिःश्वासम् ।
भ्रुकुटीकटाक्षकुटिलं स्त्रीणामीर्ष्याकृतं भवति ॥ १४ ॥
[1]कारणमपेक्षमाणः प्रायेणायासलिङ्गसंयुक्तः ।
वीररसान्तरचारी कार्यः कृतको भवेच्छोकः ॥ १५ ॥
[2]भवति श्लोकः—
स्त्रीनीचप्रकृतिष्वेष शोको व्यसनसम्भवः ।
धैर्येणोत्तममध्यानां नीचानां रुदितेन च ॥ १६ ॥

अनुवाद—"ईर्ष्या से उत्पन्न रोदन में स्त्रियों के कपोल और ओष्ठ फड़कने लगते हैं, शिर कांपने लगता है और दीर्घ श्वांस निकलने लगते हैं। भ्रुकुटी तथा कटाक्ष कुटिल (टेढ़ी) हो जाते हैं ॥" ॥ १४ ॥

अनुवाद—किसी कारण की अपेक्षा करने वाला प्रायः प्रयत्न के लक्षणों से युक्त वीर रस के मध्य सञ्चरण करने वाला 'कृत्रिम' शोक होता है ॥ १५ ॥

इस विषय में एक श्लोक है—

अनुवाद—व्यसन से उत्पन्न होने वाला यह शोक स्त्री तथा नीच प्रकृति के लोगों में ही पाया जाता है। उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के लोगों का शोक धैर्ययुक्त तथा नीच प्रकृति के लोगों का शोक रोदन से युक्त होता है ॥ १६ ॥

विमर्श—यहाँ यह बताया गया है कि शोक नामक स्थायीभाव इष्टजन वियोग, वैभव का विनाश, वध और बन्धन तथा दुःखानुभव आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अश्रुपात, विलाप, वैवर्ण्य, स्वरभङ्ग, अङ्गशैथिल्य तथा दीर्घनिःश्वास आदि अनुभाव पूर्व अध्याय में भी कहे गये हैं और यहाँ भी। किन्तु भूमिपात, सस्वर रोदन, क्रन्दन आदि अनुभावों का अधिक उल्लेख हुआ है साथ ही इन अनुभावों के साथ जड़ता, उन्माद, मोह, मरण आदि व्यभिचारीभावों का भी समावेश कर लिया गया है। इसका कारण भाव शब्द का व्यापक अर्थ है। आनन्दज, आर्तिज और ईर्ष्यासमुद्भव भेद से रोदन तीन प्रकार का होता है। तीन प्रकार के रोदन की यह परम्परा बहुत पहिले से चली आ रही है। इनमें आनन्दज रोदन में गाल उत्फुल्ल हो जाते हैं, आंखो के छोर से आंसू बहने लगते हैं, शरीर में रोमाञ्च हो जाता है। किसी प्रकार की पीड़ा से उत्पन्न रोदन में पर्याप्त आंसू गिरते हैं, रोदन में आवाज होती है, शरीर, गति और चेष्टाएँ शिथिल हो जाती है, भूमि पर गिरना, लोटना

---

१. अयं श्लोकः 'क.ग.घ.' पुस्तकेषु नास्ति । केवलं काशीसंस्करण एवोपलभ्यते ।
२. क.ग.घ. पुस्तके 'भवति श्लोकः' इति नास्ति ।

क्रोधो नाम—[1]आधर्षणाक्रुष्टकलहविवादप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते[2]। अस्य [3]विकृष्टनासापुटोद्वृत्तनयनसन्दष्टोष्ठपुटगण्डस्फुरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

[4]रिपुजो गुरुजश्चैव प्रणयिप्रभवस्तथा।
भृत्यजः कृतकश्चेति क्रोधः पञ्चविधः स्मृतः[4] ॥ १७ ॥

अत्रार्या भवन्ति—

[5]भ्रुकुटीकुटिलोत्कटमुखः सन्दष्टौष्ठः स्पृशन्करेण करम्।
क्रुद्धः स्वभुजप्रेक्षी शत्रौ निर्यन्त्रणं रुष्येत् ॥ १८ ॥

तथा विलाप आदि अनुभावों से इसका विलाप किया जाता है। ईर्ष्या के कारण रोदन स्त्रियाँ करती हैं। इसमें होठ एवं कपोलों के फड़कना, शिर का कांपना, दीर्घश्वास, भौंहों और कटाक्षों का कुटिल-संचालन आदि अनुभावों से इसका अभिनय किया जाता है। व्यसन (क्लेश) से उत्पन्न शोक विशेष रूप से स्त्रियों और नीच प्रकृति के लोगों में पाया जाता है, उत्तम और मध्यम प्रकृति के लोगों का शोक धैर्य से युक्त होता है और नीच प्रकृति के लोग रो रो कर अपने शोक को व्यक्त करते हैं॥

क्रोध स्थायीभाव

अनुवाद—'क्रोध' नामक स्थायीभाव संघर्ष, आक्रोश, कलह, विवाद और प्रतिकूलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उसका अभिनय नाक के खींचने, आंखों के चढ़ाने, ओठ चबाने, गण्डस्थल के फड़कने आदि अनुभावों से किया जाता है।

अनुवाद 'यह क्रोध रिपुज, गुरुज, प्रणयि-प्रभव, भृत्यज तथा कृत्रिम भेद से पाँच प्रकार का कहा गया है।' ॥ १७ ॥

इस विषय में परम्परागत आर्याएँ हैं—

अनुवाद—"रिपुज अर्थात् शत्रु पर होने वाले क्रोध में क्रुद्ध व्यक्ति की भ्रुकुटी चढ़ जाती है, मुख विकट हो जाता है, ओठों को चबाने लगता है, हाथों को मलने लगता है, और बार-बार अपनी भुजाओं की ओर देखता है" ॥ १७ ॥

---

१. क–च. आधर्षणात्कलहविवाद०। २. ख. उत्पद्यते।
३. ख घ. तमभिनयेत् उत्फुल्लनासापुटोद्धतनयनसंदष्टोष्ठपुटगल्लस्फुरणदिभिरनुभावैः।
४. ख. क–ब. म. 'रिपुजो' इत्यादि पद्यं नास्ति।
५. ख. भ्रुकुटिकुटिलोत्कटमुखसंदष्टोष्ठः स्पृशन् करेण करम्।
स्पृष्टभुजशिरोवक्षाः शत्रोर्विनियन्त्रणं भवेद्।

किञ्चिदवाङ्मुखदृष्टिः [1]सास्रस्वेदापवर्जनपरश्च ।
अव्यक्तोल्वणचेष्टो गुरौ [2]विनययन्त्रितो रुष्येत् ॥ १९ ॥
अल्पतरप्रविचारो [3]विकिरन्नश्रूण्यपाङ्गविक्षेपैः ।
[4]सभ्रुकुटीस्फुरितोष्ठः प्रणयोपगतां प्रियां रुष्येत् ॥ २० ॥
अथ परिजने तु रोषस्तर्जननिर्भर्त्सनाक्षिविस्तारः ।
विप्रेक्षणैश्च विविधैरभिनेयः क्रूरतारहितः[5] ॥ २१ ॥
[6]कारणमवेक्षमाणः प्रायेणायासलिङ्गसंयुक्तः ।
[7]वीररसान्तरचारी कार्यः कृतको भवति कोपः ॥ २२ ॥

अनुवाद—"गुरुजनों के प्रति विनय से नियन्त्रित क्रोध आने पर क्रुद्ध व्यक्ति का मुख नीचे की ओर झुक जाता है, आँखों में आंसू आ जाते हैं, पसीना पोंछने लगता है और उसकी उद्धत चेष्टाएँ अव्यक्त रहती हैं" ॥ १९ ॥

अनुवाद—प्रणयिनी प्रिया के ऊपर क्रोध आने पर प्रणयी (प्रेमी व्यक्ति) की गति शिथिल हो जाती है, अपाङ्ग-विक्षेपण के साथ आँखों में आंसू आ जाते हैं, भ्रुकुटी चढ़ जाती है और ओठ फड़कने लगते हैं ।" ॥ २० ॥

अनुवाद—परिजन (सेवक) ऊपर के किये गये क्रूरता-रहित क्रोध का अभिनय तर्जना, भर्त्सना (डांट-फटकार)' आंखों से घूरते हुए देखने तथा कठोरता के साथ दृष्टिपात करने आदि विविध प्रकार के अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ २१ ॥

अनुवाद—किसी कारण से होने वाला तथा प्रायः प्रयास चिह्नों से संयुक्त और वीर रस के अन्तर्गत सञ्चरण करने वाला (पाठ भेद से दो रसों के मध्य सञ्चरण करने वाला) कृत्रिम क्रोध होता है ॥ २२ ॥

१. ख. घ किञ्चित् स्वेदापमार्जनपरञ्च ।
२. ख. घ गुरोर्विनियन्त्रणं रुष्येत् । क-प भ. म. गुरोर्विनययन्त्रिणं रुष्येत् ।
क-च. गुरोर्विनयन्त्रितं रुष्येत् ।
३. क-म न. विहरन्नश्रूण्यपाङ्गतिक्षेपैः ।
४. ख. सभ्रुकुटीस्फुरदोष्ठः प्रणयाभिगतां प्रियां रुष्येत् ।
क-ख. सभ्रुकुटिस्फुरितोष्ठां प्रणयोपगतां प्रियां रुष्येद् ॥
५. ख. घ. विविधैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः । ६. ख. ग. घ. कारणपेक्षमाणः ।
७. ख. घ. उभयरसान्तरचारी कार्यः कृतको भवेद्रोषः ।
क-ख. द्विरसान्तरसंचारी कार्ये कृतको भवेद्रोषः ॥

उत्साहो नाम—उत्तमप्रकृतिः । स [1]चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य[2] धैर्यात्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

विमर्श—पिछले षष्ठ अध्याय में रौद्ररस के स्थायीभाव क्रोध का वर्णन किया गया है। यहाँ पर रस की अपेक्षा विभावों का संक्षेप में चर्चा की गई है। संघर्ष, आक्रोश, कलह, विवाद और प्रतिकूलता ये क्रोध के विभाव माने गये है और नाक खींचना, नथुने फैलाना, आंखे चढ़ाना, ओठ चबाना, गण्डस्थल का स्फुरण आदि अनुभाव कहे गये हैं। यहाँ क्रोध के पांच भेद बताये गये हैं—रिपुज, गुरुज, प्रणयि-प्रभव, भृत्यज और कृत्रिम। इनमें शत्रु के प्रति जो क्रोध होता है वह 'रिपुज' क्रोध है। आलम्बन विभाव की भिन्नता के कारण क्रोध के भेद और उनके अनुभावों में अन्तर पाया जाता है। भ्रुकुटि-चढ़ाना, मुख का विकट होना ओठ चबाना, हाथ मलना और भुजाओं को देखना यहाँ अनुभाव हैं। गुरुजनों के प्रति किया गया क्रोध 'गुरुज' है। इसमें विनय का भाव रहता है। मुख और आंखे झुकाना, आंसू बहाना, पसीने पोछना आदि अनुभाव कहे गये हैं। प्रणय की स्थिति में प्रेमीजन के प्रति क्रोध करना 'प्रणयिप्रभव' क्रोध है। प्रिया के प्रति किया गया क्रोध कोमल होता है, इसमें आन्तरिक क्षोभ होता है और शरीर की गति शिथिल हो जाती है, आखों में आंसू आ जाते हैं और कटाक्ष से देखता है, ये अनुभाव कहे गये हैं। नौकर-चाकरों पर किया गया क्रोध 'भृत्यज' होता है। इसमें क्रूरता नहीं होती। यहाँ डांट-फटकार; आंखों से घूरना और उपेक्षा की दृष्टि से देखना 'अनुभाव' हैं। कृत्रिम क्रोध को वीर रस के अन्तर्गत सञ्चरण करने वाला बताया हैं। पाठ की भिन्नता के अनुसार यहाँ इसे दो रसों के मध्य सञ्चरण करने वाला कहा गया है. यहाँ दों रसों से अभिप्राय रौद्र और वीर रस से है।

उत्साह स्थायीभाव

अनुवाद—उत्साह नामक स्थायीभाव उत्तम प्रकृति के लोगों में होता है। यह स्थायीभाव विषाद-हीनता, शक्ति, धैर्य तथा शौर्य आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसकी चर्चा रस के प्रसङ्ग में भाव के अन्तर्गत की जा चुकी है। धैर्य, त्याग, वैशारद्य आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए। यहाँ धैर्य और शौर्य को विभाव तथा धैर्य और त्याग को अनुभाव माना गया है। 'वैशारद्य' का अर्थ 'साम, दान, दण्ड, भेद का कुशलता के साथ प्रयोग करना है।

---

१. ख. घ. स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यत्यागादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।
   क–न. स चासंमोहोत्साहशक्तित्यागशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।
२. ख, घ. तस्य धैर्यत्यागारम्भवैशादद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

अत्र श्लोकः—

[1]असम्मोहादिभिर्व्यक्तो व्यवसायनयात्मकः[2] ।
[3]उत्साहस्त्वभिनेयः स्यादप्रमादोत्थितादिभिः ॥ २३ ॥

भयं नाम—स्त्रीनीचप्रकृतिकम् । गुरुराजापराधश्वापदशून्यागाराटवी[4]पर्वतगहनगजाहिदर्शननिर्भर्त्सनकान्तारदुर्दिननिशान्धकारोलूकनक्तञ्चरारावश्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य प्रकम्पितकरचरणहृदयकम्पनस्तम्भमुखशोषजिह्वापरिलेहनस्वेदवेपथुत्रासपरित्राणान्वेषणधावनोत्क्रुष्टादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

इस विषय में परम्परागत एक श्लोक है—

अनुवाद—'असम्मोह' आदि से व्यक्त होने वाला व्यवसाय तथा नय (नीति) से सम्पन्न उत्साह का अभिनय प्रमाद-हीनता, उत्थान आदि व्यापारों से किया जाना चाहिए' ॥ २३ ॥

विमर्श—यहाँ 'असम्मोह' पद से उत्साह की अभिव्यक्ति मानी गई है। साथ ही व्यवसायात्मक एवं नयात्मक भी माना गया है। अभिनव ने 'नय' का अर्थ राजनीति के सन्धि विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव इन छः गुणों को माना है। किन्तु यहाँ नय का अर्थ अभिनयपरक माना गया है।

भय स्थायीभाव

अनुवाद—भय नामक स्थायीभाव स्त्रियों तथा नीच लोगों के स्वभाव से सम्बद्ध माना गया है। वह गुरुजन एवं राजा के प्रति किये गये अपराध, हिंसक पशु, सूना घर, जंगल, पर्वत, हाथी तथा सर्प का दर्शन, भर्त्सना, भयानक जंगल दुर्दिन, रात्रि, अन्धकार, उल्लू एवं अन्य निशाचरों की ध्वनियों के श्रवण आदि विभावों के द्वारा उत्पन्न होता है। कांपते हुए हाथ-पैर, हृदय का कम्पन, स्तम्भ, मुख सूखना, जीभ चाटना, स्वेद (पसीना), वेपथु (कम्पन), त्रास तथा परित्राण के लिए अन्वेषण, पलायन, आक्रोशन (सशब्द रोदन) आदि अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए।

---

१. क–ङ. त. असंमोहादिनिर्वृतो । क–म. असंमोहादनिष्पत्तौ ।
२. क–व. व्यवसायनयात्मकः ।
३. ख. घ. उत्साहस्त्वभिनेयोऽसावप्रमादक्रियादिभिः ।
क–म. उत्साहस्त्वभिनेयोऽसौ विप्रमादोत्त्थितादिभिः ।
४. ख. घ. पर्यटनपर्वतदर्शन० । क–त. पर्वतगहनगजदर्शन० । क–न. पर्वतगजादिदर्सन० ।

अत्र श्लोकाः—

[1]गुरुराजापराधेन रौद्राणां चापि दर्शनात् ।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते ॥ २४ ॥

गात्रकम्पनवित्रासैर्वक्त्रशोषणसम्भ्रमैः ।
विस्फारितेक्षणैः कार्यमभिनेयक्रियागुणैः[2] ॥ २५ ॥

सत्त्ववित्रासनोद्भूतं भयमुत्पद्यते नृणाम् ।
स्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैस्तदभिनेयं तु नर्तकैः ॥ २६ ॥

अत्रार्या भवति—

[3]करचरणहृदयकम्पैर्मुखशोषणवदनलेहनस्तम्भैः ।
सम्भ्रान्तवदनवेपथुसन्त्रासकृतैरभिनयोऽस्य ॥ २७ ॥

इस विषय में परम्परागत ये श्लोक है—

अनुवाद—गुरु और राजा के प्रति किये गये अपराध, रौद्र प्राणियों के दर्शन, घोर शब्दों के श्रवण तथा मोह से भय उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

अनुवाद—शरीर के कम्पन, त्रास, मुख का सूखना, संभ्रम, आँखे फाड़कर देखना आदि क्रियाओं से इसका अभिनय करना चाहिए ॥ २५ ॥

अनुवाद—भूत, प्रेतादि के त्रास से उत्पन्न होने वाला भय मनुष्यों में होता है। नर्तकों को उसका अभिनय शिथिल अङ्गों तथा अक्षिनिमेष से करना चाहिए ॥२६॥

इस विषय में एक आर्या भी है—

अनुवाद—हाथ, पैर तथा हृदय के कम्पन, मुख-शोषण, मुख का चाटना, स्तम्भन, सम्भ्रम (घबराहट) से युक्त मुख, कम्पन, सन्त्रास आदि के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ २७ ॥

---

१. क-त न ब. पुस्तकेषु एते त्रयः श्लोका न सन्ति ।

२. ख. घ. अभिनेयः क्रियागुणैः ।

३. ख घ ग. करचरणहृदयकम्पैः स्तम्भनजिह्वोपलेहमुखशोषैः ।
स्रस्तसुविषण्णगात्रैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

जुगुप्सा नाम—स्त्रीनीचप्रकृतिका। सा[1] चाहृद्यदर्शनश्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तस्या सर्वाङ्गसङ्कोचनिष्ठीवनमुखविकूणनहृल्लेखादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

[2]भवति चात्र श्लोकः—

[3]नासाप्रच्छादनेनेह गात्रसङ्कोचनेन च।
[4]उद्वेजनैः सहृल्लेखैर्जुगुप्सामभिनिर्दिशेत्॥ २८॥

विमर्श—पिछले अध्याय में रस-विवेचन के प्रसङ्ग में भय का सम्बन्ध स्त्रियों तथा नीच जनों से स्थापित नहीं किया गया है। यहाँ पर भय का सम्बन्ध स्त्रियों तथा नीच प्रकृति के लोगों से बताया गया है। गुरु तथा राजा के प्रति अपराध का उल्लेख पूर्वप्रसङ्ग में किया जा चुका है। यहाँ सूना घर, जंगल तथा उल्लू के अतिरिक्त सर्प-दर्शन, कान्तार (घना एवं निर्जन वन), दुर्दिन (मेघ से आच्छादित वर्षाकाल या अन्धकारपूर्ण दिन), रात्रि, अन्धकार, निशाचर, ध्वनियों से भय का विभाव रूप में वर्णन है। इस प्रकार प्रस्तुत वर्णन रस-प्रसङ्ग का पूरक माना जा सकता है। यहाँ पर अनुभावों के वर्णन में रस-प्रसङ्ग में वर्णित कुछ अनुभाव दुहराये गये हैं। जैसे-हस्त-पादादि का कम्पन। किन्तु कुछ अनुभाव नये भी हैं। जैसे हृदय-कम्पन, मुख-शोषण, ओष्ठ-परिलेहन, पलायन, आक्रन्दन एवं परित्राणान्वेषण आदि नवीन अनुभाव हैं और स्वेद, वेपथु आदि व्यभिचारीभाव हैं। रसप्रसङ्ग में इनकी चर्चा व्यभिचारीभावों में का गई है। भूत-प्रेतादि के दर्शन से उत्पन्न भय को यहाँ भिन्न कोटि के रूप में माना गया है॥

जुगुप्सा स्थायीभाव

अनुवाद—जुगुप्सा नामक स्थायीभाव का सम्बन्ध स्त्रियों तथा नीच लोगों के स्वभाव से होता है। यह भाव अरुचिकर वस्तुओं के दर्शन, श्रवण आदि विभावों से होता है। शरीर के सभी अङ्गों के संकोचन (सिकोड़ना) ष्ठीवन (थूकना), मुख का सिकोड़ना तथा हृदय के पीड़ित होने अथवा दिल की धड़कन आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में परम्परागत एक श्लोक है—

१. ख. घ. या चाहृद्यश्रवणदर्शनादिर्भिर्विभावैरुत्पद्यते।
२. ख. भवत्यत्रापि श्लोकः।
३. ख. नासाप्रच्छादनेनापि।
४. ख. उद्वेजनैश्च हृल्लेखैर्जुगुप्सामपि निर्दिशेत्।
ख–ख. उत्तमेनावरैः साध्यः प्रहर्षपुलकादिभिः।

विस्मयो नाम— [1]मायेन्द्रजालमानुषकर्मातिशयचित्रपुस्तशिल्पविद्यातिशयादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य [2]नयनविस्तारानिमेषप्रेक्षितभ्रूक्षेपरोमहर्षणशिरःकम्पसाधुवादाभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

भवति चात्र श्लोकः—

कर्मातिशयनिर्वृत्तौ विस्मयो हर्षसम्भवः ।
सिद्धिस्थाने त्वसौ साध्यः [3]प्रहर्षपुलकादिभिः ॥ २९ ॥

[4]एवमेते स्थायिनो भावा रससंज्ञाः प्रत्यवगन्तव्याः ।

अनुवाद—"नाक के ढकने, शरीर के अङ्गों के संकुचित करने, उद्वेग तथा हृदय की पीड़ा आदि अनुभावों के द्वारा 'जुगुप्सा' का अभिनय करना चाहिए" ॥ २८ ॥

विमर्श—इस स्थायीभाव का सम्बन्ध स्त्रियों और नीच प्रकृति के लोगों से माना गया है। अरुचिकर वस्तुओं के दर्शन एवं श्रवण आदि से इस भाव का उदय होता है। अरुचिकर शब्द का अभिप्राय है–अपवित्र, अप्रिय और अनिष्ट वस्तुओं का दर्शन, श्रवण तथा परिकीर्त्तन (चर्चा करना)। 'हृदय को पीड़ा' नामक अनुभाव को छोड़कर अन्य सभी अनुभावों का वर्णन रस-निरूपण के प्रसङ्ग में किया जा चुका है।

विस्मय स्थायीभाव

अनुवाद—विस्मय नामक स्थायीभाव माया, इन्द्रजाल, मनुष्य के अस्त्र-धारण कार्य, चित्रकला, पुस्तकला तथा शिल्प-विद्या की अतिशयिता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। नेत्रों के विस्फारण (फैलाने), निर्निमेष दृष्टि, भ्रूक्षेप, रोमाञ्च शिर का कम्पन, साधुवाद आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में परम्पराप्राप्त एक श्लोक भी है—

अनुवाद—"अतिशय अर्थात् असाधारण कर्म से निर्वृत्त 'विस्मय' हर्ष से उत्पन्न होता है। हर्ष तथा पुलक (रोमाञ्च) आदि के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ २९ ॥

इस प्रकार इन रससंज्ञक स्थायीभावों को समझना चाहिए।

---

१. ख. मायेन्द्रजालमानुषकर्मातिशयविचित्रवपुस्तच्छिल्पातिशयाद्यैर्विभावैरुत्पद्यते ।
२. ख. नयनविस्तारा निमिषप्रेक्षणभ्रूविक्षेपणरोमहर्षस्वेदसाधुवादादिभिरनुभावैरभिनयः ।
३. ख. साध्यो हर्षाश्रुप्रलयादिभिः ।
४. ख. एवमेते स्थायिभावाः प्रत्यवगन्तव्याः ।

व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः[1] । अत्राह—व्यभिचारिण इति कस्मात्? [2]उच्यते—वि अभि इत्येतावुपसर्गौ । [3]चर इति गत्यर्थो । धातुः [4]विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः । [5]वाङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः ।

विमर्श—पिछले अध्याय में अद्भुत रस के प्रसङ्ग में विस्मय नामक स्थायीभाव का निरूपण किया जा चुका है । वहाँ पर इनके विभावों में माया, इन्द्रजाल की चर्चा हुई है । वहाँ पर शिल्प-विद्या की भी चर्चा की गई है किन्तु यहाँ विस्तार से उसका निरूपण किया गया है । इसके अनुभावों में नेत्र-विस्फारण, निर्निमेष दृष्टि, रोमाञ्च तथा साधुवाद की चर्चा पहिले की जा चुकी है । भ्रू-संचालन, शिरःकम्पन नये अनुभाव हैं । असाधारण (अलौकिक) कार्यों से सम्पादित विस्मय यहाँ हर्ष से उत्पन्न माना गया है ।

इस प्रकार यहाँ तक स्थायीभावों की चर्चा की गई है । ये सभी स्थायीभाव रस-संज्ञक है, रस स्वभाव है । अब व्यभिचारी भावों की चर्चा करेंगे ।

व्यभिचारीभाव

अनुवाद—स्थायीभावों की चर्चा के बाद अब व्यभिचारीभावों की व्याख्या करूँगा । इस विषय में कहते हैं कि व्यभिचारी क्यों कहे जाते हैं? उत्तर देते हैं कि इसमें 'वि' और 'अभि' ये दो उपसर्ग हैं तथा गत्यर्थक 'चर्' धातु है जिसका अर्थ है—चलना या गतिशील होना । इस प्रकार 'व्यभिचारी' शब्द का अर्थ हुआ—जो विविध प्रकारों से रसों की ओर उन्मुख होकर सञ्चरणशील होते है, उन्हे 'व्यभिचारी' कहते हैं । जो वाचिक, आङ्गिक एवं सात्त्विक अभिनयों से युक्त होकर प्रयोग में रसों को ले जाते हैं वे व्यभिचारी हैं । भाव यह कि व्यभिचारीभाव रसों को प्रतीति के योग्य बनाते हैं ।

---

१. ख. वक्ष्यामः ।

२. ख. उच्यन्ते ।

३. ख. ग. चरगतौ धातुः ।

४. ख. धात्वर्थंवागङ्गसत्त्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः । चरन्ति नयन्तीत्यर्थः ।

५. ख. पुस्तके "वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्ति व्यभिचारिणः" इति नास्ति ।

अत्राह—कथं नयन्तीति। उच्यते— [1]लोकसिद्धान्त एष—यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नोयते। किं तु लोकप्रसिद्धमेतत्। यथेद सूर्या नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्यः। तानिह सङ्ग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्यामः।

[2]तत्र निर्वेदो नाम—दारिद्रयव्याध्यवमानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोगतत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते [3]स्त्रीनीचकुसत्त्वानाम्। रुदितनिःश्वसितोच्छ्वसितसम्प्रधारणादिभिरनुभावैस्तमभिनयेत्।

[4]अत्र श्लोकः—

अनुवाद—अब प्रश्न होता है कि वे रसों को किस प्रकार ले जाते हैं? इस पर कहते हैं—यह लोक-सिद्धान्त है। जिस प्रकार सूर्य इस दिन को, इस नक्षत्र को ले जाता है। क्या वह उसे बाहुओं से उठाकर अथवा कन्धे पर लाद कर ले जाता है? किन्तु लोक में यह प्रसिद्ध है कि जिस प्रकार सूर्य इस दिन या नक्षत्र को ले जाता है उसी प्रकार ये व्यभिचारी भी ले जाते हैं, यह समझना चाहिए। संग्रह रूप में उल्लिखित तैंतीस व्यभिचारीभावों का अब यहाँ वर्णन करूँगा।

(१) निर्वेद

अनुवाद—'निर्वेद' नामक व्यभिचारी भाव दरिद्रता, रोग, अपमान तिरस्कार, आक्रोश, क्रोध, ताड़न, प्रियजन-वियोग और तत्त्वज्ञान आदि विभावों से उत्पन्न होता है। स्त्री, नीच एवं कुत्सित लोगों के रुदन, निःश्वास, उच्छ्वास तथा सम्प्रधारण आदि अनुभावों के द्वारा इस संचारीभाव का अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में एक श्लोक है—

---

१. ख. 'लोकसिद्धान्त एषः' इति नास्ति।

२. ख. घ. अत्र निर्वेदो नाम दारिद्र्योपगमाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोगतत्त्वज्ञानदिभिः विभावैरुत्पद्यते।

३. ख. स्त्रीनीचप्रकृतीनां तमभिनयेद् रुदितविनिःश्वसितोच्छसितप्रतारणादिभिरनुभावैः।

४. ख. भवति चात्र श्लोकः।

[1]दारिद्रचेष्टवियोगाद्यैः निर्वेदो नाम जायते ।
सम्प्रधारणनिःश्वासैस्तस्य त्वभिनयो भवेत् ॥ ३० ॥

अत्रानुवंश्ये आर्यें भवतः—

इष्टजनविप्रयोगाद्दारिद्रचाद्वचाधितस्तथा दुःखात् ।
[2]ऋद्धिं परस्य दृष्ट्वा निर्वेदो नाम सम्भवति ॥ ३१ ॥
वाष्पपरिप्लुतनयनः पुनश्च [3]निःश्वासदीनमुखनेत्रः ।
योगीव ध्यानपरो[4] भवति हि निर्वेदवान्पुरुषः ॥ ३२ ॥

अनुवाद—"दरिद्रता और प्रियजन के वियोग आदि से 'निर्वेद' उत्पन्न होता है। चिन्तन तथा निःश्वास आदि के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ॥ ३० ॥

इस विषय में आनुवंशीय दो आर्याएँ भी हैं—

अनुवाद—इष्टजन के वियोग, दरिद्रता, व्याधि, दुःख से तथा दूसरे की समृद्धि देखकर 'निर्वेद' उत्पन्न होता है ॥ ३१ ॥

अनुवाद—निर्वेद से युक्त पुरुष की आँखें आंसुओं से परिपूर्ण होती हैं, फिर मुख और नेत्र निःश्वास के कारण दीन (मलिन) हो जाते हैं, और वह योगी की तरह ध्यान में लीन दिखाई देता है ॥ ३२ ॥

विमर्श—पिछले छठें अध्याय में शान्तरस के प्रसङ्ग में निर्वेद को शान्त रस का स्थायीभाव कहा है। इसीलिए भरत ने व्यभिचारीभावों में इसे प्रथम स्थान दिया है। शाङ्र्गदेव का कहना है कि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायीभाव होता है और प्रियजन के वियोग से उत्पन्न निर्वेद व्यभिचारीभाव है किन्तु भरतमुनि ने तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को भी व्यभिचारीभाव माना है। विश्वनाथ और धनञ्जय उक्त मत से सहमत दिखाई देते हैं। भरत ने निर्वेद के विभावों में दरिद्रता, व्याधि आदि को गिनाया है ॥

---

१ ख दारिद्रचेष्टनियोगैश्च । क-च. दारिद्रचेष्टवियोगेषु । क-ड. म. दारिद्रचेष्टवियोगैश्च क-त. भ. दारिद्रचेष्टविनाशेन ।

२. ख. घ. परवृद्धिं वा दृष्ट्वा ।

३ ख. निःश्वासदीर्घमुखनेत्रः ।
क-त न. पुनः पुनः ग्लानदीनमुखवर्णः । क-च. ब. पुनः पुनः स्वासदीनमुखनेत्रः ।

४. क-च. ब. ध्यानरतो ।

ग्लानिर्नाम—[1]वान्तविरिक्तव्याधितपोनियमोपवासमनस्तापा[2]-तिशयमदनमद्यसेवनातिव्यायामाध्वगमनक्षुत्पिपासानिद्राच्छेदादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्याः [3]क्षामवाक्यनयनकपोलोदरमन्दपदोत्क्षेपणवेपनानुत्साहतनुगात्रवैवर्ण्यस्वरभेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अत्रार्ये भवतः—

[4]वान्तविरिक्तव्याधिषु तपसा जरसा च जायते ग्लानिः ।
कार्येन साभिनेया [5]मन्दभ्रमणेन कम्पेन ॥ ३३ ॥
गदितैः क्षामक्षामैर्नेत्रविकारैश्च दीनसञ्चारैः ।
[6]श्लथभावेनाङ्गानां मुहुर्मुहुर्निर्दिशेद् ग्लानिम् ॥ ३४ ॥

(२) ग्लानि

अनुवाद--'ग्लानि' नामक व्यभिचारीभाव वमन, रेचन, व्याधि, तप, नियम, उपवास, मन का सन्ताप, अतिशय काम, मद्यसेवन, अतिशय व्यायाम, लम्बी यात्रा, भूख, प्यास और निद्राभङ्ग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। ग्लानि व्यभिचारीभाव का अभिनय क्षीण वचन (धीमी आवाज), क्षीण (कान्तिहीन) नेत्र,, कपोलों की क्षीणता, उदर की क्षीणता, मन्द गति से पग रखना, कम्पन, अनुत्साह, शरीर की क्षीणता, विवर्णता और स्वरभङ्ग आदि अनुभावों द्वारा किया जाना चाहिए।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—वमन, विरेचन, व्याधि, तप तथा जरा (बुढ़ापा) से 'ग्लानि' उत्पन्न होती है। कृशता (दुर्बलता), मन्द भ्रमण (मन्दगति) और कम्पन के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ॥ ३३ ॥

अनुवा--अत्यन्त क्षीण वचनों से, नेत्रों में कमजोरी, दीनभाव से चलने, तथा अङ्गों की शिथिलता से ग्लानि का अभिनय करना चाहिए ॥ ३४ ॥

१. ख. वातविरिक्त ।
२. ख. मनस्तापातिपानमद्यसेवा । ख-ख. तापातिपानमदनसेवा ।
३. ख. क्षामवाक्यनयन कपोलमन्दपदोपरामानुत्साहतनुगात्र वैवर्ण्यादिभिरनुभावैरभिनयः ।
४. ख. वातविरक्तव्याधिषु ।
५. ख. घ. मन्दक्रमणानुकम्पेन ।
६. ख. श्लथभावाच्चाङ्गानां ।

शङ्का नाम—सन्देहात्मिका स्त्रीनीचप्रभवा[1]। [2]चौर्याभिग्रहणनृपापराधपापकर्मकरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते[3]। तस्या[4] मुहुर्मुहुरवलोकनावकुण्ठनमुखशोषणजिह्वापरिलेहन[5]मुखवैवर्ण्यस्वरभेदवेपथुशुष्कोष्ठकण्ठायाससाधर्म्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

[6]अत्र श्लोकः—

विमर्श—'ग्लानि' केवल मानसिक स्थितियों से नहीं, अपितु शारीरिक स्थितियों से भी उत्पन्न होती है। पण्डितराज ने ग्लानि को मानसिक सन्ताप एवं व्याधि, मद्यपान, अतिशय काम, अधिक यात्रा, भूख, प्यास तथा नीद न आने से शारीरिक दुर्बलता होती है और उससे मानसिक ग्लानि होती है। कुछ आचार्यों ने मनोव्यथा एवं व्याधि (रोग) से उत्पन्न होने वाली शक्तिहीनता को 'ग्लानि' माना है (**बलस्यायचयो ग्लानिराधिव्याधिसमुद्भवः**)।

(३) शङ्का

अनुवाद—'शङ्का' नामक व्यभिचारीभाव सन्देहात्मक और स्त्रियों तथा नीच स्वभाव के लोगों में उत्पन्न होने वाला होता है। चोरी में पकड़े जाने, राजा के प्रति अपराध करने, राजद्रोह एवं पापकर्म करने आदि विभावों से 'शङ्का' नामक व्यभिचारीभाव उत्पन्न होता है। इस व्यभिचारीभाव का अभिनय बार-बार देखने, संकुचित होने, मुख सूखने, जीभ से ओठ चाटने, मुख के रङ्ग उड़ जाने, स्वरभङ्ग, कम्पन, ओठ के सूखने तथा कण्ठावरोध आदि समान प्रकृति वाले अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए।

इस विषय में एक श्लोक भी हैं—

---

१. ख. पुस्तके 'सन्देहात्मिका **स्त्रीनीचप्रभवा**' इति नास्ति।

२. ख. चौर्याद्यभिग्रहणं। क. च. त. चौर्याभिग्रहनाना।

३. ख. समुत्पद्यते सन्देहात्मिका स्त्रीनीचानाम्। क–त न. ब. म. उत्पद्यते सन्देहात्मिका स्त्रीनीचानां।

४. ख. सा च।

५. ख. मुखवैवर्ण्यवेपनशुष्कोष्ठकण्ठावसादादिभिरनुभावैरभिनीयते।
क–च. त. न. ब. मुखवर्णभेदवेपथुशुष्कोष्ठकण्ठवायससाधर्म्यादिभिरनुभावैरभिनीयते।

६. क. ग पुस्तकयोरिदं वाक्यं नास्ति।

चौर्यादिजनिता शङ्का प्रायः कार्या भयानके ।
प्रियव्यलीकजनिता तथा शृङ्गारिणी मता ॥ ३५ ॥

अत्राकारसंवरणमपि केचिदिच्छन्ति । तच्च [1]कुशलैरुपाधिभिरिङ्गितैश्चोपलक्ष्यम् ।

अत्रार्ये भवतः—

द्विविधा शङ्का कार्या ह्यात्मसमुत्था च परसमुत्था च ।
या [2]तत्रात्मसमुत्था सा ज्ञेया दृष्टिचेष्टाभिः ॥ ३६ ॥
[3]किञ्चित्प्रवेपिताङ्गस्त्वधोमुखो वीक्षते च पार्श्वानि ।
गुरुसज्जमानजिह्वः [4]श्यामास्यः शङ्कितः पुरुषः ॥ ३७ ॥

अनुवाद—चोरी आदि से उत्पन्न शङ्का का अभिनय प्रायः भयानक रस में किया जाता है । प्रिय के कपट करने से उत्पन्न शङ्का का अभिनय शृंङ्गार रस माना जाता है ॥ ३५ ॥

अनुवाद—कुछ आचार्य इस सम्बन्ध में आकार के गोपन को भी अनुभाव मानते हैं । उसे कुशल व्यक्तियों द्वारा उपाधियों (छल) एवं इङ्गितों सङ्केतो द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—शङ्का दो प्रकार की होती हैं—आत्मसमुत्था और परसमुत्था इनमें प्रथम आत्मसमुत्था शङ्का को दृष्टि एवं चेष्टाओं के द्वारा जानना चाहिए ॥ ३६ ॥

अनुवाद—शङ्कित पुरुष के अङ्ग कुछ काँपते हैं, नीचे की ओर मुख करके अगल-बगल झांकता है, उसकी जिह्वा मोटी और जड़ हो जाती है और मुँह काला पड़ जाता है ॥ ३७ ॥

---

१. क-ङ. म. तच्च कुले रूपादिभिः ।
२. क-च. त. ब. तत्र परसमुत्था ।
३. ख. किञ्चित्प्रवेपिताङ्गो मुहुर्मुहुः वीक्षते ।
४. ख. श्लावास्यः । क-च. म. श्यावास्यः ।

असूया नाम— [1]नानापराधद्वेषपरैश्वर्यसौभाग्यमेधाविद्यालीलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्याश्च परिषदि [2]दोषप्रख्यापनगुणोपघातेर्ष्याचक्षुःप्रदानाधोमुखभ्रुकुटीक्रियावज्ञानकुत्सनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

विमर्श—'शङ्का' नामक व्यभिचारीभाव सन्देहमूलक होता है। इसका सम्बन्ध स्त्रियों और नीच प्रकृति के पुरुषों से माना जाता है। भरत ने चोरी में पकड़े जाने अथवा लूट-खसोट करने, राजद्रोह और पापकर्म करने को शङ्का का विभाव बताया है जिसका सम्बन्ध नीच प्रकृति के लोगों से ही होता है। भरत ने बार-बार देखना (घोष के अनुसार लगातार देखना), अवकुण्ठन (चेष्टाओं का संकोच, घोष के अनुसार हिचक के साथ चेष्टा करना तथा पाठभेद के अनुसार 'अवगुण्ठन 'पाठ मानने पर 'मुह छिपाना अर्थ होगा) 'मुख सूखना' ओठ चाटना आदि को अनुभाव कहा है। 'मुख का रङ्ग उड़ जाना' यह सात्त्विक भाव है। स्वरभङ्ग यह सात्त्विक भाव है। वेपथु सात्त्विक भाव है । ओठों का सूखना तथा काण्ठावसाद (गले का बंठ जाना) अनुभाव है। भरत के अनुसार भयानक रस में व्यभिचारीभाव के रूप में प्रयुक्त शङ्का 'चौर्याभिग्रहण' आदि विभावों से उत्पन्न होती है और शृङ्गार रस में शङ्का छल (कपट) से उत्पन्न होती है। यह शङ्का दो प्रकार की होती है—आत्मसमुत्था और परसमुत्था। इनमें प्रथम प्रकार की शङ्का अपने मन में होती है और उसकी अभिव्यक्ति दृष्टि एवं चेष्टाओं से होती है। जो शङ्का दूसरे से होती है या दूसरे के विषय में होती है उसे 'परसमुत्था' कहते हैं।

(४) असूया

अनुवाद—'असूया' नामक व्यभिचारीभाव अनेक प्रकार के अपराध, द्वेष दूसरों के ऐश्वर्य, सौभाग्य, मेधा, विद्या तथा लीला आदि विभावों से उत्पन्न होता है। सभा में दोष प्रख्यापन, गुणों का तिरस्कार, ईर्ष्या से देखना, मुख नीचे करना भ्रुकुटी (भौंह) चढ़ाना, अवज्ञा (अवहेलना) करना तथा दूसरे की निन्दा करना आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

---

१. क-ङ. म. नानापराधान्वेषणपरैश्वर्यसौभाग्यलीलाविद्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
   ख. नानापराधद्वेषपरैश्वर्यसौभाग्यलीलाविद्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
२. ख. दोषप्रख्यापनं गुणोपघातनाचक्षुःप्रदानाधोमुखभ्रुकुटिक्रियाज्ञाना ।

अत्रार्ये भवतः—

[1]परसौभाग्येश्वरतामेधालीलासमुच्छ्रयान्दृष्ट्वा ।
[2]उत्पद्यते ह्यसूया कृतापराधो भवेद्यश्च ॥ ३८ ॥

भ्रुकुटिकुटिलोत्कटमुखैः [3]सेर्ष्याक्रोधपरिवृत्तनेत्रैश्च ।
गुणनाशनविद्वेषैस्तत्राभिनयः प्रयोक्तव्यः[4] ॥ ३९ ॥

[5]मदो नाम—मद्योपयोगादुत्पद्यते । स च त्रिविधः पञ्चविधभावश्च[6] ।

इस विषय में दो आर्याएँ भी हैं—

अनुवाद—दूसरे के सौभाग्य, ऐश्वर्य, मेधा, लीला तथा उन्नति को देखकर अपराध करने वाले व्यक्ति के हृदय में असूया, उत्पन्न होती है ॥ ३८ ॥

अनुवाद—भौंहों की कुटिलता (भौंह चढ़ाना), मुख घुमाना या टेढ़ा करना ईर्ष्या तथा क्रोध के साथ आँखें नचाना, गुणों का नाश अथवा उससे विद्वेष (घृणा) आदि अनुभावों के द्वारा 'असूया' का अभिनय करना चाहिए ॥ ३९ ॥

विमर्श—द्वेष आदि के कारण दूसरों के गुणों को सहन न करना 'असूया' है। दूसरों के ऐश्वर्य, सौभाग्य, विद्या, बुद्धि तथा लीला आदि को देखकर भी ईर्ष्या या जलन भाव उदय होता है। दूसरे के अपराध से उत्पन्न असूया का अभिनय सभा में दूसरों के दोष-प्रदर्शन से किया जाता है। ऐश्वर्य आदि से उत्पन्न 'असूया' का अभिनय दूसरों के गुणों की अवहेलना या तिरस्कार के प्रदर्शन से होता है। दृष्टि-निक्षेप, अधोमुख, भ्रुकुटि-क्रिया आदि आङ्गिक अनुभाव है। अवज्ञान (अवहेलना) और कुत्सन (तिरस्कार) वाचिक अनुभाव हैं।

(५) मद

अनुवाद—'मद' नामक व्यभिचारीभाव मद्य के उपयोग से उत्पन्न होता है। वह तीन प्रकार होता है और उसके पांच प्रकार के भाव होते हैं।

---

१. क-त. विद्यासौभाग्येश्वरता० ।
२. क-च. त. ब. अभिनेतव्यासूया ।
३. ख. मुखसेर्ष्याक्रोधपरिवृत्तवक्राद्यैः । क-न. ब. मुखसेर्ष्याक्रोधपरिवर्तिभिश्चित्रैः ।
४. क-अ. च. ब. तस्याः कार्यः सदाभिनयः ।
५ ख. अथ मदो नाम ।
६. क-च त. पञ्चविभावश्च । क-ड. पञ्चविधभावश्च त्रिप्रकृतिः । तत्रार्याः ।

अत्रार्या भवन्ति—

[1]ज्ञेयस्तु मदस्त्रिविधस्तरुणो मध्यस्तथावकृष्टश्च ।
करणं पञ्चविधं स्यात्तस्याभिनयः [2]प्रयोक्तव्यः ॥ ४० ॥

कश्चिन्मत्तो गायति रोदिति कश्चित्तथा हसति कश्चित् ।
[3]परुषवचनाभिधायी कश्चित्कश्चित्तथा स्वपिति ॥ ४१ ॥

उत्तमसत्त्वः शेते हसति च गायति च मध्यमप्रकृतिः ।
परुषवचनाभिधायी रोदित्यपि चाधमप्रकृतिः ॥ ४२ ॥

[4]स्मितवचनमधुररागो [5]हृष्टतनुः किञ्चिदाकुलितवाक्यः ।
[6]सुकुमाराविद्धगतिस्तरुणमदस्तूत्तमप्रकृतिः ॥ ४३ ॥

इस विषय में परम्परागत आर्याश्लोक भी हैं—

अनुवाद—तरुण, मध्य और अवकृष्ट भेद से मद तीन प्रकार का होता है। इसके पांच प्रकार के विभाव (कारण) होते हैं जिनके द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ४० ॥

अनुवाद—इस मद में मत्त होकर कोई गाता है, कोई रोता है और कोई हंसता है, कोई कठोर वाक्य बोलता है और कोई सोता है ॥ ४१ ॥

अनुवाद—इनमें उत्तम प्रकृति का व्यक्ति सोता है, मध्यम प्रकृति का व्यक्ति हंसता और गाता है तथा अधम प्रकृति का व्यक्ति रोता है ॥ ४२ ॥

अनुवाद—उत्तम प्रकृति के मनुष्य में जब तरुण मद होता है तो उसके मुख पर मुस्कान होती है, राग मधुर होता है, शरीर प्रसन्न रहता है, वाणी कुछ लड़खड़ाती है और गति सुकुमारता के साथ आविद्ध (अस्थिर) हो जाती है ॥४३॥

---

१. ख. त्रिविधस्तु मदः कार्यः ।
२. क–ग. तस्याभिनये प्रयोक्तव्यम् । तस्याभिनये प्रयोगविदाम् ।
३. क–त. न. म. पुरुषवचनाभिधायी ।
४. ग. स्मितवदन॰ ।
५. ख. धृष्टतनुः ।
६. क–च. ब. म. सुकुमारो विद्धगतिः । क–अ. द. स्वप्राचाराविद्धगतिः ।

स्खलिताघूर्णितनयनः स्रस्तव्याकुलितबाहुविक्षेपः[1] ।
कुटिलव्याविद्धगतिर्मध्यमदो मध्यमप्रकृतिः ॥ ४४ ॥

नष्टस्मृतिर्हतगतिश्छर्दितहिक्काकफैः [2]सुबीभत्सः ।
गुरुसज्जमानजिह्वो निष्ठीवति चाधमप्रकृतिः ॥ ४५ ॥

रङ्गे [3]पिबतः कार्या मदवृद्धिर्नाटचयोगमासाद्य ।
कार्यो मदक्षयो वै यः खलु पीत्वा प्रविष्टः स्यात् ॥ ४६ ॥

[4]सन्त्रासाच्छोकाद्वा भयात्प्रहर्षाच्च कारणोपगतात् ।
[5]उत्क्रम्यापि हि कार्यो मदप्रणाश[6] क्रमात्तज्ज्ञैः ॥ ४७ ॥

अनुवाद—मध्यम प्रकृति के मनुष्यों में मद होने पर उसके नेत्र चञ्चल हो जाते हैं अर्थात् नेत्र घूमते हैं, पैर लड़खड़ाते हैं, भुजाएँ शिथिल हो जाती हैं और व्याकुल होकर उसका विक्षेप करता है तथा गति (चाल) कुटिल और अस्थिर हो जाती है ॥ ४४ ॥

अनुवाद—अधम प्रकृति के लोगों में मद होने पर उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, गति (चाल) अवरुद्ध हो जाती है, हिचकी एवं कफ से बीभत्सता आ जाती है, जिह्वा (जीभ) भारी और जड़ हो जाती है और वह थूकता रहता है ॥ ४५ ॥

अनुवाद रङ्गमञ्च पर मद्यपान करने पर पात्र के नाट्य-प्रयोग में मद की वृद्धि प्रदर्शित करनो चाहिए और मद्यपान करके जो पात्र रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है अभिनय में उसके मद (नशे) की कमी दिखानो चाहिए ॥ ४६ ॥

अनुवाद—अनुभवी नाट्यवेत्ताओं को प्रयास करके संत्रास, शोक, भय, हर्ष तथा अन्य किसी कारणों से मद का प्रयास (मदक्षीणता) प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ४७ ॥

---

१. क–अ. द. गात्रविक्षेपः । क–त. बाहुविक्षेपः ।
२. क–ड. म. हिक्कागतैः स बीभत्सः । क–अ. द. हिक्कादिकैः सुबीभत्सः ।
३. क–ड म. रङ्गोऽपि बहिः कार्या ।
४. क–अ. द. ब. भयाच्च हर्षाच्च । क-ड. म. भयात्प्रकर्षाच्च ।
५. ख. उद्यम्यापि हि । क-च. ब. उत्क्रान्त्यापि हि ।
६. ख. मदप्राणशस्तथा ।

एभिर्भावविशेषैर्मदो द्रुतं सम्प्रणाशमुपयाति ।
[1]अभ्युदयसुखैर्वाक्यैर्यथैव शोकः क्षयं याति ॥ ४८ ॥

श्रमो नाम—अध्वव्यायामसेवनादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते[2] । तस्य [3]गात्रपरिमर्दनसंवाहननिःश्वसितविजृम्भितमन्दपदोत्प्रेक्षणनयनवदनविकूणनसीत्करादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अनुवाद—इस प्रकार बतलाये गये विशिष्ट भावों से मद शीघ्र उसी प्रकार शान्त हो जाता है जिस प्रकार अभ्युदय करने वाले सुखमय वाक्यों से शोक क्षीण हो जाता है ॥ ४८ ॥

विमर्श—'मद' नामक व्यभिचारीभाव मद्यपान से उत्पन्न होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने सम्मोह तथा आनन्द की स्थिति में भी 'मद' की दशा मानी है। उन्होंने मद्य-सेवन को आलम्बन विभाव तथा इष्ट-प्राप्ति, प्रियदर्शन, नृत्य, गीत, वाद्य के वर्णन को विभाव तथा परुषवचन, घबराहट से भाषण, प्रसन्न शरीर, स्खलित गति, नेत्र घूर्णन आदि को अनुभाव कहा है। भरत ने मद के तीन प्रकार बताये है—तरुण, मध्य और अवकृष्ट। उत्तम प्रकृति के व्यक्ति को तरुण मद होता है। इस स्थिति में वह स्मित-वदन, मधुरराग, हृष्टतनु, आकुलित वाक्य, सुकुमार गति तथा लड़खड़ाहट वाला होता है। मध्यम प्रकृति के लोगों का मद मध्य होता है। इस स्थिति में वह स्खलितगति, घूर्णित नेत्र, शिथिल भुजाओं का प्रक्षेपण एवं कुटिल गति से युक्त होता है, अधम प्रकृति के मनुष्य में मद अधिक उग्र होता है। ऐसी स्थिति में उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, अस्थिर गति, हिचकी कफ आदि से बीभत्सा, और जिह्वा स्तब्ध हो जाती है और बार-बार थूकता रहता है। पात्रों के रङ्गमञ्च पर मद पीने पर नशा बढ़ता हुआ और मद्य पीकर रङ्गपीठ पर प्रवेश करने पर नशा उतरता हुआ प्रदर्शित करना चाहिए। मद-शमन की विधि बताते हुए भरत कहते हैं कि त्रास, भय, वमन आदि से नशा शान्त करना चाहिए॥

---

१. क-अ. द. अभ्युदयपरैश्च । क-च. ब. अभ्युदयमुखैः ।
ख अभ्युदयसुखैर्वाक्यैस्तथैव शोकः क्षयं याति ।

२. ख, उत्पद्यते ।

३. ख. गात्रसंवाहननिश्वसितमुखविघूर्णनजृम्भणाङ्गमर्दनमन्दपादोत्क्षेपणनयनविघूर्णनसीत्कारादिभिः ।
क-अ. द. गात्रपरिमर्दनसंवाहनमुखजृम्भणाङ्गमर्दनमन्दपादोत्क्षेपणादिभिः ।

अत्रार्या—

[1]नृत्ताध्वव्यायायान्नरस्य सञ्जायते श्रमो नाम ।

[2]निःश्वासखेदगमनैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ४९ ॥

आलस्यं नाम— [3]खेदव्याधिगर्भस्वभावश्रमसौहित्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते स्त्रीनीचानाम् । तदभिनयेत् [4]सर्वकर्मानभिलापशयनासननिद्रातन्द्रासेवनादिभिरनुभावैः ।

अत्रार्या—

आलस्यं त्वभिनेयं खेदोपगतं [5]स्वभावजं चापि ।

आहारवर्जितानामारम्भाणामनारम्भात् ॥ ५० ॥

(६) श्रम

अनुवाद—'श्रम' नामक व्यभिचारीभाव दूर की यात्रा और व्यायाम-सेवन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शरीर दबाना, मालिश करना, दीर्घश्वास लेना, जंभाई लेना, धीरे-धीरे पग रखना, आँख-मुख सिकोड़ना, तथा सीत्कार आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में परम्परागत आर्या है—

अनुवाद—नृत्त, लम्बी यात्रा तथा व्यायाम से शरीर में 'श्रम' उत्पन्न होता है। दीर्घ निःश्वास और शिथिल गति से उसका अभिनय करना चाहिए ॥४९॥

(७) आलस्य

अनुवाद—'आलस्य' नामक व्यभिचारीभाव खेद, व्याधि, गर्भ, स्वभाव, श्रम तथा अतितृप्ति आदि विभावों से स्त्रियों तथा नीच प्रकृति के लोगों में उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सभी प्रकार के कार्यों में अरुचि, शयन, आसन, निद्रा और तन्द्रा में रहने आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए।

१. ख. अध्वगतिव्यायामैर्नरस्य ।
२. क-अ. द. निःश्वासदर्शनस्वेदैः । क-त. निश्वासखेदजननैः ।
३. ख. स्वभावखेदव्याधिसौहित्यगर्भादिभिर्विभावैः
क-अ. ड. ब. म. स्वभावखेदश्रमव्याधिसौहित्यगर्भादिभिर्विभावैः ।
४. ख. घ. सर्वकर्मप्रद्वेषणशयनासनतन्द्रानिद्रासेवनादिभिरनुभावैः ।
५. ख. घ. स्वेदव्याधिस्वभावजं कापि ।

दैन्यं नाम—[1]दौर्गत्यमनस्तापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । [2]तस्याधृतिशिरोरोगगात्रगौरवान्यमनस्कतामृजापरिवर्जनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अत्रार्या—

[3]चिन्तौत्सुक्यसमुत्था दुःखाद्या भवति दीनता पुंसाम् ।
[4]सर्वमृजापरिहारैर्विविधोऽभिनयो भवेत्तस्य ॥ ५२ ॥

इस विषय में एक आर्या है।

अनुवाद –'खेद अथवा स्वभाव से उत्पन्न आलस्य का अभिनय भोजन को छोड़कर अन्य सभी कार्यों के आरम्भ के त्याग द्वारा करना चाहिए ॥ ५० ॥

(८) दैन्य

अनुवाद—'दैन्य' नामक व्यभिचारीभाव दुर्गति तथा मनस्ताप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। धैर्य का त्याग (अधीरता), शिर की पीड़ा, शरीर में भारीपन अन्यमनस्कता तथा शुद्धता के त्याग (अशुद्धता) आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में एक आर्या है—

अनुवाद "चिन्ता और औत्सुक्य से उत्पन्न दुःख आदि से मनुष्यों में दीनता (दैन्य) उत्पन्न होती है। उसका अभिनय सभी प्रकार की शुद्धियों के परित्याग (निषेध) के द्वारा करना चाहिए ॥ ५१ ॥

---

१. ख दौर्गत्यमनस्तापादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
क-त. तस्याधृतिशिरोरोगगात्रगौरवमृजापरिवर्जनादिभिः ।

२. ख. तस्याधृतिशिरोरोगात्रस्तम्भमनःस्तम्भमृजापरिवर्णनादिभिः ।
क-च. द. तच्चावृत्तिशिरोगात्रगौरवमृजापरिभावनादिभिरनुभावैरभिनेतव्यम् ।
क-अ. द. तच्च धृतशिरोगात्रगौरवमृजापरिवर्जनगादिभिर्विभावैरभिनेतव्यम् ।

३. ख. चिन्तौत्सुक्यसमुत्थाद् दुःखाद्वा दीनता भवेत् पुंसाम् ।
क-अ, द. चित्तोद्रेकसमुत्थाद् दुःखाद्वा भवति दीनता पुंसाम् ।

४. ख. सर्वमृजापरिहारैर्विविधोऽभिनयो भवेत्तस्य ।
क-ख सर्वमृजानां परिवर्जनैश्च विविधैरभिनयोऽस्याः ।
क-च, त. सर्वमृजापरिवर्जनजैः विविधैरभिनयोऽस्य ।
क-न. सर्वमृजापरिवर्जान्तैश्च विविधैरभिनयोऽस्य ।
क-ब. सर्वमृजापरिहारैर्नानाभिनयो भवेत्तद्धि ।

चिन्ता नाम—ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यापहारदारिद्र्यादिभावैरुत्पद्यते। तामभिनयेत् [1]निःश्वसितोच्छ्वसितसन्तापध्यानाधोमुखचिन्तनतनुकार्श्यादिभिरनुभावैः।

अत्रार्ये भवतः—

[2]ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यक्षयजा बहुप्रकारा तु।
हृदयवितर्कोपगता नृणां चिन्ता समुद्भवति॥ ५३॥

[3]सोच्छ्वासैर्निःश्वसितैः सन्तापैश्चैव हृदयशून्यतया[4]।
अभिनेतव्या चिन्ता [5]मृजाविहीनैरधृत्या च॥ ५४॥

विमर्श—'दैन्य' भाव की उत्पत्ति मानसिक पीड़ा तथा दुर्गति से होती है। दुःख, दरिद्रता आदि से भी 'दैन्य' उत्पन्न होता है। इसके अनुभावों में शरीर का भारीपन, सिरदर्द, शरीर की शुद्धि का परित्याग आदि शारीरिक अनुभाव हैं और अधीरता तथा अन्यमनस्कता आदि मानसिक अनुभाव हैं। अनुभावों से 'दैन्य' का अभिनय करना चाहिए।

(९) चिन्ता

अनुवाद--'चिन्ता' नामक व्यभिचारीभाव ऐश्वर्य के नाश, इष्ट द्रव्य के अपहरण तथा दरिद्रता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय निःश्वास उच्छ्वास, सन्ताप, ध्यान, नीचे मुख करके चिन्तन (सोचना) तथा शरीर की क्षीणता आदि अनुभावों से करना चाहिए।

इस विषय में परम्परा से प्राप्त दो आर्याएँ है—

अनुवाद--ऐश्वर्य के विनाश, प्रियवस्तु के क्षय (नाश) होने से उत्पन्न हृदयस्थ वितर्कों से उपगत चिन्ता मनुष्यों में अनेक प्रकार से उद्‌भूत होती है॥ ५२॥

अनुवाद—उच्छ्वास, निःश्वास, सन्ताप, हृदय की शून्यता, शरीर की शुद्धि का त्याग तथा धैर्य-हीनता आदि अनुभावों से चिन्ता का अभिनय करना चाहिए॥ ५३॥

---

१. क-अ. च. त. ब. निश्वसितसन्तापध्यानाधोमुख०।
२. ख घ ऐश्वर्येष्टद्रव्यापहारजनिता बहुप्रकारा तु।
हृदयौत्सुक्योपगता चिन्ता तु नृणां समुद्भवति।
३. क-अ. च. ब. सोच्छ्वसितैः।
४. क-अ. द. त. शून्यहृदयतया।
५. क- ख. मृजाविहीनेन धृत्या च।

मोहो नाम— [1]दैवोपघातव्यसनाभिघातव्याधिभयावेगपूर्ववैरानुस्मरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य [2]निश्चैतन्यभ्रमणपतनाघूर्णनादर्शनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अत्र श्लोकस्तावदार्या च—

अस्थाने तस्करान्दृष्ट्वा त्रासनैर्विविधैरपि[3] ।
तत्प्रतीकारशून्यस्य मोहः समुपजायते ॥ ५५ ॥
व्यसनाभिघातभयपूर्ववैरसंस्मरणरोगजो [4]मोहः ।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ५६ ॥

(१०) मोह

अनुवाद—'मोह' नामक व्यभिचारीभाव दैवी आधात, आकस्मिक चोट, विपत्ति, बीमारी, भय, आवेग, पूर्व-वैर का स्मरण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। निश्चेष्टता, भ्रमण, पतन, आघूर्णन (घूरना) तथा न देख पाने आदि अनुभावों से इसका अभिनय करना चाहिए ।

इस विषय में परम्परा से प्राप्त एक श्लोक और एक आर्या है—

अनुवाद—अनवसर पर चोरों को देखकर तथा अनेक प्रकार के त्रासों से उनके प्रतीकार करने में असमर्थ व्यक्ति को 'मोह' उत्पन्न होता है ॥ ५५ ॥

अनुवाद—व्यसन (दुःख) के आघात होने, भय, पिछली शत्रुता के स्मरण तथा रोग में 'मोह' उत्पन्न होता है और सभी इन्द्रियों के सम्मोह (इन्द्रिय व्यापारों की शून्यता) के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ॥ ५६ ॥

विमर्श—दैवोपघातादि से 'मोह' उत्पन्न होता है। अनुभावों में चैतन्य का अभाव है, क्योंकि मोह में चेतनाहीनता की अवस्था रहती है । 'भ्रमण' का अभिप्राय मानसिक उत्तेजना के कारण शरीर में चक्कर आना है। मोह में पतन भी होता है। इन्द्रियों की निश्चेष्टता से निष्क्रियता हो जाती है ।

१. ख. दैवोपघातव्यसनव्याधिभयावेगपूर्ववैरस्मरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
क-च. ब. दैवोपघातव्यसनाभिघातभयावेगपूर्ववैरस्मरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते ।
२. ख. निश्चेष्टिताङ्गभ्रमण० । क-प. निश्चेष्टताहृदयभ्रमण० ।
क-न. निश्चेष्टताभ्रमण० ।
३. ख. ग. त्रासनैर्वा पृथग्विधैः ।
४. ख. घ. पूर्ववैरसस्मरणजा भवति मोहः । क-त. पूर्वस्मरणरोगजा मोहाः ।
क-अ. द. व्यसनाभिघातपूर्ववैरस्मरणजो भवति मोहः ।

स्मृतिर्नाम—सुखदुःखकृतानां भावानामनुस्मरणम् । सा च स्वास्थ्यजघन्यरात्रिनिद्राच्छेदसमानदर्शनोदाहरणचिन्ताभ्यासादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेच्छिरःकम्पनावलोकनभ्रूसमुन्नमनादिभिरनुभावैः[1] ।

[2]अत्रार्ये भवतः—

सुखदुःखमतिक्रान्तं तथा मतिविभावितं यथावृत्तम् ।
चिरविस्मृतं स्मरति यः स्मृतिमानिति वेदितव्योऽसौ ॥ ५७ ॥
स्वास्थ्याभ्याससमुत्था श्रुतिदर्शनसम्भवा स्मृतिर्निपुणैः ।
शिरउद्वाहनकम्पैर्भ्रूक्षेपैश्चाभिनेतव्या ॥ ५८ ॥

(११) स्मृति

अनुवाद—'स्मृति' नामक व्यभिचारीभाव सुख-दुःख देने वाले भावों के स्मरण को कहते हैं। वह स्वास्थ्य, रात्रि के पिछले प्रहर में निद्राभङ्ग, समान-दर्शन, उदाहरण, चिन्ता, तथा अभ्यास आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शिर के कम्पन, अवलोकन, भौंह चढ़ाने (भ्रूबिक्षेप) आदि अनुभावों से उसका अभिनय करना चाहिए ।

इस विषय में दो आर्यायें हैं—

अनुवाद—जो बुद्धि के द्वारा विभावित अतीत के (चिरकाल से भूले हुए) सुख-दुःख को याथातथ्य (जस के तस) रूप में स्मरण करता है वह 'स्मृतिमान्' कहलाता ॥ ५७ ॥

अनुवाद—विज्ञजनों को स्वास्थ्य, अभ्यास, श्रवण तथा दर्शन से उत्पन्न 'स्मृति' का सिर हिलाने, शिर को ऊपर उठाने तथा भ्रुकुटी चढ़ाने आदि अनुभावों के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ५८ ॥

१. ख. भ्रूसमुन्नमनप्रहर्षादिभिरनुभावैः ।
२. ख. घ. अत्र श्लोकार्ये भवतः ।
सुखदुःखमतिक्रान्तं तथा मतिविभावितम् ।
विस्मृतं च यथावृत्तं स्मरेद्यः स्मृतिमानसौ ॥
क—अ. द. अत्र श्लोकार्ये—
अन्यतत्त्वमतिक्रान्तं तथा मतिविभावितम् ।
विस्मृतं च यथावृत्तं स्मरेद्यः स्मृतिमानसौ ॥

धृतिर्नाम—शौर्यविज्ञानश्रुतिविभवशौचाचारगुरुभक्त्यधिकमनोरथार्थलाभक्रीडादिभिर्विभावैः[1] समुत्पद्यते । तामभिनयेत्प्राप्तानां विषयाणामुपभोगादप्राप्तातीतोपहतविनष्टानामननुशोचनादिभिरनुभावैः[2] ।

अत्रार्ये भवतः—

विज्ञानशौचविभवश्रुतिशक्तिसमुद्भवा धृतिः सद्भिः ।
भयशोकविषादाद्यै रहिता तु सदा प्रयोक्तव्या ॥ ५९ ॥
प्राप्तानामुपभोगः [3]शब्दरसस्पर्शरूपगन्धानाम् ।
अप्राप्तैश्च न शोको यस्यां हि भवेद्धृतिः सा तु ॥ ६० ॥

विमर्श—भरतमुनि ने 'स्मृति' का सम्बन्ध सुख-दुःखात्मक परिस्थितियों के स्मरण से माना है । मनमोहन घोष ने 'मन में सोचे हुए याथातथ्य रूप में घटित अतीत (बीते हुए) सुख-दुःख का जो स्मरण करता है उसे 'स्मृतिमान्' कहा है ।

(१२) धृति

अनुवाद—'धृति' नामक व्यभिचारीभाव शौर्य, विज्ञान, श्रुति, ऐश्वर्य, पवित्रता, आचार, गुरुभक्ति, मनोरथ, अधिक अर्थलाभ तथा क्रीड़ा आदि विभावों से होता है । इसका अभिनय प्राप्त विषयों के उपभोग तथा अप्राप्त, अतीत, उपहृत और विनष्ट विषयों के सम्बन्ध में चिन्ता न करने आदि अनुभावों से करना चाहिए ।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—विज्ञान, शौच (पवित्रता), वैभव, श्रुति तथा शक्ति से उत्पन्न 'धृति' का अभिनय सज्जनों को भय, शोक तथा विषाद आदि से रहित अनुभावों से करना चाहिए ॥ ५९ ॥

अनुवाद—जिसमें प्राप्त हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का उपभोग किया जाता है और उनके प्राप्त न होने पर जब शोक नहीं होता हो तो वह 'धृति' है ॥ ६० ॥

---

१. ख. घ. गुरुभक्त्यधिकार्थलाभविविधक्रीड़ादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
   क–त. गुरुभक्त्यधिकतयानानार्थलाभजलक्रीड़ादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
२. क–न. अप्राप्तोपगतविनष्टानामनुशोचनादिभिरनुभावैः ।
३. क–अ. द. प्राप्तानामुपभोगः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम् ।
   अप्राप्तानामनुशोचनं च न भवेद्धृतिः सा तु ।

व्रीडा नाम––अकार्यकरणात्मिका । सा च गुरुव्यतिक्रमणावज्ञानप्रतिज्ञातानिर्वहण[1]पश्चात्तापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तां [2]निगूढवदनाधोमुखविचिन्तनोर्वीलेखनवस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शननखनिकृन्तनादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

अत्रार्ये भवतः––

किञ्चिदकार्यं कुर्वन्नेवं[3] यो दृश्यते शुचिभिरन्यैः ।
पश्चात्तापेन युतो व्रीडित इति वेदितव्योऽसौ ।। ६१ ।।
[4]लज्जानिगूढवदनो भूमिं विलिखन्नखांश्च विनिकृन्तन् ।
वस्त्राङ्गुलीयकानां संस्पर्शं व्रीडितः कुर्यात् ।। ६२ ।।

विमर्श—भरत के अनुसार जो वस्तुयें प्राप्त हैं उनका उपभोग करना और जो अप्राप्त, अतीत एवं विनष्ट हो चुकी है उनके विषय में शोक न करना 'धृति' है ।

(१३) व्रीडा

अनुवाद—'व्रीडा' नामक व्यभिचारीभाव अनुचित कार्यकरणमूलात्मक होता है अर्थात् व्रीड़ा में अनुचित कार्य करने की वृत्ति होती है । वह गुरुजनों के प्रति विपरीत आचरण, अपमान, प्रतिज्ञा का निर्वाह न कर पाना और पश्चात्ताप आदि विभावों से उत्पन्न होता है । उसका अभिनय मुख छिपाकर तथा नीचा करके चिन्तन करना, भूमि पर लिखना, वस्त्र और अंगूठी का स्पर्श करना, नाखून का निकृन्तन (कुतरना) आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ।

इस विषय में दो आर्यायें हैं—

अनुवाद—जब अन्य पवित्र पुरुषों के द्वारा कोई अनुचित कार्य करता हुआ देखा जाता है तब उसे पश्चात्ताप से युक्त लज्जित हुआ समझना चाहिए ।। ६१ ।।

लज्जित पुरुष लज्जा (लाज) से मुख को छिपाता है, भूमि पर लिखता है, नाखून कुतरता है और वस्त्र तथा अंगूठी का स्पर्श करता है ।। ६२ ।।

१. ख. घ. निर्वहणकृतप्रत्यादिष्टपश्चात्तापादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
२. ख. घ. तां निगूढ़वदनाधोमुखचिन्तनोर्वलिखनवस्त्राङ्गुलीयकसंस्पर्शनखनिकृन्तनादिभिः ।
क–द. तां च निगूढ़वदनाधोमुखविचिन्तनवस्त्राभरणमार्गणनखविस्फोटनादिभिः ।
क-त. म. तां निगूढ़वचनाधोमुख०
क-न. निगूढ़वदनाधोमुखचिन्तनोल्लेहनवस्त्राङ्गुलीयकसंस्पर्शननखनिकृन्तनादिभिः ।
३. ख. घ. कुर्वत् यो हि नरः ।
४. क–अ. द. लज्जाधोगूढ़मुखोभूमिं च लिखन्नखांश्च ।

चपलता नाम— [1]रागद्वेषमात्सर्यामर्षेर्ष्याप्रतिकूलादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्याश्च [2]वाक्पारुष्यनिर्भर्त्सनवधबन्धसम्प्रहारताडनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

अत्रार्या भवति—

[3]अविमृश्य तु यः कार्यं पुरुषो वधताडनं समारभते ।
[4]अविनिश्चितकारित्वात्स तु खलु चपलो बुधैर्ज्ञेयः ॥ ६३ ॥

(१४) चपलता

अनुवाद—'चपलता' नामक व्यभिचारीभाव राग, द्वेष मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या, तथा प्रतिकूलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। वाणी की कठोरता, भर्त्सना, वध-बन्धन, प्रहार तथा ताड़न आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में एक आर्या परम्परा से प्राप्त है—

अनुवाद—जो पुरुष विना विचार किये वध अथवा ताड़न का कार्य करता है, अविनिश्चित कार्य करने के कारण विद्वज्जनों द्वारा उसे 'चपल' कहा जाता है॥ ६१॥

विमर्श—विना सोचे-समझे कार्य करने की वृत्ति 'चपलता' है। राग की स्थिति में जिस प्रकार मनुष्य चपल हो जाता है उसी प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य, अमर्ष आदि को स्थिति में भी चपल हो जाता है। प्रस्तुत आर्या परम्परागत है। किन्तु पाठभेद के अनुसार यह भरत की मानी जाती है। एक पाठ के अनुसार विना सोचे-समझे जो व्यक्ति अज्ञानवश कार्य करता है। अनिश्चय कार्य करने वाला होने के कारण उसे 'चपल' समझना चाहिए।

१. क–अ. द. रागद्वेषमात्सर्येर्ष्याप्रतिकृतादिभि ।
क–न. रागद्वेषमात्सर्यमायेर्ष्याप्रतिकूलादिभिः ।
२. ख. वाक्पारुष्यादिभर्त्सनसंप्रहारवधबन्धनताडनशापनादिभिः ।
क–अ. द. वाक्पारुष्यनिर्भर्त्सनसंप्रहारवधबन्धनादिभिः ।
३. क–अ. द. अविमृष्टं यः कार्यं पुरुषोऽज्ञानात्समाचरति ।
४. क–च. ब. अनिश्चितकार्यत्वात्स हि खलु ।

हर्षो नाम— [1]मनोरथलाभेष्टजनसमागमनमनःपरितोषदेवगुरुराजभर्तृप्रसादभोजनाच्छादनलाभोपभोगादिविभावैः समुत्पद्यते[2] । तमभिनयेन्नयनवदनप्रसादप्रियभाषणालिङ्गनकण्टकितपुलकितास्रस्वेदादिभिरनुभावैः[3] ।

अत्रार्ये भवतः—

[4]अप्राप्ये प्राप्ये वा लब्धेऽर्थे प्रियसमागमे वाऽपि ।
हृदयमनोरथलाभे हर्षः सञ्जायते पुंसाम् ॥ ६४ ॥

नयनवदनप्रसादप्रियाभाषालिङ्गनैश्च रोमाञ्चैः ।
[5]ललितैश्चाङ्गविहारैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य । ६५ ॥

(१५) हर्ष

अनुवाद—'हर्ष' नामक व्यभिचारीभाव मनोरथ की पूर्ति, प्रियजन समागम, मानसिक सन्तोष, देवता, गुरु, राजा तथा स्वामी की प्रसन्नता, भोजन, वस्त्र तथा धन की प्राप्ति और उपभोग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय मुख और नेत्रों की प्रसन्नता, प्रिय-भाषण, आलिङ्गन, रोमाञ्च, अश्रुपात तथा स्वेदागम आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

इस विषय में दो आर्यायें हैं—

अनुवाद—प्राप्य और अप्राप्य वस्तु के उपलब्ध होने पर, प्रियजन के समागम पर तथा हृदय की कामना पूर्ण होने पर मनुष्यों को 'हर्ष' होता है ॥ ६२ ॥

अनुवाद—नेत्र और सुख की प्रसन्नता, प्रिय-भाषण, आलिङ्गन, रोमाञ्च, ललित अङ्गहार तथा स्वेद आदि अनुभावों के द्वारा 'हर्ष' का अभिनय करना चाहिए ॥ ६३ ॥

---

१. ख मनोरथलाभेप्सिताभीष्टजनसमागममनः ।

२. ख. उत्पद्यते ।

३. क-अ. द. प्रसादकण्टकितपुलकिताश्रुस्वेदालिङ्गनोत्पुष्टललितताड़दादिभिरनुभावैः ।
ख. स्वेदोद्गमनललितताड़नादिभिरनुभावैः ।

३. क-ख. घ. प्राप्ये वाऽप्राप्ये वा ।

४, क-न. त. ललितैश्चाङ्गविकारैः ।

आवेगो नाम—उत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरोद्भ्रमणप्रियाप्रिय[1]श्रवणव्यसनाभिघातादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तत्रोत्पातकृतो नाम विद्युदुल्कानिर्घातप्रपतनचन्द्रसूर्योपरागकेतुदर्शनकृतः । तमभिनयेत् [2]सर्वाङ्गस्रस्ततावैमनस्यमुखवैवर्ण्यविषादविस्मयादिभिः ।

वातकृतं [3]पुनरवकुण्ठनाक्षिपरिमार्जनवस्त्रसङ्गूहनत्वरितगमनादिभिः । [4]वर्षकृतं पुनः सर्वाङ्गसम्पिण्डनप्रधावनच्छन्नाश्रयमार्गणादिभिः[5] । अग्निकृतं तु [6]धूमाकुलनेत्रताऽङ्गसङ्कोचन-

---

विमर्श—प्रिय वस्तु की प्राप्ति तथा मनोकामना की पूर्ति होने पर चित्त में जो प्रसन्नता का भाव है वही 'हर्ष' है। कुछ आचार्य मनोरथ की पूर्त्ति और उसकी सम्भावना दोनों अवस्थाओं को 'हर्ष' मानते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने हर्ष के सम्बन्ध में एक प्राचीन मत उद्धृत किया है। उनके अनुसार देवता, गुरु और स्वामी की प्रसन्नता, प्रिय समागम, मनोरथ की पूर्त्ति, दुर्लभ सम्पत्ति की प्राप्ति, पुत्रजन्म आदि जिसके विभाव हैं और नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता, प्रियवचन, रोमाञ्च, आँसू और पसीने का निकलना आदि जिसके अनुभाव हैं उसे 'हर्ष' कहते हैं। भरत ने परम्परा से प्राप्त एक आर्या में कुछ विशेष भावों का उल्लेख किया है। प्राप्य और अप्राप्य वस्तु की उपलब्धि विशेष विभाव हैं। शेष विभाव भरत के समान हैं। अनुभावों में ललित अङ्गहारों का विशेष उल्लेख है।

(१६) आवेग

अनुवाद—'आवेग' नायक व्यभिचारीभाव उत्पात (अशुभ-सूचक प्राकृतिक घटना), वात (आँधी), वर्षा, अग्नि-प्रकोप, हाथी का इधर-उधर भागना, प्रिय तथा अप्रिय का श्रवण और विपत्ति तथा प्रहार आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इनमें उत्पात से होने वाला आवेग विजली तथा उल्काओं का पात, वज्रपात, सूर्य और चन्द्रग्रहण तथा केतु-दर्शन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय सर्वाङ्ग की शिथिलता, मन की खिन्नता, मुख की विवर्णता, विषाद तथा विस्मय आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

---

१. श्रवणनयनाभिघातादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । क–त. प्रकृतिव्यसनाभिघातादिभिः ।
२. ख. सर्वाङ्गस्रस्तविषण्णवैमनस्यमुखवैवर्ण्यविस्मयादिभिः ।
३. ख. पुनरवगुण्ठनाक्षिमर्दनवस्त्रसंगूहन० ।
४. ख. वर्षाकृतं नाम ।
५. ख. छत्राश्रयणादिभिः ।
६. ख. धूमाकुलनेत्रसङ्कुचनाङ्गसंवेगविधूननातिक्रान्तपादादिभिः ।

विधूननातिक्रान्तापक्रान्तादिभिः । कुञ्जरोद्भ्रमणकृतं [1]नाम त्वरितापसर्पणचञ्चलगमनभयस्तम्भवेपथुपश्चावलोकनविस्मयादिभिः ।

प्रियश्रवणकृतं नामाभ्युत्थानालिङ्गनवस्त्राभरणप्रदानाश्रुपुलकितादिभिः अप्रियश्रवणकृतं नाम [2]भूमिपतनविषमविवर्तनपरिधावनविलापनाक्रन्दनादिभिः । [3]व्यसनाभिघातजं तु सहसापसर्पणशस्त्रचर्मवर्मधारणगजतुरगरथारोहणसम्प्रधारणादिभिः[4] ।

अनुवाद—वात से उत्पन्न आवेग का अभिनय अवगुण्ठन (घूंघट), आँखों के परिमार्जन, वस्त्रों के संभालने तथा त्वरित-गमन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। वर्षा से उत्पन्न आवेग का अभिनय सारे शरीर के सिकोड़ने, दौड़ने तथा आच्छादित स्थान के अन्वेषण आदि अनुभावों से करना चाहिए। अग्नि-प्रकोप से उत्पन्न आवेग का अभिनय धुएँ से व्याकुल आँखों, अङ्गों के सिकोड़ने, विधूनन (झाड़ने), अतिक्रमण एवं अपक्रमण आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। हाथी के उपद्रव से उत्पन्न आवेग का अभिनय शीघ्रता से भगाने, द्रुतगति, भय, स्तम्भन, वेपथु (कम्पन), पीछे की ओर देखने तथा विस्मय आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

अनुवाद—प्रिय वार्ता के श्रवण से उत्पन्न आवेग का अभिनय आगवानी करने, आलिङ्गन करने, वस्त्राभूषण प्रदान करने, अश्रु (आँसू) और पुलक (रोमाञ्चक) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। अप्रिय वार्त्ता के श्रवण से उत्पन्न आवेग का अभिनय भूमि पर पतन, विषम भूमि पर लोटने, परिधावन, विलाप और आक्रन्दन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। प्रकृति-व्यसन के अभिघात से उत्पन्न आवेग का अभिनय सहसा भागने, शस्त्र तथा चर्मकवच धारण करने, हाथी, घोड़े तथा रथ पर चढ़ने तथा प्रहार करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

---

१. ख. अपि त्वरितापसर्पणचपलगमन० ।

२. ख. भूमिपतनपरिदेवितविषयपरिवर्त्तितपरिधावितविलापरुदितादिभिः ।
क–अ. द. म. कृतं तु भूमिपतनपरिदेवितपरिवर्त्तितपरिधावितविलापाक्रन्दितादिभिः ।
क–च. ब. कृतमप्युर्वीपतनवलनपविवर्त्तितपरिधावितविलापाक्रन्दितादिभिः ।
क–न. कृतमप्युर्वीपतनपरिदेवनविषमपरिवर्त्तितधावितविलापरोदनादिभिः ।

३. ख. व्यसनाभिघातकृतं तु सहसापक्रमणशस्त्रवर्मधारण० । क–त. प्रकृतिव्यसनकृतं नाम । क–अ. च. शस्त्रवर्मधारणस्फुरणवेपनगजतुरगारोहणादिभिः ।

४. क–ख. सम्प्रहरणादिभिरभिनयेत् ।

[1]एवमष्टविकल्पोऽयमावेगः सम्भ्रमात्मकः ।
स्थैर्येणोत्तममध्यानां नीचानां चापसर्पणैः ॥ ६६ ॥

अत्रार्ये भवतः—

अप्रियनिवेदनाद्वा सहसा ह्यवधारितारिवचनस्य[2] ।
[3]शस्त्राक्षेपात् त्रासादावेगो नाम सम्भवति ॥ ६७ ॥

अप्रियनिवेदनाद्यो विषादभावाश्रयोऽनुभावोऽस्य ।
[4]सहसारिदर्शनाच्चेत्प्रहरणपरिघट्टनैः कार्यः ॥ ६८ ॥

जडता नाम—सर्वकार्याप्रतिपत्तिः । इष्टानिष्टश्रवणदर्शनव्याध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते[5] । तामभिनयेदकथनाविभाषणतूष्णीम्भावाप्रतिभाऽनिमेषनिरीक्षणपरवशत्वादिभिरनुभावैः ।

अनुवाद—इस प्रकार सम्भ्रमपूर्ण आवेग के आठ भेद होते हैं। उत्तम और मध्यम व्यक्तियों का आवेग धैर्य (स्थिरता) से और नीचों का आवेग पलायन से व्यक्त किया जाता है ॥ ६६ ॥

इस विषय में दो आर्यायें हैं—

अनुवाद—सहसा शत्रु के वचन को सुनकर अपमानित होने पर अप्रिय निवेदन, शस्त्र से आक्षेप (प्रहार) और त्रास से आवेग की उत्पत्ति होती है ॥ ६७ ॥

अनुवाद—अप्रिय निवेदन से उत्पन्न आवेग का अनुभाव विषाद भाव का आश्रय है और सहसा शत्रु के दर्शन से उत्पन्न आवेग का अभिनय शास्त्रों के संघर्ष से किया जाता है ॥ ६८ ॥

---

१. ख. इत्येषोऽष्टविधो ज्ञेय आवेगः सम्भ्रमात्मकः ।
२. ग. अभिधारितारिवचनेन । ख. अवधीरितवचनस्य । क-ङ. ह्यवधारितवचनेन ।
३ ख. शस्त्रक्षेपत्रासाद् वेगो नाम ।
४. ख. सहसा निदर्शनं चेद् प्रहरणपरिघट्टनं कार्यम् ।
५. ख. उत्पद्यते ।

अत्रार्या भवति—

इष्टं वाऽनिष्टं वा सुखदुःखे वा न वेत्ति यो मोहात् ।
तूष्णीकः परवशगो भवति स जडसंज्ञितः पुरुषः ॥ ६९ ॥

गर्वो नाम—ऐश्वर्यकुलरूपयौवनविद्याबलधनलाभादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । [1]तस्यासूयावज्ञाघर्षणानुत्तरदानासम्भाषणाङ्गावलोकनविभ्रमापहसनवाक्पारुष्यगुरुव्यतिक्रमणाधिक्षेपवचनविच्छेदादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

---

(१७) जड़ता

अनुवाद—'जड़ता' नामक व्यभिचारीभाव सभी प्रकार के कार्यों में अप्रवृत्ति को कहा गया है। यह इष्ट अनिष्ट विषयों के श्रवण और दर्शन से तथा व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होता है । इसका अभिनय अकथन (कुछ न कहना) अस्पष्ट भाषण, मौन, रहना, अप्रतिभ रहना, एक टक देखना तथा परवश होने आदि अनुभावों द्वारा किया जाना चाहिए ।

इस विषय में एक आर्या है—

अनुवाद—जो पुरुष मोह के कारण इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु, सुख अथवा दुःख को नहीं जानता है और चुपचाप तथा परवश रहता है वह जड़ पुरुष कहलाता है ॥ ६९ ॥

विमर्श—भरत ने समस्त प्रकार के कार्यों की निवृत्ति को जड़ता कहा है। क्योंकि इसमें किसी कार्य को करने की प्रवृत्ति नहीं होती । इसके विभाव इष्ट-अनिष्ट समाचार का श्रवण या दर्शन तथा व्याधि आदि हैं। इसके अनुभाव अकथन, अस्फुट कथन, मौनधारण, हक्का-बक्का रहना, एकटक देखना तथा परवश होना आदि हैं ।

(१८) गर्व

अनुवाद—'गर्व' नामक व्यभिचारीभाव ऐश्वर्य, कुल, रूप, यौवन, विद्या, बल और धन-लाभ आदि विभावों से उत्पन्न होता है। असूया, अवज्ञा, आघर्षण, उत्तर न देने, न बोलना, अङ्गों को देखना, हंसी उड़ाना, कठोर-वचन बोलना, गुरुजनों की अवहेलना, अधिक्षेप एवं वचन-विच्छेद (बात काटना) आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय किया जाना चाहिए ।

---

१. क-च. त. ब. तमसूयावज्ञाघर्षणोत्तरदानासम्भाषणाङ्गावलोकन ।
क–ड. पारुष्यागुरुव्यतिक्रमणाधिक्षेपादिभिः । क–त. पारुष्यवचनविच्छेदादिभिः ।

अत्रार्या भवति—

[1]विद्यावाप्ते रूपादैश्वर्यादथ धनागमाद्वापि ।
गर्वः खलु नीचानां दृष्ट्यङ्गविचारणैः कार्यः ॥ ७० ॥

विषादो नाम— [2]कार्यानिस्तरणदैवव्यापत्तिसमुत्थः । तमभिनयेत्सहायान्वेषणोपायचिन्तनोत्साहविघात[3]वैमनस्यनिःश्वसितादिभिरनुभावैरुत्तममध्यमानाम् । अधमानां तु विपरिधावनालोकनमुखशोषणसृक्वपरिलेहनानिद्रानिःश्वसितध्यानादिभिरनुभावैः ।

इस विषय में एक आर्या है—

अनुवाद—विद्या की प्राप्ति, रूप, ऐश्वर्य और धनागम से उत्पन्न नीच व्यक्तियों के गर्व का अभिनय दृष्टि एवं अङ्गों के सञ्चालन के द्वारा करना चाहिए ॥ ६८ ॥

विमर्श—ऐश्वर्य, रूप, विद्या, बल, यौवन तथा धन के लाभ होने पर 'गर्व' होता है। ये 'गर्व' के विभाव कहे गये हैं। गर्व करने वाला व्यक्ति दूसरे से घृणा करता है, अनादर करता है, किसी की बात का उत्तर नहीं देता, बात-चीत नहीं करता, अपने अङ्गों को दिखाता है। इधर-उधर घूमता रहता है, दूसरों की हंसी उड़ाता है, कठोर और व्यङ्ग्य वचन बोलता है। दूसरों की बात बीच में काट देता है। यह गर्व नीच प्रकृति के पुरुषों में होता है। विद्या; रूप, ऐश्वर्य, धन आदि को पाकर नीच व्यक्ति गर्व के युक्त होता है।

(१९) विषाद

अनुवाद—'विषाद' नामक व्यभिचारीभाव कार्य का निर्वाह न कर पाने तथा दैवी आपत्ति से उत्पन्न होता है। सहायकों के अन्वेषण, उपाय के सम्बन्ध में चिन्ता, उत्साह का विनाश, वैमनस्य तथा निःश्वास आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए और अधम प्रकृति के लोगों में स्थित विषाद का अभिनय विपरीत दौड़ने, नीचे की ओर देखने, मुख सूखने, ओठ के चाटने, नींद न आने, निःश्वास लेने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

---

१. ख विद्यायौवनरूपादैश्वर्यादथ ।
२ ख. कार्यारम्भानिस्तरणदैवव्यापत्तिसमुत्थः ।
३. क-त. ब. वैमनस्यादिरुत्तममध्यमानाम् ।

अत्रार्याश्लोकौ—

[1]कार्यानिस्तरणाद्वा चौर्याभिग्रहणराजदोषाद्वा ।
दैवादर्थविपत्तेर्भवति विषादः सदा पुंसाम् ॥ ७१ ॥

वैचित्र्योपायचिन्ताभ्यां कार्यं [2]उत्तममध्ययोः ।
[3]निद्रानिःश्वसितध्यानैरधमानां तु योजयेत् ॥ ७२ ॥

औत्सुक्यं नाम— [4]इष्टजनवियोगानुस्मरणोद्यानदर्शनादिभि-र्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य दीर्घनिःश्वसिताधोमुखविचिन्तननिद्रातन्द्रीशयनाभिलाषादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

इस विषय में एक आर्या और एक श्लोक है—

अनुवाद—कार्य को पूरा न कर पाने, चोरी में पकड़े जाने, राजा के प्रति अपराध करने (राजद्रोह) तथा दैव योग (दुर्भाग्य) के कारण आर्थिक सङ्कट से पुरुषों को 'विषाद' उत्पन्न होता है ॥ ६९ ॥

अनुवाद—उत्तम और मध्यम व्यक्तियों के विषाद का अभिनय वैचित्र्य उपायों तथा चिन्ता के द्वारा करना चाहिए और अधम प्रकृति के लोगों के विषाद का अभिनय निद्रा, निःश्वास और ध्यान के द्वारा संयोजित करना चाहिए ॥ ७० ॥

विमर्श—भरत मुनि के अनुसार किसी कार्य को पूरा न कर पाने तथा किसी कार्य का निर्वाह न कर पाने से तथा दैव संयोग से आने वाली विपत्ति से 'विषाद' उत्पन्न होता है। उत्तम और मध्यम व्यक्तियों के विषाद की मनःस्थिति में अस्थिरता कम होती है क्योंकि उनमें सहिष्णुता अधिक होती है मन की खिन्नता और उत्साह की हानि होती है। अधम व्यक्तियों की विषाद की स्थिति में अधिक अस्थिरता और उद्विग्नता होती है। उनकी मनःस्थिति निद्रा, निःश्वास और ध्यान द्वारा प्रकट होती है।

---

१. ख. कार्यानिस्तरणकृतशौर्यादिग्रहणराजदोषाद्यैः ।
दैवादिष्टो योऽर्थंस्तदसम्प्राप्तो विषादः स्यात् ।
२. ख. कार्यमुत्तममध्यमयोः ।
३. ख. निद्रानिश्वसितैर्ध्यानैरधमानां तु दर्शयेत् ।
४. क-च. ब. त. इष्टजनवियोगानुस्मरणादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

अत्रार्या भवति—

इष्टजनस्य[1] वियोगादौत्सुक्यं जायते ह्यनुस्मृता ।
चिन्तानिन्द्रातन्द्रीगात्रगुरुत्वैरनभियोऽस्य ॥ ७० ॥

निद्रा नाम— [2]दौर्बल्यश्रमक्लममदालस्यचिन्ताऽत्याहारस्वभावादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेत् [3]वदनगौरवशरीरावलोकनेत्रघूर्णनगात्रजृम्भणमान्द्योच्छ्वसितसन्नगात्रताऽक्षिनिमीलनादिभिरनुभावैः ।

---

(२०) उत्सुकता

अनुवाद—'उत्सुकता' नामक व्यभिचारीभाव प्रियजन के वियोग एवं अनुस्मरण तथा उद्यान-दर्शन आदि विभावों से उत्पन्न होता है। दीर्घ-निःश्वास, नीचे मुख करके चिन्तन करना, निद्रा, तन्द्रा और शयन की अभिलाषा आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में एक आर्या हैं—

अनुवाद—इष्टजन के वियोग एवं उनके स्मरण करने से 'औत्सुक्य' उत्पन्न होता हैं और चिन्ता, निद्रा, तन्द्रा और शरीर के भारीपन आदि अनुभावों के द्वारा उसका अभिनय किया जाता है ॥ ७१ ॥

विमर्श—प्रियजनों के वियोग से उत्कसुता होती है और उनके स्मरण से उत्सुकता अधिक बढ़ जाती है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्सुकता का लक्षण निम्न प्रकार बताया है। उनके अनुसार इष्टजन के वियोग से औत्सुक्य उत्पन्न होता है और प्रियजन के स्मरण से औत्सुक्य उद्दीप्त होता है। इसके अनुभाव निद्रा, तन्द्रा, चिन्ता और शरीर का भारी होना है।

---

१. ख. घ. इष्टजनादिवियोगादौत्सुक्यं जायते ।
क–ङ. त. इष्टजनविप्रयोगादौत्सुक्यं जायते ।
२. क–न पुस्तके 'दौर्बल्यं' नास्ति ।
३. ख. घ. वदनगौरवगात्रपरिलोडननेत्रविघूर्णनजृम्भणगात्रविमर्दनोच्छसितसन्नगात्रताक्षित्रिमीलनसंमोहनादिभिरनुभावैः ।
क–च. ब. शरीरालोचननेत्रघूर्णनविजृम्भणगात्रमदोद्वासितनिःश्वासितसन्नगात्रताक्षिनिमीलनसर्वक्रियासंमोहादिभिरनुभावैः ।
क–ख. घूर्णनजृम्भणगात्रपरिमर्दनोछ्वसितसन्नगात्रताक्षित्रिमीलनादिभिरनुभावैः ।

अत्रार्ये भवतः—

आलस्याद्दौर्बल्यात्क्लमाच्छ्रमाच्चिन्तनात्स्वभावाच्च ।
रात्रौ जागरणादपि निद्रा पुरुषस्य सम्भवति ॥ ७१ ॥

[1]तां मुखगौरवगात्रप्रतिलोलननयनमीलनजडत्वैः ।
जृम्भणगात्रविमर्दैरनुभावैरभिनयेत्प्राज्ञः[2] ॥ ७२ ॥

अपस्मारो नाम—[3] दैवयक्षनागब्रह्मराक्षसभूतप्रेतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यागारसेवनाशुचि[4]कालान्तरापरिपतनव्याध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तस्य [5]स्फुरितनिःश्वसितोत्कम्पितधावनपतनस्वेदस्तम्भनवदनफेनजिह्वापरिलेहनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

---

(२१) निद्रा

अनुवाद—'निद्रा' नामक व्यभिचारीभाव दुर्बलता, श्रम, थकावट, मद, आलस्य, चिन्ता, अति आहार और स्वभाव आदि विभावों से उत्पन्न होता है। मुख के भारीपन, शरीर के देखने, नेत्रों के घुमाने, शरीर के झूमने (अंगड़ाई लेने) जंभाई लेने, मन्दता, शिथिलता, उच्छ्वास, शरीर का सुन्न होना तथा आँखे बन्द करना आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—आलस्य, दुर्बलता, थकान, श्रम, चिन्तन, स्वभाव और रात्रि में जागने के कारण मनुष्य को 'निद्रा' आती है ॥ २२ ॥

अनुवाद—मुख के भारीपन, शरीर के हिलने, आँखों के बन्द करने, जड़ता, जंभाई लेने, तथा शरीर के मर्दन (दबाने) आदि अनुभावों के द्वारा विज्ञों को इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ७३ ॥

---

१. ख. घ तस्य मुखगौरवगात्रैर्नयननिमीलनविघूर्णनजड़त्वैः ।
२. ख. घ. अभिनयः प्रयोक्तव्यः । क–ङ. अभिनयेत्प्रयोगज्ञः ।
३. ख. घ. देवनागयक्षराक्षसपिशाचादीनां ग्रहणादनुस्मरणाद् ।
क–न. म. भूतप्रेतपिशाचादीनां ग्रहणमनुस्मरणोच्छिष्ट ।
४. ख. घ. उच्छिष्टशून्यागारसेवनाशुचिकान्तारातिपातधातुवैषम्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
क–ख. कालान्तरापातधातुवैषम्यादिभिः ।
५. ख. घ. दुरितकम्पितनिःश्वसितधावनपतन० ।
क–ङ. ब. म. स्फुरितकम्पितानिःश्वसितधावनखेदवदनफेनहिक्कापरिलेहनादिभिः ।

अत्रार्ये भवतः—

[1]भूतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यगृहगमनात् ।
[2]कालान्तरातिपातादशुचेश्च [3]भवत्यपस्मारः ॥ ७३ ॥
सहसा भूमौ पतनं [4]प्रवेपनं वदनफेनमोक्षश्च ।
[5]निःसंज्ञस्योत्थानं रूपाण्येतान्यपस्मारे ॥ ७४ ॥

सुप्तं नाम— [6]निद्राभिभवविषयोपगमनमोहनक्षितितलशयनप्रसारणानुकर्षणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते निद्रासमुत्थम् । [7]तदुच्छ्वसितसन्नगात्राक्षिनिमीलनसर्वेन्द्रियसम्मोहनोत्स्वप्नायितादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

---

(२२) अपस्मार

अनुवाद—'अपस्मार' नामक व्यभिचारीभाव देवता, यक्ष, नाग, ब्रह्मराक्षस, भूत-प्रेत, तथा पिशाच आदि से गृहीत होने और उनके स्मरण करने से, उच्छिष्ट भोजन, शून्यागार (सूने घर) का सेवन, अपवित्रता, समय का ठीक पालन न करने तथा व्याधि आदि विभावों से उत्पन्न होता है। स्फुरण (हृदय की धड़कन) निःश्वास, कम्पन, धावन, पतन, स्वेदागम, स्तम्भन, मुखफेन एवं जिह्वापरिलेहन आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—भूत एवं पिशाचों द्वारा गृहीत होने, उनका स्मरण करने, उच्छिष्ट वस्तु, सूने घर में गमन करने, समय के पालन में अतिपात (असावधानी) और अपवित्रता आदि से 'अपस्मार' होता है ॥ ७४ ॥

अनुवाद—सहसा भूमि पर गिरना, कांपना, मुख से फेन गिरना, बेहोशी में उठ पड़ना, ये अपस्मार के अनुभाव हैं ॥ ७५ ॥

---

१. ख. घ. भूतपिशाचस्मरणग्रहणानुच्छिष्टशून्यगृहगमनात् ।
२. क–च. ब. लोकोत्तरातिपातादशुचिषु च ।
३. ख. भवेद् ह्यपस्मारः ।
४. ख. घ. प्रकम्पनं ।
५. ख. घ. निःसंज्ञाम्युत्थानं ।
६. ख. निद्रासमुत्थम् । ख: निद्राभिभवेन्द्रियविषय० ।
'ख' पुस्तके 'निद्राभिभवविषयोपगम' इत्यारम्य 'समुत्पद्यते' इत्यन्तं यावदंशो नास्ति ।
७. क–च. ब. म. तदुच्छ्वसितनिःश्वसित० ।

[1]अत्रार्ये भवतः—

[2]निद्राभिभवेन्द्रियोपरमणमोहनैर्भवेत्सुप्तम् ।
अक्षिनिमीलोच्छ्वसनैः स्वप्नायितजल्पितैः कार्यः ॥ ७५ ॥

[3]सोच्छ्वासैर्निःश्वासैर्मन्दाक्षिनिमीलनेन निश्चेष्टः ।
सर्वेन्द्रियसम्मोहात्सुप्तं स्वप्नैश्च[4] युञ्जीत ॥ ७६ ॥

(२३) सुप्त

अनुवाद—'सुप्त' नामक व्यभिचारीभाव निद्राभिभव अर्थात् निद्रा में बाधा पड़ने, इन्द्रियों के विषयों के भोग करने, मोहित करने, भूमि पर सोने, शरीर को फैलाने और सिकोड़ने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। निद्रा में उत्पन्न होने वाले सुप्तावस्था का अभिनय उच्छ्वास, शरीर के चेष्टाहीन होने, आँखों के निमीलन, इन्द्रियों के सम्मोहित होने तथा स्वप्न में बड़बड़ाने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं।

अनुवाद—निद्रा के व्याधात' इन्द्रियों के चेष्टाहीन होने तथा मोहित होने अर्थात् अपने विषय का अनुभव न करने से 'सुप्त' होता है। अक्षिनिमीलन, उच्छ्वास, स्वप्न में बड़बड़ाने के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए।

अनुवाद—उच्छ्वास और निःश्वास लेने, धीरे-धीरे आँखें बन्द करने, निश्चेष्ट होने समस्त इन्द्रियों के मोहित होने अर्थात् अपने व्यापार मे रुक जाने तथा स्वप्न देखने आदि अनुभावों के द्वारा 'सुप्त' का अभिनय करे॥ ७७ ॥

विमर्श—भरत ने सुप्तासस्था को निद्रा से सम्बद्ध माना गया है। निद्रा में व्याघात से 'सुप्त' भाव का उदय होता है। निद्रा में मन की अवधानता रहती है किन्तु सुप्तावस्था में वह अवरुद्ध हो जाती है। यही दोनों में अन्तर हैं। भूमि पर शयन, प्रसारण अनुकर्षण वस्तुतः निद्रा की स्थितियाँ हैं। इन स्थितियों में निद्रा सुप्तावस्था में परिणत हो जाती है। इसीलिए भूमिशयन आदि को 'सुप्त' का विभाव (कारण) कहा गया है।

१. ख. अत्रार्या।
२. क–ख. पुस्तकयोः 'निद्राभिभवेत्यादि' श्लोको नास्ति।
३. क–ग. ब. निश्वासैः सोच्छ्वासैः।
४. ख. स्वप्नैः प्रयुञ्जीत।

विबोधो नाम— [1]आहारपरिणामनिद्राच्छेदस्वप्नान्ततीव्रशब्द-स्पर्शश्रवणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । [2]तमभिनयेज्जृम्भणाक्षिपरिमर्दन-शयनमोक्षणादिभिरनुभावैः ।

अत्रार्या भवति—

[3]आहारविपरिणामाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च सम्भूतः ।
प्रतिबोधस्त्वभिनेयो जृम्भणवदनाक्षिपरिमर्दैः[4] ॥ ७७ ॥

---

(२४) विबोध

अनुवाद—'विबोध' नामक व्यभिचारीभाव भोजन के परिणाम, निद्राभङ्ग, स्वप्न के समाप्त होने तीव्र शब्द, स्पर्श तथा श्रवण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय जंभाई लेने, आँखें मलने, शय्या के परित्याग करने आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए।

इस विषय में आर्या हैं—

अनुवाद—आहार (भोजन) के परिणाम, शब्द तथा स्पर्श से 'विबोध' उत्पन्न होता है। इसका अभिनय जंभाई लेने, मुख और नेत्रों के मलने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए ॥ ७८ ॥

विमर्श—भरत ने स्वप्नावस्था के भङ्ग होने पर जाग पड़ने को विबोध कहा है। तीव्र आवाज, किसी वस्तु के स्पर्श अथवा तेज ध्वनि से भी नींद टूट जाती है तब विबोध (जागरण) होता है। जागने पर व्यक्ति जंभाई लेता है, आँखें मलता है और विस्तर को छोड़ देता है। इसलिए इन चेष्टाओं को अनुभाव कहा गया है ॥ ७८ ॥

---

१. ख. घ. निद्राच्छेदाहारविपरिणामदुःस्वप्नतीव्रशब्दरूपादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
क–ख. आहारपरिणामनिद्राच्छेदस्वप्नान्तशब्दस्पर्शादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

२. ख. घ तं जृम्भणाक्षिमर्दनशयनमोक्षाङ्गवदनभुजावक्षेपणाङ्गुलित्रोटनादिभिरनुभावैर-भिनयेत् ।
क–च. ब. म. तं जृम्भणाक्षिविमर्दनशयनमोक्षणाङ्गवलनभुजविक्षेपाङ्गुलित्रोटनादिभि-रनुभावैरभिनयेत् ।

३. क–त. न. शयनपरिणामयोगाच्छब्दस्पर्शादिभिश्च सम्भूतः ।

४. ख. घ. जृम्भणवलनाक्षिपरिमर्दैः ।

अमर्षो नाम— [1]विद्यैश्वर्यशौर्यबलाधिकैरधिक्षिप्तस्यावमानितस्य वा समुत्पद्यते । [2]तमभिनयेच्छिरःकम्पनप्रस्वेदनाधोमुखचिन्तनध्याना-ध्यवसायोपायसहायान्वेषणादिभिरनुभावैः ।

[3]अत्र श्लोकौ—

आक्षिप्तानां सभामध्ये [4]विद्याशौर्यबलाधिकैः ।
[5]नृणामुत्साहसंयोगादमर्षो नाम जायते ॥ ७८ ॥
उत्साहाध्यवसायाभ्यामधोमुखविचिन्तनैः[6] ।
शिरःप्रकम्पस्वेदाद्यैस्तं प्रयुञ्जीत पण्डितः[7] ॥ ७९ ॥

(२५) अमर्ष

अनुवाद—'अमर्ष' नामक व्यभिचारीभाव विद्या, ऐश्वर्य, शौर्य, तथा बल की अधिकता से अपमानित एवं तिरस्कृत व्यक्तियों में उत्पन्न होता है। इसका अभिनय शिर के कम्पन, पसीना आने (प्रस्वेदन), नीचे मुख करके चिन्तन करने, ध्यान, अध्यवसाय, उपाय तथा सहायक के अन्वेषण आदि अनुभावों से किया जाना चाहिए ।

इस विषय में परम्परागत से प्राप्त दो श्लोक है—

अनुवाद—सभा के बीच में विद्या, ऐश्वर्य तथा बल में अधिक व्यक्तियों द्वारा फटकारे गये पुरुषों को उत्साह के संयोग से 'अमर्ष' उत्पन्न होता है ॥ ७९ ॥

अनुवाद—उत्साह और अध्यवसाय के द्वारा तथा नीचे मुख करके चिन्तन करने, शिर के कम्पन और पसीना आदि के द्वारा 'अमर्ष' का अभिनय करना चाहिए ॥ ८० ॥

१. ख. घ. विद्यैश्वर्यधनबलाधिकैरधिक्षिप्तस्यावमानितस्य ।

२. ख. घ. तस्य शिरःकम्पनस्वेदाधोमुखविचिन्तनाध्यवसायध्यानोपायान्वेषणादिभिर-नुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
क–प. ब. तं शिरःकम्पनप्रस्वेदाधोमुखविचिन्तनोत्साहाध्यवसायस्थानोपायान्वेषणादि-भिरभिनयेत् ।

३. क–अ. द. ब. भवतश्चात्र श्लोकौ । क-न. त. भवति चात्र श्लोक आर्या च ।

४. ख. ग. घ. विद्यैश्वर्यबलाधिकैः ।

५. ख. घ. नृणामुत्साहसम्पन्नः ह्यनर्थो नाम जायते ।

६. क-प. ब. अधोमुखविलोकनैः ।

७. ख. घ. नाट्यवित् ।

अवहित्थं नाम—[1]आकारप्रच्छादनात्मकम् । तच्च [2]लज्जा-भयापजयगौरवजैह्म्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते[3] । [4]तस्यान्यथाकथना-वलोकितकथाभङ्गकृतकधैर्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।

[5]अत्र श्लोको भवति—

धाष्ट्र्यजैह्म्यादिसम्भूतमवहित्थं भयात्मकम्[6] ।
[7]तच्चागणनया कार्यं [8]नातीवोत्तरभाषणात् ॥ ८० ॥

(२६) अवहित्थ

अनुवाद—'अवहित्थ' नामक व्यभिचारीभाव आकार प्रच्छादन (आकार-गोपन) रूप होता है। यह लज्जा, भय, पराजय, गौरव और छल आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अन्यथा कथन, अवलोकन, कथाभङ्ग, कृत्रिम धैर्य आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

इस विषय में एक श्लोक प्राप्त है—

अनुवाद -धृष्टता तथा कुटिलता आदि से उत्पन्न 'अवहित्थ' भयमूलक होता है। उसका अभिनय कार्य में लापरवाही वरतना तथा उत्तर में अधिक न बोलना आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ८१ ॥

विमर्श—भरत के अनुसार 'अवहित्थ' आकृति का प्रच्छादन (छिपाना) रूप होता है। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'चित्त के आन्तरिक भाव का बाहर व्यक्त न होना' अवहित्थ कहा है। अन्य आचार्य बाहर प्रकाशित न होने वाली चित्तवृत्ति को 'अवहित्थ' कहते हैं और (न बहिःस्था चित्तवृत्तिरिति पृषोदरादित्वात्-अवहित्थम्) इस प्रकार व्युत्पत्ति करते हैं।

१. क-अ द अवहित्था नाम आकारप्रच्छादनात्मिका ।
२. क-त. म. तच्च लज्जाभयगौरवजेर्ष्यादिभिः ।
क-अ द सा च लज्जाभयगौरवजैह्म्यादिभिः ।
क-प. ब. तच्च लज्जाभयगौरवलेह्यादिभिः ।
३. ख. घ. उत्पद्यते ।
४. ख. घ. तस्यान्यथाकथनाविलोकितकथाभङ्गकृतैरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
५. ख. अत्र श्लोकः ।
६. क-ब. धाष्ट्र्यलेह्यादि० ।
६. ख. घ. भयानकम् ।
७. क-अ. तच्चाङ्गभिनयैः कार्यम् । ८. ख. तानि चोत्तरभाषणात् ।

[1]उग्रता नाम— [2]चौर्याभिग्रहणनृपापराधासत्प्रलापादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते[3] । तां च वधबन्धनताड़ननिर्भर्त्सनादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

[4]अत्रार्या भवति—

चौर्याभिग्रहणवशान्नृपापराधादथोग्रता भवति ।
वधबन्धताडनादिभिरनुभावैरभिनयस्तस्याः ॥ ८१ ॥

मतिर्नाम— [5]नानाशास्त्रविचिन्तनोहापोहादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते । तामभिनयेच्छिष्योपदेशार्थविकल्पनसंशयच्छेदादिभिरनुभावैः ।

---

(२७) उग्रता

अनुवाद—'उग्रता' नामक व्यभिचारीभाव चोरी में पकड़े जाने, राजा के प्रति अपराध करने तथा असत्य-भाषण आदि विभावों से उत्पन्न होता है । वध, बन्धन, ताड़न और भर्त्सना (फटकार) आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ।

इस विषय में एक आर्या हैं—

अनुवाद—चोरी में पकड़े जाने तथा राजा के प्रति अपराध करने के कारण 'उग्रता' उत्पन्न होती है । वध, बन्धन और ताड़न आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ।। ८२ ॥

(२८) मति

अनुवाद—'मति' नामक व्यभिचारीभाव अनेक शास्त्रों के चिन्तन, तथा ऊहापोह (तर्क-वितर्क) आदि विभावों से उत्पन्न होता है । शिष्यों के उपदेश देने, अर्थ के सम्बन्ध में निश्चय करने तथा संशय को दूर करने आदि अनुभावों के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ।

---

१. ख. घ. अथोग्रता नाम ।
२. क-त. चौर्याभिग्रहणवशान्नृपापराधादिभिर्विभावैः ।
३. ख. घ. उत्पद्यते ।
४. ख. घ. अत्रार्या ।
५. ख. घ. नानाशास्त्रार्थचिन्तनोहापोहादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

[1]भवति चात्र श्लोकः—

[2]नानाशास्त्रार्थबोधेन मतिः संजायते नृणाम् ।
[3]शिष्योपदेशार्थकृतस्तस्यास्त्वभिनयो भवेत् ॥ ८२ ॥

व्याधिर्नाम—वातपित्तकफसन्निपातप्रभवः । तस्या [4]ज्वरादयो विशेषाः । [5]ज्वरस्तु द्विविधः सशीतः सदाहश्च । [6]तत्र सशीतो नाम— प्रवेपितसर्वाङ्गोत्कम्पननिकुञ्चनाग्न्यभिलाषरोमाञ्चहनुवलननासाविकूणन-

---

इस विषय में एक श्लोक प्राप्त होता हैं—

अनुवाद—नाना प्रकार के शास्त्र के अर्थों का बोध होने से मनुष्यों में 'मति' उत्पन्न होती हैं। शिष्यों के उपदेश देने तथा अर्थ-प्रख्यापन आदि के द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ॥ ८३ ॥

विमर्श—भरत के अनुसार शास्त्रों के अर्थ के विषय में चिन्तन करना 'मति' नामक मनःस्थिति के रूप में नाट्य में व्यभिचारीभाव स्वीकार किया गया है ॥ ८३ ॥

(२९) व्याधि

अनुवाद—'व्याधि' नामक व्यभिचारीभाव वात, पित्त, कफ के सन्निपात से उत्पन्न होता है। ज्वर आदि उसके विशेष प्रकार हैं। ज्वर दो प्रकार का होता है— शीतज्वर तथा दाहज्वर। उसमें सशीत ज्वर का अभिनय अङ्ग विशेष में कम्पन, सर्वांग में कम्पन, सिकुड़न, आग की अभिलाषा, रोमाञ्च, ठुड्डी के हिलाने, नाक सिकोड़ने, मुख के सूखने, और विलाप करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। सदाह नामक ज्वर का अभिनय अङ्ग, हाथ और पैरों के विक्षेप, भूमि

---

१. ख. घ अत्र श्लोकः ।
२ ख घ. नानाशास्त्रविनिष्पन्ना । क-अ. न. म. नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना ।
३. क-अ. द. शिष्योपदेशाच्च ततस्तस्या अभिनयो भवेत् ।
४ क-न. तस्या ज्वरादयोऽभिनयविशेषाः ।
५. ख. घ. ज्वरस्तु खलु द्विविधः ।
६ ख. घ. सशीतस्तावत् प्रवेपितसर्वाङ्गोत्कम्पनकुञ्चितहनुचलननासाविघूर्णनमुखशोषण-रोमाञ्चास्रानेकपरिदेवनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
क-अ. द. प्रवेपितसर्वाङ्गोत्कम्पितहनुचलनास्यविकूणन मुखशोषणपरिदेविताभिः ।

मुखशोषणपरिदेवितादिभिरनुभावैरभिनेयः। सदाहो[1] नाम—विक्षिप्ताङ्ग-करचरणभूम्यभिलाषानुलेपन[2] शीताभिलाषपरिदेवनमुखशोषोत्क्रुष्टादि-भिरनुभावैरभिनेयः[3]। ये चान्ये व्याधयस्तेऽपि खलु [4]मुखविकूणनगात्रस्त-म्भत्रस्ताक्षिनिःश्वसनस्तनितोत्क्रुष्टवेपनादिभिरनुभावैरभिनेयाः।

अत्र श्लोको भवति—

समासतस्तु[5] व्याधीनां कर्त्तव्योऽभिनयो बुधैः।
त्रस्ताङ्गगात्रविक्षेपैस्तथा[6] मुखविकूणनैः॥ ८३॥

पर लेटने की इच्छा, अनुलेपन, शीतल पदार्थ की अभिलाषा, विलाप, मुख का सूखना तथा चिल्लाना आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए। इनके अतिरिक्त जो अन्य व्याधियाँ हैं उनका अभिनय भी मुख के सिकोड़ने, शरीर के स्तम्भित होने, आँखों के शिथिल होने, निःश्वास, चिल्लाहट, चीत्कार तथा कम्पन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

इस विषय में एक श्लोक है—

अनुवाद—विद्वान् प्रयोक्ताओं द्वारा संक्षेप में व्याधियों का अभिनय अङ्गों के शिथिल होने, शरीर के विक्षेप तथा मुख के सिकोड़ने आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए॥ ८४॥

विमर्श—व्याधि नामक व्यभिचारीभाव वात, पित्त और कफ के संयोग से उत्पन्न होता है। ज्वर आदि उसके अभिनय विशेष हैं।

१. ख. घ. सदाहः पुनः विक्षिप्तवस्त्रकरचरण।
क–त. विक्षिप्ताङ्गचरण।

२. ख. घ शीताभिलाषपरिदेवितोत्क्रुष्टादिभिः।
क–ब. भ. शीताभिलाषपरिदेवितोत्क्रुष्टवेपनादिभिः।

३. ख. घ. मुखविघूर्णनगात्रस्तम्भनिःश्वसनस्तनितोत्क्रुष्टवेपनपरिदेवनादिभिरनुभावैरभि-नेयाः। क–ङ. गात्रस्तम्भनिःश्वासनिस्तनितोत्क्रुष्टानुलेपनपरिदेवितादिभिरनुभावैर-भिनेयाः। भवति चात्र उत्क्रुष्टानुलेपनपरिदेवनादिभिरनुभावैरभिनयेत्।

४. 'क' 'पुस्तके अभिनेयः' इति नास्ति।

५. ख. म. घ. सामान्यतस्तु।

६. ख. घ. रुजा मुखविघूर्णनैः।

उन्मादो नाम——इष्टजनवियोगविभवनाशाभिघातवातपित्तश्लेष्म-प्रकोपादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

[1]तमनिमित्तहसितरुदितोत्क्रुष्टासम्बद्धप्रलापशयितोपविष्टोत्थित-प्रधावितनृत्तगीतपठितभस्म[2]पांस्ववधूलनतृणनिर्माल्यकुचेलचीरघटकपाल-शरावाभरणधारणोपभोगैरनेकैश्चानवस्थितैश्चेष्टानुकरणादिभिरनुभावैर-भिनयेत् ।

अत्रार्ये भवतः——

इष्टजनविभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात् ।
[3]विविधाच्चित्तविकारादुन्मादो नाम सम्भवति ॥ ८४ ॥

(३०) उन्माद

अनुवाद—'उन्माद' नामक व्यभिचारोभाव प्रियजन के वियोग, विभव-नाश, अभिघात तथा वात, पित्त, कफ के प्रयोग आदि विभावों से उत्पन्न होता है। उसका अभिनय अकारण हंसने, रोने तथा चिल्लाने, असम्बद्ध प्रलाप, सोने, बैठने उठने, दौड़ने, नाचने, गाने, पढ़ने, भस्म और धूल के उड़ाने, तृण तोड़ने, निर्माल्य, मैले-कुचैले कपड़े-चिथड़े, लपेटने, कपाल और टूटे हुए सकोरों को आभरण रूप में धारण करने एवं उपभोग करने और अनेक प्रकार के अनवस्थित चेष्टाओं के अनुकरण करने आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

इस विषय में दो आर्याएँ हैं—

अनुवाद—इष्टजन एवं विभव के नाश, अभिघात (चोट लगने), वात, कफ के प्रकोप तथा अनेक प्रकार के चित्त विकारों से उन्माद उत्पन्न होता हैं ॥८५॥

---

१. क-त. म. तमनिमित्तहसितोत्कृष्टा ।

२ ख. घ. पांशववधूननतृणनिर्माल्यकुचेलचीरघटशरावाभरणाधारणोपभोगैरन्यैश्चानवहित-चेष्टाकरणादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।
क-अ. द. ब. पांस्वतिधूलननिर्माल्यचीरघटचक्रशरावाभरणस्पर्शनोपभोगैरन्यैश्चान-व्यस्थितचेष्टाकरणादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

३. ख, घ विविधाद् पित्तविकाराद् ।

अनिमित्तरुदितहसितोपविष्टगीतधावितोत्क्रुष्टैः ।
[1]अन्यैश्च विकारकृतैरुन्मादं सम्प्रयुञ्जीत ॥ ८५ ॥

मरणं नाम—व्याधिजमभिघातजञ्च । तत्र [2]यदान्त्रयकृच्छूलदोषवैषम्यगण्डपिटकज्वरविषूचिकादिभिरुत्पद्यते तद्व्याधिप्रभवम् । अभिघातजन्तु शस्त्राहिदंशविषपानश्वापदगजतुरगरथपशुयानपातविनाशप्रभवम् । [3]एतयोरभिनयविशेषान्वक्ष्यामः—तत्र व्याधिजं [4]विषण्णगात्राव्यायताङ्गविचेष्टितनिमीलितनयनहिक्काश्वासोपेतानवेक्षितपरिजनाव्यक्ताक्षरकथनादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

अनुवाद—विना कारण रोने, हंसने, बैठने, गाने, दौड़ने, चिल्लाने तथा अन्य विकारों द्वारा 'उन्माद' का अभिनय करना चाहिए ॥ ८६ ॥

(३१) मरण

अनुवाद—'मरण' नामक व्यभिचारीभाव व्याधि तथा अभिघात अर्थात् अचानक चोट लगने से उत्पन्न होता है। वह इनमें जो आंत, यकृत्, शूल, वात, पित्त, कफ के दोषों के वैषम्य, गण्डमाला, ज्वर, विषूचिका (हैजा) आदि से जो मरण होता है वह व्याधि (रोग) से उत्पन्न होता है और अभिघात (चोट लगने) से उत्पन्न होने वाला 'मरण' शस्त्र-प्रहार, सर्पदंश, विषपान, हिंसक पशु, हाथी, घोड़े, रथ, अन्य पशु एवं यान से पतन आदि से होता है। अब इन दोनों के अभिनय की विशेषताओं को कहेंगे। इनमें व्याधि (रोग) से होने वाले 'मरण' का अभिनय शरीर की विषण्णता, अङ्गों के सिकुड़न, शरीर के निश्चेष्ट होने, नेत्रों के निमीलन (बन्द करने), हिचकी, ऊर्ध्व-श्वास, समीप में आये परिजनों के न पहचानने तथा अस्पष्ट कथन आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

---

१. क-त. म. अन्योन्यविकारकृतैः ।
२. ख. घ यदान्त्रयकृच्छूलदोषवैषम्यगण्डपिण्डकाज्वरविषूचिकादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । क-अ. द. यद्दोषवैषम्यगण्डपिटकज्वरविषूचिकाविषविकारादिभिरुत्पद्यते ।
३. ख. घ. एतयोरिदानीमभिनयविशेषं वक्ष्यामि ।
४. ख. घ. विषण्णगात्रमप्यायताङ्गविचेष्टितं निमीलितनयनं हिक्काश्वासोत्पतनमनपेक्षितपरिजनमव्यक्ताक्षरकथनादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

[1]अत्र श्लोको भवति—

व्याधीनामेकभावो हि मरणाभिनयः स्मृतः ।
विषण्णगात्रैर्निश्चेष्टैरिन्द्रियैश्च विवर्जितः ॥ ८६ ॥

अभिघातजे तु नानाप्रकारा[2] अभिनयविशेषा [3]शास्त्रक्षताहिदष्ट-विषपीतगजादिपतितश्वापदहताः । यथा तत्र[4] शस्त्रक्षते तावत्सहसा भूमिपतनवेपनस्फुरणादिभिरभिनयः प्रयोक्तव्यः । [5]अहिदष्टविषपीतयो-र्विषवेगो यथा—कार्श्यवेपथुविदाहहिक्काफेनस्कन्धभङ्गजडतामरणानी-त्यष्टौ विषवेगाः ।

इस विषय में एक श्लोक हैं—

अनुवाद—व्याधियों से मरने का अभिनय एक प्रकार का होता है । इसका अभिनय गात्रों को विषण्णता, निश्चेष्टा एवं इन्द्रियों की अपने व्यापारों से विरति द्वारा करना चाहिए अथवा शरीर की विषण्णता एवं इन्द्रियों की निश्चेष्टता के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ८७ ॥

अनुवाद—अभिघातजन्य 'मरण' का अभिनय शस्त्रप्रहार से, सर्पदंश विषपान, गज आदि से पतन, हिंसक पशुओं से मारे जाने से आदि अनेक प्रकार के होते हैं । जैसे कि शस्त्रक्षत (शस्त्रघात) से होने वाले 'मरण' का अभिनय सहसा भूमि पर पतन, कम्पन, स्फुरण आदि द्वारा किया जाना चाहिए । सर्पदंश और विषपान से होने वाले 'मरण' में विष का वेग आठ प्रकार का होता है । जैसे– कृशता, कम्पन, दाह, हिचकी, मुख में फेन आने, स्कन्धभङ्ग, जड़ता, मरण ये आठ विष के आवेग हैं ।

---

१. ख. अत्र श्लोकः ।

२. ख. घ. नानाप्रकाराभिनयविशेषाः । क-अ. नानाभिनयविशेषाः ।

३. क-अ. 'शस्त्रक्षताहिदष्टविषपीतगजादिपतितश्वापदहता' इदं वाक्यं ख. ग. घ. पुस्तकेषु नास्ति ।

४. ख. घ. यथा शस्त्रक्षते तावत्सहसाभूमिपतनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।
क-त.न.म. भूमिपतनवेपनस्फुरणादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।
क-च.ब. रिकम्पनस्फुरणादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

५. ख. घ. अहिदष्टे विषपीते वा विषवेगे यथा—
क-च. प. ब. म. अहिदष्टे विषपीते नानाविषवेगैर्यथा—

[1]अत्र श्लोकौ भवतः—

> कार्श्यं तु प्रथमे वेगे द्वितीये वेपथुर्भवेत्[2] ।
> दाहं तृतीये हिक्कां च चतुर्थे सम्प्रयोजयेत् ॥ ८७ ॥
>
> फेनश्च पञ्चमे कुर्यात्षष्ठे[3] स्कन्धस्य भञ्जनम् ।
> जडतां सप्तमे कुर्यादष्टमे मरणं भवेत्[4] ॥ ८८ ॥

[5]अत्रार्या भवति—

> [6]श्वापदगजतुरगरथोद्भवं तु पशुयानपतनजं वाऽपि ।
> शस्त्रक्षतवत्कुर्यादनवेक्षितगात्रसञ्चारम्[7] । ॥ ८९ ॥

इस विषय में दो श्लोक है—

अनुवाद—प्रथम वेग में कृशता, द्वितीय वेग में कम्पन, तृतीय में दाह और चतुर्थ में हिक्का (हिचकी) का प्रयोग (अभिनय) करे ॥ ८७ ॥

अनुवाद—पाँचवें वेग में मुख के फेन, छठे वेग में स्कन्ध का भङ्ग, सातवें में जड़ता तथा आठवें वेग में मरण का अभिनय करना चाहिए ॥ ८९ ॥

इस विषय में आर्या भी है—

अनुवाद—हिंसक पशुओं के प्रहार, हाथी, घोड़े, रथ, पशु तथा अन्य सवारी (यान) से गिरने से होने वाले मरण का अभिनय शस्त्र-क्षत से होने वाले मरण के समान शरीर के सञ्चार में असमर्थता अर्थात् शरीर की निश्चेष्टता के द्वारा करना चाहिए ॥ ९० ॥

---

१. ख. घ. अत्रानुवंश्यौ श्लोकौः भवतः ।
२. ख. घ. वेपथु तथा । क-ङ. न. वेपथुस्तथा ।
३. ख. घ. षष्ठे तु स्कन्धभञ्जनम् ।
क-च. ब. स्यात् षष्ठे स्कन्धभञ्जनम् ।
४. ख. ग. घ तथा ।
५. ख. पुस्तके इदं वाक्यं नास्ति ।
६. श. श्वापदगजतुरगोद्भवपशुयानपतनजं चापि ।
७. श. अनपेक्षितगात्रसञ्चारम् ।

[1]इत्येवं मरणं ज्ञेयं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
प्रयोक्तव्यं बुद्धैः सम्यग्यथा भावाङ्गचेष्टितैः[2] ॥ ९० ॥

त्रासो नाम— [3]विद्युदुल्काशनिपातनिर्घाताम्बुधरमहासत्त्वपशुरवादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । [4]तमभिनयेत्संक्षिप्ताङ्गोत्कम्पनवेपथुस्तम्भरोमाञ्चगद्गदप्रलापादिभिरनुभावैः ।

अनुवाद—इस प्रकार अनेक अवस्थाओं वाले मरण को जानना चाहिए और विज्ञ जनों को इसका अभिनय समुचित भावों तथा आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा किया जाना चाहिए ॥ ९१ ॥

विमर्श—कुछ नाट्यचार्यों द्वारा रङ्गमञ्च पर मरण का प्रदर्शन निषिद्ध बतलाया गया है । अब प्रश्न उठता है कि जब मरण का प्रदर्शन निषिद्ध है तो यहाँ उसका विस्तार से वर्णन क्यों किया गया है ? कहते हैं कि प्राचीन नाट्य-परम्परा में इसका निषेध नहीं था । कुछ परवर्त्ती आचार्यों ने मञ्च पर मरण का प्रदर्शन वर्जित बताया है । भरत प्रधान नायक के वध का प्रदर्शन ही वर्जित मानते हैं । सामान्य पात्रों के वध का निषेध नहीं किया है । 'मरण' की स्थिति केवल मानसिक दशा नहीं है अपितु स्थायीभाव के सहायक के रूप में कल्पित है । भरत ने 'मरण' के दो भेद माने हैं—व्याधिज और अभिघातज । इनमें व्याधिज मरण अनेक प्रकार की बीमारियों से होता है । जैसे-प्रतिमा नाटक में महाराज दशरथ का मरण । अभिघातज मरण शस्त्रघात, विषपान, सर्पदंश, हिंस्र जीवों द्वारा प्रहार तथा गिरने से होता है । जैसे 'उरुभङ्ग' नाटक में दुर्योधन का मरण । भरत के अनुसार मरण की स्थिति नाना प्रकार की अवस्थाओं वाली होती है, इसीलिए नाट्य-प्रयोक्ताओं को इसका अभिनय विभिन्न अवस्थाओं एवं शारीरिक चेष्टाओं द्वारा करनी चाहिए ।

---

१. क-ख. इत्येतन्मरणं प्रोक्तम् ।

२. ख. घ. वागङ्गचेष्टितैः । क-प. भाषाङ्गचेष्टितैः ।

३. ख. घ. विद्युदुल्काशनिपातनिर्घाताम्बुदरवसत्त्वदर्शनपश्वारवादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।
क-न. अशनिपातनिर्घाताम्बुधररसनवातमहासत्त्वदर्शनपश्वारवादिभिः ।

४. ख. घ. संक्षिप्ताङ्गोत्कम्पनवेपथुस्तम्भरोमाञ्चगद्गदप्रलापादिभिरनुभावैरभिनयेत् ।

[1]अत्र श्लोको भवति—

महाभैरवनादाद्यैस्त्रासः समुपजायते ।
[2]त्रस्ताङ्गाक्षिनिमेषैश्च तस्य त्वभिनयो भवेत् ॥ ९१ ॥

---

(३२) त्रास

अनुवाद—'त्रास' नामक व्यभिचारीभाव बिजली गिरने, उल्का-पात और वज्र-पात, निर्घात, मेघों की ध्वनि (गरजने) और शक्तिशाली भीषण पशुओं के शब्द आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय अङ्गों के सिकोड़ने, कांपने, थरथराने, स्तम्भित होने, रोमाञ्च, गद्गद होने तथा प्रलाप करने आदि अनुभावों द्वारा किया जाना चाहिए।

इस विषय में एक श्लोक है—

अनुवाद—अत्यन्त भयङ्कर ध्वनि से 'त्रास' उत्पन्न होता है। अङ्गों के सिकोड़ने तथा आँखें बन्द करने आदि अनुभावों द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ९२ ॥

विमर्श—भरत के अनुसार किसी भयङ्कर आवाज से 'त्रास' होता है। नाट्यदर्पण के अनुसार "आकस्मिक भय की स्थिति में मन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे 'त्रास' कहते हैं"। 'भय' स्थायी है और 'त्रास' आकस्मिक उद्वेग की मनोदशा होने से सञ्चारीभाव है। इसीलिए भरत 'त्रास' के कारणों (विभावों) में आकस्मिक प्राकृतिक घटनाओं का उल्लेख किया है। जैसे–विद्युत्पात, उल्कापात, वज्रपात, आंधी-तूफान, बादलों की गड़गड़ाहट आदि ॥९२॥

---

१. ख. अत्र श्लोकः । क-च. ब. भवति चात्र ।
२. भ. ध. त्रस्ताङ्गाघंनिमेषाद्यैः ।

वितर्को नाम—[1]सन्देहविमर्शविप्रतिपत्त्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । [2]तमभिनयेद्विविधविचारितप्रश्नसम्प्रधारणमन्त्रसंगूहनादिभिरनुभावैः ।

[3]अत्र श्लोको भवति—

विचारणादिसम्भूतः सन्देहातिशयात्मकः[4] ।
[5]वितर्कः सोऽभिनेयस्तु शिरोभ्रूक्षेपकम्पनैः ॥ ९२ ॥

(३३) वितर्क

अनुवाद—'वितर्क' नामक व्यभिचारीभाव सन्देह, विमर्श और तर्क-वितर्क आदि विभावों से उत्पन्न होता है। इसका अभिनय विविध प्रकार के विमर्श, प्रश्नों, द्वारा व्याख्याओं के निश्चित करने तथा मन्त्रणाओं गोपन (गोपनीय रखने) आदि अनुभावों के द्वारा करना चाहिए।

इस विषय में एक श्लोक है—

अनुवाद—विचार विमर्श आदि से सम्भूत (उत्पन्न), अत्यन्त सन्देहात्मक वितर्क का अभिनय शिर के कँपाने तथा भ्रुकुटी के विक्षेप आदि अनुभावों द्वारा करना चाहिए ॥ ९३ ॥

विमर्श—किसी विषय में सन्देह करना, विचार विमर्श करना तथा निश्चय न कर पाने (ऊहापोह) की स्थिति में होना 'वितर्क' सञ्चारीभाव होता है। वितर्क एक मनःस्थिति है। वितर्क विचार-विमर्श से उत्पन्न माना गया है और उसके मूल में सन्देह की स्थिति को स्वीकार किया गया है ॥९३॥

---

१. ख. घ. सन्देहाविमर्शप्रत्ययादिभिर्विभावैरुत्पद्यते ।

२. ख. घ. विविधाविचारितसंज्ञासंप्रहारणमन्त्रसंगूहनादिभिरनुभावैः ।
क–ज. प्रज्ञानप्रधारणमन्त्रसंग्रहादिभिः ।

३. ख. अत्र श्लोकः ।

४. न दृश्यते मनसा कर्तुम् । घ. न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुम् ।
ख. घ. सन्देहजननात्मकः । क–ग. त. ससन्देहक्रियात्मकः ।

५. ख. घ. वितर्कस्त्वभिनेयो वै शिरोभ्रूपक्षकम्पनैः ।
क–ङ. घ. वितर्कस्त्वभिनेयो वै शिरोभ्रूपक्षकम्पनैः ।

[1]एवमेते त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावा [2]देशकालावस्थानुरूप्येणात्मगतपरगतमध्यस्था उत्तममध्यमाधमैः स्त्रीपुंसैः स्वप्रयोगवशादुपपाद्या इति ।

त्रयस्त्रिंशदिमे भावा विज्ञेया[3] व्यभिचारिणः ।
सात्त्विकांस्तु पुनर्भावान्प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः[4] ॥ ९३ ॥

अत्राह—किमन्ये भावाः [5]सत्त्वेन विनाऽभिनीयन्ते यस्मादुच्यन्ते एते सात्त्विका इति ।

अनुवाद—इस प्रकार ये तैंतीस व्यभिचारीभाव देश, काल और अवस्था के अनुरूप आत्मगत, परगत तथा मध्यस्थ रूप में उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के स्त्री-पुरुषों में द्वारा अपने प्रयोग के अनुसार उपयोग करना चाहिए ।

अनुवाद—इस प्रकार इन तैंतीस व्यभिचारीभावों को जानना चाहिए । अब इसके बाद क्रमशः सात्त्विक भावों को विवेचन करूँगा ॥ ९४ ॥

अनुवाद—क्या अन्य भाव सत्त्व के विना अभिनीत किये जाते हैं ? जिससे ये सात्त्विक कहे जाते हैं ।

---

१. क–ख. 'एवमेते' इत्यारभ्य 'उपपाद्या' इत्यन्तं यावदंशो नास्ति ।

२. ख. ध. विभावादेशकालावस्थानुगतमध्यमाधमोत्तमैः स्त्रीनपुंसकैः पुरुषप्रयोगावशादुत्पाद्या ।

३. क–ख. सुविज्ञेया प्रयोक्तृभिः ।

४. ख. ध. व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।

५. ख. ध. सत्त्वेन विनाभिधीयन्ते यत एते सात्त्विका उच्यन्ते ।
क–प. ब. सत्त्वेनाभिधीयन्ते येनैते सात्त्विका इत्युच्यन्ते ।

६. ब. उत्पद्यते ।

अत्रोच्यते—इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते ।[1] मनस समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति । तस्य च योऽसौ स्वभावो[2] रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगतः स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति । लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम् ।

[3]को दृष्टान्तः—इह[4] हि नाट्यधर्मिप्रवृत्ताः सुखदुःखकृता भावास्तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्याः यथा सरूपा भवन्ति । तत्र दुखं नाम रोदनात्मकं तत्कथमदुःखितेन सुखं च [5]प्रहर्षात्मकमसुखितेन वाभिनेयम् । एतदेवास्य सत्त्वं यत् दुःखितेन वाऽश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्याताः

इस पर कहते हैं कि यहाँ सत्त्व मन से उत्पन्न होने वाला भाव है और वह सत्त्व समाहित मन अर्थात् मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है। उसका जो भावों के अनुरूप रोमाञ्च, अश्रु और वैवर्ण्य (विवर्णता) रूप स्वभाव है उसका अभिनय (अनुकरण) अन्यमनस्क भाव से नहीं किया जा सकता। क्योंकि लोक-स्वभाव का अनुकरण किये जाने के कारण नाट्य में सत्त्व अभीष्ट है, अभिलषित है।

अनुवाद—अब पुनः प्रश्न होता है कि इस विषय में दृष्टान्त क्या हैं ? कहते हैं—यहाँ नाट्य-प्रयोग में नाट्यधर्मी (इतिकर्त्तव्यता) में प्रवृत्त सुख-दुःखात्मक भावों का इस प्रकार सत्त्व से विशुद्ध अभिनय करना चाहिए, जिससे वे समान रूप वाले (यथार्थ रूप में) प्रतीत होने लगे। उनमें दुःख रोदनात्मक (रोदन रूप) है तो कभी दुःखी न होने वाला व्यक्ति उसका अभिनय कैसे कर सकता है ?

१. ख. मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिवृत्तिर्भवति । घ. मनःसमाधानाच्च सद्यो निर्वृतिरिति । घ. मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति । क–न. मनःसमाधानेन च तन्निष्पत्तिर्भवति ।

२. ख. स्वभावः स्तम्भस्वेदरोमाञ्चास्रवैवर्ण्यादिको न दृश्यते मनसा कर्त्तुमिति ।

३. ख. अत्राह को दृष्टान्त इति चेत्–

४. ख. इह हि नाट्यधर्मः प्रवृत्तः सुखदुःखकृतो भावः तथा सत्वाविशुद्धाधिष्ठितः कार्यो यथास्वरूपो भवति ।

५. ख. घ. सुखं च प्रहर्षात्मकमसुखितेनाभिनेतुं शक्यते इति सत्त्वमीप्सितं कृत्वा सात्त्विको इति भावः ।

त इमे—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः [1]स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः[2] ॥ ९५ ॥

और सुख प्रहर्षात्मक (हर्षमूलक) भाव है तो असुखित व्यक्ति अर्थात् कभी सुखी न रहने वाला दुःखी व्यक्ति सुख का अभिनय कैसे कर सकता है ? इसका यही सत्त्व है कि अभिनेता दुःखी हो अथवा सुखी हो, उसे अश्रु अथवा रोमाञ्च का अभिनय द्वारा प्रदर्शन करना चाहिए। इस प्रकार सात्त्विक भावों की व्याख्या की गई है।

विमर्श—भरतमुनि इस प्रकार ३३ व्यभिचारीभावों का निरूपण करने के बाद अब सात्त्विक भावों का विवेचन करते हैं। प्रश्न होता है कि इनको सात्त्विक भाव क्यों कहा जाता है ? क्या अन्य भावों का सत्त्व के बिना अभिनय किया जा सकता है ? यदि अन्य सभी भावों में सत्त्व अपेक्षित है तो इनको (अश्रुरोमाञ्चादि भावों को) सात्त्विक कहने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं कि सत्त्व को मन की एकाग्रता से उत्पन्न माना गया है। अश्रु, रोमाञ्च आदि जो सत्त्व के स्वभाव हैं उनका अभिनय अन्य-मनस्क होकर नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोक के स्वभाव का अनुकरण किया जाता है, इसी कारण सत्त्व की अपेक्षा की जाती है। दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि नाट्य-प्रयोग में सुखदुःखात्मक सभी भावों का अभिनय विशुद्ध सात्त्विक भावों का यथार्थ रूप जैसा अभिनय किया जाता है। जैसे दुःख की स्थिति में व्यक्ति रोने लगता है किन्तु जो दुःखी नहीं है वह रुदन का अभिनय कैसे कर सकेगा ? इसी प्रकार असुखी अर्थात् दुःखी व्यक्ति सुख का अभिनय कैसे कर सकेगा ? इसीलिए कहा जाता है कि अश्रु, रोमाञ्च आदि के द्वारा दुःख-सुख का अभिनय करना चाहिये। सात्त्विक शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए कहते हैं—'अवहितं मनः सत्त्वं तत्प्रयोजनं हेतुरस्येति सात्त्विकः' अर्थात् एकाग्र मन ही सत्त्व है और वह सत्त्व जिसका प्रयोजन है वह सात्त्विक है। इस प्रकार एकाग्र मन से स्वरभेदादि का अभिनय सात्त्विक अभिनय है। सात्त्विक अभिनय के बिना नाट्य-प्रयोग किया ही नहीं किया जा सकता।

वे सात्त्विक भाव ये हैं—

अनुवाद—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु (कम्पन), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ये आठ सात्त्विक भाव माने गये हैं ॥ ९५ ॥

१. ख. घ. स्वरसादोऽवेपथुः ।
२. ख. ध. स्मृताः ।

अत्रार्याः । तत्र—

क्रोधभयहर्षलज्जादुःखश्रमरोगतापघातेभ्यः ।
[1]व्यायामक्लमधर्मैः स्वेदः सम्पीडनाच्चैव ॥ ९६ ॥
[2]हर्षभयशोकविस्मयविषादरोषादिसम्भवः स्तम्भः ।
शीताभयहर्षरोषस्पर्शजरारोगजः कम्पः ॥ ९७ ॥
[3]आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणाद्भयाच्छोकात् ।
[4]अनिमेषप्रेक्षणतः शीताद्रोगाद्भवेदश्रु ॥ ९८ ॥
[5]शीतक्रोधभयश्रमरोगक्लमतापजं च वैवर्ण्यम् ।
[6]स्पर्शभयशीतहर्षात् क्रोधाद्रोगाच्च रोमाञ्चः ॥ ९९ ॥

इस विषय में ये आर्याएँ हैं—

अनुवाद—क्रोध, भय, हर्ष, लज्जा, दुःख, श्रम, रोग, ताप, घात, व्यायाम, क्लेश, धूप (घाम) तथा सम्पीडन से 'स्वेद' उत्पन्न होता है ॥ ९६ ॥

अनुवाद—हर्ष, भय, शोक, विस्मय, विषाद और रोष आदि से 'स्तम्भ उत्पन्न होता है और शीत, भय, हर्ष, रोष, स्पर्श, जरा तथा रोग आदि से 'वेपथु' (कम्प) उत्पन्न होता है ॥ ९७ ॥

अनुवाद—आनन्द, अमर्ष, धूम (धुआँ), अञ्जन, जृम्भण (जंभाई लेने), भय, शोक, निर्निमेष दृष्टि (एकटक देखना), शीत और रोग से 'अश्रु' उत्पन्न होता है ॥ ९८ ॥

अनुवाद—शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग क्लान्ति और ताप से 'वैवर्ण्य' उत्पन्न होता है और स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध तथा रोग से 'रोमाञ्च होता है ॥ ९९ ॥

---

१. ख. घ. व्यायामक्लमधर्मात् ।
२. ख. घ. हर्षभयरोगविस्मयविषादमदरोषसम्भवः स्तम्भः ।
३. ख. घ. आनन्दामर्षाभ्यां धूमाञ्जनजृम्भणभयाच्च ।
४. ख. घ. शोकानिमिषप्रेक्षणशीतद्रोगाद्भवेदस्रम् ।
५. क–न. शीतभयकामरोगैस्तापात्क्लामाच्च वैवर्ण्यम् ।
६. ग. स्पर्शभयशीतहर्षः । क. अ. द. स्पर्शभयगीतहर्षात् । क–ङ. स्पर्शभयपातहर्षात् ।

[1]स्वरभेदो भयहर्षक्रोधजरारौक्ष्यरोगमदजनितः ।
श्रममूर्छामदनिद्राभिघातमोहादिभिः प्रलयः ॥ १०० ॥

एवमेते बुधैर्ज्ञेया भावा ह्यष्टौ तु सात्त्विकाः ।
कर्म चैषां प्रवक्ष्यामि रसभावानुभावकम्[2] ॥ १०१ ॥

निःसंज्ञो निष्प्रकम्पश्च स्थितः शून्यजडाकृतिः[3] ।
स्कन्नगात्रतया चैव स्तम्भं त्वभिनयेद्बुधः ❀ ॥ १०२ ॥

व्यजनग्रहणाच्चापि स्वेदापनयनेन च ।
[4]स्वेदस्याभिनयो योज्यस्तथा वाताभिलाषतः ॥ १०३ ॥

अनुवाद—भय, हर्ष, क्रोध, जरा (बुढ़ापा), रूक्षता, रोग और मद से 'स्वरभेद' उत्पन्न होता है और श्रम, मूर्च्छा, मद, निद्रा, घात (चोट) एवं मोह आदि से 'प्रलय' उत्पन्न होता है ॥ १०० ॥

अनुवाद—विद्वानों को इस प्रकार आठ सात्त्विक भाव समझने चाहिए। अब इनके रस और भावों के अनुभावक कर्म (कार्यों) को कहूँगा ॥ १०१ ॥

अनुवाद—विद्वानों को 'स्तम्भ' सात्त्विक भावों अभिनय निःसंज्ञ (चेतना-हीन), निष्कम्प, स्थिरता, शून्यता, जड़ आकृति, शरीर को कड़ा करना आदि के द्वारा करना चाहिए ॥ १०२ ॥

अनुवाद—'स्वेद' नामक सात्त्विक भाव का अभिनय पंखा ग्रहण करने, स्वेद (पसीने) के पोछने तथा हवा की अभिलाषा द्वारा करना चाहिए ॥ १०३ ॥

---

१. ख. घ. स्वरसादो भयहर्षक्रोधज्वररोगमदजनितः ।

२. ख. घ. ह्यनुभावानुभावकम् क–द. अ. महाभावानुभावकम् ।

३. ख. घ. स्मितशून्यजड़ाकृतिः ।

❀ ख. ग. पुस्तकयोः इतः परं
वेपनात् स्फुरणात्कम्पाद्वेपथुं सम्प्रदर्शयेत् ।
स्वरभेदं तथा चैव भिन्न गद्गदनिःस्वनैः । इत्यधिकं दृश्यते ।

४. क. घ. पुस्तकयोरिदं पद्यं नास्ति ।

५. ख. ग. घ. रोमाञ्चस्त्वभिनयोऽसौ गात्रस्पर्शनेन च ।

मुहुः कण्टकितत्वेन तथोल्लुकसनेन च ।
[1]पुलकेन च रोमाञ्चं गात्रस्पर्शेन दर्शयेत् ॥ १०४ ॥

[2]स्वरभेदोऽभिनेतव्यो भिन्नगद्गदनिस्वनैः ।
वेपनात्स्फुरणात्कम्पाद्वेपथुं सम्प्रदर्शयेत् ॥ १०५ ॥

मुखवर्णपरावृत्या नाडीपीडनयोगतः ।
वैवर्ण्यमभिनेतव्यं प्रयत्नात्तद्धि[3] दुष्करम् ॥ १०६ ॥

वाष्पाम्बुप्लुतनेत्रत्वान्नेत्रसम्मार्जनेन च ।
मुहुरश्रुकणापातैरस्रं त्वभिनयेद्बुधः[4] ॥ १०७ ॥

अनुवाद—'रोमाञ्च' सात्त्विक भाव का अभिनय शरीर के बार-बार कण्टकित होने, रोओं के खड़े होने तथा शरीर के स्पर्श के द्वारा करना चाहिए ॥ १०४ ॥

अनुवाद—'स्वरभेद' सात्त्विक भाव का अभिनय स्वरों की भिन्नता तथा गद्गद होने द्वारा करना चाहिए और 'वेपथु' नामक सात्त्विक भाव का अभिनय कम्पन, स्फुरित होने तथा थरथराहट के द्वारा करना चाहिए ॥ १०५ ॥

अनुवाद—'वैवर्ण्य' नामक सात्त्विक भाव का अभिनय नाड़ियों के पीड़न से मुख का रङ्ग परिवर्तन करने के द्वारा करना चाहिये। यह अभिनय प्रयत्न-साध्य होने से दुष्कर होता है ॥ १०६ ॥

अनुवाद—'अश्रु' सात्त्विक भाव का अभिनय कुशल अभिनेताओं द्वारा आँसुओं से नेत्रों के भर जाने तथा आँसुओं के पोछने और बार-बार अश्रुकणों के गिरने से किया जाना चाहिये ॥ १०७ ॥

---

१. ख. ग. घ. रोमाञ्चस्त्वभिनयोऽसौ गात्रस्पर्शनेन च ।

२. ख. ग. घ. स्वरभेदं तथा चैव भिन्नगद्गदनिस्वनैः ।

३. ख. घ. प्रयत्नादङ्गसंश्रयम् ।

४. ख. ग. घ. नेत्रसंमार्जनैर्वाष्पैरश्रुत्वाभिनयेद्बुधः ।

[1]निश्चेष्टो निष्प्रकम्पत्वादव्यक्तश्वसितादपि ।
[2]महीनिपातनाच्चापि प्रलयाभिनयो भवेत् ॥ १०८ ॥

एकोनपञ्चाशदिमे[3] यथावद्
[4]भावास्त्र्यवस्था गदिता मयेह ।
भूयश्च[5] ये यत्र रसे नियोज्या-
स्तान् श्रोतुमर्हन्ति च विप्रमुख्याः ॥ १०९ ॥

[6]अत्र श्लोकाः—

अनुवाद—'प्रलय' नामक सात्त्विक भाव का अभिनय निःचेष्टता, निष्कम्प, अस्पष्ट श्वांस (श्वांस के स्पष्ट न होने) तथा भूमि पर गिरने आदि के द्वारा करना चाहिये ॥ १०८ ॥

अनुवाद—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मैंने तीन अवस्थाओं वाले उनचास (४९) भावों की यथावत् व्याख्या की है। अब जिन-जिन रसों में उनका प्रयोग करना चाहिये उसे आप लोग सुनिये ॥ १०९ ॥

विमर्श—आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा इन तीन प्रकार के भावों के अतिरिक्त कुल छियालीस भाव शृङ्गार रस को उद्भावित करते हैं। भाव यह कि उनचास भावों में से आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़कर शेष छियालीस भाव गिनाये गये हैं। ये सभी छियालीस भाव शृङ्गार रस को उद्भावित करते हैं।

इस विषय में ये श्लोक हैं—

१. क-म. निश्चेष्टो निष्प्रकम्पश्च अव्यक्तोच्छ्वसितादपि
क-अ. प. न. निश्चेष्टो निष्प्रकम्पश्च स्थितः शून्यजड़ाकृतिः ।
२. ख घ. मेदिनीपतनाच्चापि । क-अ. द. महीनिपतनाद्वापि ।
३. क-च.ब. एकोनपञ्चाशदमी ।
४. क-ङ. भावव्यवस्था गदिता मया वः ।
५. ख. घ. येषां च ये यत्र । क-च. ब. एषां च ये यत्र ।
६. इतः परं पञ्चश्लोकाः ख.ग. घ. पुस्तकेषु नोपलभ्यन्ते ।
क-अ.ब.म. एतदाद्याः पञ्चश्लोकाः न सन्ति ।

शङ्काव्याधिस्तथाग्लानिश्चिन्तासूया भयं तथा ।
विस्मयश्च वितर्कश्च स्तम्भश्चपलता तथा ॥ ११० ॥

रोमाञ्चहर्षौ निद्रा च तथोन्मादमदावपि ।
स्वेदश्चैवावहित्थं च प्रलयो वेपथुस्तथा ॥ १११ ॥

विषादश्रमनिर्वेदा गर्वावेगौ धृतिः स्मृतिः ।
मतिर्मोहो विबोधश्च सुप्तमौत्सुक्यवर्जिते ॥ ११२ ॥

क्रोधामर्षौ च हासश्च शोकोऽपस्मार एव च ।
दैन्यं च मरणं चैव रतिरुत्साहसंयुता ॥ ११३ ॥

त्रासवैवर्ण्यरुदितैः स्वरभेदः शमोऽपि च ।
जडता च तथा षट् च चत्वारिंशत्प्रकीर्तिताः[1] ॥ ११४ ॥

आलस्यौग्र्यजुगुप्साख्यैरेवं भावैस्तु वर्जिताः ।
[2]उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावाः स्वसंज्ञया ॥ ११५ ॥

अनुवाद—शङ्का, व्याधि, ग्लानि, चिन्ता, असूया, भय, विस्मय, वितर्क, स्तम्भ, तथा चपलता, रोमाञ्च, हर्ष और निद्रा, उन्माद और मद, स्वेद, अवहित्थ, प्रलय, वेपथु, विषाद, श्रम, निर्वेद, गर्व, आवेग, धृति, स्मृति, मति, मोह, विबोध, सुप्त और औत्सुक्य, क्रोध, अमर्ष, हास, शोक, अपस्मार, दैन्य तथा मरण, रति, उत्साह, त्रास, वैवर्ण्य, रुदन, स्वरभेद, शम और जड़ता ये छियालीस भाव कहे गये हैं ॥ ११०–११४ ॥

अनुवाद –आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़कर ये सभी छियालीस भाव अपनी संज्ञा (नाम) के अनुसार शृङ्गार रस को उद्भावित करते हैं ॥ ११५ ॥

---

१. ख. घ. ग. ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।
सुप्तं निद्रावहित्थं च शृङ्गारे वेपथुस्तथा ॥
इति पद्यमधिकं दृश्यते ।

२. क–अ. द. तद्भासयन्ति ते सर्वे रसं शृङ्गारसंज्ञकम् ।

यथाऽवसरमेते हि स्थायिसञ्चारिसत्त्वजाः ।
उद्दीपयन्ति शृङ्गारं रसमासाद्य संज्ञितम् ॥ ११६ ॥
ग्लानिः शङ्का ह्यसूया च श्रमश्चपलता तथा ।
सुप्तं निद्रावहित्थं च हास्ये भावाः प्रकीर्तिता ॥ ११७ ॥
निर्वेदश्चैव चिन्ता च दैन्यं ग्लान्यास्त्रमेव च ।
जडता मरणं चैव व्याधिश्च करुणे स्मृताः[1] ॥ ११८ ॥
गर्वोऽसूया मदोत्साहावावेगोऽमर्ष एव च ।
क्रोधश्चपलतौग्र्यं च विज्ञेया रौद्रसम्भवाः[2] ॥ ११९ ॥
असम्मोहस्तथोत्साह आवेगो हर्ष एव च ।
[3]मतिश्चैव तथोग्रत्वममर्षो मद एव च ॥ १२० ॥
रोमाञ्चः स्वरभेदश्च क्रोधोऽसूया धृतिस्तथा ।
गर्वश्चैव वितर्कश्च वीरे भावा भवन्ति हि ॥ १२१ ॥

अनुवाद—ये स्थायी, व्यभिचारी और सात्त्विक भाव यथावसर (अवसर के अनुसार) शृङ्गार नामक रस को प्राप्त कर उसे उद्दीप्त करते हैं ॥ ११६ ॥

अनुवाद—ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा, अवहित्थ नामक भाव 'हास्य' रस में कहे गये हैं ॥ ११७ ॥

अनुवाद—निर्वेद, चिन्ता, दैन्य, ग्लानि, अश्रु, जड़ता, मरण और व्याधि नामक भाव 'करुण' रस में माने गये हैं ॥ ११८ ॥

अनुवाद—गर्व, असूया, मद, उत्साह, आवेग, अमर्ष, क्रोध, चपलता तथा उग्रता नामक ये भाव 'रौद्र' रस में होते हैं ॥ ११९ ॥

अनुवाद—असम्मोह, उत्साह, आवेग, हर्ष, मति, उग्रता, अमर्ष, मद, रोमाञ्च, स्वर-भेद, क्रोध, असूया, धृति, गर्व और वितर्क ये भाव 'वीर' रस में होते हैं ॥ १२० १२१ ॥

१. ख. घ. करुणे रसे ।

२. ख.ग. घ. गर्वोऽसूया तथोत्साह आवेगो मद एव च ।
क्रोधश्चपलता हर्षे रौद्रे चोग्रत्वमेव च ॥
क-अ. जड़ताहर्षो रौद्रे तूग्रत्वमेव च ।

३. ख. घ. मतिश्चैव तथोग्रत्वं हर्ष उन्माद एव च ।

४. क-अ. प. म. रोमाञ्चः प्रतिबोधश्च क्रोधोऽसूया धृतिस्तथा ।
गर्वश्चैव वितर्कश्च मतिश्चैव तथोग्रता ।
अमर्षोऽथ मदश्चैव वीरे भावा भवन्ति हि ॥

स्वेदश्च[1] वेपथुश्चैव रोमाञ्चो गद्‌गदस्तथा ।
[2]त्रासश्च मरणञ्चैव वैवर्ण्यं च भयानके ॥ १२२ ॥

अपस्मारस्तथोन्मादो विषादो मद एव च ।
[3]मृत्युर्व्याधिर्भयं चैव भावा बीभत्ससंश्रयाः ॥ १२३ ॥

स्तम्भः स्वेदश्च मोहश्च रोमाञ्चो विस्मयस्तथा ।
आवेगो जडता हर्षो मूर्च्छा चैवाद्‌भुताश्रयाः[4] ॥ १२४ ॥

ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनयसंश्रिताः[5]।
[6]रसेष्वेतेषु सर्वे ते ज्ञेया नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ १२५ ॥

न ह्येकरसजं काव्यं किञ्चिदस्ति प्रयोगतः ।
भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव च ॥ १२६ ॥

अनुवाद—स्वेद, वेपथु, रोमाञ्च, गद्‌गद होना, त्रास, मरण और वैवर्ण्य नामक भाव 'भयानक' रस में होते हैं ॥ १२२ ॥

अनुवाद—अपस्मार, उन्माद, विषाद, मद, मृत्यु, व्याधि तथा भय नामक भाव 'बीभत्स' रस में होते हैं ॥ १२३ ॥

अनुवाद—स्तम्भ, स्वेद, मोह, रोमाञ्च और विस्मय, आवेग, जड़ता, हर्ष और मूर्च्छा नामक भाव 'अद्भुत' रस में होते हैं ॥ १२४ ॥

अनुवाद—ये जो नाना प्रकार के अभिनयों पर आश्रित सात्त्विक भाव हैं, नट्यप्रयोक्ताओं को इन सभी रसों में उन भावों की स्थिति समझनी चाहिए ॥१२५॥

अनुवाद—कोई भी काव्य (नाट्य) ऐसा नहीं है जिसमें केवल एक ही रस होता हो, अतः प्रयोग के अनुसार उनमें अनेक भावों, रसों, कृतियों एवं प्रवृत्तियों का प्रयोग किया जाता ॥ १२६ ॥

१. क-त. वेपथुः स्वरभेदश्च ।
२. क-त. स्तम्भश्च मरणं स्वेदो ।
३. ख. मतिर्व्याधिः ।
४. क-त. ब चैवाद्भुते रसे ।
५. क-अ. द. ब. नानाभावसमाश्रयाः ।
६. क-अ. द. रसेषु तेषु सर्वेषु ते ज्ञेयाः ।

[1]बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु ।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः ॥ १२७ ॥
दीपयन्तः प्रवर्तन्ते ये पुनः स्थायिनं [2]रसम् ।
ते[3] तु संचारिणो ज्ञेयास्ते हि स्थायित्वमागता ॥ १२८ ॥
[4]विभावानुभावयुतो ह्यङ्गवस्तुसमाश्रयः ।
संचारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेत् ॥ १२९ ॥
स्थायी सत्त्वातिरेकेण प्रयोक्तव्यः प्रयोक्तृभिः ।
सञ्चार्याकारमात्रेण स्थायी यस्मादवस्थितः ॥ १३० ॥

अनुवाद—अनेक समवेत रसों में जिस एक का रूप बहुत (अधिक) हो अर्थात् जिस एक का अनेक रूपों में प्रयोग होता है, उसे रस का स्थायीभाव समझना चाहिए और शेष को संचारीभाव समझना चाहिए ॥ १२७ ॥

अनुवाद—जो स्थायीभाव रस को दीप्त (प्रकाशित) करते हुए प्रवृत्त होते हैं, उन्हें संचारी भाव समझना चाहिए, किन्तु वे प्रकृत रस के सन्दर्भ में स्थायीभाव होते हैं ॥ १२८ ॥

अनुवाद—अङ्गभूत कथावस्तु पर आश्रित विभाव, अनुभाव और संचारीभाव से युक्त स्थायीभाव ही रस रूप हो जाता है ॥ १२९ ॥

विमर्श—विभाव, अनुभाव और संचारीभाव से संयुक्त होकर स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार स्थायीभाव ही रस है ॥ १२९ ॥

अनुवाद—नाट्य-प्रयोक्ताओं को सत्त्व के अतिरेक (सात्त्विक भाव के अतिशय) से उक्त स्थायीभाव का प्रयोग करना चाहिए और संचारीभावों का आकार-मात्र से इस प्रकार अभिनय करें जिससे स्थायी की प्रधानता हो और संचारीभाव स्थायीभाव के सहायक मात्र हों ॥ १३० ॥

---

१. क-ङ.म. सर्वेषां ।
क-अ.ब. पुस्तकेषु इतः प्रभृति 'विदित्वा हि विराजन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम्' इत्यन्तं अष्टौ श्लोकाः न सन्ति ।
२. क-त. स्थायिनो रसाः ।
३. क-त. न तु सञ्चारिणो ।
४. क-त. अयं श्लोको नास्ति ।

[1]ये त्वेते सात्त्विका भावा नानाभिनययोजिताः ।
रसेष्वेतेषु सर्वेषु ते ज्ञेया नाट्यकोविदैः । १३१ ॥

[2]न ह्येकरसजं काव्यं नैकभावैकवृत्तिकम् ।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तं हि प्रयत्नतः ॥ १३२ ॥

भावा वाऽपि रसा वाऽपि प्रवृत्तिर्वृत्तिरेव वा ।
बीभत्साद्भुतशान्तानां त्रैविध्यं नात्र कथ्यते ॥ १३३ ॥

षण्णां रसानां त्रैविध्यं नानाभावरसान्वितम् ।
सत्त्वप्रयोजितो ह्यर्थः प्रयोगोऽत्र विराजते ।
विदित्वा हि विराजन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ॥ १३४ ॥

अनुवाद—नाना प्रकार के अभिनयों से संयोजित किये जाने वाले जो ये सात्त्विक भाव हैं कुशल नाट्यप्रयोक्ताओं को समस्त रसों में उनके प्रयोग करने का ज्ञान होना चाहिए ॥ १३१ ॥

अनुवाद –कोई भी काव्य (नाट्य) ऐसा नहीं है जिससे एक ही रस हो, एक ही भाव हो, या वृत्ति हो, किन्तु चाहे रस, भाव, वृत्ति या प्रवृत्ति हो उन सभी के प्रबलपूर्वक प्रयोग करने पर संयोजन (समूह) या सम्मिश्रण से राग की प्राप्ति होती है ॥ १३२ ॥

अनुवाद—बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त रस की त्रिविधता का यहाँ कथन नहीं किया जा रहा है । नाना प्रकार के रसों एवं भावों से समन्वित छः रसों की त्रिविधता का ही प्रयोग कहा गया है ॥ १३३ ॥

अनुवाद—सत्त्व से प्रयोजित विषय को यहाँ प्रयोग कहा गया है। इसको जानकर नाट्यप्रयोक्ता जन शोभित होते है, प्रतिष्ठा को प्राप्त करते है। क्योंकि संसार में चित्र प्रयोग अर्थात् सभी रसों का मिश्रित प्रयोग दुर्लभ है ॥ १३४ ॥

१. क-म. एतत्पद्यस्थाने—

चित्राणि न विरज्यन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तमपि यत्नतः ॥
इति पद्यं लभ्यन्ते । ततः परं 'नानार्थभाव' इति पद्यं लभ्यते ।

२. ख.घ. चित्राणि न विरज्यन्ते लोके चित्रं हि दुर्लभम् ।

[1]नानाभावार्थसंपन्नाः स्थायिसत्त्वाभिचारिणः[2] ।
[3]पुष्पावकीर्णाः कर्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः[4] ॥ १३५ ॥
एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था[5] नाटके स्मृताः।
य एवमेताञ्जानाति स गच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥ १३६ ॥

इति श्रीभारतीये नाट्यशास्त्रे भावव्यञ्जको नाम
सप्तमोऽध्यायः ॥

अनुवाद—कुशल अभिनेताओं को काव्य (नाट्य) में नाना प्रकार के भावों तथा अर्थों से सम्पन्न स्थायी, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों को माला में पिरोये हुए पुष्पों की तरह आयोजित करना चाहिए ॥ १३५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार नाटक में तीन अवस्थाओं वाले रसों और भावों का निरूपण किया गया है। जो इसे ठीक से समझता है वह उत्तम सिद्धि अर्थात् पूर्ण सफलता को प्राप्त करता है ॥ १३६ ॥

इस प्रकार माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त द्वारा रचित अभिनवभारती में नाट्यशास्त्र-विवृति नामक व्याख्या में भावव्यञ्जक भाव सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायामभिनवभारत्यां मनोरमाख्यायां
हिन्दीव्याख्यायां भावव्यञ्जको नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार डॉ० पारनाथ द्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र और अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या में सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

---

१. ख.घ. स्थायिसत्त्वविचारिणः । क-प. ब. स्थायिभावा विचारिणः ।
क-त. एवं रसानां भावानां व्यवस्था नाटके स्मृताः ।
२. ख.घ. व्यवस्था ।
३. क-अ.न. नानार्थभावनिष्पन्नः । क-ड.म. नानार्था भावनिष्पन्नाः ।
४. ख.घ. पुंसानुकीर्णा कर्त्तव्याः काव्ये सत्त्वरसाश्रये ।
५. क-ड.म. काव्ये सत्त्वरसाश्रयाः ।

अष्टमोऽध्यायः

[1]ऋषय ऊचुः

भावानां च रसानां च समुत्थानं यथाक्रमम् ।
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सर्वमिच्छामो वेदितुं पुनः ॥ १ ॥
नाट्ये कतिविधः कार्यः तज्ज्ञैरभिनयक्रमः ।
कथं वाभिनयो[2] ह्येष कतिभेदस्तु [3]कीर्तितः ॥ २ ॥
सर्वमेतद्यथातत्त्वं कथयस्व महामुने[4] ।
यो यथाभिनयो यस्मिन् योक्तव्यः सिद्धिमिच्छता ॥ ३ ॥

अष्टम अध्याय

अभिनय-निरूपण

हिन्दी व्याख्या

ऋषियों ने कहा—

अनुवाद—ऋषियों ने कहा–हे मुने ? आपकी कृपा से हम लोगों ने भावों और रसों का समुत्थान (उद्गम) को यथाक्रम सुना। अब फिर सुनना चाहते हैं कि नाट्य के विद्वानों ने नाट्यप्रयोग में अभिनय को कितने प्रकारों से करना चाहिए ? और यह किस प्रकार सम्पन्न करना चाहिए और उससे कितने भेद कहे गये हैं ? ॥ १–२ ॥

अनुवाद—हे महामुने ? आप उन सभी विषय को यथावत् हम लोगों को बतायें। नाट्य-प्रयोग में सिद्धि (सफलता) को चाहने वाले को जहाँ पर जिस प्रकार अभिनय करना चाहिए, उन सभी को यथावत् हम लोगों को बतलाइये ॥३॥

---

१ 'ऋषय ऊचः' इति 'ख' पुस्तके नास्ति ।
२. 'ग' चाभिनेयो ।
३. 'ग' कतिभेदश्च ।
४. 'ख' भगवन् वक्तुमर्हसि ।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः ।
प्रत्युवाच पुनर्वाक्यं चतुरोऽभिनयान् प्रति ॥ ४ ॥
अहं वः कथयिष्यामि निखिलेन तपोधनाः ।
यस्मादभिनयो ह्येष विधिवत् समुदाहृतः ॥ ५ ॥

यदुक्तं चत्वारोऽभिनया इति तान् वर्णयिष्यामः । [1]अत्राह—अभिनय इति कस्मात्, अत्रोच्यते—अभीत्युपसर्गः णीञ् इति प्रापणार्थको धातुः । अस्याभिनीत्येवं व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इत्येवं रूपं सिद्धम् । एतच्च धात्वर्थानुवचनेनावधार्यं[2] भवति ।

अत्र श्लोकौ

अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये ।
[3]यस्मात्पदार्थान्नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ॥ ६ ॥

अनुवाद—उन मुनियों के वचन को सुनकर भरतमुनि ने चार प्रकार के अभिनयों के सम्बन्ध में फिर उत्तर देने लगे ॥ ४ ॥

अनुवाद—हे तपस्वियों ! जिस प्रकार यह अभिनय विधिपूर्वक कहा गया है, उसे मैं आप लोगों को विस्तार से बतलाता हूँ ॥ ५ ॥

अनुवाद—पहिले मैंने अभिनय के चार प्रकारों को कहा है अब उन्हीं का वर्णन करूँगा । इस विषय में कहते हैं—अभिनय यह क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—'अभि' यह उपसर्ग है और प्रापणार्थक णीञ् (नी) धातु है । इस प्रकार 'अभि' 'नी' से अर्थात् 'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'नी' धातु से 'एरच्' सूत्र से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'अभिनय' यह रूप सिद्ध होता है । इस प्रकार धातु और प्रत्यय के संसर्ग से निष्पन्न अभिनय शब्द का अर्थ समझना चाहिए ।

इस विषय में निम्नलिखित दो श्लोक हैं ।

---

१. ग. अभिनय इति कस्मादुच्यते अभीत्युपसर्गः । 'णीञ् प्रापणार्थो धातुः । अस्याच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इति रूपं सिद्धम् ।

२. 'ग' धात्वर्थवचनेनावधार्यम् ।

३. क—ग. यस्मात् प्रयोग नयति ।

विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः ।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः ॥ ७ ॥

चतुर्विधश्चैव भवेन्नाट्यस्माभिनयो द्विजाः ।
[1]अनेकभेदबाहुल्यं नाट्यं ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राः चतुर्धा परिकल्पितः ॥ ९ ॥

अनुवाद—'अभि' उपसर्ग के साथ 'णीञ्' (नी) धातु से अभिनय शब्द आभिमुख्य अर्थ में है, क्योंकि यह प्रयोग को (सामाजिकों के सन्मुख) ले जाता है इसलिए इसे 'अभिनय' कहते हैं ॥ ६ ॥

अनुवाद—क्योंकि यह शाखा, अङ्ग और उपाङ्ग से युक्त अभिनय प्रयोग के द्वारा नानाविध अर्थों को विभावित करता है, निर्दशित करता है, इसलिए इसे 'अभिनय' कहा जाता है ॥ ७ ॥

विमर्श—'अभि' उपसर्ग पूर्वक 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'एरच्' सूत्र से 'अच्' प्रत्यय होकर 'अभिनय' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है आभिमुख्य-नयन अर्थात् वह नाट्य प्रयोग के अर्थों को प्रेक्षकों के अभिमुख (सन्मुख) ले जाता है। इसलिए उसे 'अभिनय' कहा जाता है। यह शाखा, अङ्ग एवं उपाङ्गो से संयुक्त अभिनय के प्रयोग के द्वारा नाट्य के नानाविध अर्थों का सामाजिक के हृदय में विभावन (रसास्वादन) कराया जाता है, अतः इसे 'अभिनय' कहते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'अवस्थानुकार' को अभिनय बताया है (भवेदभिनयोऽवस्थानुसारः)। इसमें अभिनेता द्वारा अभिनेय की अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है।

अनुवाद—हे द्विजों ! नाटच का यह अभिनय चार प्रकार का होता है। अनेक भेदों के कारण बहुत प्रकार का वह नाटच इसी में प्रतिष्ठित है ॥ ८ ॥

अनुवाद—हे द्विजों ? आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक ये चार प्रकार के अभिनय कहे गये हैं। इस प्रकार अभिनय के चार भेद समझने चाहिए ॥ ९ ॥

---

१. क–ग. अनेकभेदबहुलं नाट्यमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।

सात्त्विकः पूर्वमुक्तस्तु भावैश्च[१] सहितो मया ।
अङ्गाभिनयमेवादौ[२] गदतो मे निबोधत ॥ १० ॥

त्रिविधस्त्वाङ्गिको ज्ञेयः[३] शारीरो मुखजस्तथा[४] ।
तथा चेष्टाकृतश्चैव शाखाङ्गोपाङ्गसंयुतः[५] ॥ ११ ॥

[६]शिरोहस्तकटीवक्षः पार्श्वपादसमन्वितः ।
अङ्गप्रत्यङ्गसंयुक्तः षडङ्गो नाट्यसंग्रहः[७] ॥ १२ ॥

अनुवाद—मैंने भावों से युक्त सात्विक अभिनय को पहिले कह दिया है। अतः अब सर्वप्रथम आङ्गिक अभिनय को कहता हूँ, आप लोग समझिये ॥ १० ॥

अनुवाद—आङ्गिक अभिनय तीन प्रकार का होता है—शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत। जो शाखा, अङ्ग एवं उपाङ्ग से संयुक्त होता है ॥ ११ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार भेद बताये गये हैं—आङ्गिक; वाचिक, आहार्य और सात्विक। इनमें अङ्गो के द्वारा प्रदर्शित किया जाने वाला आङ्गिक अभिनय तीन प्रकार का होता है—शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत। इनमें शारीर अभिनय शाखा, अङ्ग एवं प्रत्यङ्गों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। केवल उपाङ्गों के द्वारा जो अभिनय किया जाता है वह 'मुखज' या 'उपाङ्गाभिनय' कहलाता है। इसी प्रकार चेष्टाओं द्वारा किया जाने वाला अभिनय 'चेष्टाकृत' अभिनय कहा जाता है।

अनुवाद—शिर, हस्त, कटि, वक्ष, पार्श्व, और पाद से युक्त तथा अङ्ग एवं प्रत्यङ्गों से युक्त षडङ्ग नाटचसंग्रह है ॥ १२ ॥

---

१. ख. भावैस्तु ।
२. ख. घ. अङ्गाभिनयमेवातो ।
३. ख. दृष्टः ।
४. मुखजः स्मृतः ।
५. क-द. शाखाङ्गोपाङ्गसम्भवः ।
६. क-न. शिरोवक्षःकटीहस्त० ।
७. क-द. नृत्यसम्भवः ।

[1]तस्य शिरो हस्तोरःपार्श्वकटीपादतः षडङ्गानि ।
नेत्रभ्रूनासाधरकपोलचिबुकान्युपाङ्गानि ॥ १३ ॥
अस्य[2] शाखा च [3]नृत्तं च तथैवाङ्कुर एव च ।
वस्तून्यभिनयस्येह विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः ॥ १४ ॥
आङ्गिकस्तु भवेच्छाखा [4]ह्यङ्कुरः [5]सूचना भवेत् ।
अङ्गहारविनिष्पन्नं [6]नृत्तं तु करणाश्रयम् ॥ १५ ॥

अनुवाद--इस अभिनय के शिर, हस्त, उरस्, पार्श्व, कटि और पाद ये छः अङ्ग हैं और नेत्र, भौंह, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक ये छः उपाङ्ग हैं ॥ १३ ॥

विमर्श—कुछ आचार्यों ने ग्रीवा को एक अतिरिक्त अङ्ग माना है और कुछ आचार्य स्कन्ध को सातवाँ अङ्ग मानते हैं। भरत ने अङ्गों की संख्या छः बताई है—नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल, एवं चिबुक । इनके अतिरिक्त कुछ नाट्याचार्यों ने दोनों मणिबन्ध, दोनो जानु और दोनो घुटनों को अतिरिक्त प्रत्यङ्ग माना है । कुछ आचार्य ग्रीवा को प्रत्यङ्गों में परिगणित करते हैं ॥ १२-१३ ॥

अनुवाद--नाट्य-प्रयोक्ताओं को इस अभिनय के शाखा, नृत्त और अङ्कुर रूप वस्तुओं को भी जानना चाहिए ॥ १४ ॥

अनुवाद--इनमें आङ्गिक अभिनय को 'शाखा' कहते हैं, सूचना या सूच्य अभिनय को 'अङ्कुर' कहते हैं और करणों पर आश्रित अङ्गहारों से निष्पन्न होने वाला अभिनय 'नृत्त' कहलाता ॥ १५ ॥

---

१. क-म. अस्य ।
२. ब. तस्य।
३. क-द. नृत्यञ्च ।
४. ब. अंकुरा ।
५. क-न. सूचनाद्भवेत् ।
६. क-द. नृत्यञ्च ।

मुखजेऽभिनये विप्रा ! नानाभावरसाश्रये[1] ।
शिरसः प्रथमं कर्म गदतो मे निबोधत ॥ १६ ॥

आकम्पितं कम्पितं च धुतं विधुतमेव च ।
[2]परिवाहितमाधूतमवधूतं तथाञ्चितम् ॥ १७ ॥

निहञ्चितं परावृत्तमुत्क्षिप्तं चाप्यधोगतम्[3] ।
लोलितं[4] चेति विज्ञेयं त्रयोदशविधं शिरः ॥ १८ ॥

विमर्श—शाखा, अङ्कुर और नृत्त तीनों अभिनय रूप ही है। इनमें आङ्गिक अभिनय को शाखा कहते हैं। शार्ङ्गदेव ने हस्तों की विचित्र (चमत्कारपूर्ण) वर्त्तना को शाखा कहा है (अत्र शाखेति विख्याता विचित्रा करवर्त्तना)। शाखा एक प्रकार का कर-व्यापार है। भूत अर्थात् पूर्वोक्त वाक्यार्थ के आश्रय से प्रवर्त्तित वर्त्तना (व्यापार) 'अङ्कुर' है और वही वर्त्तना भावी अर्थों के आश्रित होने से 'सूची' कही जाती है तथा करणों एवं अङ्गहारों से निष्पन्न अभिनय 'नृत्त' कहा जाता है ॥ १४-१५ ॥

अनुवाद--हे विप्रों ? अनेक प्रकार के भावों एवं रसों के अभिव्यञ्जक मुखजन्य अभिनय के विषय में सर्वप्रथम शिर के कर्म (शिरोऽभिनय) अर्थात् शिर से होने वाले अभिनय को कहता हूँ, आप लोग समझिये ॥ १६ ॥

शिरोऽभिनय

अनुवाद--आकम्पित, कम्पित, धुत, विधुत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निहञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत और लोलित ये तेरह शिर के अभिनय समझने चाहिए ॥ १७-१८ ॥

---

१. ख. नानाभावसमाश्रये ।

२. ख. परिवाहितमथोद्वाहितकमवधूतमथाञ्चितम् ।
क-छ. परिवाहितमभ्यत्स्यादुद्वाहितमथापरम्
अवधूतं शिरो न्यस्तं तथैवाञ्चितमेव च ।

३. क-प. चाप्ययोगतः ।

४. ख. चैव । क-द. लोलितं प्राकृतं चैव चतुर्दशविधं शिरः ।

शनैराकम्पनादूर्ध्वमधश्चाकम्पितं भवेत् ।
द्रुतं तदेव बहुशः कम्पितं कम्पितं शिरः ॥ १९ ॥
[1]ऋजुस्थितस्य चोर्ध्वाधः क्षेपादाकम्पितं भवेत् ।
बहुशश्चलितं यच्च तत्कम्पितमिहोच्यते ॥ २० ॥
[2]संज्ञोपदेशपृच्छासु स्वभावाभाषणे तथा ।
[3]निर्देशावाहने चैव भवेदाकम्पितं शिरः ॥ २१ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में शिरोऽभिनय के तेरह भेद बताये गये हैं, किन्तु नन्दिकेश्वर ने अभिनयदर्पण में शिरोऽभिनय के नौ प्रकार बताये हैं और भरतार्णव तथा नाट्यसंग्रह में उनकी संख्या चौदह बताई गयी है। उनमें तेरह भेद तो नाट्यशास्त्र से मिलते हैं किन्तु 'उद्वाहित नामक एक भेद अधिक बताया गया है जो नाट्यशास्त्र में नहीं है। इनके अतिरिक्त भरतार्णव में अन्य मत से पाँच भेद और बताये गये हैं। इस प्रकार भरतार्णव और नाट्यशास्त्रसंग्रह में शिरोऽभिनय के उन्नीस भेदों की गणना की गई है। सङ्गीतरत्नाकर में भरत के मत से चौदह और अन्य मत से पाँच भेद बताये गये हैं। उनमें तेरह नाट्यशास्त्रोक्त और एक भरतार्णवोक्त उद्वाहित है। अन्य मत से तिर्यङ्नतोन्नत, स्कन्धानत, आरत्रिक, सम और पार्श्वाभिमुख ये पांच प्रकार गिनाये गये हैं ॥ १७-१८ ॥

इसके बाद क्रमशः उनका लक्षण करते हैं—

अनुवाद—धीरे-धीरे शिर को ऊपर और नीचे की ओर हिलाना 'आकम्पित' होता है और उसी को यदि बार-बार द्रुत गति से कम्पित किया जाय तो 'कम्पित' कहलाता है ॥ १९ ॥

अनुवाद—अन्य मत से—सरल (सीधी) स्थित शिर का ऊपर और नीचे की ओर सञ्चालन करना 'आकम्पित' होता है और उसे बार-बार कम्पित करना 'कम्पित' कहलाता है ॥ २० ॥

अनुवाद—सङ्केत करने, उपदेश देने, प्रश्न करने, स्वाभाविक रूप से सम्भाषण करने, निर्देश देने तथा आवाहन करने में 'आकम्पित' नामक शिरोऽभिनय का प्रयोग करना चाहिए ॥ २१ ॥

---

१. ख. ग. घ. पुस्तकेषु अयं श्लोको नास्ति ।
२. क. संज्ञोपलम्भप्रश्नेषु । क-द. संज्ञोपदेशपृष्टान्य० ।
३. ख. निर्देशे वाहने चैव ।

रोषे वितर्के विज्ञाने प्रतिज्ञानेऽथ[1] तर्जने।
[2]प्रश्नातिशयवाक्येषु शिरः कम्पितमिष्यते ॥ २२ ॥

शिरसो[3] रेचनं यत्तु शनैस्तद् धुतमिष्यते[4]।
[5]द्रुतमारेचनादेतद्विधुतं तु भवेच्छिरः ॥ २३ ॥

अनीप्सिते विषादे च विस्मये प्रत्यये तथा।
[6]पार्श्वावलोकने शून्ये प्रतिषेधे धुतं शिरः ॥ २४ ॥

अनुवाद—क्रोध में, वितर्क में, विज्ञान में, प्रतिज्ञा करने, तर्जन अर्थात् भर्त्संना करने, अतिशय प्रश्न करने (पाठभेद के अनुसार व्याधि और अमर्ष) में 'कम्पित' शिर का प्रयोग करना चाहिए ॥ २२ ॥

अनुवाद—शिर का धीरे-धीरे इधर-उधर हिलाना 'धुत' शिर कहा जाता है। और तीव्र गति से शिर का हिलाना (कम्पन) 'विधुत' शिर कहलाता है ॥ २३ ॥

अनुवाद—अनभीष्ट विषय में, विषाद में, विस्मय में, प्रत्यय में, दोनों पार्श्वों की ओर झांकने में, शून्यता (निर्जन-स्थान) में और प्रतिषेध करने में 'धुत' शिर का विनियोग करना चाहिए ॥ २४ ॥

---

१. ख. प्रतिज्ञातेऽथ तर्जने। ग. प्रतिज्ञाने च तर्जने। क-प. प्रतिज्ञाते तथार्जने।
क-च. प्रतिज्ञानेऽथ गर्जने।

२. ग. पृच्छातिशयवाक्येषु। ख. व्याध्यमर्षणयोश्चैव।
क-प. साध्यामर्षादयश्चैव।

३. क. शिरसो रेचनं सम्यक्। क-त. शिरसो भ्रमणं यत्तु।
क-द. शिरसो भ्रमणञ्चैव।

४. ग. धुतमुच्यते।

५. क-द. द्रुतमारेचितं तत्त्वं विधुतं तु भवेच्छिरः।
क-न. आरेचनादेव विधुतं तु भवेच्छिरः।
क-म. तदेव हि प्रयुक्तं तु द्रुतं विधुतमिष्यते।

६. क-ध. प्रतिषेधेऽथवाऽनेन धुतमेतत्प्रयोजयेत्।

[1]शीतग्रस्ते भयार्त्ते च त्रासिते ज्वरिते तथा।
पीतमात्रे तथा मद्ये विधुतं तु भवेच्छिरः[2] ॥ २५ ॥
[3]पर्यायशः पार्श्वगतं शिरः स्यात् परिवाहितम्।
[4]आधूतमुच्यते तिर्यक् सकृदुद्वाहितं तु यत् ॥ २६ ॥
साधने विस्मये हर्षे स्मिते[5] चार्मषिते[6] तथा।
[7]विचारे विहृते चैव लीलायां परिवाहितम् ॥ २७ ॥

अनुवाद—शीत से ग्रस्त (पीड़ित) होने में, भय से त्रस्त होने में, ज्वर से आक्रान्त होने में, तत्काल मद्यपान की स्थिति में 'विधुत' शिर का अभिनय करना चाहिए ॥ २५ ॥

अनुवाद—यदि शिर को क्रमशः दोनों पार्श्वों की ओर कम्पित किया जाता है तो 'परिवाहित' शिरोऽभिनय कहलाता है और जब उसे तिरछा करके एक बार ही कम्पित किया जाता है तो 'आधूत' कहा जाता है ॥ २६ ॥

अनुवाद—साधन में, विस्मय में, हर्ष में, मन्दमुस्कराहट और अमर्ष की अवस्था में, विचार, विहृत अवस्था (प्रेमपूर्ण वचनों के लज्जावश अथवा स्वभावतः न कहने की स्थिति में, प्रेमभाव को छिपाने की स्थिति में) में और लीला की स्थिति में 'परिवाहित' शिर का अभिनय करना चाहिए ॥ २७ ॥

१. क-द. शीते त्रस्ते तथार्त्ते च।
२. क-म. सम्प्रयोजयेत्।
३. ख. पर्यायतः।
क-छ. मण्डलभ्रमणाच्चापि परिवाहितमिष्यते।
क-ब. मडलभ्रमणे चैव भवेत्तु परिवाहितम्।
४. ख. सकृदुद्वाहितं चोर्ध्वमुद्वाहितमिति स्मृतम्।
क-ब. सकृदुद्वाहितं सोर्ध्वमुद्वाहितमिहोच्यते।
५. क. स्मृते। ख. स्थिते। क-ब. विकृते चाद्भुते तथा।
६. ग. वार्मषिते।
७. क-ब. परिवाहितं तु विज्ञेयं लीलायां च विचारणे।
ग. विचारे निह्नुते चैवा। क-द. विचारे विकृते चैव।

[1]गर्वेच्छादर्शने चैव पार्श्वस्थोर्ध्वनिरीक्षणे ।
[2]आधूतं तु शिरो ज्ञेयमात्मसम्भावनादिषु ॥ २८ ॥
[3]यदधः सकृदाक्षिप्तमवधूतं तु तच्छिरः ।
[4]सन्देशावाहनालापसंज्ञादिषु तदिष्यते ॥ २९ ॥
किञ्चित् [5]पार्श्वनतग्रीवं शिरो विज्ञेयमञ्चितम् ।
व्याधिते मूर्च्छिते मत्ते चिन्तायां [6]हनुधारणं ॥ ३० ॥

अनुवाद—गर्व से अपनी इच्छा के प्रदर्शन में, पार्श्व में एवं ऊपर की ओर देखने में तथा आत्म-सम्मान के प्रदर्शन में 'आधूत' शिर का अभिनय करना चाहिए ॥ २८ ॥

अनुवाद—जब शिर को नीचे की ओर एक बार कम्पित किया जाता है तो 'अवधूत' शिरोऽभिनय कहलाता है । इसका अभिनय सन्देश पहुँचाने में, आवाहन करने में, आलाप करने में, तथा संकेत आदि की स्थिति में किया जाता है ॥ २९ ॥

अनुवाद—जब ग्रीवा को पार्श्व की ओर झुका दिया जाता है तो 'अञ्चित' नामक शिरोऽभिनय होता है । इसका विनियोग रुग्णावस्था में, मूर्च्छावस्था में, मत्तावस्था में, चिन्तायुक्त होने और दुःखावस्था में करना चाहिए ॥ ३० ॥

---

१. ग. गर्वात्मदर्शने चैव पार्श्वस्थोर्ध्वनिरीक्षणे ।
ख. घ. गर्वेच्छादर्शने चैव तथा चोर्ध्वनिरीक्षणे ।
क-ब. गर्वोच्छ्रयादिषु धुतं तथा चोर्ध्वनिरीक्षणे ॥
क-द. सर्वाङ्गदर्शने चैव पार्श्वस्थान्यनिरीक्षणे ।
ग. क-च. गर्वात्मदर्शने चैव तथा चार्धनिरीक्षणैः ।

२. ख. उद्वाहितं तु कर्त्तव्यमात्मसम्भावनादिषु ।

३. क-प. यदधः स तथाक्षिप्तमवधूतं तु तच्छिरः ।
क-म. आक्षिप्तस्त्वं सकृद्यत्स्यादवधूतमिहोच्यते ।

४. क-म. संदेशे त्वथ संज्ञायामालापे चैव तद्भवेत् ।
क-द. बान्धवावाहनालापसंज्ञादिषु भविष्यति ।

५. ख. ग. घ. पार्श्वानतग्रीवं ।

६. ख. सचिन्ते दुःखिते भवेत् । क-म. शङ्किते दुःखिते च तत् ।

[1]उत्क्षिप्तांसावसक्तं यत्कुञ्चितभ्रूलतं शिरः[2] ।
[3]निहञ्चितं तु विज्ञेयं स्त्रीणामेतत् प्रयोजयेत् ॥ ३१ ॥
[4]गर्वे माने विलासे च बिब्बोके किलकिञ्चिते ।
[5]मोट्टायिते कुट्टमिते स्तम्भमाने निहञ्चितम् ॥ ३२ ॥
परावृत्तानुकरणात् [6]परावृत्तमिहोच्यते ।
तत् स्यान्मुखापहरणे पृष्ठतः प्रेक्षणादिषु ॥ ३३ ॥

अनुवाद—जब दोनो कन्धे ऊपर की ओर उठे हुए हों और ग्रीवा (गर्दन) नीचे की ओर अञ्चित हो तो 'निहञ्चित' शिरोऽभिनय होता है। स्त्रियों के विषय में इनका प्रयोग करना चाहिए। गर्व में, विलास, बिब्बोक, ललित, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, स्तम्भ और मान करने में 'निहञ्चित' शिर का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३१-३२ ॥

अनुवाद—जब शिर को पीछे की ओर मोड़ दिया जाता है तो 'परावृत्त' शिरोऽभिनय कहलाता है। इस अभिनय का विनियोग मुख को मोड़ने अर्थात् विमुख होने और पीछे की ओर देखने आदि में किया जाता है ॥ ३३ ॥

१. ख. उत्क्षिप्तबाहुशिरसस्तथाऽञ्चितशिरोधरः ।
ग. उत्क्षिप्तबाहुशिखरं निकुञ्चितशिरोधरम् ।
क-द. उत्क्षिप्तं चाङ्गशीर्षं च निकुञ्चितशिरोधरम् ।

२. क. मनाक् ।

३. ग निहञ्चितं शिरो ज्ञेयं स्त्रीणामेतत्प्रयोजयेत् ।

४. ख. ग. गर्वे विलासे ललिते बिब्बोके किलकिञ्चिते ।
क-ब. गर्वे माने विलासे च कम्पे च किलकिञ्चिते ।
क. द. गर्वे विलासे बिम्बोके ललिते किलकिञ्चिते ।

५. क. ग. मोट्टायिते कुट्टमिते स्तम्भे माने निहञ्चितम् ।
क-न. तथा कुट्टमिते चैव निहञ्चितमिति स्मृतम् ।

६. ख. ग. परावृत्तं शिरः स्मृतम् । क-न. परावृत्तं तु तच्छिरः ।
क-च. पृच्छतः प्रेक्षणादिषु । क-द. पृष्ठतः क्षेपणादिषु ।

उत्क्षिप्तं चापि विज्ञेयमुन्मुखावस्थितं शिरः ।
[1]प्रांशुदिव्यास्त्रयोगेषु स्याद्रुत्क्षिप्तं प्रयोगतः ॥ ३४ ॥
[2]अधोमुखं स्थितं चापि बुधाः प्राहुरधोगतम् ।
लज्जायां च प्रणामे च दुःखे चाधोगतं [3]शिरः ॥ ३५ ॥
[4]सर्वतो भ्रमणाच्चैव शिरः स्यात् परिलोलितम् ।
[5]मूर्च्छाव्याधिमदावेशग्रहनिद्रादिषु स्मृतम् ॥ ३६ ॥

अनुवाद—जब शिर ऊपर की ओर उन्मुख होकर अवस्थित होता है तो 'उत्क्षिप्त' शिरोऽभिनय कहलाता है। उच्च वस्तुओं के दर्शन में तथा दिव्य अस्त्र की प्राप्ति में इस अभिनय का प्रयोग करना चाहिए ॥ ३४ ॥

अनुवाद—यदि शिर को नीचे की ओर झुका लिया जाय तो 'अधोगत' कहलाता है। इसका विनियोग लज्जा, दुःख प्रकट करने तथा प्रणाम करने में किया जाता है ॥ ३५ ॥

अनुवाद—जब शिर को चारों ओर घुमाया जाता है तो 'लोलित' नामक शिरोऽभिनय कहलाता है। मूर्च्छा में, रुग्णावस्था में, मद में, आवेश में, ग्रहों से आविष्ट होने तथा निद्रा आदि में इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ३६ ॥

---

१. क. ग. पांशुदिव्यार्थमोगेषु स्यादुत्क्षिप्तं प्रयोगतः ।
क–द. प्रांशुदिव्यार्थयोगेषु स्यादाक्षिप्तं प्रयोगतः ।
२. ख. अधोमुखं स्थितं चापि शिरः प्राहुरधोगतम् ।
ग. अधोमुखस्थितं चापि शिरः प्राहुरधोमुखम् ।
३. ख. ग. भवेत् ।
४. ख. ग. सर्वतो लोलनाच्चापि शिरः स्यात्परिलोलितम् ।
क. सर्वतो भ्रमणाच्चैव शिरो लोलितमुच्यते ।
५. ख. मूर्च्छाव्याधिमदावेशगृहनिद्रादिषु स्मृतम् ।
क–म. व्याधिते मूर्च्छिते मत्ते कर्तव्यं लोलितं बुधैः ।

ऋजुस्वभावसंस्थानं प्राकृतं तु स्वभावजम् ।
मंगल्याध्ययनध्यानस्वभावजयकर्मसु[1] ॥ ३७ ॥

एभ्योऽन्ये बहवो भेदा लोकाभिनयसंश्रिताः[2] ।
ते च लोकस्वभावेन प्रयोक्तव्याः प्रयोक्तृभिः ॥ ३८ ॥

[3]त्रयोदशविधं ह्येतच्छिरः कर्म[4] मयोदितम्[5] ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि [6]दृष्टीनामिह लक्षणम् ॥ ३९ ॥
कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा ।
रौद्री वीरा च बीभत्सा विज्ञेया रसदृष्टयः ॥ ४० ॥

अनुवाद—सरल स्वभाव में प्रकृत अवस्था में शिर का स्थित होना 'स्वभावज' शिरोऽभिनय कहलाता है। माङ्गलिक कार्य, अध्ययन, ध्यान एवं स्वाभाविक कार्यों में इसका अभिनय करना चाहिए ॥ ३७ ॥

अनुवाद—इनके अतिरिक्त सामान्य लोकाभिनय के आधार पर शिरोऽभिनय के अन्य अनेक भेद हो सकते हैं। नाट्य-प्रयोक्ताओं को लोक-स्वभाव के अनुसार उनका प्रयोग करना चाहिए ॥ ३८ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने तेरह प्रकार के शिरःकर्म (शिरोऽभिनय) का विवेचन किया है। अब इसके बाद दृष्टियों के लक्षण और प्रकारों का कथन करूँगा ॥ ३९ ॥

दृष्टि के अभिनय

अनुवाद—कान्ता, भयानका, हास्या, करुणा, अद्भुता, रौद्री, वीरा और बीभत्सा ये आठ रस दृष्टियाँ है ॥ ४० ॥

१. ख. ग. घ. पुस्तकेषु अयं श्लोको नास्ति ।
२. क–ग. लोकाभिनयसंश्रयाः ।
३. क–द. चतुर्दशविधं ।
४. ख. शिरःकर्म ।
५. क–प. प्रयोजितम् ।
६. क. दृष्टीनामपि ।

स्निग्धा हृष्टा च दीना च क्रुद्धा दृप्ता [1]भयान्विता ।
[2]जुगुप्सिता विस्मिता च स्थायिभावेषु दृष्टयः ॥ ४१ ॥

शून्या च मलिना चैव श्रान्ता लज्जान्विता तथा ।
ग्लाना च शङ्किता चैव विषण्णा मुकुला तथा ॥ ४२ ॥

कुञ्चिता चाभितप्ता[3] च जिह्मा सललिता तथा ।
वितर्किताऽर्धमुकुला विभ्रान्ता[4] विप्लुता तथा ॥ ४३ ॥

आकेकरा विकोशा च [6]त्रस्ता च मदिरा तथा ।
षट्त्रिंशद् दृष्टयो ह्येता तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्[7] ॥ ४४ ॥

अनुवाद--स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भयान्विता, जुगुप्सिता और विस्मिता ये आठ स्थायीभावों में प्रयुक्त होने वाली दृष्टियाँ हैं ॥ ४१ ॥

अनुवाद--शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, ग्लाना, शङ्किता, विषण्णा, मुकुला, कुञ्चिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विलुप्ता, आकेकरा, विकोशा, त्रस्ता और मदिरा ये बीस स्थायीभाव दृष्टियाँ हैं। इस प्रकार ये सब मिलाकर ३६ दृष्टियाँ हैं। इनमें नाट्य प्रतिष्ठित है ॥ ४२-४४ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में आठ रसदृष्टियाँ, आठ स्थायीभाव दृष्टियाँ और बीस व्यभिचारीभाव दृष्टियाँ कुल छत्तीस दृष्टिभेदों का निरूपण किया गया है जिनके द्वारा विविध रसों का उन्मेष होता है। कुमारस्वामी ने आठ अन्य दृष्टियों को स्वीकार कर कुल चौवालीस दृष्टियाँ मानी हैं। अभिनयदर्पण में केवल आठ दृष्टियों का निरूपण किया गया है। भरतार्णव में नाट्यशास्त्र के अनुसार छत्तीस दृष्टियाँ स्वीकार की गई है और उनके नाम

---

१. क–द. दृप्ता भयात्मिका। क–च. दम्भा भयात्मिका।

२. क–प. जुगुप्सा विस्मिता चैव।

३. क-साभियाना।

४. क–द. विक्रान्ता विप्लुता।

६. ख. त्रस्ताऽथ।

७. ख. ग. नामतोऽभिहिता मया।

अस्य दृष्टिविधानस्य नानाभावरसाश्रयम्[1] ।
लक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि यथाकर्म प्रयोगतः ॥ ४५ ॥
हर्षप्रसादजनिता कान्तात्यर्थं [2]समन्मथा ।
[3]सभ्रूक्षेपकटाक्षा च शृङ्गारे दृष्टिरिष्यते ॥ ४६ ॥
प्रोद्वृत्तनिष्टब्धपुटा स्फुरदुद्वृत्ततारका[4] ।
[5]दृष्टिर्भयानकात्यर्थं भीता ज्ञेया भयानके ॥ ४७ ॥

और लक्षण भी नाट्यशास्त्र के अनुसार ही स्वीकृत हैं। भरतार्णव में जो छत्तीस प्रकार के दृष्टिभेद निरूपित हैं, अभिनयदर्पण में कथित आठ भेद उनसे पृथक् हैं। अतः दोनो एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार नन्दिकेश्वर के मतानुसार चौवालीस प्रकार की दृष्टियाँ स्वीकृत हैं। सम्भवत: इसी आधार पर कुमार स्वामी ने चौवालीस दृष्टियाँ स्वीकार की है। सङ्गीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में नाट्यशास्त्र के अनुसार छत्तीस दृष्टियाँ ही स्वीकार की गई हैं।

रस-दृष्टियाँ

अनुवाद--अब मैं रस दृष्टि-विधान के अनेक रसों एवं भावों के आश्रित कर्म और प्रयोग के अनुसार लक्षण को कहता हूँ ॥ ४५ ॥

अनुवाद—हर्ष और प्रसाद (प्रसन्नता) से उत्पन्न होने वाली, अत्यन्त कान्त, कामोत्पादक, भ्रूक्षेप और कटाक्ष से युक्त दृष्टि 'कान्ता' दृष्टि कही जाती है। इसका प्रयोग शृङ्गार रस में इष्ट है ॥ ४६॥

अनुवाद---जब पलक ऊपर को ओर उठे हुए स्तब्ध (स्थिर) हो जायँ और फड़कती हुई पुतलियाँ चञ्चल हों और अत्यन्त भीत दृष्टि हो तो 'भयानक' दृष्टि होती है। भयानक रस में इसका विनियोग करना चाहिए ॥ ४७ ॥

---

१. ग. रसाश्रितम् ।

२. क. घ. समन्यथा ।

३. क-प. भ्रूविक्षेपकटाक्षा च ।

४. ख. प्रस्फुरद्वृत्ततारका ।

५. क-प. दृष्टिर्भयानकेत्यर्थं हीना ज्ञेया भयानका ।

क्रमादाकुञ्चितपुटा [1]विभ्रान्ताकुलतारका ।
हास्या दृष्टिस्तु कर्त्तव्या कुहकाभिनयं प्रति ॥ ४८ ॥
[2]पतितोर्ध्वपुटा साश्रा मन्युमन्थरतारका ।
नासाग्रानुगता दृष्टिः करुणा करुणे रसे ॥ ४९ ॥
या [3]त्वाकुञ्चितपक्ष्माग्रा साश्चर्योद्वृत्ततारका[4] ।
सौम्या विकसितान्ता च साद्भुता दृष्टिरद्भुते ॥ ५० ॥

अनुवाद--जब दोनों पलकें क्रमशः सङ्कुचित (सिकुड़ी हुई) हों, और दोनों पुतलियाँ अतिशय भ्रान्त घूमती हुई आकुल हों तो 'हास्या' नामक दृष्टि कही जाती है। ऐन्द्रजालिक, चालाकी और विस्मापक अभिनय में इस दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४८ ॥

अनुवाद—जिसमें ऊपर की दोनों पलकें नीचे की ओर गिरी हुई हों, आँसुओं से भरी हुई हों, क्रोध या शोक के कारण पुतलियाँ शिथिल हो गई हों और दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थित (गड़ी हुई) हो, वह 'करुणा' दृष्टि कहलाती है। इसका प्रयोग करुण रस में होता है ॥ ४९ ॥

अनुवाद—जिसमें बरौनियाँ अग्रभाग पर थोड़ी सिकुड़ी हुई हों, और पुतलियाँ आश्चर्य से ऊपर उठी हुई हों, सौम्य और विकसित कटाक्षों वाली वह दृष्टि 'अद्भुता' दृष्टि कहलाती है। अद्भुत रस के अभिनय में इसका प्रयोग होता है ॥ ५० ॥

---

१. क. ग. सविभ्रान्ताल्पतारका ।
२. क–म. चकितोर्ध्वपुटा । क-प. प्रतीतोर्ध्वपुटा ।
३. ग. या चाकुञ्चितपक्ष्माग्रा ।
४. क. ग. साश्चर्योद्वृत्ततारका ।

क्रूरा [1]रूक्षारुणोद्वृत्तनिष्टब्धपुटतारका ।
भ्रुकुटीकुटिला दृष्टिः रौद्रे रौद्री रसा स्मृता ॥ ५१ ॥

दीप्ता विकसिता क्षुब्धा गम्भीरा समतारका ।
उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु वीरा वीररसाश्रया ॥ ५२ ॥

निकुञ्चितपुटापाङ्गा [2]घूर्णोपप्लुततारका ।
संश्लिष्टस्थिरपक्ष्मा[3] च बीभत्सा दृष्टिरिष्यते ॥ ५३ ॥

[4]नासाग्रसक्ता निमिषा तथाधोभागचारिणी ।
आकेकरपुटा शान्ते शान्ता दृष्टिर्भवेदसौ ॥ ५४ ॥

अनुवाद—जो दृष्टि क्रूर, रूखी (रुक्ष), लाल एवं घूमने वाली हों, पलकें और पुतलियाँ स्थिर हों तथा भ्रुकुटी कुटिल हो, वह 'रौद्री' दृष्टि कहलाती हैं। रौद्र रस के अभिनय में इसका विनियोग किया जाता है ॥ ५१ ॥

अनुवाद—जो दृष्टि दीप्त (चमकने वाली), विकसित, क्षुब्ध, गम्भीर और सम ताराओं वाली हों और जिसका मध्यभाग खिला हुआ हो वह 'वीर' दृष्टि कहलाती है। वीर रस के अभिनय में इसका विनियोग किया जाता है ॥ ५२ ॥

अनुवाद—निकुञ्चित अर्थात् सिकुड़े हुए पलकों और अपाङ्गों (कटाक्षों) वाली, घूमते हुए चञ्चल ताराओं वाली, सटी हुई और स्थिर बरौनियों वाली दृष्टि 'बीभत्स' दृष्टि कहलाती हैं। बीभत्स रस के अभिनय में इसका विनियोग किया जाता है ॥ ५३ ॥

अनुवाद—नासिका के अग्रभाग में आसक्त, निर्निमेष (अपलक) और नीचे की ओर जाने वाली तथा आकेकर पलकों वाली दृष्टि 'शान्ता' दृष्टि होती है। शान्त रस के अभिनय में इसका प्रयोग किया जाता ॥ ५४ ॥

---

१. ख. क्रूरा रुक्षारुणी वृत्तनिष्टब्धपुटतारका ।
२. ख. ग. घ. घूर्णोपप्लुततारका ।
३. ख. संश्लिष्टस्मितपक्षा ।
४. ख. घ पुस्तकयोरिदं पद्यं नास्ति ।

रसजा दृष्टयो ह्येता विज्ञेया लक्षणान्विता ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि स्थायिभावसमाश्रयाः ॥ ५५ ॥

व्याकोशमध्या मधुरा [1]स्थिततारामिलाषिणी ।
सानन्दाश्रुप्लुता दृष्टिः स्निग्धेयं रतिभावजा ॥ ५६ ॥

चला हसितगर्भा च [2]विशत्तारानिमेषिणी ।
किञ्चिदाकुञ्चिता दृष्टिः हृष्टा हासे प्रकीर्तिता ॥ ५७ ॥

विशेष—नाट्यशास्त्र के अनुसार आठ प्रकार की रस-दृष्टियाँ बताई गई हैं—'कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा । रौद्री वीरा च बीभत्सा विज्ञेया रस दृष्टयः' । किन्तु रस-दृष्टियों के लक्षण एवं विनियोग निरूपण के प्रसङ्ग में उपर्युक्त आठ रस-दृष्टियों के स्वरूप एवं विनियोग के निरूपण के पश्चात् 'शान्ता' नामक नवीं दृष्टि का भी लक्षण एवं विनियोग बताया गया है । इस प्रकार रस-दृष्टियाँ नौ हो जाती हैं । किन्तु कुछ संस्करणों में 'शान्ता' दृष्टि का निरूपण नहीं हैं । उनके मतानुसार रस-दृष्टियाँ आठ ही हैं । इनके द्वारा विविध रसों का सृजन होता है ।

अनुवाद—इस प्रकार उपरि निर्दिष्ट लक्षणों से समन्वित इन आठ दृष्टियों को रसजन्य समझना चाहिए । इसके बाद अब मैं स्थायीभावों से सम्बद्ध दृष्टियों का लक्षण बतलाऊँगा ॥ ५५ ॥

स्थायिभाव-दृष्टियाँ

अनुवाद—मध्यभाग में विकसित, मधुर, चाहभरी (अभिलाषयुक्त) स्थिर ताराओं वाली आनन्दजन्य आँसुओं से आप्लुत (भरी हुई) रतिभाव से उत्पन्न 'स्निग्धा' दृष्टि कहलाती हैं । रति स्थायीभाव के अभिनय में इसका विनियोग होता है ॥ ५६ ॥

अनुवाद—चञ्चल, हास्य से भरी हुई, भीतर की ओर घुसी हुई पुतलियों वाली, निर्निमेष और थोड़ी सी सिकुड़ी हुई दृष्टि 'हृष्टा' दृष्टि कहलाती हैं । 'हास' नामक स्थायीभाव के अभिनय में इसका विनियोग होता है ॥ ५७ ॥

---

१. ग. स्मरतारामिलषिणी । ख. स्मेरतारामिलाषिणी ।
२. ग. विशत्तारामिलाषिणी । ख. विश्वतारानिमेषिणी ।

अवत्रस्तोत्तरपुटा[1] किञ्चित्संरब्धतारका[2] ।
मन्दसञ्चारिणी दीना सा शोके दृष्टिरिष्यते ॥ ५८ ॥

रूक्षा स्थिरोद्वृत्तपुटा[3] निष्टब्धोद्वृत्ततारका ।
कुटिला भ्रुकुटिर्दृष्टिः क्रुद्धा क्रोधे विधीयते[4] ॥ ५९ ॥

संस्थिते तारके यस्याः स्थिता [5]विकसिता तथा ।
सत्त्वमुद्गिरती दृप्ता दृष्टिरुत्साहसम्भवा ॥ ६० ॥

विस्फारितोभयपुटा भयकम्पिततारका ।
निष्क्रान्तमध्या दृष्टिस्तु भयभावे भयान्विता ॥ ६१ ॥

अनुवाद--जिसमें ऊपर की पलकें कुछ झुकी हुई हों, पुतलियाँ कुछ ढँकी हुई हों और जो मन्द-मन्द सञ्चरण करने वाली हों वह 'दीना' दृष्टि कहलाती हैं। इसका विनियोग 'शोक' नामक स्थायीभाव के अभिनय में किया जाता है ॥ ५८ ॥

अनुवाद--रूक्षा (स्नेह-शून्य), स्थिरा, ऊपर की ओर उठे हुए पलकों वाली, निस्तब्ध (स्थिर) तथा ऊपर की ओर घूमने वाली पुतलियों वाली और टेढ़ी भौंहों वाली दृष्टि 'क्रुद्धा' दृष्टि कहलाती है। क्रोध नामक स्थायीभाव के अभिनय में इसका प्रयोग किया जाता है ॥ ५९ ॥

अनुवाद—जिसकी पुतलियाँ संस्थित (स्थिर) हों और नेत्र स्थिर एवं विकसित हों तथा सत्त्व को उगलती हुई दृष्टि 'दृप्ता' दृष्टि कहलाती है। उत्साह स्थायीभाव के अभिनय में इसका विनियोग होता है ॥ ६० ॥

अनुवाद—जिसमें दोनों पलकें पूरी तरह फैली हुई हों और पुतलियाँ भय से काँप रही हों और जिसका मध्यभाग (भय से) बाहर निकला हुआ हो वह 'भयान्विता' दृष्टि कहलाती है। 'भय' नामक स्थायीभाव के अभिनय में इसका प्रयोग होता है ॥ ६१ ॥

---

१. ख. ईषत्स्रस्तोत्तरपुटा । ग. अर्धस्रस्तोत्तरपुटा ।

२. क–ग. रुद्धतारा जलाविला ।

३. ख. ग. स्थिरोद्धत्तपुटा निष्टब्धोद्धततारका ।

४. ग. क्रोधेऽभिधीयते ।

५. क–ग. स्थिरा ।

संकोचितपुटाध्यामा[1] दृष्टिर्मीलिततारका ।
[2]लक्ष्मोद्देशात् समुद्विग्ना जुगुप्सायां जुगुप्सिता ॥ ६२ ॥
[3]भृशमुद्वृत्ततारा च नष्टोभयपुटान्विता ।
समा विकसिता दृष्टिर्विस्मिता विस्मये स्मृता ॥ ६३ ॥
स्थायिभावाश्रया ह्येता विज्ञेयाः [4]दृष्टयो बुधैः ।
संचारिणीनां दृष्टीनां संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ६४ ॥
समतारा समपुटा निष्कम्पा शून्यदर्शना ।
[5]बाह्यार्थाग्राहिणी ध्यामा शून्या दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ६५ ॥

अनुवाद—जिसमें दोनों पलकें सङ्कुचित हों और पुतलियाँ मीलित हों तथा जो लक्ष्य-स्थान से उद्विग्न (विचलित) हों, वह 'जुगुप्सिता' दृष्टि कहलाती हैं। 'जुगुप्सा' स्थायीभाव में इसका अभिनय होता है ॥ ६२ ॥

अनुवाद—जिसमें पुतलियाँ अत्यन्त घूमने वाली और दोनों पलकें खुली हुई हों तथा जो दृष्टि सम एवं विकसित हो उसे 'विस्मिता' दृष्टि कहते हैं। 'विस्मय' भाव के अभिनय में इसका प्रयोग किया जाता है ॥ ६३ ॥

अनुवाद—विद्वानों को इन दृष्टियों को स्थायीभावों के आश्रित समझनी चाहिए। अब मैं सञ्चारीभावों की दृष्टियों का लक्षण बतलाऊँगा ॥ ६४ ॥

सञ्चारीभाव-दृष्टियाँ

अनुवाद—सम ताराओं (पुतलियों) और सम पलकों वाली, कम्पन-रहित, शून्य दिखाई पड़ने वाली और बाह्य विषय को ग्रहण न करने वाली दृष्टि 'शून्या' दृष्टि कहलाती है ॥ ६५ ॥

---

१. ग ख. घ संकोचितपुटन्यासा ।
२. क-ग. लक्ष्योद्देशात् ।
३. ख विमलोद्धततारा च हृष्टोभयपुटान्विता ।
   क-प. विमलोद्वृत्ततारा च हृष्टो भयपुटान्विता ।
   क-घ. विस्मयोद्वृत्ततारा हृष्टो भयपुटान्विता ।
   क. भृशमुद्वृत्ततारात्र नष्टोभयपुटाञ्चिता ।
   ग. भृशमुद्वृत्ततारा या हृष्टोभयपुटाञ्चिता ।
४. ग. दृष्टयो लक्षिता मया । घ. लक्षिता दृष्टयो मया ।
५. ख-ग. घ. बाह्यार्थग्राहिणी क्षामा ।

[1]प्रस्पन्दमानपक्ष्माग्रा नात्यर्थमुकुलैः पुटैः ।
मलिनान्ता च मलिना दृष्टिर्विस्मिततारका[2] ॥ ६६ ॥
श्रमप्रम्लापितपुटा क्षामा कुञ्चितलोचना[3] ।
सन्ना पतिततारा च श्रान्ता दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥ ६७ ॥
किञ्चिदञ्चितपक्ष्माग्रा पतितोर्ध्वपुटा ह्रिया ।
[4]त्रपाधोगततारा च दृष्टिर्लज्जान्विता तु सा ॥ ६८ ॥
[5]म्लानभ्रूपुटपक्ष्मा या शिथिला मन्दचारिणी ।
[6]क्रमप्रवृष्टतारा च ग्लाना दृष्टिस्तु सा स्मृता ॥ ६९ ॥

अनुवाद—जिसमें बरौनियों का अग्रभाग कम्पित हो और पलकें अत्यन्त सिकुड़ी हुई न हों, नेत्रप्रान्त मलिन हों और तारायें (पुतलियाँ) विहत हों अर्थात् विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हों, उसे 'मलिना' दृष्टि कहते हैं ॥ ६६ ॥

अनुवाद—श्रम के कारण मलिन पलकों वाली, क्षामा (क्षीण), कुछ सिकुड़ी हुई कोने वाली, सन्न (स्तब्ध) और नीचे को गिरी हुई पुतलियों वाली दृष्टि 'श्रान्ता' दृष्टि कहलाती है ॥ ६७ ॥

अनुवाद—जिसमें बरौनियों के अग्रभाग कुछ अञ्चित हों और ऊपर की पलकें नीचे की ओर गिरी हुई हों तथा पुतलियाँ लज्जा से नीचे झुकी हुई हों उसे 'लज्जान्विता' दृष्टि कहते हैं ॥ ६८ ॥

अनुवाद—जिसमें भौंहें, पलकें और बरौनियाँ मलिन हों और जो शिथिल तथा मन्द-मन्द चलने वाली हों तथा श्रम के कारण पुतलियाँ भीतर घूमी हुई हों वह 'ग्लाना' दृष्टि कहलाती है ॥ ६९ ॥

---

१. क. प्रस्यन्दमानपक्ष्मा या । ख. ग. घ. प्रस्यन्दमानपक्ष्मान्ता ।

२. क–दृष्टिर्विभ्रान्ततारका । क-ध. दृष्टिर्विस्तृततारका ।
क-न. दृष्टिर्विकृततारका । क–च. दृष्टिर्विहततारका ।

३. क. ख. ग. घ. क्षामाञ्चितलोचना ।

४. ख. त्रपाधोमुखतारा ।

५. ख. म्लानभ्रूपुटपक्ष्मा ।

६. ख. क्लमप्रवृष्टतारा ।

किञ्चिच्चला स्थिरा किञ्चदुद्गता[1] तिर्यगायता[2] ।
गूढा[3] चकिततारा च शङ्किता[4] दृष्टिरिष्यते ॥ ७० ॥

विषादविस्तीर्णपुटा पर्यस्तान्ता निमेषिणी ।
किञ्चिन्निष्टब्धतारा च कार्या दृष्टिर्विषादिनी ॥ ७१ ॥

स्फुरदाश्लिष्टपक्ष्माग्रा[5] मुकुलोर्ध्वपुटाञ्चिता ।
सुखोन्मीलिततारा च मुकुला दृष्टिरिष्यते ॥ ७२ ॥

आनिकुञ्चितपक्ष्माग्रा पुटैराकुञ्चितैस्तथा ।
[6]संनिकुञ्चिततारा च कुञ्चिता दृष्टिरिष्यते ॥ ७३ ॥

अनुवाद—जो कुछ चञ्चल और कुछ स्थिर हो, कुछ ऊपर उठी हुई और कुछ तिरछी फैली हुई हों तथा जो गूढ़ और चकित पुतलियों वाली दृष्टि हो उसे 'शङ्किता' दृष्टि कहते हैं ॥ ७० ॥

अनुवाद—विषाद से विस्तीर्ण (फैली हुई) पलकों वाली, इधर-उधर बिखरे हुए नेत्र प्रान्त वाली तथा कुछ स्थिर (स्तब्ध) पुतलियों वाली, निमेषिणी अर्थात् पलक भाँजने वाली दृष्टि 'विषादिनी' दृष्टि होती है ॥ ७१ ॥

अनुवाद—जहाँ पर बरौनियों का अर्धभाग विकसित एवं आश्लिष्ट हों, ऊपर की पलकें कलियों के समान अञ्चित हों वह 'मुकुला' दृष्टि कहलाती है ॥ ७२ ॥

अनुवाद—आकुञ्चित (सिकुड़ी हुई) पलकों के कारण जिसकी बरौनियों का अग्रभाग निकुञ्चित (झुका हुआ) हो, और पुतलियाँ सिकुड़ी हुई हों, उसे 'कुञ्चिता' दृष्टि कहते हैं ॥ ७३ ॥

---

१. ख. किञ्चिदुत्तुङ्गा । ग. किञ्चिदुन्नता ।

२. ख. किञ्चिदायता ।

३. क—गूढ़ा चकिततारा च ।

४. ग. दृष्टिरुच्यते ।

५. ख. स्फुरिताश्लिष्टपक्ष्मार्धा ।

६. क. सन्ना कुञ्चिततारा च । क-प. सन्ना पतिततारा च ।

मन्दायमानतारा[1] या पुटैः प्रचलितैस्तथा ।
सन्तापोपप्लुता[2] दृष्टिरभितप्ता तु सव्यथा ॥ ७४ ॥

लम्बिताकुञ्चितपुटा शनैस्तिर्यङ्निरीक्षिणी[3] ।
[4]निगूढा गूढतारा च जिह्मा दृष्टिरुदाहृता ॥ ७५ ॥

मधुराकुञ्चितान्ता च [5]सभ्रूक्षेपा च सस्मिता ।
[6]समन्मथविकारा च दृष्टिः सा ललिता स्मृता ॥ ७६ ॥

वितर्कोद्वर्तितपुटा [7]तथैवोत्फुल्लतारका ।
[8]अधोगतविचारा च [9]दृष्टिरेषा वितर्किता ॥ ७७ ॥

अनुवाद—चञ्चल पलकों के हिलने से अलसाई हुई पुतलियों वाली, सन्ताप से उपप्लुत (डूबी हुई) और व्यथा से युक्त दृष्टि 'अभितप्ता' दृष्टि कहलाती है ॥ ७४ ॥

अनुवाद—धीरे-धीरे तिरछी चितवन के कारण कुछ झुकी हुई और कुछ सिकुड़ी हुई तथा गूढ़ और अचकित (न घबड़ाई हुई) दृष्टि 'जिह्मा' दृष्टि कही जाती है ॥ ७५ ॥

अनुवाद—मधुर, कुञ्चित अर्थात् सिकुड़े हुए नेत्र प्रान्त वाली, भ्रूविक्षेप से युक्त मुस्कराने वाली और काम-विकारों को प्रकट करने वाली दृष्टि 'ललिता' दृष्टि कहलाती है ॥ ७६ ॥

अनुवाद—तर्क-वितर्क के कारण ऊपर उठी हुई पलकों वाली और खिली हुई पुतलियों वाली तथा नीचे की ओर सञ्चरण करने वाली दृष्टि 'वितर्किता' कही जाती है ॥ ७७ ॥

---

१. क-म. मन्दायमाना तारा या ।
२. क-न. सञ्चारोपप्लुता ।
३. क. निरीक्षणैः ।
४. क-घ. गूढा चकिततारा च ।
५. ख. सभ्रूक्षेपाऽथ सस्मिता ।
६. क-च. समन्मथविकासा च ।
७. क. तथैवोद्वृत्ततारका ।
८. क. अधोमुखविकारा च । क-न. अधोभागविचारा च ।
९. ख. दृष्टिरिष्टा ।

[1] अर्धव्याकोशपक्ष्मा च ह्लादार्थमुकुलैः पुटैः ।
[2]स्मितार्धमुकुला दृष्टिः किञ्चिल्लुलिततारका ॥ ७८ ॥
[3]अनवस्थिततारा च विभ्रान्ताकुलदर्शना ।
[4]विस्तीर्णोत्फुल्लमध्या च विभ्रान्ता दृष्टिरुच्यते[5] ॥ ७६ ॥
पुटौ स्फुरितौ यस्य[6] निष्टब्धौ प्रतितौ पुनः ।
विप्लुतोद्वृत्ततारा च दृष्टिरेषा तु विप्लुता ॥ ८० ॥
आकुञ्चितपुटापाङ्गा[7] सङ्गतार्धनिमेषिणी ।
मुहुर्व्यावृत्ततारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता ॥ ८१ ॥

अनुवाद—आधी खुली हुई बरौनियों वाली, अर्धमुकुलित पलकों से विकसित और कुछ-कुछ हिलती हुई ताराओं वाली दृष्टि 'अर्धमुकुला' दृष्टि कहलाती है ॥ ७८ ॥

अनुवाद—जो दृष्टि अनवस्थित रूप से घूमती हुई पुतलियों और पलकों वाली हैं और नेत्र विस्तीर्ण (फैले हुए) एवं उत्फुल्ल (विकसित) हों, उसे 'विभ्रान्ता' दृष्टि कहते हैं ॥ ७९ ॥

अनुवाद—जिसकी दोनों पलकें क्रमशः प्रस्फुरित, स्तब्ध (स्थिर) और फिर गिरी हुई और पुतलियाँ ऊपर उठकर डूबी हुई हों, उसे 'विप्लुता' दृष्टि कहते हैं ॥ ८० ॥

अनुवाद—आकुञ्चित (कुछ सिकुड़ी हुई) पलकों और अपाङ्गों वाली, एक दूसरे से मिले हुए अर्धनिमेष वाली और बार-बार घूमती हुई पुतलियों वाली दृष्टि 'आकेकरा' दृष्टि कहलाती है ॥ ८१ ॥

---

१. ख. अर्धव्याकोशतारा ।
२. क–ग. स्मृतार्धमुकुला ।
३. ख. विभ्रान्ततारका या तु विभ्रान्तपुटदर्शना ।
क-छ. अनवस्थितनेत्रा या तथा विभ्रान्ततारका ।
४. क. विस्तीर्णोत्फुलनयना ।
५. क. ग. ङ. दृष्टिरिष्यते ।
६. क. ग. यस्या ।
७. क-प. आकुञ्चितपुटापाङ्गसङ्गतार्धनिमेषिणी ।

विकोशितोभयपुटा[1] प्रोत्फुल्ला [2]चानिमेषिणी ।
अनवस्थिततारा[3] च विकोशा [4]दृष्टिरुच्यते ॥ ८२ ॥
त्रासोद्वृत्तपुटा या तु तथोत्कम्पिततारका[5] ।
सन्त्रासोत्फुल्लमध्या[6] च त्रस्ता[7] दृष्टिरुदाहृता ॥ ८३ ॥
आघूर्णमानमध्या[8] या क्षामान्ताञ्चितलोचना ।
दृष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे ॥ ८४ ॥

अनुवाद—जिसमें दोनों पलकें विकसित, खिली हुई और निर्निमेष (अपलक) हों तथा तारायें अनवस्थित (चञ्चल) हों, तो उसे 'विकोशा' दृष्टि कहते हैं ॥ ८२ ॥

अनुवाद—जिसमें पलकें त्रास के कारण ऊपर उठी हुई हों और पुतलियाँ उत्कम्पित हों तथा सन्त्रास से जिसका मध्यभाग विकसित हो, तो उसे 'त्रस्ता' दृष्टि कहते हैं ॥ ८३ ॥

अनुवाद—जिस दृष्टि का मध्यभाग घूमने वाला हो, नेत्रप्रान्त (आँखों के कोने) क्षीण हों और आँखें झुकी हुई हों तथा अपाङ्ग पूर्ण विकसित हों, तो उसे 'मदिरा' दृष्टि कहते हैं। इस प्रकार की दृष्टि तरुणमद में होती है ॥ ८४ ॥

---

१. क-छ. विकासितोभयपुटा । क-च. विकोशितभयपुटा ।
२. क-प. प्रोत्फुल्ला च निमेषिणी ।
३. क-ङ. अनवस्थितसंचारा ।
४. क. ग. ङ. विशोका दृष्टिरिष्यते ।
५. ख. घ. त्रासोत्कम्पिततारका ।
६. क-प. त्रासादुत्फुल्लमध्या ।
७. क-ङ. स्रस्ता । क-न. सुप्ता ।
८. ख. ग. व्याघूर्णमानमध्या ।

किञ्चिदाकुञ्चितपुटा ह्यनवस्थिततारका[1] ।
[2]तथा चलितपक्ष्मा च दृष्टिर्मध्यमदे[3] भवेत्[4] ॥ ८५ ॥
[5]सनिमेषानिमेषा च किञ्चिद् दर्शिततारका ।
अधोभागचरो दृष्टिरधमे [6]तु मदे स्मृता ॥ ८६ ॥
इत्येवं लक्षिता ह्येता[7] षट्त्रिंशद् दृष्टयो मया ।
[8]रजसा भावजाश्चासां विनियोगं निबोधत ॥ ८७ ॥

अनुवाद—जिस दृष्टि की पलकें कुछ सिकुड़ी हुई हों और अनवस्थित पुतलियाँ कुछ-कुछ हिलती हुई हों तथा बरौनियाँ कुछ चञ्चल हों तो इस प्रकार की 'मदिरा' दृष्टि मध्यम मद में होती है ॥ ८५ ॥

अनुवाद—जो दृष्टि कभी निमेष और कभी निर्निमेष हो और जिसमें पुतलियाँ कुछ-कुछ दिखाई पड़ती हो तथा नीचे की ओर सञ्चरण करती हो तो इस प्रकार की 'मदिरा' दृष्टि अधम मद में होती हैं ॥ ८६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने रस और भावों से उत्पन्न इन छत्तीस प्रकार की दृष्टियों का लक्षण बतलाया है। अब मैं इन रस और भावों की अभिव्यञ्जक छत्तीस दृष्टियों का विनियोग बतलाता हूँ, आप लोग समझें ॥ ८७ ॥

---

१. क. ङ. किञ्चिल्लुलिततारका ।
२. क. ङ. अनवस्थितसञ्चारा । क-न. तथा लुलितपक्ष्मा च ।
३. क-छ. मध्ये मदे ।
४. श्लोकार्धोऽयं 'ग' पुस्तके नास्ति ।
५ क. ङ. सनिमेषोन्निमेषा । क-ध. सन्निमेषोन्निमेषा ।
६. क-न. अधमे तु प्रकीर्त्तिता ।
७. ख पुस्तके 'ह्येता' इति नास्ति । क. ङ. ह्येषाः ।
८. क. सहजा ।

[1]रसजास्तु रसेष्वेव स्थायिषु स्थायिदृष्टयः ।
[2]शृणुत व्यभिचारिण्यः सञ्चारिषु यथास्थिताः[3] ॥ ८८ ॥
शून्या दृष्टिस्तु चिन्तायां स्तम्भे चापि प्रकीर्तिता[4] ।
निर्वेदे चापि मलिना वैवर्ण्ये च विधीयते ॥ ८९ ॥
श्रान्ता श्रमार्ते[5] स्वेदे च लज्जायां ललिता[6] तथा ।
अपस्मारे तथा व्याधौ ग्लान्यां[7] ग्लाना विधीयते ॥ ९० ॥

अनुवाद— इनमें रस दृष्टियों का रसों में, स्थायीभाव दृष्टियों का स्थायीभावों में विनियोग किया जाता है। यह पहिले बतलाया जा चुका है। अब व्यभिचारीभाव दृष्टियों का सञ्चारीभावों में जिस प्रकार विनियोग किया जाता है उसे सुनिये ॥ ८८ ॥

अनुवाद—चिन्ता नामक व्यभिचारीभाव के अभिनय में 'शून्या' दृष्टि और 'अभितप्ता' दृष्टि का विनियोग किया जाता है। पाठभेद के अनुसार चिन्ता व्यभिचारीभाव और स्तम्भ सात्त्विक भाव में 'शून्या' दृष्टि का प्रयोग किया जाता है तथा निर्वेद और वैवर्ण्य व्यभिचारीभाव को प्रकट करने में 'मलिना' दृष्टि का विनियोग किया जाता है ॥ ८९॥

अनुवाद—श्रम और स्वेद के भाव को प्रकट करने में 'श्रान्ता' दृष्टि का और लज्जा में 'लज्जिता' दृष्टि का तथा अपस्मार, व्याधि और ग्लानि में 'ग्लाना' दृष्टि का विनियोग किया जाता है ॥ ९० ॥

---

१. क-ङ. रसजा स्वरसेष्वेव । क-प. रसास्पदा ।
२. ख. शृणुध्वम् ।
३. ख. यथा हि ताः ।
४. क. ङ. अभितप्तापि कीर्तिता ।
५. ख. श्रमार्त्तौ ।
६. ख. लज्जिता ।
७. ख. ग. ग्लाने ग्लाना ।

शङ्कायां शङ्किता ज्ञेया विषादार्थे विषादिनी ।
निद्रास्वप्नसुखार्थेषु[1] मुकुला दृष्टिरिष्यते ॥ ९१ ॥

[2]कुञ्चितासूयितानिष्टदुष्प्रेक्षाक्षिव्यथासु च ।
अभितप्ता च निर्वेदे ह्यभिघाताभितापयोः[3] ॥ ९२ ॥

जिह्मा दृष्टिरसूयायां जडतालस्ययोस्तथा ।
[4]धृतौ हर्षे सललिता स्मृतौ तर्के च तर्किता ॥ ९३ ॥

आह्लादिष्वर्धमुकुला[5] गन्धस्पर्शसुखादिषु ।
विभ्रान्ता दृष्टिरावेगे सम्भ्रमे विभ्रमे तथा ॥ ९४ ॥

अनुवाद—शङ्का में 'शङ्किता' दृष्टि, विषाद में 'विषादिनी' दृष्टि और निद्रा स्वप्न एवं प्रसन्नता के भाव अभिव्यक्त करने में 'मुकुला' दृष्टि का विनियोग किया जाता है ॥ ९१ ॥

अनुवाद—असूया, अनिष्ट, दुष्प्रेक्ष्य और आंखों की पीड़ा में 'कुञ्चिता' दृष्टि का तथा निर्वेद, आकस्मिक चोट और अभिताप में 'अभितप्ता' दृष्टि का विनियोग किया जाता है ॥ ९२ ॥

अनुवाद—असूया, जड़ता और आलस्य के भाव प्रकट करने में 'जिह्मा' दृष्टि, धैर्य एवं हर्ष में 'ललिता' दृष्टि और स्मृति तथा तर्क में 'वितर्किता' दृष्टि का विनियोग किया जाता है ॥ ९३ ॥

अनुवाद—गन्ध, स्पर्श, सुख आदि से होने वाले आनन्द में 'अर्धमुकुला' और आवेग, सम्भ्रम एवं विभ्रम में 'विभ्रान्ता' दृष्टि का विनियोग किया जाता है ॥ ९४ ॥

---

१. क–ङ. निद्रास्वप्नसुखार्त्तेषु ।

२. क–न. कुञ्चितं सूति या दृष्टा ।
क–प कुञ्चितासूचितानिष्टनिष्प्रेक्षाक्षिव्यथासु च ।

३. क–ङ. ह्यभियातितापयोः ।

४. ख. धृतौ हर्षे सललिता स्मृता तर्के च तर्किता ।
क–प. ललिता ललितार्थेषु स्मृता तर्के च तर्किता ।

५. ख ग. आह्लादिष्वर्धमुकुला ।

विप्लुता [1]चपलोन्मादुःखार्तिमरणादिषु ।
आकेकरा दुरालोके विच्छेदप्रेक्षितेषु[2] च ॥ ९५ ॥

[3]विबोधगर्वामर्षौग्रचमतिषु स्याद्विकोशिता[4] ।
त्रस्ता त्रासे भवेद् दृष्टिर्मदिरा च मदेष्विति[5] ॥ ९६ ॥

षट्त्रिंशद् दृष्टयो ह्येता यथावत् समुदाहृताः[6] ।
रसजानां तु दृष्टीनां भावजानां तथैव च ॥ ९७ ॥

तारापुटभ्रुवां कर्म गदतो मे निबोधत ।

अनुवाद—चपलता, उन्माद दुःख, व्यथा, मरण आदि में 'विप्लुता' दृष्टि का और कठिनाई से दिखाई देने वाले पदार्थ एवं विच्छिन्न वस्तु के देखने में 'आकेकरा' दृष्टि का विनियोग किया जाता है ॥ ९५ ॥

अनुवाद—विबोध, अमर्ष, गर्व, उग्रता तथा मति में 'विकोशिता' दृष्टि का और त्रास में 'त्रस्ता' तथा मद में 'मदिरा' दृष्टि का विनियोग करना चाहिए ॥ ९६ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने इन छत्तीस प्रकार को दृष्टियों का समुचित वर्णन किया है। अब मैं रस और भाव जन्य दृष्टियों में होने वाले पुतलियों, पलकों तथा भौंहों के कर्म को कहता हूँ, आप लोग समझें ॥ ९७-९८ ॥

---

१. ख. ग. विधुता चापलोन्माद० । क–छ. विधुरा चपलोन्माद० ।
२. क–ङ. विच्छेदे प्रोषितेषु च ।
३. ख. विबोधामर्षगर्वोग्रचमतिषु ।
४. ग. विकासिता ।
५. क–छ मदेष्वपि ।
६. ख. प्रतिपादिताः ।

भ्रमणं वलनं पातश्चलनं सम्प्रवेशनम् ॥ ९८ ॥
विवर्तनं समुद्वृत्तं निष्क्रामः प्राकृतं तथा ।
[1]एतानि नवकर्माणि ताराकर्म द्विजोत्तमाः ॥ ९९ ॥
शृणुध्वं लक्षणं तावत् साम्प्रतं प्रीतितः स्फुटम् ।
[2]पुटान्तर्मण्डलावृत्तिस्तारयोर्भ्रमणं स्मृतम् ॥ १०० ॥
वलनं गमनं त्र्यस्त्रं पातनं स्त्रस्तता तथा ।
चलनं कम्पनं [3]ज्ञेयं प्रवेशोऽन्तःप्रवेशनम् ॥ १०१ ॥
विवर्तनं कटाक्षस्तु समुद्वृत्तं समुन्नतिः ।
निष्क्रामो निर्गमः प्रोक्तः प्राकृतं तु स्वभावजम्[4] ॥ १०२ ॥

पुत्तलिका कर्म

अनुवाद—हे उत्तम द्विजों ! भ्रमण, वलन, पात, चलन, सम्प्रवेशन, विवर्त्तन, समुद्वृत्त, निष्क्राम और प्राकृत ये नव प्रकार के पुतलियों के कार्य होते हैं ॥ ९८-९९ ॥

विमर्श—आँख की पुतलियों के माध्यम से होने वाली विभिन्न प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति 'तारा' अभिनय है। नाट्यशास्त्र में ताराकर्म के नौ प्रकार बताये गए हैं—भ्रमण, वलन, पातन, चलन, प्रवेशन, विवर्त्तन, समुद्वृत्त, निष्क्राम और प्राकृत। संगीत-रत्नाकर और नृत्याध्याय में ताराकर्म के दो प्रकार बताये गये हैं। आत्मनिष्ठ और विषयाभिमुख। आत्मनिष्ठ ताराकर्म के नौ भेद बताये गये हैं जो नाट्यशास्त्र में वर्णित भेदों के समान हैं। संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में विषयाभिमुख ताराकर्म के आठ भेद बताये गये हैं—सम, साची, अनुवृत्त, अवलोकित, विलोकित, आलोकित, उल्लोकित और प्रविलोकित। नाट्यशास्त्र में इन्हें दर्शन (अवलोकन) भेद के नाम से स्वीकार किया गया है। अभिनयदर्पण में इन आठ भेदों को दृष्टिभेद कहा गया है ॥ ९८-९९ ॥

---

१. ख. ग. घ. पुस्तकेष्वयं श्लोको नास्ति ।

२. ख. पर्यस्तं मण्डलावृत्तिस्तारयोर्भ्रमणं । क-प. पर्यस्तमण्डलावृत्तिस्तारयोर्भ्रमणं ।

३. क. ज्ञेयः ।

४. क-प. प्राकृतस्तु स्वभावजः ।

[1]अथैषां [2]रसभावेषु विनियोगं [3]निबोधत ।
भ्रमणं [4]चलनोद्वृत्ते निष्क्रामो वीररौद्रयोः ॥ १०३ ॥
निष्क्रामणं संवलनं कर्तव्यं तु भयानके ।
हास्यबीभत्सयोश्चापि प्रवेशनमिहेष्यते ॥ १०४ ॥
पातनं करुणे कार्यं निष्क्रामणमथाद्भुते ।
प्राकृतं शेषभावेषु शृङ्गारे च विवर्तितम्[5] ॥ १०५ ॥

अनुवाद—हे मुनियों ! अब प्रीतिपूर्वक ताराकर्म के स्फुट लक्षण सुनिये—पलकों के भीतर पुतलियों का मण्डलाकार घूमना 'भ्रमण' है, पुतलियों का तिरछी घुमान 'वलन' है और पुतलियो का ऊपर से नीचे गिराना 'पातन' है। पुतलियों का कम्पन 'चलन' है, पलकों के भीतर पुतलियों का प्रवेश करना 'संप्रवेशन' है। कटाक्ष करना 'विवर्त्तन' हैं, पुतलियों का ऊपर की ओर घुमाना या उन्नत करना 'समुद्वृत्त' है, पुतलियों का बाहर निकलना 'निष्क्राम' है और स्वाभाविक स्थिति में रहना 'प्राकृत' कर्म कहलाता है ॥ १००-१०२ ॥

अनुवाद—अब रस और भावों में इन पुत्तलिका कर्म के विनियोग को समझिये भ्रमण, वलन, उद्वृत्त और निष्क्राम का विनियोग वीर और रौद्र रस में होता है। भयानक रस में निष्क्राम और वलन का प्रयोग करना चाहिए। हास्य और बीभत्स रस में सम्प्रवेशन का और करुण रस में पातन का तथा अद्भुत रस में निष्क्राम का विनियोग करना चाहिए। अवशिष्ट भावों में प्राकृत का और शृङ्गार रस में विवर्त्तित का विनियोग किया जाना चाहिए ॥ १०३-१०५ ॥

---

१. ख. तथैषां ।
२. क-ङ. रसभावानां ।
३. क-प. शृङ्गारे च विवर्धनम् ।
४. क-ङ. वलनोद्वृत्ते । क-ङ. वलनोद्वृत्तं कर्त्तव्यं ।
५. क-ध. विवर्त्तनम् ।

स्वभावसिद्धमेवैतत् कर्म लोकक्रियाश्रयम्[1] ।
[2]एवं रसेषु भावेषु ताराकर्माणि योजयेत् ॥ १०६ ॥

[3]अथाऽत्रैव प्रवक्ष्यामि प्रकारान् दर्शनस्य तु ।
समं साच्यनुवृत्ते च [4]ह्यालोकितविलोकिते ॥ १०७ ॥

प्रालोकितोल्लोकिते [5]चाप्यवलोकितमेव च ।
समतारं च सौम्यं च यद्दृष्टं तत् समं स्मृतम् ॥ १०८ ॥
पक्ष्मान्तर्गततारं च [6]त्र्यस्रं साचीकृतं[7] तु तत् ।
[8]रूपनिर्वर्णनायुक्तमनुवृत्तमिति स्मृतम्[9] ॥ १०९ ॥

अनुवाद—ये पुतलियों के लोक की क्रियाओं के आश्रित रहने वाले स्वाभावसिद्ध कर्म हैं। इस प्रकार रसों और भावों में तारा (पुतलियों) के कर्म का विनियोग करे ॥ १०६ ॥

अनुवाद—अब इसके बाद मैं दर्शन (अवलोकन) के प्रकारों का वर्णन करूँगा। सम, साची, अनुवृत्त, आलोकित, विलोकित, प्रलोकित, उल्लोकित और अवलोकित ये आठ अवलोकन के प्रकार हैं ॥ १०७–१०८ ॥

---

१. क–प. नाट्यक्रियाश्रितम् ।
२. ख. एवं सर्वेषु भावेषु ताराकर्म नियोजयेत् ।
३. ख. तथा तत्रैव वक्ष्यामः प्रकारं दर्शनस्य तु ।
४. ख. तु आलोकितविलोकिते ।
५. ख. चावलोकितमेव च । ग. वाप्यवलोकितमेव च ।
६. क. ग. यत्त्र्यस्रं ।
७. ख साचिकृतं ।
८. ख. रूपनिर्वापणायुक्तम् ।
९. ख. स्फुटम् ।

सहसा दर्शनं यत् स्यात्तदालोकितमुच्यते ।
विलोकितं पृष्टतस्तु पार्श्वाभ्यां तु प्रलोकितम् ॥ ११० ॥

ऊर्ध्वमुल्लोकितं ज्ञेयमवलोकितमप्यधः ।
[1]इत्येष दर्शनविधिः सर्वभावरसाश्रयः ॥ १११ ॥

[2]ताराकृतोऽस्यानुगतं पुटकर्म निबोधत ।
उन्मेषश्च निमेषश्च [3]प्रसृतं कुञ्चितं समम् ॥ ११२ ॥
[4]विवर्तितं स स्फुरितं पिहितं सविताडितम्[5] ।

अनुवाद—जिसमें पुतलियाँ सम और सौम्य दर्शन हो, उसे 'सम' कहते हैं। जिसमें पुतलियाँ बरौनियों के भीतर तिरछी हो जाँय, उसे 'साची' अवलोकन कहते हैं। किसी भी रूप को ध्यान-पूर्वक चिरकाल तक देखना 'अनुवृत्त' कहलाता है। सहसा किसी वस्तु का देखना 'अवलोकित' हैं। पीछे की ओर देखना 'विलोकित' और दोनों पार्श्वों की ओर देखना 'प्रलोकित' है। ऊपर की ओर देखना 'उल्लोकित' और नीचे पृथ्वी की ओर देखना 'अवलोकित' कहलाता है। इस प्रकार सभी रसों और भावों में होने वाला दर्शन का यह विधान मैंने बतला दिया है ॥ १०८-१११ ॥

पुटकर्म

अनुवाद—अब मैं पुतलियों की गति का अनुसरण करने वाले 'पुटकर्म' का कथन करता हूँ, आप समझें। उन्मेष, निमेष, प्रसृत, कुञ्चित, सम, विवर्त्तित, स्फुरित, पिहित और विताड़ित ये नौ पुटकर्म है ॥ ११२-११३ ॥

---

१. क-प इत्यष्टौ ।
२. क-ड. तारागतोऽस्यानुगतं । क-प. तारागतस्यानुगतं ।
३. क-न प्रकृतं ।
४. ख. घ. विवर्तितं प्रस्फुरितं पिहित सवितालितम् ।
५. क-च. सविलासितम् । क-प. सवितालिकम् ।

विश्लेषः पुटयोर्यस्तु स [1]तून्मेषः प्रकीर्तितः ॥ ११३ ॥
[2]समागमो निमेषः स्यादायामः प्रसृतं भवेत्[3] ।
आकुञ्चितं कुञ्चितं स्यात् समं स्वाभाविकं स्मृतम् ॥ ११४ ॥
विवर्तितं समुद्वृत्तं स्फुरितं स्पन्दितं तथा ।
स्थगितं पिहितं प्रोक्तमाहतं तु विताडितम्[4] ॥ ११५ ॥
अथैषां रसभावेषु विनियोगं निबोधत ।
क्रोधे [5]विवर्तितं कार्यो निमेषोन्मेषणैः[6] सह ॥ ११६ ॥
विस्मयार्थेषु[7] हर्षे च वीरे च प्रसृतं स्मृतम् ।
अनिष्टदर्शने गन्धे रसे स्पर्शे च कुञ्चितम् ॥ ११७ ॥

अनुवाद—दोनों पलकों का विश्लेष (एक दूसरे से अलग होना) 'उन्मेष' है और उनका संश्लेष (बन्द होना) 'निमेष' है। पलकों के फैलाव को 'प्रसृत' और सिकुड़ने को 'कुञ्चित' कहते हैं। पलकों का अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहना 'सम' कहा गया है और पलकों का ऊपर की ओर उठाना 'विवर्त्तित' होता है। पलकों का स्पन्दन (फड़कना) 'स्फुरित' और पलकों का बन्द होना 'पिहित' कहा गया हैं। पलकों का आहत होना 'विताड़ित' कहलाता है ॥ ११३-११५ ॥

अनुवाद—अब रस और भावों में इनके (पुटकर्म के) विनियोग को कहता हूँ। क्रोध के प्रदर्शन में निमेष और उन्मेष के साथ 'विवर्त्तित' का भी विनियोग करना चाहिए। विस्मय, हर्ष एवं वीररस के प्रदर्शन में 'प्रस्तुत' का प्रयोग करना चाहिए।

१. क. स उन्मेषः । क–प. समुन्मेखः ।
२. ख. समागतो ।
३. ख. आयामस्तु प्रसारितम् ।
४. क-च. विलासितम् । विलोलितम् ।
५. ख. विवर्तितः कार्यः । क-म. विवर्तकं कार्यं ।
६. क-प. निमेषोन्मेषणं तथा ।
७. ख. विस्मयार्थेषु हर्षे च वीर्ये चैव प्रसारितम् ।

शृङ्गारे च समं कार्यमीर्ष्यासु स्फुरितं तथा[1] ।
सुप्तमूर्च्छितवातोष्णधूमवर्षाञ्जनार्तिषु[2] ॥ ११८ ॥
नेत्ररोगे च पिहितमभिघाते[3] विताडितम्[4] ।
[5]इत्येवं रसभावेषु तारकापुटयोर्विधिः ॥ ११९ ॥
[6]कार्याऽनुगतमस्यैव भ्रुवोः कर्म निबोधत ।
[7]उत्क्षेपः पातनश्चैव भ्रुकुटी चतुरं भ्रुवोः[8] ॥ १२० ॥
कुञ्चितं रेचितं [9]चैव सहजं चेति सप्तधा ।

अनिष्ट वस्तु के दर्शन में, गन्ध, रस और स्पर्श में 'कुञ्चित' का प्रयोग होता है। शृङ्गार में 'सम' और ईर्ष्या में 'स्फुरित' का विनियोग करना चाहिए। निद्रा, मूर्च्छा, हवा के वहने के समय, उष्णता, धुआँ, वर्षा और अञ्जन लगाने से होनेवाली पीड़ा में तथा नेत्ररोग में 'पिहित' का विनियोग करना चाहिए तथा आकस्मिक आघात में 'विताडित' का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार मैने रस और भावों में पुतलियों और पलकों के अभिनय का विधान बताया है ॥ ११६-११९ ॥

भ्रुकुटि-कर्म

अनुवाद—अब इन्हीं के अनुगत भ्रुकुटी के कार्य का निरूपण करता हूँ, सुनिये—उत्क्षेप, पातन, भ्रुकुटी, चतुर, कुञ्चित, रेचित और सहज ये सात प्रकार के भ्रुकुटी के कर्म हैं ॥ १२०-१२१ ॥

१ ख. भवेत् ।
२. ख. धूमवर्षाशनार्थिषु । क-न. धूमवर्षाञ्जनादिषु ।
क-छ. धूम्ररुक्षाञ्जनार्त्तिषु ।
३. क ड. अभियाते ।
४. क-च. विलासितम् ।
५. क. ग. ङ. इत्येषु ।
६. ख कार्येऽनुगतमस्यैव ।
७. ख. उत्क्षेपं पातनञ्चैव ।
८. क. तथा ।
९. ग. कर्म ।

[1]भ्रुवोरुन्नतिरुत्क्षेपः सममेकैकशोऽपि वा ॥ १२१ ॥
[2]अनेनैव क्रमेणं च पातनं स्यादधोमुखम् ।
[3]भ्रुवोर्मूलसमुत्क्षेपात् भ्रुकुटी परिकीर्तिता[4] ॥ १२२ ॥

चतुरं किंचिदुच्छ्वासान्मधुरायतया[5] भ्रुवोः ।
[6]एकस्या उभयोर्वापि मृदुभङ्गस्तु[7] कुञ्चितम् ॥ १२३ ॥

[8]एकस्या एव ललितादुत्क्षेपाद्रेचितं भ्रुवः ।
सहजातं तु सहजं कर्म स्वाभाविकं स्मृतम् ॥ १२४ ॥

अनुवाद—भौहों का बारी-बारी से ऊपर उठाना 'उत्क्षेप' है और उनका क्रमशः नीचे की ओर उतारना 'पातन' है। भौहों के मूलों का एक साथ समुन्नयन (ऊपर उठाना) 'भ्रुकुटी' और भ्रुकुटियों की मधुरता एवं विस्तार 'चतुर' कहा जाता हैं। भौंहों का क्रमशः धीरे अथवा एक साथ झुकाना 'कुञ्चित' और भ्रुकुटी का ललित उत्क्षेप (ऊपर की ओर उठाना) 'रेचित' कहलाता है। भौंहों का स्वाभाविक स्थिति में रहना 'सहज' कहलाता है ॥ १२१–१२४ ॥

---

१ ग. भ्रुवोरुद्गतिरुत्क्षेपः ।

२ ग. सममेकैकशोप्येव पातनं स्यादधोगतिः ।
ख. एकस्य वा द्वयोर्वापि पातनं स्यादधोमुखम् ।

३. क-न. द्वयोर्मूलसमुत्क्षेपात् ।

४. क-न. परिवर्त्तिता ।

५. ख ग मधुरायतयोः ।

६. क. एकस्या हि द्वयोर्वापि । क-प. एकस्यास्तूभयोर्वापि ।
क-न. एकस्या वा द्वयोर्वापि ।

७. ख. ग. मृदुभङ्गेन कुञ्चितम् । क-प. मृदुभागेन कुञ्चितम् ।

८. क-प. एकस्या एव वलनादुत्क्षेपाद्रेचितं भ्रुवः ।
क-ब. एकस्या ललितोत्क्षेपाद् भ्रमणं रेचितं स्मृतम् ।
ख. एकस्या एव ललितादुत्क्षेपाद्रेचिते भ्रुवः ।

अथैषां संप्रवक्ष्यामि रसभावप्रयोजनम् ।
[1]कोपे वितर्के हेलायां लीलादौ सहजे तथा ॥ १२५ ॥
[2]श्रवणे दर्शने चैव भ्रुवमेकां समुत्क्षिपेत् ।
[3]उत्क्षेपो विस्मये हर्षे रोषे चैव द्वयोरपि ॥ १२६ ॥
[4]आसूयितजुगुप्सायां हास्ये घ्राणे च पातनम् ।
क्रोधस्थानेषु दीप्तेषु योजयेत् भ्रुकुटी बुधः ॥ १२७ ॥
शृङ्गारे ललिते सौम्ये सुखस्पर्शे प्रबोधने[5] ।
एवंविधेषु भावेषु चतुरं तु प्रयोजनेत् ॥ १२८ ॥

अनुवाद—अब मैं रस और भावों में इनके विनियोग का कथन करूँगा। क्रोध, वितर्क, हेला, लीला आदि तथा सहज दर्शन एवं श्रवण की दशा में एक भौंह का उत्क्षेपण करें तथा विस्मय, हर्ष और दोनों भौंहों का उत्क्षेपण करना चाहिए। असूया, जुगुप्सा, हास्य तथा सुगन्धित पदार्थ को सूंघने में 'पातन' का विनियोग होता है। क्रोध तथा दीप्त के स्थान पर 'भ्रुकुटी' की योजना करनी चाहिए। शृङ्गार, ललित, सुखमय स्पर्श तथा प्रबोधन (जागरण) के भाव में तथा इसी प्रकार के अन्य भावों में 'चतुर' का विनियोग करना चाहिए ॥ १२५-१२८ ॥

१. क-न. कोपे वितर्के लीलायां हेलादौ सहजे तथा ।
   क-म. लोपे वितर्के लीलायां लीलासौ सहजे तथा ।
२. क. ग. ङ. दर्शने श्रवणे चैव ।
३. ख. उत्क्षेपे ।
४ क. असूयिते जुगुप्सायां हासे घ्राणे च पातनम् ।
   ग. असूयितजुगुप्सायां हास्ये घ्राणे च पातनम् ।
५. ख. ग. शृङ्गारे ललिते सौम्ये स्पर्शे च चतुरं भवेत् ।

[1]स्त्रीपुरुषयोश्च संल्लापे नानावस्थातुरात्मके ।
मोट्टायिते कुट्टमिते विलासे[2] किलकिञ्चिते ॥ १२९ ॥
[3]निकुञ्चितं तु कर्तव्यं नृत्ते[4]योज्यं तु रेचितम् ।
अनाविद्धेषु भावेषु विद्यात् स्वभाविकं बुधः[5] ॥ १३० ॥
[6]इत्येवं तु भ्रुवोः प्रोक्तं नासाकर्म निबोधत ।
नता मन्दा[7] विकृष्टा च सोच्छ्वासाथ विकूणिता[8] ॥ १३१ ॥
स्वाभाविका[9] चेति बुधैः षड्विधा नासिका स्मृता ।

अनुवाद—नाना अवस्थाओं में किये जाने वाले स्त्री और पुरुषों के संलाप में, मोट्टायित, कुट्टमित तथा किलकिञ्चित में 'निकुञ्चित' का विनियोग करना चाहिए । नृत्त में रेचित' का तथा अन्य सामान्य भावों में 'सहज' का विनियोग करना चाहिए । इस प्रकार मैंने भ्रुकुटी के कर्म का कथन किया है । अब नासिका के कर्म को बतलाता हूँ ॥ १२९-१३० ॥

नासा-कर्म

अनुवाद—विद्वानों के द्वारा नता, मन्दा, विकृष्टा सोच्छ्वासा, विकूणिता तथा स्वाभाविका ये छः प्रकार के नासिका के कर्म कहे गये हैं ॥ १३०-१३१ ॥

१. क. ख. ग. पुस्तकयोः श्लोकार्धोऽयं नास्ति ।
२. क-त. विलापे ।
३. ख- विकुञ्चितं ।
४. क-ड. नृत्तयोज्ये ।
५. क. कुर्यात्स्वाभाविकं तथा ।
६. ख. इत्येवं तु भ्रुवः प्रोक्ता । ग. इत्येता दृष्टयः प्रोक्ता ।
क-छ. सप्त भ्रूकुट्याः प्रोक्ताः ।
७. क-न. मन्दावकृष्टा ।
८. ख. ग. सोच्छ्वासा च विघूर्णिता ।
क-च. सोच्छ्वासा तु विघूर्णिता ।
९ ग. स्वाभाविकी ।

नता मुहुःश्लिष्टपुटा मन्दा तु निभृता स्मृता ॥ १३२ ॥

[1]विकृष्टोत्फुल्लितपुटा सोच्छ्वासा कृष्टमारुता ।

[2]विकूणिता संकुचिता समा स्वाभाविका स्मृता ॥ १३३ ॥

नासिकालक्षणं ह्येतत् विनियोगं निबोधत[3] ।

मन्दोत्कम्पसमायुक्ते नारीणामनुरोधने ॥ १३४ ॥

निःश्वासे च नता कार्या नासिका नाट्ययोक्तृभिः ।

विच्छिन्नमन्दरुदिते सोच्छ्वासे च नता स्मृता ॥ १३५ ॥

निर्वेदौत्सुक्यचिन्तासु मन्दा शोके च योजयेत्[4] ।

[5]तीव्रगन्धे विकृष्टां तां रौद्रे वीरे तथैव च ॥ १३६ ॥

अनुवाद—यदि नासापुट को बार-बार संश्लेषण किया जाय तो 'नता' नासिका और यदि नासापुट स्थिर हो तो 'मन्दा' नासिका कहलाती है। यदि नासापुट अत्यधिक फूला हुआ हो तो 'विकृष्टा' तथा यदि वायु को नासापुट में खींचा जाय तो 'सोच्छ्वासा' नासिका कहलाती है। यदि नासापुट सिकुड़े हुए हों तो 'विकूणिता' और स्वाभाविक रूप में स्थित समा नासिका 'स्वाभाविकी' नासिका कहलाती है। इस प्रकार नासिका के लक्षण मैंने बतला दिये हैं। अब मैं उनके विनियोग को बतलाता हूँ आप लोग समझिये ॥ १३२–१३४ ॥

---

१. क. विकृष्टा फुल्लितपुटा ।

२. ख. ग. विघूर्णिता ।

३. ख. ग. इतः 'परं विच्छिन्नमन्दरुदिते सोच्छ्वासे च नता स्मृता' इत्यधिकं दृश्यते ।

४. ख. मन्दा शोके तु कीर्तिता । ग. मन्दा शोके प्रकीर्तिताः ।

५. ख.ग. विकृष्टा तीव्रगन्धोर्ध्वश्वासरोषभयार्तिषु ।
क-प. विप्रकृष्टा तीव्रगन्धे श्वासरोषभयादिषु ।

[1]इष्टघ्राणे तथोच्छ्वासे दीर्घोच्छ्वासां प्रयोजयेत् ।
[2]विकूणिता च कर्त्तव्या जुगुप्सायामसूयतादिषु ॥ १३७ ॥
[3]कार्या शेषेषु भावेषु तज्ज्ञैः स्वाभाविका तथा ।
क्षामं फुल्लं च [4]घूर्णं च कम्पितं कुञ्चितं समम्[5] ॥ १३८ ॥
षड्विधं गण्डमुद्दिष्टं तस्य[6] लक्षणमुच्यते ।

अनुवाद—स्त्रियों के मनाने, मन्द कम्पन से युक्त रहने, निश्वास में नाट्य-प्रयोक्ताओं को 'नता' नामक नासिका का विनियोग करना चाहिए। निर्वेद, औत्सुक्य, चिन्ता तथा शोक में 'मन्दा' का विनियोग करें। तीव्र गन्ध, ऊर्ध्वश्वास, रोष, भय तथा पीड़ा में 'विकृष्टा' का तथा मधुर गन्ध, दीर्घश्वास-उच्छास में 'सोच्छासा' का विनियोग करना चाहिए। जुगुप्ता, असूया आदि में विकूणिता का विनियोग करे और शेष भावों में आवेग-रहित अन्वर्थ नाम वाली 'स्वाभाविकी' का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३४-१३८॥

कपोल-कर्म

अनुवाद—इसके बाद में कपोल कर्म का लक्षण कहूँगा। क्षाम, फुल्ल, पूर्ण, कम्पित, कुञ्चित और सम ये छः प्रकार के कपोल कर्म कहे गये हैं। अब इनके लक्षण को कहता हूँ ॥ १३८-१३९ ॥

---

१. ख. ग. सोच्छ्वासा मधुरे गन्धे दीर्घोच्छ्वासकृतेषु च ।
२ ग. विघूर्णितोक्ता हास्ये च जुगुप्सायामसूयिते ।
ख. विघूर्णितो हास्येषु जुगुप्सायामसूयिते ।
३. ख. ग. स्वाभाविका शेषभावेष्वित्येवं नासिका स्मृता ।
४. क-ङ. पूर्णं ।
५. क–ब. तथैव च विकम्पितम् ।
६. ग. अस्य ।

[1]क्षामं [2]चावनतं ज्ञेयं फुल्लं विकसितं भवेत् ॥ १३९ ॥

[3]विततं घूर्णमत्रोक्तं कम्पितं स्फुरितं भवेत् ।

स्यात् कुञ्चितं संकुचितं समं प्राकृतमुच्यते ॥ १४० ॥

गण्डयोर्लक्षणं प्रोक्तं विनियोगं निबोधत ।

अनुवाद—अवनत या क्षीण कपोल को 'क्षाम' कहते हैं और विकसित कपोल को 'फुल्ल' कहते हैं। उन्नत (ऊपर उठे हुए) कपोलों को 'पूर्ण' और स्फुरित कपोलों को 'कम्पित' कहा जाता है। सिकुड़े हुए कपोलों को 'कुञ्चित' और स्वाभाविक दशा में स्थित कपोल को 'सम' कहा जाता है। इस प्रकार मैंने कपोलों का लक्षण कहा है। अब उनके विनियोग को कहता हूँ। आप लोग सुनिये। ॥ १३९-१४१ ॥

---

१. क-म. पुस्तकेऽधोलिखितरूपेण पाठो दृश्यते—

क्षामं फुल्लं च घूर्णं च तथैव च विकल्पितम् ।
सरोमाञ्चं कुञ्चितं च गण्डं स्यात्प्राकृतं तथा ।
कृशं क्षामं च विज्ञेयं फुल्लं विकसितं तथा ।
घूर्णं सोच्छ्वासमिच्छन्ति वेपितं स्याद्विकम्पितम् ।
सरोमाञ्चं पुलकितं सकुन्निम्नं निकुञ्चितम् ।
प्राकृतं च स्वभावस्थमथ भावेषु योजयेत् ।
क्षामं दुःखेषु कर्त्तव्यं फुल्लं हर्षेषु योजयेत् ।
घूर्णमुत्साहगर्वेषु रोमहर्षे विकम्पितम् ।
कुञ्चितं वेदनायां तु हर्षे चैव विकम्पितम् ।
स्पर्शस्य ग्रहणे कार्यं गण्डं रोमाञ्चसंयुतम् ।
स्वाभाविकं स्वभावेषु तु नासाकर्मोच्यतेऽधुना ।

२. ख. ग त्ववनतं ।

३. ख. ग. उन्नतं पूर्णमत्रोक्तं । क. विततं घूर्णमात्रोक्तं ।

क्षामं दुःखेषु कर्तव्यं प्रहर्षे फुल्लमेव च ॥ १४१ ॥
[2]पूर्णमुत्साहगर्वेषु रोषहर्षेषु कम्पितम् ।
कुञ्चितं च सरोमाञ्चं स्पर्शेषु[3] शीते भये ज्वरे ॥ १४२ ।
प्राकृतं शेषभावेषु गण्डकर्म भवेदिति[4] ।
[5]विवर्तनं कम्पनं च विसर्गो विनिगूहनम् ॥ १४३ ॥
सन्दष्टकं [6]समुद्गं च षट् कर्माण्यधरस्य तु ।

अनुवाद—दुःख में 'क्षाम' का और प्रहर्ष में 'फुल्ल' का विनियोग करना चाहिए। उत्साह और गर्व में 'पूर्ण' का रोष और हर्ष में 'कम्पित' का रोमाञ्च, शीत, भय, ज्वर में 'कुञ्चित' का और शेष भावों में 'सम' कपोल का विनियोग करना चाहिए ॥ १४१-१४३ ॥

अधरोष्ठ-कर्म

अनुवाद—विवर्त्तन, कम्पन, विसर्ग, विनिगूहन, सन्दष्टक और समुद्ग ये अधर के छः भेद बताये गये हैं ॥ १४३-१४४ ॥

विमर्श—अधरों के द्वारा किया गया 'अधरोष्ठ' अभिनय कहलाता है। संगीत-रत्नाकर, नृत्याध्याय और नृत्तरत्नावली में अधर के छः भेद बताये गये हैं—विवर्तित, कम्पित, विसृष्ट, विनिगूहित, सन्दष्टक और समुद्ग । अन्य आचार्य अधर के चार भेद और बतलाये हैं—उदासो, रेचित, उद्वृत्त और आयत। इस प्रकार उनके मत में अधर के दस भेद होते हैं। अग्निपुराण में अधर के छः भेद बताये गये हैं किन्तु उनके नाम नहीं गिनाये गये हैं ॥ १४३-१४४ ॥

---

१. ख. फुल्लमिष्यते ।
२. क. ङ. घूर्णमुत्साहगर्वेषु ।
३. ग. कम्पे ।
४. क–न. भवेदिह ।
५. ख. निवर्तते कम्पनं च। क न. विवर्त्तनं कम्पितं च ।
६. ग. समुद्गश्च ।

[1]विकूणनं विवर्तस्तु वेपनं कम्पनं स्मृतम् ॥ १४४ ॥
विनिष्क्रामो विसर्गस्तु प्रवेशो विनिगूहनम् ।
[2]सन्दष्टकं द्विजैर्दष्टं समुद्गः सहजोन्नतिः ॥ १४५ ॥
[3]इत्योष्ठलक्षणं प्रोक्तं विनियोगं निबोधत ।
[4]असूयावेदनावज्ञाहास्यादिषु विवर्तनम् ॥ १४६ ॥
[5]कम्पनं वेदनाशीतभयरोषजवादिषु ।
स्त्रीणां विलासे विव्वोके विसर्गो रञ्जने तथा[6] ॥ १४७ ॥

अनुवाद--अधरोष्ठ का तिरछा सिकुड़ना या फड़कना 'विवर्तन' कहलाता है और अधर का वेपन (हिलना) 'कम्पित' कहलाता है। अधरोष्ठ का बाहर निकालना 'विसर्ग' और अधर का भीतर की ओर ले जाना 'विनिगूहन' कहलाता है। ओठ का दाँतों से काटना 'सन्दष्टक' और ओठ का बाहर की ओर उन्नत करना 'समुद्ग' कहा जाता है। ये ओष्ठ के लक्षण बताये गये हैं। अब उनका विनियोग सुनिये ॥ १४५-१४६ ॥

१. ख ग. विघूर्णनं विवर्त्तस्तु वेपनं कम्पनं स्मृतम् ।
क-म. सङ्क्रान्तवक्रीकरणविवर्त्तनमिति स्मृतम् ।
वेपनं चापि विज्ञेयमधरस्य तु कम्पनम् ।
२. ख. सन्दष्टको द्विजैर्दष्टः समुद्गः सहिता गतिः ।
ग. सन्दष्टको द्विजैर्दष्टः समुद्वृत्तं समुद्गकः ।
क-घ. सन्दष्टकं द्विजैर्दष्टं सहितोगद्गतिः ।
३. ग. इत्यष्टौ लक्षणं ।
४. ख. असूयावेदनालज्जावस्थादिषु । ग. असूयावेदनालज्जालस्यादिषु ।
क-छ. असूयावेदनावज्ञालज्जादिषु । क-च. असूयावेदनावज्ञालस्यादिषु ।
५. ख. कम्पनं कोपशीतार्तिभयरोगजयादिषु । ख. कम्पनं वेपनं शीतज्वररोषजयादिषु ।
६. ग. विसर्गः सुरते स्मृतः । ख. विसर्गे रञ्जने तथा ।

विनिगूहनमायासे सन्दष्टं [1]क्रोधकर्मसु ।
[2]समुद्गगस्त्वनुकम्पायां चुम्बने चाभिनन्दने ॥ १४८ ॥
इत्योष्ठकर्माण्युक्तानि चिबुकस्य निबोधत ।
कुट्टनं [3]खण्डनं छिन्नं चुक्कितं [4]लेहनं [5]समम् ॥ १४९ ॥
दष्टं च दन्तक्रियया चिबुकं त्विह लक्ष्यते ।

अनुवाद--असूया, वेदना, अवज्ञा (अनादर) तथा हास्य आदि के अभिनय में 'विवर्त्तन' का, वेदना, शीत, भय, रोग तथा वेग आदि में 'कम्पन' का, स्त्रियों के विलास, विब्बोक और रञ्जन (महावर आदि से रंगने में) 'विसर्ग' का विनियोग करना चाहिए। आयास में 'विगूहन' का, क्रोध आदि के भाव-प्रदर्शन में 'सन्दष्ट' का तथा अनुकम्पा, चुम्बन, एवं अभिनन्दन में 'समुद्गक' का विनियोग होता है। इस प्रकार ओठ के कर्म कहे गये हैं। अब चिबुक के कर्म को समझिये ॥ १४६–१४९ ॥

चिबुक-कर्म

अनुवाद—कुट्टन, खण्डन, छिन्न, चुक्कित, लेहित, सम और दष्ट ये सात प्रकार के चिबुक के कर्म कहे गये हैं। यहाँ दन्तक्रिया के द्वारा चिबुक कर्म का लक्षण कहा जाता है ॥ १५० ॥

---

१. ख. क्रोधकर्माणि ।
२. क-च. समुद्गस्त्वतिकम्पाङ्गधूनने चाभिनन्दने ।
क-छ. समुद्गःस्तनकम्पायां चुम्बने चाभिनन्दने ॥
३. क-प. कुट्टनं खञ्जनं ।
४. ख. चुक्षितं लेहनं समम् । ग. चिकितं लेहनं समम् ।
क. चुक्कितं लेहितं समम् ।
५. क-प. तथा ।

कुट्टनं दन्तसंघर्षः [1]संस्फोटः खण्डनं मुहुः ॥ १५० ॥
छिन्नं तु गाढसंश्लेषश्चुक्कितं [2]दूरविच्युतिः ।
लेहनं जिह्वया लेहः किञ्चित् श्लेषः[3] समं भवेत् ॥ १५१ ॥
दन्तैर्दंष्टेऽधरे दष्टमित्येषां विनियोजनम् ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में चिबुक के जो लक्षण बताये गये हैं वे वास्तव में दाँतों के लक्षण हैं। सङ्गीतरत्नाकार, नृत्याध्याय में दन्तकर्म के अन्तर्गत ही इनका निरूपण किया गया है। नाट्यशास्त्र और नृत्तरत्नावली में दन्तकर्म का अलग से निरूपण नहीं किया गया है। वहाँ चिबुक-कर्म के निरूपण ही दन्तकर्म का निरूपण माना गया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार चिबुक-कर्म का निरूपण ही दन्तकर्म का निरूपण है। शार्ङ्गदेव आदि आचार्य दन्तकर्म का निरूपण अलग से करते हैं। अतः उनके ग्रन्थों में दन्तकर्म और चिबुक-कर्म का अलग-अलग लक्षण और भेद किये गये हैं ॥ १५० ॥

अनुवाद—दाँतों का संघर्ष (किटकिटाना) 'कुट्टन' है। दाँतों का बार-बार संश्लेषण और विश्लेषण अथवा बार-बार चबाना 'खण्डन' है। दाँतों का गाढ़ संश्लेष (दृढ़ता से मिलाना) 'छिन्न' और दाँतों का दूर हटा लेना अथवा दूर रखना 'चुक्कित' कहा जाता है। जिह्वा से दाँतों का काटना 'लेहित' और दाँतों का किञ्चित् श्लेष (मिलाना) 'सम' तथा दाँतों से अधर को काटना 'दष्ट' कहलाता है। इस प्रकार इनका विनियोजन करना चाहिए ॥ १५१-१५२ ॥

---

१. क. संफोटः खण्डनं। क-प. सम्फोटः खञ्जनं।
क-ब. संभेदः खण्डनं।
२. ग. चिकितं दूरमुद्यतम्। ख. चुक्षितं दूरविच्युतिः।
क-प. त्वक्षितं दूरविप्लुतम्।
३. ख. ग. किञ्चिच्चेष्टः सम्भवेत्।

[1]भयशीतज्वरक्रोधग्रस्तानां कुट्टनं भवेत् ॥ १५२ ॥
[2]जपाध्ययनसल्लापभक्ष्ययोगे च खण्डनम् ।
[3]छिन्नं व्याधौ भये शीते [4]व्यायामे रुदिते मृते ॥ १५३ ॥
जृम्भणे [5]चुक्कितं कार्यं तथा लेह्ये [6]च लेहनम् ।
समं स्वभावभावेषु सन्दष्टं[7] क्रोधकर्मसु ॥ १५४ ॥
इति दन्तोष्ठजिह्वानां [8]करणाच्चिबुकक्रिया ।

अनुवाद—भय, शीत (ठण्ढ), ज्वर और क्रोध से ग्रस्त व्यक्तियों में 'कुट्टन' का प्रयोग होता है । जप, अध्ययन, संलाप और भक्ष्य पदार्थ के योग में 'खण्डन' का और व्याधि, भय, शीत, व्यायाम, रोदन और मरण में 'छिन्न' का विनियोग होता है । जंभाई लेने में 'चुक्कित' का विनियोग करना चाहिए और चाटने में 'लेहन' का प्रयोग करना चाहिए। स्वाभाविक चेष्टाओं के अभिनय में 'सम' का और क्रोध की क्रिया में 'दष्ट' का विनियोग करना चाहिए । इस प्रकार दन्त, ओष्ठ, जिह्वा के अभिनय करने से चिबुक-कर्म होता है ॥ १५२–१५५ ॥

---

१. ख. ग. भयशीतज्वरव्याधिग्रस्तानां ।
　क-ङ. भयशीतजराव्याधिग्रस्तानां ।
२. ख. ग. जप्याध्ययनसल्लाप० ।
३. क-प. चिन्ता ।
४. ख. ख. शीतेष्वायामे कूजिते मृते ।
　ख. ग. व्यायामे रुषिते क्षिते । क-न. व्यायामे रुषिते मृते ।
　क-प. व्यायामे रुषिते द्रुमे । क-च. व्यायामे कूजिते मृते ।
५. ग. चिकितं । ख. चुक्षितं ।
६. क-ङ. लौल्ये च लेहनम् ।
७. ख. ग. सन्दष्टा ।
८. क, ङ, करणे चिबुकक्रिया ।

[1]विधुतं विनिवृत्तं च निर्भुग्नं भुग्नमेव च ॥ १५५ ॥
[2]विवृतं च तथोद्वाहि कर्माण्यत्रास्यजानि तु ।
[3]व्यावृत्तं विनिवृत्तं स्याद्विधुतं तिर्यगायतम् ॥ १५६ ॥
[4]अवाङ्मुखत्वं निर्भुग्नं व्याभुग्नं किञ्चिदायतम् ।
विश्लिष्टोष्ठं च [5]विवृतमुद्वाह्युत्क्षिप्तमेव च ॥ १५७ ॥
विनिवृत्तमसूयायामीर्ष्याक्रोधकृतेन[6] च ।
अवज्ञा विहृतादौ च स्त्रीणां कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ १५८ ॥
विधुतं वारणे चैव नेवमित्येवमादिषु ।
निर्भुग्नं चापि विज्ञेयं गम्भीरालोकनादिषु ॥ १५९ ॥

मुखज-कर्म

अनुवाद—विधुत, विनिवृत्त, निर्भुग्न, भुग्न, विवृत और उद्वाहि ये छः मुखज कर्म होते हैं ॥ १५५-१५६ ॥

अनुवाद—तिरछा फैलाये हुए मुख को 'विधुत' कहते हैं। खुला हुआ मुख 'विनिवृत्त' कहलाता है और नीचे की ओर झुका हुआ मुख 'निर्भुग्न' और थोड़ा फैला हुआ मुख 'भुग्न' (व्याभुग्न) कहलाता है। ओठों के साथ खुला हुआ मुख 'विवृत' तथा ऊपर की ओर उठा हुआ या खुला हुआ मुख 'उद्वाहि' कहलाता है ॥ १५६-१५७ ॥

१. क. ङ. विनिवृत्तं च विधुतं निर्भुग्नं भुग्नमेव च ।
२. ख. ग. निवृत्तं च ।
३. क-प. स्याद्वृत्तं ।
४. ख. ग. अवाङ्मुखञ्चं ।
५ ख. ग. विवृतमुद्वास्युत्क्षिप्तमेंत्र च । क-ङ. उद्वाह्युत्क्षिप्तमेव तु ।
६. क. ङ. विनिवृत्तमसूयायामीर्ष्याकोपकृतेषु च ।

भुग्नं लज्जान्विते योज्यं यतीनां तु [1]स्वभावजम् ।
निर्वेदौत्सुक्यचिन्तासु नये च [2]विनिमन्त्रणे ॥ १६० ॥
[3]विवृत्तं चापि विज्ञेयं हास्यशोकभयादिषु ।
स्त्रीणामुद्वाहि लीलायां गर्वे गच्छत्यनादरे ॥ १६१ ॥
एवं नामेतिकार्यं च कोपवाक्ये विचक्षणैः ।
[4]समसाचीकृताद्युक्तं यच्च दृष्टिविकल्पनम् ॥ १६२ ॥
[5]तज्ज्ञैस्तेनानुसारेण कार्यं तदनुगं मुखम् ।

अनुवाद—असूया, ईर्ष्या एवं क्रोध करने में तथा स्त्रियों के अनादर एवं विहार (विलास) आदि में नाट्यप्रयोक्ताओं को 'विनिवृत्त' का प्रयोग करना चाहिए। निषेध तथा निवारण का भाव प्रकट करने में 'विधुत' का तथा गम्भीर अवलोकन आदि में 'निर्भुग्न' का प्रयोग करना चाहिए । यतियों के स्वभाव एवं लज्जा का भाव प्रकट करने में निर्वेद, औत्सुक्य, चिन्ता, विनय और मन्त्रणा में 'भुग्न' का विनियोग करना चाहिए और हास्य, शोक, भय आदि में 'विवृत' की योजना करनी चाहिए। स्त्रियों की लीला, गर्व, अनादर तथा गमन (चलने) में 'ऐसा ही है' इस प्रकार के कथन में और क्रोधपूर्ण वाक्यों में विद्वानों को 'उद्वाहि' का विनियोग करना चाहिए ॥ १५८–१६२ ॥

अनुवाद—दृष्टिभेद के निरूपण के अवसर पर सम, साचीकृत आदि भेद जो कहे गये हैं, उन्हीं के अनुसार विद्वानों को मुख की भी योजना करनी चाहिए ॥ १६२–१६३ ॥

---

१. क. ङ. स्वभावतः ।

२. क-ङ. विनयमन्त्रणे ।

३. क. ङ. विवृतं ।

४. ख. ग. समं साचिकृताद्युक्ता यच्च दृष्टिविकल्पितम् ।

५. क. ङ. तज्ज्ञैस्तदनुसारेण ।

अथातो [1]मुखरागस्तु चतुर्धा संप्रकीर्त्तितः ॥ १६३ ॥
स्वाभाविकः प्रसन्नश्च रक्तः श्यामोऽर्थसंश्रयः ।
स्वाभाविकस्तु कर्तव्यः स्वभावाभिनयाश्रयः ॥ १६४ ॥
मध्यस्थादिषु भावेषु[2] मुखरागः [3]प्रयोक्तृभिः ।
प्रसन्नस्त्वद्भुते कार्यो हास्यशृङ्गारयोस्तथा ॥ १६५ ॥
[4]वीररौद्रमदाद्येषु रक्तः स्यात् करुणे तथा ।
भयानके सबीभत्से श्यामं सञ्जायते मुखम् ॥ १६६ ॥
एवं [5]भावरसार्थेषु मुखरागं प्रयोजयेत् ।

अनुवाद—अब मैं मुखराग का वर्णन करता हूँ। मुखराग चार प्रकार के कहे गये हैं—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम ॥ १६४ ॥

विमर्श—जिसके द्वारा धीरपुरुष रसात्मक चित्तवृत्ति अभिव्यक्त करते हैं, रसाभिव्यक्ति का हेतु होने से उसे 'मुखराग' कहा जाता है। सङ्गीतरत्नाकर, नृत्याध्याय आदि ग्रन्थों में नृत्य में भी मुखराग की उपयोगिता बताई गयी है। मुखराग को रसात्मक कहा गया है। रस और भावों के अनुरूप उनका प्रयोग करना चाहिए।

अनुवाद—स्वाभाविक मुखराग स्वभाव के अभिनय के आश्रित होता है। स्वाभाविक अभिनय में और मध्यस्थ आदि भावों के प्रकट करने में स्वाभाविक मुखराग का विनियोग किया जाता है। अद्भुत, शृङ्गार और हास्य रस में 'प्रसन्न' मुखराग का प्रयोग करना चाहिए। वीर, रौद्र और करुण रस में तथा मद के भाव में 'रक्त' मुखराग का विनियोग होता है तथा भयानक और बीभत्स रस में 'श्याम' मुखराग का विनियोग करना चाहिए। इस प्रकार भाव और रस के अभिनय में मुखराग का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६४–१६७ ॥

---

१. ख. अथातो मुखरागश्च चतुर्धा परिकीर्तितः।
ग अथातो मुखरागस्तु चतुर्धा स च कीर्तितः।
२. क-प. रागेषु।
३. क.ङ. प्रकीर्त्तितः।
४. क.ङ. वीररौद्रभयाद्येषु।
५. क-प. भावरसास्तेषु।

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तः कृतोऽप्यभिनयः शुभः ॥ १६७ ॥
मुखरागविहीनस्तु नैव शोभान्वितो भवेत् ।
[1]शरीराभिनयोऽल्पोऽपि मुखरागसमन्वितः ॥ १६८ ॥
[2]द्विगुणां लभते शोभां रात्राविव निशाकरः ।
[3]नयनाभिनयोऽपि स्यान्नानाभावरसास्फुटः[4] ॥ १६९ ॥
मुखरागान्वितो यस्मान्नाट्यमत्र प्रतिष्ठितम् ।
[5]यथा नेत्रं प्रसर्पेत मुखभ्रूदृष्टिसंयुतम् ॥ १७० ॥
तथा भावरसोपेतं मुखरागं प्रयोजयेत् ।
[6]इत्येवं मुखरागस्तु प्रोक्तो भावरसाश्रयः ॥ १७१ ॥

अनुवाद—शाखा, अङ्ग और उपाङ्ग से युक्त अच्छी प्रकार से किया गया शुभ अभिनय मुखराग से रहित होने पर शोभा को नहीं देता। मुखराग से समन्वित होने पर थोड़ा भी आङ्गिक अभिनय दुगुनी शोभा उत्पन्न करता है। जिस प्रकार रात्रि में चन्द्रमा द्विगुणित शोभा को प्राप्त करता है। मुखराग से युक्त नेत्रों का अभिनय भी अनेक प्रकार के भावों एवं रसों को स्फुट करता है। क्योंकि नाट्य मुखराग में प्रतिष्ठित है। मुख, भौंह, दृष्टि से संयुक्त होकर जिस प्रकार नेत्र प्रसर्पण (संचार) करें, उसी प्रकार रस और भावों से युक्त मुखराग का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार मैंने भाव और रसों के आश्रयभूत मुखराग का निरूपण किया है ॥ १६७–१७२ ॥

---

१. क.ग. ङ. शारीराभिनयोऽल्पोऽपि ।
२. क.ङ. द्विगुणं ।
३. क-न. नयनाभिनयोऽल्पोऽपि नानाभावरसान्वितः ।
४. ख. ग. नानाभावरसान्वितः ।
५. क-ध. यस्मान्नेत्रं प्रसर्पेत्तु ।
६. क-ङ. इत्येष मुखरागस्तु प्रोक्तो भावरसाश्रयः ।
क-प. इत्येवं मुखरागास्तु प्रोक्ता भावरसाश्रयाः ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि[1] ग्रीवाकर्माणि वै द्विजाः ।
समा नतोन्नता त्र्यस्रा रेचिता कुञ्चिताञ्चिता ॥ १७२ ॥
वलिता च निवृत्ता[2] च ग्रीवा नवविधार्थतः[3] ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के समान सङ्गीतरत्नाकर, नृत्याध्याय में भी मुखराग का विवेचन किया गया है। शार्ङ्गदेव और अशोकमल्ल के अनुसार नाट्य के समान नृत्य में भी मुखराग का प्रयोग किया जाता है। मुखराग रसात्मक एवं भावात्मक होता है अर्थात् शृङ्गारादि रस रूप होता है। मुखराग को अङ्ग का शोभाकारी कहा गया है। वहाँ यह बताया गया है कि जिस प्रकार चन्द्रमा से दिशायें सुशोभित होती हैं, चन्द्रमा से रात्रि की दुगुनी शोभा होती है उसी प्रकार मुखराग से समन्वित होने पर आङ्गिक अभिनय सुशोभित होता है। भरत के अनुसार मुखराग से समन्वित होने पर शाखा, अङ्ग, एवं उपाङ्ग द्वारा किया गया अभिनय सुशोभित होता है। क्योंकि मुखराग में ही नाट्य प्रतिष्ठित है, अतः रस और भावों के आश्रित मुखराग का रस और भावों के अनुरूप नाट्य में प्रयोग करना चाहिए।

ग्रीवा-कर्म

अनुवाद—हे द्विजों! अब मैं इसके बाद के कर्मों को कहूँगा, ग्रीवा के कर्म नौ प्रकार के होते हैं—समा, नता, उन्नता, त्र्यस्रा, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, वलिता और विवृत्ता ॥ १७२–१७३ ॥

विमर्श—ग्रीवा के माध्यम से किया गया अभिनय 'ग्रीवा कर्म' कहा जाता है। ग्रीवा पर ही शिरों का सारा अभिनय आधारित है। इसलिए अभिनय में ग्रीवा का अत्यधिक महत्त्व है। नाट्यशास्त्र में भरत ने ग्रीवा की नौ स्थितियाँ स्वीकार की है—नता, समा, उन्नता, त्र्यस्रा, रेचिता, कुञ्चिता, अञ्चिता, वलिता और विवृत्ता। अग्निपुराण, सङ्गीतरत्नाकर, नृत्याध्याय, नृत्तरत्नावली में भी ग्रीवा की नौ स्थितियाँ स्वीकार की गयी हैं जो नाट्यशास्त्र के समान हैं। अग्निपुराण में उनके नाम नहीं बताये गये हैं। अभिनय-दर्पण में ग्रीवा की चार स्थितियाँ बतायी गई हैं—सुन्दरी, तिरश्चीना, परिवर्तिता और प्रकम्पिता और भरतार्णव में ग्रीवा अभिनय का विवेचन नहीं है।

१. ग. ग्रीवाकर्म द्विजोत्तमाः ।
२. क-ङ. निवृत्ता च ।
३. क-प. नवविधा स्मृता ।

समा स्वाभाविकी ध्यानस्वभावजपकर्मसु[1] ॥ १७३ ॥
नता[2] नतास्यालङ्कारबन्धे कण्ठावलम्बने ।
उन्नाताभ्युन्नतमुखी ग्रीवा [3]चोर्ध्वनिवेशने ॥ १७४ ॥
त्र्यस्रा पार्श्वगता [4]ज्ञेया स्कन्धभारे च [5]दुःखिते ।
[6]रेचिता विधुता भ्रान्ता भावे मथननृत्तयोः ॥ १७५ ॥

अनुवाद—अपनी स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान ग्रीवा 'समा' कहलाती है। इसका विनियोग ध्यान, जप तथा स्वाभाविक क्रिया के प्रदर्शन में होता है। झुकी हुई ग्रीवा 'नता' ग्रीवा कहलाती है। अलङ्कार-बन्ध अर्थात् अलङ्कारों की रचना में तथा कण्ठ का सहारा लेने या गले लगाने के अभिनय में इसका विनियोग करना चाहिए। ऊपर की ओर उठी हुई ग्रीवा 'उन्नता' ग्रीवा कहलाती है। ऊपर की ओर देखने के भाव में इसका विनियोग किया जाता है ॥ १७२–१७३ ॥

अनुवाद—पार्श्व (बगल) में झुकी हुई ग्रीवा 'त्र्यस्रा' कहलाती है। कन्धों से भार-वहन तथा दुःख के भाव-प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है। यदि ग्रीवा काँपती हुई तथा घूमती हुई स्थित हो तो वह 'रेचिता' ग्रीवा कहलाती है। मन्थन और नृत्त के प्रदर्शन में इसका विनियोग होता है ॥ १७३–१७५ ॥

---

१. क-प ध्यानसभारञ्जनकर्मसु ।
२. क, ड नतास्योऽलङ्कारे बद्धे । क-न. नतास्येऽलङ्कारे बद्धे ।
३. क-ङ. ग्रीवा चोर्ध्वादिदर्शने । ख. ग्रैवेयोर्ध्वादिदर्शने ।
क-प. ग्रैवेयेऽर्ध्वादिदर्शने । क-न ग्रीवा चोर्ध्वनिदेशने ।
४ ख. ग. चैव ।
५. ख. स्कन्धभारेऽथ दुःखिते ।
६. ख. ग. रेचिता विधुतभ्रान्ता ह्यावे मथननृत्तयोः ।
क-ख. रेचिता विधुधा भ्रान्ता भावोन्मथननृत्तयोः ।
क-प. विचिता विधुता भ्रान्ता भावे कथननृत्तयोः ।

[1]कुञ्चिताकुञ्चिते मूर्ध्नि धारिते गलरक्षणे ।
अञ्चितापसृतोबद्धकेशर्षोर्ध्वदर्शने[2] ॥ १७६ ॥
पार्श्वोन्मुखी स्याद्वलिता [3]ग्रीवाभङ्गे च वीक्षणे ।
[4]निवृत्ताभिमुखोभूता [5]स्वस्थानाभिमुखादिषु ॥ १७७ ॥

अनुवाद—यदि ग्रीवा नीचे की ओर थोड़ी झुकी हुई हो तो 'कुञ्चिता' ग्रीवा कहलाती है । शिर पर बोझ ढोने तथा गले की रक्षा करने के भाव में इसका विनियोग होता है । पीछे की ओर फैली हुई ग्रीवा 'अञ्चिता' कहलाती है । इसका विनियोग उद्बन्धन, केशों के कर्षण (खींचने) और ऊपर की ओर देखने में किया जाता है ॥ १७६ ॥

अनुवाद—पार्श्व (बगल) की ओर उन्मुख की जाने वाली ग्रीवा 'वलिता' ग्रीवा कहलाती है। इसका विनियोग ग्रीवा के टूटने (ग्रीवाभङ्ग) तथा गर्दन मोड़कर देखने में किया जाता है । यदि ग्रीवा सामने की ओर अभिमुख हो जाय तो 'निवृत्ता' ग्रीवा कहलाती है । अपने उच्छिष्ट स्थान की ओर अभिमुख होने आदि में इसका विनियोग किया जाता है ॥ १७७ ॥

---

१. क. ङ. कुञ्चिताऽकुञ्चिता मूर्ध्नि भारिते गलरक्षणे ।

२. ख. ग. अञ्चितापसृतोद्बन्धकेशकर्षोच्चदर्शने ।
ख-ख. अञ्चितापसृताबद्धकेशाकर्षे च दर्शने ।

३ क. ग्रीवाभङ्गे च वीक्षिते । ख-क. ग्रीवाभङ्गे विवक्षिते ।

४. क. ङ. विवृत्ताभिमुखीभूता ।

५. क-घ. सुस्थानाभिमुखादिषु ।

इत्यादिलोकभावार्था [1]ग्रीवाभङ्गैरनेकधा ।
ग्रीवाकर्माणि सर्वाणि शिरः कर्मानुगानि हि[2] ॥ १७८ ॥
शिरसः कर्मणः कर्म ग्रीवायाः सम्प्रवर्त्तते ।
इत्येतल्लक्षणं प्रोक्तं शीर्षोपाङ्गसमाश्रयम् ॥ १७९ ॥
अङ्गकर्माणि शेषाणि गदतो मे निबोधत ॥ १८० ॥

इति श्रीभारतीये नाट्यशास्त्रे [3]उपाङ्गविधानं नाम
॥ अष्टमोऽध्यायः ॥

अनुवाद—इस प्रकार लोक के भाव एवं व्यवहार के अनुसार ग्रीवा के अनेक भेद बतलाये गये हैं। ये सभी प्रकार के ग्रीवा कर्म शिर की क्रिया के अनुगामी होते हैं। अतः शिर के कर्मों के साथ ग्रीवा के कर्म भी प्रवृत्त होते हैं ॥ १७८-१७९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार शिर के उपाङ्गों सहित लक्षणों को मैंने कहा है। अब शेष अङ्गों के कर्मों को कहता हूँ, आप लोग समझिये ॥ १८० ॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिकृतायां हिन्दीव्याख्यायामष्ठमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार डॉ० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र की हिन्दी व्याख्या में अष्टम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

---

१. क. ङ. ग्रीवाभेदैरनेकधा ।
२. ख. ग. वदतो मे निबोधत ।
३. क. उत्तमाङ्गाभिनयो । ग. उपाङ्गाभिनयो ।

नवमोऽध्यायः

[1]एवमेतच्छिरोनेत्रभ्रूनासोष्ठकपोलजम् ।
[2]कर्मलक्षणसंयुक्तमुपाङ्गानां[3] मयोदितम् ॥ १ ॥
हस्तोरःपार्श्वजठरकटीजङ्घोरुपादतः ।
लक्षणं सम्प्रवक्ष्यामि विनियोगं च तत्त्वतः ॥ २ ॥

अभिनवभारती

अलङ्क्रियन्ते गात्राणि यत्स्पर्शविवशस्थितेः ।
स्पर्शतन्मात्रवपुषं संस्तुमः परमेश्वरम् ॥ ८ ॥

शिष्याणामनुसन्धानवृद्धये प्राक्तनार्थोपसंहारपूर्वकं वस्त्वन्तरमासूत्रयन्नाह—एवमेतदित्यादि ।

हिन्दी-व्याख्या

अनुवाद—हे ऋषियों ! इस प्रकार मैंने शिर, नेत्र, भौंह, नासिका, ओष्ठ और कपोल से होने वाले उपाङ्गों के लक्षण के साथ कर्म को आप लोगों से कहा है। अब मैं क्रमशः हाथ, वक्षःस्थल, पार्श्व, उदर, करि, जङ्घा, ऊरू एवं पैरों के लक्षण तथा विनियोग को तात्त्विक रूप से कहूँगा ॥ १–२ ॥

अभिनव-भारती

अभिनव—जो शिव अपने स्पर्श से विवश स्थिति के कारण गायों को अलङ्कृत कर देते हैं, स्पर्श तन्मात्रा रूप शरीर वाले उस परमेश्वर (शिव) की हम स्तुति करते हैं ॥ ८ ॥

अभिनव—शिष्यों की अनुसन्धान शक्ति की वृद्धि के लिए पूर्व कथित अर्थों का उपसंहार पूर्वक अन्य वस्तु का निरूपण करते हुए कहते हैं—एवमेतत् इत्यादि ।

१. क-म. इत्येतच्छिरसोनेत्रभ्रूनासोष्ठकपोलजम् ।
   क-एवेतच्छिरोनेत्रे भ्रूनासोष्ठकपोलकम् ।
२. क-ङ. कर्मरक्षण० ।
३. ख. ग. अपाङ्गानां ।

[1]हस्तादीनां प्रवक्ष्यामि कर्म नाट्यप्रयोजकम्[2]।
यथा येनाभिनेयं च गदतो मे निबोधत[3] ॥ ३ ॥

क्रियत इति कर्म अभिनेयमित्यर्थः। हस्तेति हस्तादीनामिति पादान्तानामनेनाध्यायेन लक्षणं वक्ष्यामि। विनियुज्यतेऽनेनेति विनियोगः। तद्यथा—'एषोऽग्निवर्षधारानिरूपणे (९-२०)' इत्यादि। तत्रेतिकर्तव्यता –तद्यथा—'प्रविरलचलिताङ्गुलि' (९-२०) रित्यादि।

तत्त्वत इति। अभिनयस्य द्विविधा इतिकर्तव्यता लोकधर्मो नाट्यधर्मो च। आद्या द्विविधा—आन्तरा बाह्या च। तत्रान्तरा चित्तवृत्त्यर्पकत्वेनानुभावस्य, यथा—'गर्वेऽप्यहमिति तज्ज्ञैर्ललाटदेशोच्छ्रितः' (९-१९) इति। केवलबाह्या अवयवरूपा वा, यथा—पद्मकोशस्य कथमपि निरूपणे।

अनुवाद—अब मैं नाट्य-प्रयोजक हस्तादि अङ्गों की क्रियाओं को जिसके द्वारा जैसा प्रयोग अभिनय करना चाहिए, कहूँगा। मेरे कथन को आप लोग सुनिये (समझिये) ॥ ३ ॥

अभिनव—जो किया जाय उसे कर्म कहते हैं अर्थात् नाट्य में जो किया जाता है उसे कर्म (अभिनय) कहते हैं। यहाँ कर्म का अर्थ अभिनेय है। इस नवम अध्याय में हाथ से लेकर पैर पर्यन्त अङ्गों का लक्षण कहूँगा। जिसके द्वारा उन अङ्गों का विनियोजन किया जाय, उसे विनियोग कहते हैं। जैसे—पताक आदि हस्तों का विनियोग अग्निज्वाला, वृष्टि-धारा के अभिनय में करना चाहिए। वहाँ इतिकर्त्तव्यता जैसे—'प्रविरलचलिताङ्गुलि' इत्यादि।

अभिनव—'तत्त्वतः' का अर्थ है पदार्थ रूप में, अभिनय की इतिकर्त्तव्यता दो प्रकार की होती है—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। उनमें लोकधर्मी इतिकर्त्तव्यता के भी दो भेद होते हैं—अन्तरा और बाह्या। उनमें अन्तरा निर्वेद प्रभृति चित्तवृत्तियों को व्यक्त कर देने वाले अनुभावों की इतिकर्त्तव्यता है। जैसे—गर्व के अभिनय में पताक हस्त को ललाट पर उठाते हुए स्थित रखना चाहिए। दूसरी बाह्या अवयवरूपा इतिकर्त्तव्यता है। जैसे—पद्मकोश हस्त का किसी भी वस्तु के निरूपण (अभिनय) में।

---

१. ख. हस्तानां च। ग. हस्तानां तु।

२. ख. ग. नाट्यप्रयोगजम्।

३. ख. तन्मे निगदतः शृणु।

नाट्यधर्म्यपि द्विधा—नाट्योपयोगमूलभूतकैशिकीसम्पादनोचितालौकिक-शोभाहेतुः। यथा—आवेष्टितादिचतुर्विधकरणरूपा। काचित्त्वंशेन लोकमुपजीवति, यथा—वर्णातुरेण हस्तेन तत्र तत्र व्यवहितेन लोक उपजीव्यते। लोको ह्यनिर्देश्यताशेषं वस्तु निर्दिदिक्षुरीदृशं तादृशमित्थम्भूतमित्यवसरे कथयतीति प्रयुक्तमेव चतुरैः। एवं जनान्तिकादौ वाच्यम्। नटसमयमात्ररूपा नाट्यधर्मी, समयस्याकिञ्चित्करस्य कल्पने प्रयोजनाभावात्। १-३।

अनुवाद—नाट्यधर्मी इतिकर्त्तव्यता भी दो प्रकार की होती है—पहली नाट्य के उपयोग में मूलभूत कौशिकी वृत्ति के सम्पादन के उचित अलौकिक शोभा के कारणमय। जैसे—आवेष्टित आदि चार प्रकार के कारणों से उपलक्षित कोई नाट्यधर्मी इति-कर्त्तव्यता अंशरूप से लोक का उपजीवन करती हैं—वर्णातुर हस्त के द्वारा। वहाँ पर व्यवहित ढंग से (बीच-बीच में) लोकवृत्त का आश्रय लेता है। लोक जब अनिर्देश्य वस्तु का निर्देश करना चाहता है तो विशेष अवसर पर चतुर पुरुषों के द्वारा 'ऐसा है' 'वैसा है' 'इस प्रकार का है' इस रूप में जो प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार जनान्तिक आदि के अभिनय में कहना चाहिए। नाट्यधर्मी नटों का समयाचार रूप है। अतः किञ्चित्करण रूप समय के कल्पन में कोई प्रयोजन नहीं है॥ १-३॥

विमर्श—नाट्य प्रयोग में हस्ताभिनय का प्रमुख स्थान है। इसीलिए भरतमुनि ने अन्य आङ्गिक अभिनयों की अपेक्षा हस्ताभिनय का विस्तार से विवेचन किया है। नाट्यसंग्रह में चौथे तत्त्व के रूप में 'धर्मी' का निरूपण किया गया है। जैसे—अभिनवगुप्त और शार्ङ्गदेव दोनों इतिकर्त्तव्यता को 'धर्मी' कहकर परिभाषित करते हैं। अभिनय की तरह इतिकर्त्तव्यता दो रूपों में प्रतिपादित हैं—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। लोकधर्मी में व्यावहारिक जगत् का यथार्थ रूप में जस का तस वर्णन तथा प्रयोग किया जाता हैं। नाट्यधर्मी कला-सर्जना प्रक्रिया के द्वारा उसे संस्कृत एवं अतिरञ्जित कर एक रूप प्रदान करती हैं। जिससे नाट्य में चमत्कार एवं सौन्दर्य का योग होता है और नाट्य वैचित्र्य-पूर्ण एवं अनुरञ्जक हो जाता है।

हस्तानुपदिशति पताक इत्यादिना ।

अभिनवगुप्त लोकधर्मी नाट्यपरम्परा के दो प्रकार बताये हैं —'अन्तरा' और 'बाह्या'-शार्ङ्गदेव ने इसे चित्तवृत्यर्पिका और बाह्यवस्त्वनुकारिणी कहा है। इनमें अन्तरा के द्वारा आन्तरिक चित्तवृत्तियों का प्रकाशन होता है। जैसे—यदि गर्व के अभिनय में 'पताक' हस्तमुद्रा का प्रयोग होता है। इसमें चित्तवृत्यर्पित गर्व का प्रदर्शन होता है। अतः इसे 'चित्तवृत्यर्पिका' कहते हैं। दूसरी बाह्या बाह्य अवयव रूप इतिकर्त्तव्यता है। इसके द्वारा बाह्य वस्तुओं का संकेत किया जाता है। जैसे पद्मसदृश सुन्दर वस्तुओं की अभिव्यञ्जना में 'पद्मकोश' हस्तमुद्रा का प्रयोग होता है। इसमें बहिःस्थित पद्मादि वस्तुओं का अनुकरण होता है। इसलिए इसे 'बाह्यवस्त्वनुकारिणी' कहते हैं। इस प्रकार मानव-जीवन के आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के परिवेश का प्रदर्शन लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के द्वारा किया जाता है।

नाट्यधर्मी नाट्य-परम्परा के भी दो प्रकार होते हैं—कैशिकी-शोभा उन अंशोपजीविनी। इनमें प्रथम कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेकर नाट्योपयोगिनी लौकिक शोभा को उत्पन्न करती है। जैसे—हस्ताभिनय के आवेष्टित, उद्वेष्टित, व्यावर्तित, और परिवर्तित। इन चार प्रकार के करणों का प्रयोग इसी नाट्यधर्मी परम्परा के द्वारा किया जाता है। दूसरी अंशोपजीविनी नाट्यधर्मी के द्वारा पर्वतादि अनिर्देश्य वस्तुओं का अंशतः प्रदर्शन किया जाता है। क्योंकि पर्वतादि वस्तुओं का रंगमंच पर पूर्णतः प्रदर्शन सम्भव नहीं है। अतः इनका प्रदर्शन अंशतः होता है। जनान्तिक, अपवारित के द्वारा उनका प्रदर्शन किया जाता है। भरत ने हस्ताभिनय के द्वारा सम्पन्न होने वाले अभिनयों, मुद्राओं एवं चेष्टाओं आदि का जो विस्तृत विवेचन किया है उसमें लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों नाट्य-परम्पराओं का समन्वय है।

अभिनव—अब पताक आदि के द्वारा हस्ताभिनय का उपदेश करते हैं—

पताकस्त्रिपताकश्च [1]तथा वै कर्तरीमुखः ।
अर्धचन्द्रो ह्यरालश्च शुकतुण्डस्तथैव च ॥ ४ ॥
[2]मुष्टिश्च शिखराख्यश्च कपित्थः [3]खटकामुखः ।
सूच्यास्यः पद्मकोशश्च तथा[4] वै सर्पशीर्षकः ॥ ५ ॥
[5]मृगशीर्षः परो ज्ञेयो हस्ताभिनययोक्तृभिः ।
[6]काङ्गूलकोऽलपद्मश्च चतुरो भ्रमरस्तथा ॥ ६ ॥
हंसास्यो हंसपक्षश्च सन्दंशो मुकुलस्तथा ।
ऊर्णनाभस्ताम्रचूडश्चतुर्विंशतिरीरिताः[7] ॥ ७ ॥
असंयुताः [8]संयुताश्च गदतो मे निबोधत ।

अनुवाद—पताक, त्रिपताक, कर्त्तरीमुख, अर्द्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कपित्त्थ, कटकामुख, सूच्यास्य, पद्मकोश, सर्पशीर्ष, मृगशीर्ष, काङ्गुल, अलपद्म, चतुर, भ्रमर, हंसास्य, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, ऊर्णनाभ और ताम्रचूड़ ये चौबीस असंयुत हस्त कहे गये हैं। अब मेरे द्वारा कहे जाने वाले संयुत हस्तमुद्राओं को सुनिये—॥ ४–७ ॥

---

१. क–ज. तत्र वै ।
२. क–ड मुष्टिकश्च ।
३. ख. कटकामुखः ।
४. क. सर्पशिरा मृगशीर्षकः । क–ज. सर्पगोमृगशीर्षकः ।
क–न. सर्पशिरा मृगशीर्षः । क–च. सर्पशिरो हि मृगशीर्षकः ।
५. क. पद्यार्धमिदं नास्ति ।
६. ख. लाङ्गूलोत्पलपद्मश्च । ग. लाङ्गूलोत्पलपद्मश्च ।
७. ख. ग. चतुर्विंशदिमे कराः ।
क–च. चतुर्विंशतिकीर्त्तिताः ।
८. क–च. संयुतास्तु ।

अञ्जलिश्च कपोतश्च कर्कटः [1]स्वस्तिकस्तथा ॥ ८ ॥
[2]खटकावर्धमानश्च [3]ह्युत्संगो निषधस्तथा ।
[4]दोलः पुष्पपुटश्चैव तथा मकर एव च ॥ ९ ॥
गजदन्तोऽवहित्थश्च[5] [6]वर्धमानस्तथैव च ।
[7]एते तु संयुता हस्ता मया प्रोक्तास्त्रयोदश ॥ १० ॥

तथा चशब्देन त्रिपताकः प्रकारस्तस्यैव कर्त्तरीमुख इति दर्शनात्तन्निष्पत्तये संहिताकार्यंदृष्टाध्ययनपरशब्दगतध्यान (विषयक) शब्दवद्धस्तान्तरेऽपि दृश्यमानेन विधेयेन तद्बुद्धि दर्शयति । एवमन्येऽपि त्रिपताकादिवद् व्याख्येयाः ।

अनुवाद—अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, कटकावर्द्धमान, उत्संग, निषध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदन्त, अवहित्थ तथा वर्द्धमान ये तेरह संयुत हस्त हैं ॥ ८–१० ॥

अभिनव—'च' शब्द से त्रिपताक और उसी का एक प्रकार कर्त्तरीमुख है। इस प्रकार देखे जाने से उसको निष्पत्ति के लिए संहिताकार्य में देखे गये अध्ययन से सम्बद्ध शब्दगत ध्यान (चिन्तन) विषयक शब्द की तरह हस्तान्तर अर्थात् अन्य हस्तों में देखे जाने वाले विधेय के द्वारा उस विधेय की बुद्धि को दिखाते हैं। इसी प्रकार अन्य हस्तों का भी त्रिपताक आदि की तरह व्याख्या करनी चाहिए। भाव यह कि जिस प्रकार एक शब्द में देखे गये संहिता कार्य के अनुसार अन्य शब्दों में भी उसी प्रकार संहिताकार्य का विधान किया जाता है उसी प्रकार एक हस्तमुद्रा में किये गये विधेय के अनुसार अन्य हस्तमुद्राओं के विधेय को समझना चाहिए।

---

१. क–ङ. स्वस्तिकं तथा ।
२. ख. कठकावर्धमानश्च ।
३. ख. उत्सङ्गो ।
४. ख. दोला । क–म. दोला ।
५. क–ट. अवहित्थं च ।
६. क–म. वर्तमानश्च ।
७. क–म. एते संयुतहस्ताश्च ।

क्वचित्तु हस्तसदृशहस्तान्तरस्वीकाराय हंसपक्षश्च सन्दंश इति सन्दंशशब्दानन्तरं चकारेण अङ्गुष्ठमध्यमाग्रनिष्पीडिताग्रमतर्जनीलक्षणोऽपि शून्यभास्वरविद्युदाद्यभिनयविषये नृत्ताचार्यप्रवाहसिद्धः कोहललिखितोऽपि हस्तः सङ्गतो भवतीति हस्तान्तराण्युत्प्रेक्ष्याणि। ते त्वसंयुता भवन्ति। संयुक्तकरणः कार्यं इति (९।२०) वक्ष्यते यतः यत्राप्येतन्नास्ति तत्रापि प्रयोगयुक्त्या हस्तद्वयप्रयोगो भवत्येव, यथा परेण हारे नीयमाने भयात्पताकाद्वयस्यांसादिक्षेत्रे पराङ्मुखस्य प्रयोगः। एवं प्रतापनादावपि। एवमन्यत्रोत्प्रेक्षणीयम्। किञ्च पताकादीनामपि द्विशो युगपत् प्रयोगे युतत्वमभिनयविशेषे। तद्यथा छेदाभिनये कपित्थस्य ऊर्ध्वाधोभावेन पताकस्य "कुणिच्छ अह, अस्तमच्छरजहिसीसहिक्छजत्तंति" (?)। चित्राभिनये चैतत्। एते तु संयुता एव। नत्वेत एव, पताकादीनामपि प्रयोगे क्वचित्संयुतत्वात्। एते च त्रयोदश संयुक्ताव्यतिरेकेण न स्वार्थस्य गमकाः॥ ८-१०॥

अभिनव—कहीं पर तो एक हाथ के समान दूसरे हाथ के स्वीकार करने के लिए 'हंसपक्षश्च संदंशः' इस प्रकार संदंश शब्द के अनन्तर चकार से अङ्गुष्ठ और मध्यमा के अग्रभाग से निष्पीड़ित अग्रभाग वाली तर्जनी जिस हस्तमुद्रा में हो और शून्य, चमकने वाली बिजली आदि के अभिनय में नृत्ताचार्यों के प्रवाह में सिद्ध कोहलाचार्य द्वारा लिखित हस्त भी सङ्गत होता है, इसी प्रकार अन्य हस्तों की भी उत्प्रेक्षा करनी चाहिए। वे हाथ तो असंयुतहस्त भी होते हैं। जैसा कि 'संयुतकरणः कार्यः' इस प्रकार आगे कहेंगे। क्योंकि जहाँ कहीं भी ऐसा नहीं है वहाँ भी प्रयोग के अनुसार दोनों हाथों का प्रयोग होता ही है। जिस प्रकार दूसरे के द्वारा हार के छीने जाने पर भय से स्कन्धादि स्थल पर पराङ्मुख रूप में विन्यस्त पताक नामक दोनों हाथों का प्रयोग होता है। उसी प्रकार जाड़े के समय आग में हाथों के तपाने में पराङ्मुख पताकहस्तों का प्रयोग होता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी समझना चाहिए और पताक आदि हाथों का एक साथ प्रयोग करने पर अभिनय विशेष में संयुक्त प्रयोग होता है। जैसे किसी वस्तु के काटने के अभिनय में कपित्थ हस्त का और हाथ ऊपर नीचे करने के भाव में पताक हस्त का प्रयोग करना चाहिए। 'कुणिच्छह' इत्यादि चित्राभिनय में इनका प्रयोग होता है। ये तेरह संयुतहस्त ही होते हैं, न कि इतने ही (१३) ही होते हैं। कहीं-कहीं पताक आदि के प्रयोग में भी संयुतत्व रहता है। ये तेरह संयुतहस्त संयुतत्व के विना अपने अर्थ के बोधक नहीं होते॥ ४-१०॥

विमर्श—आङ्गिक अभिनयों में हस्ताभिनय का सर्वाधिक महत्त्व है। हस्ताभिनय के द्वारा ही मानव हृदय के सुख-दुःख आदि भावों की अभिव्यञ्जना होती है। संसार में मानव विविध भावों को अभिव्यक्त करने के लिए हाथों की विभिन्न मुद्राओं का सञ्चालन करता है, किन्तु हाथ की प्रत्येक मुद्रा के मूल में भाव और रस की आन्तरिक प्रेरणा अवश्य रहती है। यही कारण है कि भरत ने हस्तमुद्राओं का विशद विवेचन किया है। भरत ने असंयुत, संयुत और नृत्त हस्तमुद्राओं के रूप में हस्ताभिनय के तीन विभाग स्वीकार किये हैं। भरत के अनुसार असंयुत हस्तों के चौबीस भेद होते हैं। नन्दिकेश्वर ने भरतार्णव में असंयुत हस्त के सत्ताइस भेद बताये हैं किन्तु अभिनयदर्पण में असंयुतहस्त के अट्ठाइस प्रकार बताये गये हैं। सङ्गीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में असंयुत हस्त के चौबीस भेद बताये गये है। नाट्यशास्त्र में संयुतहस्त के तेरह भेद वर्णित हैं। भरतार्णव में सोलह और अभिनयदर्पण में तेइस संयुत हस्तमुद्राओं का विवेचन किया गया है। नृत्याध्याय और संगीतरत्नाकर में नाट्यशास्त्र के अनुसार संयुत हस्त के तेरह प्रकार बताये गए है।

एक हाथ से किए जाने वाले अभिनय को 'असंयुतहस्त' और दोनों हाथों के परस्पर मिले हुए अभिनय को 'संयुतहस्त' कहते है। बहुत से हस्तभेदों में कर्म, रूप और भाव की वृष्टि बहुत कुछ साम्य दृष्टिगोचर होता है। जैसे पताक, त्रिपताक और कर्त्तरीमुख तीनों एक दूसरे के निकटवर्त्ती है। इनकी रूप-रचना और विनियोग में भी कुछ न कुछ साम्य है। त्रिपताक नामक जो हस्तमुद्रा है उसी के समान उसी का प्रकार कर्त्तरीमुख हस्त भी है। अतः जिस प्रकार एक संहिता-कार्य देखा गया है उसी के अनुसार तत्सदृश अन्य शब्दों में भी संहिता कार्य का अनुसन्धान किया जाता है। उसी प्रकार एक हस्तमुद्रा के विधेय के अनुसार दूसरे हस्तमुद्रा के विधेय को भी समझना चाहिए। भाव यह है कि एक हस्तमुद्रा में जो विधेय है, जिस प्रकार रूप-रचना एवं विनियोग होता है उसी प्रकार अन्य हस्तमुद्रा में भी करना चाहिए। जैसे कर्त्तरीमुख त्रिपताक हस्तमुद्रा के समान होता है। केवल इसकी तर्जनी पीछे की ओर मुड़ी हुई होती है। अतः उसी के समान ही इसका विधेय करना चाहिए।

इस प्रकार एक हस्त के सदृश अन्य हस्तमुद्रा के स्वीकार करने के लिए अन्य-अन्य हस्तमुद्राओं की उत्प्रेक्षा करनी चाहिए। ये हाथ असंयुत भी होते है, किन्तु कहीं-कहीं संयुत हस्त का प्रयोग होता है। हार के छीनने के समय स्कन्ध तथा वक्ष पर पराङ्मुख रूप में पताक नामक दो हाथों का प्रयोग होता है। इसी प्रकार शीतकाल में अग्नि में हाथों के तपाने में पराङ्मुख दो पताक हाथों का प्रयोग होता है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी समझना चाहिए और भी दो पताक हस्तों का एक साथ प्रयोग करते समय अभिनय विशेष में संयुतत्व रहता है। जैसे किसी वस्तु के काटने के अभिनय में कपित्थ हस्त का और किसी वस्तु को नीचे करने के अभिनय में पताक हस्त का प्रयोग करना चाहिए।

[1]नृत्तहस्तानतश्चोर्ध्वं गदतो मे निबोधत ।
चतुरस्रौ तथोद्वृत्तौ तथा तलमुखौ स्मृतौ ॥ ११ ॥
स्वस्तिकौ विप्रकीर्णौ [2]चाप्यरालखटकामुखौ ।
[3]आविद्धवक्रौ सूच्यास्यौ रेचितावर्धरेचितौ ॥ १२ ॥

एतेषां त्वभिनयहस्तानामलातचक्रप्रतिमतां दर्शयितुं मार्गाणां मसृणोद्धतछिद्रवर्तनात्मकतया मसृणतादि निवृत्तये बालुकोत्क्षेपणेन, उद्धतोत्सारणेन छिद्राच्छादनेन चैकवर्तनानुप्रवेशवत् एकाभिनेयार्थे विश्वान्ततां प्रथयितुं, नृत्तस्य च वस्तुभूतत्वेनोक्तस्य स्वरूपमभिधातुं नृत्यन्त्यौ चेट्याविति नृत्तादिविषये तु सूचाङ्कुरादावुपयोगमपि च दर्शयितुं नृत्तशब्देन विशेष्यं निर्दिशति—नृत्तहस्तानित्यादिना ।

अञ्जलि आदि तो संयुतहस्त हो हैं, किन्तु संयुतहस्त तेरह ही नहीं होते, क्योंकि कहीं-कहीं पताकादि के प्रयोग में भी संयुतत्व रहता है । ये अञ्जलि आदि तेरह हस्त तो अर्थ के गमक होते है किन्तु संयुतत्व के विना अपने अर्थ के बोधक नहीं होते ॥ ८-१० ॥

अभिनव —इन अभिनय हस्तों का अलातचक्र के साथ सादृश्य दिखलाने के लिए और मार्गो के चिकने (फिसलने वाले) उद्धत (ऊबड़-खाबड़), उन्नत तथा गड्ढे वाले होने से फिसलन आदि को दूर करने के लिए जिस प्रकार बालू के क्षेपण (फिसलन वाले मार्ग पर बालू फेंकना), ऊबड़ खाबड़ (उद्धत) मार्ग को ठीक करने के लिए टीलों के उत्सारण (काटना) तथा गड्ढों आच्छादन (पाटना) होता है समतल मार्ग में प्रवेश के समान एक ही अभिनेय अर्थ में विश्रान्ति के लिए और नृत्त के वस्तु रूप नृत्त के स्वरूप को बतलाने के लिए 'चेटियाँ नाच रह हैं' यही नृत्तादि के विषय में शाखा एवं अङ्कुरादि में उपयोग को भी दिखलाने के लिए नृत्तहस्तादि के द्वारा नृत्त शब्द से विशेष्य का निर्देश करते हैं ।

---

१ क न. ड. नृत्तहस्तान् ततश्चोर्ध्वं । क–म. नृत्तहस्तानतस्तूर्ध्वं ।
२. ख. चाप्यरालकटकामुखौ । क–न. वाप्यरालकटकामुखौ ।
३. ग. अविद्धवक्रौ । क-प. आविद्धपक्ष्मौ ।

[1]उत्तानावञ्चितौ [2]वापि पल्लवौ च तथा करौ।
[3]नितम्बौ चापि विज्ञेयौ केशबन्धौ तथैव च ॥ १३ ॥
[4]लताख्यौ च तथा प्रोक्तौ करिहस्तौ तथैव च।
[5]पक्षवञ्चितकौ चैव पक्षप्रद्योतकौ तथा ॥ १४ ॥
[6]ज्ञेयौ गरुडपक्षौ च हंसपक्षौ[7] तथैव च।
ऊर्ध्वमण्डलिनौ चैव पार्श्वमण्डलिनौ तथा ॥ १५ ॥
उरोमण्डलिनौ चैव उरःपार्श्वार्धमण्डलौ।
[8]मुष्टिकस्वस्तिकौ चापि [9]नलिनीपद्मकोशकौ ॥ १६ ॥

अभिनव—ये हस्त कभी संयुत रूप और कभी असंयुत रूप का उपजीवन करते हैं, इसलिए ये अकेले (एक-एक भी) प्रयुक्त होते हैं ॥ ११-१६ ॥

अनुवाद—अब इसके बाद मेरे द्वारा कहे गये नृत्तहस्तों को समझिये। चतुरस्र, उद्वृत, तलमुख, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, अराल, कटकामुख, आविद्धवक्र, सूच्यास्य रेचित, अर्धरेचित, उत्तानवञ्चित, पल्लव, नितम्ब, केशबन्ध, लता, करिहस्त, पक्षवञ्चित, पक्षप्रद्योतक, गरुड़पक्ष, दण्डपक्ष, ऊर्ध्वमण्डलिन्, पार्श्वमण्डलिन्, उरोमण्डली, उरःपार्श्वमण्डली, मुष्टिस्वस्तिक, नलिनीपद्मकोश, अलपल्लव, उल्वण, ललित, तथा वलित ये तीस नृत्तहस्त हैं ॥ ११–१६ ॥

---

१. क-ङ. उत्तानवञ्चितौ।
२. क-ग. ङ. चैव।
३. क-ग. ङ. नितम्बावपि।
४. ख. घ. सम्प्रोक्तौ करिहस्तौ च लताख्यौ च तथैव च।
५. क-म. कक्षवञ्चितकौ चैव कक्षप्रद्योतकौ तथा।
६. क-न. तथा।
७. क. ङ. दण्डपक्षावतः परम्।
८. ख. मुष्टिकः स्वस्तिकञ्चापि। ग. मुष्टिकः स्वस्तिकश्चापि।
९. ख. ग. (टि.) नलिनौ पद्मकोपकौ।

[1]अलपद्मोल्वणौ च ललितौ वलितौ तथा ।
[2]सप्तषष्टिकरा ह्येते नामतोऽभिहिता मया ॥ १७ ॥

संयुतासंयुतरूपोपजीविन एत इत्येकाकिनोऽपि प्रयुज्यन्ते। [नाशंसन्त इति अन्येऽपि न न शंसन्ति दर्शयन्ति]।

नन्विदं यथा लक्षणं यथा च कर्मण्यभिधेयेतेति तथा निबोधतेति सम्बन्धः ॥ १७ ॥

विमर्श - अभिनय में सौन्दर्य विधान के लिए संयुत एवं असंयुत हस्ताभिनयों के विविध रूपों के आधार पर विहित हस्तक्रिया को नृत्तहस्त कहा जाता है। नृत्तहस्त नृत्य के समय हाथों के चलाने एवं हस्तमुद्राओं के प्रयोग करने का एक ढंग है। नाट्यशास्त्र में तीस नृत्त-हस्तों का निरूपण हैं। नृत्यरत्नावली और संगीतरत्नाकर में भी नाट्यशास्त्र के समान तीस नृत्तहस्तों का विवेचन है, किन्तु भारतार्णव में सोलह नृत्तहस्तों का उल्लेख है और विवेचन बाइस नृत्तहस्तों का किया गया है। ये नृत्तहस्त अभिनेय अर्थ में विभ्रान्ति करते है और शाखा तथा अङ्कुर के अभिनय की पूर्ति करते है। ये कभी संयुतहस्त और कभी असंयुत रूप का उपजीवन करते हैं। इनमें से किसी एक का भी प्रयोग किया जाता है।

अनुवाद—इस प्रकार मैंने चौसठ हस्तमुद्राओं का नाम से कथन किया है। अब इनके लक्षणों एवं कर्मों को समझिए (सुनिए) ॥ १७ ॥

अभिनव—अब मैं इनके जैसा लक्षण और जैसे कर्म को कहता हूँ, वैसा आप लोग समझें, इस प्रकार सम्बन्ध है ॥ १७ ॥

---

१. क-ग. ङ. अलपल्लवोल्वणौ चापि ।
क-म. अल्लपल्लवकौ हस्ताबुल्वणौ ललितौ तथा ।
२. क. ख. ग. चतुष्षष्ठिकारा ध्येते ।

[1]यथा लक्षणमेतेषां कर्माणि च निबोधत।
[2]प्रसारिताः समा सर्वा [3]यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि।
कुञ्चितश्च तथाङ्गुष्ठः स पताक इति स्मृतः ॥ १८ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र के गायकवाड़ संस्करण में कुल ६४ हस्तमुद्राएँ बतलाई गई हैं किन्तु परिगणनया वे (असंयुत हस्त २४, संयुतहस्त १३ और नृत्तहस्त ३० कुल २४+१३+३०= ६७) सड़सठ हैं। इस विषमता का समाधान संगीतरत्नाकरकार ने इस प्रकार किया है। उनका कहना है कि लोक में चौसठ हस्तमुद्राएँ प्रसिद्ध हैं किन्तु शास्त्रदृष्टि और योग से उनकी संख्या सड़सठ है, चौंसठ नहीं। इस प्रकार संगीतरत्नाकरकार कहते हैं कि स्वस्तिक हस्त ही पृथक् (विच्युत) होने पर विप्रकीर्ण कहे जाते है। इसलिए स्वस्तिक हस्तों से पृथक् स्वतन्त्र रूप से विप्रकीर्ण का प्रयोग नहीं होता हे। इसी प्रकार उरोमण्डलिन्, हस्तपार्श्वमण्डलिन् हस्त भिन्न नहीं है और अलपल्लव हस्त उल्वण के विशेषण हैं। विशेषण और विशेष्य भिन्न पदार्थ नहीं होते हैं जिस प्रकार 'नीलोत्पल' कहने पर नील और उत्पल अलग-अलग पदार्थ नहीं हैं। जो नील है वही कमल है और जो कमल है वही नील है। उसी प्रकार ये विशिष्ट हस्त पृथक्-पृथक् नहीं, अपितु तीन हैं, छः नहीं है। इस प्रकार उनकी चौंसठ संख्या सिद्ध होती है किन्तु यह मत संगीतरत्नाकरकार का है। भरत आदि आचार्यो का नहीं। मेरे विचार से सड़सठ संख्या ही भरतोक्त कारिका में 'चतुष्षष्टिकराः' यह पाठ भ्रष्ट है। इसके स्थान पर 'सप्तषष्ठिकराः' पाठ होना चाहिए। ऐसा पाठ मानने पर शङ्का का अवसर ही नही रहता ॥ १८ ॥

१. असंयुत हस्त

(१) पताक हस्त

अनुवाद—अब पताकादि हस्तमुद्राओं का लक्षण कहते हैं–'प्रसारिताः समा इत्यादि'। जिसकी सभी अंगुलियों सम और प्रसृत (फैली हुई) होती हैं और अंगूठा कुञ्चित (तजंनी के मूल में सिकुड़ा हुआ) होता है उसे 'पताक' हस्त कहा गया हैं ॥ १८ ॥

---

१. ख. यथा।
२. ख. ग. प्रसारिताग्राः सहिताः।
३. क-म. यस्याङ्गुल्यो।

अथ यथोद्देशं पताकादीनां लक्षणमाह—प्रसारिता समा इति। समा इति प्रकृतिस्था इत्यर्थः। प्रसारिताग्रा वा इति पाठः। प्रसारिताः प्रधाना इत्यर्थः। समाः संहिता अविरलाः। कुञ्चितत्वं पादस्य वक्ष्यते तल्लक्षणोपजीवनेनाङ्गुष्ठ-सन्निवेशः कार्यं इत्यर्थः। पताकाकारत्वात्पताकः। अतएव पताकाप्यनेनैवाभिनेया। एवमन्येष्वपि हस्तेषु नामनिर्वचनानुसारेण विनियोगः प्रदर्शनीयः। प्रविरलचलिता-ङ्गुलित्वादियोगेऽपि एकदेशविकारे तत्त्वप्रत्यभिज्ञानात्पूर्वापरकोट्योश्च मूलसन्नि-वेशाश्रयणात्पताकात्वमेव। एवमन्यत्रापि ॥ १८ ॥

अभिनव—समा का अर्थ है प्रकृतिस्थ। 'प्रसारिताग्राः' इस प्रकार पाठ है। 'प्रसारिता' का अर्थ है प्रधान समा का पर्याय संहिता है जिसका अर्थ है एक साथ मिला हुआ (अविरल)। 'कुञ्चित' पद का अर्थ आगे कहेंगे। उसके लक्षण का उप-जीवन करके अर्थात् आगे कहे जाने वाले कुञ्चित पद के लक्षण के अनुसार अंगूठे का सन्निवेश करना चाहिए। इस हस्त को पताकहस्त इसलिए कहते हैं कि इसका आकार पताका के समान होता है। अतः पताका का अभिनय इसी के द्वारा करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य हस्तों (हस्तमुद्राओं) में भी उनके नामों के निर्वचन (व्युत्पत्ति) के अनुसार विनियोग प्रदर्शित करना चाहिए। पताकहस्त में प्रविरलचलिताङ्गुलित्व आदि का योग होने पर भी एकदेशविकृतन्याय से (एकदेश में एक अंश में विकार होने पर भी दूसरा देश नहीं कहलाता इस न्याय से एकदेश में विकार होने पर भी वस्तु के तत्त्व के प्रत्मभिज्ञान से पूर्व ओर अपर कोटियों में मूल सन्निवेश के आश्रयण से पताकात्व ही है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी समझना चाहिए ॥ १९ ॥

विमर्श—असंयुत हस्तों में सर्वप्रथम पताक हस्त है। इसका उपयोग व्यापक रूप में होता है। पताकहस्त का उद्भव ब्रह्मा से माना जाता है। इसका वर्ण श्वेत, देवता विष्णु और जाति ब्राह्मण है। कहा जाता है कि एकबार ब्रह्मा विष्णु के पास जाकर उनकी बन्दना की। उस समय विष्णु का पताका (ध्वज) के आकार का हो गया, तबसे वह हस्त पताकहस्त कहा जाने लगा। इस हस्त में अंगुलियाँ सम और प्रसृत होती है और अंगुष्ठ कुञ्चित होता है। पताकहस्त का अभिनय-क्षेत्र अनन्त होता है। इसके द्वारा प्रकृति के सुन्दर, भव्य एवं भयानक रूपों का संकेत किञ्चित् परिवर्त्तन के साथ सम्पन्न हो जाता है। अभिनयदर्पण के अनुसार पताकहस्त में अंगुलियाँ परस्पर सटाकर आगे की ओर फैलायी जाती है और अंगूठे को मोड़कर तर्जनी के मूल में मिला दिया जाता है ॥ १९ ॥

एष प्रहारपाते [1]प्रतापने नोदने प्रहर्षे च।
[2]गर्वेऽप्यहमिति तज्ज्ञैर्ललाटदेशोत्थितः[3] कार्यः ॥ १९ ॥

प्रहारस्य पातने कर्तव्ये स्वयं परेण च क्रियमाणे। प्रतापने शीतशमनायाग्निस्पर्शग्रहणे, राज्ञां च प्रतापे। शत्रुहृदयम्लाननिमित्तभूतप्रसिद्धिविशेषात्मनि, तथा प्रकृष्टे च [4]आतपे हस्तेन तस्यापहरणाय "हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहस" (विद्धसाल) इत्यादौ। तथा अन्यस्य प्रेरणे अन्येन वा प्रेरणे तद्वारणाय। एषु च यथा लोकप्रसिद्धः यथा नाट्याचार्यप्रवाहश्च उर्ध्वपार्श्वगाधोमुखसम्मुखपराङ्मुखोत्तानत्र्यश्रचञ्चलाचञ्चलत्वादिविभाग उत्प्रेक्षणीयः। प्रहारे हृदयलग्नतल ईषत्कम्पमानः, प्रहर्षे च रोमाञ्चे सम्मुख उद्गते। अपिशब्दार्थसहितो (अहं) यथा अस्मदर्थो भवति अहमपि ममापि मयापि मय्यपीत्यादौ गर्वगर्भे प्रयोगे पार्श्वान्तरात्स्वपार्श्वभागच्छल्ललाटाभिमुख ऊर्ध्वो हस्तः कर्तव्यः ॥ १९ ॥

अनुवाद--प्रहार करने, आग तापने, प्रेरणा देने, प्रहर्ष, 'मैं भी' इस प्रकार गर्व के प्रकार में प्रयोक्ताओं को पताकहस्त को ललाटप्रदेश में उठाकर रखना चाहिए ॥ १९ ॥

अभिनव--प्रहार करने में (आयुध-अस्त्र शास्त्रों के पातन में) स्वयं अथवा दूसरे के द्वारा किये जाने वाले शास्त्रों के प्रहार में, प्रतापन अर्थात् शीत के शमन के लिए अग्नि का स्पर्श करने में और शत्रुओं के हृदय की ग्लानि के निमित्त रूप (कारण रूप) प्रसिद्धि विशेष रूप अर्थात् शत्रुओं के हृदय की ग्लानि के कारण विशेष रूप से प्रसिद्ध राजाओं के प्रताप और प्रकृष्ट धूप (आतप) होने पर हाथ से उसे दूर करने के लिए, जैसे 'हस्तच्छत्रनिरूद्धचन्द्रमहस०' इत्यादि स्थल पर, और अन्य को प्रेरणा देने अथवा अन्य के द्वारा प्रेरणा पाने पर उसके निवारण के लिए इनमें जैसी लोक में प्रसिद्धि हो और जैसा नाट्यचार्यो का प्रवाह हो, उसी के अनुसार ऊपर, नीचे, बगल में, सामने, पराङ्मुख, अधोमुख, उत्तान, तिरछे (त्र्यस्र), चञ्चल और चञ्चलता

१. क-ङ. प्रकोपने।
२. क-ब. गर्वेष्वहमिति।
३. ख ग. ललाटदेशस्थितः।
४. क. चोद्धतादपि तथोपहरणाय।

एषोऽग्निवर्षधारानिरूपणे पुष्पवृष्टिपतने च ।
संयुतकरणः कार्यः प्रविरलचलिताङ्गुलिर्हस्तः ॥ २० ॥

एष इति एतस्मिन्नर्थेऽभिनेता स्यादिति चेद्विभक्तिरतन्त्रा, एतदर्थनिरूपण इत्यर्थः । अग्नेः धारा ज्वालाः पुष्पवृष्टिग्रहणमप्रसिद्धपांसुरवतादिवृष्ट्यन्तरोपलक्षणम् । संयुतकरण इति हस्तद्वयमीदृशं कर्तव्यमित्यर्थः । संयुतासंयुतसम्बन्धा लोकोचिता चलनलक्षणा क्रिया यस्य तेनाग्निज्वालासूर्ध्वगमनं, जलधारासु अधोगमनमङ्गुलीनामूर्ध्वमुखहस्तस्य पुष्पवृष्टौ शिरोदेशे अधोमुखस्य स्थितस्य क्रमाञ्चलाङ्गुलेरधोगमनमिति संगृहीतम् । तेनैकाकिनोऽपि यत्प्रयोगदर्शनं तदवरुद्धम् । [1]प्रविरलास्सत्यश्चलिताः [2]प्रविरलं कृत्वा चलिता अङ्गुल्यो यत्रेति समासः । संयुतहस्तलक्षणात् स्वस्तिकमुपजीव्यं नृत्तहस्तलक्षणाद्वा ॥ २० ॥

रहित पताकहस्त की उत्प्रेक्षा करनी चाहिए। प्रहार करने में पताकहस्त का तल हृदय में लगा हुआ और थोड़ा कांपता हुआ होना चाहिए और प्रहर्ष के समय रोमाञ्च का उद्गम होना चाहिए। अपि शब्द के अर्थ के साथ अस्मद् शब्द का अर्थ होता है, जैसे–मैं भी, मेरा भी, मेरे द्वारा भी, मुझमें भो, इत्यादि रूप गर्व के प्रयोग में, एक पार्श्व (बगल) से दूसरे पार्श्व में आते हुए ललाट के सामने पताकहस्त को ऊपर उठाकर रखना चाहिए ॥ १९ ॥

अनुवाद – अग्नि की ज्वाला तथा वर्षा की धारा के निरूपण में, और पुष्पवृष्टि (फूल की वर्षा) होने के प्रदर्शन में प्रविरल चञ्चल (थोड़ी-थोड़ी हिलती हुई) अंगुलियों वाले पताकहस्त का संयुतहस्त अर्थात् दोनों हाथों से अभिनय करना चाहिए ॥ २० ॥

अभिनव—'एष' पद यहाँ 'एतस्मिन्' इस सप्तम्यन्त पद के अर्थ में अभिप्रेत है। विभक्ति तन्त्राधीन नहीं है। अतः इसका अर्थ होगा–इस अर्थ के निरूपण में। अग्निधारा का अर्थ है अग्नि को ज्वाला। यहाँ पर पुष्पवृष्टि का ग्रहण अप्रसिद्ध पांसुवृष्टि तथा रक्तवृष्टि आदि तथा अन्य वृष्टियों का उपलक्षण है। 'संयुतकरण का अभिप्राय है दोनों हाथों को ऐसा करना चाहिए। संयुत और असंयुत हस्तों से सम्बन्धित लोकव्यवहारोचित चलनरूप क्रिया हो जिसको, इस कथन से अग्निज्वाला के अभिनय में

१. क. अविरलास्सत्यश्चलिताः ।
२. क. अविरलं कृत्वा चलिता ।

स्वस्तिकविच्युतिकरणात् [1]पल्लवपुष्पोपहारशष्पाणि ।
[2]विरचितमुर्वीसंस्थं यद् द्रव्यं तच्च निद्र्देश्यम् ॥ २१ ॥

तेन सम्मुखौ पाताकौ मणिबन्धौ भुवि न्यस्तौ कृत्वा बाहुपरिभ्रमणयुक्त्या [3]स्वपाश्र्वसमं विच्युतिः तत्क्रियायाः । पल्वलं स्वल्पोदकं सरः । पुष्पप्रकरं शष्पं च हृद्यं तृणं यच्च भूमौ[4] पिच्छिलं बलितण्डुलवैचित्र्यन्यायेन[5] स्थापितं तदभिनयेदिति लोकांशोपजीविनी नाट्यधर्मी ॥ २१ ॥

ऊर्ध्वगमन जलधाराओं में ऊर्ध्वमुखहस्त की अङ्गुलियों का अधोगमन, पुष्टवृष्टि के अभिनय में शिरःप्रदेश में अधोमुख स्थित चंचल अंगुलियों का क्रमशः अधोगमन होता है, इन सबका संग्रह हो गया। इससे एक हस्त से जो प्रयोग दिखाया गया था, वह अवरूद्ध हो गया। प्रविरल अर्थात् जहाँ पर अंगुलियों को प्रविरल करके चञ्चल किया जाय, इस प्रकार समास है ॥ २० ॥

अनुवाद पताक हस्त को स्वस्तिक मुद्रा में करके फिर उसे विच्युत कर देने से अर्थात् पताकहस्त को यदि स्वस्तिक करके हटा दिया जाय तो उसके द्वारा पल्लव, पुष्पोपहार; घास और भूमि पर स्थित जो द्रव्यरचना है, उन सबका निर्देश करना चाहिए ॥ २१ ॥

अभिनय—संयुतहस्त के लक्षण अथवा नृत्तहस्त लक्षण के अनुसार स्वस्तिक का उपजीवन करना चाहिए। इससे मणिबन्ध स्थल पर सन्मुख पताकहस्तों का विन्यास करके बाहुओं के घुमाने की युक्ति से उस क्रिया की अपनी पार्श्व में विच्युत कर दे। पल्लव का अर्थ है स्वल्पजल वाला सरोवर। पुष्पप्रकर अर्थात् पुष्पसमूह, शष्प अर्थात् हृद्य घास और भूमि पर वलि के चावल की विचित्र-रचना जो स्थापित की गई है, बनाई गई है उसका अभिनय करे। इस प्रकार लोकांशोपजीविनी नाट्यधर्मी का ग्रहण होता है ॥ २१ ॥

---

१. क पल्वलपुष्पोपहारशष्पाणि ।
 क-म. पल्लवपुष्पोपहारशय्यादि ।
२. क-च विरचितमहीतलस्थं । क-म. विरचितमहातल्वगतं ।
३. क. सुपार्श्वसमं विच्छति ।
४. क. भूमौ पिच्छिला ।
५. क. वैचित्र्यभावेन ।

[1]स्वस्तिकविच्युतिकरणात् पुनरेवाधोमुखेन कर्तव्यम् ।
संवृतविवृतं पाल्यं छन्नं निविडं च गोप्यं च ॥ २२ ॥

पुनरेवेति वचनात् स्वस्तिकस्तद्विच्युतिः विच्युतिपूर्वकः स्वस्तिक इति क्रमः। तत्राधोमुखेन स्वस्तिकेन तद्विच्युत्या च संवृतविवृतमर्धं संवृतमर्धं च विवृतम्। यथा "घटयेद्धाटकवाटघट्टितजवेन"[2] इति। पाल्यं पतनाद्रक्षणीयं विच्युतिपूर्वकं शीघ्रं स्वस्तिककरणात्, छन्नं निबिडं[3] स्पष्टं तथैव गोप्यं, अन्यो मा द्राक्षीदिति तज्जातं करणं स्वस्तिककरणात्। चकारेण अपाल्ये, अनाच्छन्ने, अनतिनिबिडे अगोप्ये चाभिनयः॥ २२ ॥

अनुवाद यदि पताकहस्त को स्वस्तिक मुद्रा से हटाकर फिर उसे अधोमुख कर दिया जाय तो इसके द्वारा किसी वस्तु के बन्द करने, खोलने, रक्षा करने, ढकने, घना करने तथा छिपाने के भाव को प्रदर्शित करना चाहिए ॥ २३ ॥

अभिनव—पुनरेष इस वचन के कहने का अभिप्राय है कि पहिले स्वस्तिक रचना करे फिर उसे विच्युत करे अर्थात् विच्युतिपूर्वक स्वस्तिक करे, यह क्रम है। वहाँ अधोमुख स्वस्तिक के द्वारा और उसकी विच्युति के द्वारा संवृत और विवृत (बन्द करना और खोलना) अर्धसंवृत और अर्धविवृत क्रिया करे। जैसे 'घटयेद्धाटक-वाटघटितजवेन' इस उदाहरण में खोलने के समय कपाटों को वेग से खोले। 'पाल्य' का अर्थ है विच्युतिपूर्वक स्वस्तिक करने से शीघ्र पतन से रक्षा करने योग्य। 'छन्न' और 'निविड़' (सघन) का अर्थ स्पष्ट है। उसी प्रकार गोप्य भी, अर्थात् कोई दूसरा न देख ले, उससे उत्पन्न स्वस्तिक मुद्रा के करने से होते है। चकार से अपाल्य, अना-च्छन्न, अनतिनिविड़ और अगोप्य का अभिनय करे यह संकेत है। वह स्वस्तिक विच्युति रूप है, यह दिखाते हैं॥ २२ ॥

१ ख. स्वस्तिक विच्युतिकरणात् ।

२. क. घट्टित इव ।

३. क. छन्नं निबद्धं ।

अस्यैव चाङ्गुलीभिरधोमुखप्रस्थितोत्थितचलाभिः ।
वार्यूर्मिवेगवेलाक्षोभश्चौघश्च[1] कर्त्तव्यः ॥ २३ ॥
उत्साहनं बहु[2] तथा महाजनप्रांशुपुष्करप्रहतम्[3] ।
पक्षोत्क्षेपाभिनयं रेचककरणेन[4] प्रयुञ्जीत ॥ २४ ॥

स च स्वस्तिकविच्युतिरूप इति दर्शयति । रेचयति स्वसन्निवेशाद्यापयति स्वक्षेत्राद्वा या क्रिया तद्रेचककरणम् । तथा यथायोगं तत्र परस्योत्साहनं[5] प्रेरणं उत्साहजननं सत्पुरुषाभिनयनं च विरलाङ्गुलिक्षेपेणालपल्लवाकारवत् प्रधानं वस्तु अक्रमकरणेन निजपार्श्वगमनेन पार्श्वान्तरात् । प्रांशून्नतमूर्ध्वंगतात् पुष्करप्रहणने अधःपातनं[6] पक्षं पतत्रिणां मुहुरूर्ध्वं कटिक्षेत्रे उत्साहनवत् उत्क्षेपं कृतमथोर्ध्वगमनेन । अभिनयशब्दवत्पाल्यं च । अभिनयशब्दवैचित्र्यं पश्यन्तः उपाध्याया व्याचक्षते अभिशब्देनाभिमुख्यं, नशब्देन निषेधो, यशब्देन यदर्थो लक्ष्यते, तेन स्वपार्श्वोन्मुखदेशागमनेनाभिमुख्यमभिमुखत्वं पार्श्वक्षेत्रे तु रेचनपूर्वमधोमुखोत्तानपरिवर्तनेन च यच्छब्दार्थमभिनयेदिति ॥ २४ ॥

अनुवाद –इसी पताकहस्त की अधोमुख अर्थात् नीचे की ओर गई हुई और ऊपर उठी हुई चञ्चल अंगुलियों के द्वारा वायु, लहर के वेग, समुद्र की वेला, क्षोभ और शोध (प्रवाह) का अभिनय करना चाहिए ॥ २३ ॥

अनुवाद––रेचक करण क्रिया के द्वारा प्रोत्साहन (दूसरे को प्रेरणा देना) महाकोलाहल, प्रांशु (ऊँचाई) मृदङ्ग पर प्रहार करने अर्थात् ढोल पीटने और पक्षियों के पंखों के फड़फड़ाने का अभिनय करना चाहिए ॥ २४ ॥

---

१. ग वार्यूर्मिवेगवेला क्षोभाश्चौद्यश्च । ख. वार्यूर्मिवेगवेला क्षोभश्चौद्यश्च ।
२. ख. बहुमहन्महाजनप्रांशुपुष्करप्रहतम् ।
३. ग. प्रहतिम् ।
४. ख. रेचककरणैः प्रयुञ्जीत ।
५. क. उत्साहसंप्रेरणम् ।
६. क. अधःपतनं ।

[1]परिघृष्टतलस्थेन तु धौतं मृदितं प्रमृष्टपिष्टे[2] च ।
पुनरेव शैलधारणमुद्घाटनमेव[3] चाभिनयेत् ॥ २५ ॥

परिशब्दः शेघ्र्यात्पार्श्वतोऽर्थे उभयतो वाऽर्थे समन्तादर्थे च, तेन परिघृष्टं यत्तलं तत् द्वितीयपताकहस्तेन पताकाकारेण क्षालनं मर्दनं मार्जनं पेषणं तद्विशिष्टमपि द्रव्यमभिनयेत् । यथाक्रमं च परिशब्दार्थे योज्यं पुनश्शब्दः । पर्वतोद्धारणं शैलशिला-

---

अभिनव —जो क्रिया अपने सन्निवेश अथवा अपने स्थान से दूर कर देती है उसे रेचककरण कहते हैं। उस रेचककरण में यथायोग प्रोत्साहन अर्थात् दूसरे को प्रेरणा देना, दूसरे में उत्साह उत्पन्न करना और सत्पुरुषों का अभिनयन प्रविरल अङ्गुलि के क्षेपण के द्वारा अल्लपल्लव हस्त के आकार के समान प्रधान वस्तु का अक्रम क्रिया के द्वारा दूसरे पार्श्व से अपने पार्श्व में ले जाना। पुष्कर (मृदंग) के प्रहरण (वादन) में ऊर्ध्वगत हस्त के नोचे की ओर गिराना, ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया से पक्षियों के पंख को कटिक्षेत्र में बार-बार ऊपर फेंकना। अभिनय शब्द के समान पाल्य है। अभिनय शब्द की विचित्रता देखते हुए उपाध्याय (मेरे आचार्य) व्याख्या करते हैं– 'अभि' शब्द का अर्थ आभिमुख्य है। 'न' शब्द निषेध का वाचक है; 'य' यत् अर्थ लश्रित होता है। इससे अपने पार्श्व में उन्मुख देश में लाने से अभिमुख्य अर्थात् अभिमुखत्व पार्श्व प्रदेश में तो रेचना क्रिया पूर्वक अधोमुख एवं उत्तान को परिवर्त्तित कर यदर्थ शब्दार्थ का अभिनय करे ॥ २४ ॥

अनुवाद--हस्ततल के परिघर्षण (मलने) में स्थित द्वितीय पताकहस्त के द्वारा प्रक्षालन, मर्दन (मसलना), मार्जन (मांजना), और पेषण (पीसना), पर्वत जो उठाना (उखाड़ना) आदि भावों का अभिनय करना चाहिए ॥ २५ ॥

---

१. ख. परिमृष्टतलस्थेन ।

२. ख. प्रमृष्टपिष्ठे च । क-म. प्रमृष्टपिष्टं च ।

३. ग. शैलधारणमुत्पाटनमेव ।

एवमेष प्रयोक्तव्यः स्त्रीपुंसाभिनये करः ।
पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यामभिनेयः प्रयोक्तृभिः ॥ २६ ॥
[1]दशाख्यश्च शताख्यश्च सहस्राख्यस्तथैव च ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि त्रिपताकस्य लक्षणम् ॥ २७ ॥

देश्चोत्पाटनम्[2] । चकाराद्वरदानमभयदानमित्येवमाद्यभिनयेत् । [3]परिघृष्टेतीतिकर्तव्यतां प्रसक्तां वारयितुमेवकारः, "एनतु पुणापरिअञ्चिइर्ति कोणें जिजिआलिह" (?) इत्यादौ यथापुनः[4] शब्द एवार्थद्योतकस्तथाङ्गिकेऽपि पताकादिस्तथेति व्यवहारदर्शनात् ॥ २५ ॥

अनुवाद—इस प्रकार स्त्री एवं पुरुषों के अभिनय में इस पताकहस्त का इसी प्रकार प्रयोग करना चाहिए। प्रयोक्ताओं को इन पताकहस्तों के द्वारा दशों, सैकड़ों एवं हजारों प्रकार के अभिनय करना चाहिए। अब इसके बाद त्रिपताक हस्त का लक्षण कहूंगा ॥ २५-२६॥

अभिनव—यहाँ पर 'परि'शब्द शीघ्रता से एक पार्श्व से अथवा दोनों पार्श्वों से अथवा चारों ओर से अर्थ में प्रयुक्त है। उससे घर्षित जो तल उसे पताकाकार द्वितीय पताकहस्त से क्षालन, मर्दन, मार्जन, प्रेषण का तथा उससे विशिष्ट भी द्रव्य का अभिनय करे। क्रमशः 'परि' शब्द के अर्थ में 'पुनः' शब्द की योजना करनी चाहिए पर्वत के उठाने तथा शैलशिलाओं के उत्पादन का भी अभिनय करे। चकार से वरदान अभयदान इत्यादि का अभिनय करे। 'परिघृष्ट' इस पद से इतिकर्त्तव्यता का करण करने के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'एनतु' इत्यादि में जिस प्रकार 'पुनः' शब्द 'एक' शब्द के अर्थ का द्योसन करता है। उसी प्रकार आङ्गिक अभिनय में पताका आदि लेते हैं, इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है ॥ २७ ॥

१. ख. ग. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति ।
२. क. पर्वतोद्धारणशैलशिलादेश्चोद्वाटनम् ।
३. क. परिसृष्टेति ।
४. क. यथा पुनरेवशब्दार्थे ।

पताके तु यदा वक्राऽनामिका त्वङ्गुलिर्भवेत् ।
त्रिपताकः स विज्ञेयः कर्म चास्य निबोधत ॥ २८ ॥

न चैतावानेवास्य विषय इति दर्शयितुमाह—एवमनेन प्रकारेण स्वबुद्धया तां तामितिकर्तव्यामुत्प्रेक्ष्य प्रयोक्तव्यः। स्त्रीपुंसयोरुभयोरपि अभिनेत्रोरभिनेययोर्वा। अन्ये तु नपुंसकलिङ्गस्य स्त्रीपुंसाभ्यामेव स्वीकारात् समस्ते शब्दार्थेऽभिनेतव्ये विशिष्टेतिकर्तव्यतायुक्तस्यार्थस्य प्रयोग इत्याहुः ॥ २६-२७ ॥

अथ त्रिपताकमाह पताकेत्वित्यादि। अनामिका वक्रा कनीयसीतर्जनी-मध्यमानां तिसृणां पताकवदवस्थानात् त्रिपताकः त्रित्वस्याभिनेयाद्वा। कर्मेत्य-भिनेयम् ॥ २८ ॥

अभिनव—इस पताकहस्त का इतना ही क्षेत्र नहीं है, यह दिखलाने के लिए कहते हैं–इस प्रकार अपनी बुद्धि से उत्प्रेक्षा करके उस-उस इतिकर्त्तव्यता का प्रयोग करना चाहिए। स्त्री-पुरुष शब्द से अभिनेता और अभिनेय दोनों प्रकार के स्त्री और पुरुषों का बोध होता है। अन्य आचार्य तो स्त्री-पुरुष शब्द से नपुंसकलिङ्ग पदार्थों का भी ग्रहण कहते हैं, अतः समस्त शब्दार्थ के अभिनय करने में विशिष्ट इतिकर्त्तव्यता से युक्त अर्थ का प्रयोग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं ॥ २७ ॥

२. त्रिपताक हस्त

अनुवाद—यदि पताक हस्तमुद्रा में अनामिका अंगुली को वक्र (टेढ़ी) करके झुका दिया जाय तो 'त्रिपताक' हस्तमुद्रा होती है। अब इसके कर्म को सुनिये ॥ २८ ॥

अभिनव—अब इसके बाद त्रिपताक हस्तमुद्रा को कहते हैं—इस हस्तमुद्रा में अनामिका वक्र होती है। कनीयसो (कनिष्ठा) मध्यमा और तर्जनो तीनों अंगुलियों पताका के समान अवस्थित होने से इसे 'त्रिपताक' कहते हैं अथवा त्रित्व संख्या के अभिनेय होने से इसे 'त्रिपताक' कहते हैं। यहाँ कर्म शब्द का अर्थ अभिनेय है ॥ २८ ॥

आवाहनमवतरणं विसर्जनं [1]प्रवेशश्च ।
उन्नामनं प्रणामो निदर्शनं विविधवचनं च ॥ २९ ॥

माङ्गल्यद्रव्याणां स्पर्शः शिरसोऽथ सन्निवेशश्च ।
[2]उष्णोषमुकुटधारणं नासास्यश्रोत्रसंवरणम् ॥ ३० ॥

आवाहनं पराङ्मुखीनतर्जनीमध्यामाकुञ्चनात्, "आर्ये इतस्तावत्" इत्यादौ । रथादेः अवतरणमधस्तलकृतेन पार्श्वान्तिरगमनात् "अवतरत्वायुष्मान्" इत्यादौ । विसर्जनमनादरकृतं बहिरङ्गुलिद्वयक्षेपात् । वारणं "एवं कार्षी" रिति प्राङ्मुखेनाङ्गुलिद्वयचलनात् । प्रवेशनं पार्श्वतलेनाग्रगमनात् यावत्प्रविशामीति । यथोन्नामनं चिबुकादौ लालनेनोत्तानाङ्गुलिद्वयात् । प्रणमनं शिरोगतेन पार्श्वतः प्रणयनात् स्वसमर्पणम् । प्रदर्शनमुपमानोपमेयभावेनेषद्विरलेनाङ्गुलिद्वयेन । विविधं विचित्रमिदं वा स्यादिदं वेत्यादिना । वचनं भाषणं मुखक्षेत्रे अङ्गुलियुगस्योत्तानस्याग्रगमनात् ॥ २९-३० ॥

अनुवाद – आवाहन, अवतरण, विसर्जन, वारण, प्रवेश, उन्नामन (ऊपर चढ़ना), प्रणाम, निदर्शन (तुलना), विविध, वचन, माङ्गलिक द्रव्यों का स्पर्श तथा शिर पर सन्निवेश (पगड़ी) और मुकुट का धारण, नासिका, मुख और क्षोभ का संवरण ये त्रिपताक हस्त के द्वारा अभिनीत होते हैं ॥ २९-३० ॥

अभिनव—पराङ्मुखीन तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों के आकुञ्चन से 'आवाहन' किया जाता है । जैसे-'हे आर्ये ? इधर आइये' इत्यादि । नीचे की ओर से दूसरे पार्श्व में जाने से रथादि से उतरना 'अवतरण' होता है । जैसे-'अवतरतु अग्युष्मान्' अर्थात्-'आयुष्मान् उतरें' इत्यादि में रथ से अवतरण होता है । बाहर की ओर हाथ की दो अंगुलियों के क्षेपण से अनादर कृत विसर्जन का प्रयोग होता है । 'ऐसा मत करो' इस प्रकार प्राङ्मुख होकर दो अंगुलियों के चालन से 'वारण' का प्रयोग होताहै

---

१. क–न. धारणं प्रवेशं च ।

२. क–न. उष्णीषमुकुटकरणं ।

अस्यैव चाङ्गुलीभ्यामधोमुखप्रस्थितोत्थितचलाभ्याम्[1] ।
[2]लघुखगपतनस्रोतोभुजगभ्रमरादिकान् कुर्यात् ॥ ३१ ॥

मङ्गल्यद्रव्याणां पूर्णकुम्भादीनामधोमुखेनाङ्गुलिद्वयेन । स्पर्शः द्रव्यादीनां शिरसः स्पर्शः । निवेशनं निवेशः सम्बन्धोऽनामिकया शिरसो वा सन्निवेशनं तत्क्षेत्रे सम्मुखमण्डलगतेनोष्णीषधारणं, शिरस्यधोमुखेन भ्रमता मुकुटधारणं तूर्ध्वक्षेत्रे । संवरणमनिष्टे गन्धे वचने च शब्देऽपि नासादौ अङ्गुलीद्वयेनाच्छादनम् ॥ ३० ॥

जैसे 'एवं मा कार्षीः, अर्थात् 'ऐसा मत करो' । पैर के तलुवे से आगे की ओर चलने से 'प्रवेशन' का अभिनय होता है । जैसे–'मैं प्रवेश करता हूं' । उत्तानित दो अंगुलिओं से चिबुकादि में लालन से 'उन्नामन' का अभिनय होता है । समीप से शिर के द्वारा प्रणयन (झुकना) तथा आत्मसमर्पण करना 'प्रणाम' है । थोड़े विरल दो अंगुलियों से उपमानोपमेय भाव का अभिनय 'निदर्शन' है । 'विविध' का अर्थ है विचित्र और वचन का अर्थ है भाषण । 'यह होगा अथवा यह होगा' इत्यादि विचित्र भाषण में मुख के क्षेत्र में अङ्गुलिद्वय के योग से उत्तान अंगुलियों का आगे की ओर गमन होता है ।

अभिनव—मङ्गलद्रव्य अर्थात् पूर्णकुम्भ आदि का अधोमुख दो अङ्गुलियों के द्वारा स्पर्श होता है और द्रव्यों का शिर से स्पर्श होता है । निवेशन ही निवेश है । अनामिका से शिर का सम्बन्ध सन्निवेश है । उस क्षेत्र में अर्थात् शिरोभाग में सन्मुख मण्डलाकार गति से 'उष्णीष' धारण करना और ऊर्ध्वक्षेत्र में अधोमुख भ्रमण करता हुआ शिर पर मुकुट धारण करना, अनिष्ट गन्ध, अनिष्ट वचन अथवा अनिष्ट शब्द के प्रयोग में अङ्गुलिद्वय से क्रमशः घ्राण (नासिका), मुख और कानों को ढकना चाहिए ॥ २९-३० ॥

अनुवाद—इसी त्रिपताक हस्त की नीचे की ओर गई फिर ऊपर की ओर उठी चञ्चल अंगुलियों के द्वारा छोटे पक्षियों के पतन तथा स्रोत (धारा), सर्प, भ्रमर आदि का अभिनय करना चाहिये ॥ ३१ ॥

---

१. ख. प्रस्थिती स्थितचलाभ्याम् ।

२. ब. लघुचटपवनस्रोतो भुजगतभ्रमणादिकान् कुर्यात् ।

ग. लघुमुखपवनस्रोतो । क–ब. लघुवटपवनस्रोतो ।

अस्यैव चेति । अतश्च मुकुटादिदर्शनेन तद्धेतोः राजादेरप्यभिनयः, तेन येन हस्तेनाभिनेयं यत्राव्यभिचारित्वेन बहुशो [1]निर्दिष्टं तदनिर्दिष्टमपि तेनैवाभिनेयम् । यथा मुकुटधारणाभिनयेन राजांशः रेचितपताकयोगेन दर्शितः । अङ्गुल्यौ ये नित्यश्लिष्टे इत्येवकारः, तेन च त्रिपताकन्यस्त इत्यस्य ग्रहणम् । चकारेणान्वाचयकृतमङ्गुल्यन्तरस्य अधोमुखादिरूपत्वमनुजानाति[2] । अधोमुखे च द्वे प्रस्थानोत्थानयोश्चले चेति समासः । लघून्पक्षिणश्चटकादीन्, कटिक्षेत्रे लघुचालं । [3]लघु च स्रोतः क्रमेणोर्ध्वमधस्तिर्यग्गत्या[4] लघुसर्पानग्रगत्याभिनयेत् । भ्रमरमक्षिकादीनां पुनरुपपादनं पक्षित्वेनाप्रसिद्धे, तेन कटीक्षेत्रत्यागेन यथेष्टमेषां क्षेत्रमित्युक्तं भवति ॥ ३१ ॥

अभिनव—'अस्यैव चेति' । अतएव मुकुट आदि राजकीय वस्तुओं के देखने से उसके कारणरूप राजा आदि का भी अभिनय करना चाहिए । इसलिये जिस हाथ से अभिनय करना चाहिए और जिस हाथ में अव्यभिचरित रूप से बहुत बार निर्देश किया गया है उसी हाथ से उस अनिर्दिष्ट का भी अभिनय करना चाहिए । जैसे मुकुट धारण के अभिनय से राजा सम्बन्धी अंश भी त्रिपताक हस्त के योग से दिखा दिया है । दोनो अङ्गुलियाँ जो नित्य श्लिष्ट रहती हैं, यह एवकार का अभिप्राय है । इससे 'त्रिपताकन्यस्त' इसका ग्रहण होता है । अन्वाचयार्थक चकार से अन्य अङ्गुलियों के अधोमुखादि रूप की अनुज्ञा करते हैं । 'अधोमुखं च द्वे प्रस्थितोत्थितयोः चले च' इस प्रकार समास होता है अर्थात् अधोमुख दो अङ्गुलियाँ प्रस्थान और उत्थान इन दो क्रियाओं से चंचल हों,' यह अभिप्राय है । लघुपक्षी का अर्थ है चटक (गौरेया) आदि । कटि प्रदेश में हल्की हल्की चाल हो । लघुस्रोत का अर्थ है हल्के-हल्के जल प्रवाह आदि का क्रमशः ऊँची, नीची और तिरछी गति से अभिनय करे । छोटे छोटे सर्पों का अग्रगति से अभिनय करे । भ्रमर, मक्षिका आदि का पुनः उपादान यह सूचित करता है कि भ्रमरों का पक्षियों के रूप में प्रसिद्धि नहीं है, क्योंकि यदि पक्षी के रूप में उनको प्रसिद्धि होती तो 'लघुखग' पद से ही उनका ग्रहण हो जाता । इससे कटि के क्षेत्र को छोड़कर इच्छानुसार इनका क्षेत्र है अर्थात् ये जहाँ चाहें वहाँ उड़े, यह कहा गया है ॥ ३१ ॥

---

१. क. दृष्टं । २. क. रूपतामनुजानाति ।
३. क. लघूचापा । ४. क. तिर्यग्गम्या ।

[1]अश्रुप्रमार्जने तिलकविरचनं रोचनयालम्भनकं च ।

[2]त्रिपताकानामिकया स्पर्शनमलकस्य[3] कार्यञ्च ॥ ३२ ॥

अश्रुणस्तत्प्रमार्जनस्य चानामिकया स्वक्षेत्रगतयाधोगच्छन्त्याभिनयः । तिलकस्याभिनयो रोचनाचन्दनादिना तद्विरचनस्य च । एतेन क्रियाफलयोस्तुल्याभिनयोऽन्यत्रापोति सूचयति । तेन पतनवत्पतितोऽपि कर्तरीमुख इत्याद्यूह्यम् । रोचनाचन्दनस्य मङ्गल्यतिलकादिना स्वीकारादिकं व्याचक्षते । रोचनया अरुणरुचिर्लक्ष्यते, तत्रानामिकाद्वयसंघट्टेनाभिनयः । यथा—

कोउद्दल्लणाहं यथा तथा च केन समाणिवश्शक्रः ।
सूकरं भर्जसुखं च दुःखं च ॥ (?)

अनुवाद आंसुओं का प्रमार्जन (पोंछना) गोरोचन से तिलक-रचना, आचमन और अलक (बालों) का स्पर्श त्रिपाक हस्त की अनामिका अंगुली के द्वारा करना चाहिए ॥ ३२ ॥

अभिनव—आंसुओं और उनका प्रमार्जन (पोंछना) अपने क्षेत्र में स्थित नीचे की ओर जाती हुई अनामिका अंगुली के द्वारा अभिनय करना चाहिए । तिलक का अभिनय गोरोचन, चन्दन आदि के द्वारा उसकी रचना का अभिनय करना चाहिए । इससे क्रिया और फल का तुल्य अभिनय अन्यत्र भी होता है, यह सूचित होता है । इससे कर्त्तरीमुख भी लघुपक्षियों के पतन की तरह पतित होता है, नीचे की ओर अभिनय होता है, यह सूचित होता है । मङ्गल्यतिलक आदि के द्वारा गोरोचन का चन्दन स्वीकार किया गया है, यह व्याख्या करते हैं । गोरोचना से अरुणकान्ति (लालिमा) लक्षित होती है । उसका अभिनय ललाट पर अनामिका अङ्गुली के दो बार घर्षण से होता है । जैसे—

"कोउद्दलणाहं" इत्यादि

---

१. ख. ग अश्रुप्रमार्जनतिलकविरोचनलोचनालम्भनकम् ।

२. क. ड त्रिपताकानामिकयोः स्पर्शनमलकस्य कर्त्तव्यम् ।

३. ग. स्पर्शनमलकस्य कर्त्तव्यम् ।
ख. दर्शनमलकस्य कार्यञ्च ।

[1]स्वस्तिकौ त्रिपताकौ तु गुरूणां पादवन्दने[2] ।
[3]परस्पराग्रसंश्लिष्टौ कार्यावुद्वाहदर्शने ॥ ३३ ॥

आलम्भनं शरीरस्पर्शनं, द्रोणिकाचमनम्; तस्मात् संज्ञायामपि कन् । संज्ञैवेयमिति लभेरत्रासंभवात् । आङीषदर्थे उपसर्गः, न नञ् समासः, स्वल्पत्वं च । अत्रातिगौरवातिस्नेहादिना तथानामिकयैव स्पर्शनात् "गामी अवा उच्चं अभीहउ-तोरड" (?) इति स्पर्शनमलकस्य रचनार्थं स्थानान्तरनयनं; यथा रत्नावल्यामुदयनेन सुसङ्गतायाः । अलिकस्य ललाटस्य दर्शनमलकभञ्जनेनोत्तानालकभञ्जनमित्यादावित्यन्ये ॥ ३२ ॥

अभिनव—आलम्भन का अर्थ शरीर-स्पर्श या आचमन है। उससे संज्ञा में कन् प्रत्यय है। यह आलम्भन आचमन की संज्ञा है। यहाँ पर लभ् धातु का ग्रहण असम्भव है। 'आ' यह ईषद् अर्थ में उपसर्ग है, नञ् समास नहीं है। यहाँ पर अतिगौरव अतिस्नेह इत्यादि से और अनामिका के द्वारा स्पर्शन से जल का स्वल्पत्व ग्रहण होता है। अलकों (बालों) का स्पर्श अलकों की रचना के लिए, उसके संवारने के लिए तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए किया जाता है। जैसे कि रत्नावली नाटिका में उदयन ने सुसंगता के अलकों की रचना के लिए उसका स्पर्शन किया था। कुछ आचार्य कहते हैं कि अलकों का स्पर्शन बालों को हटाने, उठाने, सज्जित करने एवं सँवारने के लिए किया आता है ॥ ३२ ॥

अनुवाद—गुरुजनों के पाद-वन्दना, में त्रिपताक हस्तों को स्वस्तिक मुद्रा में रखना चाहिए और विवाह-दर्शन के अभिनय में त्रिपताक हस्तों के अग्रभाग को परस्पर संश्लिष्ट रखना चाहिए ॥ ३३ ॥

---

१. ख. पुस्तके 'स्वस्तिकौ' इत्यारभ्य 'प्रयोक्तृभिः' इति पर्यन्तं षट् श्लोकाः न सन्ति ।

२. ग. पादवन्दनम् ।

३ ग. पुस्तकेऽयं श्लोकार्धो नास्ति ।

विच्युतौ चलितावस्थौ कर्त्तव्यौ नृपदर्शने ।
तिर्यक् स्वस्तिकसम्बद्धौ स्यातां तौ ग्रहदर्शने[1] ॥ ३४ ॥
[2]तपस्विदर्शने कार्यावूर्ध्वौ चापि पराङ्मुखौ ।
परस्पराभिमुखौ च कर्त्तव्यौ द्वारदर्शने ॥ ३५ ॥
[3]उत्तानाधोमुखौ कार्यावग्रे वक्त्रस्य संस्थितौ ।
[4]वडवानलसङ्ग्रामे मकराणां[5] च दर्शने ॥ ३६ ॥

अनुवाद—राजदर्शन के अभिनय में त्रिपताक हस्तों को विच्युत करके (अलग करके) चलित अवस्था में रखना चाहिए और ग्रहों के दर्शन में त्रिपताक हस्तों को स्वस्तिक मुद्रा से सम्बद्ध करके तिरछे रखना चाहिए ॥ ३४ ॥

अनुवाद—तपस्वियों के दर्शन में त्रिपताक हस्तों को ऊपर उठाकर पराङ्-मुख (विपरीत दिशा में) कर देना चाहिए और द्वार के दर्शन में त्रिपताक हस्त को परस्पर एक दूसरे के सन्मुख रखना चाहिए ॥ ३५ ॥

अनुवाद—वड़वानल, संग्राम और मकरों के दर्शन में त्रिपताक हस्तों को परस्पर मुख के सम्मुख स्थित करके फिर उत्तान एवं अधोमुख कर देना चाहिए ॥ ३६ ॥

---

१. ग. गृहदर्शने ।

२. ग तपस्विदर्शने कार्यौ चोद्ध्वौं चापि पराङ्मुखौ ।
क-प. तपस्विदर्शने कार्यावूर्ध्वावुत्तानसम्मुखौ ।

३. क-प. उत्तानाधोमुखावग्रे अधो वक्त्रस्य संश्रयौ ।
ग. उत्तानाधोमुखौ कार्यावग्रे च वक्रस्य संस्थितौ ।

४. ग. वड़वानलसङ्क्रामे ।

५. क-न. नक्राणामपि दर्शने ।

अभिनेयास्त्वनेनैव वानरप्लवनोर्मयः ।
[1]पवनश्च स्त्रियश्चैव नाट्ये नाट्यविचक्षणैः ॥ ३७ ॥
[2]संमुखप्रसृताङ्गुष्ठः कार्यो बालेन्दुदर्शने ।
पराङ्मुखस्तु कर्त्तव्यो याने नृणां प्रयोक्तृभिः ॥ ३८ ॥
त्रिपताके यदा [3]हस्ते भवेत् पृष्ठावलोकिनी ।
तर्जनी मध्यमायाश्च तदासौ कर्त्तरीमुखः ॥ ३९ ॥

कर्तरीमुखं लक्षयति त्रिपताक इति ।

चकारेण परो नीयते । अवलोकिनीति असंश्लिष्ट इति यावत् । कर्तर्या ईदृशमेव रूपं साध्यते तथाभिनीयते ।

अनुवाद—नाट्य में विचक्षण आचार्यों द्वारा इसी हस्तमुद्रा के द्वारा वानरों के प्लवन (सन्तरण), लहरों, पवन (हवा) तथा स्त्रियों का भी अभिनय करना चाहिए ॥ ३७ ॥

अनुवाद—नाट्य-प्रयोक्ताओं को बालचन्द्र के दर्शन में त्रिपताक हस्त के अंगूठे को सामने को ओर फैला कर रखना चाहिए और मनुष्यों की यात्रा में त्रिपताक हस्त को पराङ्मुख रखना चाहिए ॥ ३८ ॥

३—कर्त्तरीमुख

अब कर्त्तरीमुख का लक्षण करते हैं—'त्रिपताक इत्यादि' ।

अनुवाद—यदि त्रिपताक हस्त में तर्जनी अंगुली को अलग करके मध्यमा अंगुली के पृष्ठभाग में मोड़ कर रखा जाय तो वह 'कर्त्तरीमुख' हस्त कहलाता है ॥ ३९ ॥

अभिनव—चकार से दूसरा हाथ लिया जाता है । 'अवलोकिनी' पद का अभिप्राय है—असंश्लिष्ट होना अर्थात् तर्जनी और मध्यमा का परस्पर अलग रहना । कर्त्तरीमुख हस्त का कैंची जैसा रूप सिद्ध किया जाता है और उसी प्रकार अभिनय किया जाता है ॥ ३९ ॥

---

१. ग. पततश्च ।
२. ग. तन्मुखप्रसृताङ्गुष्ठः ।
३. क—ङ. हस्तो ।

[1]पथि चरणरचनरञ्जनरङ्गणकरणान्यधोमुखेनैव ।
ऊर्ध्वमुखेन तु कुर्याद् दष्टं शृङ्गं च लेख्यं[2] च ।। ४० ।।

पथीति पृथक्पदमित इत इत्यादौ मार्गप्रदर्शने, तेनात्राधोमुखेनेति संबध्यते। चरणस्य रचनं कस्तूरिकादिना पत्रभङ्गादिक्रिया रञ्जनमलक्तकेन । रज्यत्यस्मिन् हृदयमिति रङ्गः कुङ्कुमादिकृतश्चतुष्कोष्ठे भङ्गस्तिलकादिः तं करोति रङ्गयति। एवकारेण [3]तर्जनीमुखलक्षणसुखस्याधोगमनानन्तरमेव पृष्ठावलोकित्वं पुनरधोगमनं पुनः पृष्ठावलोकनमिति चलनमाह। दष्टमिति दशनं तत्तुल्यं च [4]कर्तनादि नासिका-क्षेत्रात् कर्णान्तं गच्छता, शृङ्गं स्वङ्गक्षेत्रे हस्तद्वयेन, लेख्यं पत्रकाविष्टस्य वाचनम्। ॥ ४० ॥

विमर्श—कर्त्तरीमुख हस्त त्रिपताक हस्त के समान होता है । केवल तर्जनी अंगुली मध्यमा अंगुली के पीछे मुड़ा हुई होती है कर्त्तरीमुख हस्त का स्वरूप कैंची जैसा होता है। अभिनयदर्पण में इसका लक्षण अन्य प्रकार का बताया गया है। अभिनयदर्पण के अनुसार कर्त्तरीमुख हस्त में तर्जनी और कनिष्ठिका दोनों अंगुलियों को बाहर की ओर सीधे फैला दिया जाता है। नाट्यशास्त्रसंग्रह, संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में कर्त्तरीमुख हस्त का लक्षण नाट्यशास्त्र के समान बताया गया है और इसकी उत्पत्ति शिव से बतायी गयी है। इसके ऋषि पर्जन्य, संरक्षक देवता विष्णु और वर्ण ताम्र हैं ।। ३९ ।।

अनुवाद—मार्ग में देखने, चरणों की रचना करने, महावर से पैर रंगने, पत्र-रचना करने के अभिनय में कर्त्तरीमुख हस्त को अधोमुख करके रखना चाहिए और दशन (काटने), शृङ्ग (सींग बजाना अथवा उच्च शिखर) तथा चित्रादि के लेखन कर्म में कर्त्तरीमुख हस्त को ऊर्ध्वमुख रखना चाहिए ।। ४० ।।

१. ख पथिकचरणरचनरञ्जनगमनकरणान्यधोमुखेनेव ।
ग. पथिकचरणरचनरञ्जनरङ्गणकरणान्यधोमुखेनैव ।
क–प. प्रथितचरणरचनरञ्जनारिङ्गणकारणान्यधोमुखेवैतत् ।

२. क–ग. ड. लेखं च ।

३. क. तर्जनीलक्षण० ।

४. क. कर्तृकर्त्रादिनामिका ।

पतनमरणव्यतिक्रमपरिवृत्तवितर्कितं[1] तथा न्यस्तम् ।
[2]भिन्नवलितेन कुर्यात् कर्तर्यास्याङ्गुलिमुखेन[3] ॥ ४१ ॥

अभिनव—'पथि' यह पृथक् पद है। 'इत इतः' अर्थात् 'इधर से इधर से' इस प्रकार मार्ग-प्रदर्शन में अलग अलग पद होते हैं। इससे यहाँ पर अधोमुख इस तृतीयान्त पद से सम्बन्ध है। चरण की कस्तूरी, केशर आदि से रचना पत्र-रचना क्रिया है। 'रञ्जन' का अभिप्राय महावर से पैर रँगना है। जिसमें हृदय रञ्जित हो जाय, वह 'रङ्ग' है अर्थात् चौकोर कोष्ठ में कुङ्कुम आदि से तिलकादि की रचना। उसे रंगता है। एवकार के द्वारा यह कहा गया है कि तर्जनी प्रधान लक्षण वाले कर्त्तरीमुख हस्त के अधोगमन (नीचे जाने के) अनन्तर ही तर्जनी का मध्यमा के पृष्ठ पर अवलोकन होता है अर्थात् कर्त्तरीमुख हस्त में अधोगमन के बाद ही पृष्ठावलोकित्व अर्थात् तर्जनी का मध्यमा से असंश्लेष (अलग होना) होता है, अतः पुनः अधोगमन और पृष्ठावलोकन इस प्रकार कर्त्तरीमुख के चलन को कहा गया है। 'दंष्ट्रम्' का अर्थ है दशन (डसना) और उसके समान कर्त्तन आदि का अभिनय नासिका-प्रदेश से श्रोत्र (कान) के समीप जाने वाले हाथ से किया जाता है। अपने क्षेत्र में स्थित दोनो हाथों से शृङ्ग का अभिनय होता है। लेख का अभिनय पत्र में लिखित लेख का वाचन है ॥ ४० ॥

अनुवाद - पतन, मरण, व्यतिक्रम (अपराध) परिवृत्त, वितर्कित तथा न्यस्त (धरोहर) का अभिनय कर्त्तरीमुख हस्त भिन्न अर्थात् विपरीत दिशा में अस्तित्व अंगुलियों के द्वारा करना चाहिए ॥ ४१ ॥

---

१. क–ड. परिवृत्तविवर्तितं तथा ।
क–प. परिवर्त्तिवितर्कितं तथा ।
क–ब. परिवर्तविवर्त्तितान्यनित्यं च ।
२. क–ख. भिन्नवलिते च ।
३. ख. ग. कर्त्तर्यास्याङ्गुलीययुगलेन ।
क–म. कर्त्तर्यास्याङ्गुलिपुटेन ।

[1]संयुतकरणो वा स्यादसंयुतो वा प्रयुज्यते तज्ज्ञैः ।
रुरुचमरमहिषसुरगजवृषगोपुरशैलशिखरेषु[2] ॥ ४२ ॥

व्यतिक्रमोऽपराधः[3] । परिवृत्तं पराङ्मुखीभूतं विपर्यस्तं च वितर्कितमूहनम् । न्यस्तं निक्षेपणम् । भेदनं वैपरीत्यं मध्यमयोस्तर्जनीपृष्ठगत्वं, चलनं पुनः स्वरूपाप्तिस्तयोः समाहारे द्वन्द्वः । एतेन यथायोगं संघातविगृहीतविपर्यस्तप्रयोगो द्विस्त्रिश्चेत्याद्यूह्यम् । कर्तर्यास्यस्य कर्तरीमुखस्य यदङ्गुलीरूपं मुखं प्रधानं तेन भेदनवलनसहितेनेति सङ्गतिः ॥ ४१ ॥

अभिनव—यहाँ 'व्यतिक्रम' का अर्थ अपराध है। 'परिवृत्त' शब्द का अर्थ पराङ्मुख होना और विपर्यस्त होना है। 'वितर्कित का अर्थ 'तर्क करना' है। 'न्यस्त' पद का अर्थ निक्षेपण (धरोहर रखना) है। भेदन का अभिप्राय क्रम का परिवर्त्तन है अर्थात् मध्यमा अंगुली का तर्जनी के पृष्ठभाग पर गमन रूप है, फिर अपने स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् तर्जनी का मध्यमा के पृष्ठभाग पर ले जाना, इस प्रकार यहाँ समाहार द्वन्द्व समास है। इससे यह समझना चाहिए है कि प्रयोग के अनुसार कभी संघात कभी अलग-अलग और कभी विपर्यस्त (विपरीत) प्रयोग कभी एक बार कभी दो बार और कभी तीन बार करना चाहिए। 'कर्त्तर्यास्याङ्गुलिमुखेन' का अर्थ है कि कर्त्तरीमुख का अङ्गुलीय स्वरूप प्रधान है जिसमें, उसका भेदन एवं बलन क्रियाओं के साथ पतनादि का प्रयोग करे, यह सङ्गति है ॥ ४१ ॥

अनुवाद—नाट्यवेत्ताओं को रुरुमृग, चमरी गाय, महिष (भैंसा), सुरगज (ऐरावत हाथी), वृषभ, गोपुर तथा पर्वतशिखर आदि के भाव-प्रदर्शन में असंयुत अथवा संयुत हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४२ ॥

---

१. श्लोकोऽयं 'ग' पुस्तके नास्ति ।

२. क—प. नगगिरिवृषगोपुर० ।
क—म. सुरगिरिवृषगोपुर० ।

३. क. व्यतिक्रमोऽपरोधः।

[1]यस्याङ्गुल्यस्तु विनताः सहाङ्गुष्ठेन चापवत् ।
सोऽर्धचन्द्रो हि विज्ञेयः करः कर्मास्य वक्ष्यते ॥ ४३ ॥

अर्धचन्द्रमाह—सहाङ्गुष्ठेनेति ।

अङ्गुष्ठोऽपि विनतः चापवदिति श्लिष्टाह्रस्वत्वं निषेधति । ख्यात इति नाम्नैव लब्धरूपः ॥ ४३ ॥

४. अर्द्धचन्द्र

अब अर्धचन्द्र हस्त का लक्षण कहते हैं—सहाङ्गुष्ठेन इत्यादि ।

अनुवाद—जिस हस्तमुद्रा की समस्त अंगुलियाँ अंगुठे सहित धनुष की तरह (धनुषाकार) झुकाकर फैला दी जाय उसे 'अर्धचन्द्र' हस्त कहते हैं । अब अर्ध-चन्द्र हस्त के कर्म को कहूँगा ॥ ४३ ॥

अभिनव—अर्द्धचन्द्र हस्त में अंगूठा भी धनुष की तरह झुका हुआ होता है । इससे अंगूठे का अंगुलियों से सटा रहना तथा ह्रस्वस्व (छोटा रहना) का निषेध है । 'ख्यात' का अर्थ है नाम से ही प्रसिद्ध ॥ ४३ ॥

विमर्श—अर्धचन्द्र हस्त में अंगुठे के साथ समस्त अंगुलियाँ धनुष की तरह विनत होती हैं । इनमें अंगुलियाँ सटी नहीं होती और अंगूठे के सीधे फैल जाने से वह छोटा (ह्रस्व) नहीं होता । अभिनयदर्पण के अनुसार 'यदि पताकहस्त मुद्रा में अंगूठे को बाहर की ओर सीधे फैला दिया जाय तो 'अर्धचन्द्र' हस्त कहा जाता है' । नाट्यशास्त्र-संग्रह में इसका लक्षण अन्य प्रकार से बताया गया है । उसके अनुसार यदि चारों अंगुलियाँ परस्पर मिली हुई हों और अंगूठा दूसरी ओर गोल आकार बनाते हुए चन्द्रलेखा का आकार बना ले तो 'अर्धचन्द्र' हस्त कहा जाता है ॥४३॥

---

१. क—म. यस्याङ्गुल्यो धनुर्वक्राः सहाङ्गुष्ठेन कुञ्चिताः ।
अर्धचन्द्रं तु तं विद्यात्कर्म चास्य निबोधत ।

क—ब. यस्याङ्गुल्यो धनुर्वक्राः सहाङ्गुष्ठेन संहताः ।
अर्धचन्द्रः स विज्ञेयः कर्म चास्य प्रचक्ष्यते ॥

ख. यस्याङ्गुल्यस्तु विनताः सहाङ्गुष्ठेन चापवम् ।
सोऽर्धचन्द्रो हि विज्ञेयः करः कर्मास्य वक्ष्यते ॥

एतेन बालतरवः शशिलेखाकम्बुकलशवलयानि ।
[1]निर्घाटनमायस्तं मध्यौपम्यं च पीनं च ॥ ४४ ॥

बालतरवश्चोर्ध्वं गच्छता, उपर्युत्तानेन, अर्धेन्दुरित्यन्वर्थबलाल्लब्धम् । तेन शशिलेखेत्यनेन लेखामात्रमभिनेयं [2]विश्लिष्टतर्जनीकेनेत्युक्तं भवति ।

कम्बुरिति शंख एवानेनाभिनेयः तद्ग्रहणं तु कर्कटे वक्ष्यते । प्रकोष्ठान्तर-सम्मुखेन वलयः । निर्घाटनं बलान्निष्कासनमिति । तस्यायस्तमटवीघोषणमित्यसत्, आयस्तं भेदं पराङ्मुखेन [3]गण्डभ्रूविभ्रमात्तमभिनयेत् । [4]मध्ये उदरादौ । उप-मीयत इत्युपमा ततः ष्यञ् तेनायमर्थो मध्यस्य यदुपमीयमानत्वं कार्श्यं तदभिनयेत् । पीनं च पीवरं, अर्धान्यमध्यमेव । चकारादर्धचन्द्रद्वयेनाभिनयेत् । अन्ये तु पानं चषकादि व्याचक्षते पानति पठन्तः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—इस अर्धचन्द्र हस्त के द्वारा बालतरु (छोटे वृक्ष), चन्द्रलेखा, शंख, कलश, कंकण (कंगन) निर्घाटन (बाहर बलपूर्वक निकालना), आयस्त (खेद), मध्यभाग की कृशता की तुलना तथा पीनता का अभिनय किया जाता है ॥ ४४ ॥

विमर्श—कुछ आचार्य इस कारिका में 'पीन' के स्थान पर 'पान' पाठ मानते हैं। तदनुसार पान का अर्थ होगा—चषक आदि पानपात्र ॥ ४४ ॥

अभिनव ऊपर की ओर उठाए हुए (उत्तान किये हुये) अर्द्धचन्द्र हस्त से छोटे-छोटे तरुओं का अभिनय करना चाहिए। यह अर्थ 'अर्धेन्दु' पद के अन्वर्थ के बल से प्राप्त हुआ है। इससे अर्थात् शशिलेखा पद से यह अभिप्रेत है कि मध्यमा अङ्गुली से विश्लिष्ट तर्जनी अंगुली वाले अर्धचन्द्र हस्त से चन्द्रलेखा का अभिनय करे।

अभिनव—'कम्बु' पद का अर्थ शङ्ख है। इसी से शंख का भी अभिनय करे। इसका उपयोग कर्कट हस्त में कहेंगे। मणिबन्ध के सामने वलय (कंकण) का अभिनय करे। 'निघटित' का अर्थ बलपूर्वक निकालना है। आयस्त का अर्थ 'खेद' है। पराङ्मुख अर्धचन्द्र हस्त के द्वारा कपोल, भौह के विलास से

१. ख. निवटनमायस्तं । क–म. निर्धमनं चायस्तं ।
२. क. विशिष्टतर्जनीकेन ।
३. क. गण्डभ्रूविभ्रमतामभिनयेत् ।
४. क. सव्ये ।

[1]रशनाजघनकटीनामाननतलपत्रकुण्डलादीनाम् ।
कर्त्तव्यो नारीणामभिनययोगोऽर्धचन्द्रेण ॥ ४५ ॥

जघनो कटेरग्रभागः, पार्श्वभागश्च कटी । आननतले च पत्राणि भङ्गा। तलपत्रमाभरणविशेषः। पत्रं दन्तपत्रं नलिनीदलं वा। आदिशब्दान्मृणालादि। एतच्च तत्तत्क्षेत्रगेन यथायोगं पार्श्वद्वययोगं पार्श्वद्वयान्तावधोवर्त्तितलेनैकैकेनान्यसहितेन वाभिनयेत् ॥ ४५ ॥

खेद का अभिनय करना चाहिए। 'मध्य' का अर्थ है उदर आदि। 'उपमीयते इति' इस विग्रह में स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय है। उससे यह अर्थ निकलता है कि मध्य (कटि) उपमीयमान धर्म कृशता है। उसका अभिनय करे अर्थात् अर्द्धचन्द्र हस्त से कटि की कृशता (पतलेपन) का अभिनय करे। 'पीन' का अर्थ पीवर (मोटा) है। चकार से अर्धचन्द्र द्वय का ग्रहण होता है। पीवर मध्य भाग का अभिनय दो अर्धचन्द्रों से करना चाहिए। अन्य लोग 'पीन' के स्थान पर 'पान' आठ मानते हैं और पान का अर्थ चषक आदि करते हैं। चषक का अर्थ पोने का पात्र (पानपात्र) है ॥ ४४ ॥

अनुवाद—स्त्रियों की रशना (करधनी), जघन (जंघा), कटि, मुख, तलपत्र (आभरण विशेष) तथा कुण्डल आदि का अभिनय अर्धचद्र हस्त से करना चाहिए ॥ ४५ ॥

अभिनव—'जघन' पद का अर्थ है कटि का अग्रभाग और कटि का अर्थ है नितम्ब का पार्श्वभाग। 'आननतलपत्र' को एक शब्द मानने पर इसका अर्थ होगा—आनन (मुख) पर पत्र-रचना। 'आनन' और 'तलपत्र' दो शब्द मानने पर आनन का अर्थ है 'मुख' और 'तलपत्र' का अर्थ आभरण-विशेष होगा। 'पत्र' का अर्थ 'दन्तपत्र' अथवा कमलिनीदल है। आदि पद से मृणाल आदि का ग्रहण होता है। इसे उस-उस क्षेत्र में जाने वाले हाथ से यथायोग दोनों पार्श्वों के योग से अथवा अधोवर्ती तल से एक हाथ से अन्य हाथ के साथ दोनों पार्श्वों के अन्त तक अभिनय करना चाहिए ॥ ४५ ॥

१. ग. रसना ।

आद्या धनुर्नता कार्या कुञ्चिताङ्गुष्ठकस्तथा[1]।
शेषा भिन्नोर्ध्ववलिता [2]ह्यरालेऽङ्गुलयः करे ॥ ४६ ॥

अरालमाह—आद्या धनुर्नतेति।

आद्यास्तर्जनीमध्यमादयः कनिष्ठान्ताः पूर्वस्याः पृष्ठेष्वदूरे तिष्ठन्तीति। अयं हस्तस्त्वरालः कुटिलत्वात्। अरालपक्ष्मण इत्यादौ वक्रार्थेऽरालशब्दः ॥ ४६ ॥

---

५. अराल हस्त

अब अराल हस्त को कहते हैं—आद्येति।

अनुवाद—यदि तर्जनो अंगुली धनुष की तरह झुकी हुई हो, अंगूठा कुञ्चित अर्थात् सिकुड़ा हुआ हो और अंगुलियाँ भिन्न (पृथक्) तथा ऊपर की ओर वलित हों तो वह 'अराल हस्त' कहलाता है ॥ ४६ ॥

अभिनव—'आद्या' का अभिप्राय है प्रथम अर्थात् तर्जनी मध्यमा अंगुली से लेकर कनिष्ठिका पर्यन्त सभी अंगुलियाँ पूर्व अंगुली के पीछे सटो रहती हैं। यह हस्त कुटिल होने से अराल कहलाता है। क्योंकि 'अरालपक्ष्मणः' इत्यादि में वक्र (कुटिल) अर्थ में अराल शब्द का प्रयोग हुआ है ॥ ४६ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में अराल हस्त को धनुष के समान 'नत' बताया गया है। भरतार्णव के अनुसार यदि पताकहस्त में तर्जनी को मोड़ दिया जाय तो अरालहस्त कहलाता है। अगस्त मुनि ने समुद्रपान के समय इस मुद्रा का प्रयोग किया था, तभी से इस हस्तमुद्रा के लिए अरालहस्त का प्रयोग होने लगा ।४६॥

---

१. ड. कुञ्चितोऽङ्गुष्ठकस्तथा।

२. ब. ह्यरालाङ्गुल्यः स्मृताः।

क–न. ह्यरालेऽञ्चितया स्मृताः।

एतेन [1]सत्त्वशौण्डोर्यधृतिकान्तिदिव्यगाम्भीर्यम् ।
आशीर्वादाश्च तथा भावा[2] हितसंज्ञकाः कार्याः ॥ ४७ ॥

सत्त्वं स्थैर्यम्, शौण्डोर्यं गर्वः। वीर्यमुत्साहः, कान्तिश्शोभा, दिव्यं गगनस्थं, गाम्भीर्यं—

यस्य प्रभावादाकाराः क्रोधहर्षभयादिषु ।
भावेषु नोपलक्ष्यन्ते गाम्भीर्यमिति तत्स्मृतम् ॥

आशीर्वादाः स्वस्ति भद्रं पुण्याहमित्यादयः । हितसंज्ञकाः सुखभावाः। तत्र हृदि पार्श्वेऽग्रतः स्थैर्येण चलत्वेन भ्रमणागमनं यथायोगं प्रयोगः । एतावत्यंशेऽप्यभिनेयमरालेन॥ ४७ ॥

अनुवाद—इसके द्वारा सत्त्व (स्थैर्य), शौण्डीर्य (गर्व), वीर्य (उत्साह), धृति (धैर्य) कान्ति (शोभा), दिव्य (स्वर्गीय वस्तु), गाम्भीर्य, आशीर्वाद तथा हितसंज्ञक भावों को अभिनय करना चाहिए ॥ ४७ ॥

अभिनव—'सत्त्व' का अर्थ स्थैर्य है और शौण्डोर्य का अर्थ गर्व है। 'वीर्य' का अर्थ उत्साह है। कान्ति शोभा को कहते हैं। 'दिव्य' का अर्थ है गगन में स्थित दिव्य-वस्तु। गाम्भीर्य का अर्थ है—

जिसके प्रभाव से हर्ष, क्रोध, भय आदि भावों में विकृत आकार उपलक्षित न हो, उसे 'गाम्भीर्य' कहते हैं।'

आशीर्वाद का अर्थ स्वस्ति, भद्र, पुण्य आदि है। 'हितसंज्ञक' का तात्पर्य सुख का भाव है। उनमें हृदय, पार्श्व और आगे की ओर स्थिरता और चञ्चलता से घूमते हुए आने का युक्ति के अनुसार प्रयोग होता है। इतने अंश में अराल हस्त के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ४७ ॥

---

१. ग. शौण्डोर्यधृतिकान्तिदिव्यगाम्भीर्यम् ।
ख. सत्त्वशौण्डीर्यवीर्यधृतिकान्तिदिव्यगाम्भीर्यम् ।

२. ख. भावाभिनयसंज्ञकाः कार्याः ।
क. भावाभिहितसंज्ञकाः कार्याः ।

एतेन पुनः स्त्रीणां केशानां संग्रहोत्कर्षौ[1] ।
सर्वाङ्गिकं तथैव च [2]निर्वर्णनमात्मनः कार्यम् ॥ ४८ ॥
कौतुकविवाहयोगं [3]प्रदक्षिणेनैव संप्रयोगं च ।
अङ्गुल्यग्रस्वस्तिकयोगान् [4]परिमण्डलेनैव ॥ ४९ ॥

संग्रहो बन्धनं केशानाम्, उत्कर्षो विकीर्णतापादनम् । पुनर्ग्रहणाद्द्विस्त्रिरन्तरालस्य गमनभ्रमणादि लभ्यते । तथैव चेति यथा सर्वाङ्गनिर्वर्णनं भवति तथा कार्यमिति । तेन द्वितीयपार्श्वात्स्वपार्श्वगमनं लभ्यते ॥ ४८ ॥

अनुवाद—पुनः इस अराल हस्त के द्वारा स्त्रियों के केशों का बन्धन, (गूथना) और उत्कर्ष (खोलना) तथा अपने समस्त अङ्गों का निर्वर्णन करना चाहिए ॥ ४८ ॥

अभिनव—'संग्रह' पद का अर्थ बालों का गूंथना है । 'उत्कर्ष' पद का अर्थ है बालों को बिखेरना (खोल देना) । 'पुनः' पद के ग्रहण से बीच बीच में दो-तीन बार जाना और घूमना आदि अर्थ प्राप्त होता है । 'तथैव च' शब्द का अभिप्राय है, जिस प्रकार समस्त अङ्गों का निर्वर्णन हो वैसा ही करना चाहिए । इससे द्वितीय पार्श्व (बगल) से अपने पार्श्व में (अपनी ओर) जाना (गमन) प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

अनुवाद—कौतुक, विवाह का अभिनय प्रदक्षिण क्रम से अर्थात् प्रदक्षिणा कराते हुए तथा सम्प्रयोग (संश्लेष) का अभिनय अंगुलियों के अग्रभाग में स्वस्तिक के योग से परिमण्डल क्रम से अर्थात् गोलाकार घुमाते हुए करना चाहिए ॥ ४९ ॥

---

१. ख. संङ्ग्रहोत्कर्षौ ।
क–म. सीग्रहं तथोत्कर्षम् । क–न. सीग्रहोत्कर्षः ।
२. ख निर्वहणमात्मनः कार्यम् । क-ङ. निर्वहणामात्रात्मनः कार्यम् ।
क–म. कुर्यान्निर्बर्हणमात्मनश्चैव । क-द. निर्वर्तनमात्मनः कार्यम् ।
क–ब. निर्वाहणमात्मनः कुर्यात् ।
३. क–द. प्रादाक्षिण्येन सम्प्रयोगश्च ।
४. ख. कुर्यात् परिमण्डलेनैव ।

प्रादक्षिण्यं परिमण्डलं च [1]कुर्यान् महाजनं चैव ।
यच्च [2]महीतलरचितं द्रव्यं तच्चाभिनेयं स्यात् ॥ ५० ॥

कौतुकं [3]विवाहात्पूर्वभावी वधूवरयोराचारः अन्तर्विवाहे प्रसिद्धः । विवाहोऽग्नौ साक्षिणि बध्वा वहनम् । अङ्गुल्यग्राणां हस्तद्वयगतानां स्वस्तिककारेण यद्योजनं तेनोपलक्षितेन परिमण्डलं प्रदक्षिणदिक्कमेव भ्राम्यता कौतुकविवाहयोगोऽभिनेयः । चशब्दस्तुशब्दस्यार्थे । एवकारो भिन्नक्रमः । सम्प्रयोगः संश्लेषमात्रस्तु अङ्गुल्यग्रस्वस्तिकयोगादेव केवलात् ॥ ४९ ॥

देवताविषयं प्रदक्षिणक्रमं, परिमण्डलं वर्तुलं, महाजनं जनसमूहः । विरचितं पुष्पप्रकरादि । एतेनैव परिमण्डलेन पार्श्वान्तरात्स्वपार्श्वं गच्छताभिनयेत् ॥ ५० ॥

अभिनव—'कौतुक' पद का अर्थ है विवाह के पहिले होने वाला वर-वधू का आचार (लौकिक व्यवहार) जो विवाह के प्रसङ्ग में प्रसिद्ध है। 'विवाह' का अर्थ है अग्नि की साक्षी में वधू का ग्रहण। दोनों हाथों की अंगुलियों के अनुभाग के द्वारा स्वस्तिक मुद्रा के योग से उपलक्षित मण्डलाकार घूमते हुए हस्त के द्वारा कौतुक और विवाह का अभिनय करना चाहिए। 'च' शब्द यहाँ 'तु' के अर्थ में है। एवकार का अर्थ भिन्न है। 'सम्प्रयोग' का अर्थ संश्लेष मात्र है। जो अङ्गुली के अनुभाग में केवल स्वस्तिक के योग से ही होता है ॥ ४९ ॥

अनुवाद—प्रदक्षिणा, परिमण्डल (गोलाकार) और भीड़ (जनसमूह) और जो पृथ्वीतल पर रचित द्रव्य है उनका अभिनय अराल हस्त द्वारा करना चाहिए ॥ ५० ॥

अभिनव—प्रदक्षिणा का क्रम देवता में विषम होता है। 'परिमण्डल' का अर्थ वर्त्तुल (गोल) है। (महाजन) का अर्थ जनसमूह है। 'विरचित' का अर्थ फूलों का गुच्छा (पुष्पसमूह) है। इसी परिमण्डल के द्वारा अर्थात् एक पार्श्व से अपने आर्श्व में जाते हुए अभिनय करे ॥ ५० ॥

१. क-म. परिमण्डलं कुर्यान्महाजनं चापि ।
२. ख. ग. महीतलनिहितं ।
३. क. विभागात्पूर्वभावी ।

[1]आह्वाने च निवारणनिर्माणे चाप्यनेकवचने च ।
[2]स्वेदस्य चापनयने गन्धाघ्राणे शुभः शुभे चैव ॥ ५१ ॥

आह्वाने पतदङ्गुलि । निवारणे बहिः क्षिप्ताङ्गुलि । निर्माणं अपूर्वं उदयः यथा उदितो भगवान् मृगलाञ्छनः । "भगवं मिअलंछक" इत्यादौ । निश्शेषेण वा मानं परिच्छेदो वर्तनं वा, यथा "जलणिहिअलं वआ" (जलनिधितलं वेगात्) इति । निर्दानं तृणाद्युत्पाटनमित्यन्ये । अभूता सृष्टिर्वीप्सा निर्दानमित्यन्ये । अनेकं पृथग्भूतं संबन्धाभावरूपं यत्रोच्यते तत्र पुनः बहिः क्षिप्ताङ्गुलेः प्रयोगः । यथा "कहिं ह कहिं ह" इत्यादौ । गन्धस्य सुरभित्वादाघ्राणम् । शुभः शुभे चैष इति पाठः एष हस्त इत्यर्थः । चैवेत्यन्ये पठन्ति अध्याहारं कल्पयन्तः, एवकारेण तत्क्षेत्रगत्वं हस्तस्येत्याहुः ॥ ५१ ॥

अनुवाद—आह्वान (बुलाना), निवारण, निर्माण और अनेक प्रकार के वचन में तथा स्वेद के अपनयन में (पसीना पोछने में), गन्ध के आघ्राण (सूंघने) में और शुभ विषय में अराल हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५१ ॥

अभिनव—आह्वान में अंगुलियाँ नीचे गिरती हुई और निवारण में बाहर की ओर फेंकी हुई होनी चाहिए । 'निर्माण' का अर्थ अपूर्व उदय है । जैसे 'भगवान् चन्द्र उदित हैं' इत्यादि में अथवा निःशेष रूप से परिच्छेद या वर्त्तन निर्माण है । जैसे—'जलनिधितलं वेगात्' इत्यादि । अन्य लोग कहते हैं कि तृण आदि उत्पादन (उखाड़ना) 'निर्दान' है । दूसरे लोग कहते हैं कि अभूत सृष्टि (नवीन निर्माण 'निर्दान' है अथवा

१. क. आह्वानं च निवारणनिर्माणे चाप्यनेकवचः ।
ख. ग. आवहने निवापे निन्दाक्षेपाद्यनेकवचने च ।
क–म. आवाहने निवारणे सेवाद्यनेकवर्णे च ।
क–प. आवाहननिर्वाहननिर्माणे चाप्यनेकवचः ।
क–द. आवाहने निवारणनिदर्शने चाप्यनेकवचने च ।
क–ढ. आवाहने निवापे निन्दास्ये व्याध्यनेकवचने च ।
क–ग. आवाहने च तरणे ।
२. ख. स्वेदस्य चाभिनयने गन्धघ्राणे शुभा चैव ।
ग. स्वेदस्य चापनयने गन्धघ्राणे शुभे चैव ।

त्रिपताकहस्तजानि तु पूर्वं यान्यभिहितानि कर्माणि।

तानि [1]त्वरालयोगात् स्त्रीभिः सम्यक् प्रयोज्यानि ॥ ५२ ॥

त्रिपताकस्य यान्यावाहनमवतरणमित्यादीन्यभिनेयानि तान्यरालस्य [2]यत्प्रयोगाङ्गयुक्त्या सम्पत्तिर्भवति तत्तेनापि प्रयोज्यानि स्त्रीभिः न तु तासां त्रिपताको निषिध्यते, पुंसस्त्रिपताकस्थानेऽरालो निषिध्यते ॥ ५२ ॥

'वीप्सा' पुनः पुनः करण निर्दान' है। अनेक पृथक्भूत पदार्थ, अर्थात् सम्बन्ध का अभाव रूप जहाँ कहा जाता है वहाँ बार-बार बाहर की ओर अङ्गुलियों का प्रक्षेपण करना चाहिए। जैसे 'कहिं हं कहिं हं' इत्यादि में। गन्ध में सुरभि होने से आघ्राण होता है। 'एषः' का अर्थ है 'यह हाथ'। 'शुभः शुभे चैव' यह पाठ भी मिलता है। अन्य लोग 'चैष' के स्थान पर 'चैव' पाठ मानते हैं और अध्याहार की कल्पना करते हैं। एवकार का आशय है उसी क्षेत्र में हाथ का जाना, यह कहते हैं ॥ ५१ ॥

अनुवाद—त्रिपताक हस्त के किये जाने वाले जिन कर्मों को पहिले मैंने कहा है, उन सबका अभिनय स्त्रियों के द्वारा अराल हस्त मुद्रा के योग से करना चाहिए ॥ ५२ ॥

अभिनव—त्रिपताक हस्त से जो आवाहन, अवतरण आदि अभिनय किये जाते है वे सब अराल हस्त से भी प्रदर्शित किये जा सकते हैं। जिस प्रयोग से जिन अङ्गों की योजना के द्वारा सौन्दर्य सम्पत्ति होती है स्त्रियों के द्वारा उसकी वैसी योजना करनी चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्रियों के द्वारा प्रयुक्त अभिनय में त्रिपताक हस्त का निषेध करना चाहिए। हां पुरुषों के द्वारा प्रस्तुत अभिनय में त्रिपताक हस्त के स्थान पर अरालहस्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ५२ ॥

१. ख. ग. तानि त्वरानुयोगात्।

क–म. तान्यप्यरालयोगे।

[1]अरालस्य यदा वक्राऽनामिकात्वङ्गुलिर्भवेत् ।
शुकतुण्डस्तु स करः कर्म चास्य निबोधत ॥ ५३ ॥

एतेन त्वभिनेयं नाहं न त्वं न कृत्यमिति चार्थे ।
आवाहने विसर्गे धिगिति वचने च सावज्ञम् ॥ ५४ ॥

शुकतुण्डमाहारालस्येति । तुः पूर्वस्माद्विशेषमाह । द्वितीयस्तुरपिशब्दार्थं, तर्जन्या अपि वक्रिमाणमनुजानाति तदाकारत्वात् । शुकतुण्ड इति शब्देन प्रत्येकमेक एव ह्ययं वाक्यार्थः ॥ ५३ ॥

६. शुकतुण्ड हस्त

अभिनव—शुकतुण्ड हस्त का लक्षण करते हैं—अरालस्येत्यादि ।

अनुवाद—अराल हस्त की अनामिका अंगुली को यदि वक्र कर दिया जाय तो 'शुकतुण्ड' हस्त कहलाता है, अब उसके कर्म को सुनिये ॥ ५३ ॥

अभिनव—यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग पूर्व में बतलाये हुए अराल हस्त की तर्जनो को अपेक्षा कुछ विशेषता बतलाने के लिए है तथा 'शुकुतुण्डस्तु' में 'तु' शब्द का प्रयोग 'अपि' के अर्थ में है। अतः तदाकार होने से तर्जनी की भी वक्रता को अनुज्ञा देते हैं। शुकतुण्ड शब्द से प्रत्येक हस्त में एक ही, यह वाक्यार्थ ध्वनित होता है ॥ ५३ ॥

अनुवाद—इस हस्त के द्वारा 'न मैं, न तुम' और 'न तुमसे मेरा कोई कार्य है' इस अर्थ में, आवाहन (बुलाने), विसर्ग (विदा करने), अवज्ञापूर्वक धिक्कार के वचन में अर्थात् धिक्कारने का अभिनय करना चाहिए ॥ ५४ ॥

---

१. क–न अरालस्य यदा वक्रा तर्जनीस्त्वङ्गुलिर्भवेत् ।
क–म. अरालस्य यदा वक्रा सहाङ्गुष्ठेन तर्जनी ।

अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य तलमध्येऽग्रसंस्थिताः[1] ।
तासामुपरि चाङ्गुष्ठः सः मुष्टिरिति [2]संज्ञितः ॥ ५५ ॥

नाहं न त्वं, न कृत्यमिति । न च सर्वथा निषेधे अयमभिनयः, अपि तु अर्थे अर्थनायां सत्यामीर्ष्याप्रणयकलहादाविति यावत्, अर्थनमर्थः, "अकर्तरि" इति घञ् । सावज्ञं यदाह्वानं विसर्गश्च पञ्चभिरङ्गुलिभिः क्षेपात्स्पृश्य इतिकर्तव्यता, सकृत्, द्विस्त्रिर्वा प्रयोगयुक्त्या । धिगित्यनेन निन्दार्थेनानुपादेयं लक्ष्यते, "किन्तेन बालवधपातकदूषितेन" इत्यादावयमभिनय इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

मुष्टिमाह—अङ्गुल्यो यस्येति ।

अभिनव—'न मैं, न तुम, न तेरा और न मेरा कृत्य है' इस प्रकार सर्वथा निषेध करने में इसका अभिनय नहीं होता है, अपितु इस अर्थ में अर्थात् ईर्ष्या, प्रणय, कलह आदि में इसका अभिनय किया जाता है। 'अकर्तरि च कारके घञ् संज्ञायाम्' इस सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय करने पर अर्थन अर्थ वाला' अर्थ' शब्द बनता है। अवज्ञापूर्वक जो आह्वान (बुलाना) और विसर्ग (विदा करना) का भाव प्रकट करमे में पाँचों अंगुलियों के प्रक्षेप से प्रयोग के अनुसार एक बार, दो बार या तीन बार इसका प्रयोग करना चाहिए। निन्दा अर्थ वाले 'धिक्' शब्द के प्रयोग में यह उपादेय है, यह लक्षित होता है। 'किन्तेन बालवधपातकदूषितेन' इत्यादि में इसका अभिनय होता है ॥ ५४ ॥

७. मुष्टि हस्त

अभिनव—अब मुष्टि का लक्षण करते हैं—अङ्गुल्यो यस्येत्यादि ।

अनुवाद—जिस हाथ की अंगुलियाँ हथेली के मध्य में आगे की ओर स्थित हो और उसके ऊपर अंगूठा हो, उसे 'मुष्टि हस्त' कहते हैं ॥ ५५ ॥

१. क-न. तलमध्याग्रसंस्थिताः ।

२. क-म. स तु मुष्टिरिति स्मृतः ।

एष प्रहारे व्यायामे निर्गमे पीडने [1]तथा ।

[2]संवाहनेऽसियष्टोनां कुन्तदण्डग्रहे[3] तथा ॥ ५६ ॥

तलमध्य इति अङ्गुष्ठमूलाशङ्कां शमयति । अग्रे सम्यक्स्थिता इति अग्रगोपनेन विरलत्वं च परिहरति । उपरीति मध्यमाङ्गुलिदेशं सम्पीडयन्नित्यर्थः । संज्ञितः लोके ह्यत्रैव मुष्टि शब्दः प्रसिद्ध इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

व्यायाम इति युद्धे प्रतिमल्लप्रकोष्ठग्रहणे खड्गयुद्धे च । निगमे आर्द्रकादिस्वरसस्य निष्कासेन । पोडने स्तनपीडने गोमहिष्यादिदोहने च । संवाहने मृत्पीडने अथवा मृदुपीडने । असियष्टीनामत्र यष्टीनामिति बहुवचनग्रहणात् छुरिकायुद्धदण्डधारण इत्यादि योज्यम् । तथेति संवाहने धारणे मारणे मार्जने वा ॥ ५६ ॥

अनुवाद—इस हस्त का अभिनय प्रहार करने, व्यायाम, निर्गम (निकालने) पीड़न (स्तन तथा थन के उत्पीड़न दबाने में), संवाहन (पैरों के दबाने में) तलवार, लाठी, दण्डा और भाले के ग्रहण करने में करना चाहिए ॥ ५६ ॥

अभिनव—'तलमध्य' पद के निर्देश से अंगूठे की मूल आशङ्का का शमन करता है 'अग्रभाग में अच्छो तरह स्थिति' इस निर्देश से अग्रभाग के गोपन के द्वारा विरलता का परिहार होता है । 'उपरि' पद मध्यमा अंगुली के प्रदेश को पीड़ित करता हुआ, यह अर्थ प्रकट करता है । 'संज्ञितः' पद का अभिप्राय है लोक में भी यहो मुष्टि शब्द प्रसिद्ध है ॥ ५५ ॥

---

१. ख. ग. हस्तपीडने ।

क–न. निगमे हस्तपोड़ने ।

क–म. निर्गमे स्तनपीड़ने ।

२. क–न. संवाहनऽसियष्ट्यादिकुन्तगण्डग्रहे तथा ।

क–द. संवाहनेऽसियष्ट्यादिकुन्तदण्डग्रहेषु च ।

३. क. दण्डकुन्तग्रहे तथा ।

अस्यैव तु यदा मुष्टेरूर्ध्वोऽङ्गुष्ठः प्रयुज्यते ।
हस्तः स शिखरो नाम तदा[1] ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ॥ ५७ ॥
[2]रश्मिकुशाङ्कुशधनुषां तोमरशक्तिप्रमोक्षणे[3] चैव ।
अधरोष्ठपादरञ्चनमलकस्योत्क्षेपणं[4] चैव ॥ ५८ ॥

अभिनव—'व्यायाम' पद का अभिप्राय है कि युद्ध में प्रतिमल्ल के द्वारा प्रकोष्ठ (पहुँचे) को पकड़ने में ओर खड्ग के युद्ध में इसका (मुष्टिहस्त का) प्रयोग करना चाहिये। 'निर्गम' पद का अर्थ है गोली वस्तु से रस का निचोड़ना। 'पीड़न' पद का अभिप्राय है स्तनों का पीड़न अर्थात् नायिका के स्तनों के मर्दन में अथवा गाय-भैंस के दुहने के समय थन को दवाने में मुष्टिहस्त का प्रयोग करना चाहिए। 'संवाहन' का अर्थ है मिट्टी के पीड़न (मर्दन) में अथवा कोमलता से दबाने में इसका प्रयोग करना चाहिए। 'असियष्टीनाम्' में 'यष्टीनाम्' (लाठियों का) इस बहुवचन पद के ग्रहण से छुरिका-युद्ध, दण्ड-धारण आदि में भी इस हस्त की योजना करनी चाहिए और संवाहन, धारण, मारण अथवा मार्जन (सफाई) करने में भी इसी हस्त का प्रयोग किया जाता है ॥ ५६ ॥

८. शिखर हस्त

अभिनव—अब शिखरहस्त को कहते हैं—अस्यैवेत्यादि ।

अनुवाद—यदि इसी मुष्टि हस्त के अंगूठे को ऊपर की ओर सोधे उठा दिया जाय तो नाट्यप्रयोक्ताओं को उसे 'शिखर हस्त' समझना चाहिए ॥ ५७ ॥

अनुवाद—रश्मि (किरण या लगाम), कुश, अङ्कुश, धनुष के धारण करने और तोमर एवं शक्ति के प्रमोक्षण (छोड़ने) में, अधरोष्ठ को रंगने तथा पैर में महावर लगाने और बालों को झाड़ने (सँवारने) में शिखरहस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५८ ॥

---

१. ग. तथा ।
२. क-म. रश्मिकशाङ्कुशधनुषा ।
३. ख. ग. प्रमोक्षणं चैव ।
४. क-प. अधरस्योत्क्षेपणे चैव । क-म. अलक्तकोत्पीड़ने चैव ।

अस्यैव शिखराख्यस्य ह्यङ्गुष्ठकनिपीडिता[1]।
[2]यदा प्रदेशिनी वक्रा स कपित्थस्तदा स्मृताः ॥ ५९ ॥

शिखरमाह अस्यैव चेति ।

पुनर्मुष्टिग्रहणं [3]मुष्टिकर्तृणामधिकारे शिखरेणाभिनेये द्वये तत्कर्मणां च दृढपीडनादौ मुष्टिमाह—अत एवोक्तं प्रयोक्तृभिरिति । रश्मिः प्रग्रहः किरणो वा तेषां संवाहनं ग्रहणमिति संबन्धः। अत्र च द्वयोरेकस्य वा प्रयोगः उत्तानाधोमुखपार्श्वगोर्ध्वादिभिश्च । प्रयोगानुसारेणालकस्योत्क्षेपणं गण्डतलादेरुत्पीडनं वा कुटिलीकरणार्थम् ॥ ५७–५८ ॥

कपित्थमाह अस्यैवेति ।

नामोच्चारणस्य पूर्ववत् प्रयोजनं, कपित्थाकारेऽस्मिन् अङ्गुष्ठतर्जन्यावङ्गुली ॥ ५९ ॥

यहाँ पर 'अस्य' पद से मुष्टि का ग्रहण हो जाता है। (श्लोक में) पुनः 'मुष्टि' पद के ग्रहण का अभिप्राय है कि मुष्टि के आकार में शिखर हस्त के द्वारा अभिनेय में दोनों में दृढ़ता से पीड़न आदि में मुष्टि का प्रयोग कहा है। इसीलिए 'प्रयोक्तृभिः' अर्थात् नाट्यप्रयोक्ताओं द्वारा ऐसा कहा है। 'रश्मि' पद का अर्थ 'लगाम' अथवा किरण है उनका ग्रहण, इस प्रकार यहाँ अन्वय है और यहाँ पर दोनों का अथवा किसी एक का प्रयोग ऊर्ध्वहस्त का उत्तान, अधोमुख और पार्श्वगामी आदि के द्वारा अभिनय करना चाहिए ॥ ५७–५८ ॥

९. कपित्थ हस्त

अभिनव—अब कपित्थ हस्त का लक्षण करते हैं—अस्यैवेत्यादि ।

अनुवाद—इसी शिखर हस्त की तर्जनी अंगुली को यदि अंगूठे से दबाकर वक्र (टेढ़ी) कर दी जाय तो 'कपित्थ' हस्त कहा जाता है ॥ ५९ ॥

---

१. क. द्व्यङ्गुष्ठकनिपीड़िता । ख. ग. मुखेऽङ्गुष्ठनिपीडिता ।
२. क-म. प्रदेशिनी च वक्रा स्यादिति हस्तः कपित्थकः ।
३. क. मुष्टिकर्मणामनधिकारे ।

असिच्चापचक्रतोमरकुन्तगदाशक्तिवज्रबाणानि[1] ।

शस्त्राण्यभिनेयानि तु [2]कार्यं सत्यं च पथ्यं च ॥ ६० ॥

उत्क्षिप्तवक्रा[3] तु यदानामिका सकनीयसी ।

अस्यैव तु कपित्थस्य तदासौ खटकामुखः[4] ॥ ६१ ॥

शस्त्राणीति शराकर्षणानीत्यर्थः । कार्यं सुकृतम्, अत्र छोटिकाप्रयोगः ॥ ६० ॥

अनुवाद—तलवार, धनुष, चक्र, तोमर, कुन्त (भाले), गदा, शक्ति, वज्र बाण तथा शस्त्रों के प्रयोग में, सत्य और पथ्य (हितकर) भावों को प्रकट करने में 'कपित्थ' हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६० ॥

अभिनव— कपित्थ इन नाम के उच्चारण का प्रयोजन पूर्ववत् है । कपित्थ (कैथ) के समान आकार वाले इस हस्त में अङ्गुष्ठ और तर्जनी अंगुलियों का प्रयोग होता है । 'शस्त्राणि' पद का अर्थ शरों का आकर्षण है । 'कार्य' पद सुकृत का बोधक है । यहाँ पर छोटिका का प्रयोग है ॥ ६० ॥

१०. खटकामुख हस्त

अभिनव—अब खटकामुख को कहते हैं—उत्क्षिप्तवक्रेत्यादि ।

अनुवाद—इसी कपित्थ हस्त की अनामिका अंगुली को कनिष्ठिका अंगुली के साथ यदि ऊपर उठाकर वक्र कर दिया जाय तो 'खटकामुख' हस्त कहा जाता है ॥ ६१ ॥

---

१. क. वज्रवर्गाणि । क-न. वज्रवर्ज्यानि ।

२. क. कार्यं पथ्यं च सत्यं च । क-न. कार्यं पथ्यं च तथ्यं च ।

३. ख. उत्क्षिप्तचक्रा ।

क-म. यत्कार्यं स्यात्तथैव सत्यं च ।

४. ख. कठकामुखः ।

[1]होत्रं हव्यं छत्रं प्रग्रहपरिकर्षणं[2] व्यजनकञ्च ।
[3]आदर्शधारणं खण्डनं तथा पेषणं चैव ॥ ६२ ॥

अथ खटकामुखमाह–उत्क्षिप्तवक्रेति।

उत्क्षिप्ता सती वक्रा अनामिका कनीयसी कपित्थस्येतिपुनर्नामोच्चारणात् शराकर्षणकार्यसत्यपथ्यादावस्य प्रयोगः । तुरेकः पूर्वस्माद्विशेषे, तुर्द्वितीयोऽवधारणे । विरलत्वं मनाक् अनामिकाकनिष्ठिकयोर्भवति सकनीयसी । सहशब्दात् विश्लेषाशङ्का न स्यात् । खट् कांक्षायामित्यस्मात् क्षुत्तृट्पिपासार्तोर्थेषु वुन् । खटको विटविभ्रमगतिधूः, तस्य आमुखे यतोऽयं वक्ष्यतेऽतः खटकामुखः ॥ ६१ ॥

अभिनव—ऊपर उठी हुई और वक्र (टेढ़ी) अनामिका अंगुली । 'अस्यैव' पद से 'कपित्थ' का बोध हो जाता है । पुनः 'कपित्थस्य' कहने का अर्थात् 'कपित्थ' इस नामोच्चारण का प्रयोजन है—शरों का आकर्षण (खीचना) । सुकृत, सत्य और पत्य आदि में कपित्थ हस्त का प्रयोग करना चाहिए । 'तु' शब्द का प्रयोग पूर्व कथित कपित्थ हस्त की अपेक्षा इस हस्त की विशेषता को प्रकट करता है । द्वितीय 'तु' शब्द अवधारण अर्थ में है । 'सकनीयसी' पद का अभिप्राय है कि अनामिका और कनिष्ठिका के मध्य थोड़ी विरलता हो । 'सह' शब्द से विश्लेष की आशङ्का नहीं करनी चाहिए । 'खट् कांक्षायाम्' अर्थात् कांक्षार्थक 'खट्' धातु से भूख प्यास से आर्त्त (पीड़ित) अर्थ में 'वुन्' (अक) प्रत्यय होकर 'खटक' शब्द बनता है जिसका अर्थ है विट को विभ्रम (विलासपूर्ण) गति (चाल) । इसका आमुख खटकामुख है, क्योंकि उसके आमुख प्रारम्भ में इसको कहेंगे। इसलिए इसका नाम खटकामुख है ॥ ६१ ॥

अनुवाद—होत्र (स्रुवा आदि), हव्य (आज्य आदि), छत्र, प्रग्रह (घोड़े के लगाम खींचने) व्यजन (पंखा चलाने), दर्पण के धारण, खण्डन (तोड़ने) तथा पीसने के अभिनय में 'खटकामुख' हस्त का प्रयोग करें ॥ ६२ ॥

---

१. क. ख. होतृन् हव्यं छत्रं च । क-म. होत्रछत्रग्रहणं ।

२. ख-ग. प्रग्रहाकर्षणं च व्यञ्जनकं च । क-प. प्रग्रहापरिकर्षणं व्यञ्जनकञ्च ।
क-न. प्रग्रहमाकर्षणं व्यञ्जनकं च ।

३. क-म. आदर्शधारणं वा कण्डूयनं तथान्वेषणं चैव ।
क-ड. आदर्शधारणं चावनतं तथा वेषं चैव ।
क-न. आदर्शधारणं कण्डनं तथा पोषणञ्चैव ।

[1]आयतदण्डग्रहणं मुक्ताप्रालम्बसंग्रहं चैव ।
[2]स्रग्दामधारणं खलु वस्त्रान्तालम्बनं चैव ॥ ६३ ॥
[3]मन्थनशरावकर्षणपुष्पावचयप्रतोदकार्याणि ।
[4]अङ्कुशरज्वाकर्षणस्त्रीदर्शनमेव कार्यं च ॥ ६४ ॥

होत्रं स्रुगादि उत्तानेन । हव्यमाज्याद्यामुखेन । प्रग्रहस्थ वल्गादेः परिकर्षणं गतिरोधनाय । व्यजनं तालवृन्तादिकं चलता आदर्शधारणं संमुखेन । आदर्शो ज्ञातो याभिस्ता गौरीवस्वाकारिकामनेनाभिनयन्ति खण्डनं तालवृन्तादिव्यजनव्यापारो वा । पेषणं कुङ्कुमस्य मृगमदचन्दनचन्द्रादेः हस्तद्वयेन भागद्वये दीर्घवृत्तचक्रक्रमणाद्यैः, "परिवृत्तपाद" इत्यादौ ॥ ६२ ॥

अनुवाद—लम्बे दण्ड के ग्रहण में, मोती का माला संग्रह (धारण) करने में मालाओं के गूंथने तथा पुष्पमाला के धारण में, वस्त्र के छोर के आलम्बन में खटका-मुख हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६३ ॥

अनुवाद—मन्थनदण्ड और बाण के कर्षण (खींचने) में, फूलों के चुनने, चाबुक लगाने, अंकुश लगाने, रस्सी के खींचने और स्त्री के दर्शन में खटकामुख हस्त का अभिनय करना चाहिए ॥ ६४ ॥

अभिनव—होत्र अर्थात् स्रुवा आदि का उत्तान हस्त से और हव्य आज्य आदि का अभिमुख हस्त से अभिनय करना चाहिए। प्रग्रह अर्थात् लगाम आदि का कर्षण घोड़े की गति रोकने के लिए उपयोग होता है। व्यजन अर्थात् तालवृत्त आदि का अभिनय चलते हुए हाथ से करें। आदर्श अर्थात् दर्पण का धारण सम्मुख किये गये हस्त से होता है। आदर्श (दर्पण) को धारण करने वाली नायिकाएँ 'गौरी के समान मैं सुन्दर हूँ' इस प्रकार की आकृति देखने का अभिनय करतो हैं। 'खण्डन' का अर्थ तालवृत्त आदि के व्यजन (डुलाने) रूप व्यापार है। 'पेषण' शब्द का अर्थ चन्दनकाष्ठ के दोनों हाथों कुङ्कुम (केशर), कस्तूरी और कपूर आदि का पीसना है। जैसे 'परिवृत्तपाद' इत्यादि श्लोक में।

---

१. क-न. आयतदण्डग्रहणं कुशकेशकलापसंग्रहं चैव ।
क-म. आयतदण्डग्रहणं कुशाङ्कुशकलापसंग्रहं चैव ।
२. क. ङ. स्रग्दामपुष्पमालावस्त्रान्तालम्बनं चैव ।
३. ग. मन्थानशराकर्षण० ।
४. क-ख. अङ्कुशरज्वाकर्षण० ।

[1]खटकाख्ये यदा हस्ते तर्जनी संप्रसारिता ।
हस्तः सूचीमुखो नाम तदा ज्ञेयः प्रयोक्तृभिः ॥ ६५ ॥

आयतदण्डकाष्ठादीनां ग्रहणं, मुक्ताप्रालम्बानात्मादौ बाहुद्वयमुभयान्तग्रहण-सूचकम्[2] । वस्त्रान्तालम्बनं च विवाहे वधूनां प्रणयकोपादौ च पथानुसरणे । आकर्षणस्य केलिवशेन केशादेरयमभिनयः । उत्तरीयालम्बनं स्वभावायोगात् स्त्रीप्रदर्शनेऽयमभिनयः, स्वक्षेत्रे चातुरश्र्यार्थं तत्कूर्परावधि द्वितीयस्य निवेशं कुर्वन्ति ॥ ६३-६४ ॥

सूचीमुखमाह खटकाख्य इति सूच्याकारमेवास्य मुखम् ॥ ६५ ॥

अभिनव—आयत अर्थात् लम्बे दण्डकाण्ड आदि का ग्रहण, मोतियों की माला के संग्रहण में आरम्भ में बाहुद्वय दोनों प्रान्तों (छोरों) के ग्रहण का सूचक है। 'वस्त्रान्तालम्बन' का अर्थ विवाह में वधुओं के वस्त्रान्त का और प्रणयकोप आदि में कुपिता नायिका के मनाने के लिए पोछे-पीछे अनुसरण करते समय साड़ो का छोर (आंचल) पकड़ने का अभिनय इसी हस्त से करना चाहिए। क्रीड़ा करने के समय स्त्रो के केश आदि के आकर्षण का इसी हस्त के द्वारा अभिनय होता है पुरुषों का उत्तरीय धारण स्वभाव से युक्त नहीं है, क्योंकि लज्जावश स्त्रियाँ उत्तरोय का कर्षण नहीं करती, किन्तु स्त्रियों के प्रदर्शन में यह अभिनय होता है। अपने क्षेत्र में अभिनय की चतुस्त्रता दिखलाने के लिए जानु (कोहनी) पर्यन्त दूसरे का निवेश करते हैं ॥ ६२-६४ ॥

११. सूचीमुख हस्त

अभिनव—सूचोमुख हस्त का लक्षण कहते हैं—खटकाख्य इति

अनुवाद—यदि खटकामुख हस्त की तर्जनो अंगुली को सोधा फैला दिया जाय तो नाट्य प्रयोक्ताओं को उसे 'सूचीमुख' हस्त समझना चाहिए ॥ ६५ ॥

अभिनव - सूची के आकार का इसका मुख होता है ॥ ६५ ॥

---

१. ख. कटकाख्ये ।

२. क. बाहुद्वीयीयोभयान्ताभ्यां संग्रहणं सूच्यते ।

[1]अस्य विविधान् योगान् वक्ष्यामि समासतः प्रदेशिन्याः ।
[2]ऊर्ध्वनतलोलकम्पितविजृम्भितोद्वाहितचलायाः ॥ ६६ ॥
[3]चक्रं तडित्पताकामञ्जर्यः कर्णचूलिकाश्चैव[4] ।
कुटिलगतयश्च सर्वे निर्देश्याः साधुवादाश्च ॥ ६७ ॥

नता अधोमुखी लोला पार्श्वान्तरं यान्ती, कम्पिता तत्रैव स्पन्दमाना, विजृम्भिता व्याकुञ्चिता, प्रसारिता उद्वाहिता ऊर्ध्वं गच्छन्ती, चला अभिनयत्वेन व्रजन्ती ॥ ६६ ॥

विमर्श—इस हस्त का मुख सूची (सूई) के आकार का होने के कारण इस हस्त का 'सूचीमुख' नाम सार्थक है। भरतार्णव के अनुसार यदि मध्यमा आदि तीनों अंगुलियाँ झुकी हुई और अंगूठे से दबी हुई हों और तर्जनी सीधे फैली हुई हो तो 'सूचीमुख' हस्त होता है। संगीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में सूचीमुख का लक्षण नाट्यशास्त्र के समान है ॥ ६५ ॥

अनुवाद—अब मैं संक्षेप में इस तर्जनी अंगुली के ऊर्ध्व, नत, लोल, कम्पित, विजृम्भित, उद्वाहित, चला आदि से विविध योगों को कहूँगा ॥ ६६ ॥

अभिनव—'ऊर्ध्व' का अर्थ है ऊपर उठी हुई। 'नता' का अर्थ है अधोमुखी अर्थात् नीचे झुकी हुई। 'लोला' पद का अर्थ है इस पार्श्व से उस पार्श्व में जाने वाली। 'कम्पिता' पद का अर्थ है वहीं उसी स्थान पर हिलने वाली। 'विजृम्भिता' का अर्थ है टेढ़ी फैलाई हुई। 'उद्वाहिता' का अर्थ है ऊपर की ओर जाने वाली। 'चला' का अभिप्राय है अभिनय के अनुसार चलने वाली ॥ ६६ ॥

अनुवाद—चक्र, बिजली, ध्वज (पताका), मञ्जरी (लताएँ), कर्णपूर (कर्णाभूषण), कुटिल (टेढ़ी) गति, और साधुवाद इन सबका तर्जनी अंगुली के द्वारा निर्देश करना चाहिए ॥ ६७ ॥

---

१. ख. ग. अस्या विविधान् योगान् । क. अस्य विविधान् प्रयोगान् ।
२. क-प ऊर्ध्वानतलोका ।
३. क-द. वक्त्रं ।
४. क-द. कर्णदूतिकाश्चैव । क-म कर्णचूलिकागण्डाः ।

[1]बालोरगपल्लवधूपदीपवल्लीलताशिखण्डाश्च ।
[2]परिपतनवक्रमण्डलमभिनेयान्यूर्ध्वलोलितया ॥ ६८ ॥

चक्रम् आयुधे कर्मोपकरणे रथाङ्गे च राष्ट्रजने च । चक्रे ऊर्ध्वंमुखं पार्श्वगतं पार्श्वान्तरं भ्रमन्ती कार्या, विद्युत्यूर्ध्वमुखा गतागता । एवमन्यत्रोत्प्रेक्ष्यम् । मञ्जर्यौ लताः कर्णचूलिका कर्णपूरः कुटिलगतयो मीनाद्याः, साधुवादाः भद्रं शोभनमित्याद्या ॥ ६७ ॥

अभिनव—'चक्र' पद का अर्थ है आयुध, कर्म को उपकरण (सामग्री) रथ का चक्र (पहिया) और राष्ट्रजन । चक्र के अभिनय में तर्जनो को ऊर्ध्वमुख कर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में घूमती हुई ले जाना चाहिए । विद्युत् के अभिनय में ऊर्ध्वमुख तर्जनो आती-जातो हुई दिखलानो चाहिए । इसो प्रकार अन्यत्र भो समझना चाहिए। 'मञ्जरो' पद का अर्थ 'लता' है । 'कर्णचूलिका' का अर्थ कर्णपूर (कर्णाभूषण) है। कुटिल गति का अर्थ मोन आदि । 'साधुवाद' का अभिप्राय है, भद्र, शोभन आदि ॥ ६७ ॥

विमर्श—नृत्तरत्नावली में चक्रादि के अभिनय में कुछ भिन्नता है । उसके अनुसार आयुध (चक्र) के अभिनय में तर्जनी को घुमाते हुए ऊर्ध्वमुख रखना चाहिए । घटादि कर्म के उपकरण रूप चक्र (चाक) के अभिनय में तर्जनी को घुमाते हुए अधोमुख कर देना चाहिए । रथाङ्ग (रथ क पहिए) रूप चक्र के अभिनय में तर्जनी को अपने पार्श्व में घुमाना चाहिए । राष्ट्रजन (जनसमूह) के भाव-प्रदर्शन में तर्जनी को एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में आती हुई दिखाना चाहिए । विद्युत् (बिजली) के अभिनय में सूचीमुख हस्त को ऊपर से शीघ्रता पूर्वक नीचे की ओर आती हुई प्रदर्शित करना चाहिए। मञ्जरी आदि के अभिनय में तर्जनी को सिकोड़ कर कुछ फैला देना चाहिए । कूष्माण्ड, ककड़ी आदि लताओं के प्रदर्शन में तर्जनी को मण्डलाकार घुमाते हुए ऊर्ध्वमुख कर देना चाहिए । पताका और साधुवाद के भाव-प्रदर्शन में तर्जनी को कम्पित कर देना चाहिए ॥ ६७ ॥

अनुवाद—बाल सर्प (साँप का छोटा बच्चा), पल्लव, धूप, दीप, बल्ली, लता, शिखण्ड (काकपक्ष), परिपतन (अधःपतन), वक्र (टेढ़ा) वर्त्तुल (गोलाई) के अभिनय में ऊर्ध्वलोलिता तर्जनी का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६८॥

---

१. क-प बालोरगपल्लवधूमदीप० । क-म. बालोरगपल्लवपुष्पदीपा० ।
२. ख परिपतनवक्त्रमण्डलमभिनेयं चोर्ध्वलोलितया ।

भूयश्चोर्ध्वरचिता [1]ताराघोणैकदण्डयष्टिषु च ।
विनता च पुनः कार्या द्रंष्ट्रिषु च तथास्ययोगेन[2] ॥ ६९ ॥

बालसर्पाणां पृथगुपादानं गतिवैलक्षण्यान्मीनेभ्यः । बल्लीलतामञ्जरीणामवान्तरभेद उत्प्रेक्ष्यः । तद्यथा-अलाबू प्रभृतयो बल्लयः । द्राक्षाप्रभृतयो लताः । चूतादीनां मञ्जर्यः । शिखण्डः कुमाराणां काकपक्षः । परिपतनं पात; वक्रं वक्रत्वं, मण्डलं वर्तुलत्वं, समाहारे द्वन्द्वः । उर्ध्वलोलितत्वोक्तिः प्रयोगवृत्त्या वैचित्र्येण विभजनीया ॥ ६८ ॥

अभिनव—पहिले श्लोक में कुटिल गति शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ मीन आदि किया गया है । बाल सर्प के कुटिल गति होने पर भी यहाँ उसका पृथक् से उपादान यह संकेत करता है कि मीन आदि की गति को अपेक्षा बालसर्प की गति विलक्षण होती है । बल्लो, लता और मञ्जरी में अवान्तर भेद समझना चाहिए । वह भेद है । जैसे लौको आदि की लतायें बल्ली कहलाती हैं, अंगूर दाख आदि की लतायें लता कहलाती हैं ओर आम आदि को लता मञ्जरी कही जातो है । 'शिखण्ड का अर्थ है बालकों का काकपक्ष । 'परिपतन' का अर्थ है गिरना । 'वक्र' का अर्थ वक्रता और मण्डल का अर्थ वर्त्तुल (गोलाई) है । यहाँ पर समाहार द्वन्द्व समास है । तर्जनी को ऊर्ध्वलोलित कहने का अभिप्राय है प्रयोग वृत्ति का विचित्रता से विभाग करना चाहिए ॥ ६८ ॥

अनुवाद—और तारा, नासिका, एक की संख्या, दण्ड, यष्टि (लाठी) के अभिनय में तर्जनो को ऊर्ध्वमुख करनी चाहिए और दाढ़ वाले प्राणियों के अभिनय में इस हस्त के योग से तर्जनो को झुका देना चाहिए ॥ ६९ ॥

---

१. ख. वाक्यरूपणे कार्या । ग. वाक्यरूपणे मुखे ।

२. क-न. ताराधोर्षक ।

पुनरपि मण्डलगतया सर्वग्रहणं तथैव लोकस्य।
[1]प्रणतोन्नते च कार्ये ह्याद्ये दीर्घे च दिवसे च ॥ ७० ॥

भूयो बहुतरमित्यस्मिन्नर्थे चायमभिनयः। तारा नक्षणाणि घोणा नासिका। एकः एकत्वसंख्या। दण्डः परं प्रतितर्जनम्। यष्टिः लगुडः पृथुर्वा, नक्षत्रे तर्जन्यूर्ध्वा। दंष्ट्रिषु चकाराद्दंष्ट्रित्वेनाप्रसिद्धेष्वपि राक्षसादिषु। आस्ये योगो भागः सृकिलक्षण-स्तेन सम्बद्धा नता सती। तथेति तेन [2]दंष्ट्राकारेण कार्या सम्मुखतला कार्येत्यर्थः ॥ ६९ ॥

अभिनव—'भूयः' पद का अभिप्राय है कि बहुतर (अत्यधिक) अर्थ में यह अभिनय होता है। 'तारा' का अर्थ नक्षत्र है। 'घोणा' नासिका को कहते हैं। 'एकः' पद एकत्व संख्या का बोधक है। 'दण्ड' पद का अर्थ दूसरे के प्रति तर्जनी है। 'यष्टि' पद का अर्थ है लगुड़ अथवा विशाल मोटी लाठी। नक्षत्र के अभिनय में तर्जनी को ऊपर उठानी चाहिए। दाढ़ वाले प्राणियों के विषय में तथा चकार से द्रष्टित्व के रूप में अप्रसिद्ध राक्षस आदि का ग्रहण होता है। उनके अभिनय में तर्जनी को नत कर देना चाहिए ॥ ६९ ॥

अनुवाद—फिर मण्डलाकार रूप में सञ्चालित तर्जनी के द्वारा समस्त लोक के ग्रहण का अभिनय करना चाहिए। प्रथम छोटे (ह्रस्व) दिन के अभिनय में तर्जनी को प्रणत (झुकी हुई) और दीर्घ (लम्बे) दिवस के अभिनय में तर्जनी को उन्नत करनी चाहिए ॥ ७० ॥

---

१. ग. प्रणतीकृता च कार्या ध्यायेदर्थे च दिवसे च।
   ख. प्रणतीकृता च कार्याद् ध्यायेदथ दिवसे च।

२. क-म. दंष्ट्रासु यथार्हयोगेन। क-न. दंष्ट्रिषु तथार्थयोगेन।

[1]वदनाभ्यासे कुञ्चितविजृम्भिता वाक्यरूपणे कार्या ।
श्रवणाभ्यासे वक्रा विजृम्भणा वाक्यरूपणावसरे ॥ ७१ ॥

पुनरपीप्युर्ध्वाधोमुखत्वप्रसूतमवधार्यते । ग्रहणमिति भावप्रधानः सर्वशब्दः, कात्स्न्र्येन ग्रहणमित्यर्थः । लोकस्य प्रत्यक्षेणावलोक्यमानस्य वा स्मर्यमाणस्य वा । तथैवेति अयमिति पुरोवर्तिनिर्देशेन, स इति च कर्णक्षेत्रे परोक्षवृत्तिनिर्देशेन, ग्रहणस्य लोकतः स्मरणात्मकमभिनयः । एकशब्देन प्रथमत्वात् आद्यो मुख्यो ह्रस्वश्च, वीप्सापेक्षया तत्र तत्र प्रणता, ऊर्ध्वा यान्ती दीर्घे तून्नताः विपरीता दिवसे एकतोऽधस्तलप्रणता अन्यतः प्रोत्तानतलोन्नता परस्परश्लिष्टा संयुक्तकरणत्वेन । पार्श्वात्पार्श्वसञ्चरणादुदयास्तमयसूचिका ॥ ७० ॥

अभिनव—'पुनरपि' इस पद के कहने का अभिप्राय है कि तर्जनी अंगुली ऊर्ध्वमुख और अधोमुख प्रसृत (फैली हुई) होनी चाहिए। 'सर्वग्रहणं' में सर्वशब्द भावप्रधान है, अतः सम्पूर्ण रूप से ग्रहण होता है यह अर्थ है। प्रत्यक्ष रूप से देखे जाने वाले अथवा स्मरण किये जाने वाले लोक का उसी प्रकार ग्रहण होता है। 'अयं' इस पुरोवर्त्ती वस्तु के निर्देश से तथा 'सः' वह कर्णक्षेत्र में परोक्षवृत्ति पदार्थ के निर्देश से यह संकेत मिलता है कि लोक से प्राप्त हुए का स्मरण रूप अभिनय करना चाहिए। एक शब्द से प्रथम होने के कारण 'आद्य' शब्द का अर्थ मुख्य तथा ह्रस्व (छोटा) है। यहाँ वीप्सा की अपेक्षा पहिले प्रणता (झुकी हुई) फिर उन्नता (ऊपर उठी हुई) तथा लम्बाई में ऊँची। दिन में इसके विपरीत एक ओर नीचे में प्रणता दूसरी ओर प्रोत्तानतल में उन्नता परस्पर श्लिष्टा। संयुतकरणता के कारण एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में सञ्चारण करने से उदय और अस्त को सूचित करने वाली तर्जनी होनी चाहिए ॥ ७० ॥

अनुवाद—किसी वाक्य के बोलने के समय मुख के समीप में पहिले कुञ्चिता (सिकुड़ी हुई) फिर विजृम्भिता (फैली गई) तर्जनी का अभिनय करना चाहिए। किसी वाक्य के सुनने के समय कानों के समीप में पहिले वक्रा फिर विजृम्भिता तर्जनी अंगुली का अभिनय करें ॥ ७१ ॥

---

१. क-प. वचनाभ्यासे ।

मेति वदेति च योज्या प्रसारितोत्कम्पितोत्ताना ।
कार्या प्रकम्पिता रोमदर्शने[1] स्वेदरूपणे[2] चैव ॥ ७२ ॥

पूर्वं कुञ्चिता ततो विजृम्भिता प्रसारिता वक्रान्तिके कार्यविचारे यदा याप्युत्सारिताभिनीयते । "श्रवणाभ्यासे वक्रा ज़्म्भणा उन्मुक्ता वाक्यरूपणावसरे" इति वा पाठः । मेति वारणार्थं प्रसारिता वदेति अत्रार्थं उत्कम्पितोत्तानाकुञ्चितप्रसारितेत्यर्थः । रोषस्य दर्शने स्वेदमार्जने च प्रसारितैव ललाटपट्टादौ स्वेदं हरन्ती ॥ ७१-७२ ॥

अनुवाद—'मा' अर्थात् निषेध अर्थ में तर्जनी को प्रसारिता और 'वद' (बोलो) इस अर्थ में उत्कम्पितोत्ताना अर्थात् पहिले कुञ्चिता फिर प्रसारिता की जानी चाहिए । रोष (क्रोध) के प्रदर्शन और स्वेद अर्थात् पसीने के पोंछने में प्रकम्पिता तर्जनी का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७२ ॥

अभिनव--पहिले कुञ्चिता फिर विजृम्भिता अर्थात् प्रसारिता तर्जनी का मुख के पास अभिनय करना चाहिये और कार्य के विषय में उत्सारिता का अभिनय करना चाहिए । अथवा यहाँ निम्नलिखित पाठ भी मिलता है-सुनने के अभ्यास में किसी वाक्य के निरूपण के अवसर पर पहिले वक्रा फिर विजृम्भिता तर्जनी का अभिनय करना चाहिए । 'मा' अर्थात् वारण अर्थ में तर्जनी प्रसारिता (फैलाई हुई) होनी चाहिए । 'वद' अर्थात् बोलो इस अर्थ में तर्जनी उत्कम्पितोत्ताना अर्थात् कुञ्चित-प्रसारिता अर्थात् पहिले सिकुड़ी हुई फिर फैली हुई होनी चाहिए । रोष के प्रदर्शन में और पसीने के पोंछने में अर्थात् मस्तक से पसीने को हटाने में तर्जनी को प्रकम्पिता अर्थात् प्रसारिता होनी चाहिए ॥ ७१-७२ ॥

---

१. ख. ग. सेति वादति (?) च योज्या । क-ग. स इति वदिति नियोज्या ।
क-प. स इति तदिति च योज्या ।

२. क-न. रोमदर्शने ।

३. म. स्वेदमार्जने । क-न. स्वेदरूपेणैव ।

[1]कुन्तलकुण्डलाङ्गदगण्डाश्रयसंश्रयेऽभिनये[2] ।

[3]गर्वेऽहमिति ललाटे रिपुनिर्देशे तथैव च क्रोधे ॥ ७३ ॥

कुन्तलाः केशाः, गण्डाश्रयाः पत्रभङ्गादयः तद्विषयेऽभिनये कर्तव्ये गर्वे योऽहङ्कारः तत्राभिनये ललाटगता। रिपोः प्रत्यक्षस्य निर्देशे अग्रनता, परोक्षस्य रणपूर्वसंरम्भे तु विशेषः। अनुसन्धाने त्रितयात्मिका "स चायं दुष्टात्मा" इति। क्रोध इति संरम्भपूर्वः कोपः पूर्वकृत इति ॥ ७३ ॥

अनुवाद—कुन्तल (बाल), कुण्डल, अङ्गद (केयूर, बाजूबन्द), कपोल पर किये गये पत्र-रचना के अभिनय में और 'मैं' इस प्रकार गर्व (अहङ्कार) में, शत्रु को निर्देश करने में तथा क्रोध सूचित करने में तर्जनी अङ्गुली को मस्तक पर रखना चाहिए ॥ ७३ ॥

अभिनव—'कुन्तल' का अर्थ केश है। 'गण्डाश्रय' का अर्थ पत्रभङ्ग पत्र-रचना आदि है। इस विषय के अभिनय के करने में, गर्व में अर्थात् अहङ्कार के अभिनय में तर्जनी को ललाट पर रखना चाहिए। शत्रुओं को प्रत्यक्ष निर्देश करने में तर्जनी अग्रभाग में नत (झुकी हुई) रखी जानी चाहिए। शत्रु के परोक्ष निर्देश करने में रण के पूर्वकिये जाने वाले संरम्भ (उद्योग) में विशेष तर्जनी को नत करना चाहिए। शत्रु के अनुसन्धान अर्थात् खोजने के अभिनय में तीन अङ्गुलियों से और 'यह वही दुष्टात्मा है' इस प्रकार निर्देश करना चाहिए। क्रोध का अभिप्राय पूर्व में किया गया संरम्भपूर्वक क्रोध है ॥ ७३ ॥

---

१. क. कुन्तलककुण्डल० ।

२. ख. गण्डाश्रयमण्डनाभिनये ।

क–द. गण्डाश्रयसंयथाभिनये ।

३. क-द. सर्वेऽहमिति ।

कोऽसाविति [1]निर्देशेऽथ कर्णकण्डूयने चैव ।
संयुक्ता संयोगे कार्या विश्लेषिता वियोगे च ॥ ७४ ॥
कलहे स्वस्तिकयुक्तां परस्परोत्पीडिता बन्धे ।
द्वाभ्यां तु वामपार्श्वे[2] दक्षिणतो दिननिशावसानानि ॥ ७५ ॥
अभिमुखपराङ्मुखीभ्यां[3] विश्लिष्टाभ्यां प्रयुञ्जीत[4] ।

किमर्थात्मा प्रश्नः, तत्रासाविति च दूरगतवस्तु निर्देशे। कर्णकण्डूयनं [5]प्रसिद्धम्। संयुक्ते अधस्तलयोः पार्श्वनैरन्तर्यादित्यर्थः। विश्लेषिताभ्यां [6]द्वाभ्यामभिमुखपराङ्मुखाभ्यां वामपार्श्वं गच्छन्तीभ्यां दिनावसानमभिनयेत्[7]। दक्षिणस्तु सूर्यस्याग्रभागः वामो हि सोमस्य दक्षिणपार्श्वं गच्छन्तीभ्यां निशावसानम्। विश्लिष्टाभ्यामिति तालमात्रान्तराभ्यामिति दीर्घह्रस्वतांशत्वादौपचारिकाभ्याम्। द्वाभ्यां तु इत्यङ्गुष्ठप्रसारणे सति आकुञ्चनादित्यर्थः ॥ ७४–७६ ॥

अनुवाद – 'यह कौन है' इस प्रकार के निर्देश में और कान के खुजलाने में तर्जनी को ललाट पर रखना चाहिए। संयोग के अभिनय में दोनों तर्जनियों को संयुक्त (मिली हुई) और वियोग के अभिनय में वियुक्त करना चाहिए। कलह के अभिनय में दोनों हाथों को स्वस्तिक हस्त मुद्रा में तथा बन्धन में तर्जनी को उत्पीड़िता अवस्था में रखना चाहिए। विश्लिष्ट अर्थात् तालमात्र के अन्तर पर स्थित अभिमुख (सामने) और पराङ्मुख (विपरीत दिशा में) जाने वाली दोनों तर्जनी अंगुलियों को वामपार्श्व में ले जाकर दिन के अवसान (दिन की समाप्ति) का तथा दक्षिण पार्श्व में ले जाकर रात्रि के अवसान (समाप्ति) का अभिनय करना चाहिए ॥ ७४–७६ ॥

---

१. क. निर्देशे च ।
२. ख. वामगमनं
३. ख. ग. पराङ्मुखाभ्यां ।
४. क-द. वियुञ्जीत ।
५. क. कर्णकण्डूयनः प्रसिद्धः ।
६. क. द्वाभ्यायभिमुखपरिमुखे । द्वाभ्यामन्योन्यपरिमुखे ।
७. क. अभिनेयम् ।

द्वाभ्यां [1]सन्दर्शयेन्नित्यं सम्पूर्णं चन्द्रमण्डलम् ।
श्लिष्टा ललाटे शक्रस्य कार्या [2]ह्युत्तानसंश्रया ।। ७६ ।।
[3]पुनरपि च भ्रमिताग्ररूपा शिलावर्तयन्त्रशैलेषु[4] ।
परिवेषणे तथैव हि कार्या चाधोमुखी नित्यम्[5] ।। ७७ ।।

अभिनव—यहाँ 'किम्' शब्द प्रश्नवाचक है और 'अश्वौ' पद दूरगत वस्तु का निर्देश करता है। 'कर्णकण्डूयन' का अर्थ प्रसिद्ध है। 'संयुक्ता' पद का अभिप्राय है—दोनों अंगुलियों का नीचे की ओर पार्श्व में निरन्तर मिली हुई होना। 'विश्लिष्टा-भ्याम्' अर्थात् वियुक्त की गई अभिमुख (सामने) और पराङ्मुख (विपरीत दिशा में) वामपार्श्व में जाने वाली दोनों तर्जनी अंगुलियों के द्वारा दिन के अवसान का अभिनय करे और वियुक्त दक्षिणपार्श्व में जाने वाली दोनों तर्जनी अंगुलियों से रात्रि की समाप्ति का अभिनय करे। क्योंकि वामभाग सोम का और दक्षिण भाग सूर्य का संकेत करता है। 'विश्लिष्टाभ्याम्' का अर्थ है तालमात्र का अन्तर वाली दो अंगुलियाँ। अंगूठे के प्रसारण एवं आकुञ्चन से अंशतः दीर्घ और ह्रस्व (लम्बाई और छोटाई) उपचार से प्राप्त है ॥ ७४–७६ ॥

अनुवाद—दोनों अंगुलियों के द्वारा सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल का प्रदर्शन करना चाहिए तथा शक्र (इन्द्र) के प्रदर्शन में ललाट पर श्लिष्ट और उत्तान स्थित करना चाहिए ॥ ७६ ॥

अनुवाद—और शिला, आवर्त्त (भँवर), यन्त्र, शैल के अभिनय में गोल घूमती हुई अंगुलियों का प्रयोग करना चाहिए और परिवेषण में अंगुली को नित्य अधोमुखी रखनी चाहिए ॥ ७७ ॥

---

१. क-ग ङ. प्रदर्शयेत्रित्यं ।
२. क. कार्योत्त्थानं सुसंश्रिता । क-म. कार्याभ्युत्त्थानसंस्थिता ।
३. ख. पुस्तके 'पुनरपि' इत्यादि श्लोकद्वयं नास्ति ।
४. क-म. शिलावर्त्तयन्त्र शिखरेषु ।
५. ख-ग. नित्या ।

[1]श्लिष्टा ललाटपट्टेष्वधोमुखो [2]शम्भुरूपेण कार्या।
[3]शक्रस्याप्युत्ताना तज्ज्ञैस्तिर्यक्स्थिता कार्या ॥ ७८ ॥
[4]परिमण्डलं भ्रमितया मण्डलमादर्शयेच्च[5] चन्द्रस्य।
हरनयने च ललाटे शक्रस्य च तिर्यगुत्ताना ॥ ७९ ॥

परिमण्डलं भ्रमितया मण्डलमादर्शयेच्च चन्द्रस्येति चशब्दो विकल्पार्थः। हरस्य भगवतस्तृतीयनयने प्रदर्शिते सति यदभिनयनं तत्र कर्त्तव्ये सति ललटे ऊर्ध्वा वा कार्या। एवं शक्रस्याभिनयने ललाट एवोत्ताना तिरश्चीना च अङ्गुल्या एवात्र प्राधान्यात्। खटकामुख मध्यमया यल्लोके महेश्वरशक्राभिनयनं दृश्यते तत्रालाक्षणिकं इति मन्तव्यम् ॥ ७६-७९ ॥

अनुवाद –शिव के अभिनय में सूचीमुख हस्त की अंगुली को श्लिष्ट और अधोमुख करके ललाट पर रखना चाहिए और शक्र (इन्द्र) के अभिनय में तिर्यक् (तिरछा) और (उन्नत) करके प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ७७-७८ ॥

अनुवाद—गोलाकार घुमाई गई अंगुली से चन्द्रमा का मण्डल प्रदर्शित करना चाहिए और शिव के तृतीय नेत्र के अभिनय में अंगुलो को इन्द्र की तरह अर्थात् इन्द्र के अभिनय में बताई गई अंगुलो को तरह ललाट पर तिरछा और उत्तान रखना चाहिए ॥ ७९ ॥

अभिनव–-परिमण्डल अर्थात् गोलाकार घुमाई गई तर्जनी से चन्द्र-मण्डल प्रदर्शित करे। यहाँ 'च' शब्द विकल्पार्थक है। भगवान् शिव के तृतीय नेत्र के प्रदर्शन में जो अभिनय किया जाय उनमें अंगुलो को ललाट् पर ऊपर की ओर रखें। इसी प्रकार इन्द्र के अभिनय में अंगुलो को उत्तान एवं तिरछा रखे। क्योकि यहाँ अंगुलियो की प्रधानता है और जो लोक में खटकामुख हस्त की मध्यमा से जो शिव एवं इन्द्र का अभिनय दिखाई देता है उसे आलाक्षणिक मानना चाहिए ॥ ७७-७९ ॥

---

१. क-म. श्लिष्टे
२. ख. ग. शम्भुरूपेण।
३. ख-म. शक्रस्याम्युत्थानात्।
४. ख. ग. परिमण्डलभ्रमितया। अयं श्लोकः 'ङ' पुस्तके नास्ति।
५. ख. ग. मण्डलयोर्दशंयेच्च।

यस्याङ्गुल्यस्तु विरलाः सहाङ्गुष्ठेन कुञ्चिताः ।
ऊर्ध्वा [1]ह्यसङ्गताग्राश्च स भवेत् पद्मकोशकः ॥ ८० ॥
विल्वकपित्थफलानां ग्रहणं [2]कुचदर्शनं च नारीणाम् ।
ग्रहणे ह्यामिषलाभे भवन्ति ताः कुञ्चिताग्रास्तु[3] ॥ ८१ ॥

अथ पद्मकोशं लक्षयति यस्याङ्गुल्यस्तु विरला इति ।

उर्ध्वा चतुर्भेद रचना इति यावत् । पद्मस्येव कोशोऽभ्यन्तरं विनतं यस्येति तथा ॥ ८० ॥

ग्रहणमिति गृह्यतेऽनेनेति ग्रणमभिनय इत्यर्थः । एवं कुचौ दृश्येते अनेनेति कुचदर्शनं पद्मकोश इति पूर्वेण सम्बन्धः । बिल्वादीनां तु ग्रहणे वा एवाङ्गुल्योऽग्रपर्वण्यतिकुञ्चिताश्च भवन्ति । क्रव्यादानामामिषलाभे आमिषग्रहणे च । लभिरत्र ग्रहणे । आमिषलाभे सति यद् ग्रहणं तत्रेति केचित् ॥ ८१ ॥

---

१२. पद्मकोश

अभिनव—अब पद्मकोश का लक्षण करते हैं—'यस्याङ्गुल्यस्तु' इत्यादि ।

अनुवाद -जिस हाथ की अंगूठे के साथ सारी अंगुलियाँ अलग-अलग रह कर कुञ्चित (सिकुड़ी हुई), ऊपर को ओर उठी हुई हों और अग्रभाग असंगत हो तो उसे 'पद्मकोश' हस्त कहते हैं ॥ ८० ॥

अभिनव—'ऊर्ध्वा' पद का अभिप्राय है कि चार भेदों की जिसमें रचना हो । पद्म (कमल) के समान जिसका अभ्यन्तर विनत हो ॥ ८० ॥

अनुवाद—विल्व (बेल) एवं कपित्थ (कैथ) के फलों के ग्रहण में, स्त्रियों के कुचों को दिखाने के अभिनय में, आमिष की प्राप्ति में उन अंगुलियों के अग्रभाग को कुञ्चित रखा जाय ॥ ८१ ॥

---

१. क-म. ऊर्ध्वाभ्युत्संगताग्रा च ।
२. क-म. ग्रहणे युवतिस्तनाभिनयने । क-द. स्तनाभिनयनं च बालनारीणाम् ।
३. क-म. कुञ्चितास्तासु ।

[1]बहुजातिबीजपूरकमामिषखण्डं च निर्देश्यम् ।
देवार्चनबलिहरणे समुद्गके[2] साग्रपिण्डदाने च ।
[3]कार्यः पुष्पप्रकरश्च पद्मकोशेन[4] हस्तेन ॥ ८२ ॥

बलेर्हरणं दानं वैचित्र्यप्रापणं वा। अग्रपिण्डो [5]गवादेः, भोजनाय, यत्र यत्रोत्सवादौ नान्दीमुखश्राद्धादावपसव्यता न कार्या पर्यग्रपिण्डदानम् । पुष्पप्रकरश्चेति द्विस्त्रिर्विकीर्णाग्रेण ॥ ८२ ॥

अभिनव—'ग्रहण' पद का अभिप्राय है जिससे ग्रहण किया जाय। वह ग्रहण अर्थात् अभिनय है। इसी प्रकार जिससे कुच दिखाई दे वह कुचदर्शन है, अर्थात् पद्मकोश हस्त, इसका पूर्व से सम्बन्ध है। बिल्व (वेल) आदि के ग्रहण में (अभिनय में) वे ही अंगुलियाँ पर्व के अग्रभाग में अत्यन्त कुञ्चित (सिकुड़ी हुई) होती है। क्रव्याद अर्थात् मांसभक्षियों के आमिष (मांस) के ग्रहण में। यहाँ 'लभ' का अर्थ 'ग्रहण' है। आमिष-लाभ होने पर ग्रहण करना कोई आचार्य आमिषलाभ का यह अर्थ करते हैं ॥ ८१ ॥

अनुवाद—इस पद्मकोश हस्त के द्वारा अनेक प्रकार की जाति वाले बीजपूर (बिजौरा नीबू) तथा मांस खण्ड का निर्देश करना चाहिए। देवताओं के पूजन एवं बलि प्रदान करने, समुद्गक (पिटारी), प्रथम पिण्डदान यथा पुष्पों के बिखेरने का अभिनय पद्मकोश हस्त के द्वारा करना चाहिए ॥ ८२ ॥

अभिनव—बलि का हरण दान या विचित्रता से प्राप्ति 'वलिहरण' का अभिप्राय है। 'अग्रपिण्ड' का तात्पर्य है, गौ आदि के भोजन के लिए गोग्रास निकालना। जिस उत्सव आदि में नान्दीप्रमुख श्राद्ध आदि में अपसव्य नहीं होना चाहिए, वहां पर्यग्र (ताजा) पिण्डदान करना चाहिए। 'पुष्पप्रकर' का अर्थ है पुष्पों का दो-तीन बार बिखेरना ॥ ८२ ॥

---

१. ख. म. घ. पुस्तकेषु श्लोकार्धोऽयं नास्ति ।

२. ख. संगूहे चाग्रपिण्डदाने च । क-ङ. संगूहे चाग्रपिण्डदाने ।

३. क—म. पुष्पप्रकर्षं पुष्पप्रकरश्च पद्मकोशेन ।

४. पद्मकोषेण ।

५. क. गङ्गादेः ।

[1]मणिबन्धनविश्लिष्टाभ्यां प्रविरलचलिताङ्गुलिकराभ्याम् ।
[2]कार्यो विवर्त्तिताभ्यां विकसितकमलोत्पलाविनयः ॥ ८३ ॥
[3]अङ्गुल्यः संहताः[4] सर्वाः सहाङ्गुष्ठेन यस्य च ।
तथा निम्नतलश्चैव स तु सर्पशिराः[5] करः ॥ ८४ ॥

सर्पशिरसमाह—अङ्गुल्यस्संहता इति ।

संहता श्लिष्टाः सहाङ्गुष्ठेनेति कुञ्चितोऽङ्गुष्ठ इत्यर्थः । निम्नं तलं मध्यस्याभिमुखस्य सर्पशिरस्तुल्यत्वात् । वास्येदं नाम ॥ ८४ ॥

अनुवाद—परस्पर विश्लिष्ट मणिबन्ध वाले, प्रविरल अलग-अलग हिलती हुई अंगुलियों वाले विवर्त्तित (पीछे की ओर ले जाये गये) हाथों से विकसित कमल एवं कुमुद (उत्पल) का अभिनय करना चाहिए ॥ ८३ ॥

१३. सर्पशीर्ष हस्त

अभिनव—सर्पशीर्ष हस्त का लक्षण कहते हैं—'अङ्गुल्यः' इत्यादि ।

अनुवाद--अंगूठे के साथ जिसकी सारी अंगुलियाँ परस्पर संहित अर्थात् मिली हुई हों और हथेली झुकी हुई हो, उसे 'सर्पशीर्ष' हस्त कहते हैं ॥ ८४ ॥

अभिनव—'संहता' का अर्थ है अंगुलियाँ अंगूठे के साथ परस्पर मिली हुई होना अर्थात् अंगूठा कुञ्चित हो । अभिमुख मध्यभाग का तल अर्थात् हथेली नत हो, क्योंकि वह सर्प के शिर के समान है अथवा उसका यही नाम है ॥ ८४ ॥

---

१. क-प. मणिबन्धश्लिष्टाभ्यां चलिताङ्गुलियुतिकराभ्याम् ।
 क–म. मणिबन्धश्लिष्टाभ्यां चलिताङ्गुलिभ्यां कराभ्याम् ।
२. ख. ग. कार्योपवर्त्तिताभ्यां ।
 क–न. कार्यो विचिन्तिताभ्यां ।
३. क–म. अङ्गुल्यः संगताश्चोर्ध्वाः सताङ्गुष्ठेन यस्य तु ।
४. ख. संहिताः ।
५. सा. सर्वशिरः करः । ग. सर्वशिराः करः ।

एष सलिलप्रदाने भुजङ्गगतो तोयसेचने चैव।
'आस्फोटने च योज्यः करिकुम्भास्फालनाद्येषु[2] ॥ ८५ ॥

सलिलप्रदाने देवेभ्यः, सलिले च प्रतिग्रहार्थं प्रदीयमाने प्रतिगृहीतुरभिनयो येन। सर्पगतावधोमुखः। तोयोपसेचनं कुङ्कुमचन्दनादौ। आस्फोटनं मल्लयुद्ध ऊरुबाह्वादिषु ॥ ८५ ॥

विमर्श—इस हस्तमुद्रा में सभी अंगुलियाँ अंगूठे के साथ कुञ्चित होती है और अभिमुख (सम्मुख) स्थित हथेली विनत होती है जिससे हाथ का आकार सर्प के फण (फन) जैसा हो जाता है। भरतार्णव के अनुसार यदि पताकहस्त की अंगुलियाँ परस्पर मिलाकर अग्रभाग से कुछ झुका दिया जाय और हथेली भीतर को ओर झुकी हुई हो तो सर्पशीर्ष हस्त कहा जाता है। चन्दन, सर्प, वामन पुरुष आदि का अभिनय इस हस्त के द्वारा करना चाहिए ॥ ८४ ॥

अनुवाद—देवताओं को जल देने में, सर्प की गति में, जल के सेचन में, मल्लयुद्ध में, ताल ठोकने और हाथियों के गण्डस्थल के आस्फालन में इस सर्पशीर्ष हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८५ ॥

अभिनव—देवताओं को जल देने में (तर्पण आदि में) और दान लेने के लिए जल के दिये जाने पर प्रतिग्रहीता का अभिनय जिसके द्वारा किया जाय वह सर्पशीर्ष हस्त कहा जाता है। सर्प को गति के अभिनय में यह हाथ अधोमुख होता है। 'तोयसेचन' का अभिप्राय है कुङ्कुम, चन्दन आदि में जल का छोड़ना। आस्फोटन का अर्थ है मल्लयुद्ध में जंघा आदि पर बाहु आदि से ताल ठोकना ॥ ८५ ॥

---

१. क–म. आस्फोटनेषु।
२. क–द. करिकुम्भस्फालने चैव।

अधोमुखीनां सर्वासामङ्गुलीनां समागमः[1] ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकावूर्ध्वौ स भवेत् मृगशीर्षकः ॥ ८६ ॥
इह[2] सांप्रतमस्त्यद्य शक्तेश्चोल्लासनेऽक्षपाते च ।
स्वेदापमार्जनेषु च [3]कुट्टमिते प्रचलितस्तु भवेत् ॥ ८७ ॥

मृगशीर्षकमाह—मृगस्येव शिरस्थे शृङ्गे यस्य । शीर्षशब्दः प्रकृत्यन्तरम्—इहेति प्रत्यक्षाधिकरणनिर्देशे । साम्प्रतमिति वर्तमानकालनिर्देशे । अस्तीत्यभ्युपगमाभिनये सम्भवाभिनये च । अद्येति वर्तमाननिर्देशेन गतार्थत्वेऽपि साभिनयेन सूचीमुखेन बाधा माभूदिति पुनरुपात्तम् । एतावत्यधोमुखोऽयम् । शक्तेरुल्लासनेऽक्षपाते चोर्ध्वमुखः गण्डादौ स्वेदमार्जने स्वेदाभिमुखतल उर्ध्वमुखः । कुट्टमितं हर्षवशात्सहदुःखोपचारेण स्त्रीणां चेष्टालङ्कारः तत्राभिमुखतलो बाह्यो विस्तीर्णाङ्गुलिः[4] ॥ ८७ ॥

---

१४. मृगशीर्षक हस्त

अभिनव—अब मृगशीर्ष हस्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—जिस हस्त की सारी अंगुलियाँ अधोमुख होकर मिली रहे और कनिष्ठिका तथा अंगुष्ठ ऊर्ध्वमुख हो वहाँ 'मृगशीर्ष' हस्त होता है ॥ ८६ ॥

अनुवाद—यहाँ इस समय, आज, यह है, इत्यादि अर्थ के सूचन में शक्ति (आयुधविशेष) के उठाने में, पाँसों के फेंकने में, पसीने के पोंछने में और कुट्टमित अर्थात् स्त्रियों के चेष्टालङ्कार में इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ८७ ॥

---

१. क–द. समासतः । क–म. समागत. ।

२. ख. ग. इह साम्प्रतमस्त्यद्य शक्यश्चेल्लालनेऽक्षपाते च ।
क–म. पुस्तके "इह साम्प्रतमद्य च शक्याश्चोल्लालनेऽक्षपाते च ।
उत्कर्षे वस्त्रस्य च रशनायां चैव विनियोज्यः ।" इति श्लोक उपलभ्यते ।

३. ख. कुट्टिमिते ।

४. क. विस्तीर्णाङ्गुलिः ।

[1]त्रेताग्निसंस्थिता मध्या तर्जन्यङ्गुष्ठका यदा[2] ।
[3]काङ्गुलेऽनामिका वक्रा तथा चोर्ध्वा कनीयसी[4] ॥ ८८ ॥

काङ्गुलमाह—त्रेताग्निसंस्थिता इति ।

अभिनव—मृग के समान जिसके शिरोभाग में सींग हों वह मृगशीर्षक हस्त कहलाता है। शीर्ष शब्द शिर की दूसरी प्रकृति है। 'इह' पद प्रत्यक्ष अधिकरण के निर्देश में है। 'साम्प्रतम्' यह पद वर्तमान काल के निर्देश में है। 'अस्ति' यह पद किसी वस्तु के स्वीकार करने के अभिनय में और सम्भव पदार्थ के अभिनय में है। 'अद्य' यह पद 'साम्प्रतम्' इस वर्तमान काल के निर्देश से यद्यपि गतार्थ हो जाता है, फिर भी सूचीमुख अभिनय से बाधा न हो, इसलिए पुनः उपादान (ग्रहण) किया गया है। इस अभिनय में यह अधोमुख होता है। शक्ति नामक आयुध के उठाने में तथा पासा फेकने में ऊर्ध्वमुख हस्त का प्रयोग होता है। कपोल आदि पर पसीना पोछने में हथेली को समान ऊर्ध्वमुख रखना चाहिए। 'कुट्टमित' हर्ष के कारण दुःख के उपचार के साथ स्त्रियों का चेष्टालङ्कार है। उसमें हथेली सामने और अङ्गुलियाँ बाहर की ओर फैली हुई होती हैं ॥ ८६–८७ ॥

१५–कांगुल हस्त

अभिनव—अब काङ्गुल हस्त का लक्षण कहते हैं—'त्रेताग्नि संस्थिता' इत्यादि ।

अनुवाद–जिस हस्त को मध्यमा, तर्जनी और अंगूठे त्रेताग्नि की तरह अलग-अलग स्थित हों और अनामिका अंगुली वक्र हो तथा कनिष्ठिका अंगुली ऊपर उठी हुई हो तो वहाँ 'काङ्गुल' हस्त होता है ॥ ८८ ॥

---

१. ख. ग. त्रेताद्विसंस्थिता मध्या ।

२. ख. तथा ।

३. ख. ग. अङ्गुलेऽनामिका वक्रा । क–प. लाङ्गुलेऽनामिका वक्रा ।

४. ग. चोर्ध्वकनीयसी ।

एतेन [1]तरुणफलानि नानाविधानि च लघूनि[2] ।
कार्याणि [3]रोषजानि स्त्रीवचनान्यङ्गुलिक्षेपैः ॥ ८९ ॥

त्रेतारूपा अग्न्यः आहवनीयादयः तद्वत्संस्थानमासामिति । विरलयोः श्लिष्ट एवाग्रगोऽङ्गुष्ठ इत्यर्थः । कङ्गुः[4] प्रियङ्गुतां लातीति तस्यायमर्थः । कङ्गूच्चयने कीदृशः करो भवति । काङ्गुलो वृश्चिक इति तु केचित् ॥ ८८ ॥

एतेन तरुणानि फलानि मुक्ताफलवदराणि गत्या तेषामुद्योते, लघुनीति परिमितानि मृत्पिण्डसदृशानीत्यर्थः । अङ्गुल्यः अङ्गुष्ठस्तर्जनीमध्यमे च तासां बहिःक्षेपः ॥ ८९ ॥

अभिनव—'त्रेताग्नि' का अर्थ है त्रेता रूप अग्नि । आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिण नामक अग्नियाँ जिस प्रकार स्थित होती है उसी प्रकार जिनका संस्थान हो । विरल दोनों अंगुलियों में (मध्यमा और तर्जनी में) आगे की ओर अंगूठा श्लिष्ट हो । 'कङ्गु' का अर्थ है प्रियङ्गुलता, उसे जो लाता है वह कङ्गुल है । कङ्गु के चयन में कैसा हाथ होता है ? यह बताया गया है । कुछ लोग कङ्गु का अर्थ विच्छू करते हैं ॥ ८८ ॥

अनुवाद—इस रहस्य के द्वारा अनेक प्रकार के छोटे-छोटे नये फलों का अभिनय होता है । स्त्रियों के रोषपूर्ण वचनों को अङ्गुली के प्रक्षेपण के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए ॥ ८९ ॥

अभिनव—इस हाथ से तरुणफल अर्थात् मोती के समान बेर के फलों को गति से उठाने में अभिनय किया जाता है । 'लघूनि' का अर्थ है मृत्पिण्ड के समान परिमित अंगुलियाँ अर्थात् अंगूठा, तर्जनी और मध्यमा अंगुलियाँ, उनका बाहर की ओर प्रक्षेपण अर्थात् फेंकना ॥ ८९-९० ॥

१. क. ग. ङ. तरुणफलरूपणानि ।

२. ख. लघूनि कार्याणि ।

३. ख रोषजातिस्त्रीवचनान्यङ्गुलिक्षेपैः ।
क-न. रोषजानि च ।
क-म. रोषजानि तु ।

४. क. कङ्गूः पियङ्गूः ।

[1]मकरतवैडूर्यादेः प्रदर्शनं सुमनसां च कर्त्तव्यम् ।
ग्राह्यं विड़ालपदमिति तज्ज्ञैरेवं प्रयोगेषु ॥ ९० ॥

[2]आवर्तिताः करतले यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
[3]पार्श्वागतविकीर्णाश्च स भवेदलपल्लवः[4] ॥ ९१ ॥

प्रतिषेधकृते योज्यः कस्य त्वन्नास्ति शून्यवचनेषु ।
पुनरात्मोपन्यासः स्त्रीणामेतेन कर्तव्यः ॥ ९२ ॥

अलपल्लवलमाह—आवर्तिता इति ।

अनुवाद—मरकतमणि, वैडूर्य आदि मणियों तथा पुरुषों का प्रदर्शन इसी हस्त के द्वारा करना चाहिए। नाट्यविशेषज्ञों को प्रयोगों में विड़ालादि के पैरों के अभिनय में इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९० ॥

१६–अलपल्लव

अभिनव—अलपल्लव हस्त का लक्षण कहते हैं—'आवर्त्तिता' इत्यादि ।

अनुवाद—जिस हस्त की अंगुलियाँ हथेली से वृत्ताकार रूप में आवर्तित (मुड़ी हुई) हों और पार्श्वगत अर्थात् पार्श्व में आकर बिखरी हुई हो उसे 'अलपल्लव हस्त कहते हैं ॥ ९१ ॥

अनुवाद –'तुम किसके हो' इस प्रकार प्रश्न करने में और 'नहीं' इस रूप में प्रतिषेध करने में, मिथ्या अधिक्षेप रूप शून्य वचनों में इस हस्त का विनियोग करना चाहिए। पुनः स्त्रियों के आत्मोपन्यास अर्थात् विस्मय में इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९२ ॥

---

१. ख. ग मरकतवैडूर्यादीनां निदर्शनं कार्यम् ।
ग्राह्यं विडालपदमिति चैव प्रयोगेषु ।

२. ख. ग. आवर्त्तिन्यः ।

३. ख. पार्श्वगता ।

४. ख. स भवेदलपद्मकः । क-म. सोऽलपद्म इति स्मृतः । क. द. अलपद्मः सः कीर्तितः ।

[1]तिस्रः प्रसारिता यत्र तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
तासां[2] मध्ये स्थितोऽङ्गुष्ठः स [3]करश्चतुरः स्मृतः ॥ ९३ ॥

कनिष्ठाद्या क्रमेण वर्तना परिवर्तनं वा कुर्वन्त्यः । इयर्तीत्यरः चलः । चलपल्लवाकारत्वादलपल्लवः । अलपद्मक इति च तन्नाम । प्रतिषेधस्य कृते अभिनयकरणाय । कस्य त्वमिति, नास्तीति च मिथ्याधिक्षेपार्थे च शून्यवचनानि तच्छास्त्रमसत्प्रयुक्तमित्यादीनि । पुनरर्थे अहमर्थे उपन्यासे च विस्मये अभिनयः स्त्रीणामुपन्यस्यते पुनः पुनरभिनीयते विस्मयापादकत्वादित्युपन्यासः ॥ ९१-९२ ॥

चतुरमाह—तिस्रः प्रसारिता यत्रेति ।

अभिनव—कनिष्ठिका आदि अंगुलियाँ क्रम से वर्त्तना अथवा परिवर्त्तन करती हुई । 'अलपल्लव' शब्द में 'अल' की व्युत्पत्ति करते हैं–'इर्यति इति अरः' अर्थात् जो चलता है वह 'अर' है । 'रलयोर्भदो नास्ति' अर्थात् र और ल में भेद नहीं होता है, अतः 'अर' ही 'अल' है । 'अल' का अर्थ चल और पल्लव का अर्थ है पल्लव के समान आकार वाला अर्थात् चल पल्लव के आकारवाला होने से इसे 'अलपल्लव' कहते हैं । 'अलपद्म भी इसका एक नाम है । प्रतिषेध के अभिनय करने के लिए 'शून्यवचनानि' अर्थात् 'वह शास्त्र असत् प्रयुक्त हैं' इत्यादि शून्य वचनों में । 'पुनः के अर्थ में 'अहं' के अर्थ में, उपन्यास अर्थात् विस्मय में इस हस्त का प्रयोग करना चाहिये । स्त्रियों के अभिनय का उपन्यास करते हैं अर्थात् विस्मयोत्पादक होने से बार-बार अभिनय करते हैं, इसलिए यह 'उपन्यास है ॥ ९१-९२ ॥

१७–चतुर हस्त

अभिनव—अब चतुर हस्त का लक्षण कहते हैं—तिस्र प्रसारिता इत्यादि ।

अनुवाद—जिस हस्त की तीन अंगुलियाँ प्रसारित अर्थात् फैलाई हुई होती हैं । कनिष्ठिका अंगुली ऊर्ध्वा अर्थात् ऊपर की ओर उठी हुई और अङ्गुष्ठ में स्थित होती है । उसे 'चतुर' हस्त कहते हैं ॥ ९३ ॥

१. क–न. ब. तिस्रः प्रसारिताङ्गुल्यः तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।
क–म. तिस्रः प्रसारिता यस्य तथा चोर्ध्वा कनीयसी ।

२. ख. तासां मध्यस्तथाङ्गुष्ठः ।

३. क-ङ. करश्चतुरकः स्मृतः ।

[1]नयविनयनियमसुनिपुणबालातुरसत्त्वकैतवार्थेषु ।
[2]वाक्ये युक्ते पथ्ये सत्ये प्रशमे च विनियोज्यः ॥ ९४ ॥

मध्य इति मध्यमाया मध्य एव । चतस्रोऽङ्गुलयोऽङ्गुष्ठश्लिष्टत्वेन सन्त्यस्मिन्निति, अच्प्रत्ययाकारान्तश्चतुरशब्दः । चतसृणामभिनयनाद्वा चतुरः ॥९३॥

सत्यकैतवादिषु मुखरागभेदाद्भेदः ॥ ९४ ॥

अभिनव—'मध्य' का अर्थ है कि मध्यमा अंगुली मध्य में हो। जिसमें चारों अंगुलियाँ अंगूठे से श्लिष्ट हों, इस अर्थ में 'अच्' प्रत्यय से निष्पन्न 'चतुर' शब्द अकारान्त है अथवा चार अंगुलियों का अभिनय होने से 'चतुर' कहलाता है ॥ ९३ ॥

विमर्श—असंयुत हस्तों में चतुर हस्त का अधिक महत्त्व है। नाट्यशास्त्रसंग्रह में इसका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है। यदि सर्पशीर्ष हस्त में कनिष्ठा अंगुली वक्र होकर झुका दी जाय और अंगूठे को मध्यमा के मूल में स्पर्श करते हुए वक्र कर दिया जाय तो 'चतुर' हस्त होता है। भरतार्णव के अनुसार यदि तर्जनी, मध्यमा और अनामिका आदि तीनों अंगुलियाँ परस्पर श्लिष्ट (मिली हुई) हों और कनिष्ठिका प्रसृत (फैली हुई) हो तथा अङ्गुष्ठ वक्र होकर अनामिका के मूलभाग का स्पर्श करे तो 'चतुर' हस्त होता है। अन्य आचार्य तो चतुर हस्त में पताका नामक हस्त के अंगूठे को मध्यमा के मूल में स्थित मानते हैं। मानव-जीवन के अनेक सुकुमार भावों का अभिनय 'चतुर' हस्त के द्वारा होता है। चतुर हस्त का उद्भव कश्यप से हुआ है। इस हस्त का ऋषि वालखिल्य और संरक्षक देवता विष्णु हैं। कश्यप ऋषि ने अमृत लाने के समय गरुड़ को इसी मुद्रा की शिक्षा दी थी ॥ ९३ ॥

अनुवाद—नय (नीति), विनय, निपुणता, बाल, आतुर, सत्य, कैतव आदि अर्थों में, वाक्य, युक्त, पथ्य, सत्य और प्रशम बोधक अर्थ में इस हस्त का विनियोग करना चाहिए ॥ ९४ ॥

अभिनव—सत्य, कैतव आदि में मुखराग भेद से होता है ॥ ९४ ॥

---

१. ख. नयननिपुणसमसुनिपुणबालातुरशाठ्यकैतवार्थेषु ।
क–द. नयविनयमुनिप्रणिपुणबालान्तरसत्यकैतवार्थेषु ।
क–न. नयविनयनियमसुनिपुणरचितवितर्कितं लज्जितं चैव ।

२. क–प. वाक्ये मध्ये पुत्रे पद्ये प्रशमे ।

एकेन द्वाभ्यां वा किञ्चिन्मण्डलकृतेन[1] हस्तेन ।
[2]विकृतविचारितचरितं वितर्कितं[3] लज्जितं चैव ॥ ९५ ॥

नयनौपम्यं पद्मदलरूपणं हरिणकर्णनिर्देशः[4] ।
[5]संयुतकरणेनैव तु चतुरेणैतानि कुर्वीत[6] ॥ ९६ ॥

विवृतं प्रकारमेकेन अनावेशे, तु द्वाभ्याम् ॥ ९५ ॥

नयनयोरभिनेययोः उपमानोपमेयभावे पद्मदलादिके चैकाकितां निषेद्धुमेवकारः ॥ ९६ ॥

अनुवाद--कुछ थोड़े से मण्डलाकार किये हुए एक अथवा दो 'चतुर' हस्त के द्वारा विवृत, विचारित चरित, विवर्त्तित और लज्जित भावों का अभिनय करना चाहिए ॥ ९५ ॥

अभिनव—विवृत का अर्थ प्रकार है। आवेश न होने पर एक हाथ से और आवेश में दो हाथों से अभिनय करना चाहिए ॥ ९५ ॥

अनुवाद— दो संयुक्त चतुर हस्तों के द्वारा नेत्रों के औपम्य, कमलदल का रूपण, हरिण के कर्ण का निर्देशन करना चाहिए ॥ ९५ ॥

अभिनव—अभिनेय नेत्रों और पद्मदल आदि के उपमानोपमेय भाव में एकाकिता का निषेध करने के लिए एवकार है ॥ ९६ ॥

---

१. ख. हस्तदण्डेन । क प. मण्डलितहस्तेन ।
२. ख विधृतविचारितचरितं ।
   ग. विहृतविचारितरचितं ।
   क–म. विहृतविचारितचरितं ।
३. ख. विवर्जितं । क-ड. विवर्त्तितं ।
४. ख. ग. हरिणकर्णनिर्देशम् । क–प. हरिणकण्ठनिर्देशम् ।
५. ख. ग. संयुक्तकरेणैव चतुरेणैतानि ।
६. क–म. युञ्जीत ।

[1]लीलारती रुचिं च स्मृतिबुद्धिविभावनाः क्षमां [2]पुष्टिं च।
[3]सञ्ज्ञामात्रां प्रणयं विचारणं सङ्गतं शौचम् ॥ ९७ ॥
चातुर्यं माधुर्यं दाक्षिण्यं मार्दवं सुखं[4] शीलम्।
[5]प्रश्नं वार्त्तायुक्तिं [6]वेषं [7]मृदुशाद्वलं स्तोकम् ॥ ९८ ॥
[8]विभवाविभवौ सुरतं गुणागुणौ यौवनं गृहान् [9]दारान्।
नानावर्णांश्च तथा चतुरेणैवं प्रयुञ्जीत ॥ ९९ ॥

अनुवाद लीला, रति (प्रेम), रुचि (प्रभा) स्मृति, बुद्धि, विभावना, क्षमा, पुष्टि, संज्ञा, आशा, प्रणय, विचार, सङ्गत (मिलना) शौच (पवित्रता), चतुराई, मधुरता, दाक्षिण्य, मार्दव, सुख, चरित्र, प्रश्न, वार्त्ता, युक्ति, वेष, कोमल घास, अल्प परिमाण, विभव, विभवहीनता, सुरत, गुण, अवगुण, यौवन, गृह, दारा और अनेक प्रकार के वर्णों का अभिनय चतुरहस्त के द्वारा करना चाहिए ॥ ९७–९९ ॥

---

१. ख. ग. लीलीं रतिं रुचिं च।
क. प. लीलां रतिं कुचं च।
क–म. लीला रतिं रुचिं च तस्मृतिबुद्धौ विभावनां।
२. क–न. क्षयं तुष्टिम्।
३. ख. ग. संज्ञामाशां।
४ क–द. सुखं स्मृतिं शीलम्।
५. ख. प्रशमं वार्तां मुक्ति।
६. क–प. देशं। क–ष. वेशं।
७. ख. मृदुशाद्वलं।
८. ब–प. बिभवातिभवौ।
९. क–ड. गृहं दारान्। ग. यौवनं दारान्।

मितमूर्ध्वेन तु कुर्यात् रक्तं पीतं च मण्डलकृतेन[१] ।
परिमृदितेन तु नीलं वर्णांश्चतुरेण[२] हस्तेन ॥ १०० ॥

परगतं लीलाद्यनेनाभिनीयत इति । रुचिं दीप्तिम् । विभावनां ऊहापोहरूपां प्रकर्षं वा । दृष्टिव्यापारे तु कर्तरीमुख एव सङ्गतं मैत्रीमन्योन्यमग्रश्लेषात् । माधुर्यं हृद्यं, शकारादिवचनादिषु, दाक्षिण्यमानुकूल्यं, मार्दवं मृदुत्वम् अङ्गुष्ठमध्यमादर्शनेन । शीलं स्वभावः । वेषं नेपथ्यं वेशं वा गणिकास्थानम् । विभवं पार्श्वात्पार्श्वं गच्छता, अविभवमगच्छता चाभिनयेदित्येवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम् । दारान् [३]संयुताभ्यां संमुखस्वस्तिकेन दर्शयेदिति । एवं [४]वक्षःप्रभृतिशिरोऽन्ते क्षेत्रविशेषे । संयुतासंयुतत्वे चञ्चलत्वस्थिरत्वे सम्मुखपराङ्मुखोत्तानाधोमुखत्र्यश्रत्वादिकं च यथायोगमुत्प्रेक्ष्य अभिनयविशेषं कुर्यात् ॥ ९७–१०० ॥

अनुवाद—इस चतुर हस्त के द्वारा ऊपर की ओर हाथ उठाकर श्वेत वर्ण का मण्डलाकार चतुरहस्त के द्वारा रक्त और पीत वर्ण का, परिमृदित चतुर हस्त से नील वर्ण का अभिनय करना चाहिए ॥ १०० ॥

अभिनव—परगत लीला आदि का अभिनय इसके द्वारा होता है 'रुचि का अर्थ दीप्ति है । 'विभावना' ऊहापोहरूप अर्थात् तर्क-वितर्करूप है अथवा प्रकर्षणरूप है । दृष्टि के व्यापार में कर्त्तरीमुख हस्त का ही प्रयोग होता है । 'सङ्गत' का अर्थ मैत्री है, अङ्गुलियों के परस्पर संश्लेषण होने से । 'माधुर्य' का अर्थ हृद्यत्व है । शकारादि के वचनों में 'माधुर्य' है । 'दाक्षिण्य' का अर्थ अनुकूलता है । 'मार्दव' का अर्थ मृदुता है । 'शील का अर्थ स्वभाव है । 'वेष' का अर्थ नेपथ्य है और 'वेश' का अर्थ गणिकाओं का स्थान है । 'विभव' का अभिनय एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में जाते हुए और अनभिभव का अभिनय एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में न जाते हुए चतुर हस्त से करना चाहिए । इसी प्रकार अन्य की भी उत्प्रेक्षा करनी चाहिए । संयुत हस्त और सम्मुख वास्तविक हस्त से दाराओं का प्रदर्शन करे । इस प्रकार वक्ष से लेकर शिर तक क्षेत्रविशेष में संयुत और असंयुत, चञ्चलता और स्थिरता, सम्मुख और पराङ्मुख, उत्तान और अधोमुख, त्र्यस्र और चतुरस्र आदि हस्तों का युक्तिपूर्वक उत्प्रेक्षा करके विशेष अभिनय करना चाहिये ॥ ९६–१०० ॥

१. ग. मण्डलकृते च । ख. मण्डलकरेण ।
२. क–न. वर्णं चतुरं च युञ्जीत ।
३. क. संयुक्ताभ्याम् ।
४. क. पक्षःप्रभृतिशिखरान्तं ।

[1]मध्यमाङ्गुष्ठसन्दंशो वक्रा[2] चैव प्रदेशिनी ।
ऊर्ध्वमध्ये प्रकीर्णे च [3]द्व्यङ्गुल्यौ भ्रमरे करे ॥ १०१ ॥
पद्मोत्पलकुमुदानामन्येषां चैव दीर्घवृन्तानाम्[4] ।
पुष्पाणां ग्रहणविधिः कर्तव्यः कर्णपूरश्च ॥ १०२ ॥
[5]विच्युतश्च सशब्दश्च कार्यो निर्भत्सनादिषु ।
[6]बालालापे च शीघ्रे च ताले विश्वासने तथा ॥ १०३ ॥

भ्रमरं दर्शयति मध्यमाङ्गुष्ठेति ।
सन्दंशोऽग्रसंयोगः तदाकृतित्वाद्भ्रमरो हस्तः ॥ १०१–१०३ ॥

१८–भ्रमर हस्त

अभिनव—अब भ्रमर हस्त का लक्षण कहते हैं—मध्यमाङ्गुष्ठेत्यादि ।

अनुवाद—जिस हस्त में मध्यमा अंगुली अंगूठे से सन्दष्ट हो और तर्जनी, अंगुली वक्र हो और अन्य दोनों अंगुलियाँ ऊपर की ओर प्रकीर्ण कर दी जाँय तो 'भ्रमर' हस्त कहलाता है ॥ १०१ ॥

अभिनव—सन्दंश का अर्थ है अग्र संयोग अर्थात् इनमें अङ्गुलियों के अग्रभाग का संयोग होता है । भ्रमर के समान आकार होने के कारण इस हस्त का नाम 'भ्रमरहस्त' है ॥ १०१ ॥

अनुवाद—इस हस्त के द्वारा पद्म (कमल) उत्पल (कुमुद) और अन्य लम्बी डण्ठल वाले पुष्पों के चयन तथा कर्णपूर (कर्णाभूषण) का विधान करना चाहिए ॥ १०२ ॥

अनुवाद—निर्भत्सन (डाँट-फटकार) में, बालकों के आलाप में, शीघ्रता में, ताल देने तथा विश्वास का अर्थ प्रकट कर में चतुर हस्त को शब्द के साथ विच्युत करना चाहिए ॥ १०३ ॥

१. क-प. मध्यमाङ्गुष्ठकं देशे ।
२. ख. वक्रे ।
३. ग. अङ्गुल्यो ।
४. क–ग. दीर्घविवृत्तानाम् ।
५. क–प. विद्युतश्च सहजश्च ।
६. क–प. बलालापे च शीघ्रे नीलविश्वासने तथा ।

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठास्त्रेताग्निस्था निरन्तराः[1] ।
भवेयुर्हंसवक्त्रस्य शेषे द्वे सम्प्रसारिते ॥ १०४ ॥
श्लक्ष्णाल्पशिथिललाघवनिस्सारार्थे[2] मृदुत्वयोगेषु ।
कार्योऽभिनयविशेषः किञ्चित्प्रस्यन्दिताग्रेण[3] ॥ १०५ ॥

हंसवक्त्रमाह - तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठा। इति।

निरन्तरा इति विरलत्वं निषेधति श्लक्ष्णादनः श्लक्ष्णत्वादो वर्तन्ते। प्रस्पन्दनमर्दनमथनविधूननसंक्षेपणाभ्यावर्तानापसारणादिरूपं यथायोगं युक्त्या योज्यम् ॥ १०४-१०५ ॥

विमर्श—भ्रमर की आकृति का होने के कारण इस हस्त का नाम 'भ्रमर हस्त' है। भरतार्णव के अनुसार यदि मध्यमा और अनामिका अंगुलियाँ अच्छी तरह मुड़ी हुई हों और हथेली पर टिकी हुई हों और शेष तीनों अंगुलियाँ सीधे फैली हुई हों तो 'भ्रमर' हस्त होता है। यौगिक चिन्तन, मौनव्रत, भ्रमर तथा हाथियों के दन्ताघात में इस हस्त का प्रयोग होता है। अभिनयदर्पण के अनुसार भ्रमर, शुक, सारस, कोयल आदि पक्षियों के भाव व्यक्त करने में 'भ्रमर' हस्त का प्रयोग किया जाता है ॥ १०१-१०३ ॥

१६—हंसास्य (हंसमुख)

अभिनव —अब हंसास्य हस्त का लक्षण कहते हैं —'तर्जनीमध्यमेत्यादि'।

अनुवाद—तर्जनी, मध्यमा और अंगुष्ठ ये तीनों अंगुलियाँ त्रेताग्नि की तरह निरन्तर परस्पर मिली हुई हों और शेष दो अंगुलियाँ अनामिका और कनिष्ठिका फैली हुई हों तो 'हंसास्य' हस्त कहलाता है ॥ १०४ ॥

अनुवाद—स्निग्ध, अल्प, शिथिल, लाघव, निःसार अर्थ में तथा मृदुता के योग में किञ्चित् प्रस्पन्दित अग्रभाग वाले हंसास्य हस्त से अभिनय करना चाहिए ॥ १०५ ॥

अभिनव—'निरन्तर' पद विरलता का निषेध करता है। श्लक्षण आदि शब्द श्लक्षणत्व आदि अर्थों में प्रयुक्त है। प्रस्पन्दन, मर्दन, मथन, विधूनन, क्षेपण, अभ्यावर्त्तन, अपसारण आदि रूपों का युक्ति के अनुसार योजना करनी चाहिए ॥ १०४-१०५ ॥

---

१. क—म. निरन्तरम् ।
२. ख. ग. श्लक्ष्णाल्पशिथिलला घवनिस्सारार्था मृदुत्वयोगेषु ।
३. क—प. प्रसारिताग्रेण ।

[1]समाः प्रसारितास्तिस्रस्तथा चोर्ध्वा कनीयसी।
अङ्गुष्ठः कुञ्चितश्चैव हंसपक्ष इति स्मृतः ॥ १०६ ॥
[2]एष च निवापसलिले दातव्ये गण्डसंश्रये[3] चैव।
कार्यः [4]प्रतिग्रहाचमनभोजनार्थेषु विप्राणाम् ॥ १०७ ॥

हंसपक्षमाह—समाः प्रसारिता इति।

कनीयस्या ऊर्ध्वत्वम्। तथेति परिश्लिष्टा मूलविनताः कार्या इति यावत् ॥ १०६ ॥

निवापसलिले पितृभ्यो दके दातव्ये धर्मार्थं चोदकदाने। पराङ्मुखाङ्गुलिपृष्ठेन च चिन्तया [5]गण्डसंश्रयणे केचित्। तदसत्, हनुधारणं ह्येतत् कस्माद् गण्डसंश्रयं पत्रभङ्गादि ॥ १०७ ॥

---

२०. हंसपक्ष हस्त

अभिनव—अब हंसपक्ष का लक्षण कहते हैं—समाः प्रसारितेत्यादि।

अनुवाद—जिस हस्त की तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तीनों अंगुलियाँ समानरूप से फैली हुई हों और कनिष्ठिका अंगुली ऊपर उठी हुई हो और अंगूठा कुञ्चित हो तो 'हंसपक्ष' हस्त कहलाता है ॥ १०६ ॥

अभिनव—समा और प्रसारिता अंगुलियाँ जहाँ हो कनिष्ठिका अंगुली ऊर्ध्व (ऊपर उठी) हुई हो। 'तथा' पद का अभिप्राय है कि परस्पर संश्लिष्ट अर्थात् मूल में विनत झुकी हुई हो ॥ १०६ ॥

अनुवाद—इस हस्त का प्रयोग पितरों को जला देने में, गन्ध के अनुलेपन में, विप्रों के प्रतिग्रह का आचमन और भोजन के अभिनय में करना चाहिए ॥ १०७ ॥

अभिनव—'निवाप-सलिले' का अभिप्राय है पितरों को देने योग्य जल एवं धर्मार्थ जल के दान में। कुछ लोग 'गण्डसंश्रय' पाठ मानकर कहते हैं कि 'गण्डसंश्रय' का भाव है कि पराङ्मुख अंगुलियों के पृष्ठ से और चिन्ता से गण्ड का आश्रयण होता है। भाव यह कि पराङ्गमुख अंगुलियों के पृष्ठ पर जो कपोल का धारण है वह गण्डसंश्रय है किन्तु यह कहना असत् है। क्योंकि यह हनुधारण है। अतः गण्डसंश्रय का अर्थ पत्रभङ्ग रचना आदि है ॥ १०७ ॥

---

१. क—द. तिस्रः प्रसारिताङ्गुल्यः। २. ख. एवं विधिः।
३. ख. ग. गन्धसंश्रये। ४. ख. ग. प्रतिग्रहावमानभोजनार्थेषु।
५. क. गन्धसंश्रये।

आलिङ्गने महास्तम्भदर्शने[1] रोमहर्षणे चैव ।
स्पर्शेऽनुलेपनार्थे योज्यः[2] संवाहने चैव ॥ १०८ ॥
पुनरेव च नारीणां स्तनान्तरस्थेन विभ्रमविशेषाः[3] ।
कार्या [4]यथारसं स्युर्दुःखे हनुधारणे चैव ॥ १०९ ॥

आलिङ्गने महास्तम्भे चाभिनेये संयुतकरणत्वं मन्तव्यं बाहुद्वयमण्डलीकरणेन, द्वितीयस्कन्धात् स्कन्धान्तरगमनेन रोमहर्षणात् परोक्षे प्रियजनस्पर्शे द्वितीयहस्तेन स्वस्तिकेन। अनुलेपने अङ्गसमालम्भने। यथारसमिति शृङ्गारहास्याद्भुतादौ करुणादावपि व्यभिचारिविशेषयोगात्[5] सम्भाव्यत एवम्। दुःखे च सति हनुधारणं यत्तदत्र रसेषु ये भावाः अनुभावा दृष्टिविशेषरोमाञ्चादयः तैरुपबृंहितः स्फुटीकृत (श्लो. १११) इति सर्वहस्तविशेषाय मन्तव्यं मध्ये परिभाषणात् ॥ १०८–१०९ ॥

अनुवाद--आलिङ्गन में, महास्तम्भ के दर्शन में, रोमहर्ष (रोमाञ्च) में, स्पर्श में और संवाहन (पैर दबाने में) इस हस्त की योजना करनी चाहिए ॥१०८॥

अनुवाद नारियों के स्तनों के मध्य स्थित हस्त से विशेष प्रकार के विभ्रमों विलासों में, दुःख और हनु के धारण में रसों के अनुसार इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ १०९ ॥

अभिनव—आलिङ्गन और महास्तम्भ के अभिनय में दोनों बाहुओं के मण्डलीकरण अर्थात् एक कन्धे से दूसरे कन्धे पर हाथों के रखे जाने पर संयुक्त हस्त का प्रयोग मानना चाहिए। द्वितीय स्कन्ध से अन्य स्कन्ध पर रखने में रोमहर्षण (रोमाञ्च) से परोक्ष में, स्वस्तिक द्वितीय हस्त से प्रियजन के स्पर्श में। अनुलेपन अर्थात् अङ्गों के समालम्भन में। 'यथारसम्' का अभिप्राय है कि शृङ्गार, हास्य, अद्भुत और करुण आदि रसों में व्यभिचारीविशेष के योग से यह संभव है। दुःख में जो हनुधारण है, उसमें, रसों में जो भाव, अनुभाव, दृष्टिविशेष और रोमाञ्च आदि हैं उनसे उपबृंहित, इस प्रकार हस्त विशेष के लिए मानना चाहिए। हस्त निरूपण के प्रसङ्ग में इनको कहा है ॥ १०८–१०९ ॥

---

१ क–न. तरुस्तम्भदर्शने ।
२. क–म. कार्यः ।
३. क–न. स्तनान्तरसूचनविभ्रमविषादाः ।
४. ग. यथारसाः स्युः । ख. यथारसं स्याद् ।
५. क. विशेषभेदात् ।

तर्जन्यङ्गुष्ठसन्दंशस्त्वरालस्य[1] यथा भवेत् ।
[2]आभुग्नतलमध्यस्थः स सन्दंश इति स्मृतः ॥ ११० ॥
सन्दंशस्त्रिविधो [3]ज्ञेयो ह्यग्रजो मुखजस्तथा ।
तथा [4]पार्श्वगतश्चैव रसभावोपबृंहितः ॥ १११ ॥
पुष्पापचयग्रथने ग्रहणे तृणपर्णकेशसूत्राणाम् ।
[5]शल्यावयवग्रहणापकर्षणे चाग्रसन्दंशः ॥ ११२ ॥
वृन्तात् पुष्पोद्धरणं वर्तिशालाकादिपूरणं चैव ।
धिगिति च वचनं रोषात् [6]मुखसन्दंशस्य कर्माणि । ११३ ॥

२१. सन्दंश हस्त

अभिनव – अब सन्दंश हस्त का लक्षण कहते हैं—सन्दंश इत्यादि ।

अनुवाद –यदि अराल हस्त मुद्रा में तर्जनी अंगुली अंगूठे से सन्दष्ट हो और हथेली थोड़ी नत हो तो वह 'सन्दंश' हस्त कहा जाता है ॥ ११० ॥

अनुवाद--रस और भावों से उपबृंहित यह सन्दंश हस्त तीन प्रकार का समझना चाहिए—अग्रज, मुखज और पार्श्वगत ॥ १११ ॥

अनुवाद—पुष्पों के चुनने एवं माला गूथने, तृण, पर्ण (पत्ते), केश और सूत्र के ग्रहण करने, कांटे के नोक पकड़ने और खींचने अर्थात् कांटा निकालने में 'अग्रसन्दंश' हस्त का प्रयोग किया जाता है ॥ ११२ ॥

अनुवाद--वृन्त पुष्पों के तोड़ने, बत्ती अर्थात् दीपक में बत्ती रखने तथा शलाका (सलाई) आदि के पूरण में, क्रोध में, 'धिक्' इस प्रकार के शब्द कहने में 'मुखज सन्दंश' का विनियोग करना चाहिये ॥ ११३ ॥

---

१. ख. ग. तर्जन्यङ्गुष्ठसन्दंशौ ह्यरालस्य यथा भवेत् ।

२. ख ग. आभुग्नतलमध्यश्च ।

३. ख. ज्ञेयो अग्रजो ।

४. क–प. पार्श्वकृतश्चैव ।

५. ख. ग. शल्याकर्षग्रहणापकर्षणे ।
 क. ङ. शल्यावयवग्रहणापप्रकर्षणे ।
 क–प. शिल्पाकर्षग्रहणप्रकर्षणे ।
 क–न. शल्यावयवग्रहणावकर्षणे ।

६. ख. रोषात् । ग. रोषान् ।

[1]यज्ञोपवीतधारणवेधनगुणसूक्ष्मबाणलक्ष्येषु ।
[2]योगे ध्याने स्तोके संयुक्तकरणस्तु[3] कर्तव्यः ॥ ११४ ॥
[4]पेलवकुत्सासूयासदोषवचने च वामहस्तेन ।
किञ्चिद् विवर्तितकराग्रः[5] प्रयुज्यते पार्श्वसन्दंशः ॥ ११५ ॥
आलेख्यनेत्ररञ्जनवितर्कवृन्तप्रवालरचने[6] च ।
[7]निष्पीडनं तथालक्तकस्य कार्यं च नारीभिः ॥ ११६ ॥

अनुवाद—यज्ञोपवीत के धारण में, रत्नादि के वेधन में, गुण अर्थात् धनुष की डोरी पर स्थित बाण से सूक्ष्म लक्ष्य के भेदन में योग, ध्यान तथा स्तोक अल्प वस्तु के अभिनय में संयुत करण हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११४ ॥

अनुवाद—पेलव (असारवस्तु), कुत्सा (निन्दा) असूया (ईर्ष्या), दोषपूर्ण वचन में संदंशहस्त के अग्रभाग को विवृत करते हुए वामहस्त (वायें हाथ) से 'पार्श्वसंदंश' हस्त का प्रयोग किया जाता है ॥ ११५ ॥

अनुवाद—चित्र-लेखन, आंखों में अञ्जन लगाने, वितर्क (शङ्का) करने, वृन्त तथा प्रवाल (पल्लव, पत्ते) की रचना करने (पत्रादि रचना), पैरों में महावर लगाने में स्त्रियों को इस सन्दंश हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११६ ॥

---

१. ख यज्ञोपवीतनिधनवेधनगुणसूक्ष्मबाणलक्षेषु ।

२ ख. योगेऽध्ययने ।
क-प. योगस्थाने ।

३ ख. ग संयुक्तकरस्तु ।
क-न. संयुतकरणाः प्रकर्तव्याः ।

४ ख. पेशलकुत्सासूया० ।

५. ख. विवर्तितकराग्रः ।

६. ख. रचनेषु ।

७. ख. निष्पीडितं ।

[1]समा नताग्राः सहिताः यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि ।
[2]ऊर्ध्वा हंसमुखस्यैव स भवेन्मुकुलः [3]करः ॥ ११७ ॥

सन्दंशमाह तर्जन्यङ्गुष्ठसन्दंश इति ।

पुष्पाणां सूक्ष्माणामपचये अग्रसन्दंशः शल्यानां कण्टकादीनां ग्रहणे । वृन्तमाकृष्य पुष्पस्योद्धरणे यदा कुङ्कुमपुष्पादेः । वर्तिशलाकया अञ्जननाडिकावर्तिकया न्यूनादीनां पूरणम् । वेधने मुक्तादीनां, यो गुणो धनुरादेस्तत्र संयुतकरणत्वं च न संश्लेषणस्यैव अपि तु हस्तद्वयस्याधार-मात्रमेव । तच्च पार्श्वद्वयगतत्वेन उपर्युपरिभावेनोत्प्रेक्ष्यम् । पेलवमसारम् । प्रवालस्य रचनं गण्डतलबाहुशिखरादौ पत्रभङ्गकरणमित्यर्थः । यदि वा पल्लवस्यैव पत्रच्छेद्यालङ्कृतस्य ललाटादौ निवेशितस्य तत्रापसंश्लेषणार्थमस्य हस्तस्य प्रयोगः नारीभिरिति परिमितालक्तकपीडनमनेनेति दर्शयति ॥ ११०-११६ ॥

मुकुलमाह—समा नताग्रा इति ।

अभिनव—पुष्पों के चयन और सूक्ष्म कांटों को निकालने में अग्रसन्दंश हस्त का प्रयोग होता है । वृन्त को खींचकर पुष्पों के तोड़ने में, कुङ्कुम पुष्प आदि के ग्रहण में वर्त्तिशालाका अर्थात् अञ्जन (काजल) डालने में, नालिकाकार बत्ती (वर्त्तिका) से कमी पूरा करने में, मोती आदि के वेधन में, धनुष आदि की जो रस्सी (प्रत्यञ्चा) है उसमें संयुतकरण हस्त का केवल संश्लेष नहीं, अपितु हस्तद्वय का आधारमात्र भी है । और वह भी पार्श्वद्वय अर्थात् दोनों पार्श्वों में प्राप्त होने से उपर्युपरिभाव से उत्प्रेक्षा करनी चाहिए । 'पेलव' का अर्थ असार है । प्रवाल-रचना का अर्थ गण्डतल (कपोल-स्थल) और बाहु-शिखर (स्कन्ध) आदि पर पत्र-रचना है अथवा यदि पत्र-रचना आदि से अलंकृत व्यक्ति के मस्तक आदि के ऊपर पल्लव को निवेशित करते हैं तो वहाँ पर अपसंश्लेषण के लिए इस हस्त का प्रयोग होता है । 'नारीभिः' इस पद से परमित महावर का निष्पीड़न करना चाहिए, यह दिखाया गया है ॥ ११०-११६ ॥

२२. मुकुल हस्त

अभिनव—अब मुकुल हस्त का लक्षण कहते हैं—समा इत्यादि ।

अभिनव—जिस हाथ की अंगुलियाँ सम अग्रभाग से नत (झुकी हुई) और परस्पर मिली हुई होती हैं उसे 'मुकुल हस्त' कहते हैं ॥ ११७ ॥

१. क समा नताग्रा सहिता । २. ऊर्ध्वं । ३ ख. ग. मुकुलकः ।

[1]देवार्चनबलिकरणे पद्मोत्पलकुमुदरूपणे[2] चैव ।
विटचुम्बने च कार्यो विकुत्सिते विप्रकीर्णश्च[3] ॥ ११८ ॥
[4]भोजनहिरण्यगणनामुखसङ्कोचप्रदानशीघ्रेषु ।
मुकुलितकुसुमेषु च तथा तज्ज्ञैरेष प्रयोक्तव्यः[5] ॥ ११९ ॥

मुकुलाकारत्वान्मुकुलः । देवार्चनादि प्रारम्भे मुकुलव्यापारावेशे तु पद्मकोशवदिति[6] पठता पिटकस्य चुम्बन इति केचित् । विटेति पाठः । स्वाभिप्रायमाविष्कर्तुं[7] प्रमदासन्निधौ स्वहस्तमेव मुकुलितं विटाश्चुम्बन्तीति विटचुम्बनम् । यदि वा विटैर्नारीणां कुचचिबुकादि स्थानेषु अङ्गुलिपञ्चकेन समं सशब्दं नखस्पर्शने कामसूत्रेष्वाच्छुरितकमिति तद्विटचुम्बनम् । हिरण्यं कङ्कणद्वारेणाभिनीयतेऽङ्गुलीयकादीनां तु मोचने । गणना पञ्चसङ्ख्या । तज्ज्ञैरित्युचितामितिकर्तव्यतामनुसन्धापयति ॥ ११७-११९ ॥

अनुवाद—देव-पूजन, वलि-प्रदान, पद्म (कमल), नीलकमल और कुमुद आदि के अभिनय में, विट के द्वारा चुम्बन में और विकुत्सित (निन्दित) कार्य में इस हस्त का विखरे हुए रूप में (विप्रकीर्ण) प्रयोग करना चाहिए ॥ ११८ ॥

अनुवाद—भोजन, हिरण्य, गणना, मुखसङ्कोच, प्रदान, शीघ्रता और मुकुलित पुष्पों के प्रदर्शन में नाट्यविदों को इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ ११९ ॥

अभिनव - मुकुल के आकार का होने के कारण इसे मुकुल हस्त कहते हैं । देवपूजन आदि के प्रारम्भ में मुकुल व्यापार के आवेश में पद्मकोश के समान प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार कहने वाले कुछ आचार्य 'पिटकस्य चुम्बने' (पिटक के चुम्बन में) इस प्रकार पाठ मानते हैं । वस्तुतः 'विट' यह पाठ ठीक है । प्रमदा (कामिनी) के समीप अपने अभिप्राय को प्रकट करने के लिए

---

१. क-प. देवार्चने ।
२. क. ख. ग घ. ङ. पद्मोत्पलमुकुलरूपणे ।
३. ख. ग. विप्रकीर्णे च ।
४. श्लोकोऽयं ख-क. पुस्तके नास्ति ।
५. क-ब. तज्ज्ञैरेवं प्रयोक्तव्यम् ।
६. क. पद्मकोशमिति ।
७. क. आविष्कृतम् ।

पद्मकोशस्य हस्तस्य ह्यङ्गुल्यः[1] कुञ्चिता[2] यदा ।
ऊर्णनाभः स विज्ञेयः केशचौर्यग्रहादिषु[3] ॥ १२० ॥
शिरः कण्डूयने चैव [4]कुष्ठव्याधिनिरूपणे ।
[5]सिहव्याघ्रेष्वभिनयः प्रस्तरग्रहणे[6] तथा ॥ १२१ ॥

ऊर्णनाभमाह—पद्मकोशस्येति ।

विट अपने ही मुकुलित का चुम्बन करता है, यही विट चुम्बन है अथवा विटों के द्वारा स्त्रियों के कुच, चिबुक आदि स्थानों पर एक साथ पाँचों अंगुलियों के शब्द के साथ नख-स्पर्श करना, (नखक्षत) जिसे कामसूत्र में आच्छुरितक कहा गया है वही विटचुम्बन है । अङ्गुलीयक आदि के मोचन में हिरण्य का कंकण के द्वारा अभिनय किया जाता है । 'गणना' पाँच को संख्या का बोधक है । विद्वानों को उचित इतिकर्त्तव्यता का अनुसन्धान कराते हैं ॥ ११७-११९ ॥

२३. ऊर्णनाभ हस्त

अभिनव—अब ऊर्णनाभ हस्त का लक्षण कहते हैं—'पद्मकोशस्य' इत्यादि ।

अनुवाद—यदि पद्मकोश हस्त को अंगुलियाँ कुञ्चित कर दो जाय तो 'ऊर्णनाभ' हस्त कहलाता है । बाल को पकड़ने तथा चोरी से किसी वस्तु के ग्रहण करने में, 'शिर के खुलजाने में, कुष्ठ रोग के अभिनय में, सिंह, व्याघ्र आदि के प्रदर्शन में, प्रस्तर (पत्थर) के ग्रहण करने (उठाने) में ऊर्णनाभ हस्त का अभिनय किया जाता है ॥ १२०-१२१ ॥

१. ख. अङ्गुल्यः । ग द्व्यङ्गुल्यः ।
२ क-न. कुञ्चितास्तथा ।
३. ख. केशचौर्यगृह्यादिषु ।
   क-ग. चौर्यकेशग्रहादिषु ।
४. क-प. कुष्ठस्याधिनिरूपणे ।
५ ख. सिंहव्याघ्राद्यभिनयः ।
   क-न सिंहव्याघ्राद्यभिनये ।
   क-म सिंहव्याघ्राभिनयने ।
६. क. प्रशस्तग्रहणे ।

मध्यमाङ्गुष्ठसन्दशो वक्रा चैव प्रदेशिनी।
शेषे तलस्थे कर्त्तव्ये ताम्रचूडकरेऽङ्गुली[1] ॥ १२२ ॥

ऊर्णनाभिर्जालकारः क्रिमिः। तस्य यतो मक्षिकादिग्रहणे ईदृक्करणानां सन्निवेशो भवत्यतः स तथा। मत्वर्थीयोऽत्राच्प्रत्ययः केशानां चौर्येण ग्रहणं परदर्शनशङ्कया [2]लाघवाद्यत् ग्रहः। यत्र सिंहव्याघ्रादि स्वस्तिकेन चिबुकक्षेत्र-गतेनाभिनयेत्। ते हि स्थिताः स्वस्तिकेन आसने कररूहवन्तश्च। प्रस्तरः पाषाणः, निकषपाषाण इत्यन्ये। [3]दर्भच्छटा इत्येके ॥१२०-१२१॥

ताम्रचूडमाह—मध्यमाङ्गुष्ठसन्दंश इति।

अभिनव—'ऊर्णनाभ' का अर्थ है जाल बनाने वाली मकड़ी। क्योंकि मक्खियाँ आदि के पकड़ने में इसकी इन्द्रियों का ऐसा सन्निवेश होता है जिससे जाल बनता जाता है अतः उसे 'ऊर्णनाभ' कहते हैं। यहाँ पर मत्त्वर्थीय अच् प्रत्यय है। बालों को चोरी से पकड़ना। 'दूसरा कोई देख लेगा' इस शङ्का से शीघ्रता से बालों का पकड़ना। चिबुकक्षेत्र में स्वस्तिक हाथ को ले जाकर सिंह, व्याघ्र आदि का अभिनय करना चाहिए। वे सिंह, व्याघ्र आदि आसन पर स्वस्तिक हाथों को रखते हैं जिससे आसन पर नख दिखाई देते हैं। 'प्रस्तर' का अर्थ पाषाण है। अन्य लोग 'प्रस्तर' शब्द का अर्थ 'कसौटी का पत्थर' कहते हैं। दूसरे लोग प्रस्तर का अर्थ 'दर्भच्छटा' करते हैं ॥ १२० ॥

२४. ताम्रचूड़ हस्त

अभिनव—अब ताम्रचूड़ हस्त का लक्षण कहते हैं—मध्येति।

अनुवाद—जिसमें मध्यमा अङ्गुलि अङ्गुष्ठ से सन्दष्ट हो और तर्जनी अंगुली वक्र हो और शेष दो अंगुलियाँ हथेली पर स्थित हों तो उसे 'ताम्रचूड़' हस्त कहते हैं ॥ १२२ ॥

---

१. क. पश्चात् संख्या।
२. दर्भजटा।
३. क. ताम्रचूलकरेऽङ्गुली।

[1]विच्युतश्च सशब्दश्च कार्यो निर्भत्सनादिषु ।
ताले[2] विश्वासनं चैव शीघ्रार्थे संज्ञितेषु [3]च ॥ १२३ ॥
तथा कलासु काष्ठासु निमेषे[4] तु क्षणे तथा ।
एष एव करः कार्यो बालालापनिमन्त्रणे[5] ॥ १२४ ॥

चूडामुक्तकुक्कुटाकारत्वात्ताम्रचूडः । तालेष्विति ? (ताल इति ?) देशमानो[6] यथा क्वचित्तालभुवि सहिज्जु (?) इत्यादौ । संज्ञितं बालादेराह्वानम् ॥ १२३-१२४ ॥

अनुवाद—निर्भर्त्सन (डाँट-फटकार) आदि में, ताल में तथा विश्वास का अर्थ प्रकट करने में, शीघ्रता अर्थ में तथा सङ्केत करने में ताम्रचूड़ हस्त को सशब्द विच्युत कर देना चाहिए और कलाओं एवं दिशाओं के तथा निमेष एवं क्षण के भाव प्रकट करने में तथा बालकों के आलाप में इसी ताम्रचूड़ हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ १२३–१२४ ॥

अभिनव—जिसकी चूड़ा (शिखा) खुली हुई हो, ऐसे कुक्कुट पक्षी के आकार का होने के कारण इस हस्त को ताम्रचूड़ हस्त कहते हैं । "ताल" का अर्थ देश का मान (प्रमाण) है । जैसे 'किसी ताल परमित भूमि' इत्यादि में । 'संज्ञित' पद बालक आदि के आह्वान अर्थ में है ॥ १२३–१२४ ॥

---

१. क. ख. व्युत्पन्नश्च ।
क-प. विच्युतिश्च ।
२. ग. तालेष्विष्वसिते ।
क-ग. बालविश्वसने ।
क-म. जालविश्वासने ।
३. क-प. शङ्कितेषु च ।
४. क म. निमेषेषु ।
५ क-म. बालाभियन्त्रणे ।
६. क. कालमानो ।

अथवा—

अङ्गुल्यः संहिता[1] वक्रा उपर्यङ्गुष्ठपीडिताः ।
प्रसारिता कनिष्ठा च ताम्रचूडः [2]करः स्मृतः ॥ १२५ ॥
[3]शतं सहस्रं लक्षं च करेणैकेन योजयेत् ।
क्षिप्रमुक्ताङ्गुलीभिस्तु स्फुलिङ्गान् [4]विप्रुषस्तथा ॥ १२६ ॥

अन्ये तु लक्षणान्तरमस्य पठन्ति, "अङ्गुल्यः संयुक्ता" इत्यादि ।
मुष्टिरेव प्रसारितकनिष्ठ इत्यर्थः । क्षिप्रं कृत्वा मुक्ताभिरङ्गुलीभिरिति । ॥ १२५-१२६ ॥

अथवा

अभिनव—अन्य लोग ताम्रचूड़ हस्त का दूसरा लक्षण करते हैं—अङ्गुल्यः संयुक्ता इत्यादि ।

अनुवाद—जिसमें अङ्गुलियाँ संयुत (मिली हुई) और वक्र हों ऊपर से अंगूठे से निपीड़ित (दबाई हुई) हों और कनिष्ठा अंगुली प्रसारित (फैलाई हुई) हो वह 'ताम्रचूड़' हस्त कहलाता है ॥ १२५ ॥

अनुवाद—एक हाथ से सौ, हजार, लाख संख्या बतलाने की योजना करे और शीघ्रता से खोली हुई अंगुलियों के द्वारा चिनगारियों (अङ्गारों) और बूंदों का अभिनय करे ॥ १२६ ॥

अभिनव—कनिष्ठा अंगुली जिसमें फैलाई हुई हों, ऐसी मुष्टि । क्षिप्तमुक्ताङ्गुलीभिः का अर्थ है शीघ्रता से खोली हुई अंगुलियों से ॥ १२५-१२६ ॥

१. ख. सहिताः ।
क. प. ङ. संयुताः ।
२. क. ङ. ताम्रचूड़करः स्मृतः ।
३. क-ङ. एतं सहस्रं लक्षं च कनकं चापि दर्शयेत् ।
क-म. नतं सहस्रं लक्षादि कनकं वापि दर्शयेद् ।
४. क-म. स्फुलिङ्गविप्रुषस्तथा ।

असंयुताः करा ह्येते मया प्रोक्ता द्विजोत्तमाः ।
[1]अतश्च संयुतान् हस्तान् गदतो मे निबोधत ॥ १२७ ॥

असंयुता इति। असंयुतास्तावदेते भवन्ति। नत्वेतेऽसंयुता एव। नाप्येत एव कोहलादिभिरन्येषां दर्शनात्। अतश्चेति। एभ्य एवानुसंयुतेभ्यः अन्यश्लेषाद्ये संयुता उत्पद्यन्ते तान् स्वयं निबोधत मदीयं वचनमनादृत्योत्प्रेक्ष्यध्वम्। तथा हि [2]कूर्पराधीतत्रिपताकेन पार्श्वे, खटकामुखेन स्त्रीणामभिनयः। खटकेन वामेन कर्णान्तमागच्छतां च कपित्थमुष्ट्या दक्षिणेन बाणमोक्षस्य। एतच्चित्राभिनये प्रतिजागरिष्याम इत्यास्तां तावत्। चकारादन्यानि च वक्ष्यमाणानि निबोधतेति सम्बन्धः ॥ १२७ ॥

अनुवाद—हे द्विजश्रेष्ठों ! मैंने इन असंयुत हस्तों को कहा है। अब संयुत हस्तों को कहता हूँ, आपलोग समझिये ॥ १२७ ॥

अभिनव – असंयुत हस्त इतने होते हैं यह कहा गया है किन्तु न इतने ही असंयुत हस्त हैं और न इतने ही संयुत हस्त हैं, क्योंकि कोहल आदि आचार्यों ने अन्य हस्तों को भी कहा है। इन्हीं असंयुत हस्तों से और अन्य हस्तों के संश्लेषण से संयुत हस्त बनते हैं; उन्हें आप लोग स्वयं समझिये, मेरे कहे हुए का परवाह न करके स्वयं उत्प्रेक्षा करें और भी कूर्पर में अर्थात् कोहनी त्रिपताक हस्त से और पार्श्व में खटकामुख हस्त से स्त्रियों का अभिनय करना चाहिए। बायें हाथ को खटकामुख के द्वारा और दाहिने हाथ को कपित्थहस्त की मुद्रा में कान तक खींचाकर बाण छोड़ने का अभिनय करे। इसे चित्राभिनय के निरूपण के अवसर पर स्पष्ट करेंगे। अतः यहाँ रहने दिया जाय। चकार से आगे कहे जाने वाले अन्य हस्तों को भी समझना चाहिए ॥ १२९ ॥

विमर्श—संयुत हस्त में दोनों हाथ परस्पर मिले हुए होते हैं। संयुतहस्त के तेरह भेद होते है। ये तेरहों हस्तभेद असंयुत हस्त के ही विकसित एवं परिवर्तित रूप हैं। असंयुत हस्त के विभिन्न मुद्राओं के समन्वय से संयुहस्त के रूपों की रचना होती है। अब संयुत हस्त के भेदों के लक्षण एवं विनियोग को कहता हूँ ॥ १२९ ॥

---

१. ख. पुनश्च। ग. अधुना। क-म. यतश्च ।
२. क. कूर्पराधिक ।

पताकाभ्यां तु हस्ताभ्यां संश्लेषादञ्जलिः स्मृतः ।
देवतानां गुरूणां च मित्राणां [1]चाभिवादने ॥ १२८ ॥
[2]स्थानान्यस्य पुनस्त्रीणि वक्षो वक्त्रं शिरस्तथा ।
देवतानां शिरःस्थस्तु गुरूणामास्यसंस्थितः ।
वक्षःस्थश्चैव मित्राणां[3] स्त्रीणां त्वनियतो[4] भवेत् ॥१२९॥

तेषामञ्जलिं तावल्लक्षयति पताकाभ्यां त्विति ।

---

१. अञ्जलि हस्त

अभिनव—उन संयुत हस्तों में पहिले अञ्जलिहस्त का लक्षण करते हैं—'पताकाभ्यामित्यादि' ।

अनुवाद—यदि दोनों पताक हस्त परस्पर जोड़ दिया जाय तो 'अञ्जलि' हस्तमुद्रा कही जाती है । देवता, गुरु और मित्रों के अभिवादन में इस हस्त का प्रयोग किया जाता है ॥ १२८ ॥

अनुवाद—इस अञ्जलि हस्त के द्वारा अभिवादन के तीन स्थान हैं - वक्षःस्थल, मुख और शिर । देवताओं के अभिवादन में अञ्जलि हस्त को शिर पर, गुरुजनों के अभिवादन में मुख के सम्मुख और मित्रों के अभिवादन में वक्षःस्थल पर रखना चाहिए तथा स्त्रियों के अभिवादन के लिए कोई नियत स्थान नहीं है अर्थात् स्त्रियों के अभिवादन में अञ्जलिहस्त के लिए कोई नियम नहीं है ॥ १२९ ॥

---

१. क-म. विप्राणां ।
२ श्लोकार्धोऽयं ग. पुस्तके नास्ति ।
३. क-म. विप्राणां ।
४. ख. ग शेषे त्वनियमो भवेत् ।
क-म. स्त्रीणां कार्यं यथेष्टतः ।
क-न. क्रोधेष्वनिमो भवेत् ।
क-च. स्त्रीणां कार्यां यथेप्सिता ।

उभाभ्यामपि हस्ताभ्यामन्योऽन्यं पार्श्वसङ्ग्रहात् ।
हस्तः [1]कपोतको नाम कर्म चास्य निबोधत ॥१३०॥

[2]एष विनयाभ्युपगमे प्रणामकरणे गुरोश्च सम्भाषे ।
शीते भये च कार्यो वक्षःस्थः कम्पितः[3] स्त्रीभिः ॥ १३१॥

अन्ययोः श्लेषेऽपि न नामान्तरम् । यथा सूचीमुखयोः सम्बन्धादभिनयन्ते । अत्र तु नामान्तरमिति सुशब्दः । स्मृत इति श्लोकेऽपि "प्राञ्जलिः पुष्पकेतुः" (कुमार० २-६३) इत्यादौ प्रसिद्ध इत्यर्थः । सम्यग्ग्रहणेन सम्मुखं सर्वासामङ्गुलीनामयं श्लेषो लक्ष्यते । उक्तमेव विनियोगं विभजति देवतानामिति तिस्रोऽभिवादनापेक्षया कर्मणि षष्ठ्यः, [4]स्त्रीणामिति कर्तरि षष्ठी ॥ १२८-१३० ॥

अभिनव—अन्य हाथों के संश्लेषण में नामान्तर नहीं होता । जैसे, सूचीमुख हस्तों के सम्बन्धों का अभिनय करते हैं । किन्तु यहाँ पर तो नामान्तर है, इसलिए 'तु' शब्द का विन्यास किया गया है । 'स्मृत:' पद का अभिप्राय है कि यह अञ्जलि 'प्राञ्जलिः पुष्पकेतुः' इत्यादि श्लोक में भी प्रसिद्ध है । 'सम्यक्' पद के ग्रहण से समस्त अंगुलियों का सम्मुख श्लेष लक्षित होता है । अब उक्त विनियोग का विभाजन करते हैं—'देवतानाम्' इत्यादि । यहाँ पर 'देवतानाम्, गुरूणाम् और मित्राणाम्' में तीन षष्ठी विभक्तियाँ अभिवादन क्रिया की अपेक्षा कर्म है । यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति है । 'स्त्रीणाम्' में कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति है ॥ १२९ ॥

२. कपोतहस्त

अभिनव—अब कपोतहस्त का लक्षण करते हैं—'उपाभ्यामिति' ।

अनुवाद—'यदि दोनों हाथों के पार्श्वों को परस्पर मिला दिया जाय तो 'कपोत हस्त' होता है । अब इनके कर्मों को सुनिये ॥ १३० ॥

---

१. क-प. हस्त कपोतनामा स्यात् कर्म चास्याभिधीयते ।

२. ग. एषोऽभिनयाभिगमे ।

  ख. द्विषद्धियाभ्युपगमे ।

३. ख. कल्पिता स्त्रीभिः ।

  क-न. कम्पितः स्त्रीणाम् ।

४. क. तिसृणां ।

[1]अयमेवाङ्गुलिपरिघृष्यमाणमुक्तस्तु भिन्नवाक्येषु [2]।
एतावदिति च कार्यो नेदानीं कृत्यमिति चार्थे[3] ॥१३२॥

कपोतमाह—उभाभ्यामिति।

सङ्ख्यापदोपादानं यथारुचि आधाराधेयभावप्रतिपत्त्यर्थम्। कम्पत इति कपोतो भीरुः पक्षी तत्प्रकृतिरन्योऽपि कपोतस्तस्य यत इयं भवत्यतो नाम्नैव भीतविषयतास्य। तथा हि—रामाभ्युदये प्रथमेऽङ्के वटोः। वक्षस्स्थ इति सर्वत्र संबध्यते। भीताभिनये तु कम्पितेऽपि। स्त्रीभिरित्यधमोपलक्षणम्। कुचाभिनयेऽप्ययमेव प्रधानः। विनयग्रहणादौ कुट्टनादावपि[4] अयमेव च। कूर्माकारत्वात् कूर्मक इति लोके प्रसिद्धः। अङ्गुलिपरिघृष्यमाणावयत्वात् अङ्गुलिघृष्यमाणस्संमुखः। खेदश्चिन्ता ॥ १३१-१३२ ॥

अनुवाद—विनम्रता प्रदर्शित करने में, गुरुजनों को प्रणाम करने में तथा उनसे सम्भाषण करने में इस हस्त का विनियोग होता है और शीत तथा भय को प्रदर्शित करने में स्त्रियों को इस हस्त को वक्ष पर कम्पित करना चाहिए ॥ १३१ ॥

अनुवाद—इन्हीं दोनों हाथों की अंगुलियों को मिलाकर हटाने पर खिन्नता पूर्ण वचनों में 'इतना ही कृत्य करना है' तथा 'यह इस समय नहीं करना है' इस तरह के अर्थों में इस हस्त का प्रयोग होता है ॥ १३२ ॥

अभिनव— यहाँ पर संख्या का उपादान अपनी इच्छा के अनुसार आधाराधेयभाव की प्रतिपत्ति के लिए है। 'कम्पते' अर्थात् काँपता है इसलिए कपोत है। कपोत एक डरपोक पक्षी है। इसी के स्वभाव वाला दूसरा भी कपोत है। क्योंकि उसकी यह प्रकृति है अतः नाम से ही इसकी भीतविषयता है। जैसे—रामाभ्युदय नाटक के प्रथम अंक में बटुक के अभिनय में। 'वक्षस्थः' इसका सबके साथ सम्बन्ध है। भीत के अभिनय में तो होता ही है, कम्पित में भी इस हस्त का अभिनय होता है। 'स्त्रीभिः' यह अधम व्यक्ति का उपलक्षण है। स्त्रियों के कुच के अभिनय में भी यह कपोत हस्त प्रधान है। विनय के ग्रहण में, कुट्टन आदि में भी यह कपोतहस्त प्रयुक्त होता है, यही कपोत हस्त कूर्माकार होने से कूर्मक नाम से लोक में प्रसिद्ध है। इस हस्त की अवयवभूत अंगुलियाँ परिघृष्यमाण होने से सम्मुख की अंगुलियाँ भी घृष्यमाण है। खेद का अर्थ चिन्ता है ॥ १३१-१३२ ॥

१. क-म. एषोऽङ्गुलिविच्यवनात् प्रशिथिलमोक्षाच्च मन्दवाक्येषु।
२. क-व. भिन्नवाक्येषु।
३. ग; भेदाङ्गीकृत्यमिति चार्थे।
४. कुट्टनादेरपि।

अङ्गुल्यो यस्य हस्तस्य [1]ह्यन्योन्यान्तरनिस्सृताः ।
स कर्कट इति ज्ञेयः करः कर्म च वक्ष्यते[2] ॥१३३॥

एष मदनाङ्गमर्दे सुप्तोत्थितविजृम्भणे[3] बृहद्देहे[4] ।
[5]हनुधारणे च योज्यः शङ्खग्रहणेऽर्थतत्त्वज्ञैः ॥१३४॥

कर्कटमाह—अङ्गुल्यो यस्येति ।

अन्योन्यस्य चान्तराणि मध्यानि तैर्निस्सृताः अन्योन्यसंमुखकर्कटद्रंष्ट्राद्वया-कारेण अङ्गुलीनामत्रावस्थानात् कर्कटः । मदनेऽङ्गकृते अङ्गमोटने अग्रतः पार्श्वतः ऊर्ध्वं वा भुजयुगलात्पराङ्मुखाङ्गुलिः । सुप्तोत्थितपदमुपलक्षणम् । सर्वदा हि [6]जृम्भणेऽस्य प्रयोगः। बृहद्देहाभिनये तूदरक्षेत्रे सम्मुखतलोऽयं हस्तः । हनुधारणेऽङ्गुलिपृष्ठनिष्ठापितहनुदेशः । शङ्खग्रहणे किञ्चित्सङ्कुचितो-ऽन्योन्याभिमुखाङ्गुलिः । एतदेवाह—अर्थेति—अभिनेयस्यार्थस्य यत्तत्वं परमार्थः। तद्ये जानन्त्यभिनयेऽनुसन्धातुं शक्नुवन्ति तैः ॥ १३३-१३४ ॥

---

३. कर्कट हस्त

अभिनव—अब कर्कट हस्त का लक्षण करते हैं –'अङ्गुल्यो यस्येति' ।

अनुवाद—जिस हाथ की अंगुलियाँ परस्पर अन्तर से (बीच से) निकली हुई हों, उसे 'कर्कट' हस्त कहते हैं, अब उसके कर्म को कहता हूँ ॥ १३३ ॥

अनुवाद—नाट्यार्थ के तत्त्व को जानने वाले विद्वानों को इस हाथ का प्रयोग कामाङ्ग के मर्दन में, सोकर उठने पर जंभाई लेने में, शरीर के फैलाने में अर्थात् अंगड़ाई लेने में, हनु के धारण में अर्थात् ठुड्डी पकड़ने में तथा शंख ग्रहण करने में करना चाहिए ॥ १३४ ॥

---

१. ख. अन्योन्यान्तरनिःसृताः ।

२. क-प. लक्ष्यते । क-फ कर्मास्य कथ्यते ।
   क-म. कर्म चास्य निबोधत ।

३. ख सुप्तोत्थविजृम्भणे बृहद्देहे ।

४. ग. अनुधारणे ।

५. ख. ग्रहणे च तत्वज्ञैः ।

६. ग. विजृम्भणे ।

मणिबन्धनविन्यस्तावरालौ [1]स्त्रीप्रयोज्झितौ ।
उत्तानौ वामपार्श्वस्थौ स्वस्तिकः परिकीर्तितः ॥१३५॥
स्वस्तिकविच्युतिकरणाद् दिशो धनाः [2]खं वनं समुद्राश्च ।
ऋतवो मही [3]तथौघं विस्तीर्णं चाभिनेयं[4] स्यात् ॥ १३६॥

अथ स्वस्तिकमाह—मणिबन्धनविन्यस्ताविति।

अभिनव—परस्पर के अन्तर अर्थात् बीच से निकली हुई। कर्कट के दाढ़ों के आकार में एक दूसरे के सामने अङ्गुलियों का अवस्थान होने से इसका नाम 'कर्कट' है। काम के विकार में, अंगों के मर्दन में, (मड़ोरने में) आगे से, बगल से अथवा ऊपर से दोनों भुजाओं से अंगुलियाँ पराङ्मुख होती हैं। सोकर उठा हुआ, यह कथन उपलक्षणमात्र है। हमेशा जम्भाई लेने में इसका प्रयोग होता है। बृहदाकार शरीर के अभिनय में, उदर (पेट) के क्षेत्र में हथेलियों को सामने करने पर यह कर्कट हस्त होता है। हनु के धारण में अंगुलियों के पृष्ठ पर हनु को रखा जाता है। शंख के ग्रहण में अँगुलियाँ किञ्चित् सङ्कुचित और एक दूसरे के सम्मुख होती हैं। इसी बात को कहते हैं—अभिनेय वस्तु का जो तत्त्व है, परमार्थ है, उसे जो जानते हैं, अभिनय में अनुसन्धान करने के लिए समर्थ हैं, उनके द्वारा इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३३-१३४ ॥

४. स्वस्तिक हस्त

अभिनव—अब स्वस्तिक हस्त का लक्षण करते हैं—'मणिबन्धन' इत्यादि।

अनुवाद—यदि मणिबन्ध पर (कलाई पर) विन्यस्त दो अराल हस्तों को उत्तान करके वाम पार्श्व में रख दिया जाय तो 'स्वस्तिक' हस्त होता है। इस हस्त का प्रयोग स्त्रियों को करना चाहिए ॥ १३५ ॥

अनुवाद—स्वस्तिक हस्तों को विच्युत करके दिशाओं, आकाश, वन, समुद्र, ऋतु, पृथ्वी तथा विस्तीर्ण ओघ (महाप्रवाह) का अभिनय करना चाहिए ॥ १३६ ॥

१. ख. वर्धमानकौ ।
२. घना ।
३. तथान्यद् ।
४. क. अभिनेयं स्याद् ।

[1]खटकः खटके न्यस्तः खटकावर्धमानकः।
[2]श्रृङ्गारार्थेषु योक्तव्यः प्रणामकरणे[3] तथा ॥१३७॥

यत्र शुद्धमेव स्वस्तिकपदमुपादीयते तत्रेदृश एव सन्निवेशः प्रदेशेषु मन्तव्यः। यथा—चित्राभिनयादावर्थप्रकरणादिवशात्त्वन्यत्रापि प्रवर्त्येत। तथा—स्वस्तिकविच्युतिकरणादित्यादौ (८-१०) पताकयोगेऽपि तथापि मणिबन्धनविन्यस्तत्वं नामानुयाय्येव रूपम्। अत एव केचिदेतावतास्य लक्षणं परिशिष्टं तूदाहरणदिगर्थमिति प्रतिपन्नाः। स्त्रीप्रयोजिताविति। पताकस्वस्तिककर्माणि स्त्रीभिरमुनैव कार्याणीत्यर्थः। स्वस्तिकार्यलक्षणसमाकृतित्वात्स्वस्तिकः ॥१३५-१३६॥

अभिनव—स्वस्तिक दो प्रकार का होता है एक शुद्धस्वस्तिक और दूसरा मुष्टिक स्वस्तिक (या विशिष्ट स्वस्तिक)। जहाँ पर शुद्ध स्वस्तिक पद का उपादान होता है वहाँ इस प्रकार का सन्निवेश इन प्रदेशों में मानना चाहिए। जैसे चित्राभिनय आदि में अर्थ और प्रकरणादि के आधार पर अन्यत्र भी प्रवृत्ति रखनी चाहिए। जैसे—'स्वस्तिकविच्युति' इत्यादि में पताक हस्त के योग में भी इस हस्त का प्रयोग होता है, फिर भी 'मणिबन्धविन्यस्त' यह नाम अनुयायी रूप ही है। इसलिए कुछ विद्वान् इतना ही इसका लक्षण मानते हैं और परिशिष्ट तो उदाहरण की दिशा बतलाने के लिए है। 'स्त्रीप्रयोजितौ' का अभिप्राय है कि पताका और स्वस्तिक कर्मों को स्त्रियों को इसी हस्तमुद्रा से करनी चाहिए। स्वस्तिक के लक्षण और स्वरूप वाला होने से इसे 'स्वस्तिक' कहते हैं ॥ १३५-१३६ ॥

---

१. ख. ग. कटकः कटकैर्न्यस्तः कटको वर्धमानकः।

२. क-म. प्रतोदरश्मिग्रहणे चन्द्रसूर्योदये तथा।
कर्तव्यः स प्रणामे च श्रृङ्गारार्थे विधीयते।
क-ङ. श्रृङ्गारार्थे प्रयोक्तव्यः प्रमाणकरणे तथा।

३. ख. प्रमाणकरणे तथा।
क-म. प्रमाणकरणेषु च।

अन्ये—

[1]कुमुदोत्पलवृन्तेषु कर्त्तव्यश्छत्रधारणे। इति ॥१३८॥

खटकावर्धमानकमाह—खटक इति।

लभ्यते। अन्ये त्वन्योन्याभिमुखं खटकद्वयमस्य रूपमित्याहुः। खटकस्य आ समन्तात् बहिरन्तर्योगादिदं नाम। शृङ्गारार्थेषु शृङ्गारप्रयोजनेषु ताम्बूलग्रहणादिषु। तथा हि वक्ष्यते—

खटकावर्धमानौ तु कृत्वा विटगतिं व्रजेत् इति। (अ० १२-१।०) तथेति प्रयोजन एवं प्रायेणेश्वरी प्रसादनादौ प्रणाम इत्यर्थः।

"कुमुदोत्पलकुन्देषु कर्त्तव्यः शङ्खधारणे" इति वा पाठः ॥ १३७-१३८ ॥

५. खटकावर्धमानक

अभिनव—खटकावर्धमानक हस्त को कहते हैं—खटक इत्यादि।

अनुवाद—खटक हस्त को खटक हस्त पर रखने से 'खटकावर्धमानक' हस्त होता है। इस हस्त का प्रयोग शृङ्गार के भावों में और प्रणाम करने में किया जाता है। अन्य आचार्य तो कहते हैं-कुमुद, उत्पल वृन्त (डण्ठल) और छत्र धारण में इसका प्रयोग करना चाहिए ॥ १३७-१३८ ॥

अभिनव—खटक हस्त पर खटक हस्त रखने पर खटकावर्धमानक हस्त होता है। अन्य आचार्य तो कहते हैं कि जहाँ पर परस्पर अभिमुख दो खटक हस्त हों वह इसका रूप है। खटक का चारों ओर बाहर, भीतर सभी ओर सम्बन्ध (योग) होने से इसका खटकावर्धमानक नाम सार्थक है। 'शृङ्गारार्थेषु' अर्थात् शृङ्गार रूप प्रयोजन वाले ताम्बूल आदि के ग्रहण में। जैसा कि कहेंगे—"खटकावर्धमानक हाथों को करके विट की गति (चाल) से चलना चाहिए"। तथेति। वैसे प्रयोजन के समय ही प्रायः प्रिया के प्रसन्न करने आदि में प्रणाम करना चाहिए। 'कुमुदोत्पलादि' के स्थान पर निम्न पाठ भी मिलता है—

"कुमुद, उत्पल, कुन्द एवं शङ्ख के धारण में इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ १३७-१३८ ॥

१. ख. ग. पुस्तकयोरयं श्लोकार्धो नास्ति।

अरालौ तु विपर्यस्तावुत्तानौ[1] वर्धमानकौ[2]।
उत्सङ्ग इति विज्ञेयः स्पर्शस्य ग्रहणे करः ॥१३९॥

उत्सङ्गमाह - अरालौ त्विति।

विपर्यस्ताविति स्वस्तिकरूपौ। उत्तानाविति स्वसम्मुखौ, वर्धमानकाविति विनतौ तेन दक्षिणो वामस्कन्धक्षेत्र इति [3]यावत्। अत एव च प्रकोष्ठस्वस्तिकत्वं लक्ष्यते। स्वस्तिक एव दक्षिणपार्श्वस्थ इति विपर्यस्तत्वमिति केचित्। अधोनखत्वमित्यन्ये। स्वस्तिकाकारौ कूर्परौ कृत्वा कक्षक्षेत्रात् प्रवेशमुक्ताद्बाह्योऽङ्गुल्यो यदा भवन्ति पृष्ठं च हस्तयोर्बहिर्मुखं तथा विपर्यस्तत्वमिति तु युक्ततरम्। उत्सङ्गग्रहणयोग्यत्वकरणादुत्सङ्गः। स्पर्शस्य परोक्षस्य ग्रहणेऽभिनयं ॥ १३९ ॥

---

६. उत्सङ्ग हस्त

अभिनव—अब उत्सङ्ग हस्त का लक्षण करते हैं —'अरालविसादि'।

अनुवाद—यदि दोनों अराल हस्त विपर्यस्त अर्थात् स्वस्तिक हस्त मुद्रा में उत्तान अर्थात् सम्मुखावस्था में दोनों कन्धों पर रख दिया जाय तो 'उत्सङ्ग' हस्त कहलाता है ॥ १३९ ॥

अभिनव—'विपर्यस्तौ' का अर्थ है स्वस्तिकरूप। 'उत्तानौ' पद का अर्थ है स्वसम्मुख। 'वर्धमानकौ' पद का अभिप्राय है विनत होना। इससे दक्षिण हस्त को बायें स्कन्ध के क्षेत्र में रखना चाहिए, वह यह अर्थ संकेतित होता है। अतएव प्रकोष्ठ का स्वस्तिकत्व लक्षित होता है। कुछ आचार्य कहते हैं कि स्वस्तिक को ही दक्षिण पार्श्व में स्थित करना चाहिए, यही विपर्यस्तत्व का अभिप्राय है। अन्य लोग इसे अधोमुखत्व कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब कूर्परों (कोहनियों) को स्वस्तिकाकार करके प्रवेशरहित कक्ष क्षेत्र से अँगुलियाँ जब बाहर की ओर होती हैं और हस्तों का पृष्ठभाग बहिर्मुख होता है तो वही 'विपर्यस्तत्त्व' होता है। यही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। उत्सङ्ग में ग्रहण करने की योग्यता होने से इसका उत्सङ्ग नाम सार्थक है। स्पर्श अर्थात् परोक्ष वस्तु के ग्रहण करने के अभिनय में ॥ १३९ ॥

---

१. ख. उत्तानादूर्ध्वमानतौ।
   क-ड. उत्तानावूर्ध्वमानकौ।
२. ग. कार्यः सिंहावलोकिवे।
३. क. इति यावंत।

[1]सन्निपेषकृते चैव रोषामर्षकृतेऽपि च।
[2]निष्पीडितः पुनश्चैव स्त्रीणामीर्ष्याकृते भवेत् ॥१४०॥

निष्पेषः पीडनम्, तेन सह यद्यत्क्रियते अतिप्रयत्नेन साध्य इत्यर्थः। रोषकरणे यथा—एषोऽस्मि ते दृढ़निपीडनबाहुयन्त्रेत्यादौ। अमर्षकरणे यथा--विदूषकादेरीर्ष्याकरणे प्रसादनानङ्गीकरणे पर्यायात्सकृत्प्रक्षेपात्। सिंहावलोकित इत्यन्ये पठन्ति। कर्तरि कर्मणि षष्ठीति व्याचक्षते ॥ १४० ॥

अभिनव—'निष्पेष' का अर्थ है पीड़न। इसलिए पीड़न के साथ जो जो करते हैं वह अति प्रयत्न साध्य है। क्रोध करने में जैसे—'बाहुरूपी यन्त्र से दृढ़ता के साथ पीड़न करने के लिए मैं यह हूँ। अमर्ष (ईर्ष्या) करने में जैसे—विदूषक आदि का ईर्ष्या करने में तथा स्त्रियों के द्वारा प्रसादन (मनाने) के अस्वीकार कर देने में क्रमशः एक-एक के प्रक्षेप करने से। अन्य आचार्य 'निष्पीड़िता पुनः' के स्थान पर 'सिंहविलोकितः' पाठ मानते हैं और 'सिंह ने देखा' इस अर्थ में 'सिंहस्य अवलोकितः' यहाँ कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति है। 'उसने सिंह को देखा' इस अर्थ में कर्म में षष्ठो विभक्ति हैं, ऐसी व्याख्या करते हैं ॥ १४० ॥

अनुवाद—अति प्रयत्न से साध्य कार्य, रोष तथा अमर्ष (ईर्ष्या) करने में स्त्रियों के ईर्ष्या करने मे तथा निष्पोड़न में 'उत्सङ्ग' हस्त का विनियोग करना चाहिए ॥ १४० ॥

---

१ ख-ग. संनिष्पेषकरश्चैव रोषेऽमर्षेऽपि च स्मृतः।
क-ड. सन्निपेषकरश्चैव रोषामर्षे वृतेऽपि च।
२. क-न. निष्पोडितस्तथा चैव।
क-म. निपीडितः।

[1]मुकुलं तु यदा हस्तं कपित्थः परिवेष्टयेत् ।
स मन्तव्यस्तदा हस्तो निषधो नाम नामतः ॥१४१॥

संग्रहपरिग्रहौ धारणं च समयश्च सत्यवचनं च ।
सङ्क्षेपः संक्षिप्तं निपीड़ितेनाभिनेतव्यम् ॥१४२॥

निषधमाह—मुकुलन्त्विति ।

कपित्थहस्तेन परिवेष्टचमानमुकुलं तदभ्यन्तरे निषण्णं धत्ते इत्यतोऽयं निषधः । सङ्ग्रहः सम्यग्ग्रहणं शास्त्रार्थादिः, परिग्रहः स्वीकारः, धारणमत्यजनम्, समयो नियमः, सत्यवचनं तथ्यमिति, सङ्क्षेपस्तात्पर्यम्, सभस्तमनेनैव संक्षिप्यमाणमपि । संक्षिप्ताभिनयेन हि तद्वति द्रव्येऽभिनय इत्युक्तम् । संक्षिप्तं क्वचित्स्थापितमित्यर्थः ॥ १४१-१४२ ॥

---

७. निषध हस्त

अभिनव—अब निषध हस्त का लक्षण कहते हैं—'मुकुलं तु' इत्यादि ।

अनुवाद—यदि मुकुल हस्त को कपित्त्थ हस्त के द्वारा परिवेष्टित कर दिया जाय तो नाम से उसे 'निषध' नामक हस्त मानना चाहिए ॥ १४१ ॥

अनुवाद—संग्रह, परिग्रह (दान), धारण, समय, सत्यवचन, संक्षेप और संक्षिप्त अर्थात् संक्षेप के समान द्रव्य अथवा अच्छी तरह कहीं पर स्थापित द्रव्य को निपीड़ित करके निषध हस्त से अभिनय करे ॥ १४२ ॥

अभिनव कपित्त्थ हस्त से परिवेष्टित मुकुल हस्त के भीतर निषण्ण को धारण करता है इसलिए यह 'निषध' कहलाता है। 'संग्रह' का अर्थ है शास्त्र आदि का सम्यक् रूप से ग्रहण अर्थात् सम्यक् प्रकार से शास्त्रार्थ का स्वीकार करना । 'परिग्रह' का अर्थ है स्वीकार करना । 'धारण का अर्थ है न छोड़ना। 'समय' का अर्थ नियम है। सत्यवचन तथ्य कथन है। 'संक्षेप' का अर्थ 'तात्पर्य' है। इसी के द्वारा अन्य समस्त संक्षिप्यमाण वस्तुओं को भी समझना चाहिए । संक्षिप्त अभिनय के द्वारा यह कहा गया है कि संक्षेपवत् द्रव्य का अभिनय करना है और संक्षिप्त का अर्थ सम्यक् क्षिप्त अर्थात् अच्छी तरह से कहीं पर स्थापित किया हुआ ॥ १४१-१४२ ॥

---

१. इतः श्लोकत्रयं ख. ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।

शिखरस्तु यदा हस्तो मृगशीर्षेण पीडितः ।
निषधो नाम विज्ञेयः स भयार्त्ते विधीयते ॥१४३॥
गृहीत्वा वामहस्तेन कूर्पराभ्यन्तरे भुजम् ।
दक्षिणं चापि वामस्य कूर्पराभ्यन्तरे न्यसेत् ॥१४४॥
स चापि दक्षिणो हस्तः सम्यङ् मुष्टीकृतो भवेत् ।
इत्येष निषधो हस्तः कर्म चास्य निबोधत ॥१४५॥
एतेन धैर्यमदगर्वसौष्ठवौत्सुक्यविक्रमाटोपाः ।
अभिमानावष्टम्भः स्तम्भस्थैर्यादयः कार्याः ॥१४६॥

अथवा

ज्ञेयो वै निषधो नाम हंसपक्षौ पराङ्मुखौ ।
ज्ञातवातायनादीनां प्रयोक्तव्योऽभिघट्टने ॥१४७॥

निषध हस्त का अन्य लक्षण

अनुवाद--शिखर हस्त को जब मृगशीर्ष हस्त से पीड़ित कर दिया जाय तो उसे 'निषध' हस्त समझना चाहिये। भय से पीड़ित अवस्था के अभिनय में इसका विधान किया जाता है ॥ १४३ ॥

अनुवाद—यदि बायें हाथ से दाहिनी भुजा को कोहनी के भीतर से ग्रहण करके दाहिने हाथ को बायें हाथ की कोहनी पर रख दिया जाय और वह दाहिना हाथ अच्छी तरह मुष्टीकृत हो तो यह 'निषध' हस्त होता है। अब इसके कर्मों को समझिये ॥ १४४-१४५ ॥

अनुवाद--इस हस्त के द्वारा धैर्य, मद, गर्व, सौष्ठव, औत्सुक्य, विक्रम, आटोप (आरोप), अभिमान, अवष्टम्भ, स्तम्भ और स्थैर्य आदि का अभिनय करना चाहिए ॥ १४६ ॥

अथवा

निषध हस्त का तीसरा लक्षण

अनुवाद—यदि दो हंसपक्ष हस्त पराङ्मुख हों (विपरीत दिशा में हों) तो 'निषध' हस्त समझना चाहिए । जाल (जाली) वातायन (खिड़की) आदि के तोड़ने में इसका अभिनय करना चाहिए ॥ १४७ ॥

अंसौ प्रशिथिलौ मुक्तौ पताकौ तु[1] प्रलम्बितौ।
यदा भवेतां करणे स दोल इति संज्ञितः ॥१४८॥
[2]सम्भ्रमविषादमूर्च्छितमदाभिघाते तथैव चाऽऽवेगे।
व्याधिप्लुते च [3]शस्त्रक्षते च कार्योऽभिनयप्रयोगः ॥१४९॥

दोलं लक्षयति—अंसाविति।

हस्तयोः प्रकर्षेण लम्बमानत्वादेव स्कन्धयोः शैथिल्यमदृढत्वं भवति। पताकाङ्गुलीनामवष्टम्भानामुद्धारणाय वा करणक्रियायामङ्गुलिशैथिल्यलक्षणायां सत्यामित्यर्थः। दोलाकारत्वेन दोला। अभिनयनव्यापारे योगो यस्य स तथाविधोऽयं हस्तः। कार्य इत्यनेन तत्र तत्राभिनेये पार्श्वात्पार्श्वान्तरगमनं निपतनं स्तब्धत्व-मित्यादिकां तावदितिकर्तव्यतां सूचयति। अभितोऽन्यादिव्यसनजो अभिघातः ॥ १४८-१४९ ॥

८. दोला हस्त

अभिनव—अब दोल हस्त का लक्षण कहते हैं—'अंसौ' इत्यादि।

अनुवाद—जिस हस्त में दोनों कन्धे शिथिल हों और दोनों पताकहस्त प्रलम्बित (हिलते हुए) हों वह 'दोलहस्त' कहलाता है ॥ १४८ ॥

अनुवाद—सम्भ्रम (घबराहट), विषाद, मूर्च्छा, मद के अभिघात (नशे के झटके) और आवेग तथा व्याधि से ग्रस्त होने एवं शस्त्रों से क्षत होने के अभिनय में इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ १४९ ॥

अभिनव—दोनों हाथों के पूर्ण रूप से लम्बायमान होने पर ही दोनों कन्धों में शिथिलता और अदृढ़ता होती है। पताक हस्त को अंगुलियों के आधारों (आश्रयों) के उद्धार के लिए (हटाने में) अङ्गुलियों के शिथिल करने पर ही दोला के आकार का होने से यह 'दोलाहस्त' है। अभिनयन व्यापार में जिसका योग है वैसा यह हस्त है। 'कार्य' इस पद के कथन से उन-उन अभिनेय वस्तुओं में इस पार्श्व से उस पार्श्व में गमन (जाना) निपतन तथा स्तब्धता इत्यादि इतिकर्त्तव्यता को सूचित करता है। 'अभिघात' का अर्थ है अभितः अर्थात् चारों ओर से अग्नि, वर्षा, शीत आदि से उत्पन्न दोष 'अभिघात' कहलाता है ॥ १४८-१४९ ॥

१. ब. पताकौ प्रविलम्बितौ।
२. क-न. सम्भ्रमविषाद०।
३. ब. शत्रुक्षते।

यस्तु सर्पशिराः प्रोक्तस्तस्याङ्गुलिनिरन्तरः[1]।
द्वितीयः[2]पार्श्वसंश्लिष्टः स तु पुष्पपुटः स्मृतः ॥१५०॥
[3]धान्यफलपुष्पसदृशान्यनेन नानाविधानि युक्तानि।
ग्राह्याण्युपनेयानि च तोयानयनापनयने[4] च ॥१५१॥

पुष्पपुटमाह—यस्तु सर्पशिरा इति।

अङ्गुलिस्थाने निरन्तरं बाढमपि संमुखत्वं माभूदित्याह पार्श्वेति। द्वितीय इति सर्पशिरः हस्तः। हस्तपुटेनेदृशेन पुष्पग्रहणमिति पुष्पपुट इतरः॥ १५०-१५१॥

---

९. पुष्पपुट हस्त

अभिनव—अब पुष्पपुट हस्त का लक्षण कहते हैं—'सर्पशिराः' इत्यादि।

अनुवाद—जो सर्पशीर्ष हस्त है उसकी संहत अंगुलियाँ यदि द्वितीय पार्श्व में अच्छी तरह संश्लिष्ट (सटी हुई) हो जाय तो वह 'पुष्पपुट' हस्त कहलाता है॥ १५०॥

अनुवाद—इस हस्त के द्वारा धान्य, फल, पुष्प और इन्हीं के सदृश अन्य अनेक प्रकार के युक्त (उचित) वस्तुओं के ग्रहण करने और ले जाने तथा जल के लाने और ले जाने का अभिनय करना चाहिए॥ १५१॥

अभिनव—अंगुलियाँ अपने स्थान में भले ही संहत हों किन्तु सम्मुख में न हों, इसलिए 'पार्श्वसंश्लिष्ट' कहा गया है। 'द्वितीय' का अभिप्राय है सर्पशीर्ष हस्त से भिन्न हस्त। इस प्रकार से हस्तपुट अर्थात् दोने के आकार के बनाये गये हस्तों से पुष्प को ग्रहण करने के कारण इसे 'पुष्पपुट' हस्त कहते हैं॥ १५०-१५१॥

---

१. क-ङ. निरन्तरम्।
   क-न. निश्चयः।
२. ख, द्वितीयः पार्श्वसुश्लिष्टः।
   क-न. द्वितीयपार्श्वसंस्पृष्टः।
   क-ङ. द्वितीयपार्श्वसंश्लिष्टः।
३. ख. धान्यजलपुष्पभक्ष्याण्यनेकनानाविधानि युक्तेन।
४. क-ङ. तोयापनयापनयने।

पताकौ तु यदा [1]हस्तावूर्ध्वाङ्गुष्ठावधोमुखौ ।
उपर्युपरि विन्यस्तौ तदा[2] स मकरः करः ॥१५२॥

सिंहव्यालद्विपप्रदर्शनं[3] नक्रमकरमत्स्यानाम् ।
ये चान्ये क्रव्यादा ह्यभिनेयास्तेऽर्थयोगेन[4] ॥१५३॥

मकरमाह—पताकौ त्विति ।

अङ्गुष्ठयोर्मकरकर्णद्वयवदवस्थानान्मकरः । द्वीपिनश्चित्रकायाः । मत्स्यानामिति प्रदर्शनमिति संबन्धः । अर्थयोगेनेति अग्रपार्श्वादिषु स्थितचलनादिनानार्थवशात्प्रयोज्य इत्यर्थः ॥ १५२-१५३ ॥

---

१०. मकरहस्त

अभिनव —अब मकर हस्त का लक्षण कहते हैं--'पताकौ तु इत्यादि' ।

अनुवाद –यदि दो पताक हस्त ऊपर की ओर उठे हुए हों और अंगूठा अधोमुख हो और दोनों को एक दूसरे के ऊपर रख दिया जाय तो 'मकर हस्त' होता है ॥ १५२ ॥

अनुवाद--सिंह, व्याल, द्वीपी (चीता), नक्र, मकर, मत्स्य और जो मांसाहारी हैं उनके प्रदर्शन में 'मकर हस्त' का विनियोग करना चाहिए ॥ १५३ ॥

अभिनव--दोनों अंगूठों का मकर के कर्णों के समान अवस्थान होने से इस हस्त का नाम 'मकर' है । 'द्वीपिन्' का अर्थ चित्रक (चीता) है । 'प्रदर्शन' पद नक्र, मकर और मत्स्य से भी सम्बन्ध है । 'अर्थयोगेन' पद का अभिप्राय है आगे-पीछे, अगल-बगल ऊपर-नीचे, ठहरने-चलने, उठने-बैठने आदि अनेक प्रयोजनों के अनुसार इसका प्रयोग करना चाहिए ॥ १५२–१५३ ॥

---

१ ख. हस्तौ मूर्धाङ्गुष्ठावधोमुखौ ।
क-ड. हस्तौ मुखाङ्गुष्ठौ ।
क-न. हस्तौ मुक्ताङ्गुष्ठौ ।

२. क तदासौ मकरः स्मृतः ।
क-म. हस्तः सः मकरः स्मृतः ।

३. ख. द्विपदर्शने ।
क-ड. द्विपदर्शने ।

४. ख. अभिनेयास्तेन हस्तेन ।

[1]कूर्परांसोचितौ हस्तौ यदास्तां सर्पशीर्षकौ ।
गजदन्तः स[2] विज्ञेयः कर्म चास्य निबोधत ॥१५४॥
[3]एष च वधूवराणामुद्वाहे चातिभारयोगे च ।
[4]स्तम्भग्रहणे च तथा शैलशिलोत्पाटने[5] चैव ॥१५५॥

गजदन्तमाह—कूर्परांसोचिताविति ।

कूर्परांसशब्देनोभयसामीप्यं तयोरन्तरालं गृह्यते पूर्वदक्षिणे तु यथा तत्र कुञ्चितौ तत्स्थानसंवेष्टनपरौ । यथा वामे बाहौ दक्षिणो, दक्षिणे वामो हस्तः स्तम्भाकारवेष्टितदन्ताकृतियोगाद्गजदन्तः । वधूनां वराणां च विवाहस्थान-नयने शिलोत्पाटने गतागतत्वं मन्तव्यम् ॥ १५४-१५५ ॥

११-गजदन्त हस्त

अभिनव —अब गजदन्त हस्त का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद -यदि दो सर्पशीर्ष हस्तों को कोहनी और कन्धों पर रख दिया जाय तो 'गजदन्त' नामक हस्त होता है। अब उसके कर्म को सुनिये ॥ १५४ ॥

अनुवाद—वर-वधू के पाणिग्रहण, भारी बोझ उठाने, स्तम्भों के पकड़ने तथा शैल एवं शिला के उखाड़ने में इस हस्त का प्रयोग होता है ॥ १५५ ॥

अभिनव—'कूर्परांस' शब्द से दोनों का सामीप्य और दोनो का अन्तराल ग्रहण होता है। पूर्व-दक्षिण में तो जिस प्रकार वहाँ उचित हो उस स्थान के वेष्टन में तत्पर होना चाहिए। जैसे-बायें बाहु में दक्षिण और दक्षिण बाहु में बायें हाथ का स्तम्भ के आकार वेष्टन होता है। हाथी के दांत के आकार का होने के कारण इसे 'गजदन्त' हस्त कहते हैं। वर और वधू को विवाह स्थान (मण्डल) में ले जाने और शिला के उखाड़ने में इस हाथ के आने-जाने के रूप में अभिनय करना चाहिए ॥ १५४-१५५ ॥

---

१. ख-ग. कर्पूरांसञ्चितौ हस्तौ ।
   क-न. कूर्परांसाञ्चितौ हस्तौ ।
२. क-ख. गजदन्तः स तु करः ।
३. क-ज. पुत्रवधूभाराणामुद्वहने चापि भारयोगे च ।
   क-म. वरयानवधूग्रहणे वत्सोत्सङ्गादिभारयोगे च ।
   क-म. वरयानवधूग्रहणे बालग्रहणेऽति भारयोगे च ।
   क-च. भूधरवधूवराणामुद्वहने चातिभारयोगे च ।
४. ख. स्तम्भे ग्रहणे ।
५. क-म. दोलस्योत्पाटने चैव ।

शुकतुण्डौ करौ कृत्वा वक्षस्यभिमुखाश्चितौ ।
[1]शनैरधोमुखाविद्धौ सोऽवहित्थ इति स्मृतः ।।१५६।।

दौर्बल्ये निःश्वसिते गात्राणां दर्शने तनुत्वे च ।
उत्कण्ठिते च तज्ज्ञैरभिनययोगस्तु [2]कर्त्तव्यः ।।१५७।।

अवहित्थकमाह– शुकतुण्डाविति ।

अभिमुखौ पूर्वाननावञ्चितौ वर्तनया अधोमुखौ सन्तावाविद्धावधोगमितौ । अवहित्थसूचकत्वादवहित्थः । एवं हि कुर्वन्नाशयमात्मीयं नो भिनत्ति ॥ १५६-१५७ ॥

१२-अवहित्थ हस्त

अभिनव– अब अवहित्थ हस्त का लक्षण कहते हैं—शुकतुण्डौ इत्यादि ।

अनुवाद—यदि दोनों शुकतुण्ड हस्तों को वक्षःस्थल पर सामने से अञ्चित करके धीरे-धीरे अधोमुख आविद्ध कर दिया जाय तो 'अवहित्थ' हस्त होता है ॥ १५६ ॥

अनुवाद--नाटचविदों को दुर्बलता, निःश्वास, शरीर के प्रदर्शन, क्षीणता-दिखाने तथा उत्कण्ठा का भाव प्रदर्शित करने में इसका अभिनय करना चाहिए ॥ १५७ ॥

अभिनव—'अभिमुख का अर्थ है पूर्व मुख के आश्रित होना । वर्तना के द्वारा अधोमुख किये हुए आविद्ध अर्थात् अधोगामी होना । आकारगोपन की सूचना देने के कारण इसे 'अवहित्थ' कहते हैं । इस प्रकार अवहित्थ हस्त को करने वाला अपने आशय का भेदन नहीं करता है ॥ १५६–१५७ ॥

---

१. क-म. शनैरभिमुखाविद्धाववहित्थस्तु स स्मृतः ।
२. क. ग. अभिनययोगश्च कर्त्तव्यः ।
क, फ. अभिनययोगः प्रयोक्तव्यः ।

[1]मुकुलस्तु यदा हस्तः कपित्थपरिवेष्टितः ।
वर्धमानः स विज्ञेयः कर्म चास्य निबोधत ॥१५८॥

सङ्ग्रहपरिग्रहौ धारणं च समयश्च सत्यवचनं च ।
[2]संक्षेपतस्तु संक्षिप्तं निपीडितेनाभिनेतव्यम् ॥१५९॥

वर्धमानमाह—ज्ञेयो वै वर्धमानश्च हंसपक्षौ पराङ्मुखाविति ।

अन्योन्यं स्वस्तिकवदवस्थितौ लक्ष्ये तु अन्योन्यनिकटौ दृश्येते । स्वस्तिकता—हीनावेव केवलं पराङ्मुखौ परस्परचलनेन विस्तारयोगाद्वर्धमानत्वम् । आदिशब्देन वक्षःकवाटादि ॥ १५८-१५९ ॥

१३—वर्धमान हस्त का लक्षण

अभिनव—अब वर्धमान हस्त का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—जब मुकुल हस्त को कपित्थ हस्त से परिवेष्टित कर दिया जाय तो 'वर्धमान' हस्त समझना चाहिए । अब उसके कर्म को समझिये ॥ १५८ ॥

अनुवाद—संग्रह, परिग्रह, धारण, समय, सत्यवचन, संक्षेप और सक्षिप्त का निपीड़न करने में इस हस्त का अभिनय करना चाहिए ॥ १५९ ॥

अभिनव—दो पराङ्मुख हंसपक्ष हस्तों को वर्धमान समझना चाहिए । परस्पर स्वस्तिक मुद्रा की तरह अवस्थित लक्ष्य में एक दूसरे के निकट दिखाई देते हैं । स्वस्तिकता से रहित केवल पराङ्मुख होकर चलने से विस्तारयुक्त हो जाते हैं, इसलिए इसमें वर्धमानत्व रहता है । आदि शब्द से वक्ष, कवाट आदि का ग्रहण होता है ॥ १५८-१५९ ॥

---

१. इतः श्लोकद्वयं 'क' पुस्तके नास्ति ।

२. एतौ द्वौ श्लोकौ कीर्तिधरपाठानुसारिणौ ।
क. संक्षेपः संक्षिप्तं ।

[1]ज्ञेयो वै वर्धमानस्तु हंसपक्षौ पराङ्मुखौ ।
जालवातायनादीनां प्रयोक्तव्यो [2]विघाटने ॥१६०॥
[3]उक्ता ह्येते द्विविधा ह्यसंयुताः [4]संयुताश्च संक्षेपात् ।
[5]अभिनयकरास्तु ये त्विह तेऽन्यत्राप्यर्थतः साध्या ॥१६१॥

उपसंहरन् सूचयति उक्ता ह्येत इति ।

यस्मादेते उक्ताः सङ्क्षेपमाश्रित्याभिनेयविषये निरूपिताः । तुरिति तस्मादन्यत्राप्युक्तात् अभिनेयात् अर्थादर्थान्तरेऽपि अर्थतोऽभिनयतः साध्यः साधयितुं शक्याश्चार्हाश्च । (तुर्हेतौ, यस्मादाभिमुख्यतया, नार्थमाने करीति त्वदृष्टार्थमर्थेऽर्थतः) ॥ १६०-१६१ ॥

अनुवाद—दो हंसपक्ष हस्त को पराङ्मुख उलटा करके रखा जाय तो 'वर्धमान' हस्त होता है। जाल (झरोखा) और वातायन (खिड़की) आदि के खोलने में इस हस्त का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६० ॥

अभिनव—अब उपसंहार करते हुए सूचना देते हैं—'उक्ता' इत्यादि ।

अनुवाद—इस प्रकार संक्षेप में असंयुत और संयुत दो प्रकार के हस्तों को मैंने कहा है और जो अभिनय हस्त यहाँ पर कहे गये हैं वे अन्यत्र भी अर्थ (प्रयोजन) के अनुसार साध्य हैं अर्थात् उसे अन्यत्र भी अर्थों के अनुसार प्रयोग करना चाहिये ॥ १६१ ॥

अभिनव—क्योंकि ये हस्त पहिले कहे गये हैं अर्थात् संक्षेप का आश्रय लेकर अभिनेय के विषय में निरूपण किया गया है। 'तु' पद का अभिप्राय है उक्त अभिनेय अर्थ के अतिरिक्त अर्थान्तर में (अन्य अर्थ में) भी अभिनय से साध्य है अर्थात् सिद्ध करने योग्य है ॥ १६१ ॥

१. ख. विज्ञेयो ।
२. क-म. विघट्टने ।
३. ग. उक्ताश्चेते ।
४. ग. स्वसंयुक्ताः ।
५. ग. अभिनयकरा ये त्विह ते ।

अन्यैरप्युक्तम्—

आकृत्या चेष्टया चिह्नैर्जात्या विज्ञाय [1]तत्पुनः ।
स्वयं [2]वितर्क्यं कर्तव्यं हस्ताभिनयनं बुधैः ॥१६२॥

[3]नास्ति कश्चिदहस्तस्तु [4]नाट्येऽर्थोऽभिनयं प्रति ।
यस्य[5] यद् दृश्यते रूपं बहुशस्तन्मयोदितम् ॥१६३॥

एवमभिनयमभिधायाभिनयान्तरमप्यस्तीति वर्शयति—नास्ति कश्चिदिति ।
नाट्यमिह तदुपयोगिनो विभावादयः। अत्र हेतुः यस्य यद्दृश्यत इति ॥१६२॥

अनुवाद—आकृति, चेष्टा, चिह्न, जाति से जानकर और स्वयं वितर्क (तर्क) करके विद्वानों को हस्तों का अभिनय करना चाहिए ॥ १६२ ॥

अभिनव—इस प्रकार हस्तभिनय को कहकर अन्य अभिनय भी हैं, यह दिखाते हैं—'नास्ति कश्चिदिति' ।

अनुवाद— नाट्य में कोई ऐसा अर्थ (पदार्थ) नहीं है जो विना हस्त के हो सकता हो। जिस हस्त का जैसा स्वरूप देखा है उसे मैंने बहुत प्रकार से कहा है ॥ १६३ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'नाट्य' पद का अर्थ है नाट्याभिनय के उपयोगी विभाव अनुभाव आदि। इसमें हेतु है—जिसका जैसा रूप देखा है उसे मैंने बहुत प्रकार से कहा है ॥ १६३ ॥

---

१. ख ते ह्यत्राप्यर्थतः ।
२. क-म. वस्तुतः ।
३. ख वितर्कात् ।
४. ख-ग. नास्ति कश्चित्तथा हस्तो ।
५. ख. नाट्यार्थाभिनयं प्रति ।
ग नाट्याभिनयनं प्रति ।
६. ग. यस्य संदृश्यते रूपं बहुशस्तन्मयोदितम् ।
क-म. दृश्यते बहुरूपस्तु येषां ते गदिता मया ।

अन्ये चाप्यर्थसंयुक्ता लौकिका[1] ये करास्त्विह ।
छन्दतस्ते [2]नियोक्तव्या रसभावविचेष्टितैः ॥१६४॥

एवमुक्तानामेवाभिनयानां साङ्कर्येण प्रयोगमनुज्ञायानुक्तमपि सङ्ग्रहीतुमाह—अन्ये चापीति ।

अर्थोऽभिनयसामर्थ्यं शोभातिशयः । छन्दत इति नाट्याचार्येच्छाप्रवाहानुसारीत्यर्थः । रसा स्थायिनः । भावाः सञ्चारिणः तत्सूचकानि यानि विचित्राणि सात्त्विकोपाङ्गानि तैः सह । एवं लोकधर्मीप्रदर्शने प्रसिद्धोदाहरणमात्रमभिनेयानां परिगणनमित्याख्येयम् ॥ १६४ ॥

अभिनव—इस प्रकार कहे हुए अभिनयों के साङ्कर्य से प्रयोग की अनुज्ञा देकर अनुक्त अभिनयों का सङ्ग्रह करने के लिए कहते हैं—

अनुवाद और अन्य भी जो अर्थों से संयुक्त लौकिक हस्त हैं उनका भी रस और भाव तथा उसके सूचक चेष्टाओं के साथ स्वेच्छानुसार प्रयोग करना चाहिए ॥ १६४ ॥

अभिनव—'अर्थ' का अभिप्राय है अभिनय-सामर्थ्य और शोभातिशय । 'छन्दतः' का अभिप्राय है नाट्याचार्य की इच्छा के प्रवाह के अनुसार । 'रस' से तात्पर्य है स्थायीभाव । 'भाव' से आशय है सञ्चारीभाव और उसके सूचक विचित्र सात्त्विक भाव और उसके उपाङ्ग, उनके साथ प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार लोकधर्मी इतिकर्त्तव्यता को दिखलाने के लिए प्रसिद्ध उदाहरणरूप अभिनेयों का परिगणन करना चाहिए ॥ १६४ ॥

---

१. क-म. ये ह्यन्ये लौकिका; कराः ।

२. क-ग. प्रयोक्तव्या ।

क-द. छन्दतस्तेऽपि योक्तव्यः ।

क-न. छन्दतस्तेऽपकर्त्तव्या ।

क-म छन्दतस्तेऽभिनेतव्याः ।

देशं कालं प्रयोगं [1]चाप्यर्थयुक्तिमवेक्ष्य च ।
हस्ता ह्येते प्रयोक्तव्याः [2]नृणां स्त्रीणां विशेषतः ॥१६५॥
सर्वेषामेव हस्तानां यानि कर्माणि सन्ति[3] हि ।
[4]तान्यहं संप्रवक्ष्यामि रसभावकृतानि[5] तु ॥१६६॥

देशः क्षेत्रविशेषः । प्रयोगः सुकुमारोद्धतरूपकविशेषः । अर्थस्य युक्तिरुपपत्तिः मुख्यगौणलाक्षणिकव्यङ्ग्यादिभेदेन । अवेक्ष्येति विचार्येत्यर्थः । प्रयोक्तव्या इति शक्यार्थे कृत्यः । विशेषत इति । पुरुषाणां तदपेक्षया सामान्या आचारा भवन्ति । अत एवोत्तमानामतिस्वल्पप्रचारो हस्ताभिनयः ॥ १६५ ॥

अनुवाद—देश, काल, प्रयोग और अर्थयुक्ति को देखकर पुरुषों के विशेष कर स्त्रियों के हस्तों का प्रयोग करना चाहिए ॥ १६५ ॥

अभिनव—'देश' का अर्थ है क्षेत्र विशेष । 'प्रयोग' का अभिप्राय है सुकुमार और उद्धत रूपक विशेष । 'अर्थयुक्ति' का आशय है अर्थ की युक्ति=उपपत्ति अर्थात् अर्थ-अभिधेय (मुख्य), गौण लाक्षणिक और व्यङ्ग्य आदि की उपपत्ति (युक्ति) । 'अवेक्ष्य' का अर्थ है विचार करके । 'प्रयोग करना चाहिए' (प्रयोक्तव्या) में शक्य अर्थ में कृत्य प्रत्यय है । 'विशेषतः' का तात्पर्य है पुरुषों के आचार स्त्रियों की अपेक्षा सामान्य होते हैं । अतएव उत्तम लोगों के हस्त के अभिनय में अति स्वल्प प्रचार होता है ॥ १६५ ॥

अनुवाद—अब मैं सभी हस्तों के रस और भावों से युक्त जो कर्म होते हैं उन सब को कहूँगा ॥ १६६ ॥

---

१. क-च. अर्थमुक्तिमवेक्ष्य च ।
२. ख. स्त्रीणां नृणां ।
क-म. स्त्रीणां नृणामथापि च ।
३. क-ग. सन्ति वै ।
४. क-म. तदहं ।
५ क-म. रसभावक्रियात्मकम् ।

उत्कर्षणं विकर्षणं तथा चैवापकर्षणम्[1] ।
[2]परिग्रहो निग्रहश्चाह्वानं नोदनमेव च ॥१६७॥
[3]संश्लेषश्च वियोगश्च रक्षणं मोक्षणं तथा ।
विक्षेपधूनने चैव [4]विसर्गस्तर्जनं तथा ॥१६८॥
छेदनं भेदनं चैव स्फोटनं मोटनं[5] तथा ।
[6]तोडनं चेति विज्ञेयं तज्ज्ञैः कर्म करान् प्रति ॥१६९॥

रसाभावकृतानीति । स्थायिसञ्चारिभेदेन तत्तद्विभावभेदवशादित्यर्थः । तथा हि केशानां विदूषकं प्रत्याकर्षणं खटकामुखेन, प्रियां प्रत्यरालेन, क्रीडायां कलहे च मुष्टिनेत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ॥ १६६ ॥

अभिनव—'रसभावकृतानि' से तात्पर्य है रस और भावों के अनुसार स्थायी और सञ्चारीभावो के भेदन से उन-उन विभावों के भेद के कारण हस्तकर्म होते हैं। जैसे विदूषक के प्रति केशों का आकर्षण (खींचना) खटकामुख हस्त से, प्रिया के प्रति बालों का आकर्षण अराल हस्त से और क्रीड़ा एवं कलह में बालों के खींचने का अभिनय मुष्टि हस्त के द्वारा होता है इत्यादि क्रियाओं की स्वयं उत्प्रेक्षा करनी चाहिए ॥ १६६ ॥

अनुवाद—उत्कर्षण (ऊपर खींचना), विकर्षण (खींचना), अपकर्षण (दूर खींचना) परिग्रह (ग्रहण), निग्रह (विनाश), आह्वान (बुलाना), नोदन (प्रेरणा पाठभेद से 'तोदन' अर्थात् व्यथन)' संश्लेष (संयोग), वियोग, रक्षण, मोक्षण, विक्षेप, धूनन (कम्पन) विसर्ग (त्याग), तर्जन (फटकार), छेदन, भेदन, स्फोटन (विकसित करना), मोटन (सङ्कोचन) और ताड़न इन्हें विद्वानों को हाथों का कर्म (क्रियाएँ) समझना चाहिए ॥ १६७ १६९ ॥

१. क-ग. तथा व्याकर्षणं पुनः । क-ज. तथा चाकर्षणं पुनः ।
२. ग. परिग्रहश्चाप्याह्वानं ताड़नं तर्जनं तथा ।
   ख. परिग्रहो निग्रहश्च आह्वानं नोदनं तथा ।
३. क-ड. संक्षेपश्च । क-म. संश्लेषोऽथ ।
४. ख, विसर्गस्तदनन्तरम् ।
५. क-प. तोटनं मोठनं चैव ताडनं मोटनं तथा ।
६. ख-ग. मोट्टनं तथा । ख-ग. चोटनं मोटनं तथा ।
७. क-प. स्फोटनं चैव ।

उत्तानः पार्श्वगश्चैव तथाऽधोमुख एव च ।
हस्तप्रचारस्त्रिविधो नाट्यतत्त्वसमाश्रयः ॥१७०॥

सर्वे [2]हस्तप्रचाराश्च प्रयोगेषु यथाविधिः ।
नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैः[3] कर्तव्या[4] व्यञ्जिता बुधैः ॥ १७१ ॥

उर्ध्वाधोदूरगमनादन्यथाकरणमुत्कर्षणादि । परिग्रहो मण्डलेन ग्रहणम् । निग्रहो विनाशनं, तोदनं प्रेरणं ताडनमाहननं विक्षेपः सावज्ञे त्यागः धूननं कम्पनम् । विसर्गः सादरं त्यागः, स्फोटनं विकासनं, मोटनं सङ्कोचनं, इति प्रकारे । एवं प्रकारेण अन्येऽपि ॥१६७-१६९॥

अभिनव ऊपर, नीचे और दूर गमन से अन्य प्रकार का करण उत्कर्षण आदि है अर्थात् ऊपर खींचना उत्कर्षण, अलग खींचना विकर्षण है और खींचकर दूर ले जाना अपकर्षण है। मण्डल से ग्रहण करना परिग्रह है। 'निग्रह' का अर्थ विनाशन है। नोदन पाठान्तर-तोदन का अर्थ प्रेरणा है। ताड़न का अर्थ आहनन है। अवज्ञापूर्वक त्याग विक्षेप है। 'धूनन' का अर्थ 'कम्पन' है। 'विसर्ग' का अर्थ सादर त्याग है। 'स्फोटन' का अर्थ विकासन है। 'मोटन' का अर्थ सङ्कुचित करना या मोड़ना है। 'इति' का अर्थ प्रकार है। इस प्रकार और भी कर्म होते हैं ॥१६७-१६९॥

अनुवाद—नाट्यसिद्धान्त के अनुसार हस्तप्रचार तीन प्रकार का होता है—उत्तान, पार्श्वग और अधोमुख। इन सभी हस्त प्रकारों के प्रयोग के समय शास्त्रोक्त विधि के अनुसार नेत्र, भौंह और मुखराग के द्वारा विद्वानों को व्यक्त करना चाहिए ॥ १७०-१७१ ॥

---

१. श्लोकोऽयं ख-ग. पुस्तकयोर्नास्ति ।
२. क-न सर्वे हस्तप्रकारास्तु ।
   क-म. सर्वहस्तप्रचारास्तु ।
३. ख. रागैश्च ।
४. क-ङ. कर्तव्यं जीवितं बुधैः ।
   क-ज. कर्तव्या व्यञ्जितमुखैः ।
   क-म. कर्तव्या रञ्जिता बुधैः ।

[1]करणं कर्मस्थानं [2]प्रचारयुक्तिं क्रियां च [3]संप्रेक्ष्य ।
हस्ताभिनयस्तज्ज्ञैः [4]कार्यो [5]लोकोपचारेण ॥ १७२ ॥

रसभावकृतानीति यदुक्तं तत्स्पष्टयितुमाह सर्वे नेत्रभ्रूमुखरागाद्यैर्व्यञ्जिताः कार्या इति । प्रचार उर्ध्वोद्वर्तनपार्श्वाधोमुखादिः । परोक्षाभिनये दृष्ट्यादयो हस्तानामनुगताः । प्रत्यक्षे तु विपर्ययः ॥ १७०-१७१ ॥

एतत्सर्वमुपसंहरति करणमिति ।

करणमावेष्टितादि, कर्म विधेयं स्थानं ललाटादिक्षेत्रं उत्तानादिसन्निवेशस्थितिश्च, प्रचारः स्वल्पादिः युक्तिमुख्यगौणाद्युपपत्तिः, न हि 'गौरयं ब्राह्मण' इत्यत्र मृगार्थो हरिणाभिनयेन कर्तरीमुखमृगशीर्षक प्रायेणाभिनीयते । अपि तु मौर्ख्याभिनये, चतुरशुकतुण्डशिखरनिषधप्रायेण । युक्तिश्च विशेषणविशेष्यभावादिविचारः । तद्यथा तद्गुणसंविज्ञाने बहुव्रीहौ वृत्तिपदार्थान्यपदार्थाः अभिनेयाः, सपुलकस्वेदोद्गमो-

अभिनव—'रसभाव कृतानि' यह जो कहा गया है उसे स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—सभी प्रकारों को नेत्र, भौंह और मुखराग से व्यक्त करना चाहिए । 'प्रचार' का अर्थ है ऊर्ध्व, उद्वर्त्तन, पार्श्व, अधोमुख आदि । परोक्ष अभिनय में दृष्टियों को हस्त के अनुगत रखना चाहिए और प्रत्यक्ष अभिनय में उसके विपरीत अर्थात् प्रतिकूल क्रम रहेगा ॥ १७०-१७१ ॥

अभिनव –इन सबका उपसंहार करते हैं—'करणमित्यादि' ।

अनुवाद—करण, कर्म-स्थान, प्रचार, युक्ति और क्रिया को देखकर लोक व्यवहार के अनुसार अभिनय विशेषज्ञ विद्वानों को हस्त का अभिनय करना चाहिए ॥ १७२ ॥

१. क-म. पुस्तके "करणं कर्मसंस्थानं प्रयोगं युक्तितः क्रियाम् ।
संलक्ष्य हस्ताभिनयः कार्यो लोकोपचारतः" इति पाठो दृश्यते ।
२. ख. ग. प्रकारयुक्ति ।
३. क–ग. समवेक्ष्य ।
४. क–ग. कार्यस्तज्ज्ञैः ।
५. क–ङ. लोकोपकारेण ।

कम्पयेति (रत्ना० १-१)। उपलक्षणविमुक्ते त्वन्यपदार्थमात्रं, तत्राप्युपलक्षणताप्रपत्त्यै वृत्तिपदार्थोऽप्यभिनेयः। स त्वनावेश इति तूपाध्यायाः। क्रिया त्रिधा विधिनिषेधानुभयरूपा। गच्छ मा गच्छेत्यादौ विधौ हि प्रत्ययार्थस्यैव, निषेधे चार्थस्यैव, अनुभयरूपे प्रकृत्यर्थस्यैव। 'अवतरत्वार्य' इत्यादौ तु न विधिः, अपि तु प्रकृत्यर्थमात्रं प्रदर्शयितव्यम्। लोटा तु स्वाभिप्रायमात्रं प्रकाश्यमानमप्रधानमिति प्रकृत्यर्थ एवाभिनेयः। अत्र व्यापकं हेतुमाह लोकोपचारेणेति ॥ १७२ ॥

अभिनव—'करण' का अर्थ है आवेष्टित आदि क्रियाएँ। 'कर्म' का अर्थ है विधेय (कर्त्तव्य)। 'स्थान' का अभिप्राय है ललाट आदि प्रदेश और उत्तान आदि का सन्निवेश एवं स्थिति। 'प्रचार' का अर्थ है स्वल्प आदि। 'युक्ति' का तात्पर्य है अर्थ के विषय में गौण-मुख्य आदि की उपपत्ति। 'यह ब्राह्मण गौ है' यहाँ पर पशुरूप अर्थ का कर्त्तरीमुख एवं मृगशीर्ष का प्रायः अभिनय नहीं होता। अपितु इस प्रकार की मूर्खता के अभिनय में चतुर, शुकतुण्ड, शिखर, निषध हस्तों का प्रायः प्रयोग होता है। विशेषण-विशेष्य-भाव आदि का विचार करना 'युक्ति' है। जैसे तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि में बृत्तिघटक पदार्थ तथा अन्य पदार्थ का अभिनय करना माहिए। जैसे—'सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया' (रत्ना० १।१) यहाँ पर पुलक (रोमाञ्च) स्वेद (पसीने) का निकलना और उत्कम्पन आदि वृत्तिघटक व्यापारों का अभिनय और पुलक (रोमाञ्च) आदि से युक्त व्यक्ति का भी अभिनय होता है। उपलक्षण से विमुक्त होने पर तो केवल अन्य पदार्थ का अभिनय होता है। उसमें भी उपलक्षणता की प्रतिपत्ति के लिए वृत्ति पदार्थ का अभिनय करना चाहिये। किन्तु वह अभिनय आवेश रहित होना चाहिए, यह हमारे उपाध्याय जी का मत है। क्रिया तीन प्रकार की होती है—विधिरूपा, निषेधरूपा और अनुभयरूपा। 'जाओ, मत जाओ' इत्यादि में विधि में प्रत्ययार्थ का अभिनय होता है, निषेध में अर्थ का और अनुभयरूपा क्रिया में केवल प्रकृत्यर्थ का अभिनय होता है। 'अवतरतु, आर्य !' इत्यादि में तो विधि नहीं, अपितु केवल प्रकृत्यर्थ ही प्रदर्शन करना चाहिए। 'लोट्' लकार में प्रत्यय से केवल अपने अभिप्राय का प्रकाशन होता है, विधि अप्रधान है अतः प्रकृत्यर्थ का ही अभिनय करना चाहिये। इसके व्यापक हेतु को कहते हैं कि ऐसा लोकोपचार अर्थात् लोकव्यवहार है ॥ १७२ ॥

[1]उत्तमानां कराः कार्या ललाटक्षेत्रचारिणः ।
[2]वक्षःस्थाश्चैव मध्यानामधमानामधोगताः ॥ १७३ ॥

करणं कर्मेत्यत्र स्थानमुक्तम् । तद्विभजत्युत्तमानामिति ।

उत्तमे सुवर्णादिद्रव्ये सन्निकृष्टाः । मध्यमे मध्यमाः । अधमे विप्रकृष्टाः । ललाटादिशब्दानामुपलक्षणार्थत्वादिति केचित् । एतेषु क्षेत्रेषु वर्तनानिवेशपूर्वकमुत्तमादयो राजामात्यविदूषकादयोऽभिनयान् यथोचित एवाभिनयस्थाने कुर्युरित्यनेनोत्तमा देवतागुरुनृपादयो यदा निर्दिश्यन्ते तदा ललाटक्षेत्रचारिभिः अञ्जल्यादिहस्तैः, मध्यमास्तु चतुरादिभिर्वक्षक्षेत्रचरैः, अधमाः शुकतुण्डाद्यैरधःक्षेत्रचरैः । तेन चन्द्रतारादिदर्शनेऽधमस्यापि ललाटक्षेत्रचरा हस्ता इत्यादि न विरुद्धमिति । इदं च युक्ततरमित्युपाध्यायाः—ये चतुरारालाद्यैः सत्यानृतगाम्भीर्यशौण्डीर्यादिविरुद्धविषया उक्तास्तेषां विभागार्थमिदं वचनम् । ये धान्यादय उत्तमा अर्थास्तेषामभिनये ललाटक्षेत्रगत्वमित्यादिक्रमेण ॥ १७३ ॥

अभिनव—हस्ताभिनय के प्रसङ्ग में करण और कर्म को कह दिया गया है। अब स्थान और उनका विभाजन करते हैं—'उत्तमानाभित्यादि'।

अनुवाद—उत्तम पात्रों के हस्तों को मस्तक प्रदेश के समीप, मध्यम पात्रों के हस्तों को वक्षःस्थल के समीप और अधम पात्रों के करों को अधोभाग में रखना चाहिए ॥ १७३ ॥

अभिनव—उत्तम अर्थात् सुवर्णादि द्रव्य में सन्निकृष्ट, मध्यम में मध्यम और अधम में विप्रकृष्ट हस्तों का अभिनय होता है। लोटादि शब्द यहाँ उपलक्षण है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। इन ललाट, वक्ष आदि क्षेत्रों में वर्त्तना के निवेश के साथ उत्तमादि राजा, आमात्य, विदूषक आदि यथोचित अभिनय स्थान पर अभिनयों को करें। इससे यह बताया गया है कि देवता, गुरु, नृप, आदि उत्तम पुरुष जब अभिनय करें तब ललाट क्षेत्रचारी अञ्जलि आदि हस्तों से, अमात्य आदि मध्यम पात्र वक्षःक्षेत्रचारी चतुर आदि हस्तों से तथा विदूषक आदि अधम पात्र अधःक्षेत्रचारी शुकतुण्ड आदि हस्तों से अभिनय करें। इससे यह सूचित होता है कि

१. क–म. कार्या करा ह्युत्तमानां ।
२. क–प. मध्यानामखिलानां च वक्षो नाभिगतास्तथा ।

ज्येष्ठे[1] स्वल्पप्रचाराः स्युर्मध्ये मध्यविचारिणः[2] ।
अधमेषु [3]प्रकीर्णाश्च हस्ताः कार्याः प्रयोक्तृभिः ॥ १७४ ॥

अभिनयगतं विशेषान्तरमप्याह ज्येष्ठे स्वल्पप्रचाराः स्युरित्यादि ।

प्रयोगे ज्येष्ठे नाटकादौ चतुर्वर्गोपायोपदेशिनि प्रत्यक्षताप्राधान्यादल्पो हस्ताभिनयो, मध्यमे तु रञ्जनाफले भाणकादौ मध्यमः प्रत्यक्षे हि तत्राकाशभाषितप्राधान्यात् । अधमे तु नृत्तकाव्ये षिद्गकादौ च प्रकीर्ण इति केचित् । एतत्त्वव्यवस्थितत्वादयुक्तम् । नाटकेऽपि भूयस्त्वमस्य । परस्थस्याभिनेयत्वे उत्तमपात्रेण तु प्रधान एवाभिनयः कार्यो न विशेषणम्, अस्मिन्नाट्ये गृहीतविशेषणा विशेष्यधीरिति मन्यमाना एतदमृष्यन्तोऽन्ये त्वाहुः—यत्र पदार्थसमुदायो ह्येकेनाभिनयेन शक्यप्रतिपत्तिरनेकेन वा चलत्वात् । तद्यथा—

चन्द्रमा, तारा आदि के दर्शन के समय अधम व्यक्ति के भी हाथ ललाट क्षेत्रचारी होते हैं, इत्यादि बचन विरुद्ध नहीं है । हमारे उपाध्याय जी कहते हैं कि यह अत्यन्त युक्त है कि जो चतुर एवं अराल आदि हस्त सत्य के विरुद्ध अनृत (झूठ) और गाम्भीर्य के विरुद्ध शौण्डीर्यादि विषय कहे गये है उनके विभाग के लिए यह कथन है। जो धान्य आदि उत्तम पदार्थ हैं उनके अभिनय में ललाट क्षेत्रचारी हस्त होने चाहिए, इत्यादि क्रम है ॥ १७३ ॥

अभिनव—अभिनयगत अन्य विशेषताओं को भी कहते हैं–'ज्येष्ठ में स्वल्प हस्त प्रचार हों, इत्यादि ।

अनुवाद—नाट्य-प्रयोक्ताओं को ज्येष्ठ अभिनय में हस्तों का स्वल्प प्रचार होना चाहिए, मध्य-अभिनय में मध्य प्रचार और अधमों में प्रकोर्ण प्रचार वाले हस्तों का प्रयोग करना चाहिये ॥ १७४ ॥

अभिनव—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग का उपदेश देने वाले ज्येष्ठ नाटक आदि के प्रयोग में प्रत्यक्ष को प्रधानता होने के कारण स्वल्प हस्ताभिनय करे, रञ्जक फल वाले मध्यम भाण आदि के प्रयोग में मध्यम हस्ताभिनय करे, क्यों कि प्रत्यक्ष होने पर भी यहाँ आकाशभाषित की प्रधानता है । अधम नृत्तकाव्य षिद्गक

---

१. क. मध्ये कुर्वीत मध्यमैः ।

२. क-ड. ज्येष्ठेष्वल्पप्रचाराः ।

३. ख. प्रकीर्णास्तु ।

या स्रष्टुः सृष्टिराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वेकालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनो प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।

(अभि० १।१) इत्यत्र।

तत्रैक एव जलहुताशनाभिनय उत्तमेन प्रयोज्यः। अधमेन त्वनेकश्च चलस्वभावत्वात्। मध्यमेन मध्यम इति प्रचारो वर्तना योत्तमेऽल्पेति वा। एतत्तु शोभाविच्युतिकारित्वात्, "अथ नयनसमुत्थं" (रघु० २-७५) इत्यादौ प्रयत्नोपहृतस्य पदार्थे वाक्यरचनमित्यस्य प्रौढत्वस्याभिनये नानुसरणप्रसङ्गान्नाद्रियते।

आदि में प्रकीर्ण हस्त का अभिनय करे, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, किन्तु अव्यवस्थित होने के कारण यह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि नाटकों में भी इसका (हस्ताभिनय का) बाहुल्य देखा जाता है। दूसरे में रहने वाले अभिनेयता में उत्तमपात्र के द्वारा प्रधान का ही अभिनय करना चाहिए, ताकि विशेषण (अप्रधान की) इस नाट्य में 'विशेषणों का ज्ञान करके ही विशेष्य की बुद्धि होती है' इस सिद्धान्त को मानने वाले पूर्वोक्त कथन को सहन न करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर पदार्थ समुदाय अभिनेय है वहाँ पदार्थ समुदाय का एक ही अभिनय से समझा जा सकता है अथवा अनेक अभिनय से? क्योंकि वह चल है। जैसे —

या स्रष्टुः सृष्टिराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा स्थिता व्याप्य विश्वम्॥
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥ (अभि० १।१)

अभिनव—यहाँ पर उत्तम पात्र के द्वारा जल, हुताशन (अग्नि) आदि पदार्थ समुदाय का एक ही अभिनय प्रयोज्य है। अभिनयों के चल स्वभाव होने के कारण अधम के द्वारा अनेक अभिनय प्रयोज्य हैं, मध्यम के द्वारा मध्यम अभिनय करणीय है। प्रचार का अर्थ वर्त्तना है जो उत्तम पात्र में अल्प होती है। किन्तु यह शोभा को विच्युत करने वाली है। 'अथ नयनसमुत्थ' (रघु० २।७५) इत्यादि में प्रयत्न से लाये गये पदार्थ में वाक्य की रचना का प्रौढ़ के अभिनय में अनुसरण का प्रसङ्ग न होने से आदरणीय नहीं है।

ये परिमितमभिनेयं गमयन्ति ते स्फुटमेवार्थस्य गमकाः। अर्थप्रकरणादेस्तत्र सुखेन सहायत्वात् अनन्तार्थजातव्यवच्छेदकत्वं हि क्लेशः। तादृशा उत्तमप्रकृतिषु हस्ताः। अधमास्तु यथावचनं श्लिष्टमाहुस्तथा प्रकीर्णभूयस्त्वमभिनेये सन्दिह्यमानस्याभिनयायत्तमुत्कर्षणं विकर्षणमित्यादि—एवं केचित्।

अपरे त्वाहुः प्रचारस्त्रिधा पञ्चधा च वक्ष्यते तत्रोत्तमस्य च फलत्वादेकरस एवोत्तानादिकः प्रचारः, अधमस्य त्वतिसंकीर्ण इति। इदन्त्वत्र युक्ततमम्—ज्येष्ठेऽभिनये प्रत्यक्षवर्तमानात्मज्ञस्थविषये हस्तव्यापारोऽल्पः। इदन्त्वत्र युक्ततमम्—ज्येष्ठेऽभिनये प्रत्यक्षवर्तमानात्मज्ञस्थविषये हस्तव्यापारोऽल्पः। "हिअअ समस्सस" (शाकु० अ० ७) इत्यादौ। तथा "तन्वी मेघजलार्द्रवल्कलतया" (विक्रमो० ४।३८) इत्यादौ। अत्र हि सात्त्विकभूयस्त्वात् ज्येष्ठत्वम्। अप्रत्यक्षभाविभूतपरस्थरूपे तु सात्विकावकाशाभावोऽनावेशादिति तत्राधमोऽभिनयः, "सत्त्वहीनोऽधमः स्मृतः" (२२-२) इति वचनात्। तत्र विप्रकीर्णा विक्षिप्ता बहुलतमा हस्ताः। यथा कुञ्जरकसुन्दरकादीनां परस्थवृत्तयुद्धवर्णने। एतद्व्यतिरिक्ते तु मध्यमो हस्तप्रयोगः। यथा विदूषकेण प्रत्यक्षं दृश्यमाने नानावस्थावेशकारिणि उद्यानादिवर्णने॥ १७४॥

अभिनव—जो परमित अभिनय के गमक हैं वे स्फुट रूप में ही अर्थ के गमक होते हैं। उनमें अर्थ, प्रकरण आदि सुख से सहायक होते हैं और अपरमित अभिनेय है वहाँ अनन्त अर्थों के व्यवच्छेदन में क्लेश होता है। उसी प्रकार ही उत्तम प्रकृति के हाथ होते हैं। अधम तो यथावचन श्लिष्ट और प्रकीर्ण भूयस्त्व को कहते हैं। अभिनेय में सन्दिह्यमान अभिनय के अधीन पदार्थों का उत्कर्षण और विकर्षण होगा, इत्यादि। इस प्रकार कुछ लोगों कथन है।

अभिनव—अन्य लोग तो कहते हैं कि प्रचार के तीन और पांच भेदों को आगे कहेंगे। उनमें सफल होने से उत्तम का उत्तान आदि एक रस ही प्रचार है, अधम का तो अत्यन्त सङ्कीर्ण है। यह तो यहाँ अत्यन्त समीचीन है कि ज्येष्ठ अभिनय में प्रत्यक्ष अर्थात् वर्तमानकालिक प्रत्यक्षज्ञान के विषय में हस्ताभिनय अल्प होता है। जैसे 'हिअअ समस्सस' (हृदय समाश्वसिहि—शाकु० सप्तम अङ्क) इत्यादि में। और 'तन्वी मेघजलार्द्रवल्कलतया' (विक्रमो० ४।३८) इत्यादि में।

लक्षणव्यञ्जिता हस्ताः कार्यास्तूत्तममध्यमैः ।
[1]लोकक्रियास्वभावेन नोचैरप्यर्थसंश्रयाः[2] ॥ १७५ ॥
अथवान्यादृशं प्राप्य प्रयोगं कालमेव च ।
[3]विपरीताश्रया हस्ताः प्रयोक्तव्या [4]बुधैर्नरैः ॥ १७६ ॥

लक्षणं सौष्ठवं लक्ष्यते । "सौष्ठवं लक्षणं प्रोक्तं वर्तनाक्रमयोजितम् । (१०-७७) इति" तद्धीना अधमानाम् ॥ १७५ ॥

इनमें सात्त्विक भाव का बाहुल्य होने से ज्येष्ठता है। अप्रत्यक्ष अर्थात् भावी एवं भूत कालिक परस्थ रूप में आवेश न होने से सात्त्विक भावों के अवकाश का अभाव है। अतः सात्त्विक भावों से रहित अभिनय अधम है। अधम अभिनय में विप्रकीर्ण बहुल हस्त होते है, जैसे कुञ्जरक और सुन्दरक आदि के परस्थ वृत्त युद्ध के वर्णन में। इनके अतिरिक्त अर्थात् उत्तम और 'अधम अभिनयों के अतिरिक्त मध्यम हस्त का प्रयोग होता है। जैसे विदूषक के द्वारा प्रत्यक्ष दृश्यमान नाना अवस्था और आवेशकारी उद्यान आदि के वर्णन में हस्ताभिनय किया जाता है ॥ १७४ ॥

अनुवाद--उत्तम और मध्यम पात्रों द्वारा लक्षणों को अभिव्यक्त करने वाले हस्तों का प्रयोग करना चाहिए और अधम पात्रों द्वारा लोक स्वभाव के अनुसार अर्थाश्रित हस्ताभिनय करना चाहिए ॥ १७५ ॥

अभिनव—लक्षण का अर्थ सौष्ठव है। वर्त्तनाक्रम से योजित सौष्ठव लक्षण कहा गया है। अधम पात्रों का हस्तप्रयोग इन लक्षणों से रहित होता है ॥ १७५ ॥

अनुवाद—अथवा अन्य प्रकार के प्रयोग और काल (समय) को प्राप्त करके विद्वान् विपरीत अर्थ के आधार पर हस्तों का प्रयोग करें अथवा न करें ॥ १७६ ॥

---

१. क नीचक्रियास्वभावेन ।

२. क–म. नीचैरप्यर्थसंश्रयाः ।

३. क. विपरीतक्रिया ।

४. क. बुधैर्न वा ।

विषण्णे मूर्च्छिते भीते[1] जुगुप्साशोकपीडिते ।
ग्लाने [2]स्वप्ने विहस्ते च निश्चेष्टे तन्द्रिते जड़े ॥ १७७ ॥

[3]व्याधिग्रस्ते जरार्ते च भयार्ते शीतविप्लुते ।
मत्ते प्रमत्ते चोन्मत्ते चिन्तायां तपसि स्थिते ॥ १७८ ॥

[4]हिमवर्षहते बद्धे वारिणाप्लवसंश्रिते ।
स्वप्नायिते च संभ्रान्ते नतसंस्फोटने [5]तथा ॥ १७९ ॥

[6]न हस्ताभिनयः कार्यः कार्यः सत्त्वस्य संग्रह[7] ।
[8]तथा काकुविशेषश्च नानाभावरसान्वितः[9] ॥ १८० ॥

अथवेत्यादि । अन्येत्वाहुः—यादृग्येषां लक्षणमुक्तं ततोऽन्यथाऽपरिपूर्णश्लिष्टाकृतयोऽभिनयाद्धीनानां श्लिष्टवर्णोच्चारणवदिति । विपरीतेति भयजुगुप्साविप्रयोगे शीतकालादियोगे च सौष्ठवमस्फुटाकृतित्वं, अवहित्थादौ चासौष्ठवयोगेऽपि सौष्ठवमित्यादि वैपरीत्यम् ॥ १७६ ॥

अभिनव--अथवेत्यादि । अन्य लोग तो कहते हैं कि जिनका जैसा लक्षण कहा गया है, उनसे भिन्न अपरिपूर्ण और श्लिष्ट आकृति वाले हस्ताभिनयों का अभिनय से हीन व्यक्तियों के अपूर्ण और श्लिष्ट वर्णोच्चारण के समान प्रयोग करना चाहिए। 'विपरीत' का अभिप्राय है कि भय, जुगुप्सा आदि के प्रयोग में और शीत, वर्षा आदि के योग में हस्तों की अस्फुट स्थिति ही सौष्ठव है और अवहित्थ आदि में सौष्ठव की योजना न करना ही सौष्ठव है, यही विपरीतता है ॥ १७६ ॥

---

१. क. ह्रीते । २ ख. ग. सुप्ते ।
३. क-म पुस्तके "व्याधिग्रस्ते ज्वरार्ते च तपश्श्रान्ते भयान्विते ।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु शोकार्ते शीतविप्लुते" । इति पाठो दृश्यते ।
४. ख. ग. हिमवर्षगते बन्धे हरिणप्लवसंश्रिते ।
५. ख. ग. नतसंस्फोटने तथा ।
६ ख तथा हस्ताभिनयः कार्यः ।
७. ख. ग. कार्यः सत्त्वसमाश्रयः ।
८. ख. ग. तथाकारविशेषश्च ।
९. क. नानार्थरसभावकः ।

विहस्तो हस्तवैकल्याधानं, मत्तो मद्येन, प्रमत्तः प्रमादात्, उन्मत्तोऽपस्मारी ॥ १७७-१७८ ॥

किं सर्वं एवात्र हस्ताभिनय इत्याशङ्क्य प्रतिप्रसवार्थमाह कार्यं इति। ये हस्ता आन्तरीं चित्तवृत्तिं सूचयन्ति। कपोतक इव भयं, कर्कटक इव मदनविजृम्भां, दोल इव शोकं, शुकतुण्ड इवेर्ष्यां, ते कार्या एव, सात्त्विकवदनुभावस्य भावत्वात्ते तेषां सात्त्विकश्च कार्यं एवेत्यावृत्त्या। ये तु बाह्यद्रव्यगुणादिगमकास्ते न कर्तव्या इति ॥ १८० ॥

अनुवाद—विषण्ण (खिन्न), मूर्च्छित, भीत (पाठभेद से हीन-लज्जित), जुगुप्सा (घृणा) शोक-पीड़ित, ग्लान (मलिन), सुप्त, विहस्त (लूला), निश्चेष्ट, तन्द्रित, जड़, व्याधिग्रस्त, जरा-जीर्ण (बुढ़ापे से पीड़ित), भयार्त्त (भय से पीड़ित) शीत से कम्पित, मत्त, प्रमत्त, उन्मत्त, चिन्ता, तपस्वी, हिम (बर्फ) और वर्षा से आहत, बद्ध (जेल में बन्द), जल से आप्लुत, स्वप्नायित (स्वप्न में बड़बड़ाना) सम्भ्रान्त, नत और संस्फोटन की दशा में हस्ताभिनय नहीं करना चाहिए, सत्त्व का सञ्चय करना चाहिए और नाना प्रकार के अर्थ रस और भावों के अभिव्यञ्जक काकुविशेष का अभिनय करना चाहिए ॥ १७७–१८० ॥

अभिनव—'विहस्त' का आशय हाथ में विकलता है। 'मत्त' का अर्थ है मदपान से मत्त होना। 'प्रमत्त' का अर्थ है प्रमाद से युक्त और 'उन्मत्त' का अर्थ अपस्मार से युक्त होना है।

अभिनव क्या सभी हस्ताभिनय यहाँ होते हैं? इस प्रकार आशङ्का करके प्रत्ययवाद के लिए कहते हैं 'कार्यं' इति। जो हस्त आन्तरी (भीतरी) चित्तवृत्ति को सूचित करते हैं। उन्हें अवश्य किया जाय। जैसे कपोत हस्त भय को, कर्कटक हस्त मदनविजृम्भण को, दोलहस्त शोक को, शुकतुण्ड हस्त ईर्ष्या को सूचित करता है, उन्हें अवश्य ही करना चाहिए। सात्त्विक के समान अनुभाव के भाव होने से सात्त्विक भाव को आवृत्ति से करना ही चाहिए, किन्तु जो बाह्य द्रव्यनिष्ठ गुणों के गमक है उन्हें नहीं करना चाहिए ॥ १७९–१८० ॥

[1]यत्र व्यग्रावुभौ हस्तौ तत्तद् दृष्टिविलोकनैः[2] ।
[3]वाचिकाभिनयं कुर्याद्विरामैरर्थदर्शकैः ॥ १८१ ॥
उत्तानः पार्श्वगश्चैव तथाऽधोमुख एव च ।
प्रचारस्त्रिविधोऽङ्गानां नाट्यनृत्तसमाश्रयः ॥ १८२ ॥

यत्र तु सर्व एव न कर्तव्यास्तं विषयमाह यत्र व्यग्राविति ।

यथा सारथेः प्रतोदरश्मिव्यग्रहस्ततायाम् । विलोकनैरिति विलोक्यते चित्तवृत्तिरनेनेति मुखरागादि, कुर्यादिति स्फुटयेदित्यर्थः । अर्थदर्शकैरिति अनुवृत्तिलक्षणोपरोधकृतैरित्यर्थः ॥ १८१ ॥

हस्तानां दिग्भेदावस्थानकृतं प्रचारमाह—उत्तान इत्यादि ।

अभिनव—जहाँ पर सभी हस्ताभिनय नहीं करना चाहिए, उस विषय को कहते हैं—'यदा व्यग्रौ' इत्यादि ।

अनुवाद—उन-उन विभिन्न दृष्टियों के विलोकन से यदि दोनों हाथों का संचार व्यग्र हो जाय तो अर्थदर्शक विरामों के साथ वाचिक अभिनय करना चाहिए ॥ १८१ ॥

अभिनव—जिस प्रकार सारथि के द्वारा चाबुक एवं लगाम को संभालने में दोनों हाथों के व्यग्र रहने पर हस्ताभिनय नहीं हो सकता । 'विलोकनैः' पद से चित्तवृत्ति मालूम पड़ जाने पर कि यह किस चित्तवृत्ति का है, वे मुखराग आदि, उनका अस्फुट रूप से अभिनय करे । 'अर्थदर्शक' पद का अभिप्राय है, अनुवृत्ति लक्षणोपरोध से किये गये विरामों के साथ ॥ १८१ ॥

अभिनव—दिग्भेद के अवस्थानभूत हस्तप्रचार को कहते हैं—'उत्तान' इत्यादि ।

अनुवाद—बाह्य और नृत्य में किये जाने वाले अङ्गों के प्रचार तीन प्रकार के होते हैं—उत्तान, पार्श्वग और अधोमुख ॥ १८२ ॥

---

१. ख. म. यथा ।
२. ख. यत्र दृष्टिविलोकितैः ।
ग. तत्र दृष्टिविलोकनैः ।
३. अयं श्लोकार्धः 'ख' पुस्तके नास्ति ।

अन्ये तु—

[1]उत्तानो वर्त्तुलस्त्र्यश्रः स्थितोऽधोमुख एव च।
[3]पञ्च प्रकारा हस्तस्य नाट्यनृत्तसमाश्रयाः ॥ १८३ ॥

यथा 'विरचितमुर्वीसंस्थ' मित्यभिनये (९।२२) पताकः। यथा वा जिह्वाभिनये आस्यक्षेत्रगोऽग्रगस्त्रिपताकः। पार्श्वगो यथा धनुरभिनये मुष्टिः। अधोमुखो यथा समुद्राभिनये ललाटक्षेत्रगः स्वस्तिकपताकः। यथा "संवृतविवृतं पाल्यमित्यत्र" त्रिपताकः। उत्तानोऽधस्तलस्त्र्यश्रोऽग्रगोऽधोमुख एव च। पञ्च प्रकारा हस्तस्येति भट्टोद्भटः पठति। तत्राधस्तलेऽधोमुखोऽन्तर्भूतः। उत्तानेऽग्रगः त्र्यश्रः त्रिपार्श्वग एव। अत्रापि तु समविषमत्र्यश्रिताद्यवान्तरभेद उत्तानादेर्भवति। इत्थं त्रैविध्यमेव युक्तम् तत्र रसनिष्पादनमभिनयस्य वस्त्वित्युक्तं तत्र करणमनुभावात्मकं, तत्राङ्गहारा करणसञ्चयाः। करणस्य च लक्षणमुक्तम् "यानि स्थानानि याश्चार्यो नृत्तहस्तास्तथैव च" (४-६०) इत्यादि। तत्र स्थानकचार्यः स्वक्षेत्रे (अ-१३) लक्षयिष्यन्ते ॥ १८१-१८२ ॥

अनुवाद—नाटच और नृत्त में किये जाने वाले हाथों के पाँच प्रकार हैं—उत्तान, वर्त्तुल, त्र्यस्त्र, स्थित और अधोमुख ॥ १८३ ॥

अभिनव—जैसे 'विरचितमुर्वीसंस्थम्' अर्थात् 'पृथ्वी पर निर्माण किया' इस अभिनय में पताकहस्त उत्तान है अथवा जैसे जिह्वा के अभिनय में मुखक्षेत्र में जाने वाला अग्रग त्रिपताक हस्त है। पार्श्वगत जैसे धनुष के अभिनय में मुष्टिहस्त का प्रयोग। अधोमुख जैसे समुद्र के अभिनय में ललाट क्षेत्रगत स्वस्तिक पताक हस्त है। जैसे—'संवृत-विवृत्त पाल्य है, यहाँ पताकहस्त'। उत्तान, अधस्तल, त्र्यस्र, अग्रग और अधोमुख ये पाँच प्रकार के हस्त प्रचार है ऐसा भट्टोद्भट्ट कहते हैं।

---

१. ख. उत्तानोऽधस्तलस्तिर्यगूर्ध्वाधोमुख एव च।
हस्तप्रचारा विज्ञेया नाट्ये नृत्ते च पञ्चधा ॥
२. क-ङ. उत्तानोऽधस्तलस्तिर्यगूर्ध्वाधोमुख एव च।
क-म. उत्तानोऽधस्तलस्त्र्यस्रः ऊर्ध्वाधोमुख एव च ॥
३. ख. हस्तप्रचारा विज्ञेया नाट्ये नृत्ते च पञ्चधा।
क-द. हस्तप्रचारस्त्रिविधो नाट्यनृत्तसमाश्रयः।
क-न. हस्तप्रचारस्त्रिविधा नाट्यनृत्तसमाश्रिताः ॥

एवं ज्ञेयाः करा ह्येते नानाभिनयसंश्रिताः[1]।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि हस्तान्[2] नृत्तसमाश्रयान् ॥ १८४ ॥

हस्तप्रसङ्गान्नृत्तहस्ता वक्तव्याः। किञ्चाभिनयकृताप्येषां क्वचिद्व्याकर्तुं यथा लताहस्तौ प्रतिपद्येते नृत्ताभिनयनं प्रति (९–२००) यथा वा करिहस्तस्य हस्त्यभिनयनम्।

एवं चतुरश्रादीनामपि प्रयोगवशात् द्रष्टव्यमित्याशयेनाह—अत उर्ध्वमिति। वृत्तस्य करणात्मकस्याश्रयाद्धेतुता। एभ्योऽभिनयहस्तेभ्य उर्ध्वमित्येतद्गणना पृठेऽभिनयनहस्तत्वेनापि गणनायोग्यादित्यर्थः ॥ १८४ ॥

उनका खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि उनमें अधस्तल में अधोमुख अन्तर्भूत है। उत्तान में अग्रग और त्रिपार्श्वगत हस्त में त्र्यस्र अन्तर्भूत है। यहाँ पर उत्तान आदि के सम, विषम, त्र्यश्रित आदि अवान्तर भेद होते हैं। इस प्रकार हस्त प्रचार के तीन प्रकार ही (त्रैविध्य ही) युक्त है। वहाँ रस का निष्पादन अभिनय की वस्तु है, ऐसा कहा है। उसमें करण अनुभावात्मक है। वहाँ अङ्गहार करणों का सञ्चय है। करण का लक्षण पहिले कहा गया है जो स्थान, जो चारियाँ और जो नृत्तहस्त है, उन्हें नृत्तमातृका समझनी चाहिए और उनके योग से 'करण' होता है। उनमें स्थानक और चारी का अपने क्षेत्र में (तेरहवें अध्याय में) लक्षण करेंगे ॥ १८२–१८३ ॥

अनुवाद—इस प्रकार के अभिनयों के समाश्रित इन करों (हस्तों) को समझना चाहिए। इसके बाद नृत्त के समाश्रित नृत हस्तों को कहूँगा ॥ १८४ ॥

अभिनव—हस्ताभिनयों के निरूपण करने का प्रसङ्ग होने से नृत्तहस्तों को कहते हैं। और भी अभिनयकर्त्ता भी कहीं पर उसकी व्याख्या करने के लिए जैसे नृत्ताभिनय के विषय में लताहस्त प्रतिपन्न होता है और जैसे हाथी के अभिनय में करिहस्त का प्रयोग होता है।

१. क. ख. नानाभिनयसंश्रयाः।
क–म. नानार्थरससम्भवा।
२. क–ग. करान्।

¹वक्षसोऽष्टाङ्गुलस्थौ तु प्राङ्मुखौ² खटकामुखौ³ ।
समानकूर्परांसौ तु चतुरस्रौ प्रकीर्तितौ ॥ १८५ ॥

तत्र चातुरश्र्यमूलं नृत्तेऽङ्गस्य जीवितमिति तन्निमित्तभुवौ चतुरश्रौ तावदाह वक्षस इति ।

वक्षोऽतिक्रम्य योऽष्टाङ्गुलो देशः तत्रस्थौ परस्परं त्वष्टाङ्गुलान्तरत्वात् प्रत्युत चातुरश्र्यं भवतीत्युत्प्रेक्ष्येमेव । प्राङ्मुखाविति यत्संमुखः प्रयोक्ता यत्संमुखावेव, न

अभिनव—इस प्रकार प्रयोग के अनुसार चतुरस्र आदि को भी देखना चाहिए, इस आशय से कहते हैं 'अत ऊर्ध्वम्' इत्यादि। करणात्मक नृत्त के आश्रय से इसमें हेतुता है। इन अभिनय हस्तों के बाद इस प्रकार की गणना के पृष्ठ पर अभिनय के हस्त के रूप में गणना करना उचित है, यह इसका अर्थ है ॥ १८४ ॥

विमर्श—नृतहस्त हस्त, पाद और शरीर के सामञ्जस्य से सौन्दर्य (शोभा) उत्पन्न करते है और नृत्य को शोभायुक्त बनाते हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्गों के सौन्दर्य-वर्धन में नृत्त-हस्तों का बड़ा हाथ रहता है। इसलिए नृतहस्तों को नृत्य का अलङ्कार कहा गया है। इन नृतहस्तों को उत्पत्ति असंयुत और संयुत हस्ताभिनय के विविध रूपों के आधार पर होतीं है। नाट्यशास्त्र में तीस नृत्तहस्तों का विवेचन है जब कि भरतार्णव में बाईस (१६ + ६ = २२) नृत्तहस्त वणित हैं। अभिनयदर्पण में तेरह नृत्तहस्तों का निरूपण है। नृत्तरत्नावली और सङ्गीतरत्नाकर में नाट्यशास्त्र के समान तीस नृत्तहस्तों का विवेचन है ॥ १८४ ॥

३. नृत्तहस्त

१. चतुरस्र नृत्तहस्त

अभिनव—चातुरश्र्य मूलक नृत्त में नृत्त अङ्ग का जीवन है। इन नृत्तों की निमित्तभूमि चतुरश्र नृत्तहस्तों को कहते हैं–'वक्षसि' इत्यादि।

अनुवाद—वक्षःस्थल से आठ अङ्गुल की दूरी पर स्थित दोनों खटकामुख हस्त प्राङ्मुख (सामने) हों और दोनों कोहनियाँ तथा कन्धे समान रूप में सन्तुलित हों तो 'चतुरस्र' नृतहस्त कहलाता है ॥ १८५ ॥

१. ख. वक्षस्थोऽष्टाङ्गुलस्थौ ।
   क–ड. वक्षस्याष्ठाङ्गुलस्थौ च ।
२. पराङ्मुखाविति सोमेश्वरः । संमुखविति भोजः ।
३. ख. खटकामुखो ।

हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तौ तालवृन्तवत् ।
उद्वृत्ताविति विज्ञेयावथवा तालवृन्तकौ ॥ १८६ ॥

तु प्रयोक्तृसंमुखौ । कूर्परयोरंसयोश्च तुलाधारणवत्समत्वमवैषम्यम् । अङ्गचातुरश्र्यदानाच्चतुरश्रौ । आकर्षणविशेष एवायमभिनयोऽपि द्विवचनादपवादविहीनत्वे द्वयोरेव प्रयोग उपपादनोयो हेतुर्हस्तान्तरस्य द्वितीयप्रकारयोगेऽपि केवलस्यैव चतुरश्रतापदेश एव, तुल्यरूपत्वाच्च न चतुष्षष्टिताव्याहतिरिति । एवं सर्वत्र ॥ १८३-१८४ ॥

अथोद्वृत्तौ हंसपक्षकृताविति ।

अभिनव—वक्ष का अतिक्रमण कर अर्थात् वक्षःस्थल से हटकर जो अष्टाङ्गुल प्रदेश है उसमें स्थित दोनों हाथों में परस्पर आठ अङ्गुल का अन्तर होने से हाथों में चातुरश्र्य होता है, इसकी उत्प्रेक्षा करनी चाहिए। 'प्राङ्मुखौ' कहने का अभिप्राय है कि नाट्यप्रयोक्ता जिसके सम्मुख हो उसी के सम्मुख चतुरश्र हस्त भी होगा न कि उसके प्रयोक्ता के सम्मुख। कोहनी और कन्धे में तुलाधारण (तराजू की डंडी) की तरह समानता रहे, विषमता नहीं। इस प्रकार इन कोहनी और कन्धों में चतुरस्रता का मान होने से वह चतुरस्र कहलाता है। आकर्षण विशेष में इसका अभिनय किया जाता है। द्विवचन का निर्देश होने से अपवाद-विहीन होने पर दो हाथों के प्रयोग में हेतु उपपादनीय है, अन्य हाथ के द्वितीय प्रकार के प्रयोग में भी उसी में केवल चतुरस्रता का व्यवहार होता है। तुल्य रूप होने के कारण इन हाथों की संख्या में व्याघात नहीं होता। इसी तरह सर्वत्र होता है ॥ १८५ ॥

२. उद्वृत हस्त

अभिनव—अब उद्वृत हस्त का लक्षण कहते हैं-'हंसपक्षकृतौ' इत्यादि ।

अनुवाद—**दो हंसपक्ष हस्तों को तालवृन्त (ताड़ के पंखे) के समान पलट दिया जाय तो 'उद्वृत्त' नामक नृत्तहस्त होता है अथवा तालवृन्तक नामक हस्त समझना चाहिए ॥ १८६ ॥**

चतुरस्रस्थितौ हस्तौ हंसपक्षकृतौ तथा[1]।
तिर्यक्स्थितौ चाभिमुखौ[3] ज्ञेयौ तलमुखाविति ॥ १८७ ॥

आदौ चतुरश्रौ तत उद्वेष्टितवर्तनया हंसपक्ष कृत इति कृतशब्देनाह विधिम्। एको विवर्तते उत्तानः स तु, परस्त्वधोमुखः सन्नावर्तते वक्षस्स्थानमित्यर्थः। एतदेवाह तालवृन्तवदिति। आवर्त्तनकाल ऊर्ध्वं वर्तमानत्वादुद्वृत्तौ। नामान्तरेण तालवृन्तविषयत्वमभिनेयत्वं ब्रूते ॥ १८५ ॥

अथ तलमुखौ—चतुरश्रस्थिताविति।

तथेति व्यावृत्तोद्वृत्तपूर्वकत्वमस्याह। तेन परिसमाप्तिकाले स्वस्वपार्श्वस्थाङ्गौ त्र्यश्रस्थितौ हंसपक्षावेव। अन्योन्यसंमुखतलत्वात्तलमुखौ। "मडलं महुरिजिम वज्जइ" (मर्दलं मधुरं वादयति) इत्यादिविषये चायमभिनयोऽपि ॥ १८६ ॥

अभिनव—यहाँ 'कृत' पद का अभिप्राय है कि पहिले चतुरस्र हस्त होता है बाद में उद्वेष्टित होकर वर्तना प्रचार से हंसपक्ष कर दिया जाता हैं। एक हाथ उत्तान विर्वात्तित होता है और जो पर (दूसरा) हाथ है वह अधोमुख होकर वक्षःस्थल में आर्वात्तित होता है, यह अर्थ है। इसी को कहते हैं तालवृन्त की तरह। आवर्त्तकाल में ऊपर की ओर वर्तमान होने से 'उद्वृत्त' हस्त होता है। नामान्तर से उसे अभिनेय तालवृन्त कहते हैं ॥ १८६ ॥

३. तलमुख हस्त

अभिनव—अब तलमुख हस्त का लक्षण करते हैं–'चतुरस्रस्थितौ' इत्यादि।

अनुवाद—चतुरस्र आकार में स्थित हाथों को हंसपक्ष हस्तमुद्रा में करके तिरछे हाथों को सामने की ओर रख दिया जाय तो 'तलमुख' नामक हस्त होता है ॥ १८७ ॥

अभिनव—'तथा' पद का आशय है कि व्यावृत्त और उद्वृत्त को पहिले करके फिर इसे प्रस्तुत करे। इससे परिसमाप्ति के समय अपने-अपने पार्श्व में स्थित अङ्गों को त्र्यस्र रूप में स्थित हंसपक्ष हस्तों को करे। परस्पर एक दूसरे के सम्मुख होने से तलमुख होता है। "मंडल महुरिजिम वज्जइ" इत्यादि वादन के अभिनय में 'तलमुख' हस्त का प्रयोग होता है ॥ १८७ ॥

१. क–म. चतुरश्राविति स्मृतौ। २. क–न. यदा।
३. क–द. तिर्यङ्मुखौ चाभिमुखौ। क–म. तिर्यङ्मुखोर्ध्वाभिमुखौ।

तावेव मणिबन्धान्ते स्वस्तिकाकृतिसंस्थितौ[1] ।
स्वस्तिकाविति विख्यातौ[2] विच्युतौ विप्रकीर्णकौ ॥ १८८ ॥
अलपल्लवसंस्थानावूर्ध्वास्यौ पद्मकोशकौ ।
[3]अरालखटकाख्यौ चाप्यरालखटकामुखौ[4] ॥ १८९ ॥

अथ स्वस्तिकौ विप्रकीर्णौ च--तावेवेति ।

तलमुखावेवेत्यर्थः । अन्तस्समीपः । स्वस्तिको नाम लक्षणविशेषः । विच्युताविति विशेषेण सहसा च्युतावित्यर्थः । एवं पूर्ववृत्तनृत्तकरचतुष्टयस्वरूपोपजीवित्वं स्वस्तिकविप्रकीर्णयोः ॥ १८७ ॥

अरालखटकामुखावाह—अलपल्लवसंस्थानाविति ।

४-५. स्वस्तिक एवं विप्रकीर्ण हस्त

अभिनव—अब स्वस्तिक और विप्रकीर्ण हस्तों का लक्षण कहते हैं--

अनुवाद यदि तलमुख नृत्तहस्त को मणिबन्ध के ऊपर स्वस्तिक आकार में रख दिया जाय तो 'स्वस्तिक' हस्त होता है और यदि उन्हीं को मणिबन्ध से विच्युत कर दिया जाय तो तो 'विप्रकीर्णक' हस्त होता है ॥ १८८ ॥

अभिनव—'तौ' पद का अर्थ है तलमुखौ हस्त । 'अन्तः' पद का अर्थ है समीप स्वस्तिक अर्थात् स्वस्तिकाकार। 'विच्युत' पद का अर्थ है सहसा विशेष रूप से च्युत होने वाला । इस प्रकार स्वस्तिक-विप्रकीर्ण हस्त पूर्व में कहे गये चार नृत्त-हस्तों का आधार लेकर प्रवृत्त होता है ॥ १८८ ॥

६. अरालखटकामुख हस्त

अभिनव--अब अरालखटकामुख हस्त का लक्षण कहते हैं--

अनुवाद--यदि दोनों अलपल्लव हस्तों को ऊपर अर्ध्वमुख करके पद्मकोश हस्तमुद्रा में परिवर्तित कर दिया जाय तो 'अरालखटकामुख' हस्त होता है ॥१८९॥

---

१. क–ङ. स्वस्तिकाविति संस्थितौ ।
२. क–म. विख्यातावरालौ ।
३. ख. अरालकटकाख्यौ वा अरालकटकामुखौ ।
   क–म. ज्ञेयावभिमुखौ तज्ज्ञैरालखटकामुखौ ।
४ ग. चाप्यरालखटकामुखौ ।

अन्ये तु—

[1]तथैव मणिबन्धान्ते ह्यरालौ[2] विच्युतावुभौ ।
ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिर्नित्यमरालखटकाविति ॥ १९० ॥
भुजांसकूर्पराग्रैस्तु कुटिलावर्तितौ करौ ।
[3]पराङ्मुखतलाविद्धौ ज्ञेयावाविद्धवक्रकौ ॥ १९१ ॥

स्वस्तिकवत्पताकौ कृत्वा अलपल्लवोपलक्षितया व्यावर्तितकरणवर्तनया परिवर्तनान्तया तावेवोर्ध्वमुखौ पद्मकोशौ विधाय समनन्तरमेव भाविनलिनीपद्मकोशाभ्यामरालवर्तनया एकमरालं द्वितीयं खटकामुखं चातुरश्र्यसंस्थानेन कुर्यात् । स्वस्तिकेनेति त्वपरे । अरालौ ततः खटकावित्येके ॥ १८८-१८९ ॥

अभिनव—स्वस्तिक हस्त की तरह पताक हस्तों को करके अलपल्लव के रूप से उपलक्षित व्यावर्त्तित करण वर्त्तना से उन्हीं ऊर्ध्वमुख पद्मकोष हस्तों को करके उसके समनन्तर ही आगे कहे जाने वाले नलिनी पद्मकोशों के द्वारा अराल हस्त की वर्त्तना से एक हस्त को अराल और दूसरे हस्त को खटकामुख चातुरश्र्य संस्थान से करना चाहिए । दूसरे लोग कहते हैं कि स्वस्तिक संस्थान से अराल और खटकामुख हस्तों को रखा जाय । एक अन्य आचार्यों का मत है कि पहिले अरालमुख हस्तों को और बाद में खटकामुख हस्तों को रखना चाहिए ॥ १८८–१८९ ॥

अन्य लक्षण

अनुवाद—उसी प्रकार यदि दो अराल हस्तों मणिबन्ध के समीप स्वस्तिक के बाद 'विच्युत' कर दिया जाय तो नाटचप्रयोक्ताओं को उसे 'अरालखटकामुख' समझना चाहिए ॥ १९० ॥

---

१. 'ख' पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।

२. ग. ह्यरालविच्युतावुभौ ।

३. ख. ग. पराङ्मुखतयाविद्धौ ज्ञेयावाविद्धवक्रकौ ।
क-म. अधोमुखतलाविद्धावाविद्धाविति संज्ञितौ ।

हस्तौ तु सर्पशिरसौ [1]मध्यमाङ्गुष्ठकौ यदा ।
तिर्यक्प्रसारितास्यौ च तदा सूचीमुखौ स्मृतौ ॥ १९२ ॥

अन्ये तु—

[2]सर्पशीर्षौ यदा हस्तौ भवेतां स्वस्तिकस्थितौ ।
मध्यप्रसारिताङ्गुष्ठौ ज्ञेयौ सूचीमुखौ तदा ॥ १९३ ॥

अथाविद्धवक्रावाह—भुजांसकूर्परागैरिति ।

वृत्तानुरोधादेवं पठितम् । अयं त्वर्थः अंसाभ्यां कूर्पराग्राभ्यां भुजाग्राभ्यां च क्रमेणोपलक्षितं यत्कुटिलं सविलासं (पताकौ) कृत्वा आवर्तनं व्यावर्तितकरणं कनिष्ठादि तद्युक्तावाविद्धौ हलधारिणौ सन्तावधोमुखतलौ तदा भवतस्तथेदं नाम ॥ १९० ॥

अथ सूचीमुखौ—हस्तौ तु सर्पशिरसाविति ।

---

७. आविद्धवक्र हस्त

अभिनव—अब आविद्धवक्र हस्त का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद--यदि दोनों हाथों को भुजा, स्कन्ध और कोहनियों के अग्रभाग से टेढ़ा (तिरछा) घुमा दिया जाय और हथेलियों को पराङ्मुख (अधोमुख) करके आविद्ध कर दिया जाय तो 'आविद्धवक्र' हस्त होता है ॥ १९१ ॥

अभिनव—वृत्त (छन्द) के अनुरोध से ऐसा पढ़ा गया है, किन्तु यहाँ अर्थ यह है कि अंस (कन्धे से), कोहनी के अग्रभाग से और भुजा को अग्रभाग से उपलक्षित जो कुटिल विलास के साथ पताकहस्तों को करके व्यावर्त्तित करण रूप आवर्त्तन है, कनिष्ठा आदि से युक्त आविद्ध हलधारी हस्त की हथेलियाँ अधोमुख होती हैं तब यह आविद्धवक्र नाम होता है ॥ १९० ॥

८. सूचीमुख

अभिनव—अब सूचीमुख हस्त का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—दो सर्पशीर्ष हस्तों को अपने अंगूठे हथेली के मध्य उनका मुख भाग तिरछे फैला दिया जाय तो 'सूचीमुख' हस्त होता है ॥ १९२ ॥

---

१. ख. ग. मध्यस्थाङ्गुष्ठकौ ।
२. 'ख' पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।

रेचितौ चापि विज्ञेयौ हंसपक्षौ [1]द्रुतभ्रमौ।
प्रसारितोत्तानतलौ रेचिताविति [2]संज्ञितौ ॥ १९४ ॥

चतुरश्रस्थानगो सर्पशिरसौ मध्यमाङ्गुलिनिविष्टाङ्गुष्ठौ कृतौ यदा तिर्यक्प्रसारितं पार्श्वगमनेन सह विकाशितं मुखं तर्जन्यग्ररूपं द्वयोस्तावृशौ [3]बाहुप्रसारणेन पर्यायशः क्रियेते तदा सूचीमुखौ सूचीवद्बाहुप्रसारणात्[4] तत्र तुशब्दः पर्यायं द्योतयति।

सूचीमुखौ—मध्यप्रसारिताङ्गुष्ठौ स्वस्तिकौ सर्पशीर्षकौ [5]इत्येकेषां पाठः ॥ १९२-१९३ ॥

अनुवाद—जब सर्पशीर्ष हस्त स्वस्तिक मुद्रा में स्थित हो और मध्य हथेली में अंगूठे को फैला दिया जाय तो 'सूचीमुख' हस्त समझना चाहिए ॥ १९३ ॥

अभिनव—चतुरस्र स्थान में स्थित जब दोनों सर्पशीर्ष हस्तों को मध्यमा अंगुलि में निविष्ट है अङ्गुष्ठ जिसमें ऐसे सर्पशीर्ष हस्तों को जब तर्जनी के अग्ररूप मुख को तिरछा कर पार्श्व में ले जाकर फैला दिया जाय और बाहर की ओर फैलाकर क्रमशः प्रस्तुत करते रहे तो बाहर की ओर फैलाने से सूची के समान होने से 'सूचीमुख' हस्त होता है। यहां 'तु' शब्द पर्याय को द्योतित करता है।

एक अन्य पाठ के अनुसार सूचीमुख हस्त वे होते हैं जिनके अंगूठे हथेली के मध्य फैलाए हुए हों, अतः स्वस्तिक के आकार के होने से सर्पशीर्ष हस्त हैं ॥ १९२-१९३ ॥

---

१. ख. ग. हंसपक्षोद्‌भ्रमौ। क-म. हंसपक्षौ भ्रमस्थितौ।
   क. द. हंसपक्षौ भ्रमद्रुतौ। क-म. हंसपक्षौ भ्रमक्रमौ।
२. ख. रेचितावेव संस्थितौ।
   ग. रेचिताविति संस्थितौ।
३. क. बहिःप्रसारणेन।
४. क. बहिःप्रसारणात्।
५. क. अपावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां चतुरश्रगौ पताकौ प्रथमं कृत्वा पश्चात् सर्पशिरसौ रेचितस्वस्तिकौ सूच्यास्याविति मतान्तरम्।

चतुरस्रो भवेद्वामः सव्यहस्तश्च रेचितः ।
विज्ञेयौ [1]नृत्ततत्त्वज्ञैरर्धरेचितसंज्ञकौ ॥ १९५ ॥

अथ रेचितौ—अर्धरेचितौ चापीति ।

केचित् रेचितौ रेचिताविंत्यत्य पौनरुक्त्यपरिजिहीर्षवो द्वे लक्षणे इत्याहुः तेन द्रुतो भ्रान्तावविकृतावेव हंसपक्षौ रेचितौ तथा प्रसारितोत्तानतलत्वेन विकृतावपि रेचिताविति । अन्ये त्वेकमेव वाक्यमित्याहुः । रेचितौ सन्तौ यौ द्रुतभ्रमौ तौ रेचितसंज्ञाविति न पौनरुक्त्यम् । संज्ञयैवार्धरेचिते लब्धे पुनर्वचनमविशेषेण चातुरश्र्यस्य स्थितिं सूचयन् नृत्तहस्तान्तरेष्वपि अङ्गपर्यायेण प्रयोगं सूचयति ॥ १९३-१९४ ॥

अभिनव—अब रेचित और अर्धरेचित हस्तों का लक्षण कहते हैं—

९. रेचित हस्त

अनुवाद—शीघ्रता से घूमने वाले हंसपक्ष हस्तों को 'रेचित' हस्त समझना चाहिए और हथेली को ऊपर फैला देने से भी 'रेचित' संज्ञक हस्त होता है ॥ १९४ ॥

१०. अर्धरेचित

अनुवाद—यदि बाँये हाथ को चतुरश्र और दाहिने हाथ को रेचित कर दिया जाय तो नृत्ततत्त्ववेत्ताओं को उसे 'अर्धरेचित' संज्ञक हस्त समझना चाहिए ॥ १९५ ॥

अभिनव—कुछ आचार्य 'रेचितौ रेचितौ' इस पुनरुक्ति के परिहार के लिए रेचित के दो लक्षण होते हैं, ऐसा कहते हैं, इसलिए शीघ्रता से घूमने वाले अविकृत (बिना किसी परिवर्त्तन के) हंसपक्ष रेचित है और हथेलियों को ऊपर की ओर फैला देने से विकृत भी 'रेचित' होता है । अन्य लोग तो इसे एक ही वाक्य मानते हैं । रेचित होते हुए भी जो द्रुतभ्रम है वे रेचित संज्ञक हस्त हैं, अतः पुनरुक्ति नहीं है । नाम से ही अर्धरेचित स्वरूप के प्राप्त हो जाने पर पुनः कथन सामान्य रूप से चतुरश्र की स्थिति को सूचित करते हुए अन्य नृत्तहस्तों में भी अङ्गों के पर्याय से प्रयोग को सूचित करता है ॥ १९४-१९५ ॥

---

१. क-म. नाट्यतत्त्वज्ञैरर्धरेचितसंज्ञकौ ।

अञ्चितौ कूर्परांसौ तु त्रिपताकौ[1] करौ कृतौ ।
किञ्चित्तिर्यग्गतावेतौ स्मृतावुत्तानवञ्चितौ ॥ १९६ ॥
मणिबन्धनमुक्तौ तु पताकौ पल्लवौ स्मृतौ ।

अथोत्तानावञ्चितौ[2]—अञ्चिताविति ।

त्रिपताकौ हस्तावंसकपोलललाटानामन्यतमक्षेत्रे कृतौ अञ्चनक्रियया युक्तौ अन्योन्याभिमुखावर्धतिरश्चीनौ, तथांसयोः कूर्परयोश्चाञ्चनं किञ्चिच्चलनं भवति । अञ्चनसमये उत्तानत्वप्राप्तेः पुनरप्यञ्चनेनोद्गमनक्रियायोगान्मृदूत्तानावञ्चितौ ॥ १९५ ॥

अथ पल्लवौ—मणिबन्धनमुक्तौ त्विति ।

---

११. उत्तानवञ्चित हस्त

अभिनव—अब उत्तानवञ्चित हस्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—जिसको कोहनियाँ और कन्धे अञ्चित हों और हस्त त्रिपताक हस्त-मुद्रा में होकर किञ्चित् तिरछे हो जाँय तो 'उत्तानवञ्चित' हस्त होता है ॥ १९६ ॥

अभिनव—यदि त्रिपताक हस्तों को स्कन्ध, कपोल एवं ललाट में से किसी एक स्थान क्षेत्र में अञ्चन क्रिया से युक्त करते हुए परस्पर एक दूसरे के सामने थोड़ा तिरछा कर दे और कन्धों एवं कोहनियों में अञ्चन अर्थात् किञ्चित् चलन हो तो अञ्चन के समय उत्तानता की प्राप्ति होने से पुनः अञ्चन करने से उद्गम क्रिया के योग से वे मृदु रूप में उत्तान और अञ्चित होने से 'उत्तानवञ्चित' हस्त होते हैं ॥ १९६ ॥

१२. पल्लव

अभिनव—अब पल्लवहस्त का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—यदि वे हस्त मणिबन्ध से मुक्त होकर पताक के आकार में स्थित हों तो 'पल्लव' हस्त होता है ॥ १९७ ॥

---

१. ख. ग. त्रिपताकाकृती करौ ।
२. क. अथोत्तानवञ्चितौ ।

बाहुशीर्षाद्विनिष्क्रान्तौ[1] नितम्बाविति कीर्तितौ[2] ॥ १६७ ॥

ऊर्ध्वव्यावर्तितकरणेन बाहू प्रसार्य परिवर्तितक्रियया स्वस्तिकाकृती पताकौ। पल्लवाकारत्वात् यथोक्तौ। शिथिलौ पल्लवावित्यन्ये पठन्तः त्रिपताकावित्यनुवर्तयन्ति।

अथ नितम्बौ—बाहुशीर्षाविति।

पताकाविति अनुवर्तते। स्कन्धक्षेत्राद्विचित्रत्वेनोत्तानत्वाधोमुखत्वपर्यायत्वेन निष्क्रान्तौ पताकौ, नाम्ना क्षेत्रस्याक्षेपात् नितम्बक्षेत्रे तथैव पर्यायेण वर्तमानौ नितम्बौ[3] ॥ १९६ ॥

अभिनव—ऊपर की ओर व्यावर्त्तित करण से बाहुओं को फैलाकर परिवर्त्तित क्रिया से स्वस्तिक के आकार में पताक हस्त हों तो पल्लव के आकार में होने के कारण इसे 'पल्लव' हस्त कहते हैं। अन्य आचार्य तो 'शिथिलौ पल्लवौ' यह पाठ मान कर त्रिपताकौ' का अनुवर्त्तन करते हैं ,। १९७ ॥

१३. नितम्ब हस्त

अभिनव—नितम्ब हस्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—यदि पताक हस्तों को बाहुशोर्ष अर्थात् कन्धे से निष्क्रान्त कर दिया जाय अर्थात् निकाल दिया जाय तो 'नितम्ब' हस्त कहा जाता है ॥ १९७ ॥

अभिनव—'पताकौ' का अनुवर्त्तन होता है। स्कन्ध क्षेत्र से विचित्र रूप में क्रमशः उत्तानमुख और अधोमुख निकले हुए पताकहस्त नितम्ब नामक क्षेत्र का आक्षेप होने से नितम्ब के क्षेत्र में उसी प्रकार क्रमशः वर्तमान होने से वे 'नितम्ब' हस्त कहे जाते हैं ॥ १९७ ॥

१. ख. शीर्षादिनिष्क्रान्तौ। क-म. बाहुशीर्षविनिष्क्रान्तौ।

२. क-म. संज्ञितौ।

३. क. त्रिपताकावित्यन्ये पताकस्थाने वर्तयन्ति इत्यधिकं वर्तते।

'केशदेशाद्विनिष्क्रान्तौ परिपार्श्वोत्थितौ' यदा ।
विज्ञेयौ केशबन्धौ' तु करावाचार्यसम्मतौ ॥ १९८ ॥

अथ केशबन्धौ—केशदेशाविति ।

आदौ पार्श्वक्षेत्रात् तत्पार्श्वपरिवर्णनपूर्वकमुत्थितौ' शिरः क्षेत्रं प्राप्तौ, अत एव केशदेशान्नितम्बहस्तोक्तवदेव विचित्रहस्तत्वेन निष्क्रान्तौ तथा तेनैव प्रकारेण पुनः केशदेश एव पर्यायशो गतागतत्वेन प्रत्यावर्तमानौ । केशसंबन्धात्केशबन्धौ । आचार्यसंमतौ च शोभातिशयकरणात् ॥ १९७ ॥

१४. केशबन्ध हस्त

अभिनव -अब केशबन्ध हस्त का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद -जब केश प्रदेश से विनिष्क्रान्त होकर दो पताक हस्त परिपार्श्व अर्थात् दोनों बाहुओं पर सोधे रख दिये जांय तो आचार्य सम्मत 'केशबन्ध' नामक हस्त समझना चाहिए ॥ १९८ ॥

अभिनव—पहिले एक पार्श्व (बाजू) के दूसरे पार्श्व (बाजू) में परिवर्तन करते हुए ऊपर उठे हुए हों अर्थात् शिरःक्षेत्र में प्राप्त हों। अतएव केश प्रदेश से नितम्ब हस्त में कहे हुए के समान विचित्र हस्त विनिष्क्रान्त (बाहर निकले हुए) हों और उसी प्रकार फिर केशप्रदेश में क्रमशः गमनागमन (आना-जाना) से प्रत्यावर्तित हों, वे केशों के सम्बन्ध से 'केशबन्ध' हस्त कहलाते हैं। वे हस्त शोभावर्द्धक होने के कारण आचार्य सम्मत हैं ॥ १९८ ॥

१. क-न. एकदेशविनिष्क्रान्तौ ।
क-म. अंसदेशविनिष्क्रान्तौ ।
क-द. केशदेशान्निवृत्तौ तु ।

२. क-प. केशबन्धाख्यौ ।

३. क. पताकाविति वर्तते । अन्ये त्रिपताकाविति । केचित् पल्लवाविति वर्तयन्ति ।

तिर्यक्प्रसारितौ चैव पार्श्वसंस्थौ तथैव च ।
[1]लताख्यौ च करौ ज्ञेयौ नृत्ताभिनयनं प्रति[2] ॥ १९९ ॥
समुन्नतो लताहस्तः पार्श्वात्पार्श्वं[3] विलोलितः ।
[4]त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तः प्रकीर्तितः ॥ २०० ॥

अथ लताहस्तौ—तिर्यक्प्रसारितौ चेति ।

पताकाविति वर्तते । अन्ये तु नितम्बादिषु त्रिपताकावित्यनुवर्तयन्ति लताहस्तान्तेषु ॥ १९९ ॥

अथ करिहस्तः—समुन्नत इत्यादि ।

१५. लता हस्त

अभिनव—अब लताहस्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—तिरछे फैलाये हुए और पार्श्व में संस्थित दोनों पताक हस्तों को नृत्त के अभिनयन में 'लता' नामक हस्त जानना चाहिए ॥ १९९ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'पताको' का अनुवर्त्तन है, अन्य आचार्य तो नितम्ब से लताहस्त पर्यन्त त्रिपताक का अनुवर्त्तन कहते हैं ॥ १९९ ॥

१६. करिहस्त

अभिनव—अब करिहस्त का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—यदि एक लताहस्त समुन्नत होकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में विलोलित हो और दूसरा त्रिपताक मुद्रा में कर्ण (कान) के पास हो तो 'करिहस्त' कहलाता है ॥ २०० ॥

---

१. क-म. चतुरस्रौ तु करौ ज्ञेयौ ।
२. इति श्लोकानन्तरं क-न. पुस्तके श्लोकोऽयमधिको दृश्यते—
हस्तः पञ्चविधः कार्यो नाट्यनृत्तसमाश्रयः ।
उत्तानोऽधस्तलस्त्र्यस्रः ऊर्ध्वाधोमुख एव च ॥
३. क–ङ. पार्श्वात्पार्श्वविलोकित. ।
४. क–म. द्वितीयः कटकाख्यश्च करिहस्तौ प्रकीर्त्तितौ ।
५. ब. त्रिपताकोऽपरः कर्णे करिहस्तौ प्रकीर्तितौ ।

कटिशीर्षनिविष्टाग्रौ[1] त्रिपताकौ यदा करौ।
पक्षवञ्चितकौ हस्तौ तदा ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिः[2] ॥ २०१ ॥

संश्लेषक्रमेण य उन्नतः। विलोलित इति दोलावन्नीतः। अपरग्रहणात् त्रिपताक एव ललाटाख्य इति केचित्। खटकाख्योऽपर इत्यन्ये पठन्ति। सजातीयतयानारम्भोऽस्य चतुरश्रवत्, विजातीयारम्भोऽपि नृत्ताभ्यासस्य व्यपदेशादरालखटकामुखवत्। अतो न द्विवचनम्। एकैकस्य पृथक्प्रयोगे करिहस्तत्वाभावादित्येकवचनमेव। तदाकारत्वाच्चेदं नाम[3] ॥ २०९ ॥

अथ पक्षवञ्चितौ पक्षप्रद्योतौ च—कटिशीर्षेति पाठः।

अभिनव—संश्लेष के क्रम से जो उन्नत है, अर्थात् जिस क्रम से स'श्लेष है उस क्रम से उन्नत। 'विलोलित' पद का अर्थ है दोला के समान झूलना। 'अपर' शब्द के ग्रहण से ज्ञात होता है कि त्रिपताक ही ललाट नामक हस्त है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। अन्य आचार्य तो कहते हैं कि अपर शब्द से खटकामुख हस्त का ग्रहण होता है। इसका चतुरस्र की तरह न तो सजातीय होकर आरम्भ होता है और न नृत्त के अभ्यास के व्यपदेश से खटकामुख की तरह विजातीय होकर आरम्भ होता है। इसलिए यहाँ 'करः' द्विवचन नहीं है। इसमें एक-एक हस्त का पृथक्-पृथक् प्रयोग होने से करिहस्त का अभाव होने से एकवचन का प्रयोग किया गया है। करि के सूँड के आकार का होने के कारण इसका नाम 'करिहस्त' है ॥ २०० ॥

अभिनव—अब पक्षवञ्चित और पक्षप्रद्योत का लक्षण कहते हैं—

१७. पक्षवञ्चित

अनुवाद—यदि त्रिपताक हस्तों को क्रमशः कटि और शीर्ष स्थान पर रखा जाय तो नाट्यप्रयोक्ता उसे 'पक्षवञ्चित' हस्त कहते हैं ॥ २०१ ॥

---

१ क. कटिशीर्षनिविष्ठौ द्वौ। ग कटिशीर्षनिविष्टौ द्वौ।

२. क-म. विज्ञेयौ नाट्यकोविदैः।

३ यत्कीर्तिधराचार्येण त्वधंरेचिताविति नामसाम्येन करिहस्ताविति द्विवचमान्तपाठ एव गृहीतः साधीयानिति समर्थितश्च तन्मतस्य खण्डनमेतद्वाक्यम्। अयं भावः—चतुरश्राविल्यादौ सजातीयकद्वन्द्वेन वा, अरालखटकामुखावौ विजातीयतया वा द्विवचनं सम्भाव्यते। न तु करिहस्ते यत्राकृतित्वाच्च, द्वितीयहस्तप्रयोगगौणत्वाच्च, एकहस्तप्रयोग एव द्योत्यते।

तावेव तु परावृत्तौ पक्षप्रद्योतकौ[1] स्मृतौ ।
[2]अधोमुखतलाविद्धौ ज्ञेयौ गरुडपक्षकौ ॥ २०२ ॥

वृत्तौ पक्षावञ्चितौ गतौ, तत्सम्मुखौ तु तं द्योतयतीति तथोक्तौ । एवकारेणानयोः व्यामिश्रतया प्रयोगशोभा भवतीत्याह ॥ २००-२०१ ॥

अथ गरुडपक्षौ अधोमुखेति ।

अधोमुखौ नितम्बक्षेत्रे भूत्वा तलेनाविद्धौ ऊर्ध्वंगमनं झटिति कुर्वाणौ तार्क्ष्यभुजाकाराक्षेपात् लिङ्गवाक्यप्रमाणत्वात्सुकरणं प्राप्तं त्रिपताकबाधेन पताकावुपजन्येते ॥ २०२ ॥

१८. पक्षप्रद्योतक

अनुवाद—यदि पक्षवञ्चितक हस्तों को परावर्त्तित (उलटा) कर दिया जाय तो 'पक्षप्रद्योत' हस्त होता है ॥ २०२ ॥

अभिनव—यहाँ करिशीर्षं यह पाठ है। वृत्त पक्ष अञ्चित हो जाते हैं। एक दूसरे के सम्मुख उसका द्योतन करते हैं। एवकार के प्रयोग के द्वारा इनके व्यामिश्रण से प्रयोग की शोभा होती है, यह द्योतित होता है ॥ २०२ ॥

१९. गरुड़पक्ष हस्त

अभिनव—अब गरुड़पक्ष हस्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—यदि हथेलियों को अधोमुख करके आविद्ध कर दिया जाय तो 'गरुड़पक्ष' हस्त होता है ॥ २०२ ॥

अभिनव—नितम्ब क्षेत्र में अधोमुख होकर हथेली से आविद्ध होकर शीघ्र ऊपर की ओर जाने वाले गरुड़ के पक्ष के आकार के आक्षेप से लिङ्ग, वाक्य और प्रमाण से सुन्दर करण को प्राप्त त्रिपताक हस्त के बाध होने से पताकहस्त ही प्राप्त होता है ॥ २०२ ॥

१. क-म. पक्षोद्द्योतकरौ स्मृतौ ।
२. क-म. चतुरस्रमुखौ कृत्वा ।

हंसपक्षकृतौ हस्तौ व्यावृत्तपरिवर्त्तितौ ।
तथा प्रसारितभुजौ दण्डपक्षाविति स्मृतौ ॥ २०३ ॥
ऊर्ध्वमण्डलिनौ [1]हस्तावूर्ध्वदेशविवर्तनात् ।
तावेव पार्श्वविन्यस्तौ पार्श्वमण्डलिनौ स्मृतौ[2] ॥ १०४ ॥

अथ दण्डपक्षौ हंसपक्षकृताविति ।

एकस्य हंसपक्षस्य व्यावर्तने विलासेन पार्श्वाद्वक्षःक्षेत्रस्य निकटस्य वर्तनं तत्समकालमेव द्वितीयस्य स्वदेहपरिवर्तनेन वर्तनं भुजप्रसारणपर्यन्तं पुनरपरेणाङ्गेनेति द्वावपि प्रसारितभुजौ व्यावर्तितपरिवर्तितौ च भवत इति पक्षे पार्श्वतो दण्डवद्भुज इति दण्डपक्षौ । युगपदेव द्वयोरपि प्रसारणं व्यावर्तनपरिवर्तने तु क्रमेणेत्यन्ये ॥२०३॥

---

२०. दण्डपक्ष हस्त

अभिनव—अब दण्डपक्ष हस्त का लक्षण कहते हैं—'हस्तपक्षकृतौ' इत्यादि ।

अनुवाद--यदि हंसपक्ष हस्तों को क्रमशः व्यावर्त्तन और परिवर्त्तन कर दिया जाय और भुजाओं को सोधे फैला दिया जाय तो 'दण्डपक्ष' हस्त होता है ॥ २०३ ॥

अभिनव—एक हंसपक्ष हस्त के व्यावर्त्तन में विलास के साथ एक पार्श्व से वक्षःस्थल के निकट का बर्त्तन और उसी समय द्वितीय हंसपक्ष हस्त का अपने शरीर के परिवर्त्तन के साथ भुजा के प्रसारण (फैलाने) पर्यन्त वर्त्तन होता है । फिर दूसरे अङ्ग से प्रसारित दोनों भुजाएँ व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित होती है । इस पक्ष में इसमें एक पार्श्व से अथवा दूसरे पार्श्व से भुजाएँ दण्ड के आकार में रहती है, अतः इसका नाम दण्डपक्ष है । अन्य आचार्यों का कथन है कि दोनों हाथों का प्रसारण तो एक साथ होता है किन्तु व्यावर्त्तन और परिवर्त्तन क्रमशः होते हैं ॥ २०३ ॥

---

१ क-म. हस्तावुरोदेशविवर्त्तनात् ।
२. क-म. कथी ।

अथोर्ध्वमण्डलौ – उर्ध्वमण्डलिनाविति ।

वक्षोदेशाद् व्यावर्तितकरणेन ललाटक्षेत्रेण पार्श्वगमनं विधाय ततोऽपि मण्डलवद् भ्रमणेन प्रसारितावूर्ध्वमण्डलिनौ । प्रसारितभुजाविति अनुवर्तते । ललाटप्राप्तिपर्यन्तेनैवानयोर्लक्षणं शिष्टं तु पार्श्वमण्डलिनोरिति केचित् । तावेव पार्श्वविन्यस्ताविति वचनान्नृत्तप्रसिद्ध (चक्र) वर्त्तनात्मकावूर्ध्वमण्डलावित्यन्ये ॥ २०४ ॥

अथ पार्श्वमण्डलौ—तावेवेति ।

ऊर्ध्वमण्डलावेव पार्श्वगतौ पताकाकृतौ परस्परसम्मुखौ । अन्ये[1] तु निर्वचनसमर्थनाशयेन स्वपार्श्व एवाविद्धभुजभ्रमणवर्तनात्मकमनयो रूपमाहुः ।

२१. ऊर्ध्वमण्डलिन् हस्त

अभिनव—अब ऊर्ध्वमण्डल हस्त का लक्षण कहते हैं—'ऊर्ध्वमण्डलिनो' इत्यादि ।

अनुवाद—यदि दण्डपक्ष हस्त को ऊर्ध्व देश में विवर्त्तन (गोल-घुमाना) कर दिया जाय तो 'ऊर्ध्वमण्डलिन्' हस्त होता है ॥ २०४ ॥

अभिनव– वक्षःक्षेत्र से व्यवर्त्तित करके ललाट–प्रदेश से पार्श्वों में ले जाकर फिर वहाँ से मण्डलाकार घुमाकर फैला देने से ऊर्ध्वमण्डलिन् हस्त हो जाते हैं । यहाँ पर 'प्रसारितभुजौ' का अनुवर्त्तन होता है । ललाट प्रदेश तक लेजाना हो इसका लक्षण है । शेष तो पार्श्वमण्डलिन् हस्त का लक्षण है । ऐसा कोई आचार्य कहते हैं । अन्य आचार्यों का कथन है कि 'वे दोनो पार्श्वों में विन्यस्त होते हैं' इस कथन से नृत्त में प्रसिद्ध चक्रवर्त्तन (गोल घूमना) रूप ऊर्ध्वमण्डल होते हैं ॥ २०४ ॥

२२-पार्श्वमण्डलिन् हस्त

अभिनव -अब पार्श्वमण्डलिन् का लक्षण कहते हैं -'तावेवेति' ।

अनुवाद यदि उन्हीं ऊर्ध्वमण्डलिन् हस्तों को एक पार्श्व (बगल) में रख दिया जाय तो 'पार्श्वमण्डलिन्' हस्त होता है ॥ २०४ ॥

अभिनव - ऊर्ध्वमण्डल हस्त ही जब-जब पताकहस्त के आकार में परस्पर एक दूसरे के सामने पार्श्वगत होते हैं तो 'पार्श्वमण्डलिन्' हस्त कहलाते हैं । अन्य आचार्य तो निर्वचन का समर्थन करने के आशय से कहते हैं कि अपने ही पार्श्व में परस्पर आविद्ध (आहत) भुजाओं का ताल देकर घुमाते हुए वर्त्तना-क्रम से प्रचार करना ही इस हस्त का स्वरूप है ॥ २०४ ॥

१. क. अन्ये कीर्त्तिधराचार्यादयः । ते पार्श्वमण्डलिनोः चक्रवर्त्तनेत्याहुः ।

उद्वेष्टितो भवेदेको द्वितीयश्चापवेष्टितः[1] ।
भ्रमितावुरसः स्थाने [2]ह्युरोमण्डलिनौ स्मृतौ ॥ २०५ ॥
[3]अलपल्लवकारालावुरोऽर्ध्वभ्रमणक्रमात् ।
[4]पार्श्वावर्तश्च विज्ञेयावुरःपार्श्वार्धमण्डलौ ॥ २०६ ॥

अथोरोमण्डलिनौ —उद्वेष्टित इति ।

चकारसंनियोगेन यौगपद्यमाह । उरस इति पञ्चमी । तत आरभ्य पार्श्वक्षेत्रे भ्रमितावेकस्यागमनस्य परस्य गमनमिति वर्तनया । षष्ठीत्यन्ये वदन्तः तत्रैव स्थानमित्याहुः । ऊर्ध्वपार्श्वोरोमण्डलिषु हंसपक्षावित्यपरे वर्तयन्ति ॥ २०५ ॥

२३-उरोमण्डलिन् हस्त

अभिनव—अत्र उरोमण्डलिन् हस्त का लक्षण कहते है—उद्वेष्टित इत्यादि ।

अनुवाद—यदि एक हाथ उद्वेष्टित और दूसरा अपवेष्टित हो और फिर उन दोनों को वक्षःस्थल पर घुमाते हुए रख दिया जाय तो 'उरोमण्डलिन्' हस्त होता है ॥ २०५ ॥

अभिनव—चकार के संयोग से उद्वेष्टित और अपवेष्टित हस्तों का एक साथ योग करना चाहिए । 'उरसः' में पञ्चमी विभक्ति है । अतः वक्षःस्थल से प्रारम्भ करके पार्श्वक्षेत्र में घुमाये हुए एक के आगमन से दूसरे का गमन जिसमें हो, ऐसी वर्त्तना से प्रयोग करे । अन्य आचार्य 'उरसः' मे षष्ठी विभक्ति मानते हुए वहीं पर स्थान है, ऐसा कहते हैं । और अन्य लोग ऊर्ध्वमण्डल, पार्श्वमण्डल और उरोमण्डल में हंसपक्ष हस्तों के वर्त्तन कहते हैं ॥ २०५ ॥

---

१. ख. द्वितीयश्च विवेष्टितः ।

२. ख. उरोमण्डलिनो स्मृतौ ।

३. ग. अलपल्लवकरावुरोऽर्ध्वभ्रमणक्रमात् ।
क. अलपल्लवाकारालावुरोर्ध्वभ्रमणक्रमात् ।
क-म. अलपल्लवसंस्थानावूर्ध्वाग्रौ पद्मकोशकौ ।

४. क-म. पार्श्वोर्ध्वतश्च विज्ञेयावुरःपार्श्वोर्ध्वमण्डली ।

हस्तौ तु मणिबन्धान्ते कुञ्चितावञ्चितौ [1]यदा ।
[2]खटकाख्यौ तु तौ स्यातां मुष्टिकस्वस्तिकौ तदा ॥ २०७ ॥

अथोरःपार्श्वमण्डलौ—अलपल्लवाकारालाविति ।

वक्षोदेशत उत्तानो हस्तः संस्तम्भोऽलपल्लवसंस्थानदायिना व्यावर्तितकरणेन निष्कृष्यते । तत्समकालं च पार्श्वप्रसारितभुजौ । द्वितीयौ हस्ततर्जन्याद्युद्वेष्टित-सन्निवेशेनारालरूपदायिना वक्षोदेशमानीयते पुनरेवमिति । उरसि अर्धमेको हस्तः पार्श्वे च द्वितोयो मण्डलवद्गतागतं क्रमेण कुरुत इति तथोक्तौ ॥ २०६ ॥

अथ मुष्टिकस्वस्तिकौ –हस्तौ तु मणिबन्धान्त इति ।

२४. उरःपार्श्वार्धमण्डल हस्त

अभिनव—अब उरःपार्श्वार्धमण्डल का लक्षण कहते हैं –'अलपल्लवारालाविति ।

अनुवाद –अपल्लव और अराल हस्तों को वक्षःस्थल पर आधा घुमा देने और पार्श्व में आवर्त्तित कर देने से उरःपार्श्वार्धमण्डल हस्त होता है ॥ २०६ ॥

अभिनव—वक्षः प्रदेश से उत्तान हस्त का संस्तम्भन करके (ठहरा कर) फिर अलपल्लव को स्थिति को करने वाले व्यावर्त्तित करण से निष्कासन करते हैं और उसी समय पार्श्व में भुजा को फैला दे और दूसरे हाथ को तर्जनी आदि अङ्गुलियों को अराल रूप देने वाले उद्वेष्टन क्रिया के सन्निवेश से वक्षःस्थल पर लाते हैं । फिर इसी प्रक्रिया को करते हैं । इस हस्त के नाम का कारण बताते हुए कहते हैं कि इनमें एक हाथ से वक्षःस्थ में आधे भाग को और दूसरे हाथ को पार्श्व में मण्डल की तरह क्रमशः गतागत (ले जाना-ले आना) करते हैं । इसलिए उसे वैसा कहा गया है ॥ २०६ ॥

२५. मुष्टिक स्वस्तिक

अभिनव —अब मुष्टिक स्वस्तिक हस्त का लक्षण कहते हैं –'हस्तौ तु' इत्यादि ।

अनुवाद—-यदि खटकामुख हस्तों को मणिबन्ध के समीप कुञ्चित और अञ्चित कर दिया जाय तो 'मुष्टिकस्वस्तिक' हस्त होता है ॥ २०७ ॥

---

१ क-द. कुञ्चितावकुञ्चितौ ।

२. ख. कटकाख्यौ तु तौ स्यातां । क. खटकाख्यौ कृतौ स्यातां ।
क-द. खटकास्यौ तु तौ स्यातां ।

पद्मकोशौ यदा हस्तौ [1]व्यावृत्तपरिर्वांतितौ ।
नलिनीपद्मकोशौ तु [2]तदा ज्ञेयौ प्रयोक्तृभिः ॥ २०८ ॥

एकः कुञ्चितोऽरालवर्तनया अपरोऽञ्चितोऽलपल्लववर्तनया पुनरङ्गपर्याय[3] इत्येवं वर्तनानन्तरं खटकामुखाभ्यां स्वस्तिक इति पारम्पर्येण मुष्टिप्रभवत्वात्खटकस्य मुष्टिकस्वस्तिकव्यपदेशो मुष्टिशिखरकपित्थखटकानामन्यतमप्रयोगानुज्ञानार्थमिति तद्विदः[4] ॥ २०७ ॥

अथ नलिनीपद्मकोशौ—पद्मकोशाविति ।

पद्मकोशौ सम्मुखौ श्लिष्टमणिबन्धौ । ततोऽप्येकस्य कनीयसी सम्मुखी अपरस्याङ्गुष्ठं सम्मुखं क्रियया परिवर्तनमिति केचित् । इदं त्वत्र युक्तम्—

अभिनव—एक हाथ अरालवर्त्तना से कुञ्चित तथा दूसरा हाथ अलपल्लव वर्त्तना से अञ्चित बार-बार अङ्गों के आवागमन रूप वर्त्तना के बाद खटकामुख हस्तों को स्वस्तिक मुद्रा करनी चाहिए। इस प्रकार परम्परा से खटकामुख हस्त की मुष्टि से उत्पत्ति होने के कारण इसका 'मुष्टिस्वस्तिक' यह नाम मुष्टि, शिखर, कपित्थ और खटक हस्तों में से किसी एक के प्रयोग की अनुज्ञा के लिए है, यह नाट्यविद् लोग कहते हैं ॥ २०७ ॥

२६—नलिनोपद्मकोश हस्त

अभिनव—अब नलिनीपद्मकोश हस्त का लक्षण करते हैं—'पद्मकोशो' इत्यादि।

अनुवाद—यदि पद्मकोश हस्तों को व्यावर्त्तित एवं परिवर्त्तित कर दिया जाय तो नाट्यप्रयोक्ताओं को उसे 'नलिनोपद्मकोश' हस्त समझना चाहिए ॥२०८॥

१. ख व्यावर्त्तपरिर्वात्तितौ ।
२. क-म. तौ नाम्नौ सम्प्रकीर्त्तितौ ।
३. क. पुनरङ्गव्यवायः ।
४. क. एकः कुञ्चितो मुष्टिरपरोऽञ्चितः खटक इत्युक्त्वा तावेव खङ्गवर्तनेत्याह कीर्तिधराचार्य ।।

करावुद्वेष्टिताग्रौ तु [1]प्रविधायालपल्लवौ ।
ऊर्ध्वप्रसारिताविद्धौ [2]कर्त्तव्यावुल्वणाविति ॥ २०९ ॥

व्यावृत्तेन परिवृत्तौ यदा पद्मकोशाविति सङ्गतिः । अस्मिन् मुष्टिक एव स्वस्तिकक्षेत्रे करौ कृत्वा द्वयोरपि यदा व्यावर्तितकरणेन कनिष्ठादीनां परिवर्तन-मन्योन्यपराङ्मुखता तदनन्तरं पद्मकोशद्वयं तदा । नलिन्यामनेककमलसंभवादिदं नाम[3] ॥ २०८ ॥

अथोल्वणौ—करावुद्वेष्टिताग्राविति ।

अभिनव—पद्मकोश हस्त सामने मिले हुए मणिबन्ध है अर्थात् दोनो मणिबन्ध (कलाइयाँ) सामने को ओर मिले हुए हों तो पद्मकोश हस्त होता है । उनमें एक हाथ को कनोयसो (कनिष्ठा) अंगुली और दूसरे हाथ का अंगूठा सामने क्रिया के द्वारा परिवर्त्तित होता है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं । किन्तु यहाँ पर यह युक्त है—जब व्यार्त्तन से परिबर्त्तन होता है तो पद्मकोश होता है, यह सङ्गति है । इस मुष्टिक युक्त स्वस्तिक के क्षेत्र में हाथों को ले जाकर जब दोनों मणिबन्धों में व्यावर्त्तित करण से कनिष्ठा आदि अंगुलियों एवं अंगूठे को परिवर्त्तन कर देते हैं तो दोनो मणिबन्ध परस्पर पराङ्मुख हो जाते हैं और उसके बाद पद्मकोश बन जाते हैं । इस प्रकार एक कमलिनो में अनेक कमलों की उत्पत्ति हो जाने से इसका 'नलिनीपद्म-कोश' नाम हो जाता है ॥ २०८ ॥

२७—उल्वण हस्त

अभिनव—अब उल्वण हस्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—यदि हाथों के अग्रभागको उद्वेष्टित कर उन्हें अलपल्लव के आकार में बनाकर ऊपर की ओर प्रसारित कर आविद्ध कर दिया जाय तो 'उल्वण' हस्त समझना चाहिए ॥ २०९ ॥

१. क-म. विच्युतालपल्लवौ ।
२. ख. ग. विज्ञेयौ उल्बणाविति ।
३. क. कोर्तिधरस्तु पद्मकोशौ स्कन्धस्तनजान्वन्यतमक्षेत्रे विवर्त्तिताविति लक्षयति । तावेव पद्मवर्तनेति चाह ।

पल्लवौ च [1]शिरोदेशे संप्राप्तौ [2]ललितौ स्मृतौ ।

वक्षःक्षेत्रादुद्वेष्टितप्रधानौ हस्तौ विधायोर्ध्वस्कन्धक्षेत्रे प्रसारितावाविद्धौ च स्कन्धाभिमुखचलदङ्गुलीकावलपल्लवौ भवतस्तदोल्वणौ । हर्षपरवशां चित्तवृत्ति सूचयतः इत्युल्वणौ ॥ २०९ ॥

अथ ललितौ पल्लवौ चेति ।

अलपल्लवावेव तु शिरः क्षेत्रप्राप्तौ चलितौ ललितौ चातुरश्र्येणाङ्ग-लालित्योपादानात् ।

अभिनव—दोनों हाथों को उद्वेष्टित कर दिया जाय तो 'अलपल्लव' होता है । जब दो अलपल्लव हस्तों को वक्षः प्रदेश से उद्वेष्टित प्रधान हस्तों का विधान कर ऊपर स्कन्ध प्रदेश में फैलाये हुए और एक दूसरे से आविद्ध और कन्धों के सामने हिलती हुई अंगुलियों से युक्त जब अलपल्लव होता है तब उल्वण हस्त होता है । ये हर्ष पूर्ण मनोवृत्ति का सूचन करते है, अतः 'उल्वण' होते हैं ॥ २०९ ॥

विमर्श—इस श्लोक में 'प्रविधायालपल्लवौ' के स्थान पर 'विज्ञेयावल्पल्लवौ' पाठ भी मिलता । ऐसा पाठ मानने पर 'अलपल्लव' नामक एक नृत्तहस्त की पूरी सख्या बढ़ जाती है । इस प्रकार नाट्यशास्त्रोक्त नृत्त हस्तों की संख्या ३० हो जाती है अलपल्लव का लक्षण है—"यदि हाथों को उद्वेष्टित क्रिया के द्वारा कन्धे के पास लेजाकर फैला दिया जाय तो 'अलपल्लव' हस्त होता है ।" किन्तु अभिनव भारती में इसका लक्षण नहीं दिया गया है । अतः अभिनव के अनुसार नाट्यहस्त २९ होते हैं ।

२८—ललित हस्त

अभिनव—अब ललित हस्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—यदि दो अलपल्लव हस्तों को शिर पर रख दिया जाय तो 'ललित' हस्त होता है ॥ २१० ॥

अभिनव--जहाँ पर अलपल्लव हो शिरः प्रदेश में चलित हों, वहाँ 'ललित' हस्त होता है । इसमें चातुरश्र्य से अङ्गों का लालित्य दिखाया जाता है अतः इसका नाम 'ललित' है ॥ २१० ॥

---

१. क. शिरोदेशं ।
२. क-प. चलितौ ।

कूर्परस्वस्तिकगतौ लताख्यौ [1]वलिताविति ॥ २१० ॥
[2]करणे तु प्रयोक्तव्यो नृत्तहस्तो विशेषतः ।
तथार्थाभिनये चैव पताकायाः प्रयोक्तृभिः ॥ २११ ॥
संकरोऽपि भवेत्तेषां प्रयोगोऽर्थवशात्पुनः ।
प्राधान्येन पुनः संज्ञा नाट्ये नृत्ते करेष्विह ॥ २१२ ॥
वियुताः[3] संयुताश्चैव नृत्तहस्ताः प्रकीर्तिताः ।
[4]अतः परं प्रवक्ष्यामि करान् [5]करणसंश्रयान् ॥ २१३ ॥

अथ वलितौ—कूर्परस्वस्तिकगताविति ।

कूर्परस्थाने स्वस्तिकौ लताहस्तौ बाह्वोर्वलनाद्वलितौ । इति शब्द एवंप्रकारवर्तनान्तरसूचकः ॥ २१० ॥

२९—वलित हस्त

अभिनव—अब वलित हस्त का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—यदि लता हस्तों को कोहनियों पर स्वस्तिक के रूप में रख दिया जाय तो 'वलित' हस्त होता है ॥ २१० ॥

अभिनव – कूर्पर स्थान में अर्थात् कोहनियों पर स्वस्तिक से युक्त लताहस्त बाहुओं का वलन होने के कारण 'वलित' हस्त कहलाता है । 'इति' शब्द का प्रयोग इस प्रकार की भिन्न-भिन्न वर्त्तनाओं का सूचक है ॥ २१० ॥

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को विशेष रूप से नृत्तहस्तों का प्रयोग करणों के निर्माण में करना चाहिए और पताका हस्तों का प्रयोग अर्थाभिनय के प्रदर्शन में करना चाहिए ॥ २११ ॥

अनुवाद –किन्तु प्रयोजन वश अर्थात् आवश्यकता के अनुसार उनका मिश्रित प्रयोग भी हो सकता है किन्तु नाट्य और नृत्त में इन हस्तों का प्रयोग मुख्यतः उनके कथित नामों के अनुसार ही होता है ॥ २१२ ॥

अनुवाद –इस प्रकार संयुत और असंयुत नृत्त हस्तों को कहा गया है । अब मैं करणों से सम्बद्ध हस्तों का वर्णन करूँगा ॥ २१३ ॥

---

१. ख. ग. ललिताविति ।
२. ख. ग. पुस्तकयोरितः श्लोकद्वयं नास्ति ।
३. क-म. असंयुता। संयुताश्च नृत्तहस्ताश्च कीर्त्तिताः ।
४. क-म. वक्ष्याम्यतः परमहं ।		५. ख. ग. करणं हस्तसंश्रयम् ।

करणसंश्रयान्करान् वक्ष्यामोति । करणासक्तत्वाद्विशेषणभागस्यैव संश्रियमाणस्य करणस्य प्रवचनं फलति । यथा लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्तीति वचनान्तरादृत्विजां प्रचारलाभात् द्वाविति औविभक्तिरुपपदार्थविधानपरेति ।

करणमिति करणानि इति ह्यर्थे पाठः । यत् क्रियते सम्पाद्यते बलादेवाभिनयविशेषो येनाङ्गुलितुलनक्रियाविशेषेण तत्करणम् । स्वसमाप्तौ निराकाङ्क्षा, परिसमाप्त्यभावे तु वर्तनायाः क्रियान्तराकाङ्क्षा । तदेवेदमङ्गतत्त्वविदस्त्रोटनमङ्गस्येति व्यवहरन्ति । तेन येषु हस्तेषु तर्जन्यादेः कुञ्चनं तेष्वरालवत् क्रिया, यथा शुकतुण्डचतुरमृगशीर्षकादिषु । एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम् ।

पताकस्य तु सर्ववर्तनासु कार्यकरणतया साधारण्यं सर्वप्रकृतित्वम् । तत एव प्राधान्यात् पताकव्यपदेशः ।

अभिनव—करण के संश्रय से बनने वाले हाथों को कहूँगा, इस प्रकार करणों की आसक्ति से संश्रियमाण करण के विशेषणभाग का ही प्रवचन फलता है। जैसे—'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' अर्थात् 'लाल पगड़ी वाले ऋत्विज घूमते हैं' यहां पर वचनान्तर से ऋत्विजों का प्रचार मिल जाता है। उसी प्रकार यहाँ 'औ' विभक्ति उपपदार्थ के विधान की ज्ञापिका है।

यहां पर 'करण' शब्द (करणानि) के अर्थ में पठित है। जिस अङ्गुलि के तुलन रूप क्रिया विशेष के द्वारा बलपूर्वक अभिनय विशेष का सम्पादन किया जाता है उसे करण कहते हैं। अभिनय विशेष को समाप्ति में वर्त्तना क्रिया निराकांक्षा होती है। किन्तु परिसमाप्ति के अभाव में वर्तना को क्रियान्तर की आकांक्षा होती है। नाट्याङ्ग के तत्त्वों के वेत्ता विद्वान् इसका 'अङ्गत्रोटन' के नाम से व्यवहार करते हैं। इसलिए जिन हाथों में तर्जनी आदि अंगुलियों का कुञ्चन होता है उनमें अराल हस्त की तरह क्रिया होती है। जैसे शुकतुण्ड, चतुर, मृगशीर्षक आदि हस्तों में। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी उत्प्रेक्षा करनी चाहिए।

पताक हस्त के सभी वर्तनाओं में कार्य करने से सर्वसाधारण है, पताकहस्त सब की प्रकृति है। इसीलिए प्रधानता के कारण पताक शब्द से व्यपदेश है।

सर्वेषामेव हस्तानां [1]नाट्यहस्तनिदेशिभिः ।
[2]विधातव्या प्रयत्नेन करणं तु चतुर्विधम् ॥ २१४ ॥
[3]अपवेष्टितमेकं स्यात् उद्वेष्टितमथापरम् ।
व्यावर्तितं तृतीयं तु चतुर्थं परिवर्तितम् ॥ २१५ ॥
[4]आवेष्ट्यन्ते यदङ्गुल्यस्तर्जन्याद्या यथाक्रमम् ।
[5]अभ्यन्तरेण करणं तदावेष्टितमुच्यते ॥ २१६ ॥

अभ्यन्तरेण तलसंमुखत्वेन बाह्यपार्श्वात् देहं प्रति वक्षःक्षेत्रपर्यन्तप्राप्त्या । अतो वैपरीत्येन कनिष्ठाद्यावर्तंत बहिर्मुखत्वं वक्षःक्षेत्रात्तु बहिर्निर्गमनम् इति तल-सम्मुखत्वमेवाभ्यन्तरत्वम् । एतद्विपर्यासेन बाह्यता ॥ २१६-२१९ ॥

अनुवाद—नाट्यहस्त के विशेषज्ञों को सभो हस्तों का प्रयत्न पूर्वक विधान करना चाहिए । सभी हाथों के करण चार प्रकार के होते हैं—एक आवेष्टित, दूसरा उद्वेष्टित, तीसरा व्यावर्त्तित और चौथा परिवर्त्तित ॥ २१४-२१५ ॥

४—करण हस्त

१—आवेष्टित

अनुवाद—जब तर्जनी आदि अंगुलियाँ क्रमशः भीतर की ओर आवेष्टित हों तो 'आवेष्टित' करण हस्त कहा जाता है ॥ २१६ ॥

अभिनव- अभ्यन्तरेण अर्थात् हथेली के संमुख बाह्यप्रदेश से लेकर वक्षःस्थल के क्षेत्र तक पहुँचना । अतः विपरीत क्रम से कनिष्ठा आदि अंगुलियों का आवर्त्तन होता है, अतः बहिर्मुखत्व का अर्थ है वक्षःक्षेत्र से बहिर्गमन और आभ्यन्तरत्व का अर्थ तलसंमुखत्व ही है । इसके विपरीत बाह्यता होती है ॥ २१६-२१९ ॥

---

१. क-ज. नृत्तप्रदर्शिभिः । क-म. नृत्तप्रवेदिभिः ।

२. क विज्ञातव्यं । क-ग. विज्ञातव्या ।
क-भ. पुस्तकेऽय श्लोकार्धो नास्ति ।

३. क. ग. अथावेष्टितमेकं स्यादुद्वेष्टितमथापरम् ।
क-म उद्वेष्टितमपवेष्टितमावर्त्तविवेष्टितं चैव ।

४. क-म. उद्वेष्टयन्ते यदङ्गुल्यस्तर्जनाद्या यथाक्रमम् ।
उद्वेष्टितं तु करणं तज्ज्ञेयं हस्तसंश्रयम् ।

५. क. आवेष्टितं तु करणं तदा ज्ञयं प्रयोक्तृभिः ।

[1]उद्वेष्ट्यन्ते यदङ्गुल्यः तर्जन्याद्या बहिर्मुखम्[2] ।
क्रमशः करणं विप्रास्तदुद्वेष्टितमुच्यते ॥ २१७ ॥

[3]आवर्त्यन्ते कनिष्ठाद्या ह्यङ्गुल्योऽभ्यन्तरेण तु ।
[4]यथा क्रमेण करणं तद् व्यावर्तितमुच्यते ॥ २१८ ॥

[5]उद्वर्त्यन्ते कनिष्ठाद्या बाह्यतः[6] क्रमशो यदा ।
अङ्गुल्यः करणं विप्रास्तदुक्तं परिवर्तितम् ॥ २१९ ॥

---

२. उद्वेष्टित करण

अनुवाद—हे द्विजों ! जब तर्जनी आदि सभी अंगुलियाँ क्रमशः बाहर की ओर उद्वेष्टित कर दी जाँय तो 'उद्वेष्टित' करण कहा जाता है ॥ २१७ ॥

३. व्यावर्त्तित करण

अनुवाद—जब कनिष्ठा आदि सभी अंगुलियाँ क्रमशः भीतर की ओर आवर्त्तित कर दी जाँय तो 'व्यावर्त्तित' नामक करण होता है ॥ २१८ ॥

४. परिवर्त्तित करण

अनुवाद—जब कनिष्ठा आदि सभी अंगुलियाँ क्रमशः बाहर की ओर परवर्त्तित कर दो जाँय तो हे विप्रो ! वहाँ 'परिवर्त्तित' करण होता है ॥ २१९ ॥

---

१. क-म. पुस्तके–
आवेष्टयन्ते यदाङ्गुल्यः कनिष्ठाद्या पुनः पुनः ।
तदावेष्टितमित्याहुः करणं हस्तसंश्रयम् ।
यदाङ्गुल्योऽपवेष्टयन्ते कनिष्ठाद्याः पुनः पुनः ।
अपवेष्टितमित्याहुः करणं हस्तसंश्रयम् ।
कुञ्चिती मणिबन्धान्ते व्यावृत्तपरिवेष्टितौ ।
शुकतुण्डे यदा हस्तं स्मृतं व्यावर्त्तितं तत् ।
२. ख. तर्जन्याद्या बहिर्मुखाः ।
३. ख. आवर्त्तन्ते ।
४. ख. यत्तु ।
५. ख. उद्वर्त्तन्ते । क-द. आवर्त्यन्ते ।
६. ख. बाह्यशः ।

[1]नृत्तेऽभिनययोगे वा पाणिभिर्वर्तनाश्रये ।
मुखभ्रूनेत्रयुक्तानि करणानि प्रयोजयेत् ॥ २२० ॥

ननु किमेतैरावेष्टिताद्यैरित्याशङ्क्य एतेषां साधनतमत्वं दर्शयति—नृत्तेऽभिनययोगे चेति ।

नृत्ते नाट्ये च करणानि प्रकर्षेण योजयेत् । केन हेतुनेत्याह पाणिभिरिति, यतो वर्तना जाता जन्यजनकाश्च पूर्वपश्चाद्भावित्वेन । पाणयो नृत्तनाट्यहस्ताः । नृत्तशब्देन नृत्तहस्ताः नाट्यशब्देनाभिनयहस्ताः सूचिताः । कथं प्रयोजयेदित्याह—मुखभ्रूनेत्रयुक्तानीति । यतो हि वर्तना धावन्ति तत एव मुखादोनीति तात्पर्यम् । नेत्रभ्रूमुखरागाः यैर्व्यञ्जिता इति त्वियमभिनयेषु पूरणार्था प्रक्रिया । इयं तु वर्तनास्वित्यपौनरुक्त्यम् ॥ २२० ॥

अनुवाद—जब नृत्त और अभिनय नाट्य के प्रयोग में वर्त्तना क्रिया के आश्रय से हावों के संचालन के आधार पर मुख, नेत्र, भौंह से युक्त करणों का प्रयोग करना चाहिए ॥ २२० ॥

अभिनव—इन आवेष्टित आदि करणों से क्या लाभ ? इस प्रकार की आशङ्का करके उनकी अतिशय उपयोगिता दिखाते हैं—

नृत्त और अभिनय के योग में अर्थात् नृत्त और अभिनयों के प्रयोग में करणों का प्रयोग अधिक करना चाहिए । कैसे करना चाहिए ? इस बात को कहते हैं -हाथों से, क्योंकि उनसे वर्त्तना उत्पन्न हुई है । पूर्व और पश्चाद्भाव से इसमें जन्य-जनक भाव है । यहाँ पाणि का अभिप्राय है नृत्त और नाट्य में उपयोगीहस्त हैं । नाट्य शब्द से अभिनय हस्त और नृत्त शब्द से नृत्त हस्त सूचित हैं । कैसे प्रयोग करे ? इस बात को कहते हैं कि मुख, नेत्र, भौंह से युक्त प्रयोग करना चाहिए, इसका तात्पर्य है कि जिधर वर्त्तनाएँ चलती हैं । (दौड़ती हैं) उधर ही मुखादि भी रहें । नेत्र, भौंह और मुख का राग वर्त्तना से व्यक्त होता है । यह तो अभिनयों की पूर्त्ति के लिए प्रक्रिया है । यह तो वर्त्तनाओं में भी होती है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है ॥ २२० ॥

---

१. क म. नृत्ते चाभिनये चापि हस्तैरेतानि नित्यशः ।

[1]तिर्यक्तथोर्ध्वसंस्थो ह्यधोमुखश्चाञ्चितोऽपविद्धस्तु ।
मण्डलगतिस्तथा स्वस्तिकश्च पृष्ठानुसारी च ॥ २२१ ॥
उद्वेष्टितः प्रसारित इत्येते वै स्मृताः प्रकारास्तु ।
बाह्वोरिति करणगता विज्ञेया नित्यं नृत्तप्रयोक्तृभिः ॥ २२२ ॥

बाहुलग्नत्वादङ्गुलिक्रियायास्तद्भेदानाह-तिर्यक्तथोर्ध्वसंस्थ इत्यादि ।

तिर्यगिति पार्श्वगत्या, उर्ध्वसंस्थः शिरसोऽप्युपरि गच्छन्, अधोमुखो भुवमाश्लिष्यन्, अञ्चितो वक्षोदेशान्निष्क्रम्य शिरःक्षेत्रमेव प्रत्यागतः, अपविद्धो मण्डलगतेः सर्वतो भ्रमन् । पृष्ठं स्वकायस्यानुसरतीति पृष्ठानुसारी उद्वेष्टितो मणिबन्धनवर्तनया निष्क्रामणम् प्रसारितस्य तु स्पष्टमेववाग्रमनुधावन् । एतेषु करणेषु चतुर्षु द्रुतमध्यविलम्बितादिवैचित्र्येण बाहुपर्यायेण च समस्तानि योजनया यदा नियुज्यन्ते तदा पातवर्तनादिशतसहस्राण्यत्रैवान्तर्भूतानीति यदेके चत्वारिंशतमन्ये शतमाहुस्तन्मिथ्यैव । तदाह करणगता विशेषा अवश्यं ज्ञातव्या इति । नित्यमेतद्व्यतिरिक्तप्रयोजनाभावात् ॥ २२१-२२२ ॥

अनुवाद—तिर्यक्, ऊर्ध्वसंस्थ, (ऊर्ध्वमुख), अधोमुख, अञ्चित, अपविद्ध, मण्डलगति, स्वस्तिक, पृष्ठानुसारी, उद्वेष्टित और प्रसारित ये करणगत हाथों के दस प्रकार बताये गये हैं । नृत्तप्रयोक्ताओ को करणगत बाहुओं के इन दस प्रकारों को सदैव ज्ञान रखना चाहिए ॥ २२१-२२२ ॥

अभिनव—बाहु से संलग्न अङ्गुलियाँ, उनकी क्रियाएँ और उनके भेदों को कहते हैं—'तिर्यक्' इत्यादि ।

अभिनव—'तिर्यक्' का आशय है पार्श्व, उसकी गति । 'ऊर्ध्वसंस्थः' का अभिप्राय है ऊर्ध्वमुख अर्थात् शिर के ऊपर जाना । 'अधोमुख' का तात्पर्य है भूमि स्पर्श करने वाला । 'अञ्चित' पद का अभिप्राय है वक्षःप्रदेश से निकलकर शिरःप्रदेश में लौटना । 'अपविद्ध' का अर्थ है मण्डलाकार गति से चारों ओर घूमना । 'पृष्टानुसारी'

---

१. ब. तिर्यगूर्ध्वगतं चैव तथाऽधोमुख एव च ।
आविद्धश्चापविद्धश्च मण्डलस्वस्तिकस्तथा ।
अञ्चितः कुञ्चितश्चैव पृष्ठगश्चेति चोदितः ।
बाहुप्रकारो दशधा नाट्यनृत्तप्रयोक्तृभिः ॥

हस्तानां करणविधिर्मया समासेन निगदितो विप्राः ।
अत ऊर्ध्वं व्याख्यास्ये हृदयोदरपार्श्वकर्माणि[1] ॥ २२३ ॥
[2]आभुग्नमथ निर्भुग्नं तथा चैव प्रकम्पितम् ।
उद्वाहितं समं चेव उरः पञ्चविधं स्मृतम् ॥ २२४ ॥

अथोरसः कर्माण्याह—आभुग्नमित्यादि ॥ २२४ ॥

का अर्थ है अपने शरीर के पृष्ठभाग का अनुसरण करने वाला । 'उद्वेष्टित' पद का अभिप्राय है मणिबन्ध सम्बन्धी वर्त्तना से निष्क्रमण । 'प्रसारित' का अर्थ है अग्रभाग का स्पष्ट अनुधावन । इन चार प्रकार के करणों में द्रुत, मध्य, विलम्बित आदि विचित्रता से और बाहुओं के पर्याय से उन समस्त करणों को जब किसी एक योजना से नियोजन करते हैं तब उसमें सैकड़ों, हजारों वर्त्तनाएँ अन्तर्निहित होती हैं । अतः जो इनको चालोस कहते हैं और दूसरे सौ (१००) कहते हैं वह सब मिथ्या है । इसलिए कहते हैं कि करणगत विशेषताएँ अवश्य जाननी चाहिए । यहाँ पर 'नित्य' पद के कहने का अभिप्राय है कि इनके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २२१-२२२ ॥

अनुवाद—हे विप्रों ? इस प्रकार मैंने संक्षेप में हाथों के करणविधि को कहा है । अब इसके बाद हृदय, उदर और पार्श्वों के कर्मो की व्याख्या करूँगा ॥ २२३ ॥

अभिनव—अब प्रथम उरस् के कर्मों को कहता हूँ—

उरः कर्म

अनुवाद--आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित एवं सम ये पांच प्रकार के उर (हृदय) के कर्म कहे गये है ॥ २२४ ॥

---

१ ख. पुस्तकेऽत्रैवाध्यायसमाप्तिरेव वर्तते ।

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे हस्ताभिनयो नाम नवमोऽध्यायः ।

२. क-च. आभुग्नमथनिर्भुग्नं ।

[1]निम्नमुन्नतपृष्ठं च [2]व्याभुग्नांसं श्लथं क्वचित् ।
आभुग्नं तदुरो ज्ञेयं कर्म चास्य निबोधत ॥ २२५ ॥
[3]संभ्रमविषादमूर्च्छाशोकभयव्याधिहृदयशल्येषु[4] ।
कार्यं [5]शीतस्पर्शे वर्षे [6]लज्जान्वितेऽर्थवशात् ॥ २२६ ॥

निम्नमिति ससङ्कोचम् । क्वचिदिति मध्ये मध्ये, श्लथं शिथिलम् । निरवष्टम्भं कृत्वा व्याभुग्नावधः पतन्ताविवांसौ ॥ २२५ ॥

यत्र शीतेनापि विना शीतस्पर्शं । एवमेव मार्गे भ्रमणमिति वर्षं इत्युक्तम् ॥ २२५ ॥

---

१. आभुग्न

अनुवाद—जो सामने नत हो, (झुका हुआ हो) पृष्ठ उन्नत हो, कन्धे झुके हुए और शिथिल हों तो 'आभुग्न' उर कहलाता हैं, अब उसके कर्मों समझिये ॥ २२५ ॥

अभिनव—'निम्न' पद का अर्थ है सङ्कोच के साथ । 'क्वचित्' का अभिप्राय है बीच-बीच में । 'श्लथ' का शिथिल अर्थ है । 'व्याभुग्न' का अर्थ है विना सहारे नीचे गिरे हुए के समान दोनो अंस (कन्धे) ॥ २२५ ॥

अनुवाद सम्भ्रम, विवाद, मूर्च्छा, शोक, भय, व्याधि, हृदय का शूल, शीतस्पर्श, वर्षा और लज्जा के प्रसङ्ग में प्रयोजन के अनुसार (आभुग्न) उर का प्रयोग करना चाहिए ॥ २२६ ॥

अभिनव—जहाँ शीत के विना भी शीत स्पर्श हो वहाँ । इसी प्रकार मार्ग में भ्रमण से वर्षा का संकेत है ॥ २२६ ॥

---

१. क–म. निम्नमध्यं भवेद् यत्तु व्याभुग्नांसं तथैव च ।
आभुग्नमिति तत्प्रोक्तं कर्माण्यस्य निबोधत ।
२. ख. ग. व्याभुग्नं संश्लथं ।
३. क–भ शास्त्रच्छेदे विषादे च हृच्छोके मूर्च्छिते भवेत् ।
खेदे कार्यं वर्षे रतिस्पर्शे लज्जान्वितेऽपि च ।
४. ग. शिल्पेषु । ५. ख. तेन स्पर्शे । ६. ख. लज्जायिते ।

[1]स्तब्धं च निम्नपृष्ठं च निर्भुग्नांसं समुन्नतम् ।
उरो निर्भुग्नमेतद्धि कर्म चास्य निबोधत ॥ २२७ ॥
स्तम्भे [2]मानग्रहणे विस्मयदृष्टे[3] च सत्यवचने च ।
अहमिति च [4]दर्पवचने गर्वोत्सेके[5] तु कर्तव्यम् ।। २२८ ॥
अत्र केचित् क्षेपकोऽयम्—
[6]दीर्घनिःश्वसिते चैव जृम्भणे मोटने तथा ।
[7]बिब्बोके च पुनः स्त्रीणां तद्विज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ॥ २२९ ॥

सम्यगुत्थितं कृत्वा निष्क्रान्तौ शुद्धौ भुग्नावंसौ यत्र ॥ २२६ ॥

२. निर्भुग्न

अनुवाद—यदि उर स्तब्ध (दृढ़), पृष्ठ निम्न (झुका हुआ), स्कन्ध निर्भुग्न (न झुका हुआ) और समुन्नत (उठा हुआ) हो तो 'निर्भुग्न' उर होता है। अब उसके कर्मों को समझिये ॥ २२७ ॥

अभिनव—अच्छी तरह उन्नत करके निष्क्रान्ता अर्थात् शुद्ध और भुग्न है अंस जिसमें ॥ २२७ ॥

अनुवाद—स्तम्भ, मान के ग्रहण, विस्मयपूर्वक अवलोकन, सत्यवचन, 'मैं' इस प्रकार दर्पयुक्त वचन में, गर्व के उद्रेक में निर्भुग्न उर की योजना करनी चाहिए ॥ २२८ ॥

अनुवाद—यहाँ पर कुछ आचार्य इस श्लोक को क्षेपक मानते हैं—

अनुवाद—दीर्घ-निःश्वास जृम्भण (जंभाई लेने) और मोटन (अङ्गों के मरोड़ने), स्त्रियों के बिब्बोक की दशा में प्रयोक्ताओं को 'निर्भुग्न' उर का प्रयोग करना चाहिए ॥ २२९ ॥

१. ग. स्वच्छं । क-म. स्तब्धं समुन्नतं चैव निम्नं पृष्ठं तथैव च ।
२. क-न. माने ग्रहणे ।
३. क. विस्मयहर्षे च सत्त्वदृष्टे च ।
४. क-म. जल्पवचने ।
५. ख. गर्वोत्साहे तु ।
६. अयं श्लोकः 'ख' पुस्तके नास्ति ।
७. क. विद्वेषे ।

[1]ऊर्ध्वोत्क्षेपैरुरो [2]यत्र निरन्तरकृतैः [3]कृतम् ।
[4]प्रकम्पितं तु [5]विज्ञेयमुरो नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ २३० ॥
[6]हसितरुदितादिसंभ्रमभयश्रमव्याधिपीडितार्थेषु ।
नानाभावोपगतं कार्यमुरो नाट्ययोगेषु ॥ २३१ ॥
[7]हसितरुदितेषु कार्यं श्रमे भये श्वासकाशयोश्चैव ।
हिक्कादुःखे च तथा नाट्यज्ञैरर्थयोगेन[8] ॥ २३२ ॥

हिक्का स्पष्टम् ॥ २३२ ॥

३. प्रकम्पित

अनुवाद—जहाँ पर निरन्तर किए गए ऊर्ध्व क्षेपों से उर में कम्पन होता है उसे नाट्य-प्रयोक्ताओं को 'प्रकम्पित' उर समझना चाहिए ॥ २३० ॥

अनुवाद—हंसी, रोदन (रोना), सम्भ्रम, भय, श्रम, व्याधि से पीड़ित अर्थ के अभिनय में अनेक भावों से उपगत 'प्रकम्पित' उर का प्रयोग करना चाहिए ॥ २३१ ॥

अनुवाद—हंसने, रोने, श्रम, भय, श्वांस, खांसी, हिचकी तथा दुःख की दशा में नाट्यतत्त्वज्ञों की स्थिति के अनुसार इस उर का प्रयोग करना चाहिए ॥ २३२ ॥

अभिनय—यहाँ हिक्का का अर्थ स्पष्ट है ॥ २३२ ॥

१. क. ऊर्ध्वक्षेपैः । क–द. उरोक्षेपैः ।
२. ख. यत्तु ।
३. क–म. कृतैर्युतम् ।
४. क–म. आकम्पितं तु कर्तव्यं कर्म चास्य निबोधत ।
५. ग तज्ज्ञेयं ।
६. क. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।
७. ख. ग. पुस्तकयोरयं श्लोको नास्ति ।
क–म. हसिते रुदिते कार्यं ।
८. ख. ग. अर्थवेगेन (टिप्पणी) ।

[1]उद्वाहितमूर्ध्वगतमुरो ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ।
[2]दीर्घोच्छ्वासोन्नतालोके जृम्भणादिषु चेष्यते ॥ २३३ ॥
[3]सर्वैः ससौष्ठवैरङ्गैश्चतुरस्रकृतैः कृतम् ।
[4]उरः समं तु विज्ञेयं स्वस्थं सौष्ठवसंयुतम् ॥ २३४ ॥
एतदुक्तं मया सम्यगुरसस्तु विकल्पनम् ।
अत[5] ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पार्श्वयोरिह लक्षणम् ॥ २३५ ॥

---

४. उद्वाहित

अनुवाद—ऊपर उठे हुए उर को प्रयोक्ताओं को 'उद्वाहित' उर समझना चाहिए। दीर्घनिःश्वास, उन्नत वस्तु के अवलोकन और जंभाई लेने आदि की दशा में इसका प्रयोग इष्ट है ॥ २३३ ॥

५. समवक्षःस्थल

अनुवाद—चतुरस्र किये हुए सौष्ठवयुक्त सभी अङ्गों के विन्यास से 'सम' नामक उर होता है। इसे स्वस्थ और सौष्ठवयुक्त समझना चाहिए २३४ ॥

अनुवाद--इस प्रकार मैंने सम्यक् रूप से उर के भेदों को कहा है। अब इसके बाद दोनों पार्श्वों का लक्षण कहूँगा ॥ २३५ ॥

---

१. क. उद्वाहितं तूर्ध्वंकृतमुरो ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ।
ख. उद्वाहितमूर्ध्वगतमुरो ज्ञेयं प्रयोगतः ।
क–म. उद्वाहितमूर्ध्वगतं यदुरस्तु स्वभावतः ।

२. क–म. दीर्घे निःश्वसिते कार्ये जृम्भणे च तथैव च ।

३. ख. दीर्घोच्छ्वासनतालोके ।
ग. दीर्घोच्छ्वासोऽत्र चालोकजृम्भणादिषु चेष्यते ।
क-न. दीर्घनिःश्वसितं कार्यं ।

४. क-ग. सर्वैरेवाङ्गविन्यासैः ।

५ क–ग. समं तच्चैव विज्ञेयमुरः सौष्ठवसम्भवम् ।
क–द. उरः सममिदं ज्ञेयं स्वभावाभिनयात्मकम् ।

६. क. अतः परम् ।

नतं समुन्नतं चैव प्रसारितविर्वातिते ।
[1]तथापसृतमेवं तु पार्श्वयोः कर्म पञ्चधा ॥ २३६ ॥
[2]कटिर्भवेत्तु व्याभुग्ना पार्श्वमाभुग्नमेव च ।
तथैवापसृतांसं किञ्चित्पार्श्वं नतं स्मृतम्[3] ॥ २३७ ॥
[4]तस्यैव चापरं पार्श्वं विपरीतं तु युक्तितः ।
[5]कटिपार्श्वभुजांसैश्चाभ्युन्नतैरुन्नतं [6]भवेत् ॥ २३८ ॥

पार्श्वकर्म

अनुवाद—नत, समुन्नत, प्रसारित, विर्वात्तत और अपसृत इस प्रकार दोनों पार्श्वों के कर्म पांच प्रकार के बताये गये हैं ॥ २३६ ॥

१-नत पार्श्व

अनुवाद—यदि कटि व्याभुग्न हो और पार्श्व (बाजू) भी आभुग्न (झुका हुआ) हो और उसी प्रकार अंस (स्कन्ध) कुछ अपसृत हो तो 'नत' नामक पार्श्व कहा जाता है ॥ २३७ ॥

२-समुन्नत पार्श्व

अनुवाद यदि इस नत पार्श्व का अपर पार्श्व विपरीत हो अर्थात् आभुग्न न हो और युक्ति के अनुसार कमर, (कटि), पार्श्व, भुज, स्कन्ध ऊपर उठे हुए हो तो 'समुन्नत' पार्श्व होता है ॥ २३८ ॥

१. क-म. तथापसृतमेवं स्यात् ।
२. क. कटीभवेत्तु ।
३. क—म. भवेत् ।
४. क. नतस्यैवापरं ।
५ क—म. कटीपार्श्वभुजांसानामुन्नतैरुन्नतं स्मृतम् ।
६. क-द. कटिपार्श्वभुजांसंवाभ्युन्नतैसन्तं स्मृतम् ।

[1]आयामनादुभयतः पार्श्वयोः स्यात् प्रसारितम् ।
[2]परिवर्तात्त्रिकस्यापि विवर्तितमिहेष्यते ॥ २३९ ॥
[3]विवर्तितापनयनाद् भवेदपसृतं पुनः ।
[4]पार्श्वलक्षणमित्युक्तं विनियोगं निबोधत ॥ २४० ॥
[5]उपसर्पे नतं कार्यमुन्नतं चापसर्पणे ।
प्रसारितं [6]प्रहर्षादौ परिवृत्ते[7] विवर्तितम् ॥ २४१ ॥

शिष्टकटीत्रिकस्कन्धकर्माणि पार्श्वकर्माणीति ॥ २४० ॥

३-प्रसारित पार्श्व

अनुवाद—यदि पार्श्वों को दोनो ओर से फैला दिया जाय (आयामन = विस्तारित) हो तो 'प्रसारित' पार्श्व कहलाता है ।

४-विवर्त्तित पार्श्व

अनुवाद—यदि त्रिक परिवर्त्तित कर दिया जाय तो 'विविर्त्तित' पार्श्व होता है २३९ ॥

५-अपसृत पार्श्व

अनुवाद—विवर्त्तित पार्श्व के अपनयन से 'अपसृत' पार्श्व होता है । इस प्रकार पार्श्व का लक्षण कहा गया है । अब उसके विनियोग को समझिये ॥ २४० ॥

अभिनव—कटी, त्रिक (रीढ़ की हड्डी) और स्कन्ध के कर्मों से अवशिष्ट ये पार्श्वकर्म हैं ॥ २४० ॥

अनुवाद—उपसर्पण अर्थात् किसी के पास जाने में 'नत' पार्श्व का प्रयोग करना चाहिए और अपसर्पण में 'समुन्नत' पार्श्व का प्रयोग करना चाहिये । प्रहर्ष आदि में 'प्रसारित' का और परिवर्त में 'विवर्त्तित' का प्रयोग करना चाहिए ॥ २४१ ॥

---

१. क—म. प्रसारणात् ।
२. ख. ग. परिवर्तितत्रिकस्यापि ।
३ ग. विवर्तितोपनयनात् । क. निवर्त्तनापनयनात् ।
४. क-भ. प्रयोगमेषां वक्ष्याभि पुनस्तन्मे निबोधत ।
५. क-न. उपसर्पणे नतं कार्यं ।
६. क-ङ. प्रसारितं प्रकर्षादौ परिवृत्तौ ।
क-भ. प्रसारितं प्रहर्षादौ त्रासे चापसृतं भवेद् ।
७. ख. परिवर्त्तौ ।

विनिवृत्ते त्वपसृतं पार्श्वमर्थवशाद्भवेत् ।
एतानि पार्श्वकर्माणि जठरस्य[1] निबोधत ॥ २४२ ॥
क्षामं खल्वं च पूर्णं च संप्रोक्तमुदरं त्रिधा ।
तनु क्षामं नतं खल्वं पूर्णमाध्मातमुच्यते ॥ २४३ ॥
क्षामं [2]हास्येऽथ रुदिते निःश्वासे जृम्भणे भवेत् ।
व्याधिते तपसि[3] श्रान्ते क्षुधार्ते खल्वमिष्यते ॥ २४४ ॥
[4]पूर्णमुच्छ्वसिते स्थूले व्याधितात्यशनादिषु ।
[5]इत्येतदुदरं प्रोक्तं कट्याः कर्म निबोधत ॥ २४५ ॥

अनुवाद—विनिवर्त्तन में 'अपसृत' पार्श्व का प्रयोजन के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। ये पार्श्व के कर्म कहे गये है। अब जठर (उदर) के कर्मों को सुनिये ॥ २४२ ॥

उदरकर्म

अनुवाद—क्षाम, खल्व और पूर्ण भेद से उदर तीन प्रकार का कहा गया है। उनमें तनु अर्थात् क्षीण उदर 'क्षाम' कहलाता है, नत (झुका हुआ) उदर 'खल्व' होता है और आध्मात अर्थात् भरा हुआ उदर 'पूर्ण' कहलाता है ॥ २४३ ॥

अनुवाद—हास्य, रोदन, निःश्वास और जंभाई लेने में 'क्षाम' उदर का प्रयोग होता है, व्याधि, तपस्या, थकावट तथा भूख में 'खल्व' का प्रयोग होता है और उच्छ्वास, स्थूलता, व्याधि तथा अतिशय भोजन करने में 'पूर्ण' उदर का अभिनय करना चाहिये। इस प्रकार उदर के लक्षण और प्रयोग को कहा गया है। अब कटी के कर्म को जानिए ॥ २४४-२४५ ॥

---

१. क-भ यथायोगं प्रयोजयेत् ।
२ ख. क्षामं हासे च। क-म क्षामं तु हसिते कार्यं तथा चैव प्रजृम्भणम् ।
३. क-म. तपसा ।
४ ख पूर्णमुच्चालितं स्थूले व्याधितन्द्राशनादिषु ।
क-म. पूर्णं नि.श्वसिते कार्यं भुक्ते पीते च योक्तृभिः ।
५ क-ग. इत्येतदुदरस्योक्तं कर्म कट्याः निबोधत।

अन्ये तु—

क्षामं खल्वं समं पूर्णमुदरं स्याच्चतुर्विधम् ।
[1]छिन्ना चैव निवृत्ता च रेचिता कम्पिता तथा ।
उद्वाहिता [2]चैव कटी नाट्ये नृत्ते च [3]पञ्चधा ॥ २४६ ॥
[4]कटी मध्यस्य बलनाच्छिन्ना संपरिकीर्तिता ।
पराङ्मुखस्याभिमुखी निवृत्ता स्यान्निर्वात्तिता[5] ॥ २४७ ॥
सर्वतो भ्रमणाच्चापि विज्ञेया रेचिता कटी ।
तिर्यग्गतागता क्षिप्ता[6] कटी ज्ञेया[7] प्रकम्पिता ॥ २४८ ॥

अन्य के मतानुसार उदरभेद

अनुवाद अन्य आचार्य तो क्षाम, खल्व, सम और पूर्ण भेद से चार प्रकार के उदर को कहते हैं ।

कटिकर्म

अनुवाद—छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता और उद्वाहिता ये नाट्य और नृत्त कटि के पांच प्रकार बताये गये हैं ॥ २४६ ॥

अनुवाद मध्य भाग के वलन से 'छिन्ना' कटि कही जाती है । पराङ्मुख व्यक्ति की सामने की ओर से निर्वात्तित होने वाली कटि 'निवृत्ता' कहलाती हैं ॥ २४७ ॥

अनुवाद--चारों ओर से भ्रमण करने (घूमने) से 'रेचिता' कटी समझनी चाहिए और तिरछी आने-जाने वाली कटी 'प्रकम्पिता' कहलाती है ॥ २४८ ॥

---

१ क-म. छिन्ना प्रकम्पिता चैव विवृता रेचिता तथा ।
२. क-ग. चेति ।
३. क-म. नृत्ते पञ्चविधाः स्मृताः ।
४. क-म. मध्यस्य वलनात्तत्र कटी छिन्नेति कीर्त्तिता ।
५. क-म. विवृत्ता परिकीर्तिता ।
६ क. क्षिप्रं ।
७. क-म. विज्ञेया सा प्रकम्पिता ।

[1]नितम्बपार्श्वोद्वहनात् शनैरुद्वाहिता कटी ।
[2]कटीकर्म मया प्रोक्तं विनियोगं निबोधत ॥ २४९ ॥
[3]छिन्ना व्यायामसंभ्रान्तव्यावृत्तप्रेक्षणादिषु ।
[4]निवृत्ता वर्तने चैव रेचिता भ्रमणादिषु ॥ २५० ॥
[5]कुब्जवामननीचानां गतौ कार्या प्रकम्पिता ।
स्थूलेषूद्वाहिता योज्या स्त्रीणां लीलागतेषु च ॥ २५१ ॥

अनुवाद--नितम्ब और पार्श्व भाग से धीरे-धीरे उद्वहन करने वाली कटी उद्वहिता कटी कहलाती है। इस प्रकार मैंने कटी के कर्म को कहा है। अब उनका विनियोग समझिये ॥ २४९ ॥

कटि-विनियोग

अनुवाद—व्यायाम, संभ्रान्त तथा पीछे घूमकर देखने आदि में 'छिन्ना' कटी का प्रयोग होता है और वर्तन अर्थात् गोल घूमने में 'निवृत्ता' कटी का विनियोग होता है तथा भ्रमण आदि में 'रेचिता' कटी का विनियोग होता है ॥ २५० ॥

अनुवाद—कूबड़े, वामन (बौने) तथा नीच पुरुषों को गति में 'प्रकम्पिता' कटी का प्रयोग करना चाहिए और स्थूल पुरुषों की गति में तथा स्त्रियों के लीलापूर्वक गमन (गति) में 'उद्वाहिता' कटी का विनियोग करना चाहिये। पाठभेद के अनुसार वृद्ध, वामन (बौने) तथा कुबड़े की गति में 'प्रकम्पिता' गति का विनियोग करना चाहिये ॥ २५१ ॥

---

१. क-म. नितम्बोद्वहनाच्चैव क्रमेणोद्वाहिता स्मृता ।
२. क- ग. पुनश्चासां प्रवक्ष्यामि विनियोगप्रयोजनम् ।
३. क-म. छिन्ना कार्या कटी भ्रान्ते विवृत्ता वर्त्तनेषु च ।
४. क-म. रेचिता रेचितेषु स्यादन्या लीलागते स्त्रियः ।
५. क-म. बृद्धवामनकुब्जानां गतौ कार्या प्रकम्पिता ।
व्यायामे त्वथ सम्भ्रान्ते विवृत्ता प्रेक्षितेषु च ।

कम्पनं वलनं चैव स्तम्भनोद्वर्तने तथा ।
[1]निवर्तनं च पञ्चैतान्यूरुकर्माणि [2]कारयेत् ॥ २५२ ॥

[3]नमनोन्नमनात्पार्ष्णेर्मुहुः स्यादूरुकम्पनम् ।
[4]गच्छेदभ्यन्तरं जानु यत्र तद्वलनं स्मृतम् ॥ २५३ ॥

[5]स्तम्भनं चापि विज्ञेयमपविद्धक्रियात्मकम् ।
वलिताविद्धकरणादूर्वोरुद्वर्तनं स्मृतम् ॥ २५४ ॥

गतेषु तदुक्तमपविद्धक्रियात्मकमिति निष्क्रियत्वमिति यावत् ॥ २५४ ॥

ऊरुकर्म

अनुवाद—कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्त्तन और निवर्त्तन ये पांच प्रकार के ऊरु के कर्म हैं ॥ २५२ ॥

अनुवाद—पार्ष्णि (एड़ी) के बार-बार नमन एवं उन्नमन से ऊरु का 'कम्पन' होता है और जहाँ पर जानु भीतर की ओर हो, तो उसे 'वलन' कहा जाता है ॥ २५३ ॥

अनुवाद--अपविद्ध क्रियात्मक अर्थात् जहाँ पर ऊरु निष्क्रिय हो, उसे 'स्तम्भन' कहते हैं और ऊरु को वलित एवं आविद्ध करने से (उद्वर्त्तन) होता है ॥ २५४ ॥

अभिनव--यहाँ अपविद्ध क्रियात्मक का अर्थ निष्क्रियत्व जो कहा गया है वह गतियों के विषय में कहा गया है ॥ २५४ ॥

---

१. क. विवर्त्तनं ।

२. क-न. योजयेत् ।

३. क-म. नमनोन्नमनं पार्ष्णोर्मंहीपृष्ठे द्रुतभ्रमम् ।
स्थित्वा पादतलाग्रेण तदूरुर्वं कम्पनं स्मृतम् ।

४. ख. ग. गच्छेदभ्यन्तराज्जानु यत्र तद्वलनं स्मृतम् ।
क-म. गच्छेदभ्यन्तरज्जानु शनैर्यद्वलनं तु तत् ।
क्रियायाश्चाप्रवृत्तिर्या स्तम्भनं तदुदाहृतम् ॥

५. क-म. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।

पार्ष्णिरभ्यन्तरं गच्छेद्यत्र तत्तु निवर्तनम् ।
गतिष्वधमपात्राणां भये चापि हि [1]कम्पनम् ॥ २५५ ॥

वलनं चैव कर्त्तव्यं स्त्रीणां स्वैरपरिक्रमे ।
साध्वसे च विषादे च स्तम्भनं तु प्रयोजयेत् [2] ॥ २५६ ॥

व्यायामे ताण्डवे चैव कार्यमुद्वर्तनं बुधैः ।
[3]निवर्तनं तु कर्तव्यं संभ्रमादिपरिभ्रमे [4] ॥ २५७ ॥

[5]यथादर्शनमन्यच्च लोकाद् ग्राह्यं प्रयोक्तृभिः ।
इत्यूर्वोर्लक्षणं प्रोक्तं जङ्घायास्तु [6] निबोधत ॥ २५८ ॥

अनुवाद—जहाँ पर पैर की एड़ी भीतर की ओर चली जाय उसे 'निवर्त्तन' कहते हैं। अधम पात्रों की गति और भय को व्यक्त करने में 'कम्पन' का विनियोग होता है ॥२५५॥

अनुवाद—स्त्रियों को स्वच्छन्द गति में 'वलन' का प्रयोग करना चाहिए और भय एवं विषाद में 'स्तम्भन' का विनियोग करे ॥ २५६ ॥

अनुवाद—व्यायाम तथा ताण्डव नृत्य में 'उद्वर्त्तन' का विनियोग करे तथा सम्भ्रम-पूर्वक परिभ्रमण में निवर्त्तन का प्रयोग करना चाहिए ॥ २५७ ॥

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को इनके अतिरिक्त अन्य क्रियाओं का प्रयोग लोक व्यवहार से समझना चाहिए। इस प्रकार मैंने 'ऊरु' का लक्षण कहा है अब जङ्घा के कर्म को समझिये ॥ २५८ ॥

---

१ क-म. भवेच्चापि हि कम्पनम् । क-म. कम्पनं सम्प्रयोजयेत् ।
२. क. सम्प्रयोजयेत् ।
३. क. विवर्त्तनम् ।
४. क. परिक्रमे ।
५ ख. तथा दर्शनमन्यच्च ।
६. क जङ्घयोस्तु निबोधत । क-न. जङ्घयोश्च निबोधत ।

आवर्तितं नतं क्षिप्तमुद्वाहितमथापि च ।
परिवृत्तं तथा चैव जङ्घाकर्माणि पञ्चधा ॥ २५९ ॥
वामो दक्षिणपार्श्वेन दक्षिणश्चापि वामतः ।
पादो यत्र व्रजेद्विप्राः ! तदावर्त्तितमुच्यते ॥ २६० ॥
जङ्घास्वस्तिकयोगेन क्रमादावर्तितं नयेत् ।
जानुनः [1]कुञ्चनाच्चैव नतं ज्ञेयं प्रयोक्तृभिः ॥ २६१ ॥
[2]विक्षेपाच्चैव जङ्घायाः क्षिप्तमित्यभिधीयते ।
नतं स्याज्जानुनमनात् क्षिप्तं विक्षेपणाद् बहिः ॥ २६२ ॥
उद्वाहितं च विज्ञेयमूर्ध्वमुद्वाहनादपि ।
प्रतीपनयनं यत्तु परिवृत्तं तदुच्यते ॥ २६३ ॥

बहिः पार्ष्णिक्षेपाच्च पतनम् ॥ २६२ ॥

जङ्घाकर्म

अनुवाद--आवर्त्तित, नत, क्षिप्र उद्वाहित और परिवृत्त ये पांच प्रकार के जङ्घा के कर्म हैं ॥ २५९ ॥

अनुवाद--हे विप्रो ! यदि बायाँ पैर दाहिनी ओर और दाहिना पैर बायें पार्श्व में घुमा जाय तो 'आवर्त्तित' नामक जङ्घा होती है ॥ २६० ॥

अनुवाद--जङ्घा को स्वस्तिक मुद्रा के योग से क्रमशः 'आवर्त्तित' करना चाहिये। जङ्घा के आकुञ्चन (सिकोड़ना) होने से नाटय-प्रयोक्ताओं को 'नत' जङ्घा समझना चाहिये ॥ २६१ ॥

अनुवाद--जङ्घा के विक्षेपण अर्थात् जङ्घा के बाहर की ओर फेकने से 'क्षिप्त' जङ्घा होती है। जङ्घा के नमन से 'नत' और जङ्घा के बाहर की ओर फेकने से 'क्षिप्र' जङ्घा कहलाती है ॥ २६२ ॥

अनुवाद --जङ्घा को यदि ऊपर की ओर उठाया जाय तो 'उद्वाहित' जङ्घा कहलाती है तथा यदि जङ्घा पीछे की ओर मोड़ दिया जाय तो 'परिवृत्त' नामक 'जङ्घा' होती है ॥ २६३ ॥

अभिनव—'बहिः' का अर्थ है एड़ी के फेंकने से बाहर की ओर पतन ॥ २६२ ॥

---

१. ब. कुञ्चनं चैव ।
२. ब. विक्षेपं चैव ।

आवर्तितं प्रयोक्तव्यं विदूषकपरिक्रमे ।
नतं चापि हि कर्तव्यं स्थानासनगतादिषु[1] ॥ २६४ ॥
क्षिप्तं व्यायामयोगेषु ताण्डवे च प्रयुज्यते[2] ।
तथा चोद्वाहितं [3]कुर्यादाविद्धगमनादिषु ॥ २६४ ॥
ताण्डवेषु प्रयोक्तव्यं परिवृत्तं प्रयोक्तृभिः ।
[4]इत्येतज्जङ्घयोः कर्म पादयोस्तु[5] निबोधत ॥ २६५ ॥
[6]उद्घट्टितः समश्चैव तथाग्रतलसञ्चरः ।
अञ्चितः [7]कुञ्चितश्चैव पादः पञ्चविधः स्मृतः ॥ २६६ ॥

आविद्धमूरो वर्तनम् ॥ २६४ ॥

अनुवाद--विदूषक के परिक्रमण में अर्थात् चक्कर लगाने में 'आवर्त्तित' जङ्घा का प्रयोग करना चाहिए और स्थान, आसन तथा गमन आदि में 'नत' का प्रयोग करना चाहिये ॥ २६३ ॥

अनुवाद- व्यायाम और ताण्डव नृत्य में 'क्षिप्त' का प्रयोग किया जाता है तथा आविद्ध-गमन आदि में 'उद्वाहित' का प्रयोग करना चाहिए ॥ २६४ ॥

अभिनव—अविद्ध का अर्थ है ऊरु का वर्तन (सञ्चालन) ॥ २६४ ॥

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को ताण्डव नृत्य में 'परिवृत्त' का प्रयोग करना चाहिए इस प्रकार ये जङ्घा के कर्म कहे गये हैं अब पाद के कर्म को समझिए ॥ २६५ ॥

पादाभिनय

अनुवाद—उद्घट्टित, सम, अग्रतल सञ्चर, अञ्चित और कुञ्चित ये पाँच प्रकार के पाद (पैर) के कर्म कहे गये हैं ॥ २६६ ॥

---

१. ग. गमादिषु ।
२. क-म. प्रयोजयेत् ।
३. क. कार्यम् ।
४. क. इत्येवं ।
५. ख. पादयोश्च ।
६. उद्घट्टितं समं चैव ।
७. ग. कुञ्चितः सूचीपादः षोढा प्रकीर्त्तितः ।

[1]स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते ।
यस्य पादस्य करणे भवेदुद्घट्टितस्तु सः ॥ २६७ ॥
[2]अयमुद्वेष्टितकरणे त्वनुकरणार्थं प्रयोगमासाद्य ।
[3]द्रुतमध्यमप्रचारः सकृदसकृद्वा प्रयोक्तव्यः ॥ २६८ ॥

करण इति क्रियायां सत्यामित्यनेन पुन पुनः पार्ष्ण्योः पतनम् । पादतलाग्रात्तु स्थानं च कर्तव्यमिति दर्शयति । ऊर्ध्वकृतस्य घट्टनादुद्घट्टितः । उद्वेष्टितरूपं यत्करणमुद्वेष्ट्यन्ते यदङ्गुल्य इत्यादि तदेव बाहुकर्मभेदाद् बहुधा । तत्रास्य प्रयोग इति वर्तनाश्रवो विनियोगः । केचित्तु प्रयोगमासाद्यानुकरणार्थमप्यस्य प्रयोग इत्युचुः यथा विक्रमोर्वश्यादौ पुरूरवः प्रभृतेः । एतेन नाट्यविषयो विनियोग उक्तः ॥ २६७-२६८ ॥

अनुवाद—जिस पर पैर के तलवे के अग्रभाग से स्थित होकर एड़ी को भूमि पर गिराया जाता है तो 'उद्घट्टित' पाद कहलाता है ॥ २६७ ॥

अनुवाद—उद्वेष्टित करण में अनुकरण के लिए किये गये प्रयोग का आश्रय लेकर एक बार अथवा बार-बार द्रुत और मध्य गति से इसका प्रयोग करना चाहिए ॥ २६८ ॥

अभिनव—'करण' का अभिप्राय है क्रिया के होने पर । इससे बार-बार एड़ो का पतन और पादतल के अग्रभाग से स्थित (खड़ा) होना चाहिए, यह दिखाया गया है । पैर को ऊपर उठाकर भूमि पर पटकने के कारण इसे 'उद्घट्टित' कहते हैं । 'यदङ्गुल्यः' अर्थात् 'अङ्गुलियों को जब उद्वेष्टित करते हैं' इत्यादि जो उद्वेष्टित रूप करण है वही बाहु के कर्मों के भेद से अनेक प्रकार का होता है । 'उसका यहाँ प्रयाग करना चाहिए' इसका अभिप्राय है कि वर्तना के सहारे किया जाने वाला विनियोग । कुछ आचार्य तो 'प्रयोग का आश्रय (सहारा) लेकर अनुकरण के लिए भी इसका प्रयोग होता है', ऐसा कहते हैं । जैसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरुरवा प्रभृति का प्रयोग । इससे नाट्य विषयक विनियोग कह दिया है ॥ २६७-२६८ ॥

---

१ क. स्थिताग्रतलपादेन ।
२. ख. ग. अयमुद्घट्टितकरेणानुकरणार्थं ।
३. क-म. ललितमधुरप्रचारः ।

स्वभावरचिते भूमौ समस्थाने[1] च यो भवेत् ।
[2]समः पादः स विज्ञेयः स्वभावाभिनयाश्रयः ॥ २६९ ॥
[3]स्थिरस्वभावाभिनये नानाकरणसंश्रये ।
चलितश्च पुनः कार्यो विधिज्ञैः[4] पादरेचिते ॥ २७० ॥
समस्यैव यदा पार्ष्णिः पादस्याभ्यन्तरे भवेत् ।
बहिः पार्श्वस्थितोऽङ्गुष्ठस्त्र्यश्रपादस्तु स स्मृतः ॥ २७१ ॥
त्यक्त्वा (कृत्वा ?) समपदं स्थानमश्वक्रान्ते तथैव च ।
स्याद्विक्लवादिष्वर्थेषु त्र्यश्रः पादो यथाविधि ॥ २७२ ॥

अनुवाद—स्वाभाविक रूप में समतल भूमि पर अवस्थित पैर को 'समपाद' समझना चाहिए । स्वाभाविक अभिनय में इसका विनियोग होता है ॥ २६९ ॥

अनुवाद बाह्यविधिवेत्ताओं को नाना प्रकार ले करणों के आश्रय से किये जाने वाले स्वाभाविक अभिनय में स्थिर समपाद तथा पादरेचित अवस्था में चलित रखना चाहिए ॥ २७० ॥

अनुवाद—समपाद को हो एड़ी को जब दूसरे पैर के भीतर (अन्दर) की ओर हो और अङ्गुष्ठ बाहर की ओर बगल में स्थित हो तो 'त्र्यस्रपाद' कहा जाता है ॥ २७१ ॥

अनुवाद—समपाद स्थान को छोड़कर अश्वक्रान्त में भी विक्लव आदि अर्थों में विधि के अनुसार त्र्यस्रपाद का प्रयोग करना चाहिए ॥ २७२ ॥

अभिनव—पाठभेद के अनुसार 'त्यक्त्वा' के स्थान पर 'कृत्वा' पाठ मिलता है । तदनुसार इसका अर्थ होगा—

अनुवाद—समपाद स्थानक को करके उसी प्रकार अश्वक्रान्त स्थानक के प्रदर्शन में विक्लव आदि अर्थों में विधि के अनुसार त्र्यस्रपाद का प्रयोग करना चाहिए ॥ २७२ ॥

१ क-द. समस्थानं च योजयेत् ।
२. क. समपादः ।
३. ख. स्थिरः स्वभावाभिनये ।
४. ख. ग. विक्षेपः ।

अस्यैव समपादस्य पार्ष्णिरभ्यन्तरे भवेत् ।
त्र्यश्रपादः स विज्ञेयः स्थानकादिषु संश्रयः ॥ २७३ ॥
उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिः [1]प्रसृतोऽङ्गुष्ठकस्तथा ।
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः [2]पादेऽग्रतलसञ्चरः ॥ २७४ ॥
[3]तोदननिकुट्टने स्थितनिशुम्भने भूमिताडने भ्रमणे ।
विक्षेपविविधरेचकपार्ष्णिकृतागमनमेतेन ॥ २७५ ॥

अग्रणे तलेन च सञ्चरत इति ॥

तथा तोदनं प्रेरणम्, निकुट्टनं तदवग्रहणम्, स्थितं स्थानकादि, शुम्भनं पीडनं ताडनं हननम्, भ्रमणं मनसः, विक्षेपो भूतस्यापसारणम् । विविधरेचकः करपादरेचकः ॥ २७५ ॥

अनुवाद—इसो समपाद एड़ो को यदि भोतर की ओर कर दिया जाय तो त्र्यस्त्रपाद कहा जाता है । स्थानक आदि में इसका प्रयोग होता है ॥ २७३ ॥

अनुवाद - यदि एड़ी उठी हुई हो ओर अंगूठा फैला हुआ हो तथा सारी अङ्गुलियाँ अञ्चित (सिकुड़ी हुई) हों तो 'अग्रतलसञ्चर' पाद होता है ।२७४॥

अभिनव—आगे के पादतल से सञ्चरण करते है, इसलिए इसे अग्रतलसञ्चर कहते हैं ॥ २७४ ॥

अनुवाद—तोदन (प्रेरणा), निकुट्टन, स्थित (स्थान), निशुम्भन (पीडन), भूमि-ताड़न, भ्रमण, विक्षेप, विविध रेचक तथा एड़ी के बल आगमन (आने) के अभिनय में 'अग्रतलसञ्चर' पाद को विनियोग होता है ॥ २७५ ॥

अभिनव—'तोदन' का अर्थ है 'प्रेरणा' देना । 'निकुट्टन' का अर्थ है उसका अवग्रहण करना । 'स्थित' का अर्थ है 'स्थानक' । 'निशुम्भन' का अभिप्राय है 'पीड़न' । 'ताड़न' का अर्थ हनन (पोटना) है । 'विक्षेप' का अर्थ है भूतों का अपसारण (भगा देना) । 'विविधरेचकः' का अभिप्राय है हाथ, पैर आदि का रेचन ॥ २७५ ॥

---

१. ख. पार्ष्णिरकुञ्चितोऽङ्गुष्ठकस्तथा ।

२. क. पादोऽग्रतलसञ्चरः ।

३. ख. नोदननिकुट्टिते स्थितनिसुम्भिते भूमिताड़नभ्रमणे ।
क–म. नोदननिकुट्टने स्थितिनिसुम्भिते भूमिताड़ने चैव ।

[1]पार्ष्णिर्यस्याञ्चिता भूमौ पादमग्रतलं तथा।
अङ्गुल्यश्चाञ्चिताः सर्वाः स पादस्त्वञ्चितः स्मृतः[2] ॥ २७६ ॥
[3]पादाग्रतलसञ्चारे वर्तितोद्वर्तिते तथा।
एष पादाहते कार्यो नानाभ्रमरकेषु च ॥ २७७ ॥
उत्क्षिप्ता यस्य पार्ष्णिः स्यादङ्गुल्यः कुञ्चितास्तथा।
तथा कुञ्चितमध्यश्च स पादः कुञ्चितः स्मृतः ॥ २७८ ॥

अञ्चिता इति प्रसृताः अञ्चितमुद्वर्तितं विदूषकादिगतौ भ्रमरी चारी, येषु प्रयोगेषु ते भ्रमरकाः ॥ २७६-२७७ ॥

अनुवाद—जिस पैर की एड़ी भूमि पर अञ्चित हो और पैर का अग्रतल आगे की ओर हो तथा सारी अङ्गुलियाँ अञ्चित अर्थात् फैली हुई हों तो वह 'अञ्चित' पाद कहलाता है ॥ २७६ ॥

अनुवाद पैरों के अग्रतल (अग्रभाग, पञ्जा) के बल सञ्चरण करने अर्थात् चलने में वर्त्तित (घूमने) और उद्वर्त्तित (लौटने) में तथा पैर के आघात अर्थात् पीटने में और नाना प्रकार के भ्रमरकों में अर्थात् अनेक प्रकार की भ्रमरी आदि चारियों में इस अञ्चित पाद का विनियोग करना चाहिए ॥ २७७ ॥

अभिनव—'अञ्चिताः' पद का अर्थ है फैली हुई। विदूषक आदि की गति में अञ्चित का अर्थ उद्वर्त्तन होता है। भ्रमरी अर्थात् भ्रमरी चारी जिस प्रयोग में होती है उसे 'भ्रमरक' कहते हैं ॥ २७६–२७७ ॥

अनुवाद—जिस पैर की एड़ी ऊपर उठी हुई हो और अङ्गुलियाँ तथा मध्य-भाग कुञ्चित अर्थात् सिकुड़ा हुआ हो, उसे 'कुञ्चित पाद कहते हैं ॥ २७८ ॥

---

१. क-म. ऊर्ध्वमग्रतलं यस्य पार्ष्णिर्भूमौ स्थिता तथा।
अञ्चितः स स्मृतः पादः कर्म चास्य निबोधत।
क-ङ. पार्ष्णिर्यस्याञ्चिता भूमावूर्ध्वमग्रतलं तथा।

२. ख. ग. पादोऽञ्चित उच्यते।

३. ग. पादाग्रस्थितसञ्चारे।

उदात्तगमने चैव वर्तितोद्वर्तिते तथा ।
अतिक्रान्तक्रमे चैव पादमेतं प्रयोजयेत् ॥ २७९ ॥
[1]उत्क्षिप्ता तु भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थितः ।
वामश्चैव स्वभावस्थः सूचीपादः प्रकीर्तितः ।
[2]नृत्ते नूपुरकरणे प्रयोगस्तस्य कीर्त्यते ॥ २८० ॥

सूचीं षष्ठं पादमन्ये पठन्ति । नूपुरस्य पादभूषणस्य करणे बन्धने । कट्यूरुजङ्घापादकर्माण्येव परस्पामिश्रीभूततावैचित्र्येण समुदिततया प्रयुज्यमानानि चारीत्युच्यन्ते । तत्समुदायस्य मण्डलभेदेन गतिर्निष्पद्यत इति कट्यादिपादान्तकर्मैव चार्य उक्ताः । अत एव तासां विनियोगः पृथङ् नोक्तः ॥ २८० ॥

अनुवाद—उदात्त गमन में, वर्त्तित (सीधा घूमने) और उद्वर्त्तित अर्थात् लौटने में तथा अतिक्रान्त क्रमण में इस पाद चारी का प्रयोग करना चाहिए ॥ २७९ ॥

अनुवाद—जिसमें दाहिने पैर की एड़ी उठी हुई हो और अंगूठे के अग्रभाग में स्थित हो तथा बाँया पैर स्वाभाविक स्थिति में हो वह 'सूचीपाद' कहलाता है । नृत्त में, नूपुर धारण करने के अभिनय में इसका विनियोग होता है ॥ २८० ॥

अभिनव—अन्य आचार्य सूचीपाद को षष्ठ पाद के रूप में पढ़ते हैं । 'नूपुरकरण' का अभिप्राय है नूपुर अर्थात् पैर के आभूषण के बन्धन में इस चारी का प्रयोग करना चाहिये । कटि, ऊरु, जङ्घा और पैर के कर्म ही दूसरे से मिश्रीभूत रूप विचित्रता से समुदित रूप से प्रयुज्यमान पाद चारी कहलाते हैं । उन कटि आदि समुदाय की गतियाँ मण्डलभेद से निष्पन्न होती है । इसलिए कटि से पादपर्यन्त कर्म के रूप में चारियों को कहा है । इसलिए उनके विनियोग को अलग से नहीं कहा गया है ॥ २८० ॥

---

१. ख. उत्क्षिप्तं भवेत्पार्ष्णिरङ्गुष्ठाग्रेण संस्थिता ।
२. ग. नृत्तेऽन्ते पूपकरणे प्रयोगस्तस्य कीर्तितः ।

[1]पादजङ्घोरुकरणं समं कार्यं प्रयोक्तृभिः ।
[2]पादस्य करणं सर्वं जङ्घोरुकृतमिष्यते ॥ २८१ ॥

समनन्तरं त्वध्यायत्रयं तद्वैचित्र्योदाहरणप्रदर्शनार्थमित्येतत्सर्वं मनसि कृत्वाह – पादजङ्घोरुकरणमित्यादि ।

विमर्श—गायकवाड़ संस्करण में अभिनव-भारती में 'सूचीं षष्ठं पादमन्ये पठन्ति' नूपुरस्य पादभूषणस्य करणे बन्धने' के बाद निम्नलिखित पाठ मिलता है—

"कट्यूरुजङ्घापादकर्माण्येव पदव्यामिश्रीभूतता वैचित्र्येण समुदिततया प्रयुज्यमानानि चारीत्युच्यते । तत्समुदायस्य मण्डलभेदेन गतिर्निष्पद्यत इति कट्यादिपादान्तकर्मणैव चार्य उक्ताः । यत एव तासां विनियोगः पृथङ् नोक्तः ।"

अर्थात् "कटी, ऊरु, जङ्घा और पाद के कर्म ही दूसरे के व्यामिश्रीभूत वैचित्र्य से समुदित रूप में प्रयुज्यमान होने से 'चारी' कहे जाते हैं । 'कटि, ऊरु आदि समुदाय की गतियाँ मण्डलभेद से निष्पन्न होती हैं' इसलिए कटि आदि से लेकर पाद-पर्यन्त कर्म ही चारियाँ कही गयी हैं । इसलिए यहाँ उनका विनियोग अलग से नहीं कहा गया है ।"

इस पाठ का सम्बन्ध चारी के लक्षण से है । अतः चारी के लक्षण के प्रसङ्ग में इसका उल्लेख होना चाहिए था । हमने इस अंश का उल्लेख नवम अध्याय के प्रारम्भ में चारी लक्षण के प्रसङ्ग में किया गया है । वहीं इसके अर्थ की सङ्गति बैठती है । वहीं इस अंश की विस्तृत व्याख्या की गई है ।

अभिनव—इसके बाद के तीन अध्याय तो उनके वैचित्र्यपूर्ण उदाहरणों को दिखलाने के लिए है, यह सब मन में रख कर आचार्य कहते हैं—

'पादजङ्घोरुकरणमित्यादि' अर्थात् पाद, जङ्घा और ऊरु के करण (कर्म) इत्यादि का प्रयोग प्रयोक्ताओं को एक साथ करना चाहिए ।

---

१. क-म. पादोरुजङ्घाङ्घ्रिकरणं ।

२. क-म. पादस्य करणे चोक्तमूरुजङ्घाकृतं तथा ।

यथा पादः प्रवर्त्तेत तथैवोरुः प्रवर्तते ।
[1]अनयोः [2]समानकरणात् पादचारीं प्रयोजयेत् ॥ २८२ ॥

समामिति सह । अत्र हेतुः पादस्येति । नाभिजङ्घोरुकरणमित्यादिकर्मभ्योऽन्यत् पादकर्मेत्यर्थः ॥ २८१ ॥

एतदेव स्फुटयति यथा पाद इति ।

अनयोरिति मध्ये जङ्घापि स्वीकृता ॥ २८२ ॥

अनुवाद—नाट्यप्रयोक्ताओं को पाद, जङ्घा, ऊरु और उसकी गतियों का एक साथ प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि पाद के समस्त करणों (कर्मों) को जङ्घोरुकृत कहा गया है ॥ २८१ ॥

अभिनव—'समम्' का अर्थ है एक साथ। इसमें हेतु है 'पादस्येति'। नाभि, जङ्घा, ऊरु के करण (इत्यादि) के रूप में बतलाये हुए कर्मों से भिन्न पादकर्म होते हैं ॥ २८१ ॥

अभिनव—इसी बात को स्पष्ट करते हैं—यथा पाद इत्यादि।

अनुवाद—जैसे पैर प्रवृत्त होता है अर्थात् चलता है वैसे ही ऊरु प्रवृत्त होता है। इस प्रकार इन दोनों के समान करण (गति) से 'पादचारी' का प्रयोग करना चाहिए ॥ २८२ ॥

अभिनव—'अनयोः' पद से पाद और ऊरु के मध्य में जङ्घा का भी ग्रहण होता है यह सूचित होता है ॥ २८२ ॥

विमर्श—पाद, ऊरु, जङ्घा की गतियों का एक साथ ही प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि पाद की गतियों के साथ जङ्घा और ऊरु की गतियाँ भी सम्मिलित रहती हैं। क्योंकि पाद, जङ्घा और ऊरु के समान करण (कर्म) के योग से ही 'पादचारी' बनती है ॥ २८२ ॥

१. ग. तयोः ।

२. क-द. समानकरणां पादचारीं ।

[1]इत्येतदङ्गजं प्रोक्तं लक्षणं कर्म चैव हि ।
[2]अतः परं प्रवक्ष्यामि चारीव्यायामलक्षणम् ॥ २८३ ॥

इति भरतीये नाट्यशास्त्रे अङ्गाभिनयो नाम नवमोऽध्यायः[3] ।

अत्रैवं सर्वमाङ्गिकमियतेवोक्तमिति दर्शयति—इत्येतदिति अनन्तरवक्तव्यमासूत्रयति—अतः परमिति । चारीव्यायामा लक्ष्यन्ते उदाहरणतया येनेति शिवम् ॥ २८३ ॥

अभिनव--यहाँ पर इस प्रकार सभी आङ्गिक अभिनयों को इतने प्रकार से कह दिया है, इसी बात को दिखलाते हैं--

अनुवाद—इस प्रकार मैंने अङ्गों से होने वाले कर्म और उनके लक्षणों को कह दिया है, अब मैं चारी-व्यायाम के लक्षण को कहूँगा ॥ २८३ ॥

इस प्रकार भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र में अङ्गाभिनय नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

अभिनव—अब इसके बाद के वक्तव्य को सूत्र रूप में कहते हैं —अतः परमिति अर्थात् इसके बाद चारी रूप व्यायाम का लक्षण उदाहरण के साथ जिसके द्वारा करेंगे, उसका निरूपण करते हैं। 'शिवम्' पद अध्याय की समाप्ति का सूचक है ॥२८३॥

विमर्श—चारीव्यायामलक्षणम्-यहाँ चारीव्यायाम शब्द के अर्थ में सन्देह होता है कि इसका अर्थ क्या हैं ? अभिनवगुप्त कहते हैं कि गत्यर्थक 'चर्' धातु से 'इञ्' और 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'चारी' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'चाल' । इस प्रकार चाल ही चारी है और चारी ही व्यायाम है (चारी एव व्यायामः) । इस प्रकार 'चारीव्यायाम लक्षणम्' का अर्थ है चारी रूप व्यायाम का लक्षण अर्थात् अब मैं चारी रूप व्यायाम का लक्षण कहूँगा ॥ २८३ ॥

---

१. क-द. इत्येतल्लक्षणं प्रोक्तमङ्गजं कर्म चैव हि ।
   क-म. इत्येतदङ्गजं प्रोक्तं कर्मलक्षणमेव च ।
२. क-म. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि ।
३. ख. इति भारतीये नाट्यशास्त्रे शारीराभिनयो नाम दशमोऽध्यायः ।

शिशिरतरकिरणकलिकाङ्गारविभक्तिभक्तभङ्गुरतापः ।
अभिनवगुप्तो नवमाध्याये सन्देहतापमपनुदति स्म ।।

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाट्यवेद-
विवृतावभिनवभारत्यां आङ्गिकाध्यायो नवमः ॥ ९ ॥

अभिनव—अत्यन्त शीतल किरण वाले चन्द्रमा की कला (चन्द्रकला) रूप अलङ्कार की विभक्ति (रचना) से भङ्गुर (नष्ट) ताप वाले श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य इस नवम अध्याय के विषय में पाठकों के सन्देह रूप ताप को दूर करते हैं ॥९॥

इस प्रकार महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा रचित
नाट्यवेद-विवृत्ति अभिनव-भारती में आङ्गिक अभिनय नामक
नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥९॥

इति डॉ० पारसनाथद्विवेदिविरचितायां मनोरमाख्यायां
हिन्दीव्याख्यायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथ द्विवेदी द्वारा रचित नाट्यशास्त्र
एवं अभिनव-भारती की मनोरमा नामक हिन्दी व्याख्या में
नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः[1]

[2]एवं पादस्य जङ्घाया ऊर्वोः[3] कट्यास्तथैव च ।
[4]समानकरणे चेष्टा सा चारीत्यभिधीयते ॥ १ ॥

अभिनवभारती

निश्चलस्थितिमद्व्योमभूचारीसद्गतिप्रदः ।
सर्वदा ध्वनिमात्रात्मा शम्भुर्विजयतात् प्रभुः ॥

दशम अध्याय

अनुवाद--इस प्रकार पाद, जङ्घा, ऊरु और उसी प्रकार कटि आदि के समान करण अर्थात् एक साथ चलने में जो चेष्टा होती है, उसे 'चारी' कहा जाता है ॥ १ ॥

अभिनव—निश्चल स्थिति वाले, आकाश और पृथ्वी पर विचरण करने वाले लोगों को सद्गति (उत्तमगति) देने वाले ध्वनिमात्रात्मा अर्थात् शब्द तन्मात्रा स्वरूप वाले भगवान् शिव (शम्भु) सर्वदा विजयी होवें ।

विमर्श—यहाँ पर अभिनवगुप्त शब्दतन्मात्र स्वरूप भगवान् शिव की वन्दना करते हुए कहते हैं कि भगवान् शिव निश्चल स्थिति वाले हैं। वे आकाश एवं पृथ्वी पर विचरण करने लोगों को अथवा आकाशचारी और भूचारी का अभिनय करने वाले लोगों को उत्तम गति प्रदान करने वाले हैं। "शब्दरूपं जगत्सर्वं धत्ते सर्वस्य वल्लभा" इस कथन के अनुसार प्रभु शिवजी तन्मात्र स्वरूप वाले हैं। ऐसे भगवान् शिव सर्वदा विजयी होवें। अर्थात् सर्वोत्कृष्ट होवें ।

---

१. ख. पुस्तके एकादशोऽध्यायः ।
२. अयं श्लोकः क. ख. ग. घ. च. पुस्तकेषु नास्ति ।
३. क. ऊरोः ।
४. ख. ग. समानकरणाच्चेष्टा सा चारीत्यभिधीयते ।
   क. ङ. समानकरणे चेष्टा चारीति परिकीर्त्तिता ।

कट्यूरुजङ्घापादकर्माण्येव परव्यामिश्रीभूततावैचित्र्येण समुदिततया प्रयुज्यमानानि चारीत्युच्यन्ते। तत्समुदायस्य मण्डलभेदेन गतिर्निष्पद्यत इति कट्यादिपादान्तकर्माण्येव चार्यं उक्ताः। अत एत तासां विनियोग पृथङ् नोक्तः। चारीव्यायामलक्षणमित्युक्तम् ॥ १ ॥

अभिनव—कटि, ऊरु, जङ्घा और पाद के कर्म हो दूसरे से व्याभिश्रीभूत विचित्रता से समुदितरूप से प्रयुज्यमान होने पर 'चारी' कहे जाते हैं। उसके समुदाय की गतियाँ मण्डलभेद से निष्पन्न होती हैं, इसलिए कटि आदि से लेकर पादपर्यन्त कर्म ही चारियाँ कही गई हैं। अत एव उनका विनियोग अलग से नहीं कहा गया है। इस प्रकार चारो-व्यायाम का लक्षण कहा गया है ॥ १ ॥

विमर्श—यहाँ पर अभिनव-भारती में कट्यूरुजङ्घापादकर्माण्येव' से लेकर 'पृथङ्नोक्तः' यहाँ तक का अंश नहीं है। यह अंश नवम अध्याय के अन्त में सूचीपाद के लक्षण में २८० वें श्लोक की अभिनवभारती में दिया गया हैं किन्तु वहाँ इसका प्रसङ्ग नहीं प्रतीत होता है और यहाँ उसका प्रसङ्ग युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। अतः मैंने उस अंश को यहाँ पर रख दिया है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार कटि, पार्श्व, ऊरु एवं जङ्घा के द्वारा किये जाने वाले अभिनयों का समानीकरण 'चारी' कहा गया है। किन्तु साथ ही चारी में हाथ, शिर और वक्षःस्थल का सामञ्जस्य भी अपेक्षित है। भरतमुनि का कहना है कि नाट्य की स्थिति चारी से ही होती है। चारी के विना कोई अङ्ग प्रवृत्त नहीं होता है। चारी के द्वारा ही नृत्त और अङ्गहार की रचना होती है। चारी के द्वारा ही शस्त्र-मोक्षण होता है और चारी का प्रयोग युद्ध में होता है। अभिनय की सभो चेष्टाएँ चारी से ही निष्पन्न होती है। अतः नाट्य एवं नृत्त में चारी का विशेष महत्त्व है। नाट्यशास्त्र के अनुसार एक पैर से किये जाने वाले अभिनय को 'चारी' कहते हैं। जब दो पैरों के सञ्चालन से अभिनय किया जाता है तो 'करण' कहलाता है। तीन, करणों के समायोग से 'खण्ड' और तीन-चार खण्डों के योग से 'मण्डल' की रचना होती है। इनका विशेष प्रयोग नृत्त में होता है किन्तु नाट्य में युद्ध, शास्त्र-मोक्षण आदि में भी चारी का प्रयोग होता है। भरत ने चारी को दो भागों में विभाजित किया है—आकाशचारी और भूचारी।

[1]विधानोपगताश्चार्यो व्यायच्छन्ते परस्परम् ।
[2]यस्मादङ्गसमायुक्तास्तस्माद्व्यायाम उच्यते[3] ॥ २ ॥

तत्र समासे सन्देहः व्यायामशब्दार्थे च । चरेर्हि करणे भावे वा औणादिक इञ्, कृदिकारादक्तिन ङीष् इति च चारीशब्दः प्रसिद्धार्थः इत्यभिप्रायेण सन्देहद्वयमपाकर्तुमाह—विधानोपगता इति ।

नाटचशास्त्र में आकाशचारी के सोलह भेद और भूचारी के सोलह भेद कुल बत्तीस भेद बताये गये हैं । अभिनयदर्पण में केवल आठ चारियों का उल्लेख है । वहां पर आकाशचारी और भूचारी भेदों की परिकल्पना नहीं है । भरतार्णव में आकाशचारी और भूचारी दोनों भेदों की परिकल्पना है । वहां आकाशचारी के नौ और भूचारी के सोलह भेद बताये गये हैं । सङ्गीतरत्नाकर और नृत्याध्याय में कोहलादि आचार्यों के मतानुसार देशी चारियों का वर्णन है जिनमें पैंतीस भूचारी और उन्नीस आकाशचारी का विस्तृत वर्णन है । सङ्गीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने कोहल के मतानुसार पचीस 'मधुप' चारियों का उल्लेख किया है जिनमें पादसंचालन का बिशेष महत्व है । कोहल का कथन है कि चारियों की संख्या में नृत्तवेत्ताओं द्वारा आवश्यकतानुसार समुचित परिवर्त्तन किया जा सकता है ॥१॥

अनुवाद—विधान अर्थात् योजना से उपगत होने वाली चारियाँ अङ्गों से संयुक्त होकर परस्पर में मिलती है, इसलिए चारी ही व्यायाम हैं ॥ २ ॥

अभिनव—नवम अध्याय के अन्त में 'चारीव्यायामलक्षण' पद का प्रयोग किया गया हैं । इस पद के समास में और व्यायाम शब्द के अर्थ में सन्देह होता है । यहाँ पर कौन सा समास है और इस पद का क्या अर्थ है ? गत्यर्थक 'चर्' धातु से करण अथवा भाव में औणादिक 'इञ्' प्रत्यय और 'कृदिकारादक्तिनः' इस सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'चारी' शब्द निष्पन्न होता है । अतः चारी शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है, इस अभिप्राय से दोनों सन्देहों को दूर करने के लिए कहते है—'विधनोपगता इत्यादि' ।

१. ख. ग. विधानोभयतश्चार्यो व्यायच्छन्ति परम्परम् ।
२. ख. ग. यस्मादङ्गसमायुक्तस्तस्माद्व्यायाम उच्यते ।
३. क-ङ. व्यायाममुच्यते ।

अन्योन्ययोजनापतिताश्चार्यो व्यायामशब्दस्यार्थं इति तात्पर्यम्। चार्यं एव व्यायाम इति कर्मधारय इत्यर्थः। अस्यार्थस्तु अन्वर्थः व्यायच्छन्ते परम्परतया आपतन्ति इति। कुत्र नियम इत्याह—परस्परमिति। पूर्वा चारी परत्र नियता न तु पूर्वस्यामिति तेनाकर्मत्वादात्मनेपदम्। परस्परोपपदाच्चेति कर्मव्यतिहारजमात्मनेपदं निषेधति, न तु आङो यमहन इति।

ननु किं तन्नियमनमित्याह। विधानोपगता इति विधानेनैकस्या नियततेति अपरा उपगता बलादेवागता। नन्वेवमन्योन्याश्रयम्? न, अङ्गेन प्रधानभूतेन केनचित्, सम्यगायुक्ताः प्रयुक्ताः प्रवर्तिताः। यत्नायत्नापेक्षया बहुवचनम्। एतदुक्तं भवति—किंचिदङ्गं प्रधानं, यत् संभवति यथा हस्तौ वा अभिनये, पादौ वा गतौ, तदा तदुपयोगिनी चारी प्रधानं, तच्चारीसंपत्त्युचिता च पूर्वा चारी आश्रीयते परया चेति परस्परनियमवत्यश्चार्यो व्यायाम इति॥ २॥

अभिनव—परस्पर योजना से होने वाली चारियाँ ही व्यायाम शब्द का अर्थ है। अतः चारियाँ ही व्यायाम है' (चार्यं एव व्यायामः)। इस प्रकार यहाँ कर्मधारय समास है। 'व्यायाम' शब्द का अर्थ तो 'अन्वर्थं' है अर्थात् 'व्यायच्छन्ते' अर्थात् परस्पर में एक दूसरे से मिलती हैं इसलिए चारो ही व्यायाम हैं। किससे मिलती हैं, इनमें नियम क्या है? इस पर कहते हैं कि परस्पर में अर्थात् पूर्वा चारी परा चारी में मिलतो है किन्तु परा चारी पूर्वा चारी में नहीं मिलती, यह नियम है। इसीलिए अकर्मक होने से यहाँ आत्मनेपद होता है। अब प्रश्न यह होता है कि 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' इस सूत्र के अधिकार में पठित 'परस्परोपपदाच्च' इस वार्त्तिक से कर्मव्यतिहार अर्थात् क्रियाविनिमय अर्थ के द्योत्य होने से परपरस्मैपद होता है अतः पस्मैपद होगा, आत्मनेपद नही होगा। इस पर कहते हैं कि उक्तसूत्र एवं वार्त्तिक कर्मव्यतिहार अर्थ में होने वाले आत्मनेपद का निषेध करता है। 'आङ्गो यमहनः' सूत्र से होने वाले आत्मनेपद का निषेध नहीं करता। यहाँ 'आङोयमहनः,' सूत्र से आत्मनेपद है।

अब पुनः प्रश्न होता है कि पूर्वाचारी ही पराचारी में मिलती है और परा-चारी पूर्वाचारी में नहीं मिलती, ऐसा नियम क्यों हैं ? इस पर कहते हैं कि विधान से उपगत अर्थात् नाट्याचार्यों के विधान से एक की ही नियतता है, परा तो उपगत होती है अर्थात् अर्थबल से (अर्थ के सामर्थ्य से) ही प्राप्त हो जाती हैं। किन्तु ऐसा मानने पर यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। इस पर कहते हैं कि नहीं, क्योंकि किसी भी प्रधानभूत अङ्ग के अनुरोध से अन्य अङ्ग अच्छी तरह प्रयुक्त होते हैं, प्रवर्तित होते हैं। यत्न और अयत्न (ईषत् यत्न) की अपेक्षा से यहाँ 'चार्यः' में बहुवचन है। यह कहा गया है कि कोई अङ्ग प्रधान होता है जो संभव है। जैसे किसी अभिनय में हाथ प्रधान होते हैं अथवा गतियों के अभिनय में पाद प्रधान होते हैं तब उनके उपयोग में आने वाली चारी प्रधान होती है। तब उस प्रधान चारी की सम्पत्ति के योग्य पूर्वा-चारी का आश्रय परा-चारी के द्वारा लिया जाता है। इस प्रकार परस्पर नियत रहने वाली चारियाँ व्यायाम हैं।

विमर्श—चारी के प्रकरण में 'चारीव्यायाम' पद का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'चारी-व्यायाम' पद में कौन सा समास है यह सन्देह होता है और इसी 'व्यायाम' शब्द के अर्थ में भी सन्देह होता है कि व्यायाम पद का अर्थ क्या है ? इन दोनों प्रकार के सन्देहों का निराकरण अभिनवगुप्त ने किया है। उनका कहना है कि 'चर्' गत्यर्थक धातु से भाव और करण अर्थ में 'इञ्' और ङीष् प्रत्यय होकर 'चारी' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'चाल'। चारी पाद, जंघा, ऊरु और कटी की सम्मिलित क्रिया है। चारी ही व्यायाम है। 'चारी-व्यायाम' पद में द्वन्द्व समास नही है अपितु यहाँ कर्मधारय समास है। 'चारी एव व्यायामः इति चारीव्यायामः' अर्थात् चारी ही व्यायाम है। इस प्रकार व्यायाम शब्द का अर्थ है चारी। क्योंकि परस्पर एक दूसरे से नियमन अर्थात् परस्पर योजना से आनेवाली चारियाँ ही व्यायाम हैं।

अब प्रश्न उठता है कि इन चारियों का नियम क्या है ! इस पर कहते हैं कि पूर्वा चारी परा चारी से मिलती है किन्तु परा चारी पूर्वा चारी से नहीं मिलती, यह नियम है। भाव यह कि द्वितीया चारी प्रथमा चारी का अनुसरण करती है और तृतीया चारी द्वितीया चारी का अनुसरण करती हैं।

एकपादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता[1]।
[2] द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्भवेत् ॥ ३ ॥

तत्र व्यायामस्य संक्षिप्तमध्यमविस्तीर्णतया भेदान्निरूपयति—एकपादप्रचारो य इति।

अब प्रश्न यह है कि 'व्यायच्छन्ते' में आत्मनेपद कैसे होगा ? क्योंकि 'परस्परोपपदाच्च' इस वार्तिक से परस्पर पद के उपपद होने से कर्मव्यतिहार अर्थ के अर्थात् विनिमय रूप अर्थ के द्योत्य होने पर आत्मनेपद का निषेध हो जाता है। इस पर कहते हैं कि 'परस्परोपपदाच्च' यह वार्तिक कर्मव्यतिहार अर्थ में होने वाले आत्मनेपद का निषेध करता है न कि 'आङो यमहनः' सूत्र से होने वाले आत्मनेपद का। व्यायच्छन्ते' प्रयोग में 'आङो यमहनः' सूत्र से आत्मनेपद हुआ है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह कैसा नियम है कि पूर्वाचारी पराचारी में मिलती है और परा चारी पूर्वा चारी में नहीं मिलती। इस पर कहते हैं कि ऐसा विधान ही है कि पूर्व की ही नियतता होती है, पर तो उपगत होता है अर्थात् अर्थ बल से प्राप्त होता है। इस प्रकार यहाँ अन्योऽन्याश्रय दोष होता है क्योंकि जब नियतता है तभी दूसरा अर्थ भी बल से प्राप्त होता है और जब दूसरा अर्थ बल से प्राप्त होता है तभी पूर्व की नियतता है इस दोष का परिहार करते है कि अभिनय की प्रक्रिया (विधान) के कारण हस्त-पाद आदि में से कोई अङ्गप्रधान होता है और कोई अप्रधान। अतः प्रधानभूत अङ्ग के अनुरोध से अन्य अङ्ग प्रवर्तित होते हैं। जैसे किसी अभिनय में हस्त प्रधान होते हैं अथवा गतियों के अभिनय में पाद प्रधान होते हैं तो उनके उपयोग में आने वाली चारी प्रधान होती है। इस प्रकार प्रधान चारी के सम्पन्न होने पर पूर्वाचारी का आक्रमण परा चारी के द्वारा किया जाता है। अतः परस्पर में नियत चारियाँ व्यायाम हैं ॥ २ ॥

अभिनव—अब इसके बाद व्यायाम के संक्षिप्त, मध्यम और विस्तीर्ण भेदों का निरूपण करते हैं—

१. ग. सा चारीत्यभिधीयते।

२. क-द. पादाभ्यां चरणं यत्तु करणं चेह तत्स्मृतम्।

[1]करणानां समायोगः खण्डमित्यभिधीयते[2] ।
खण्डैः त्रिभिश्चतुर्भिर्वा[3] संयुक्तं मण्डलं भवेत् ॥ ४ ॥

एकाकिपादेन श्रोण्यादिप्रचारो व्याक्षिप्तः द्विपादेति । पादशब्देन तत्प्रचारः नामेति प्रसिद्धार्थम् । तुर्व्यायामप्रसिद्धादन्यदेवेदं संज्ञात्वेनाधुनैव इत्यर्थः । एष संक्षिप्तो व्यायामः अभिनयान्तरादौ ॥ ३ ॥

करणानामिति बहुवचनात् त्रीणि तानि, "कपिञ्जलानालभेते"ति यथा । अन्यथा बहुत्वानियमे खण्डानां मण्डलेभ्यः क्व प्रविभागः । एष उपवृत्त्येधमानो मध्यमो व्यायामः ।

अनुवाद—एक पैर से किये जाने वाले प्रचार को 'चारी' कहते हैं और दोनों पैरों के सञ्चालन से जो अभिनय किया है वह 'करण' कहलाता है। करणों के समायोग को ही 'खण्ड' कहा जाता है और तीन-चार खण्डों के योग से 'मण्डल' बनता है ॥ ३–४ ॥

अभिनव—एकपाद प्रचार इति–यहाँ एक पाद का अर्थ है एकाकी। एकाकी (अकेले) पाद से श्रोणी आदि के प्रचार का आक्षेप किया है अर्थात् एकाकी पाद से श्रोणी आदि के प्रचार का सङ्केत मिलता है। श्रोणी का अर्थ है नितम्ब और आदि पद से कटी या जंघा का ग्रहण होता है। 'द्विपाद' इस पद में पाद शब्द से उसका प्रचार समझना चाहिए। 'नाम' यह प्रसिद्ध अर्थ का बोधक है। 'तु' पद का अभिप्राय है कि यह प्रसिद्ध व्यायाम से भिन्न करण नाम से यहाँ नियमित होतो है अर्थात् इसकी करण संज्ञा होती है। यह द्विपादप्रचार संक्षिप्त व्यायाम है। अभिनयों में इसका प्रयोग किया जाता है।

---

१. ख. करणानां समायोगात् ।
२. क-ग. खण्ड इत्यभिधीयते ।
३. क. संयुक्तैः ।

त्रिभिश्चतुर्भिरित्येतच्चतुरश्रतालाभिप्रायेण, वा ग्रहणान्मिश्रणमपि सूचयन् सङ्ख्यातरमपि गृह्णीते। तथा हि—चतुर्थे सूचीविद्धाख्ये (११-२१) मण्डले तु याश्चारीर्वक्ष्यति। "सूची बामपदं दद्यात्"(११।२०)इत्यादि। सप्तमे त्वलाताभिख्ये-"भ्रान्त्वा चारीभिरेताभिः पर्यायेणाथ मण्डलम्। षट्सङ्ख्यं सप्तसङ्ख्यं वा ललितैः पादविक्रमैः" इति (११-३०)। दशमेऽध्यर्धिका (१०-१७) इति। एवमन्यत्र॥ ४॥

अभिनव—'करणानाम्' में बहुवचन के प्रयोग से तीन करणों का ही ग्रहण होता है। जैसे 'कपिञ्जलान् आलभेत' इस वाक्य में आलम्भन के लिए तीन ही कपिञ्जल पक्षियों का ग्रहण होता है। उसी प्रकार 'करणानां' में बहुवचन प्रयोग से तीन ही करणों का ग्रहण होता है। क्योंकि टोका में ही बहुत्व अपेक्षित है। यदि यहाँ चार या पांच करणों का सहयोग करते हैं तो बहुत्व संख्या का नियमन वहीं हो सकेगा और खण्डों का मण्डलों से प्रविभाग भी कहाँ हो पायेगा? भाव यह कि चारी में एक पाद का, करण में दो पादों का, खण्ड में तीन करणों अर्थात् छः पादों का इस प्रकार पादों की पादवृत्तियों से बढ़ने वाले अभिनय बनते हैं। अतः यह मध्यम ब्यायाम कहलाता है।

अभिनव—"त्रिभिश्चतुर्भिर्वा' में जो तीन या चार संख्याओं का निर्देश किया गया है वह त्र्यस्र और चतुरस्र ताल के अभिप्राय से निर्देश किया गया है और 'वा' के ग्रहण से यह सूचित होता है कि तीन-चार संख्याओं का मिश्रण और अन्य संख्याओं का भी ग्रहण होता है अर्थात् केवल तीन-चार खण्डों से ही मण्डल बनता है ऐसा नहीं है, अपितु पांच, छः, सात खण्डों से भी मण्डल बनता है। जैसे-चतुर्थ सूचीविद्ध नामक मण्डल में जो चारी कही जायगी 'बांये पैर से सूची को प्रदर्शित करे' इत्यादि और सातवें अलाता नामक चारी में कहेंगे कि 'छः या सात चारियों के भ्रमण (घुमाव) के द्वारा ललित पाद-विक्षेपों से मण्डल को रचना करें (षट्संख्यं सप्तसंख्या वा) और दसवें अध्याय में अध्यर्धिका चारी को कहेंगे। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए॥ ३-४॥

[1]चारीभिः प्रसृतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा ।
[2]चारीभिः शस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च [3]कीर्तिताः ॥ ५ ॥

यदेतत्प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेव [4]संस्थितम् ।
नहि चार्या[5] विना किञ्चिन्नाट्येऽङ्गं संप्रवर्तते[6] ॥ ६ ॥

तत्र लौकिकत्वं तावच्चारीणां दर्शयति चारीभिरिति । नृत्तं वाऽङ्गहारात्मकं तच्चारीभिः प्रसृतं च व्याप्तमिति प्रत्येकं चेष्टितं गतिः शस्त्रमोक्ष इति । चक्रकुन्तादियुद्धम् । युद्धे चेति, खङ्गहननादि युद्धे नियुद्धे च ॥ ५ ॥

प्रकृतेऽप्युपयोजयति—यदेतदिति ।

अनुवाद –चारी के द्वारा ही नृत्त प्रसृत होता है, चारी से हीं सारी चेष्टायँ व्याप्त है, चारियों द्वारा ही शस्त्र-मोक्षण होता है और युद्ध में भी चारी का प्रयोग होता है ॥ ५ ॥

अभिनव—अब चारियों की लौकिकता को दिखाते हैं। इन चारियों से अङ्गहार नामक नृत्त व्याप्त है (प्रसृत है) और सारी चेष्टाएँ (प्रत्येक गति) व्याप्त हैं। शस्त्र-मोक्ष चारियों से होता है। सुदर्शन चक्र का प्रक्षेपण एवं कुन्त (भाले) का फेंकना आदि युद्ध भी चारियों के द्वारा होता है और युद्ध में हनन और प्रतिहनन के अभिनय में भी चारी का प्रयोग होता है ॥ ५ ॥

अभिनव—अब प्रकृत में चारियों को उपयोगिता दिखाते हैं—'यदेतदित्यादि'।

अनुवाद—यह जो प्रस्तुत नाट्य है वह चारियों में ही संस्थित है। क्योंकि नाट्य में चारियों के बिना कोई अङ्ग भी सम्यक् प्रवृत्त नहीं होता ॥ ६ ॥

१. ख. ग. चारीभिः प्रस्तुतं नृत्तं चारिभिश्चेष्टितं तथा ।
२. ख. चारिभिः ।
३. क-प. प्रकीर्तिताः ।
४. क. ग. संज्ञितम् । क-म. व्यवस्थितम् ।
५. ग नहि चार्यो विना । क-न. न चारीभिर्विना ।
६. ख. नाट्ये ह्यङ्गं प्रवर्तते । क-म. नाट्येष्वङ्गं प्रवर्त्तते ।

तस्माच्चारीविधानस्य[1] सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम्[2] ।
या यस्मिंस्तु तथा योज्या नृत्ते युद्धे गतौ तथा[3] ॥ ७ ॥

यच्छब्देन व्याख्यातधर्मपूर्वकं, एतच्छब्देन व्याख्यास्यमानधर्मयोगं परामृश्यत इति विस्तीर्णतां नाट्यस्याह । किञ्चिदङ्गमिति शिरोहस्तादि, किञ्चिद्धि चार्या सह किञ्चित्पूर्वापरभावेन । संप्रवर्तत इति, खलत्वेन संवर्तते, अनित्यत्वेन प्रवर्तते, सम्यक् प्रवर्तते वा, इति यथा क्रियया वैकल्पिकोऽप्युपसर्गयोगः तथाङ्गेऽपि स्वीकारः, तत्त्वं निरूप्यत इति भर्तृमित्राचार्यः ॥ ६ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'यत्' शब्द से धर्मपूर्वक व्याख्यात चारियों का परामर्श किया गया है और 'एतत्' शब्द से आगे व्याख्यान किये जाने वाले अभिनेय धर्म के प्रयोग का परामर्श होता है । इस प्रकार नाट्य की विस्तीर्णता कही गयी है । 'किञ्चिदङ्ग' का अभिप्राय है शिर, हस्त आदि । कुछ अङ्ग स्वतंत्र रूप से चारी के साथ प्रयुक्त होते हैं और कुछ पूर्वापर भाव से चारी के साथ प्रयुक्त होते हैं अर्थात् किसी चारी का पूर्व में और किसी चारी का पर में प्रयोग होता है । 'संप्रवर्त्तते' में 'सम्' और 'प्र' उपसर्गों का अलग-अलग योग होता है–'संवर्तते' तथा 'प्रवर्त्तते'। संवर्तते' का अभिप्राय है जो शिर के द्वारा ऊपर ही ऊपर अभिनय किया जाता है । 'प्रवर्त्तते' का अभिप्राय है जो अनित्य रूप से हस्त का अभिनय किया जाता है अथवा जो सम्यक् रूप से प्रवृत्त होता है । इसी प्रकार जैसे 'वर्त्तते' क्रिया के साथ 'सम् और 'प्र' उपसर्गों का विकल्प से प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार अङ्ग में भी चारियों का प्रयोग विकल्प से किया जाता है । भर्तृमित्राचार्य का कथन है कि तत्त्व का निरूपण करते हैं ॥ ६ ॥

अनुवाद—इसलिए अब मैं चारी विधान के लक्षण को कहूँगा । जिस नृत्त, युद्ध और गति में चारी की जिस प्रकार योजना करनी चाहिए, उसे बतलाऊँगा ॥ ७ ॥

---

१. क-म. विधानं च ।

२. क-म. तत्त्वतः ।

३. ग. तथा गतौ । क-म. गतेषु च ।

[1]समपादा स्थितावर्ता शकटास्या तथैव च।
[2]अध्यर्धिका चाषगतिर्विच्यवा[3] च तथापरा[4] ॥ ८ ॥

प्रकृताधिकारिखेदावहत्वाच्च न पदवाक्यवित्परिचितताप्रकटनमात्रलालसात्मकमतिरिति विरम्यते। लक्षणमिति उदाहरणम्। नृत्त इति यस्मिन्निति। "नपुंसक" मित्येकशेषः, तथेति उक्तं, वक्ष्यते चेति शेषः। करणाङ्गहारादौ तत्र नृत्ते उक्तं, युद्धे वक्ष्यते न्यायेषूह्यमिति शेषः, गतौ च द्वादशाध्याये वक्ष्यते इत्यध्यायत्रयस्यार्थ इह सूचितः ॥ ७ ॥

अभिनव—प्रकृत नाट्य के अधिकारियों के लिए खेदावह होने के कारण पद और वाक्य वेत्ताओं अर्थात् वैयाकरणों और मीमांसकों के परिचय के प्रकटन की लालसा रूप बुद्धि नहीं होती है, इसलिए इससे विरत होते हैं। 'लक्षण' का आशय उदाहरण है। नृत्त अर्थात् जिस नृत्त में। यहाँ 'यस्मिन्' पद में 'नपुंसकमनपुंसकेन' सूत्र से एकशेष समास है। इसका अभिप्राय है कि नपुंसक का अनपुंसक अर्थात् नपुंसक से भिन्न पदों के साथ समास होने से नपुंसक का शेष रहता है। यहाँ 'यस्मिन्' च यस्यां च' इन दोनों पदों का समास होने पर 'यस्मिन्' नपुंसक का शेष रहता है। अतः 'यस्मिन्' पद का 'नृत्ते' और 'युद्धे' के साथ योग होता है तथा 'यस्यां' पद का 'गतौ' के साथ योग होता है। 'तथा' पद का अभिप्राय है कि इसे पहिले कहा जा चुका है और आगे भी कहेंगे। करण, अङ्गहार आदि के प्रसङ्ग में नृत्त के विषय में कहा जा चुका है और युद्ध के विषय में उस विधान को आगे कहेंगे। न्यायों के विषय में इसकी ऊहा करनी चाहिये, यह शेष है। गति के विषय में बारहवें अध्याय में कहेंगे। इस प्रकार यहाँ तीन अध्यायों में प्रतिपाद्य अर्थ को 'नृत्ते, युद्धे, गतौ' के द्वारा सूचित किया गया है ॥ ७ ॥

---

१. ख. ग. समपादा स्थिता वार्ता।
   क-म. न. समपादस्थिता आवर्त्ताः।
२. क-न. अध्यर्धिका। क-म. अध्यर्धगा।
३. ख. ग. विच्यवा चा।
४. क-म. स्वस्तिकोद्वर्त्तिता तथा।

एडकाक्रीडिता बद्धा ऊरूद्वृत्ता तथाड्डिता ।
उत्स्यन्दिता च जनिता स्यन्दिता चापस्यन्दिता ॥ ९ ॥
समोत्सरितमत्तल्ली मत्तल्ली चेति[1] षोडश[2] ।
एता भौम्यः स्मृताश्चार्यः श्रृणुताकाशिकीः पुनः ॥ १० ॥
अतिक्रान्ता ह्यपक्रान्ता पार्श्वक्रान्ता [3]तथैव च ।
[4]ऊर्ध्वजानुश्च सूची च तथा नूपुरपादिका ॥ ११ ॥
[5]डोलापादा तथाक्षिप्ता आविद्धोद्वृत्तसंज्ञिते ।
विद्युद्भ्रान्ता ह्यलाता[6] च भुजङ्गत्रासिता[7] तथा ॥ १२ ॥

अनुवाद—समपादा, स्थितावर्त्ता, शकटास्या, अध्यर्धिका, चाषगति, विच्यवा, एड़काक्रीडिता, बद्धा, ऊरूद्वृत्ता, अड्डिता, उत्स्यन्दिता, जनिता, स्यन्दिता, अपस्यन्दिता, समोत्सारितमण्डली, मत्तल्ली ये सोलह भौमी चारियाँ हैं अब आकाशिकी चारी को सुनिये ॥ ८-१० ॥

---

१. ख. ग. चापि ।
२. क-म. विच्यवा जनिता चैव विज्ञेयास्कन्दिता तथा ।
तथावस्कन्दिता चैव मत्तल्ली च तथापरा ।
समोत्सारितमत्तल्लीत्येता भौम्यस्तु कीर्तिताः ।
३. क-द. पार्श्वाक्रान्ता ।
४. क-म. ऊर्ध्वजानुस्तथा चैव ।
५. ग. डोलापादा ।
६. ख. ग. व्याविद्धोद्घृतसंज्ञिते ।
७. ग. भुजङ्गत्रासिता ।
८. क-म. तथालाता ।

मृगप्लुता च दण्डा[1] च भ्रमरी चेति षोडश[2] ।
आकाशिक्य स्मृता ह्येता लक्षणं च निबोधत ॥ १३ ॥

तत्रोद्देशमाह—भौम्य एता इति । भूमौ भवा भौम्यः, एवमाकाशिक्य उपरिचरताम् । स्मृता इति वेदोदाहरणेऽत्र यावत्स्मर्यंते तावद्व्युत्पादनार्थं शिष्टा । तैवंक्तव्यम् तेनैतन्नाशङ्कनीयम् । यदि नेदं परिगणनं कियता भेदेनोक्तेति न तत्र स्पष्टम् । यल्लक्षणमनन्वर्थं च तद्व्याक्रियते ॥ ८-१३ ॥

अनुवाद—अतिक्रान्ता, अपक्रान्ता, पार्श्वक्रान्ता, ऊर्ध्वजानु, सूची, नूपुरपादिका, डोलपादा, आक्षिप्ता, व्याविद्धा, उद्वृत्ता, विद्युद्भ्रान्ता, अलाता, भुजङ्गत्रासिता, हरिणप्लुता, दण्डपादा, और भ्रमरी ये सोलह आकाशचारियाँ कही गई हैं—अब इनके लक्षणों को समझिये अर्थात् अब इन चारियों के लक्षणों को कहता हूँ, आप लोग समझिये ॥ ११-१३ ॥

अभिनव—'भौम्यः' पद का अर्थ है भूमि पर होने वाली चारियाँ । इसी प्रकार ऊपर आकाश की ओर की जाने वाली चारियाँ आकाशचारी होती है । 'स्मृता' पद से आशय है वेदों के उदाहरण के विषय में जितने अंश का यहाँ स्मरण किया जाता है उसके व्युत्पादन के लिए शेष है उसे कहना चाहिए । इसलिए उसकी शङ्का नहीं करनी चाहिए । कितने भेदों से कहा गया है इसका यहाँ परिगणन नहीं है, यह बात वहाँ स्पष्ट नहीं है । जो लक्षण अन्वर्थ नहीं है अर्थात् जिसका लक्षण शब्दों के अर्थों से प्राप्त नहीं होता है उनका व्याख्यान करते हैं ॥ ८-१३ ॥

---

१. दण्डपादा ।

२. क-म. न. उत्कीर्णा दण्डपादा च भ्रमरी हरिणप्लुता ।
आकाशगास्त्विमाश्चार्यो नियुद्धकरुणाश्रया ॥
द्वात्रिंशदेता निर्दिष्टा मया चार्यो द्विजोत्तमा ।
पुनरासां संप्रवक्ष्यामि लक्षणं कर्मणा सह ॥

पादैर्निरन्तरकृतैस्तथा समनखैरपि ।
समपादा स्मृता[1] चारी विज्ञेया स्थानसंश्रया[2] ॥ १४ ॥
भूमिघृष्टेन पादेन कृत्वाभ्यन्तरमण्डलम् ।
[3]पुनरुत्सादयेदन्यं स्थितावर्त्ता तु सा स्मृता ॥ १५ ॥

अथ समपादा

ननु समपादा कथं वा चारीत्याह—स्थानसंश्रयेति यदा समपाद एव स्थानान्तरं गच्छति तदा चरणाच्चारी भवत्येव योग्यतया तथा व्यपदेशादिति भावः ॥ १४ ॥

१-समपादा चारी

अब समपादा चारी का लक्षण कहते हैं—पादैरिति'।

अनुवाद—निरन्तर व्यवधान-रहित दोनों पैरों को श्लिष्ट (पास) रखते हुए समान नखों वाले पैरों से अपने स्थान पर स्थित रहना 'समपादा' चारी समझनी चाहिए ॥ १४ ॥

अभिनव—प्रश्न यह है कि समपादा स्थित हैं और चलने के कारण चारी भी है अर्थात् समपाद में स्थिर रहना और पादों का सञ्चरणरूप चारी कैसे सम्भव है ? क्योंकि पैरों की समानकरण चेष्टा ही चारी है और पैरों का समान रूप से स्थिर रहना स्थान संश्रय है, यह दोनों कैसे सम्भव है। इस पर कहते हैं कि स्थानसंश्रया का अभिप्राय है कि जब अभिनेता किसी स्थान विशेष में पैरों को समानरूप में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं तो चलने से चारी होती है। इस प्रकार योग्यता अर्थात् स्थान के संश्रय के कारण ऐसा नामकरण अथवा व्यवहार हुआ है, यह भाव है ॥ १४ ॥

२-स्थितावर्त्ता चारी

अब स्थितावर्त्ता चारी का लक्षण कहते हैं—'भूमिघृष्टेनेति'।

अनुवाद—जब अग्रतलसञ्चर पाद अर्थात् भूमि का घर्षण करते हुए एक पैर से अभ्यन्तर मण्डल अर्थात् मण्डलाकार वृत्त बनाकर फिर दूसरे पैर का उत्सारण किया जाता है तो वह 'स्थितावर्त्ता' चारी कही जाती है ॥ १५ ॥

---

१. क-समपादा तु सा चारी। क-म. समपादस्थिता चारी।
२. क-म स्थानसंश्रिता।
३. ख ग. पुनरुत्सादयेदन्यं स्थितावर्ता तु सा स्मृता।
क-म. वाममुत्सादयेत्पादमावर्त्तां चारीमादिशेत् ॥

'निषण्णाङ्गस्तु चरणं प्रसार्य तलसञ्चरम् ।
उद्वाहितमुरः कृत्वा शकटास्यां प्रयोजयेत् ॥ १६ ॥

अथ स्थितावर्ता

भूमिधृष्टेनेति । अग्रतलसञ्चरेणाभ्यन्तरमण्डलं द्वितीयपार्श्वजानुस्वस्तिकान्तं, पुनः शब्दो विशेषं द्योतयन् सन्निवेशयोगमाह । तेन स चेत् स्वस्तिकत्वेन श्लिष्टस्ततो द्वितीयमुत्सारयेत् स्वपार्श्वं कर्षयेदेकस्य स्थानमपरस्यामिति ॥ १५ ॥

अथ शकटास्या

निषण्णाङ्गस्त्विति। प्रयत्नधृतपूर्वकाय इत्यर्थः । शकटमसनीयं क्षेप्यं यया । एकस्मिन् पादे समेऽङ्गुल्यञ्चितं पक्षेतरं कृत्वा जानुनः कुञ्चने जङ्घा प्रसारणे च स्वपार्श्वं च त्र्यश्रिततलसञ्चरस्थापनं तु निरोधनं रेचनमिवेति केचिदेनामाहुः । एतच्च लक्षणं लक्ष्यार्थासङ्गतमेव ॥ १६ ॥

अभिनव—जब अग्रतलसञ्चर पाद से अर्थात् पैर के अग्रभाग से सञ्चार करने में भूमि पर घिसते हुए अभ्यन्तरमण्डल बनाकर अर्थात् द्वितीय पैर के पार्श्व में जाकर जानु (घुटने) से स्वस्तिक मुद्रा में करे। यहाँ 'अन्त' शब्द स्वरूप का वाचक है। 'पुनः' शब्द विशेष का द्योतन करता हुआ सन्निवेश के योग को कहता है। इसलिए वह स्वस्तिक रूप में जानु से जब संश्लिष्ट हो जाय तब दूसरे पैर का उत्सारण करे अर्थात् एक के स्थान को ऊपर की ओर आकर्षित करे ॥ १५ ॥

३-शकटास्या चारी

अब शकटास्या चारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—शरीर के पूर्व भाग अर्थात् अगले भाग को प्रयत्न पूर्वक धारण किये हुए एक पैर को अग्रतलसञ्चर मुद्रा में फैलाकर और उर (छाती) को उद्वाहित स्थिति में रखकर 'शकटास्या' चारी का प्रयोग करे ॥ १६ ॥

अभिनव—'निषणाङ्ग' का अर्थ है शरीर के पूर्वीय भाग का दृढ़ता से धारण करना। जिस क्रिया से शकट असनीय अर्थात् क्षेप्य हो उसे शकटास्या कहते हैं। सम अर्थात्' सीधे किये हुए एक पैर में दूसरे पैर की अंगुलियों को अञ्चित करके जानु

---

१. क-म. निषण्णगात्रश्चरणं ।

सव्यस्य पृष्ठतो वामश्चरणस्तु यदा भवेत् ।
तस्यापसर्पणं[1] चैव ज्ञेया साध्यर्धिका बुधैः ॥ १७ ॥

अध्यर्ध्यधिका

सव्यस्येति दक्षिणस्य । पृष्ठत इति पार्ष्णिदेशे । तस्येति दक्षिणस्योपसर्पणे स्वपार्श्वार्धत्र्यश्रिततया स्थितिः । अव्यतिरेकेति अध्यर्धतालान्तरत्वादयो मन्तव्याः । एकस्य पूर्णा गतिरन्यस्य पादस्य पूर्णार्धकेत्यन्ये । करणप्राधान्याच्चैवमुक्तं वामस्यापि पृष्ठसङ्गतमेव ॥ १७ ॥

(घुटने) के सिकोड़ने और जङ्घा को अपने पार्श्व में प्रसारण (फैलाने) में त्र्यस्र तलसञ्चर का स्थापन करना निरोधन और रेचन के समान है। ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं किन्तु यह लक्षण लक्ष्य अर्थ में सङ्गत नहीं होता ॥ १६ ॥

४. अध्यर्धिकाचारी

अभिनव—अब अध्यर्धिकाचारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—यदि दाहिने पैर की एड़ी पर बायें पैर को रखे और फिर दाहिने पैर से अपसर्पण करे अर्थात् दाहिना पैर हटा ले तो 'अध्यर्धिका' चारी समझनी चाहिए ॥ १७ ॥

अभिनव—'सव्य' का अर्थ है दाहिना पैर। 'पृष्ठतः' का अर्थ है पार्ष्णि-प्रदेश अर्थात् एड़ी। 'तस्य पद का अभिप्राय है दाहिने पैर के उपसर्पण के समय अपने पार्श्व में त्र्यस्र भाव में अर्थात् आधो तिरछी स्थिति का होना। 'अध्यर्धिका' का अभिप्राय है आधे ताल से अधिक अन्तर पर रखना, ऐसा मानना चाहिए। अन्य आचार्य कहते हैं कि एक पैर की गति पूर्ण और दूसरे पैर की गति पूर्णार्धा अर्थात् डेढ़ ताल की दूरी पर रखना चाहिए। करणों की प्रधानता के कारण उन्होंने ऐसा कहा है। इस प्रक्रिया में बायें पैर की स्थिति भी पृष्ठसंगत होती है ॥ १७ ॥

१. ख. ग. तस्योपसर्पणं ।
 क-न. तस्यापसर्पणश्चैव ।
 क-म. वामापसर्पणाच्चैव विज्ञेयाध्यर्धिका बुधैः ।

पादः प्रसारितः सव्यः पुनश्चैवोपसर्पितः ।
[1]वामः सव्यापसर्पी च चाषगत्यां विधीयते ॥ १८ ॥

अथ चाषगतिः

सव्य इति सव्योऽपसर्पत्येव सर्वत्र प्रसारित इति तालमात्रमग्रतः पुनः स एवापसर्पितो द्वितालमात्रं पश्चान्नीतः, वामः सव्येन सहापसर्पति । किंचिदुत्प्लुत्य सव्यवामावपसर्पतः श्लिष्यतश्चेति सत्रसमपसर्पणादौ चाषस्येव गतिः चाषगतिः । सव्योपसर्पी चेत्यन्ये पठन्ति, तत्र सव्योपसर्पशब्दयोः श्लिष्टत्वमपसर्पणं चार्थः ॥ १८ ॥

५. चाषगतिचारी

अभिनव—अब चाषगतिचारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—यदि दाहिने पैर को फैलाया जाय और फिर उसका अपसर्पण करे अर्थात् पीछे की ओर रख दे। इसी प्रकार बायें पैर का भी दाहिने पैर के समान अपसर्पण करे अर्थात् बायें पैर को पीछे की ओर रखकर फिर आगे की ओर बढ़ा दे तो 'चाषगति' चारी होती है ॥ १८ ॥

अभिनव—'सव्य' का अभिप्राय है कि दाहिने पैर का प्रायः सभी चारियों में अपसर्पण होता है। 'प्रसारित' का आशय है कि दाहिने पैर को एक ताल के अन्तर पर आगे की ओर फैलाये और फिर उसी को दो ताल के अन्तर पर पीछे की ओर ले जाय। इसी प्रकार बायें पैर का दाहिने पैर के साथ अपसर्पण होता है। कुछ उछलकर दाहिना और बायाँ पैर एक दूसरे से दूर हटकर फिर सट जाते हैं (मिल जाते है) इस प्रकार त्रास (भय) के साथ अपसर्पण एवं संश्लिष्टता (मिलना) आदि में चाष (नीलकण्ठ) के समान गति होने से इसका नाम 'चाषगति' है। अन्य लोग तो इसे सव्योपसर्पी कहते हैं। यहाँ सव्योपसर्पी शब्द का श्लिष्टत्व और अपसर्पण अर्थ अभिप्रेत है ॥ १८ ॥

१. क-द. वामः सव्योपसर्पी वाकाशमित्यभिधीयते ।

[1]विच्यवात् समपादा या विच्यवां सम्प्रयोजयेत् ।
[2]निकुट्टयंस्तलाग्रेण पादस्य धरणीतलम् ॥ १९ ॥
[3]तलसञ्चरपादाभ्यामुप्लुत्य पतनं तु यत् ।
[4]पर्यायशश्च क्रियते [5]एडकाक्रीडिता तु सा ॥ २० ॥

अथ विच्यवा

पादस्येति पादयोरित्यर्थः ॥ १९ ॥

अथैडकाकीडिता

उत्प्लुत्य, किंचिदेकबारं, सक्थिगुल्फदेशेभ्यः पुनरुत्प्लुतिः अङ्गान्तरेणैवमिति पर्यायशः पतनं यत्र चार्या सा अजकागतितुल्यत्वादेडकाक्रीडिता ॥ २० ॥

६. विच्यवाचारी

अभिनव—अब विच्यवाचारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—समपादा चारी के दोनों पैरों को अलग करके पैर के तलवे के अग्रभाग से पृथ्वी पर कुट्टन करते हुए 'विच्यवा' चारी का प्रयोग करे ॥ १९ ।

७. एडकाक्रीड़िता

अभिनव—अब एडकाक्रीड़िता चारी का लक्षण कहते है—

अनुवाद—यदि अग्रतलसंचर पादों को उछाल कर अनुक्रम से (क्रमशः) पृथ्वी पर पातन (गिराया) किया जाता है तो 'एड़काकीड़िता' चारी होती है ॥ २० ॥

अभिनव—एक बार उछलकर फिर एकबार सक्ति (घुटने का अपरवाला हिस्सा) और गुल्फ (पैर की घुट्ठी, पैर की ग्रन्थि) प्रदेश से फिर उछालना । इसी प्रकार अन्य अङ्गों से भी करना चाहिए । इस प्रकार क्रम से उत्प्लवन (उछाल) जिस चारो में होता है उसे बकरी की गति के समान उछाल होने के कारण 'एड़काक्रीड़िता' चारी कहते हैं ॥ २० ॥

१. ख. ग. वीच्यवाक् समपादायां विश्लेषं सम्प्रयोजयेत् ।
२. ख. ग निकुट्टयंस्तथाग्रेण ।
३. क-म. पादयोस्तलसंचारादुक्षिप्य पतनं तु यत् ।
४. ख. ग. पर्यायतश्च ।
५. क-म. संडकाक्रीडिता स्मृता ।

अन्योन्यजङ्घासंवेघात् कृत्वा तु स्वस्तिकं ततः ।
ऊरुभ्यां वलनं यस्मात् सा बद्धा चार्युदाहृता[1] ॥ २१ ॥
तलसञ्चरपादस्य पाष्णिर्बाह्योन्मुखी[2] यदा ।
जङ्घाञ्चिता तथोद्वृत्ता ऊरूद्वृत्तेति [3]सा स्मृता ॥ २२ ॥

अथ बद्धाचारी

केवलयोरेवोर्वोर्वलनं स्थित एव जङ्घास्वस्तिक इति बद्धां केचिदाहुः। अन्ये तु स्वस्तिकापसरणेन पादतलाग्रयोर्मण्डलभ्रमणपूर्वकं यत् स्वस्वपार्श्वगमनं तदूरुबन्धनमाहुः। जङ्घयोः संबन्धनादनुबद्धा ॥ २१ ॥

---

८. बद्धाचारी

अभिनव—अब बद्धाचारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर दोनों जंघाओं के परस्पर संवेध (मिलन) से स्वस्तिक मुद्रा बनाकर ऊरुओं का जो वलन किया जाता है उसे 'बद्धा' चारी कहते है ॥ २१ ॥

अभिनव—बद्धाचारी में केवल ऊरुओं का बलन करके स्थित होना 'जङ्घा-स्वस्तिक' है। इसे कुछ विद्वान् 'बद्धा' चारी कहते हैं। अन्य आचार्य तो कहते हैं कि स्वस्तिक के अपसरण से पादतल के अग्रभाग में मण्डलाकार घुमाव (भ्रमण) पूर्वक जो अपने-अपने पार्श्व में गमन है उसे 'ऊरु-बन्धन' कहते हैं। यहाँ जंघाओं के सम्यक बन्धन हो जाने के कारण इसे 'बद्धा' चारी कहते हैं। ॥ २१ ॥

९. ऊरूद्वृत्ताचारी

अभिनव—अब 'ऊरूद्वृता' चारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—जब अग्रतलसञ्चर पाद की एड़ी बाहर की ओर उन्मुख हो और जङ्घा अञ्चित (कुछ झुकी हुई) और उद्वृत्त (ऊपर उठी हुई) हो तो उसे 'ऊरूद्वृता' चारी कहते हैं ॥ २२ ॥

---

१. ग. बद्धाचार्युदीरिता। ।
२. क-ख. पार्ष्णिश्चेदुन्मुखी भवेत् ।
३. क-म. सोरूद्वृता तथेष्यते ।

अग्रतः पृष्ठतो वापि[1] पादस्तु तलसञ्चरः[2] ।
[3]द्वितीयपादो निर्घृष्टः यस्यां स्यादड्डिता तु सा[4] ॥ २३ ॥

अथोरूद्वृत्ता

अग्रतलसञ्चरस्य पादस्य संबन्धिनौ पार्ष्णिर्द्वितीयपादपृष्ठभागोन्मुखौ यदा भवति जङ्घा च उद्वृत्ता तदा जानुनमनादाकुञ्चिता, द्वितीयजङ्घासम्मुखं बलनात् । ऊरोरूर्ध्वविवर्तनात् लज्जेर्ष्यादिविषया ऊरूद्वृत्ता । अन्ये तु पार्ष्णिर्द्वितीयपादाग्रतलसञ्चरबाह्योन्मुखीत्याहुः ॥ २२ ॥

अभिनव – अग्रतलसञ्चर पाद की एड़ी जब दूसरे पैर के पृष्ठभाग अर्थात् एड़ी की ओर उन्मुख होती है और जङ्घा जानुओं (घुटनों) के नमन (झुकने) से आकुञ्चित हो और दूसरी जङ्घा के सम्मुख वलन से उद्वृत्ता (ऊपर उठी हुई) हो तो 'ऊरूद्वृत्ता' चारी होती है। इसमें ऊपर की ओर विवर्तन होने से लज्जा, ईर्ष्या आदि विषयों का प्रकाशन होता है। अन्य आचार्य तो कहते हैं कि इसमें एड़ी दूसरे पैर के अग्रतलसञ्चर पाद के बाहर की ओर उन्मुख होती है ॥२२ ॥

१०. अड्डिताचारी

अभिनव—अब अड्डिता चारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—यदि अग्रतलसञ्चर पाद से आगे या पीछे की ओर सञ्चरण करे और दूसरे पैर का घर्षण हो तो 'अड्डिता' चारी होती है ॥ २३ ॥

१. ग. चापि ।
२. क. पादोऽग्रतलसञ्चरः ।
३. क. द्वितीयपादनिघृंष्टो ।
४. क-म. यत्र सा त्वड्डिता भवेत् ।
क, यत्र स्यादड्डिता तथा ।

शनैः पादो निवर्तेत[1] बाह्येनाभ्यन्तरेण च ।
यद्रेचकानुसारेण सा चार्युत्स्यन्दिता[2] स्मृता ॥ २४ ॥

यथाड्डिता

अग्रत इति । अपिस्समुच्चये, वा पर्याये । तेन समस्थित एकोऽन्यतलसञ्चरः पादः द्वितीयः क्रमादग्रे पृष्ठे च निर्घृष्टः श्लिष्टः कार्य इति अड्डिता, पादस्य स्वस्थानातिक्रमणात् । अड्ड अतिक्रमहिंसयोरित्यस्य इतचि रूपम् पठन्ति, सत्त्वे[3] च रूपम् ॥ २३ ॥

अथोत्स्यन्दिता

बाह्येन कनिष्ठाङ्गुलिभागेन अभ्यन्तराङ्गुष्ठभागेन निवर्तते चेदुभाभ्यां पादाभ्यां गमागमं कुरुते । किमवधीत्याह—पादरेचितस्यापसारणम्, शोभापेक्षयोत्क्रान्तमस्याम् । यन्नद्याः प्रत्यावर्तनरूपस्पन्दितकृतं तत्तुल्यत्वादियमुत्स्यन्दिता । रेचकं नृत्तहस्तमत्र केचिदाहुः ॥ २४ ॥

अभिनव—अड्डिता चारी 'अपि' शब्द का अर्थ 'समुच्चय' अथवा 'पर्याय' है । इससे ज्ञात होता है कि इसमें एक पैर सम स्थित और दूसरा पैर अग्रतलसञ्चर होता है जिसे क्रमशः आगे और पीछे की ओर श्लिष्ट करना चाहिए । अतः यह अड्डिता चारी है । इसमें पैर का अपने स्थान से अतिक्रमण होता है । इसलिए इसे 'अड्डिता' चारी कहते हैं । 'अड्ड' धातु से अतिक्रमण और हिंसा अर्थ में 'इतच्' प्रत्यय होकर 'अड्डित' शब्द बनता है । यहाँ सत्त्व का अर्थ भाव है ॥ २३ ॥

११. उत्स्यन्दिताचारी

अभिनव—इसके बाद उत्स्यन्दिताचारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—जहाँ पर रेचक के अनुसार दोनों पैरों को बाहर और भीतर की ओर क्रमशः धीरे-धीरे निर्वत्तित किया जाय अर्थात् दोनों पैरों का धीरे-धीरे बाहर-भीतर आना-जाना हो वहाँ 'उत्स्यन्दिता' चारी होती है ॥ २४ ॥

---

१. ख. ग. विवर्तेत ।
२. ख. चार्युत्सन्दिता । क. चार्युस्पन्दिता ।
३. क. अग्रत एव प्रसिद्धेरिति कीर्त्तिधरः ।

[1]मुष्टिहस्तश्च वक्षःस्थः करोऽन्यश्च प्रवर्तितः[2] ।
[3]तलसञ्चरपादश्च जनिता चार्युदाहृता ॥ २५ ॥

अथ जनिता

तलसञ्चरपादः प्रवर्तित इति । एतदेवास्याः स्वरूपं मुष्टेर्वक्षोगामित्वं हस्तान्तरस्य च प्रवर्तनमितिकर्तव्यतामात्रम् । समस्तगतीनामियं जननं करोति प्रारम्भरूपत्वादिति जनिता[4] ॥ २५ ॥

अभिनव—इसमें एक पैर की कनिष्ठिका अंगुली के बाहरी भाग से और दूसरे पैर के अंगूठे के भीतरी भाग से निवर्त्तन होता है अर्थात् दोनों पैरों से गमनागमन करते हैं । अब प्रश्न होता है कि गति विना अवधि के नहीं होती तो गमनागमन की अवधि क्या है ? इस पर कहते हैं कि यहां पादरेचित (रेचित पाद) का अपसारण किया जाता है । क्योंकि यह क्रिया नदी के प्रत्यावर्त्तन रूप स्पन्दन के तुल्य होने से 'उत्स्यन्दिता' चारी कही जाती है। कुछ आचार्य इसमें रेचक नृत्तहस्त का अभिनय मानते हैं ॥ २४ ॥

१२. जनिताचारी

अभिनव—अब जनिताचारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—जहां पर एक मुष्टिहस्त वक्षःस्थल पर हो और दूसरा हाथ प्रवर्त्तित (फैलाया हुआ) हो तथा एक पैर अग्रतलसञ्चर की स्थिति में हो तो वहां पर 'जनिता चारी' होती है ॥ २५ ॥

अभिनव—जनिताचारी में अग्रतलसञ्चर पाद प्रवर्त्तित होता है। यही इस चारी का स्वरूप है कि मुष्टिहस्त वक्षःस्थल पर होता है और दूसरा हाथ का प्रवर्त्तन (फैलाव) होता है। यह केवल इतिकर्त्तव्यता है । यह चारी समस्त गतियों को उत्पन्न करती हैं । अतः इसी से समस्त गतियों का प्रारम्भ होता है ॥ २५ ॥

१. क-द. स्वस्तिहस्तस्तु ।
२. क-च. करोऽन्यश्च प्रकीर्त्तितः ।
क-न. करोऽन्यश्चापवर्त्तितः ।
क-प. करोऽन्यः परिवर्त्तितः ।
३. क-द. तालाग्रसंस्थितः पादो जनितायामुदाहृता ।
४, क, जनिताचारी मुसलघाटिकाख्यवर्त्तनंवेति कीर्त्तिधरः ।

[1]पञ्चतालान्तरं पादं प्रसार्य [2]स्यन्दितां न्यसेत् ।
द्वितीयेन तु पादेन[3] तथापस्यन्दितामपि ॥ २६ ॥

अथ स्यन्दितापस्यन्दिते क्रमसमो निषण्णोरुः पादो दक्षिणस्तु पञ्चतालान् प्रसारितः 'अस्यैव दक्षिणं पादं पञ्चतालान् प्रसारितः' । तालः स्मृतो मध्यमया इति । सा स्यन्दिता प्रसारणधर्मत्वात् । एतद्विपर्ययादपस्यन्दितेति । अङ्गविपर्ययाच्च लब्धाप्येषा प्रयोगे साहचर्यनियमख्यापनार्थं पुनर्निरूपिता । आलीढप्रत्यालीढयोस्तु पादद्वयमपि त्र्यश्रितसंस्थानं मण्डलजीवित्वं यद् वक्ष्यते मण्डलेन प्रयोजयेत् (१०-६६) स्यन्दितायास्तु नैवमिति शेषः । स्थानस्य स्थितिप्रधानता चार्यास्तु गतिप्रधानतेत्यपि विशेषः ॥ २६ ॥

---

१३. स्यन्दिताचारी

अभिनव—अब स्यन्दिता चारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—यदि एक पैर को दूसरे पैर से पांच तालों के अन्तर पर फैलाकर रखा जाय तो 'स्यन्दिता' चारी होती है ॥ २६ (१) ॥

१४. अपस्यन्दिताचारी

अभिनव—अब अपस्यदिता चारी का लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—यदि स्यन्दिता चारी के विपरीत द्वितीय पैर से उसी प्रकार क्रिया की जाय तो 'अपस्यदिन्ता' चारी होती है ॥ २६ (२) ॥

अभिनव—अब स्यन्दिता और अपस्यन्दिता इन दो चारियों का एक साथ व्याख्या करते हैं। इसमें समस्थित और निषण्ण (प्रयत्नपूर्वक धृत) ऊरु वाले दाहिने पैर को पाँच तालों के अन्तर पर फैलाया जाता है। जैसा कि आगे कहेंगे-"इसी के दाहिने पैर को पाँच तालों के अन्तर पर फैलाया जाता है।" यहाँ मध्यमा पद से ताल

---

१. क-म. पञ्चतालान्तरं पादं प्रसार्य तलसंचरम् ।
द्वितीयं च नयेत्पार्श्वं सावस्कन्देति चोच्यते ॥

२. क-ङ. स्पन्दिता ।

३. क-म. पार्श्वेन ।

[1]तलसञ्चरपादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
[2]समोत्सरितमत्तल्ली व्यायामे समुदाहृताः ॥ २७ ॥

कहा गया है। प्रसारण अर्थात् फैलाने रूप धर्म के कारण इसको 'स्यन्दिता' चारी कहते हैं। इसी के विपर्यय से अर्थात् विपरीत होने से 'अपस्यन्दिता' चारी बनती है। स्यन्दिता के अङ्गों के विपर्यय (विपरीतता) से यद्यपि यह (अपस्यन्दिता) प्राप्त हो जाती है, तथापि प्रयोग में इन दोनों के साहचर्य को बतलाने के लिए इसका पुनः निरूपण किया गया है। आलीढ़ के निरूपण से प्रत्यालीढ़ का ग्रहण हो जाता है, फिर दोनों का अलग-अलग निरूपण इसलिए किया गया है कि वहाँ दोनों का त्र्यस्र संस्थान है। क्योंकि वहाँ उनका प्रयोग मण्डल से होता है। जैसा कि आगे कहेंगे 'मण्डल का प्रयोग करे' इत्यादि। अब कहते हैं कि स्यन्दिता को अपस्यन्दिता का विपर्यय क्यों नहीं मान लिया जाय? इस पर कहते हैं कि स्यन्दिता के विषय में यह बात नहीं है। क्योंकि अपस्यन्दिता शब्द में 'अप' उपसर्ग ही इसका प्रतिबन्धक है। क्योंकि आलीढ़ और प्रत्यालीढ़ स्थान है और स्थान में स्थिति को प्रधानता होती है तथा चारी में गति को प्रधानता होती है। यही दोनों में विशेषता है ॥ २६ ॥

१५. समोत्सारितमण्डलीचारी

अभिनव—अब समोत्सारितमण्डलीचारी का लक्षण कहते है—

अनुवाद—यदि अग्रतलसञ्चर पादों के द्वारा घूमते हुए उपसर्पण किया जाय तो चारी व्यायाम में 'समोत्सरितमण्डली' चारी कही जाती है ॥ २७ ॥

---

१. ख. तलसञ्चारपादाभ्यां घूर्णमानापसर्पणैः ।
क-भ.म अञ्चितेन तु पादेन घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धत्वान्मत्तली करयोर्मता ॥
उभयोः पादयोश्चापि घूर्णमानापसर्पणैः ।
समोत्सारितमत्तली व्यायामे सा विधीयते ॥
२. ख. ग. समोत्सारितमत्तली ।

अथ समोत्सरितमत्तल्ली

तलसञ्चरयोगेन जङ्घास्वस्तिकाभ्यन्तरे यदान्यस्य तदैव च द्वितीयतलसञ्चरं करोति ततो घूर्णमानयोस्तयोः उपसर्पणमित्यन्ये। समः अविकलः। अ अवनं रक्षणम् उत् ऊर्ध्वं सरितः गतिमान् समोत्सरितः। मदनं मत् तं मदं तनोतीति मत्तत् तस्य लयो गमनं यस्यामिति मत्तल्ली। परितशब्दो रि गतौ इत्यस्मात् क्तप्रत्यये विन्यस्यते। सहेन समासे सादेशे च। मदनं मत्। तननं तत्। लयनं लोः। सर इति प्रातिपदिकात् इतचि वा सरितशब्दः। सम् आ उत् सरित इत्यन्ये पठन्ति[1]। मदेन यो न विकलीभूतः रक्षार्थं चान्यतः पलायते। तस्य वै द्विधा गतिरिति मध्यमदविषयेयं चारी सम्पद्यते॥ २७॥

अभिनव—जङ्घाओं के संवेध से किये जाने वाले स्वस्तिक के मध्य में तलसञ्चरपाद के योग से जब दूसरे पैर से द्वितीय तलसञ्चर करता है तो घूर्णमान दोनों पादों का उपसर्पण होता है, ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। 'सम' का अर्थ अविकल (सम्पूर्ण) है, 'अ' का अर्थ रक्षण है, 'उत्' का अर्थ ऊर्ध्व (ऊपर) और 'सरित' का अर्थ गतिमान् है, यही समोत्सारित है। मदन ही मत् है, उस मद को विस्तृत करता (मदं तनोति विस्तारयति)' वह 'मत्तत्' है, उसका लय (गमन) जिसमें हो वह 'मत्तली' है। यह 'समोत्सारितमत्तली' का अर्थ है। 'सरित' शब्द का गतिमान् अर्थ कैसे होता है? इस आशंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि गत्यर्थक 'रि' धातु से भाव में 'क्त' प्रत्यय होकर 'रित' शब्द बनता है। फिर 'रित' शब्द का 'सह' के समास होने पर और 'सह' को 'स' आदेश होकर 'सरित' शब्द बनता है। अतः 'सरित' का अर्थ गतिमान् होता है अथवा सर शब्द से इतच् प्रत्यय होकर सरित शब्द बनता है। मदन ही मत् है और तनन तत् है और लयन ली है, इस प्रकार मत्तली शब्द बनता है। अन्य आचार्य —'सम्' + 'आ' + 'उत्' + सरित इस प्रकार समोत्सरित पद की निरुक्ति करते हैं और मत्तली शब्द की व्याख्या करते हैं कि मद से जो विकल नहीं होता और रक्षा के लिए अन्यत्र पलायन करता है, उसकी दो प्रकार की गति होती है। इस प्रकार मध्यम मदविषया चारी सम्पन्न होती है॥ २७॥

---

१ 'ओलरिअ' इत्यपसरणार्थकप्राकृतरूपस्य संस्कृतीकरणमिति केचित्। तत्रापशब्ददोषं परिजिहीर्षुणाचार्येण भङ्गीभेदेन निरुक्तिरनुगृहीतेति मन्यामहे!

उभाभ्यामपि पादाभ्यां घूर्णमानोपसर्पणैः ।
उद्वेष्टितापविद्धैश्च [1]हस्तैर्मत्तल्युदाहृता ॥ २८ ॥
एता भौम्यः[2] स्मृताश्चार्यो [3]नियुद्धकरणाश्रयाः ।
[4]आकाशकीनां चारीणां सम्प्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २९ ॥

अथ मत्तल्ली

पादाभ्यामिति भूमिश्लिष्टाग्रतलाभ्यामिति जङ्घास्वस्तिकयोगेनार्घत्र्यश्रि-भागाभ्यां घूर्णमानत्वेनापसर्पणाद्वा, अगाढमदविषया चारी मत्तल्ली ॥ २८ ॥

नियुद्धकरणाश्रया इति । नियुद्धेऽनादिसिद्धा एताः, करणाङ्गहारेषु च ततो नाट्ये । स्मृता इत्यनेनोपवेदसंबन्धत्वेन वेदोऽत्र प्रमाणमिति दर्शितं विनियोग-दिग्प्रदर्शनं चेदं मन्तव्यम् ॥ २९ ॥

---

१६. मत्तलीचारी

अनुवाद—जहाँ पर दोनों पैरों के द्वारा घूमते हुए अपसर्पण होता है और उद्वेष्टित एवं अपवेष्टित हाथों से अभिनय किया जाता है वह 'मत्तलो' चारी कहलाती है ॥ २८ ॥

अभिनव—'पादाभ्याम्' का अभिप्राय है भूमि में श्लिष्ट अग्रतल वाले पैरों से। जंघास्वस्तिक के योग से अर्धत्र्यस्र (आधा तिरछा) स्थानक के रूप में दोनों पैरों से घूमते हुए उपसर्पण करने से जो 'मत्तली' चारी होती है वह प्रगाढ़ मद-विषया मत्तली चारी होती है अर्थात् इस चारो का प्रगाढ़ मद के विषय में योजना होती है ॥ २८ ॥

अनुवाद—नियुद्ध (बाहु-युद्ध) तथा करणों के आश्रयभूत ये सोलह भौमी चारियाँ कही गई हैं । अब मैं आकाशिकी चारियों का लक्षण कहूँगा ॥ २९ ॥

---

१. क. करैः ।
२. ख. ग. भूम्यः । क-म. भूमिगताः ।
३. ख. ग. नियुक्तकरणाश्रयाः ।
४. क–म. शस्त्रमोक्षाङ्गहारेषु वक्ष्याम्याकाशगाः पुनः ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पुरतः सम्प्रसारयेत्[1] ।
उत्क्षिप्य [2]पातयेच्चैनमतिक्रान्ता तु सा स्मृता ॥ ३० ॥

अथातिक्रान्ता

"उक्षिप्ता यस्य पार्ष्णिरिति" (९-२७७) कुञ्चितं तद् द्वितीयगुल्फक्षेत्रे कृत्वा किञ्चित् पुरतः प्रसार्य प्रकृतिभेदेन चतुस्तालान्तरमुत्क्षिप्याग्रेण भूमौ निपात्यत इति गन्तव्यातिक्रमादतिक्रान्ता[3] ॥ ३० ॥

अभिनव—ये चारियाँ नियुद्ध में अनादि सिद्ध हैं अर्थात् स्वाभाविक हैं। करणों एवं अङ्गहारों और नाट्य में इनका प्रोग होता है। 'स्मृताः पद का अभिप्राय है कि यद्यपि स्मृतियाँ वेद नहीं हैं किन्तु उपवेद से सम्बन्धित वेद के समोप होने से यहाँ वेद प्रमाण है, ऐसा दिखाया गया है। विनियोग को दिशा भी दिखा दी गई है, ऐसा मानना चाहिए ॥ २९ ॥

१. अतिक्रान्ताचारौ

अभिनव—अब अतिक्रान्ताचारी का लक्षण करते हैं—

अनुवाद—यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर आगे की ओर फैला दिया जाय और फिर उसे ऊपर उठाकर नीचे गिरा दिया जाय तो 'अतिक्रान्ता' चारी होती है ॥ ३० ॥

अभिनव—'उक्षिप्ता यस्य पार्ष्णिः' नवम अध्याय में कुञ्चित पाद का जो लक्षण कहा गया है उस कुञ्चित पाद को द्वितोय वाद के गुल्फ (चरण ग्रन्थि) के क्षेत्र में करके थोड़ा सा आगे फैलाकर प्रकृति-भेद या विनियोग के भेद से चार ताल की दूरी तक ऊपर उठाकर आगे की ओर भूमि पर गिराया जाता है इस प्रकार गन्तव्य का अतिक्रमण करने के कारण इसे 'अतिक्रान्ता' चारी कहते हैं ॥ ३० ॥

---

१. क-म. सम्प्रयोजयेत् । सम्प्रकारयेत् ।

२. क-म. प्रक्षिप्य पातयेच्चैकमतिक्रान्तेति सा स्मृता ।

३. क, पार्श्वं एव पातयेदिति सैव पार्ष्णिचण्डघातेति च कीर्तिधरः ।

ऊरुभ्यां [1]वलनं कृत्वा कुञ्चितं पादमुद्धरेत्[2] ।
पार्श्वे विनिक्षिपेच्चैनमपक्रान्ता तु सा स्मृता[3] ॥ ३१ ॥
कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वेनोत्पतनं[4] न्यसेत् ।
[5] उद्धट्टितेन पादेन पार्श्वक्रान्ता [6]विधीयते ॥ ३२ ॥

अथापक्रान्ता

ऊरुभ्यां [7]वलनोपलक्षितां (बद्धां) पूर्वं कृत्वा ततः पादमुद्धृत्य पार्श्वे क्षिपेदित्यपक्रमणादपक्रान्ता ॥ ३१ ॥

२. अपक्रान्ताचारी

अनुवाद—यदि दोनों ऊरुओं के द्वारा वलन करके कुञ्चित पैर को ऊपर उठाये और फिर पार्श्व में पटक दे तो 'अपक्रान्ता' चारी होती है ॥ ३१ ॥

अभिनव—'ऊरुओं के द्वारा वलन' इससे उपलक्षित बद्धा चारी को पहिले करके फिर पैर को ऊपर को ओर उठाकर पार्श्व में (बगल में) क्षेपण करे। इस प्रकार अपक्रमण करने से इसे 'अपक्रान्ता' चारी कहते हैं ॥ ३१ ॥

३. पार्श्वक्रान्ताचारी

अनुवाद—यदि कुञ्चित पाद को अपने पार्श्व से (बगल से) ऊपर की ओर ले जाकर फिर उद्घट्टित पाद से पृथ्वी पर गिरा दे तो 'पार्श्वक्रान्ता' चारी होती है ॥ ३२ ॥

१. क-म ऊरुभ्यां वलितं कृत्वा ।
२. ख. कुञ्चितं तु समुद्धरेत् ।
३. क-म. प्रकीर्त्तिता ।
४. ग. पार्श्वे स्थानगतिं न्यसेत् । ख. पार्श्वोत्थानोद्गतिं न्यसेत् । क. जानुस्तनसमं न्यसेत् ।
५. क-द. उद्वाहितेन ।
६. क-म. पार्श्वक्रान्ता भवेदियम् ।
क-द. पार्श्वक्रान्ताभिधीयते ।
७. क. एवंव विक्षेपवलितमिति कीर्त्तिता ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुस्तनसमं न्यसेत् ।
द्वितीयं च क्रमात्[1] स्तब्धमूर्ध्वजानुः प्रकीर्तिता[2] ॥ ३३ ॥

अथ पार्श्वक्रान्ता

कुञ्चितं पादं स्वपार्श्वेनोपरि नीत्वा भूमौ पार्ष्ण्यां पातयेदिति पूर्वं कुञ्चनाद्बलादेवोद्घाटितत्वं भवति; तस्य हि लक्षणं "स्थित्वा पादतलाग्रेण पार्ष्णिर्भूमौ निपात्यते" इति (९-२६६)। इयमेव पार्ष्णिचण्डघातेति प्रसिद्धा। अन्ये तु द्वितीयोरुक्षेत्रं यावदुत्क्षिप्योद्घाटितेन पातयेदित्याहुः ॥ ३२ ॥

अथोर्ध्वजानुः

क्रमस्तब्धमिति यथा तस्योत्क्षेपस्तथास्य स्तब्धतेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अभिनव—कुञ्चित नामक पैर को अपने पार्श्व से ऊपर की ओर ले जाकर भूमि पर एड़ी को गिरा दे, इस प्रकार पहिले कुञ्चित पाद के बल से एड़ी का उद्घट्टित होना सूचित होता है। उसका लक्षण है—'पादतल के अग्रभाग से एड़ी को भूमि पर गिराये यही पार्श्वक्रान्ताचारी चण्डघाता नाम से प्रसिद्ध है। अन्य आचार्य तो कहते हैं कि द्वितीय पाद को ऊरु के क्षेत्र पर्यन्त ऊपर उठाकर (उत्क्षिप्य) उद्घट्टित कर भूमि पर गिराया जाता है, यही पार्श्वक्रान्ताचारी है ॥ ३२ ॥

४. ऊर्ध्वजानुचारी

अनुवाद यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर जानु को स्तन के समकक्ष अर्थात् बराबर में रखे और दूसरा पैर स्तब्ध (स्थिर) रखे तो 'ऊर्ध्वजानु चारी होती है ॥ ३३ ॥

अभिनव—ऊर्ध्वजानुरिति। 'क्रमस्तब्ध' का अर्थ है जैसे पाद का उत्क्षेपण है उसी प्रकार उसकी स्तब्धता है ॥ ३३ ॥

---

१. क क्रमस्तब्धम् ।

२. ख. प्रकीर्त्तितः ऊर्ध्वजानुः। क-म. ऊर्ध्वजानुरसौ स्मृता।

ख. पुस्तकेऽयं श्लोकः नास्ति। ग. पुस्तके पृष्ठत इत्यनन्तरं पठ्यते ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानूर्ध्वं सम्प्रसारयेत् ।
पातयेच्चाग्रयोगेन सा सूची परिकीर्तिता ॥ ३४ ॥
[1]पृष्ठतो ह्यञ्चितं कृत्वा पादमग्रतलेन तु ।
द्रुतं निपातयेद्भूमौ चारी नूपुरपादिका ॥ ३५ ॥

अथ सूची

जानूर्ध्वं जानुपर्यन्तां जङ्घां प्रसारयेत् । यदि वा जानोरुर्ध्वमूरुपर्यन्तां जङ्घां सकलां प्रसार्याग्रयोगेनापातयेदिति । सूच्याकारत्वात् सूची ॥ ३४ ॥

अथ नूपुरपादिका

पृष्ठत इति "पार्ष्णिर्यस्य स्थिता भूमौ" इत्यञ्चितं (९-२७५) कृत्वा तं पृष्ठतः स्फिक्पार्ष्णिश्लेषपर्यन्तं नीत्वा स्वपार्श्वेऽग्रतलेनाञ्चितां जङ्घां पातयेदिति । नूपुराणां झणज्झणिति शब्दजननात् स्वरितार्थत्वमनया भवति नूपुरयोजनं चेति तथोक्ता ॥ ३५ ॥

५. सूचीचारी

अनुवाद—यदि कुञ्चित पाद को ऊपर की उठाकर जानु के ऊपर ले जाकर फैला दे और फिर अग्रभाग के योग से पैर को नीचे गिरा दे तो 'सूची' चारी कही जाती है ॥ ३४ ॥

अभिनव—यदि जानु के ऊपर जानु पर्यन्त जङ्घा को फैला दे अथवा जानु के ऊपर ऊरु पर्यन्त जङ्घा को पूर्ण रूप से फैलाकर अग्रयोग (अग्रभाग) से भूमि पर गिरा दे। इस प्रकार सुई के आकार का होने के कारण इस चारी का नाम 'सूची' धारी है ॥ ३४ ॥

६. नूपुरपादिकाचारी

अनुवाद—यदि कुञ्चित पाद को पीछे से अञ्चित करके अग्रतल (आगे के भाग) से शीघ्र ही भूमि पर गिरा दे तो 'नूपुरपादिका' चारी होती है ॥ ३५ ॥

१. क–म. पृष्ठतस्त्वञ्चितं कृत्वा ।
'ख' पुस्तके 'पृष्ठतः' इत्यारभ्य श्लोकद्वयं नास्ति ।

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य पार्श्वात्पार्श्वं[1] तु दोलयेत् ।
पातयेदञ्चितं चैवं दोलपादा तु सा [2]स्मृता ॥ ३६ ॥

[3]कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य आक्षिप्य[4] त्वञ्चितं न्यसेत् ।
जङ्घास्वस्तिकसंयुक्ता चाक्षिप्ता[5] नाम सा स्मृता[6] ॥ ३७ ॥

अथ दोलपादा

उत्क्षिप्येति दक्षिणक्षेत्रान्तं स्वापार्श्वं निनीय ततोऽपि स्वपार्श्वं दोलयेदिति दोलाकारेण नयेत्, ततः स्वपार्श्वे पार्ष्ण्या निपातयेत् ॥ ३६ ॥

अभिनव—'पृष्ठतः' पद का अभिप्राय है कि जिसकी एड़ो भूमि पर स्थित हो, ऐसे पाद को अञ्चित करके फिर उसे पीछे की ओर कूल्हे से लेकर एड़ी को छूते हुए अन्त तक ले जाकर अपने पार्श्व में अग्रतल से अञ्चित जङ्घा को गिराये। इस प्रकार नूपुरों के झनझन आवाज होने से शीघ्रता प्रकट होती है और नूपुरों की योजना भी इसी प्रकार कही गयी है ॥ ३५ ॥

७. दोलपादाचारी

अनुवाद—यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर एक पार्श्व (बगल) से दूसरे पार्श्व तक दोला की तरह झुलाये और फिर अञ्चित रूप में पृथ्वी पर गिरा दे तो 'दोलपादा' चारी होती है ॥ ३६ ॥

अभिनव—'उत्क्षिप्य' का अभिप्राय है कि कुञ्चित पाद को दक्षिण पाद के क्षेत्र तक अपने पार्श्व में ले जाकर वहाँ से भी अपने पार्श्व में दोला की तरह झुलाये, फिर वहाँ से एड़ी को अपने पार्श्व (बगल) में गिराये। यही दोलापाद चारी है ॥ ३६ ॥

---

१. ख. ग. पार्श्वं तु दोलयेत् ।
२. क. ख. ग. पातयेदञ्चितं चैव दोलपादा प्रकीर्त्तिता ।
क-म. अञ्चितेन द्वितीयेन डोलापादा तु सा भवेत् ।
३. क-म. उत्क्षिप्य कुञ्चितं पादमञ्चितं तु निपातयेत् ।
अग्रस्वस्तिककसंयुक्ता साक्षिप्ता चायुदाहृता ।
४. ग. व्याक्षिप्य । ख. व्याक्षिप्यं चाञ्चितं ।
५. ग. प्रक्षिप्ता । ख. उत्क्षिप्ता ।
६. ख भवेत् ।

स्वस्तिकस्याग्रतः पादः कुञ्चितस्तु[1] प्रसारितः।
निपतेदञ्चिताविद्ध[2] आविद्धा नाम सा स्मृता ॥ ३८ ॥

अथाक्षिप्ता

आक्षिप्येति। अग्रतस्त्रितालोत्क्षेपादर्धमण्डलवत् पार्श्वान्तरं नीत्वा स्वस्तिकेन पार्ष्ण्या भुवि पातयेत् ॥ ३७ ॥

अथाविद्धा

विश्लिष्टजङ्घस्यैव स्वस्तिकस्य संबन्धी कुञ्चितः पादः प्रसारितः तत आविद्धस्सन् स्वपार्श्वे द्वितीयपार्ष्णेः क्षेत्रे पार्ष्ण्या पातितः कार्यः ॥ ३८ ॥

८. आक्षिप्ताचारी

अनुवाद—यदि कुञ्चित पाद को ऊपर की ओर उछालकर फिर अञ्चित करके भूमि पर रख दे और जङ्घाओं को स्वस्तिक मुद्रा से संयुक्त करे तो 'आक्षिप्ता' नामक चारी होती है ॥ ३७ ॥

अभिनव—आक्षिप्तति। 'आक्षिप्य' पद का अभिप्राय है कि आगे की ओर तीन ताल के अन्तर पर ऊपर उछालकर अर्धमण्डल आकार में दूसरे पार्श्व में ले जाकर फिर स्वस्तिक करके एड़ी के अनुसार भूमि पर गिराये ॥ ३७ ॥

९. आविद्धाचारी

अनुवाद—यदि स्वस्तिक पाद के आगे की ओर कुञ्चित पाद को फैला दिया जाय और अञ्चित पाद से संश्लिष्ट करके भूमि पर गिराये तो 'आविद्धा' चारी कही जाती है ॥ ३८ ॥

अभिनव—आविद्धेति। विश्लिष्ट जङ्घा वाले स्वस्तिक से सम्बन्धित कुञ्चित पाद को फैलाया जाय फिर आविद्ध अर्थात् संश्लिष्ट पाद को अपने पार्श्व में द्वितीय पार्ष्णि (एड़ी) के क्षेत्र में पार्ष्णि (एड़ी) के अनुसार गिराये। तो वह आविद्धा चारी कहलती है ॥ ३८ ॥

१. क-ग. कुञ्चितश्च।
२. क. निपतेदञ्चिताविद्धमाविद्धा नाम सा स्मृता।
क-म. पातयेदञ्चितं चैव ह्याविद्धा चारिरिष्यते।

[1]पादमाविद्धमावेष्टच समुत्क्षिप्य निपातयेत् ।
[2]परिवृत्य द्वितीयं च सोद्वृत्ता चार्युदाहृता ॥ ३९ ॥
पृष्ठतो वलितं पादं [3]शिरोघृष्टं प्रसारयेत् ।
सर्वतो मण्डलाविद्धं विद्युद्भ्रान्ता तु सा स्मृता ॥ ४० ॥

अथोद्वृत्ता

आविद्धमिति आविद्धचारीसम्बन्धिनं कुञ्चितमित्यनेन आविद्धाशेषभूतेयमिति दर्शयति । आवेष्टनं द्वितीयोरुक्षेत्रगपार्ष्णित्वम् । तमेव पादमुत्प्लुत्य भ्रमरकं कृत्वा पातयेत् । ततो द्वितीयमित्यूर्ध्वं वर्तमानत्वादुद्वृत्ता ॥ ३९ ॥

---

१०. उद्वृत्ता चारी

अनुवाद—यदि आविद्ध पाद को आवेष्टित करके (लपेट कर) फिर उछाल कर गिरा दे फिर द्वितीय पाद को परिवर्त्तित कर गिरा दे तो 'उद्वृत्ता' चारी होती है ॥ ३९ ॥

अभिनव—'आविद्ध' का अर्थ है आविद्धाचारो से सम्बन्धित कुञ्चित पाद । इससे यह दिखाते हैं कि यह चारी आविद्धा चारी को शेषभूत अर्थात् अङ्गभूत है। 'आवेष्टन' का आशय है कि द्वितीय ऊरु के क्षेत्र को पार्ष्णिता । उसी पाद को उछालकर भ्रमरक मुद्रा करके नोचे गिरा दे। फिर दूसरे पाद के ऊपर को ओर वर्तमान होने से यह 'उद्वृत्ता' चारो होती है ॥ ३९ ॥

११. विद्युद्भ्रान्ता चारी

अनुवाद—यदि पीछे को ओर वलित किये हुए पैर को शिर से स्पर्श करता हुआ चारों ओर मण्डलाकार रूप में घुमाते हुए फैला दे तो 'विद्युद्भ्रान्ता' चारी होती है ॥ ४० ॥

---

१. क. पादमाविध्य चावेष्ट्य समुत्प्लुत्य निपातयेत् ।
क-म. पादमाविद्धकरणं परिकृत्य निर्वात्तितम् ।
प्रसारयेत् पृष्ठतश्च सोद्वृत्ता चारिरिष्यते ॥

२. क. परिवृतद्वितीयं तु सा वृत्ता समुदाहृता ।

३. क-न. शिरोद्घृष्टं । क-द. शिरोत्स्पृष्टं ।

[1]पृष्ठः प्रसारितः पादो वलितोऽभ्यन्तरीकृतः।
पाष्णिप्रपतितश्चैव ह्यलाता सम्प्रकीर्तिता[2] ।। ४१ ।।

अथ विद्युद्भ्रान्ता

पृष्ठत ऊरुमूलादिति केचित्। उपाध्यायास्तु पृष्ठतः पार्श्वात् पश्चाद् भागे वलितं कृत्वा शिरः संश्लेषात् तद्द्वारेण सर्वत उर्ध्वाधःपार्श्वेषु मण्डलवद् भ्रमितं प्रसारयेदिति विद्युद्भ्रान्ता ।। ४० ।।

अथालाता

पूर्वं पाश्चाद्भागे प्रसारितस्ततो वलनेनाभ्यन्तरीकृतो द्वितीयोरुदेशादभिमुखतलं च नीतः, ततः स्वपार्श्वपार्ष्ण्या पातित इति अलातचक्राकृतिरलाता ।। ४१ ।।

अभिनव—'पृष्ठत,' का अर्थ 'ऊरु के मूल से घुमाये' ऐसा कुछ आचार्य करते हैं। हमारे उपाध्याय जो तो कहते हैं कि पृष्ठतः अर्थात् बगल से पीछे भाग में वलित करके फिर शिर के संश्लेष से उसके द्वारा ऊपर, नीचे, अगल-बगल चारों ओर से मण्डलाकार रूप में घुमाकर फैलाये। इस प्रकार 'विद्युद्भ्रान्ता' चारी होती है ॥४०॥

अलाताचारी

अनुवाद—यदि एक पैर को पीछे की ओर फैला दे, फिर वलित करके (घुमा करके) भीतर किये गये एड़ो को गिरा दिया जाय तो 'अलाता' चारी होती है ।। ४१ ।।

अभिनव—पहिले एक पैर को पीछे के भाग में फैलाये, फिर वलित करके (घुमाकर) भीतर की ओर कर ले फिर दूसरे ऊरु के प्रदेश से सम्मुख ले जाय, उसके बाद अपने पास की एड़ी के अनुसार गिरा दे, इस प्रकार अलातचक्र को आकृति वाली यह 'अलाता' चारी होती है ।। ४१ ।।

१. ग. पृष्ठतः सर्वतः पादो वलिताऽभ्यन्तरीकृतः।
ख. पृष्ठप्रसारितः पादो वलिताभ्यन्तरीकृतः।
२. ख. पार्ष्णिप्रपादितश्चैव ह्यलाता सा प्रकीर्तिता।

[1]कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य त्र्यस्रमूरुं विवर्त्तयेत्[2] ।
[3]कटिजानुविवर्त्ताच्च भुजङ्गत्रासिता भवेत्[4] ॥ ४२ ॥

अथ भुजङ्गत्रासिता

द्वितीयोरुमूलक्षेत्रान्तं कुञ्चितमुत्क्षिप्य कटिजानुनिवर्तनेन नितम्बसम्मुखपार्ष्णित्र्यश्रमूरुं निवर्तयेत् । स्वपार्श्वगजानुकमुत्तानपादतलं कुर्यादिति पादोपान्तभुजङ्गभयभावितगतिसादृश्याद् भुजङ्गत्रासिता ॥ ४२ ॥

---

१३. भुजङ्गत्रासिता चारी

अनुवाद—यदि कुञ्चित पाद को ऊपर की ओर उठाकर ऊरु को त्र्यस्र (तिरछा) विवर्त्तन करे और कटि एवं जंघा को गोल घुमाव दे तो 'भुजङ्गत्रासिता' चारी होती है ॥ ४२)

अभिनव—कुञ्चित पाद को दूसरे ऊरु के मूल क्षेत्र तक ऊपर उठाकर कटि और जानु की ओर घुमाकर नितम्ब के सम्मुख तिरछी एड़ी को ऊरु की ओर विवर्त्तित करे, फिर अपने बगल की जानु पर पैर को उत्तान तल में स्थापित करे इस प्रकार पैर के पास सांप आने के भय से प्रभावित होकर इधर-उधर भागने की गति के समान यह चारी 'भुजङ्गत्रासिता' चारी कहलाती है ॥ ४२ ॥

---

१. क-म. उत्क्षिप्य कुञ्चितं पादं त्र्यस्रमूरुं निवर्त्तयेद् ।

२. ख. प्रवर्त्तयेत् ।

३. ख. कटिजानुविवर्त्तेन ।
क-म. कटिजानुवित्तं च ।

४. म. भ. पुस्तकयोः इतः परमुत्कीर्णालक्षणं वर्त्तते । यथा—
कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य जानुं चोर्ध्वं प्रसारयेत् ।
पादपृष्ठेन चोत्कीर्णा सोत्कीर्णा चारिरिष्यते ॥

अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा समुत्प्लुत्य[1] निपातयेत् ।
[2]जङ्घाञ्चितोपरिक्षिप्ता सा ज्ञेया हरिणप्लुता[3] ॥ ४३ ॥
[4]नूपुरं चरणं कृत्वा पुरतः सम्प्रसारयेत् ।
क्षिप्रमाविद्धकरणं दण्डपादा[5] तु सा स्मृता ॥ ४४ ॥

अथ हरिणप्लुप्ता

अतिक्रान्तचार्युक्तकुञ्चितं पादमुत्क्षिप्योत्प्लुत्य च तमेव पातयेत् । तदनन्तरं द्वितीया जङ्घा अञ्चितपादा सती पृष्ठभागे पश्चाद्देशे क्षिप्ता कार्येति मृगप्लुति-तुल्या, 'सन्धि होदु' इत्यादौ विदूषकादेर्दृश्यते ॥ ४३ ॥

---

१४. हरिणप्लुता चारी

अनुवाद—अतिक्रान्त चारी में कहे हुए कुञ्चित पाद को ऊपर उछालकर फिर उसे गिरा दे और जङ्घा को अञ्चित करके ऊपर की ओर क्षेपण करे तो 'हरिणप्लुता' चारी होती है ॥ ४३ ॥

अभिनव—अतिक्रान्त चारी में कथित कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर उसी को फिर गिरा दे। उसके बाद द्वितीय पैर को जङ्घा के पृष्ठभाग पर पैर को अञ्चित करके प्रक्षेपण करे। इस प्रकार मृग के उछाल के समान होने से यह 'हरिणप्लुता' चारी है ॥ ४३ ॥

१५. दण्डपादा चारी

अनुवाद—नूपुरपादिका चारी में चरण को करके आगे की ओर फैला दे, फिर शीघ्र ही आविद्ध करे तो 'दण्डपादा' चारी होती है ॥ ४४ ॥

---

१. क-ग. चोत्प्लुत्य विनिपातयेत् ।
२. क. जङ्घाञ्चिता परिक्षिप्ता ।
३. ग. हरिणीप्लुता ।
४. क-म. स्थित्वा नूपुरपादेन पादमूर्ध्वं प्रसारयेत् ।
५. क-ङ. दण्डपादा ।

[1]अतिक्रान्तक्रमं कृत्वा त्रिकं तु परिवर्त्तयेत् ।
द्वितीयपादभ्रमणात्तलेन[2] भ्रमरी स्मृता ॥ ४५ ॥

अथ दण्डपादा

नूपुरपादोक्तं कुञ्चितं पादं द्वितीयपार्ष्णिगं कृत्वाग्रतः प्रसारयेत्, कथं क्षिप्रं कृत्वा तथा तथा आविद्धकरणं. आविद्धस्वदेहक्षेत्रसम्मुखीकृतजान्वग्रात् क्रिया यत्र । ऊरुजानुजङ्घस्य स्तब्धत्वेन दण्डाकारत्वाद् दण्डपादा ॥ ४४ ॥

अथ भ्रमरी

अतिक्रान्तचार्युक्तं कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य भुजङ्गत्रासितवत् त्र्यश्रमूरुं विवर्त्य द्वितीयपादतलभ्रमणे त्रिकं परिवर्तयेदिति सर्वशरीरपरिवर्तनद्वारेण नेमिभ्रमणाद् भ्रमरी ॥ ४५ ॥

अभिनव—दण्डपादेति—नूपुर पाद में कथित कुञ्चित पाद को द्वितीय पाद की एड़ियों पर ले जाकर फैला दे। कैसे फैलाये ? इस पर कहते हैं कि शीघ्रता करके फैलाये । इसमें आविद्ध अपने शरीर के क्षेत्र के सम्मुख किये हुए जानु के अग्रभाग से क्रिया की जाती है । इसमें ऊरु, जानु, जंघा की स्तब्धता से पैर के दण्डाकार स्थिति में होने से इसे 'दण्डपादा' चारी हैं ॥ ४४ ॥

१६. भ्रमरचारी

अनुवाद—यदि अतिक्रान्ता चारी को प्रदर्शित करके त्रिक को परिवर्त्तित कर दे, फिर दूसरे पैर के तलवे से शरीर को घुमा दिया जाय । इस प्रकार भ्रमण से 'भ्रमरी' चारी होती है ॥ ४५ ॥

अभिनव—अतिक्रान्त चारी में कहे हुए कुञ्चित पाद को उछाल कर सांप से डरे हुए के समान ऊरु को तिरछा विवर्त्तित कर फिर द्वितीय पादतल के घुमाने में त्रिक का परिवर्त्तन करे। इस प्रकार समस्त शरीर के परिवर्त्तन के द्वारा नेमि (चक्र) की तरह भ्रमण करने से 'भ्रमरी' चारी होती है ॥ ४५ ॥

---

१. क-म. आक्षिप्तकरणं । क-द. आक्षिप्तचरणं ।
२. क-म. कृत्वाक्रान्तमपाक्रान्तमुत्प्लुत्य च निपातयेत् ।
जङ्घाञ्चितपरिक्षिप्ता सा भवेद्धरिणप्लुता ॥

[1]आकाशिक्यः स्मृता ह्येता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः ।
[2]धनुर्वज्रासिशस्त्राणां प्रयोक्तव्या[3] प्रयोक्तृभिः ॥ ४६ ॥
[4]अग्रगौ पृष्ठगौ वापि ह्यनुगौ चापि योगतः ।
[5]पादयोस्तु द्विजा हस्तौ कर्तव्यौ नाट्यप्रयोक्तृभिः ॥ ४७ ॥

इतिकर्तव्यताशेषं विनियोगादिकं चासां दर्शयति—ललिताङ्गक्रियात्मिका इति धनुर्वज्रेत्यादि च ॥ ४६ ॥

अथ कायशोभां निरूपयन् व्यापकविनियोगं चारीणां दर्शयति—अग्रगावित्यादि ।

अनुवाद—अङ्गों के ललित क्रिया रूप इन आकाशिकी चारियों को कहा गया है। नाट्य-प्रयोक्ताओं को धनुष, वज्र आदि शस्त्रों के सञ्चालन में इनका प्रयोग करना चाहिए ॥ ४६ ॥

अभिनव—अब इन चारियों के शेष इतिकर्त्तव्यता एवं विनियोग आदि को दिखाते हैं। ये ललिताङ्गक्रियात्मिका चारियाँ धनुष्, वज्र आदि के अभिनय में प्रयोग की जाती है ॥ ४६ ॥

इसके बाद शरीर की शोभा का निरूपण करते हुए चारियों के व्यापक विनियोग को दिखाते हैं—

---

१. क–म. एतास्त्वाकाशगाश्चार्यो ललिताश्चरणाश्रयाः ।
२. क–म. धनुर्वज्रादिशास्त्राणां कर्त्तव्यास्तु विमोक्षणे ।
क–भ धनुःशास्त्रप्रहरणे कर्त्तव्यास्तु विचक्षणैः ।
३. क. प्रयोक्तव्या विमोक्षणे । ग. योक्तव्या शास्त्रमोक्षणे ।
इतः परं क-भ. म. पुस्तकयोः ।
सर्वासामेव चारीणां पृष्ठतस्त्वग्रतोऽपि वा ।
आकीर्णपतनं यस्याच्चारीविद्धं तु तद्भवेत् इत्यधिकं दृश्यते ।
४. ख. अग्रगौ समग्रौ वापि अनुगौ चापि योगतः ।
क-म. अग्रगौ समग्रौ वापि पुनश्चाप्यनुगौ तथा ।
क-भ. अग्रगौ समग्रौ वापि पुनश्चाप्यन्यथा हि तौ ॥
पादयोर्नत्तकैर्हस्तौ प्रयोक्तव्यौ सुसंगतौ ।
५. ख. पादयोस्तु द्विजहस्तौ कर्त्तव्यौ नाट्यप्रयोक्तृभिः ।

यतः पादस्ततो हस्तो यतो हस्तस्ततस्त्रिकम् ।
पादस्य निर्गमं[1] ज्ञात्वा तथोपाङ्गानि [2]योजयेत् ॥ ४८ ॥

इदं तात्पर्यम्—इह कदाचिद्गतेः प्राधान्यं, कदाचिद्धस्तव्यापारस्य, कदाचिद् द्वयोः। आद्ये पक्षे पादविक्षेपस्यानुगो तदनुसारिणौ तत्पाश्चाद्भाविनौ च हस्तौ, द्वितीये हस्तव्यापारस्यानुसारेण पश्चाद्भावेन च पादौ, तृतीये द्वयोरपि तुल्यकालताविनियोगपारतन्त्र्येण च प्रवृत्तिः। योग औचित्यम् ॥ ४७ ॥

अनुवाद—हे द्विजों ! नाट्य के प्रयोक्ताओं को पैरों की गति के अनुसार हाथों को पैरों के अग्रगामी अथवा पृष्ठगामी (पोछे जाने वाले) अथवा अनुगामी करना चाहिए ॥ ४७ ॥

अभिनव—यह तात्पर्य है कि इनमें कभी गति की प्रधानता होती है कभी हस्त व्यापार की प्रधानता होती है और कभी दोनों की प्रधानता होतो है। प्रथम पक्ष में हाथों को पादविक्षेप के अनुकूल उसका अनुसरण करने वाले तथा पादविक्षेप के बाद व्यापृत रखना होता है। दूसरे पक्ष में हस्त-व्यापार के अनुसार उनके पोछे पैरों को गति करनो चाहिए। तृतीय पक्ष में दोनों को प्रवृत्ति एक ही समय में तथा विनियोग की अपेक्षा (परतन्त्रता) से होंगो। यहाँ 'योग' पद का अर्थ 'औचित्य' है॥ ४७ ॥

अनुवाद—जिस तरफ पैर हो उस तरफ हाथ को करना चाहिए और जिधर हाथ हो उधर त्रिक को घुमाना चाहिए और पैर को निर्गम जानकर उसके अनुसार उपाङ्गों की योजना करनी चाहिए ॥ ४८ ॥

---

१. ग. पादस्य निर्गतिं कृत्वा। क. पादस्य तु गतिं ज्ञात्वा।
२. क-न. ततो वाङ्गानि योजयेत्।
क-म. तथाङ्गानि प्रयोजयेत् ॥

[1]पादचार्यां यथा पादो धरणीमेव गच्छति ।
एवं हस्तश्चरित्वा[2] तु कटिदेशं समाश्रयेत् ॥ ४९ ॥

कायशोभायोजनायेह अग्रे चात्राध्याये चार्यः प्रस्तुताः (१०-७३) इति । तत्प्राधान्यं यदा भवति तदा योजना कीदृशी कार्येति स्पष्टयितुमाह यतो हस्त इति । तथेति तेनैव प्रकारेण, उपाङ्गानि भ्रूनेत्रादीनि ॥ ४८ ॥

ननु हस्तस्य क्रियायां यदि पादस्य गतिक्रिया र्तांह तद्विश्रान्तौ हस्तस्य को वृत्तान्त इत्याशङ्क्याह—पादचार्यामिति समाप्तायामिति शेषः । एवकारोऽप्यसंभावनां निरस्यति । हस्त इति ॥ ४९ ॥

अभिनव—शरीर की शोभा की योजना के लिए इस अध्याय में यहाँ और आगे चारियाँ कही गई हैं, इसलिए जब उनका प्राधान्य होता है तो उसकी कैसी योजना करनी चाहिए, यह बात स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि 'यतो हस्तः' इत्यादि । 'तथा' का अर्थ है उसी प्रकार से । 'उपाङ्ग' पद से भ्रू, नेत्र आदि का ग्रहण होता है ॥ ४८ ॥

अनुवाद--पाद चारी के प्रदर्शन के बाद जैसे ही पैर को भूमि पर रखा जाता है, उसी प्रकार हाथ का प्रदर्शन कर उसे कटि प्रदेश पर रखे ॥ ४९ ॥

अभिनव—यदि हाथ की क्रिया (अभिनय) के समय पैर की गति विश्रान्त हो जाती है तो हस्त की क्या दशा होगी ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं कि पाद-चारी के समाप्त होने पर। एवकार सम्भावना का निरास करता है। हाथ को कटिप्रदेश पर रखा जाता है ॥ ४९ ॥

---

१. ख-ग. पादचार्यां ।
२. ख. ग. एवं हस्तं चरित्वा तु ।

एताश्चार्यो[1] मया प्रोक्ता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः[2]।
[3]स्थानान्यासां प्रवक्ष्यामि सर्वशस्त्रविमोक्षणे ॥ ५० ॥

अर्धचन्द्रो नाट्ये, नृत्ते तु पक्षप्रद्योतो पक्षवञ्चितावपि। पादस्य धरणीप्राप्तौ कीदृक् कायसन्निवेश इत्याशयेन स्थानकान्यभिधित्सुः पूर्वोपसंहारपूर्वकं प्रतिजानीते-एताश्चार्य इति।

ललितत्वमङ्गस्य यत इयतीभिरेव इमा उत्तानत्वे। तावानेव गतिप्रकार इति यावत्। स्थानानि भावे करणेऽधिकरणे वा व्युत्पत्त्या कायसन्निवेशाश्चार्यो उच्यन्ते। सर्वशस्त्रविमोक्षण इति साधारणो विनियोग उक्तः। आसामपि चारीणां पूर्वं गतिरूपत्वं, गतेश्च पश्चाद्भाविनी स्थितिरिति भावः ॥ ५० ॥

अभिनव—नाट्य में अर्धचन्द्र होता है और नृत्त में तो पक्षप्रद्योत और पक्षवञ्चिक भी होता है। पादचारी के समाप्त होने पर पैरों के भूमि पर रख देने पर शरीर का सन्निवेश कैसा होगा? इस आशय से स्थानकों को कहने की इच्छा से पूर्व कथन के उपसंहार पूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं -

अनुवाद--अङ्गों की ललित क्रियाओं से युक्त इन चारियों को मैंने कहा है। अब समस्त शस्त्रों के मोक्षण में इनके स्थानों को कहूँगा ॥ ५० ॥

अभिनव ये चारियाँ है, क्योंकि इतनी ही चारियों से अङ्गों में लालित्य आता है। ये चारियाँ उत्तानरूप हैं। उतने ही गति प्रकार हैं। 'स्थानानि' पद भाव, करण अथवा अधिकरण अर्थ में व्युत्पन्न होने से चारियाँ कायसन्निवेश रूप कही जाती हैं। 'सर्वशास्त्रविभोक्षण' यह साधारण विनियोग कहा गया है। ये चारियाँ पहिले गति रूप होती हैं और बाद में स्थितिरूप हो जाती है, यह भाव है ॥ ५० ॥

---

१. ब एताश्चार्या मया प्रोक्ता।

२. क-म ललिताङ्गसमाश्रयाः। क-टि० ललिताङ्गक्रियाश्रयाः।

३. ब. स्थानानि संप्रवक्ष्यामि।

वैष्णवं समपादं च वैशाखं मण्डलं तथा ।
[1]प्रत्यालीढं तथालीढं स्थानान्येतानि षण् नृणाम्[2] ॥ ५१ ॥

[3]द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ।
तयोः समस्थितस्त्वेकः त्र्यस्रः [4]पक्षस्थितोऽपरः ॥ ५२ ॥
[5]किञ्चिदञ्चितजङ्घं च सौष्ठवाङ्गपुरस्कृतम् ।
वैष्णवं स्थानमेतद्धि विष्णुरत्राधिदैवतम्[6] ॥ ५३ ॥

नृणामिति स्थानकानि तु निरूपयिष्यन्त इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

१. वैष्णव-स्थान

अनुवाद—वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़ एवं प्रत्यालीढ़ मनुष्यों के ये छः स्थानक कहे गये हैं ॥ ५१ ॥

अभिनव—'नृणाम्' अर्थात् मनुष्यों के स्थानकों का निरूपण करेंगे ॥ ५१ ॥

अनुवाद—यदि दोनों पैरों के बीच ढ़ाई (२½) ताल का अन्तर हो। उनमें एक पाद समस्थित हो और दूसरा पाद त्र्यस्र (तिरछा) पक्ष में स्थित हो तथा जङ्घा थोड़ी झुकी हुई हो और सभी अङ्ग सौष्ठव युक्त हों तो वह 'वैष्णव-स्थान' कहलाता है। इस स्थान का अधिकारी देवता विष्णु है ॥ ५२-५३ ॥

१. ख. प्रत्यालीढ़मथालीढ़ ।
२. नर्तॄणां स्थानकानि षट् ।
३. क-भ .म. स्वभावसंस्थितस्त्वेकस्त्र्यस्रः पक्षस्थितोऽपरः ।
किञ्चित्तयाञ्चिता जङ्घा समुन्नतमुरस्तथा ॥
हनुशीर्षे समे चैव कर्णादण्टाङ्गुले स्थिते ।
उरःस्थानाच्च चिबुकं चतुरङ्गुलसंस्थितम् ॥
कटकस्त्रिपताको वा दक्षिणो नाभिसंस्थितः ।
त्रिपताकोऽर्धचन्द्रो वा वामः कटितटाश्रितः ॥
पादयोरन्तरं यत्तत्तलद्वयमितं भवेत् ।
ज्ञेयं तद्वैष्णवस्थानं कार्यमुत्तममध्यमयोः ॥
स्थानेनानेन कर्त्तव्यः संल्लापस्तु स्वभावजः ।
शेषं कार्यमनेनैव यदवस्थेन कर्मणा ॥
४. ख-ग. त्र्यस्रपार्दास्थितीऽपरः ।
५. ख. किञ्चिदाञ्चितजङ्घोऽसौ सौष्ठवाङ्गसमन्वितः ।
६. ग. विष्णुरेवाधिदैवतम् ।

स्थानेनानेन कर्त्तव्यः संल्लापस्तु स्वभावजः[1] ।
[2]नानाकार्यान्तरोपेतैर्नृभिरुत्तममध्यमैः ॥ ५४ ॥

[3]चक्रस्य मोक्षणे[4] चैव धारणे धनुषस्तथा[5] ।
[6]धैर्यदानाङ्गलीलासु तथा क्रोधे प्रयोजयेत् ॥ ५५ ॥

पक्षस्थित इति पार्श्वाभिमुखाङ्गुलिः । त्र्यश्र इति किञ्चिदग्राभिमुख्यम-स्पृशत् । अञ्चिता कुटिला जानुनमनाज्जङ्घा यत्र । सौष्ठवे यदङ्गं वक्ष्यते तेन पुरस्कृतं पूजितम्, अप्रधाने वा अङ्गे सौष्ठवं पुरस्कृतं प्रधानम् । हि यस्मात् विष्णुरत्र ाधिदैवतम् तस्माद्वैष्णवम् । तेन तस्य तादृशस्य वाऽस्त्रीप्रधानस्य सूत्रधारादेः प्रयोगे स्थानकमिदम् । एवमुत्तरत्र मन्तव्यम् ॥ ५३ ॥

एतदेवाह—स्थानेनानेनेति स्वभावजः अनावेशितः ॥ ५४ ॥

अभिनव—'पक्षःस्थित' पद से पार्श्वाभिमुख अङ्गुलियाँ अभिप्रेत हैं। 'त्र्यस्र' पद किञ्चित् आभिमुख्य स्पर्श का बोधक है। 'अञ्चित' पद का अर्थ कुटिल है। जानु के झुकने से जङ्घा अञ्चित हो जिसमें। सौष्ठव में जिस अङ्ग को कहेंगे, उस अङ्ग से पुरस्कृत अर्थात् पूजित। यदि अङ्ग अप्रधान है तो सौष्ठव पुरस्कृत (प्रधान) है। क्योंकि इस स्थान का अधिदेवता विष्णु है इसलिए यह वैष्णव स्थानक है। इसलिए स्त्री की प्रधानता से रहित सूत्रधार आदि के प्रयोग में यह स्थानक होता है इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए ॥ ५२-५३ ॥

अनुवाद—इस स्थान के द्वारा नाना प्रकार के कार्यों में संलग्न उत्तम और मध्यम प्रकृति के पुरुषों को स्वाभाविक संलाप करना चाहिए ॥ ५४ ॥

अभिनव—इसी बात को कहते हैं इस स्थान से। 'स्वभावतः' का अर्थ आवेश-रहित है ॥ ५४ ॥

---

१. क-न. प्रभावतः
२. ख. नानाकार्यान्तरोपेतो ।
३. क-न. 'चक्रस्य' इत्यारभ्य 'योजितम्' इति यावत् सार्द्धत्रयश्लोकाः न सन्ति ।
४. ख. मोक्षणं ।
५. क-च. धनुषि स्थिते ।
६. ख. धैर्यदानाङ्गलीलासु ।

इदमेव विपर्यस्तं प्रणयक्रोध[1] इष्यते ।
उपालम्भकृते चैव [2]प्रणयोद्वेगयोस्तथा ॥ ५६ ॥

शङ्कासूयोग्रताचिन्तामतिस्मृतिषु चैव हि ।
दैन्ये [3]चपलतायोगे गर्वाभीष्टेषु शक्तिषु ॥ ५७ ॥
शृङ्गाराद्भुतबीभत्सवीरप्राधान्ययोजितम्[4] ।
[5]समपादे समौ पादौ तालमात्रान्तरस्थितौ ॥ ५८ ॥
स्वभावसौष्ठवोपेतौ ब्रह्मा चात्राधिदैवतम् ।

अनुवाद—चक्र के मोक्षण (फेंकने) में, और धनुष के धारण करने में, धैर्य, दान, शारीरिक लीला (गति) में और क्रोध में इस स्थानक की योजना करनी चाहिए ॥ ५५ ॥

अनुवाद—इसी स्थानक के विपर्यस्त अर्थात् विपरीत प्रदर्शन से प्रणय-कोप, उपालम्भ, प्रणयोद्वेग, शङ्का, असूया, उग्रता, चिन्ता, मति, स्मृति, दैन्य, चपलता, गर्व और अभीष्ट शक्तियों के योग आदि भावों का प्रदर्शन तथा शृङ्गार, वीर, अद्भुत, बीभत्स रसों की प्रधानता का प्रदर्शन किया जाता है ॥ ५६-५८ (१) ॥

२. समपाद स्थान

अनुवाद—एक ताल के अन्तर से अवस्थित तथा स्वाभाविक सौष्ठव से युक्त दोनों सम पादों का प्रयोग 'समपाद' स्थानक में होता है। इस स्थानक का देवता ब्रह्मा हैं ॥ ५८-५९ (१) ॥

---

१. क-ग. प्रणयः कोपः ।
२. ख-ग प्रकर्षाधिबलस्तथा ।
३. क. ग. दैन्ये चपलतायां च ।
४. ख. योषितम् ।
५. क-भ. म. पद्भ्यां तालान्तरस्थाभ्यां समपादं प्रकीर्त्तितम् ।

अनेन कार्यं स्थानेन विप्रमङ्गलधारणम्[1] ॥ ५९ ॥

[2]रूपणे पक्षिणां चैव वरं [3]कौतुकमेव च ।

[4]खस्थानां स्यन्दनस्थानां विमानस्थायिनामपि ॥ ६० ॥

लिङ्गस्थानां व्रतस्थानां स्थानमेतत्तु[5] कारयेत् ।

विप्रमङ्गलेति विप्रैः क्रियमाणं यन् मङ्गलाशीर्वचनादि तस्य धारणं प्रतीप्सन्। खस्थादीनामिदं स्थानकम् । लिङ्गस्थाः शैवाद्याः व्रतस्था ऊर्ध्वंकायादिप्रतताङ्गाः ॥ ६१ ॥

अनुवाद—इस स्थान के द्वारा ब्राह्मणों का आशीर्वचन धारण करना चाहिए। पक्षियों के निरूपण में और वर के कौतुक के निरूपण में, आकाश में स्थित दिव्य पुरुषों एवं रथ पर बैठने वाले और विमान पर चलने वाले के अभिनय में तथा लिङ्गस्थ अर्थात् शैव सन्यासियों एवं व्रतियों अर्थात् ऊर्ध्वंकाय तथा फैफे हुए अङ्ग वाले योगियों के अभिनय में इस स्थानक का प्रयोग करना चाहिए ॥ ५९-६१ (१) ॥

अभिनव—'विप्रमङ्गल' पद का अर्थ है ब्राह्मणों के द्वारा क्रियमाण मङ्गलमय आशीर्वचन। उसे ग्रहण करना चाहिए। 'खस्थानाम्' का अभिप्राय है कि आकाश में स्थित रहने वाले दिव्य पुरुष उनके लिए यह स्थानक है। 'लिङ्गस्थ का अर्थ है शैव आदि सन्यासी। 'व्रतस्थ' का अर्थ है ऊर्ध्वकाय और फैले हुए अङ्ग वाले व्रती (योगी) ॥ ५९–६९ ॥

---

१. ख ग. अनेन कार्यं स्थानेन विप्रमङ्गलकारणम्।
   क-म. अनेन कार्या स्थानेन विप्रमङ्गलसत्क्रिया ।

२. क-म. कर्त्तव्यं स्यादनेनैव वरकौतुकमङ्गलम् ।

   ख ग. रूपं पक्षिणां चैव परं कौतुकमेव च ।

४. ख. ग. स्वस्थानां ।

५. क-म. समपादं प्रयोजयेत् ।

[1]तालास्त्रयोऽर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ॥ ६१ ॥
[2]तालांस्त्रीनर्धतालांश्च निषण्णोरुं प्रकल्पयेद् ।

त्र्यस्रौ[3] वक्षःस्थितौ चैव तत्र पादौ[4] प्रयोजयेत् ॥ ६२ ॥
[5]वैशाखस्थानमेतद्धि स्कन्दश्चात्राधिदैवतम् ।

कियत्याकाशदेश इत्याह—तालास्त्रयोऽर्धतालाश्चेति सार्धतालत्रयादधो नभोदेश इत्यर्थः। निषण्णावचलौ विश्रान्तौ तु ऊरू यत्र सूच्यपेक्षया। विशाखः स्कन्दः। व्याप्याङ्गानामेव युद्धादौ निर्गमनात् तेषामेव वेगादानपार्ष्णिचोदनाक्रमेण ॥ ६१-६२ (१) ॥

३. वैशाख-स्थान

अनुवाद—यदि दोनों पैरों के मध्य साढ़े तीन (३½) ताल का अन्तर हो और साढ़े तीन ताल के अन्तर पर ऊरु सूची चारी की अपेक्षा से विश्रान्त हो, और त्र्यस्र अर्थात् तिरछा एवं पक्ष (पार्श्व) में स्थित दोनों पैरों का प्रयोग करें तो 'वैशाख-स्थान' कहा जाता है। इस स्थानक का अधिदेवता स्कन्द (कार्त्तिकेय) है ॥ ६१-६२ (१) ॥

अभिनव—'तालास्त्रयोऽर्धतालाश्च' का अर्थ है साढ़े तीन तालो से नीचे आकाश प्रदेश में। 'निषण्णोरु'पद का अभिप्राय है कि ऊरु सूची की अपेक्षा जहाँ विश्रान्त हो। 'विशाख' का अर्थ 'स्कन्द' है। व्याप्य अङ्गों का ही युद्ध आदि में निर्गमन से उन्हीं का वेग-ग्रहण और पार्ष्णि की प्रेरणा से पाद-क्रमण होता है। ॥ ६१-६२ (१) ॥

१. क-म. द्वौ तालावर्धतालश्च पादयोरन्तरं भवेत् ।
२. क-म तालास्त्रयोऽर्धतालश्च निषण्णोरु प्रवर्त्तयेत् ।
क-भ. ताल स्त्रयोऽर्धतालश्च निषण्णार्धस्तथैव च ।
३. क. (टि०) अस्रौ पक्षस्थितौ चैव कटी जानुसमौ तथा ।
धनुर्वज्रादिशस्त्राणां तत्र पादौ प्रयोजयेत् ॥
४. क-द. पादावत्र प्रयोजयेत् ।
५. क-म, वैशाखं नाम तत्स्थानं स्कन्दस्तस्याधिदैवतम् ।

स्थानेनानेन कर्तव्यमश्वानां[1] वाहनं बुधैः ॥ ६३ ॥
व्यायामनिर्गमश्चैव [2]स्थूलपक्षिनिरूपणम् ।
[3]शरासनसमुत्कर्षे व्यायामकरणे[4] तथा ॥ ६४ ॥
रेचकेषु च कर्तव्यमिदमेव प्रयोक्तृभिः ।
[5]ऐन्द्रे तु मण्डले पादौ चतुस्तालान्तरस्थितौ ॥ ६५ ॥
[6]त्र्यस्त्रौ पक्षःस्थितौ चैव कटिजानू समौ तथा ।
[7]धनुर्वज्रासिशस्त्राणि मण्डलेन प्रयोजयेत् ॥ ६६ ॥
वाहनं [8]कुञ्जराणां तु स्थूलपक्षिनिरूपणम्[9] ।

अनुवाद—इस स्थानक के द्वारा विद्वानों को अश्वों का वाहन करना चाहिए । तथा व्यायाम युद्ध आदि से निर्गमन, स्थूल पक्षियों के निरूपण, बाणों के प्रक्षेपण, तथा व्यायायाम करने में और रेचकों के अभिनय में विद्वानों को इस स्थानक का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६३-६५ (१) ॥

---

१. क-म. कर्त्तव्यं हयानां ।
२. ग. स्थूलपक्षनिरूपणम् । क-म प्रयोगो धनुषस्तथा ।
३. क-ङ. शराणां च समुत्क्षेपं ।
४. ख. व्यायामकृत एव च । क. व्यायामकृतमेव च ।
५. ख. ऐन्द्रं तु मण्डलं पादौ ।
६. ख.ग. त्र्यस्त्रौ वक्षःस्थितौ चैव कठिजानू समौ तथा ।
क-म. कटी जानुसमा चैव करौ पक्षस्थितौ तथा ।
७. क. ग धनुर्वज्राणि शस्त्राणि मण्डलेन प्रयोजयेत् ।
ख. धनुर्वज्रादिशस्त्राणां मण्डलेन प्रयोजयेत् ।
क-म. धनुर्वज्र प्रहरणं मण्डलेन तु योजयेत् ।
८. ग. कुञ्जरादीनां ।
९. क-म. स्थूलपक्षतिरूपणम् । क-ढ. स्थूलपक्षनिरूपणम् ।

अस्यैव दक्षिणं पादं पञ्च तालान् प्रसार्य तु ॥ ६७ ॥
[1]आलीढ़स्थानकं कुर्याद् रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ।

ऐन्द्रे त्विति शेषं द्योतयन् सार्धतालद्वयान्तरनभोदेशनिषण्णोरुत्वमत्रापि सूचयति । मण्डलेश्वरविषयत्वान्मण्डलम् । अश्वानां वाहने वैशाखं, इव तु हस्तिनां, तेभ्यः स्थूलानामिति प्रक्रमात् स्थूलाः पक्षिणोऽत्र गरुडादयो मन्तव्याः । ॥ ६५-६७ (१) ॥

---

४. मण्डल-स्थान

अनुवाद—ऐन्द्र मण्डल में चार तालों के अन्तर पर स्थित दोनों पैर त्र्यस्र (तिरछे) और पक्ष (पार्श्व) में स्थित होते हैं और कटि एवं जानु सम समान अवस्था में रखे जाते हैं । धनुष, वज्र, असि (तलवार) आदि शस्त्रों के चलाने में, हथियों के वाहन तथा स्थूल पक्षियों के निरूपण में मण्डल-स्थानक का प्रयोग करना चाहिए ॥ ६५-६७ (१) ॥

अभिनव—'ऐन्द्रे तु' से शेष अर्थ का द्योतन करते हुए $2\frac{1}{2}$ ताल के अन्तर से नभ प्रदेश में निषण्णोरु को सूचित करता है । मण्डलेश्वर के विषय में होने से इस स्थानक का नाम मण्डल-स्थान है । अश्वों के वाहन में वैशाखस्थान का प्रयोग होता है और हाथियों के वाहन में मण्डल-स्थान का प्रयोग होता है । उनसे भी स्थूलों के वाहन मे ऐसा प्रक्रम करने से स्थूल पक्षी से यहाँ गरुड़ आदि का ग्रहण करना चाहिए ॥ ६५–६७ (१) ॥

५. आलीढ़-स्थान

अनुवाद—इसी मण्डल-स्थानक के दक्षिण पाद को पाँच तालों के अन्तर पर फैलाकर 'आलीढ़-स्थान' का प्रयोग करना चाहिए । इस स्थानक का अधिदेवता रुद्र है ॥ ६७–६८ ॥

---

१. क-भ अलीढ़स्थानमेतत्तु विज्ञेयं नाट्यकर्मणि ।

अनेन कार्यं स्थानेन [1]वीररौद्रकृतं तु यत् ॥ ६८ ॥

उत्तरोत्तरसंजल्पो रोषामर्षकृतस्तु[2] यः ।

मल्लानाञ्चैव [3]संफेटः शत्रूणां च निरूपणम् ॥ ६९ ॥

[4]तथाभिद्रवणं चैव शस्त्राणां चैव मोक्षणम् ।

[5]कुञ्चितं दक्षिणं कृत्वा वामं[6] पादं प्रसार्य च ॥ ७० ॥

[7]आलीढपरिवर्तस्तु प्रत्यालीढमिति स्मृतम् ।

अयैवेति निषण्णोरुत्वं तथा त्र्यश्रत्वं द्वयोः सूचयति । आसमन्ताल्लीढ़ा स्पृष्टा भूमिर्येनेत्यालीढ़म् । संफेटः संघर्षः ॥ ६७-७० (१) ॥

अनुवाद—इस आलीढ़-स्थानक के द्वारा वीर और रौद्र रस के व्यञ्जक सभी कार्य और रोष एवं अमर्ष में किये गये उत्तरोत्तर कथनोपकथन (उत्तर-प्रत्युत्तर) तथा मल्लों और प्रतिमल्लों का संघर्ष, शत्रुओं का निरूपण, अभिद्रवण अर्थात् पलायन और शस्त्रों का मोक्षण (फेंकना) आदि का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ६८-७० (१) ॥

अभिनव—'अस्यैव' पद के कहने से निषण्णोरुत्व और त्र्यस्रत्व दोनों सूचित होता है । चारों ओर से भूमि का स्पर्शन जिससे हो वह 'आलीढ़' है) । 'संफेट' का अर्थ 'संघर्ष' है ॥ ६७-७० (१) ॥

---

१ क-म. रौद्रवीरकृतं तु ।

२. क न. रोषामर्षकृताश्रयः । क-म. रोषामर्षसमुद्भवः ।

३. क न. सस्फोटः ।

४. क-म तथा विद्रवणं चैव शस्त्राणां च विमोक्षणम् ।
क न. तथ हिद्रवणं चैव शस्त्राणां त्रिभोक्षणम् ।

५. क ग. अञ्चितं ।

६. क. वाम पादं ।

७. क-म. परिवर्ते यः प्रत्यालीढ तु तत्स्मृतम् ।

[1]आलीढसंहितं शस्त्रं प्रत्यालीढेन मोक्षयेत्[2] ॥ ७१ ॥
नानाशस्त्रविमोक्षो हि कार्योऽनेन[3] प्रयोक्तृभिः ।

आलीढ़परिवर्तं इतीयदेव लक्षणं पूर्वमुक्तम्, तु पदं इतिकर्त्तव्यतास्पष्ट-करणार्थम् । कुञ्चितमिति प्रसारणविपरीतं भूय उत्तानाकुञ्चितोऽत्र पादः ॥ ७१ ॥

ननु प्रयोक्तृभिः शस्त्रविमोक्षः कार्यं इत्युक्तम् । तस्य प्रयोक्तृभिः न्यायान्यायात् व्यायामाच्चेति नामानुसारादेषां वृत्तिविभागे परिशेषता । ॥ ७२ (१) ॥

---

६. प्रत्यालीढ़-स्थान

अनुवाद—यदि दाहिने पैर को कुञ्चित करके और बायें पैर को फैला-कर आलौढ़-स्थान का परिवर्त्तन कर दिया जाय तो 'प्रत्यालीढ़' स्थानक होता है ॥ ७०-७१ (१) ॥

अनुवाद—आलोढ़-स्थान में जिन शस्त्रों का सन्धान किया जाता है प्रत्यालीढ़-स्थानक के द्वारा उनका मोक्षण करना चाहिए। नाट्यप्रयोक्ताओं को इस स्थानक के द्वारा अनेक प्रकार के शस्त्रों का मोक्षण (प्रक्षेपण) करना चाहिए ॥ ७१-७२(१) ॥

अभिनव—'आलीढ़ परिवर्त्त' इतना ही लक्षण पहिले कहा गया है। 'तु' पद इतिकर्त्तव्यता को स्पष्ट करने के लिए है। 'कुञ्चित' पाद का आशय है कि प्रसारण के विपरीत उत्तान और आकुञ्चित पाद इसमें रहता है ॥ ७०-७१ ॥

अभिनव—अब प्रश्न है कि नाट्य-प्रयोक्ताओं को शस्त्र का मोक्षण करना चाहिए, यह आपने पहिले कहा है। इसी में सहायक न्याय है अतः न्यायों के अनुसार वृत्ति विभाग में इनको परिशेषता है ॥ ७२ ॥

---

१. क-ख. अलीढ़सहितं । क-म. आलीढ़सन्धितं ।

२. क म. मोचयेत् ।

३. क म. कार्यो व्यायामयोगतः ।

न्यायाश्चैव हि विज्ञेयाश्चत्वारः शस्त्रमोक्षणे ॥ ७२ ॥
भारतः सात्वतश्चैव वार्षगण्योऽथ कैशिकः[1] ।
[2]भारते तु कटीच्छेद्यं पादच्छेद्यं तु सात्वते ॥ ७३ ॥
वक्षसो वार्षगण्ये तु [3]शिरश्छेद्यन्तु कैशिके ।
एभिः प्रयोक्तृभिर्न्यायैर्नानाचारोसमुत्थितैः[4] ॥ ७४ ॥
[5]प्रविचारा प्रयोक्तया नानाशस्त्रविमोक्षणे ।

आरभट्या वार्षगण्यः । कटिच्छेद्यमिति भावे कृत्यः । कटीस्थानादिषु परस्य हन्तव्येष्वति क्रमेण चत्वारः ॥ ७३ ॥

एभिरिति एभिर्न्यायैरुपलक्षिताः । शस्त्रमोक्षणविषयाः प्रविचाराः प्रकृष्टाः विचित्रा चारा गतिविशेषाः । प्रयोक्तव्या इति ? चारोव्यायामकरणखण्डमण्डलात्मकाः कार्याः ॥ ७५ (१) ॥

अनुवाद नाना प्रकार के शस्त्रों के मोक्षण में चार प्रकार के न्याय कहे गये हैं—भारत, सात्त्वत, वार्षगण्य और कौशिक ये चार न्याय है ॥ ७२-७३ (१) ॥

अनुवाद—भारत में कटि पर सात्त्वत में पैर पर, वार्षगण्य में वक्षःस्थल पर और कौशिक में शिर पर अस्त्र-प्रहार का प्रयोग करना चाहिए ॥७३-७४ (१)॥

अभिनव—आरभटी वृत्ति के अनुसार वार्षगण्य का प्रयोग करना चाहिए। 'कटिच्छेद्य' में भाव अर्थ में कृत्य (यत्) प्रत्यय हुआ है। अतः हन्तव्य कटो, पाद, वक्ष एवं शिर आदि स्थानों पर अतिक्रमण से चार न्याय कहे गये हैं ॥ ७३-७४ (१) ॥

अनुबाद—नाट्य प्रयोक्ताओं को नाना प्रकार कौ चारियों से निर्मित इन न्यायों से उपलक्षित अनेक शस्त्रों के चलाने के प्रसङ्ग में विशिष्ट गतियों से चलना (पाद-प्रचार करना) चाहिए ॥ ७४ ॥

अभिनव—'एभिः' पद का अभिप्राय है न्यायों से उपलक्षित। शास्त्रमोक्षण विषयक प्रविचार अर्थात् प्रकृष्ट विचित्र गति-विशेष। 'प्रयोक्तव्यः' का तात्पर्य है चारी, व्यायाम, करण, खण्ड, मण्डल आदि का प्रयोग करना चाहिए ॥ ७४ ॥

---

१. क-म, वार्षगण्यः सकैशिकः ।
२. ख-ग. भारते तु कटिच्छेदं पादच्छेदं तु सात्त्वते ।
३. क-म वक्षसो वार्षगण्ये हृच्छिरःश्छेद्यं तु कैशिके ।
४. क-द, न्याये नानाचारीसमन्विते ।
५. ख. प्रविचार्यं प्रयोक्तव्यो ।

[1]न्यायाश्रितैरङ्गहारैर्न्यायाच्चैव समुत्थितैः ॥ ७५ ॥

यस्माद् युद्धानि वर्तन्ते [2]तस्मान् न्यायाः प्रकीर्तिताः [3]।

[4]वामहस्ते विनिक्षिप्य खेटकं दक्षिणेन च ॥ ७६ ॥

शस्त्रमादाय हस्तेन प्रविचारमथाचरेत् [5]।

न्यायशब्दस्यार्थं वर्शयति न्यायाश्रितैरिति न्यायेनाङ्गौचित्येन यान्यङ्गोदाहरणादि न्यायादेव च परबन्धनस्वभाविताप्तिरूपात् प्रवर्तितानि तैः। यत एतयोः क्रिया। अतो न्यायाख्याः ॥ ७५-७६ (१) ॥

अनुवाद—अङ्गहार न्यायों के आश्रित हैं और न्यायों से ही समुत्थित हैं, अर्थात् न्याय से ही ये उत्पन्न होते हैं। इन्हीं से समुपस्थित युद्ध का नयन होता है। इसलिए ये न्याय कहलाते हैं ॥ ७५-७६ (१) ॥

अभिनव—न्याय शब्द का अर्थ दिखाते हैं—'न्यायाश्रितैरित्यादि'। अङ्गों के औचित्य से न्याय का आश्रय लिया जाता है। जो अङ्गों के उदाहरण आदि हैं वे सब पर बन्धन स्वभाव (स्वरूप) प्राप्त होने वाले न्यायों से ही प्रवर्त्तित होते है, उन्हीं से इनकी क्रिया होती है, इसलिए ये न्याय कहे जाते हैं ॥ ७६ ॥

अनुवाद—बायें हाथ में खेटक अर्थात् ढ़ाल लेकर और दाहिने हाथ में शस्त्र को लेकर रङ्गमञ्च पर विचरण करे अर्थात् भ्रमण करे ॥ ७६-७७ ॥

---

१. ख. न्यायाश्रितैः। क-म न्याय्याश्रितैः।

२. ख-म. नोयन्ते।

३. क-ग. प्रवर्त्तिताः।

४. ख-ग. वामहस्तेन निक्षिप्य खेटकं दक्षिणेन च।

क-द. वामहस्ते विनिक्षिप्य खेटकं शस्त्रफेटकम्।

दक्षिणे च करे शस्त्रं प्रविचारमथाचरेत्।

५. क-न. प्रविचारमथारभेत्।

क-म. प्रविचारं प्रयोजयेत्।

[1]प्रसार्य च करौ सम्यक् पुनराक्षिप्य[2] चैव हि ॥ ७७ ॥
खेटकं भ्रामयेत् पश्चात् पार्श्वात् पार्श्वमथापि च ।
शिरःपरिगमश्चापि कार्यः शस्त्रेण योक्तृभिः ॥ ७८ ॥
[3]कपोलस्यान्तरे वापि[4] शस्त्रस्योद्वेष्टनं[5] तथा ।
पुनश्च[6] खड्गहस्तेन ललितोद्वेष्टितेन[7] च ॥ ७९ ॥
खेटकेन च कर्तव्यः शिरःपरिगमो बुधैः ।
एवं प्रचारः कर्तव्यो भारते शस्त्रमोक्षणे ॥ ८० ॥

अथापि चेत्यनन्तरं चेत्यर्थः । परिवेष्टनेन गमनं नयनं परिगमः । मणिबन्धोद्वेष्टनेन शस्त्रस्योद्वेष्टनम् । उद्वेष्टितेनेति उद्वेल्लितेनेति ॥ ७८-८० ॥

अनुवाद – फिर दोनों हाथों को अच्छी तरह फैलाकर फिर आक्षिप्त करके (खींचकर) खटक (ढ़ाल) को पोंछे, फिर इस पार्श्व से उस पार्श्व में अर्थात् अगल-बगल में घुमावे, फिर नाट्यप्रयोक्ता शिर के चारों ओर शस्त्र को घुमाये, फिर कपोल के समीप शस्त्र का उद्वेष्टन करे, फिर हाथ में तलवार लेकर और बायें हाथ में ढाल लेकर ललित उद्वेष्टन प्रक्रिया से शिर के चारों ओर घुमाये। इस प्रकार भारत न्याय में शास्त्र-मोक्षण के प्रसङ्ग में विद्वानों को रङ्गमञ्च पर विचरण अर्थात् विशिष्ट गति से चलना चाहिए ॥ ७७-८० ॥

अभिनव—यहाँ 'अथापि च' का अर्थ है और इसके अनन्तर परिवेष्टन के साथ 'गमन' (नयन) अर्थात् ले जाना 'परिगम' है। यहाँ मणिबन्ध (कलाई) में उद्वेष्टन करके शस्त्र का उद्वेष्टन होता है। 'उद्वेष्टन' का अर्थ उद्वेलित करना है ॥ ७७–८० ॥

---

१. क-प. करौ प्रसारितौ कृत्वा ।
२. ग. पुनरावर्त्य चैव हि । क-म. आक्षिप्य तदनन्तरम् ।
३. ग. कपोलांसान्तरे ।
४. ख. ग. चापि । क-म. चैव ।
५. क. ग. शस्त्रस्योद्घट्टनं तथा ।
६. क–म. तथा शृङ्गारहस्तेन ।
७. ग. ललितोद्वर्तितेन च ।

[1]सात्त्वते च प्रवक्ष्यामि प्रविचारं यथाविधि ।
स एव प्रविचारस्तु खड्गखेटकयोः स्मृतः ॥ ८१ ॥
केवलं पृष्ठतः शस्त्रं कर्तव्यं खलु सात्त्वते ।
गतिश्च वार्षगण्येऽपि सात्त्वतेन क्रमेण तु ॥ ८२ ॥
[2]शस्त्रखेटकयोश्चापि भ्रमणं संविधीयते ।
शिरः[3] परिगमस्तद्वच्छस्त्रस्येह भवेत्तथा ॥ ८३ ॥
उरस्युद्वेष्टनं कार्यं शस्त्रस्यांसेऽथवा[4] पुनः ।

पृष्ठत इति कायस्य पश्चाद्भागे ॥ ८२ ॥

२. सात्त्वत

अनुवाद--अब मैं यथाविधि सात्त्वत न्याय में होने वाली गति बतलाऊँगा। शस्त्र और ढाल के विषय में भी वही प्रविचार (विशिष्ट चाल) कहा गया है। जो भारत न्याय में कहा गया है। सात्त्वत में केवल पीछे से शस्त्रों का घुमाना होता है ॥ ८१-८२ (१) ॥

अभिनव—'पृष्ठतः' का अर्थ है शरीर के पीछे का भाग।

३. वार्षगण्य

अनुवाद – वार्षगण्य न्याय में भी सात्त्वत के क्रमानुसार ही गति (चाल) होती है। इसमें शस्त्र (तलवार) और ढाल को साथ-साथ घुमाया जाता है और इसमें इस शस्त्र को शिर पर घुमाया जाता है। फिर उस शस्त्र का वक्षःस्थल पर अथवा कन्धे पर उद्वेष्टन करना चाहिए ॥ ८२-८३ ॥

१. क–म. सात्त्वते तु प्रविचारं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
२. ग. खड्गखेटकयोश्चापि ।
३. ख. ग. शिरःपरिगमादस्मिंस्तस्य शस्त्रस्य केवलम् ।
४. ख. शस्त्रस्याङ्गेन वा पुनः ।

भारते [1]प्रविचारोऽयं कर्तव्यः स तु कैशिके ॥ ८४ ॥
[2]विभ्रमय्य तथा शस्त्रं केवलं मूर्ध्नि पातयेत् ।
प्रविचारा[3] प्रयोक्तव्या ह्येवमेतेऽङ्गलीलया ॥ ८५ ॥
[4]धनुर्वज्रासिशस्त्राणां प्रयोक्तव्या विमोक्षणे ।
न भेद्यं नापि तु च्छेद्यं न चापि रुधिरस्रुतिः ॥ ८६ ॥
[5]रङ्गे प्रहरणे कार्यो न चापि व्यक्तघातनम् ।
[6]संज्ञामात्रेण कर्तव्यं शस्त्राणां मोक्षणं बुधैः ॥ ८७ ॥
अथवाभिनयोपेतं कुर्याच्छेद्यं विधानतः ।

युद्धप्रसङ्गेन सर्वं प्रयोज्यमापततीत्याशङ्क्याह—न भेद्यमिति ।

---

४. कैशिक

अनुवाद —भारत न्याय में जो प्रविचार (विशिष्ट चाल) किये जाते हैं वही कौशिक न्याय में भी करने चाहिए। इसमें अन्त में केवल शस्त्र को मस्तक पर घुमाकर गिराया जाता है। इस प्रकार शरीर को लीला से प्रविचार (चाल, गति) का प्रयोग करना चाहिए। धनुष, वज्र, तलवार आदि शस्त्रों के मोक्षण (चलाने) में इसका प्रयोग करना चाहिए ॥ ८४-८६ (१) ॥

अभिनव—युद्ध के प्रसङ्ग में मार-काट आदि सब कुछ हो सकता है, इस प्रकार आशङ्का करके कहते है—'न भेद्यमित्यादि' ।

---

१. क. भारते प्रविचारो यः ।
२. क-भ. म. केवलं विभ्रमय्यास्त्रं शिरोदेशे प्रयोजयेत् ।
एवमेतं प्रविचाराः प्रयोज्यास्त्वङ्गलीलया ।
शस्त्रे धनुषि वज्रे च नानाविधविमोक्षणे ॥
३. ख. प्रविचाराश्च कर्त्तव्याः । क-द. प्रविचाराः प्रकर्त्तव्या ।
४. ख. धनुर्वज्रादिशस्त्राणां ।
५. ग. रङ्गे प्रहरणं कार्यं । ख. रङ्गप्रहरणे कार्यं ।
६. ग. संज्ञामात्रेण कर्त्तव्यं । क-म. संज्ञामात्रे प्रयोक्तव्यं ।

[1]अङ्गसौष्ठवसंयुक्तैरङ्गहारैर्विभूषितम् ॥ ८८ ॥
व्यायामं कारयेत् सम्यक् लयतालसमन्वितम् ।
[2]सौष्ठवे हि प्रयत्नस्तु कार्यो व्यायामसेविभिः ॥ ८९ ॥

भावे प्रत्ययः । संज्ञामात्रेणेति । यथा परो जानाति युध्येते इमाविति । एवं त्विमावित्यादिविषयं विधाय नाटकादौ संज्ञामात्रेणापि; तेन नानुचितमिति दर्शयति । अथवा व्यवस्थितविकल्पः ॥ ८६-८८ (१) ॥

अनुवाद—इस प्रकार रङ्गमञ्च पर प्रहरण (युद्ध) में न भेदन होना चाहिए, न छेदन होना चाहिए, न रक्त का स्राव (बहना) होना चाहिए और न स्पष्ट आघात होना चाहिए, विद्वानों को केवल संज्ञामात्र इशारे से शस्त्रों का मोक्षण करना चाहिए अथवा अभिनय से उपेत (युक्त) छेदन नाट्य-विधान के अनुसार करना चाहिए ॥ ८६-८८ (१) ॥

अभिनव—यहाँ 'भेद्यम्' इत्यादि में भाव अर्थ में कृत्यु प्रत्यय हुआ है । संज्ञामात्रेण अर्थात् संज्ञामात्र से अर्थात् केवल चेष्टा ही ऐसी करनी चाहिए, जिससे दूसरे यह समझें कि ये दोनों इस प्रकार युद्ध कर रहे हैं । इत्यादि । इस विषय या प्रसङ्ग को नाटक आदि में संकेत मात्र से दिखाना चाहिए । इसलिए यह अनुचित नहीं है यह दिखाते हैं । अथवा पद व्यवस्थित विकल्प को सूचित करता है ॥८६–८८ (१)॥

सौष्ठव

अनुवाद—सौष्ठव से युक्त अङ्गों से अङ्गहारों से विभूषित तथा ताल एवं लय से समन्वित व्यायाम (चारी) को प्रदर्शित करे । अतः व्यायाम-सेवियों को सौष्ठव में प्रयत्न करना चाहिए । ॥ ८८-८९ ॥

---

१. ख. अङ्गैः सौष्ठवसंयुक्तैः । क–म. अङ्गसौष्ठवसंयुक्तं ।

२. क-न. सौष्ठवेऽतिप्रयत्नस्तु कार्यो व्यायामवेदिभिः ।
क–म. प्रयत्नः सौष्ठवे कार्यः बुधैर्व्यायामयोगतः ।
ख. सौष्ठवेन तु यत्नस्तु कार्यो व्यायामसेविभिः ।

[1]सौष्ठवे लक्षणं प्रोक्तं बर्तनाक्रमयोजितम् ।
शोभा सर्वैव नित्यं हि सौष्ठवं समुपाश्रिता ॥ ९० ॥
अचञ्चलमकुब्जं चासन्नगात्रमथापि[2] च ।
नात्युच्चं चलपादञ्च सौष्ठवाङ्गं प्रयोजयेत् ॥ ९१ ॥

अङ्गसौष्ठवं तदुक्तं तस्य सिद्धये परिकरमाह—व्यायाममिति । व्यायामोऽङ्गशिक्षाभ्यासव्यासङ्गयोग्यकाल एव । एवं द्रुतादेः । चञ्चत्पुटादेश्चानुसन्धेरङ्गमात्मीकृतन्तालाख्यं पठ्यते ॥ ८९ ॥

सन्नं स्वविश्रान्तिपरिणतं गात्रं यस्य ॥ ९१ ॥

अभिनव—जिसे अङ्गों का सौष्ठव कहा गया है उसको सिद्धि के लिए परिकर सामग्री बतलाते हैं—'व्यायाममिति' । व्यायाम' पद का अर्थ है —अङ्गविषयक शिक्षा तथा अभ्यास के योग्य काल, जिसके परिणाम स्वरूप द्रुत, मध्य और विलम्बित आदि तथा चञ्चत्पुट आदि के अनुसन्धान से स्वीकृत ताल नामक अङ्ग का पठन करते हैं ॥ ८९ ॥

अनुवाद—इस प्रकार वर्तना के क्रम से संयोजित 'सौष्ठव' का लक्षण कहा गया है । क्योंकि नाट्य की सारी शोभा सौष्ठव पर ही आधारित है ॥ ९० ॥

अनुवाद—जिसमें गात्र न तो चञ्चल हो, न कुबड़े हों और न सन्न अर्थात् स्तब्ध हों, तथा जिसमें पैर न अधिक ऊँचे हों और न अधिक झुके हुए हो, ऐसे सौष्ठवाङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ॥ ९१ ॥

अभिनव—सन्न का अर्थ है विश्रान्ति (थकावट) से परिणत अर्थात् थक गया है गात्र (शरीर) जिसका ॥ ९१ ॥

---

१. अयं श्लोकः क (टि०) ज. झ. ड. ढ. न. प. फ. म. इत्यादि पुस्तकेषु नास्ति ।

२. ग. सन्नगात्रं तथैव च ।

कटी कर्णसमा यत्र कूर्परांऽसशिरस्तथा[1] ।
समुन्नतमुरश्चैव सौष्ठवं नाम तद्भवेत् ॥ ९२ ॥
नहि सौष्ठवहीनाङ्गः शोभते नाट्यनृत्तयोः[2] ।
अत्र नित्यं प्रयत्नो हि विधेयो मध्यमोत्तमैः ।
नाट्यं नृत्तं च सर्वं हि सौष्ठवे संप्रतिष्ठितम् ॥ ९३ ॥

कर्पूरांसशिर इति प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । तथेति साम्येनेत्यर्थः ॥ ९२ ॥
अधमानामत्र स्वातन्त्र्यं दर्शयति—मध्यमोत्तमैरिति ॥ ९३ ॥

अनुवाद—जहाँ पर कटि कर्ण (पतवार) के समान हो और कुहनी, कन्धें तथा शिर भी वैसा ही हो और वक्षःस्थल समुन्नत (ऊपर उठा हुआ) हो तो वह 'सौष्ठव' कहलाता है ॥ ९२ ॥

अभिनव—'कूर्परांसशिरः' में कूर्पर, अंस और शिर आदि बहुत अङ्ग होने से बहुवचन होना चाहिए था, किन्तु प्राणो का अङ्ग होने के कारण एकबद्भाव होने से इसमें एकवचन हुआ है ॥ ९२ ॥

विमर्श—यहाँ 'कर्ण' का अर्थ पतवार (नौका का पतवार) भी होता है । जिस प्रकार नौका का आधार पतवार है उसी प्रकार करणों एवं अङ्गहारों का आधार 'कटि' है । 'कर्ण' का एक अर्थ त्रिभुज रेखा' भी है अर्थात् जहाँ पर कटो त्रिभुज रेखा के समान झुकी हुई हो । क्योंकि हाथ को कमर पर रखने से कटि, कन्धा और कोहनी तीनों त्रिभुजाकार हो जाते हैं । संगीतरत्नाकर में 'कटिः कर्णसमा' के स्थान पर 'कटिः जानुसमा' पाठ मिलता है ॥ ९२ ॥

अनुवाद—नाट्य और नृत्त में सौष्ठव से रहित अङ्ग शोभित नहीं होता । इसलिए उत्तम और मध्यम पुरुषों को सौष्ठव में नित्य प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि नाट्य और नृत्त सभी सौष्ठव में प्रतिष्ठित हैं ॥ ९३-९४ (१) ॥

अभिनव—यहाँ उत्तम और मध्यमों के साथ व्यवहार करने में अधमों की स्वतन्त्रता दिखाते हैं ॥ ९३ ॥

---

१. ख. कूर्परोऽस्थितस्तथा ।
२. क-म. नाटके शोभते नचा ।

कटीनाभिचरौ[1] हस्तौ वक्षश्चैव समुन्नतम् ।
वैष्णवं स्थानमित्यङ्गं[2] चतुरस्रमुदाहृतम् ॥ ९४ ॥
परिमार्जनमादानं सन्धानं[3] मोक्षणं तथा ।
[4]धनुषस्तु प्रयोक्तव्यं करणं तु चतुर्विधम् ॥ ९५ ॥

सौष्ठवं यदर्थं तत्सर्वसामान्यभूतं चातुरश्र्यमाह—कटीनाभिचराविति क्रमेण यौगपद्येन च ॥ ९४ ॥

खड्गयुद्धे यथान्यायास्तथा धनुर्युद्धेऽपि कर्माणि सन्तीति दर्शयति परिमार्जनमिति ।

अभिनव—जिसके लिये 'सौष्ठव' का विधान है उस सर्वसामान्य चतुरस्रता को कहते हैं—

अनुवाद--जहाँ पर दोनों हाथ कटि और नाभि पर सञ्चरणशील हो और वक्षःस्थल समुन्नत (उठा हुआ) हो तथा वैष्णय नामक स्थानक हो वह 'अङ्ग' चतुरस्र कहलाता है ९४ ॥

अभिनव—दोनों हाथ कटि और नाभि प्रदेश पर क्रमशः और एक साथ भी घूमते हैं ॥ ९४ ॥

अभिनव—खड्गयुद्ध में जिस प्रकार न्याथ का विधान बताया गया है धनुर्युद्ध में भी उसी प्रकार के कर्म होते हैं, इस बात को दिखाते हुए कहते हैं—'परिमार्जनमिति'।

अनुवाद—परिमार्जन, आदान, सन्धान और मोक्षण इन चार प्रकार के करणों को धनुष के प्रसङ्ग में प्रयोग करना चाहिए ॥ ९५ ॥

---

१. क–म. कटिवक्षश्चरौ । ख. कटिनाभिचरौ ।
२. ग. वैष्णवं स्थानमित्यङ्गचतुरस्रमुदाहृता ।
क–म. वैष्णवं च तथा स्थानमङ्गं स्तु चतुरं भवेत् ।
३. क–ङ. बन्धनं ।
४. ख. धनुषस्तु प्रकर्तव्यम् । क–म. धनुषः संविधातव्यम् ।

[1]संमार्जनं परामर्श आदानं ग्रहणं क्रिया ।
सन्धानं शरविन्यासो विक्षेपो मोक्षणं भवेत् ॥ ९६ ॥
तैलाभ्यवतेन गात्रेण यवागूमृदितेन[2] च ।
व्यायामं कारयेत् श्रीमान् भित्तावाकाशिके तथा[3] ॥ ९७ ॥
योग्यायां मातृका भित्तिस्तस्माद्भित्ति समाश्रयेत् ।
[4]भित्तौ प्रसारिताङ्गन्तु व्यायामं कारयेन्नरम्[5] ॥ ९८ ॥

प्रथमं धनुषो मार्जनं ततोऽपि बाणस्य ग्रहस्ततोऽपि शरस्य सन्धानं ततो मोक्षः ॥ ९५ ॥

व्यायामे प्रस्तुते तदुपयोगि सौष्ठवं तत्प्रसङ्गगतं च धनुः कर्माभिधाय प्रयोगमेव व्यायाममाह—तैलाभ्यक्तेनेति ।

तैलमत्र तिलतैलम् । यवागूर्यवान्नम् ॥ ९७ ॥

अनुवाद—इनमें परिमार्जन का अर्थ है परामर्श करना अर्थात् धनुष का शोधन अर्थात् धनुष को स्वच्छ (साफ) करना और धनुष को ग्रहण करना (उठाना) आदान है । बाण का धनुष पर चढ़ाना 'सन्धान' है और बाण का छोड़ना 'मोक्षण' है ॥ ९६ ॥

अभिनव—पहिले धनुष का मार्जन अर्थात् शोधन होता है । फिर बाण को ग्रहण किया जाता है । उसके बाद बाण का धनुष पर सन्धान किया जाता है, (चढ़ाया) जाता है । फिर अन्त में बाण का मोक्षण (छोड़ना) होता है ॥ ९६ ॥

अभिनव—व्यायाम के उपयोगी सौष्ठव और उसके प्रसङ्गगत धनुष के कर्मों को कहकर अब प्रयोग रूप व्यायाम को कहते हैं—'तैलाभ्यक्तेनेति' ।

अनुवाद—अभिनेता को शरीर में तेल का मालिश करके और जौ के आंटे का उबटन लगाकर भूमि पर अथवा ऊपर खुली जगह में व्यायाम करना चाहिए ॥९७॥

अभिनव—यहाँ पर तैल का अर्थ तिल का तेल है और 'यवागू' पद का अर्थ यव (जौ) का चूर्ण (आँटा) है ॥ ९७ ॥

---

१. क. प्रमार्जनं । क–क. च. द. भ. पुस्तकेषु एष श्लोको नास्ति ।
२. ख. यवाग्वास्वेदितेन च । ३. क–ङ. हितावाकाशिके तथा ।
४. क. भित्तिप्रसारिताङ्गस्तु । ग. भित्तौ प्रसारितायां तु ।
५. ख. बुधा ।

बलार्थं च निषेवेत नस्यं बस्तिविधिं [1]तथा ।
[2]स्निग्धान्यन्यानि च तथा रसकं पानकं तथा ॥ ९९ ॥
[3]आहारेऽधिष्ठिताः प्राणाः प्राणे योग्याः प्रतिष्ठिताः ।
[4]तस्माद्योग्याप्रसिध्यर्थमाहारे यत्नवान् भवेत् ॥ १०० ॥

नस्यं वस्तिविधिश्च तैलघृतादिभिः यथादेशकालप्रकृतीति मन्तव्यमायुर्वेदात् रसकमिति मांसरसं सेवेतेति संबन्धः । पानकानि च स्निग्धानीति सम्बन्धः । योग्या वा ॥९९॥

किमनेनेत्याशङ्क्याह—आहारेऽधिष्ठिता इति ॥ १०० ॥

अनुवाद—योग्या अर्थात् व्यायाम के अभ्यास में भूमि-विशेष उपकारिणी है, इसलिए व्यायाम में भूमि का आश्रय लेना चाहिए और भूमि पर शरीर को फैलाकर मनुष्य को व्यायाम करना चाहिए ॥ ९८ ॥

अनुवाद—बल के संग्रह के लिए नस्य और वस्ति विधि का सेवन करना चाहिए । स्निग्ध अन्न (भोज्य पदार्थ) तथा मांस एवं फलों का रस सेवन करना चाहिए ॥९९॥

अभिनव— नस्य' का अर्थ है नासिका के द्वारा औषधि सेवन करना । 'वस्ति' का अर्थ है शोधन की विधि (अंग्रेजी में एनिमा) । इन्हें देश, काल और प्रकृति के अनुसार तेल, घृत आदि के द्वारा सम्पन्न करना चाहिए । आयुर्वेद से विशेष समझना चाहिए । 'रसक' का अर्थ है तरल पदार्थ । 'रसक' पद का अभिप्राय है मांस रस का सेवन करना । 'पानक' का अर्थ है 'स्निग्ध' पदार्थ । 'योग्या' का अर्थ अभ्यास है ॥९९॥

अभिनव—इसके सेवन से क्या लाभ है ? इस प्रकार आशङ्का करके कहते हैं —'आहाराधिष्ठिताः' इत्यादि ।

अनुवाद—क्योंकि प्राण आहार पर आश्रित है और प्राणों पर अभ्यास निर्भर है । इसलिए अभ्यास (युद्धाभ्यास या व्यायामाभ्यास) की सिद्धि के लिए आहार के विषय में पूर्णरूप से प्रयत्न करना चाहिए ॥ १०० ॥

---

१. ख. नस्यं च त्रिविधं नरः ।
२. ग. स्निग्धान्यन्नान्यभीष्टानि । क-न. स्निग्धान्यन्नान्वभीष्टानि ।
३. क-ग. आहाराधिष्ठिताः प्राणाः ।
४. क-न. यस्माद् योग्यप्रतिष्ठार्थं ।

अशुद्धकायं [1]प्रक्लान्तमतीवक्षुत्पिपासितम् ।
[2]अतिपीतं तथा भुक्तं [3]व्यायामं नैव कारयेत् ॥ १०१ ॥
अचलैर्मधुरैर्गात्रैश्चतुरस्रेण वक्षसा ।
व्यायामं कारयेद्धीमान् नरमङ्गक्रियात्मकम्[4] ॥ १०२ ॥

अचलैरिति यत्र यत्र क्रियायां योज्यते तत्र तत्रैव प्राप्तपरिणतिभिरित्यर्थः । मधुरैरिति ललितैः अङ्गक्रिया अङ्गसिद्धिः ॥ १०२ ॥

अशुद्धकायमित्यनेन वामनपिरेचनविशुद्धगात्रस्य व्यायामेऽधिकार इति दर्शयति । अशुद्धगात्रत्वं चाजीर्णयोगेऽपि । प्रक्लान्तमिति अध्वश्रमादिना ॥ १०१ ॥

अनुवाद—जिसका शरीर स्वच्छ न हो, थके हुए व्यक्ति, भूख प्यास से व्याकुल और अधिक खाना खाये हुए तथा अधिक पानी पिये हुए व्यक्ति को व्यायाम नहीं करना चाहिए ॥ १०१ ॥

अभिनव—'अशुद्धकायम्' पद से यह दिखाया गया है कि वमन, विरेचन से शुद्ध शरीर वाले व्यक्ति को व्यायाम का अधिकार है। शरीर की अशुद्धि भोजन के अजीर्ण होने पर भी होती है। 'प्रक्लान्त' का अर्थ है जो श्रम से थक गया हो ॥ १०१ ॥

अनुवाद—जिसका शरीर अचल (दृढ़) एवं मधुर (सुन्दर) हो और वक्षःस्थल चतुरस्र (चौड़ा) हो ऐसे बुद्धिमान् मनुष्य को अङ्ग क्रिया (अङ्ग-सिद्धि) रूप व्यायाम को करना चाहिए ॥ १०२ ॥

अभिनव—'अचलैः' पद से अभिप्राय है कि जिस कार्य में व्यायाम से दृढ़ शरीरवाले पुरुष को नियोजित किया जाता है वहीं वहीं फल की प्राप्ति होतो है। 'मधुरैः' का अर्थ है 'ललित'। 'अङ्गक्रिया' का अर्थ अङ्गसिद्धि है ॥ १०२ ॥

---

१. ग. प्रक्लान्तमधीरं ।
२. क-न. अतिभुक्तं तथा पीतं ।
३. क-ङ. व्यायामे ।
४. क. क्रियार्थिनम् ।

एवं व्यायामसंयोगे[1] कार्यश्चारीकृतो[2] विधिः ।
अत [3]ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मण्डलानां [4]विकल्पनम् ॥ १०३ ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे चारीविधानो[5] नाम
दशमोऽध्यायः ।

एवमित्युपसंहरन्नध्यायान्तरमासूत्रयति ।

विकल्पनं विचित्रतया कल्प्यन्ते येन प्रकारेण तं वक्ष्यामीति सूत्रयन्नङ्गानुसारायातचारीपरम्परात्मनां मण्डलात्मनामसङ्ख्येयत्वं सूत्रयन्नु-दाहरणमात्रार्थमध्यायान्तरमिति निरूपयतीति शिवम् ॥ १०३ ॥

अभिनव—इस प्रकार प्रकृत का उपसंहार करते हुए अगले अध्याय की वस्तु का सूत्ररूप में उपस्थापन करते हैं—

अनुवाद—व्यायाम के संयोजन में चारीकृत विधियों को करना चाहिए। अब इसके बाद मण्डलों के प्रकारों का वर्णन करूँगा ॥ १०३ ॥

इस प्रकार भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र में चारी-विधान नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदी कृत नाट्यशास्त्र के हिन्दी अनुवाद में दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

अभिनव—'विकल्पन' का अर्थ है विचित्रता के साथ जिस प्रकार से कल्पना करनी हैं उसे कहूँगा। इस प्रकार सूचित करते हुए अङ्गों के अनुसार प्राप्त चारी परम्परा स्वरूप मण्डलों का असङ्ख्येयत्व को सूचित करते हुए केवल उदाहरण के लिए अगले अध्याय को प्रारम्भ करते हैं ? इस प्रकार निरूपण करते हैं ॥ १०३ ॥

---

१. क-म. व्यायामसम्पत्तौ ।
२. क-म. चारीगतो ।
३. क-म. अतः परं ।
४. क-म. खण्डमण्डललक्षणम् ।
५. क-द. विकल्पनं नामैकादशोऽध्यायः ।

इत्थं दशममध्यायं व्याचष्टे च समासतः ।
शिवस्मृतिकृतार्थोऽपि परार्थं दुःखलात्मजः ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाटयवेद-
विवृतावभिनवभारत्यां चारीविकल्पो नाम दशमोऽध्यायः ।

अभिनव—इस प्रकार शिव के स्मरण से कृतार्थ होते हुए भी दुःखल के आत्मज अभिनवगुप्तपादाचार्य ने दूसरों के ज्ञान के लिए संक्षेप में दशम अध्याय का व्याख्यान किया है ॥

इस प्रकार महामाहेश्वर अभिनवगुप्तविरचित नाटचवेद की विवृति अभिनवभारती
में चारी-विधान नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितायामभिनवभारत्या मनोरमाख्यायां
हिन्दी-व्याख्यायां चारीविधानविवेचनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथ द्विवेदी कृत नाटचशास्त्र और अभिनवभारती की
हिन्दी व्याख्या में दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १० ॥

[1]अथ एकादशोऽध्यायः

एताश्चार्यो [2]मया प्रोक्ता यथावच्छस्त्रमोक्षणे ।
चारीसंयोगजानीह[3] मण्डलानि निबोधत ॥ १ ॥

अभिनवभारती

गतिमण्डलवैचित्र्यमासूत्रयति या सदा ।
तथा नेदिष्ठनिर्मात्रीं शक्ति वन्दे महेशितुः ।
स्वल्पेऽपि पाठ्ये न त्याज्यः कोऽध्यायो मया यतः
विभोर्विश्वात्मनः स्तोत्रं मुख्यमन्यत्प्रसङ्गतः ॥

एकादश अध्याय

अनुवाद -मैने शस्त्रों के मोक्षण के प्रसङ्ग में इन चारियों का विधानानुसार वर्णन किया है। अब इस अध्याय में इन चारियों से बनने वाले बनने वाले मण्डलों को समझिये ॥ १ ॥

अभिनव-भारती

अभिनव —जो शक्ति गतियों और मण्डलों को विभिन्नता को सदा आसूत्रित करती है। अत्यन्त समीप में निर्माण करनेवाली महेश (शिव) की उस शक्ति की मैं वन्दना करता हूँ।

अभिनव—पाठ्य-तत्त्व के स्वल्प होने पर भी किसी अध्याय को मैं छोड़ नहीं सकता, क्योंकि विश्वात्मा अखिल ब्रह्माण्ड रूप विभु (व्यापक) स्तोत्र (स्तुति) मुख्य है। अन्य बात तो प्रसङ्गतः निरूपण करते हैं ॥

---

१. ख. पुस्तके द्वादशोऽध्यायः ।
२. क म. यथान्यायं मयोक्ता ।
३. क-द. संयोजनानीह ।

अतिक्रान्तं विचित्रं च तथा ललितसञ्चरम् ।
[1]सूचीविद्धं दण्डपादं विहृतालातके तथा ॥ २ ॥
[2]वामबन्धं सललितं क्रान्तञ्चाकाशगानि च ।
[3]मण्डलानि द्विजश्रेष्ठाः ! भूमिगानि निबोधत ॥ ३ ॥

शस्त्रमोक्षणे मण्डलानीति सम्बन्धः । इहेत्यस्मिन्नध्याये श्रुते श्रुततद्दिशान्यान्यपि निबोधत । एषामियत् सामान्यलक्षणं चारीसंयोगजानीति ॥ १ ॥

अभिनव—शस्त्रों के मोक्षण के प्रसङ्ग में मण्डलों को समझें, यह सम्बन्ध है । 'इह' पद का अभिप्राय है इस अध्याय में । श्रुत अर्थात् श्रवण करने से श्रुत (ज्ञात) पदार्थो के अनुसार अन्य मण्डलों को भी इसी प्रकार समझना चाहिए, क्योंकि 'चारियों के संयोग से मण्डल बनते हैं' । यह इन मण्डलों का सामान्य लक्षण बतलाया गया है ॥ १ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'चारियों के संयोग से मण्डलों की निष्पत्ति होती है' यह मण्डल का लक्षण बतलाया गया है । अभिनयदर्पण में पादाभिनय के अन्तर्गत मण्डल को एक पादभेद माना है । नाट्यशास्त्र में दस आकाशगामी और दस भूमिगत मण्डलों का निरूपण किया गया है । युद्ध, नियुद्ध तथा परिक्रमण आदि के अभिनय में इन मण्डलों का प्रयोग किया जाता है ॥ १ ॥

अनुवाद—अतिक्रान्त, विचित्र, ललित, सञ्चर, सूचीविद्ध, दण्डपाद, विहृत, अलातक, बामबन्ध, ललित तथा क्रान्त ये दस आकाशगामी मण्डल हैं । हे द्विजश्रेष्ठों ! अब भूमिगत मण्डलों को समझिये ॥ २-३ ॥

---

१. ख. ग. सूचीविद्धं दण्डपादविहृतालातके तथा ।
क-म. सूचीविद्धं दण्डपादं विहृतालातसंज्ञिते ।

२. क. बामविद्धं ।

३. ख.ग. पुस्तकयोरयं श्लोकार्धो नास्ति ।

[1]भ्रमरास्कन्दिते स्यातामावर्तं च ततः परम् ।
[2]समाक्रन्दितमप्याहुरेडकाक्रीडितं[3] तथा ॥ ४ ॥
अड्डितं शकटास्यं च तथाऽध्यर्धमेव[4] च ।
[5]पिष्टकुट्टं च विज्ञेयं तथा चाषगतं पुनः ॥ ५ ॥
[6]एतान्यपि दशोक्तानि भूमिगानीह नामतः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि लक्षणानि यथाक्रमम् ॥ ६ ॥
[7]आद्यं पादं च जनितं कृत्वोद्वाहितमाचरेत् ।
अलातं वामकं चैव पार्श्वक्रान्तं च दक्षिणम् ॥ ७ ॥

आकाशगतानां युद्धपरिक्रमेषु प्राधान्यात्पूर्वमुद्देशः आकाशभूचारीप्राचुर्यान्मण्डलेषु तथात्वम् ॥ २-५ ॥

अनुवाद—भ्रमर, आस्कन्दित, आवर्त्त, समोत्सारित, एड़काक्रीडित, अड्डित शकटास्य, अध्यर्धक, पिष्टकुट्ट, और चाषगत ये दस भूमिगत मण्डलो के नाम हैं। इसके बाद मैं क्रमशः इनके लक्षणों को कहूँगा ॥ ४-६ ॥

अभिनव—आकाशगत मण्डलों का युद्ध के परिक्रमण अर्थात् युद्ध के अभिनय में प्रधानता होने से पहिले आकाशचारी मण्डलों का उल्लेख किया गया है। बाद में भूचारी मण्डलों का कथन किया गया है। आकाशगत चारियों और भूमिगत चारियों की प्रचुरता से वर्णन होने के कारण मण्डलों की भी प्रचुरता से वर्णन किया गया है अर्थात् आकाशचारियों और भूमिचारियों की संख्या अधिक होने के कारण मण्डलों को भी इतनी संख्याओं का निर्देश किया है ॥ २-६ ॥

---

१. क-न. भ्रमरास्पन्दिते ।
२ क. समोत्सारितमप्याहुः । क-न. समोत्सारितमित्याहुः ।
३. क-द. एलकाक्रीडितं ।
४. क-द. अध्यर्धमिति स्मृतम् ।
५. क-न. म. पृष्ठकुट्टं ।
६. ख. भूमिकामण्डला ह्येते लक्षणं च निबोधत ।
ग. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।
७. ख. आद्यपादं तु तं कृत्वा उद्वाहितमथाचरेत् ।

[1]सूचीवामं पुनश्चैव पार्श्वक्रान्तं च दक्षिणम् ।
[2]सूचीं वामक्रमं दद्यादपक्रान्तं च दक्षिणम् ।
[3]सूचीवामं पुनश्चैव त्रिकं च परिवर्तयेत् ॥ ८ ॥
तथा दक्षिणमुद्वृत्तमलातञ्चैव वामकम् ।
परिच्छन्नं तु कर्त्तव्यं बाह्यभ्रमरकेण हि ॥ ९ ॥
अतिक्रान्तं पुनर्वामं दण्डपादञ्च[4] दक्षिणम् ।
[5]विज्ञेयमेतद् व्यायामे त्वतिक्रान्तं तु मण्डलम् ॥ १० ॥

आद्यमिति दक्षिणम् । उद्वाहितमिति लक्षणैकदेशेन शकटास्यां सूचयति । एवमन्यत्र । त्रिकमिति भ्रमरीमाह । बाह्य भ्रमरकेण वामपादेन ॥ ९ ॥

अभिनव—'आद्य' का अर्थ है दाहिना पैर। 'उद्वाहित' यह पद लक्षणैकदेश न्याय से 'शकटास्या' चारी को सूचित करता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। 'त्रिक' पद से भ्रमरी चारी को कहा गया है। बायें पैर से बाह्यभ्रमरक का अभिनय करे ॥ ७-१० ॥

१. अतिक्रान्त मण्डल

अनुवाद—पहिले दाहिने पैर को जनिता चारी में अवस्थित करके उद्वाहित करे, फिर बायें पैर को अलाता चारी और दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी में प्रदर्शित करे। फिर बायें पैर को सूची चारी में और दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता-चारी में रखे। फिर बायें पैर को सूची चारी में रखकर दाहिने पैर को अपक्रान्ता चारी में अवस्थित करे। फिर बायें पैर को सूची चारी में अवस्थित कर त्रिक का परिवर्त्तन करे। फिर दाहिने पैर को उद्वृत्त करके बायें पैर से अलाता चारी का प्रयोग करे। फिर बाह्य भ्रमरक के द्वारा परिच्छिन्न (परिवर्त्तित) करना चाहिए। इसके बाद बायें पैर को अतिक्रान्ताचारी में रखकर दाहिने पैर से दण्डपादा चारी का प्रदर्शन करे। इस प्रकार व्यायाम में अतिक्रान्त मण्डल को समझना चाहिए ॥ ७-१० ॥

---

१. ख. ग. सूचीपादं। केषाञ्चिन्मते प्रक्षिप्तोऽयं श्लोकः। वस्तुतः न प्रक्षिप्तोऽयं श्लोकः, किन्तु मतान्तरानुसार्येव। मण्डलगतानां चारीणामभ्यावृत्तौ न्यूनाधिकता न दोषाय।
२. क. सूची वामपदं। ३. ख-ग. सूचीपादं।
४. क-न. मन्दपादं। ५. ख. म. पुस्तकयोरितः परं श्लोकद्वयं नास्ति।

आद्यं तु जनितं कृत्वा तेनैव च निकुट्टकम्[1] ।
[2]आस्पन्दितं तु वामेन पार्श्वक्रान्तं च दक्षिणम् ॥ ११ ॥
वामं सूचीपदं दद्यादपक्रान्तञ्च दक्षिणम् ।
भुजङ्गत्रासितं वाममतिक्रान्तं च दक्षिणम् ॥ १२ ॥
[3]उद्वृत्तं दक्षिणं चैवाऽलातं चैवात्र वामकम् ।
[4]पार्श्वक्रान्तं पुनः सव्यं सूचीवामक्रमं तथा ॥ १३ ॥
विक्षेपो दक्षिणस्य स्यादपक्रान्तं च वामकम्[5] ।
[6]बाह्यभ्रमरकञ्चैव विक्षेपञ्चैव योजयेत् ॥ १४ ॥
विज्ञेयमेतद्वयायामे विचित्रं नाम मण्डलम् ।

२. विचित्र मण्डल

अनुवाद—पहिले दाहिने पैर को जनिता चारी में रखकर फिर उसी से निकुट्टन करे । इसके बाद बायें पैर से स्पन्दिता चारी का प्रयोग करके दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे । फिर बायें पैर को सूची चारी में रखकर दाहिने पैर से अपक्रान्ता चारी का प्रयोग करे । फिर बायें पैर को भुजङ्गत्रासिता चारी में अवस्थित कर दाहिने पैर को अतिक्रान्ता चारी में रखे । फिर दाहिने पैर से उद्वृत्ता चारी और बायें पैर से अलाता चारी का प्रदर्शन करे । फिर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी तथा उसी क्रम में बायें पैर को सूची चारी में रखे । फिर दक्षिण पैर को विक्षेप करके बायें पैर को अपक्रान्ता चारी में रखे । फिर बाह्यभ्रमरक और विक्षेप की योजना करे । इस प्रकार व्यायाम में से 'विचित्र' मण्डल समझना चाहिए ॥ ११-१४ ॥

१. क. निकुट्टनं ।
२. क-न. म. आस्कन्दितं ।
३. ख. उद्धृतं दक्षिणं चैव अलातं चैव वामकम् ।
उद्धृतं दक्षिणञ्चैव ह्यलातं चैव वामकम् ।
क-म. उद्वृत्तो दक्षिणश्चैव अलातश्चैव वामकः ।
४. क-म. पार्श्वाक्रान्तं ।
५. क-म. वामतः ।
६. ग. पुस्तकेऽयं श्लोको नास्ति ।

कृत्वोर्ध्वजानुचरणमाद्यं [1]सूचीं प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥
[2]अपक्रान्तः पुनर्वाम आद्यः पार्श्वगतो भवेत् ।
[3]वामसूची पुनर्दद्यात् त्रिकञ्च परिवर्तयेत् ॥ १६ ॥
[4]पार्श्वक्रान्तं पुनश्चाद्यमतिक्रान्तञ्च वामकम् ।
[5]सूचीवामक्रमं कृत्वा ह्यपकान्तञ्च वामकम् ॥ १७ ॥
[6]पार्श्वक्रान्तं पुनश्चाद्यमतिक्रान्तं च वामकम् ।
[7]परिच्छिन्नं च कर्त्तव्यं बाह्यभ्रमणकेन हि ॥ १८ ॥
एष चारीप्रयोगस्तु कार्यो ललितसञ्चरैः ।

आस्पन्दितमिति स्पन्दिताञ्चारीमाह, तामेवान्ये आस्कन्दितेत्याहुः ॥११-१४॥

अभिनव—'आस्पन्दितम्' पद से 'स्पन्दिता' चारी का ग्रहण होता है। इसो को अन्य आचार्य 'आस्कन्दिता' चारी कहते हैं ॥ ११-१४ ॥

३. ललितसञ्चर मण्डल

अनुवाद—पहिले दाहिने पैर को ऊर्ध्वजानु करके फिर सूची चारी में रखे। इसके बाद बायें पैर को अपक्रान्ता चारी में करके दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी में रखे। फिर बायें पैर को सूची चारी में रखकर त्रिक का परिवर्त्तन करे। फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करके बायें पैर से अतिक्रान्ता चारी का प्रयोग करे। फिर दाहिने पैर सूची चारो का प्रयोग करके बायें पैर से अपक्रान्ता चारी में रखे। फिर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी में रखकर बायें पैर से अतिक्रान्ताचारी का प्रदर्शन करे। फिर बाह्यभ्रमरक के द्वारा परिच्छिन्न (परिवर्त्तित) करे। इस प्रकार ललितसञ्चर मण्डल के द्वारा चारी का प्रयोग करना चाहिए ॥ १५-१८ ॥

---

१. क-म. सूचीमाद्यं ।
२. क-म. अपक्रान्तं पुनर्वामिमाद्यं पार्श्वगतं तथा ।
३. क. वामं सूचीं ।
४. क-म. पार्श्वक्रान्तः पुनश्चाद्यस्त्वभिक्रान्तश्च वामकः ।
५. क. सूचीमाद्यं क्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तं च वामकम् ।
६. ख. ग. पार्श्वक्रान्तः पुनश्चान्यौ वामोऽतिक्रान्त एव च ।
७. क-म. पार्श्वाक्रान्तं । क-प. सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा ।

सूचीवामपदं [1]दद्यात् त्रिकश्च परिवर्तयेत् ॥ १९ ॥
[2]पाश्र्वक्रान्तः [3]पुनश्चाद्यो वामोऽतिक्रान्त एव च ।
सूचीमाद्यं पुनर्दद्यात् अतिक्रान्तश्च वामकम् ॥ २० ॥
[4]पाश्र्वक्रान्तं [5]पुनश्चाद्य सूचीविद्धे तु मण्डले ।
आद्यस्तु [6]जनितो भूत्वा स च दण्डक्रमो भवेत् ॥ २१ ॥
[7]बामसूचीं पुनर्दद्यात् त्रिकश्च परिवर्त्तयेत् ।
[8]उद्वृत्तो दक्षिणश्च स्यादलातश्चैव वामकः ॥ २२ ॥
पाश्र्वक्रान्तः पुनश्चाद्यो[9] भुजङ्गत्रासितस्तथा ।
अतिक्रान्तः पुनर्वामो दण्डपादश्च दक्षिणः ॥ २३ ॥
[10]वामसूची त्रिकावर्त्तो दण्डपादे तु मण्डले ।

---

४. सूचीविद्धमण्डल

अनुवाद—जहाँ पर बायें पैर को सूची चारी में रखकर त्रिक (कमर) का परिवर्त्तन करे । फिर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी में करके बायें पैर को अतिक्रान्ता चारी में रखे । फिर दाहिने पैर से सूचीचारी का प्रयोग करके बायें पैर से अपक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे, फिर दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी का प्रयोग करे, तो सूचीविद्ध नामक मण्डल होता है ॥ १९-२१ (१) ॥

---

१. क. सूचीवामपदं विद्यात् ।
   क-प. सूचीमाद्यक्रमं ।
२. क-प. पार्श्वाक्रान्ता ।
३. ख. ग. पुनश्चान्यो ।
४. क-म. पार्श्वाक्रान्ता ।
५. ख. पुनश्चान्यो ।
६. ग. तद्गतो ।
७. क-म. वामं सूचीं ।
८. ख. उद्वर्तो । ग. तद्वृत्तो ।
९. ख. पुनश्चान्यो ।
१०. क-म. वामसूची ।

आद्यं तु जनितं कृत्वा तेनैव च निकुट्टकम्[1] ॥ २४ ॥
[2]आस्पन्दितं च वामेन[3] ह्युद्वृत्तं दक्षिणेन च ।
[4]अलातं वामकं पादं सूचीं दद्यात्तु दक्षिणम् ॥ २५ ॥

दण्डक्रम इति दण्डपादाचारी (लक्ष्यते) । त्रिकावर्तादिषु अन्ते पठितत्वात् परिसमाप्तिस्थानगतामेव भ्रमरीमाश्रित्य यन्मण्डलं दण्डपादाख्यं तत्रेति संबन्धः । ॥ १९-२३ ॥

---

५. दण्डपाद मण्डल

अनुवाद—पहिले दाहिने पैर से जनिता चारी का प्रयोग कर फिर दण्डपादा चारी का प्रदर्शन करे। फिर बायें पैर से सूची चारी का प्रयोग करके त्रिक का परिवर्त्तन करे। फिर दाहिने पैर से उद्वृत्ता चारी का प्रदर्शन कर बायें पैर से अलाता चारी का प्रयोग करे। फिर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी से युक्त करके भुजङ्गत्रासिता चारी का प्रदर्शन करे। फिर बायें पैर को अतिक्रान्ता चारी में करके दाहिने पैर को दण्डपादा चारी में रखे। फिर बाये पैर से सूची चारी को प्रदर्शित करके त्रिक का परिवर्त्तन करे अर्थात् घुमाये तो 'दण्डपाद' नामक मण्डल कहलाता है ॥ २१-२३ (१) ॥

अभिनव—'दण्डक्रम' पद से 'दण्डपादा' चारी का सङ्केत है। क्योंकि त्रिक के परिवर्त्तन आदि का अन्त में पाठ होने से परिसमाप्ति स्थानगत भ्रमरी चारी का आश्रय लेकर जो दण्डपाद नामक मण्डल को बताया गया है, उसी से यहां सम्बन्ध है ॥२१-२३ (१) ॥

---

१. ख. ग. निकुट्टनम् ।
२. ख. आस्कन्दितं च वामेन उद्धत्तं दक्षिणेन च ।
ग. आस्कन्दितं च वामेन ह्युत्तम्भं दक्षिणेन च ।
३. क-म. वामेनास्कन्दितं कुर्यादुद्वृत्तं दक्षिणेन च ।
४. क-म. अलाते वामपादं च सूचीपादं तु दक्षिणम् ।

[1]पार्श्वक्रान्तः पुनर्वाम आक्षिप्तो दक्षिणस्तथा ।
[2]समावर्त्य त्रिकं चैव दण्डपादं प्रसारयेत् ॥ २६ ॥
[3]सूचीवामपदं दद्यात् त्रिकं तु परिवर्त्तयेत्[4] ।
भुजङ्गत्रासितश्चाद्यो वामोऽतिक्रान्त एव ॥ २७ ॥
एष [5]चारोप्रयोगस्तु विहृते[6] मण्डले भवेत् ।

निकुट्टकमित्यनेनतलसञ्चरपादो लक्ष्यते उद्वृत्तमूरूद्वृत्तादिकां चारीम् । समावर्तनं सम्यगावर्तनं सव्यापसव्यभ्रमरकद्वयेन ॥ २४-२८ (१) ॥

---

६. विहृतमण्डल

अनुवाद—पहिले दाहिने पैर से जनिता चारी का प्रदर्शन कर फिर उसी पैर से निकुट्टन करें अर्थात् तलसञ्चर पाद का अभिनय करे। फिर बायें तैर से आस्पन्दिता चारी का प्रयोग कर दाहिने पैर से उद्‌वृत्ता चारी प्रदर्शित करे। फिर बायें पैर से अलाता चारी प्रदर्शित कर दाहिने पैर से 'सूची' चारी को प्रदर्शित करे। फिर बायें पैर को पार्श्वक्रान्ताचारी से युक्त करके दाहिने पैर से आक्षिप्ता चारो प्रदर्शित करे। फिर त्रिक का परिवर्त्तन कर दण्डपादा चारी प्रदर्शित करे। इसके वाद फिर बायें पैर को सूवी चारी में रखकर 'त्रिक' का परिवर्त्तन करे। फिर दाहिने पैर को भुजङ्गत्रासिता चारो से युक्त कर बायें पैर को अतिक्रान्ता चारी में रखे। इस प्रकार 'विहृत' मण्डल में चारी का प्रयोग होता है ॥ २४-२८ ॥

अभिनव 'निकुट्टक' पद से 'तलसञ्चर' पाद का सङ्केत है। 'उद्‌वृत्त' पद से 'उद्‌वृत्ता' चारो लक्षित होती है। 'समावर्त्य' पद का अर्थ है सम्यक् आवर्त्तन करना अर्थात् दायें-बायें दो भ्रमरों से सम्यक् घुमाना चाहिए ॥ २४-२८ (१) ॥

---

१. ख. ग. पार्श्वक्रान्तं पुनर्वाममाक्षिप्तो दक्षिणस्तथा ।
२ ख. परिवृत्य ।
३. क-ग. सूचीं वामपदं ।
४. क-न. परिवर्जयेत् ।
५. क-म. एष चारीप्रचारस्तु ।
६. ग. विवृते ।

[1]सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा चाऽपक्रान्तं च वामकम् ॥ २८ ॥
[2]पार्श्वक्रान्तस्ततश्चाद्योऽप्यलातश्चैव वामकः ।
[3]भ्रान्त्वा चारीभिरेताभिः पर्यायेणाथ मण्डलम् ॥ २९ ॥
षट्संख्यं सप्तसख्यं च ललितैः पादविक्रमैः ।
अधिकुर्यादपक्रान्तमतिक्रान्तं च वामकम् ॥ ३० ॥
[4]अपक्रान्तः पुनश्चाद्यो वामोऽतिक्रान्त एव च ।
[5]पादभ्रमरकश्च स्यादलाते खलु मण्डले ॥ ३१ ॥

एताभिश्चारीभिः पर्यायेण षट्कृत्वः सप्तकृत्वो वा प्रयुक्ताभिः परिमण्डले चतुर्दिक्कं भ्रान्त्वान्तरालिकैः पादक्षेपैरिदमिदं कुर्यादिति सङ्गतिः । संख्याशब्देनाभ्यावृत्तिर्लक्ष्यते ॥ २८-३१ ॥

७. अलातक मण्डल

अनुवाद—'अलात' नामक मण्डल में पहिले दाहिने पैर से सूची चारी प्रदर्शित करके फिर बायें पैर से अपक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे। इसके बाद दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी में रखकर बायें पैर को अलाताचारी में रखे। फिर इन चारियों के द्वारा क्रमशः ललित पाद-विक्षेपों से छः-सात बार घूमकर मण्डल को रचना करे। फिर दाहिने पैर को अपक्रान्त चारी से युक्त कर बायें पैर से अतिक्रान्ताचारी का प्रदर्शन करे। फिर दाहिने पैर से अपक्रान्ता चारी का प्रयोग करके बायें पैर को अतिक्रान्ता चारी में रखे। फिर भ्रमरक नामक चारी का प्रयोग करे। इस प्रकार अलातक मण्डल में चारो का प्रयोग होता है ॥ २९-३१ ॥

अभिनव—इन चारियों के द्वारा क्रमशः छः सात बार परिमण्डल में चारों दिशाओं में घूमकर अन्तरललित पाद विक्षेपों के द्वारा इस गति को प्रस्तुत करे इस प्रकार यह सङ्गति है, आशय है। 'संख्या' पद से मण्डलों की अभ्यावृत्ति (पुनरावृत्ति) लक्षित होती है ॥ २८-३१ ॥

१. क-म. सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा ।
२. ग. पार्श्वक्रान्तं पुनश्चाद्यो ह्यलातस्चैव वामकः ।
३. ख इत। प्रभृति पुस्तके सार्धपद्यद्वयं नास्ति ।
४. ग. अतिक्रान्तः ।
५. क-म. वामो भ्रमरकश्च ।

सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तं च वामकम्[1] ।
आद्यो दण्डक्रमश्चैव सूचीपादस्तु वामकः ॥ ३२ ॥
कार्यस्त्रिकविवर्त्तश्च पार्श्वक्रान्तश्च दक्षिणः ।
आक्षिप्तं वामकं कुर्यात् दण्डपार्श्वं[2] च दक्षिणम् ॥ ३३ ॥
ऊरूद्वृत्तं च तेनैव कर्त्तव्यं दक्षिणेन तु ।
[3]सूचीवामक्रमं कृत्वा त्रिकं च परिवर्त्तयेत् ॥ ३४ ॥
अलातश्च भवेद्वामः पार्श्वक्रान्तश्च दक्षिणः ।
[4]अतिक्रान्तः पुनर्वामो वामबन्धे तु मंडले ॥ ३५ ॥

---

८. बामविद्ध मण्डल

अनुवाद—बामविद्ध या वामबन्ध नामक मण्डल में पहिले दाहिने पैर से सूची चारी को प्रदर्शित करके फिर बायें पैर से अपक्रान्त चारी का प्रदर्शन करे। उसके बाद दाहिने पैर को दण्डपादा चारी में रखकर बायें पैर को सूची चारो में अवस्थित करे। फिर त्रिक का परिवर्त्तन करके अर्थात् भ्रमरी चारी का प्रयोग कर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी मैं रखे। फिर-बायें पैर को आक्षिप्ता चारी में रखकर दाहिने पैर से दण्डपादा चारी को प्रदर्शित करे। फिर दाहिने पैर से ऊरूद्वृत्ता चारी का प्रयोग कर और बायें पैर को सूची चारी में रखकर त्रिक का परिवर्त्तन करे। फिर बाथें पैर को अलाता चारी में रखकर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी में रखे फिर बायें पैर को अतिक्रान्ता चारी में रखना चाहिए। इस प्रकार 'वामविद्ध' नामक मण्डल कहलाता है ॥ ३२-३५ ॥

---

१. क-न ह्यतिक्रान्तश्व वामकः ।
इतः परं 'क' पुस्तके 'पार्श्वक्रान्तस्ततश्चा न्तोऽप्यलातश्चैव नामकः' इत्यधिकं दृश्यते ।

२. ग. पादं ।

३. ग सुवीवामक्रमश्चैव । ख. सूचीवामकरं चैव ।

४. ग अतिक्रान्तः पुनर्वामैः कार्यो ललितसंचरः ।
एष पादप्रचारस्तु ललिते मण्डले भवेत् ।

[1]सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तं च वामकम्।
पार्श्वक्रान्तः [2]पुनश्चाद्यो भुजङ्गत्रासितः स च ।। ३६ ।।
अतिक्रान्तः पुनर्वाम आक्षिप्तो दक्षिणस्तथा।
[3]अतिक्रान्तः पुनर्वाम ऊरूद्वृत्तस्तथैव च ।। ३७ ।।
अलातश्च पुनर्वामः पार्श्वक्रान्तश्च दक्षिणः।
सूचीवामं पुनर्दद्यादपक्रान्तस्तु दक्षिणः ।। ३८ ।।
[4]अतिक्रान्तः पुनर्वामः कार्यो ललितसंज्ञकः[5]।
एष पादप्रसारस्तु ललिते मण्डले भवेत् ।। ३९ ।।

अतिक्रान्तस्यैव विशेषणं ललितं सञ्चरतीत्यत एव मण्डलस्येदमेव नाम ।। ३९ ।।

---

९. ललित मण्डल

अनुवाद—यदि पहिले दाहिने पैर को सूची चारी में रखकर बायें पैर को अपक्रान्ता चारी में रखे। फिर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी में अवस्थित कर भुजङ्गत्रासिता चारी का प्रयोग करे। फिर बायें पैर से अतिक्रान्ता चारी तथा दाहिने पैर से आक्षिप्ता चारी का प्रदर्शन करे। फिर बाये पैर को अतिक्रान्ता चारी में रखकर उसी प्रकार ऊरूद्वृत्ता चारी का प्रयोग करे। फिर बायें पैर से अलाता-चारी और दाहिने पैर से पार्श्वक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे। फिर बायें पैर को अतिक्रान्ता चारी में रखकर ललितसञ्चर का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार यह पाद-प्रसार 'ललित' नामक मण्डल कहलाता है ।। ३६-३९ ।।

अभिनव—अतिक्रान्त नामक वामपाद का विशेषण ललित का सञ्चरण होता है। इसलिए इस मण्डल का नाम 'ललित' है ।। ३९ ।।

---

१. क. सूचीमाद्यक्रमं दद्यादपक्रान्तं च वामकम्।
२. ख. ग. पुनश्चान्यो भुजङ्गत्रासितं तथा।
३. क. अतिक्रान्तं पुनर्वाम ऊरुद्वृत्ता स एव तु।
४. क. अतिक्रान्तः।
५. क. ललितसंचरः।

सूचोमाद्यक्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तश्च वामकम् ।
पार्श्वक्रान्तं पुनश्चाद्यं वामपार्श्वक्रमं तथा ॥ ४० ॥
[1]भ्रान्त्वा चारीभिरेताभिः पर्यायेणाथ मण्डलम्[2] ।
[3]वामसूचीं ततो [4]दद्यादपक्रान्तं च दक्षिणम् ॥ ४१ ॥
स्वभावगमने ह्येतन्मण्डलं संविधीयते ।
क्रान्तमेतत्तु विज्ञेयं [5]नामतो नाट्ययोक्तृभिः ॥ ४२ ॥
[6]एतान्याकाशगामीनि ज्ञेयान्येवं दशैव[7] तु ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि भौमानामिह[8] लक्षणम् ॥ ४३ ॥

१०. क्रान्त मण्डल

अनुवाद – जहाँ पर दाहिने पैर को सूची चारी मे रखकर बायें पैर नो अपक्रान्त करे। फिर दाहिने पैर को पार्श्वक्रान्ता चारी में रखकर बायें पैर को पार्श्वक्रान्ता क्रम में रखे। फिर इन चारियों के द्वारा क्रमशः चारों ओर घुमाव लेकर बायें पैर से सूची चारी और दाहिने पैर से अपक्रान्ताचारी का प्रदर्शन करे। स्वाभाविक गति के अभिनय में इस मण्डल का विधान किया जाता है। नाट्य-प्रयोक्ताओं को इसे 'क्रान्त' नामक मण्डल समझना चाहिए ॥ ४०-४२ ॥

अनुवाद—इस प्रकार ये दस आकाशगामी मण्डल समझने चाहिये। अब इसके बाद भूमिगत मण्डलों का लक्षण कहूँगा ॥ ४३ ॥

१. क-न. एताभिश्चारिभिर्भ्रान्त्वा ।
 क-म. एतभिः पादचारीभिः ।
२. क-म. पर्यायान्मण्डलं तथा ।
३. क-म. वामसूचीं ।
४. क-न. विद्यात् ।
५ क-म. मण्डलं ।
६. क. एतान्याकाशगानीह ।
७. क-म. दशज्ञेयानि योक्तृभिः ।
८. क-ग. भौमानामपि ।

[1]आद्यस्तु जनितः कार्यो वामश्चास्पन्दितो [2]भवेत् ।
शकटास्यः [3]पुनश्चाद्यो वामश्चापि [4]प्रसारितः ॥ ४४ ॥
आद्यो भ्रमरकः कार्यस्त्रिकञ्च[5] परिवर्तयेत् ।
[6]आस्पन्दितः पुनर्वामः शकटास्यश्च दक्षिणः ॥ ४५ ॥
वामः पृष्ठापसर्पी च दद्यात् भ्रमरकं तथा[7] ।
स एवास्पन्दितः[8] कार्यस्त्वेतद् भ्रमरमण्डलम् ॥ ४६ ॥
आद्यो भ्रमरकः कार्यो वामश्चैवाड्डितो भवेत् ।
[9]कार्यस्त्रिकविवर्त्तञ्च शकटास्यश्च दक्षिणः ॥ ४७ ॥

---

१. भ्रमर मण्डल

अनुवाद—दाहिने पैर को जनिता चारी में रखकर बायें पैर को आस्यन्दिता चारी में स्थापित करे, फिर दाहिने पैर को शकटास्या चारी में रखकर बायें पैर को फैला दे। फिर दाहिने पैर से भ्रमरी चारी का प्रयोग कर त्रिक को परिवर्त्तित कर दे अर्थात् घुमा दे। फिर बायें पैर से आस्यन्दिता चारी का विधान करके दाहिने पैर को शकटास्या चारी में रखे। फिर बायें पैर से पृष्टापसर्पी करके भ्रमरी चारी का विधान करे। इसके बाद आस्यन्दिता चारी का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार भ्रमर मण्डल का विधान करना चाहिए ॥ ४४-४६ ॥

---

१. ख. आद्यं तु ।
२. ख. ग. वामश्चास्कन्दितो भवेत् ।
३. ख. पुनश्चान्यो ।
४. क. वामश्चैव ।
५. ग. त्रिकं तु ।
६. ख. ग. आस्कन्दितः । ग. आक्रन्दितः ।
७. क-म. कार्यो भ्रमरकस्तथा ।
८. ख. एवास्कन्दितः ।
९. ख. पुस्तके इतः परं श्लोकद्वयं नास्ति ।

उरूद्वृत्तः स एव स्याद्वामश्चैवापसर्पितः ।
कार्यस्त्रिकविवर्त्तश्च दक्षिणः [1]स्पन्दितो भवेत् ॥ ४८ ॥
शकटास्यो भवेद्वामस्तदेवास्फोटनं भवेत् ।
[2]एतदास्पन्दितं नाम व्यायामे युद्धमण्डलम्[3] ॥ ४९ ॥
[4]आद्यस्तु जनितं कृत्वा [5]वामश्चैव निकुट्टकम् ।
शकटास्यः पुनश्चाद्य[6] ऊरूद्वृत्तः स एव तु ॥ ५० ॥
[7]पृष्ठापसर्पी वामश्च स च चाषगतिर्भवेत् ।
[8]आस्पन्दितः पुनर्दक्षः शकटास्यश्च वामकः[9] ॥ ५१ ॥

स चेति । एवेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

---

२. आस्पन्दित मण्डल

अनुवाद—दाहिने पैर को भ्रमरी चारी में रखकर बायें पैर को अड्डिता चारी में रखे । फिर त्रिक का विवर्त्तन करके दक्षिण पाद को शकटास्या चारी में रखे । फिर दक्षिणपाद को ऊरूद्वृता चारी में रखकर बायें पैर से अपसर्पण करे । फिर त्रिक को विवर्त्तित करके दाहिने पैर से स्यन्दिता चारी का प्रदर्शन करे । फिर बायें पैर को शकटास्या चारी में रखकर उसी का स्फोटन करे । इस आस्पत्दित नामक मण्डल का प्रयोग युद्ध तथा व्यायाम में करना चाहिए ॥ ४७-४९ ॥

अभिनव—'स च' का अर्थ है स एव अर्थात् वही ।

---

१. ग. स्कन्दितो ।
२. ख. ग. एतदास्पन्दितं ।
३. ग. युद्धमण्डले ।
४. क. ख. ग. आद्यन्तु ।
५. ग. वामेन तु निकुट्टकम् ।
६. ख. पुनश्चाद्यः ।
७. ख. ग. पृष्ठावसर्पी ।
८. ग. आस्कण्दितः पुनः सद्यः । ख. आस्कण्दितं पुनः सौख्यं ।
९. क-न. शकटास्य च वामकम् ।

आद्यो [1]भ्रमरकश्चैव त्रिकश्च परिवर्तयेत् ।
[2]पृष्ठापसर्पी वामश्चेत्यावर्ते मण्डले भवेत् ॥ ५२ ॥
[3]समपादं बुधः कृत्वा स्थानं हस्तौ प्रसारयेत् ।
निरन्तरावूर्ध्वतलावावेष्ट्योद्वेष्ट्य चैव हि ॥ ५३ ॥
कटीतटे विनिक्षिप्य चाद्यमावर्तयेत् क्रमात् ।
[4]यथाक्रमं पुनर्वाममावर्तेन प्रसारयेत् ॥ ५४ ॥
चारया चानया भ्रान्त्वा पर्यायेणाथ मण्डलम्[5] ।
समोत्सरितमेतत्तु कार्यं[6] व्यायाममण्डलम् ॥ ५५ ॥

३- आवर्त्त मण्डल

अनुवाद—पहिले दक्षिण पाद से जनिता चारी का प्रयोग करके बायें पैर से निकुट्टन करे। फिर दाहिने पैर को शकटास्या चारी में रखकर उसी से ऊरूद्वृत्ता चारी का विनियोग करे फिर बायें पैर से पृष्ठापसर्पण (अतिक्रान्ता-चारी) करके चाषगति चारी का प्रदर्शन करे। फिर दाहिने पैर से आस्यन्दिता चारी का विधान करके बायें पैर से शकटास्या चारी का विनियोग करे। फिर दाहिने पैर को भ्रमरी चारी के रूप में रखकर त्रिक का परिवर्तन करे। इसके बाद बायें पैर से पृष्ठापसर्पी अर्थात् अतिक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे तो 'आवर्त्त' नामक मण्डल होता है ॥ ५०-५२ ॥

४-समोत्सारित मण्डल

अनुवाद –सर्व प्रथम समपाद स्थान का प्रदर्शन कर दोनों हाथों को फैला दे। फिर निरन्तर ऊपर की ओर मुख वाली हथेली से युक्त हाथों को आवेष्टित एवं उद्वेष्टित करके कटि-प्रदेश पर रखकर दाहिने हाथ को आवर्तित करे। तदनन्तर क्रमशः बायें हाथ को आवर्तित कर फैला दे। इसके बाद इस चारी के द्वारा क्रमशः गोल घुमाव देकर मण्डल की रचना करे। इस प्रकार इसे 'समोत्सारित' नामक व्यायाम मण्डल समझना चाहिए ॥ ५३-५५ ॥

---

१. क-म. भ्रमरकः कार्यः ।
२. ख. ग. पृष्ठावसर्पी ।
३. क. कृत्वादौ समपादं तु ।
४. ख. यथाक्रमं ।
५. क-म. पर्यायान्मण्डलं भ्रमेत् ।
६. क. ग. समोत्सारितमेतच्च ज्ञेयं ।

पादैस्तु भूमिसंयुक्तैः सूचीविद्धैस्तथैव च ।
एलकाक्रीडितैश्चैव [1]तूर्णंस्त्रिकविवर्तितैः ॥ ५६ ॥
सूचीविद्धापविद्धैश्च क्रमेणाधृत्य मण्डलम्[2] ।
एलकाक्रीडितं [3]विद्यात् खण्डमण्डलसंज्ञितम्[4] ॥ ५७ ॥
सव्यमुद्घट्टितं कृत्वा [5]तेनैवावर्तमाचरेत् ।
तेनैवास्कन्दितः कार्यः शकटास्यश्च वामकः ॥ ५८ ॥
आद्यः पृष्ठापसर्पी च स च चाषगतिर्भवेत् ।
[6]अड्डितश्च पुनर्वाम आद्यश्चैवापसर्पितः ॥ ५९ ॥
वामो भ्रमरकः कार्यं आद्य आस्कन्दितो भवेत् ।
तेनैवास्फोटनं कुर्यादितदड्डितमण्डलम् ॥ ६० ॥

---

५. एलकाक्रीडित मण्डल

अनुवाद यदि भूमि से संयुक्त अर्थात् भूमि पर स्थित पैरों से सूची चारी को प्रदर्शित कर एड़काकीड़ित चारी के प्रदर्शन के द्वारा तथा शीघ्र ही त्रिक के परिवर्त्तन के साथ क्रमशः सूचीविद्ध और अपविद्धा चारियों से गोल घुमाव देकर प्रदर्शित करे तो इसे 'खण्डमण्डल' नामक 'एलकाक्रीडित' मण्डल समझना चाहिए ॥ ५६-५७ ॥

---

१. क चूर्णेस्त्रिकविवर्त्तनै। । ख. तूर्णेस्त्रिविवर्त्तितैः ।
सा तूर्णैस्त्रिकविवर्त्तनम् ।
२. क-म. पर्यायान्मण्डलं पुनः ।
३. ख. दद्यात् खण्डमण्डलसंज्ञितम् ।
४. क-म. खण्डमण्डलमुच्यते ।
५. ग. तेनैवावृत्तमाचरेत् ।
६. ख. आस्कन्दितं कार्यं ।
७. ख. पृष्ठापसर्पी ।

आद्यं तु जनितं कृत्वा तेनैव च निकुट्टकम्[1] ।
स एव शकटास्यश्च [2]वामश्चास्कन्दितो भवेत् ॥ ६१ ॥
[3]विज्ञेयं शकटास्यन्तु व्यायामे युद्धमण्डलम् ।

आस्फोटनमिति पादतलेन भूमिताडनं युद्धेष्वास्फालनमिति प्रसिद्धम् ॥ ६० ॥

---

६. अड्डित मण्डल

अनुवाद –यदि दाहिने पैर को अच्छी तरह उद्‌घट्टित करके फिर उसी का आवर्त्तन करे। फिर उसी से आस्यन्दिता चारी का प्रदर्शन कर बायें पैर से शकटास्या चारी का प्रदर्शन करे। फिर दाहिने पेर को पृष्ठापसर्पी (अपक्रान्ता-चारी) करके चाषगति चारी का प्रयोग करे, फिर एक बार बायें पैर से अड्डिता चारो का प्रयोग कर दाहिने पैर से अपसर्पण करे फिर बायें पर को भ्रमरी चारी में रखकर दाहिने पैर से आस्यन्दिता चारी का प्रदर्शन कर उसी से आस्फोटन (आस्फालन) करे तो 'अड्डित' नामक मण्डल कहलाता ॥ ५८-६० ॥

अभिनव—'आस्फोटन' को अर्थ है पादतल से भूमि का ताड़न, जो युद्धों में आस्फालन नाम से प्रसिद्ध है ॥ ५८-६० ॥

७. शकटास्य मण्डल

अनुवाद—पहिले दाहिने पैर से जनिता चारी का प्रदर्शन करके फिर उसी से निकुट्टन करे। फिर उस पैर से शकटास्या चारी का प्रयोग कर बायें पैर से आस्यन्दिता चारी को प्रदर्शित करे। फिर शकटास्या चारी में स्थित पैरों से क्रमशः मण्डल की रचना करे। इस प्रकार शकटास्य मण्डल बनता है। युद्ध, व्यायाम में शकटास्य मण्डल का विनियोग करना चाहिए ॥ ६१-६२ ॥

---

१. ग. निकुट्टनम् ।

२. क-प. वामश्चास्पन्दितो भवेत् ।

३. क-म. शकटास्यस्थितैः पादैः भ्रमेत् पर्यायशः पुनः ।

[1]पादैश्च शकटास्यस्थैः पर्यायेणाथ मण्डलम् ॥ ६२ ॥
आद्यस्तु जनितो भूत्वा स [2]एवास्कन्दितो भवेत् ।
अपसर्पी पुनर्वामः शकटास्यश्च दक्षिणः ॥ ६३ ॥
भ्रान्त्वा चारीभिरेताभिः पर्यायेणाथ मण्डलम्[3] ।
अध्यर्धमेतद्विज्ञेयं नियुद्धे[4] चापि मण्डलम् ॥ ६४ ॥
सूचीमाद्यक्रमं कृत्वा ह्यपक्रान्तश्च वामकम् ।
भुजङ्गत्रासितश्चाद्य[5] एवमेव तु वामकः ॥ ६५ ॥
[6]भुजङ्गत्रासितैर्भ्रान्त्वा पादैरपि च मण्डलम् ।
[7]पिष्टकुट्टं च विज्ञेयं चारीभिर्मण्डलं[8] बुधैः ॥ ६६ ॥

---

८. अध्यर्धं मण्डल

अनुवाद— पहिले दाहिने पैर को जनिता चारी में रखकर फिर उसी से आस्यन्दिता चारी का प्रदर्शन करे। फिर बायें पैर से अपक्रान्ता चारी (अपसर्पित) का प्रदर्शन कर दाहिने पैर से शकटास्या चारी का प्रदर्शन करे। फिर इन चारियों के द्वारा क्रमशः गोल घुमाव देकर प्रदर्शन करे। इस प्रकार जो मण्डल बनता है वह 'अध्यर्धं' मण्डल कहलाता है। नियुद्ध अर्थात् बाहुयुद्ध में उपयोगी इस मण्डल को समझना चाहिए ॥ ६३-६४ ॥

---

१. क-म. शकटास्यं च विज्ञेयं ।
२. क-प. स एवास्पन्दितो भवेत् ।
३. क—म पर्यायान्मण्डलं भ्रमेत् ।
४. ख. नियुद्धे चारिमण्डलम् ।
क—द. व्यायामे चारिमण्डलम् ।
५. ख. भुजङ्गत्रासितैश्चान्य एष एव च वामकः ।
६. क—म. भुजङ्गत्रासितैः पादैर्भ्रमेदपि च मण्डलम् ।
७. क—प पृष्ठकुट्टं ।
८. ख. नियुद्धे चारिमण्डलम् ।

सर्वैश्चाषगतैः[1] पादैः परिभ्राम्य[2] तु मण्डलम् ।
एतच्चाषगतं विद्यान्नियुद्धे चापि मण्डलम्[3] ॥ ६७ ॥
नानाचारीसमुत्थानि मण्डलानि समासतः ।
उक्तान्यतः परं चैव समचारीं[4] नियोजयेत् ॥ ६८ ॥

'च' शब्दोऽप्यर्थे ।

९. पिष्टकुट्ट

अनुवाद—पहिले दाहिने पैर को सूची चारी में रखकर बायें पैर से अपक्रान्ता चारी का प्रदर्शन करे। फिर दाहिने पैर से भुजङ्गत्रासिता चारी का प्रयोग करके फिर बायें पैर से भी इसी चारी का प्रदर्शन करे। फिर भुजङ्गत्रासिता चारी से युक्त पैरों को गोल घुमाकर अवस्थित करें, तो इसे विद्वान् लोगों को चारियों से युक्त 'पिष्टकुट्ट' नामक मण्डल समझना चाहिए ॥ ६५-६६ ॥

१०. चाषगत मण्डल

अनुवाद—चाषगति चारी से युक्त वाम और दक्षिण सभी पैरों से मण्डलाकार (गोल) घुमाव लेकर जो मण्डल बनता है उसे 'चाषगत' मण्डल समझना चाहिए। नियुद्ध (बाहुयुद्ध) में इस चारी का विधान करना चाहिए ॥ ६७ ॥

अनुवाद—इस प्रकार मैंने संक्षेप मे अनेक चारियों से उत्पन्न होने वाले मण्डलों को कहा है। इसके बाद समचारी मण्डल का नियोजन करना चाहिए ॥ ६८ ॥

अभिनव—यहाँ पर 'च' शब्द का 'अपि ' के अर्थ में प्रयोग है ॥ ६८ ॥

१. ख सर्वैश्चापगतैः ।
२. क. परिक्रम्य च मण्डलम् । क–म. मण्डलं तु परिभ्रयेत् ।
३. ख. निबुद्धे चारिमण्डलम् ।
४. ख. समचारीणि योजयेत् ।
ग. समाचारी नियोजयेत् ।
क–म. समां चारी नियोजयेत् ।

[1]समचारीप्रयोगो यस्तत्समं नाम[2] मण्डलम् ।
आचार्यबुद्ध्या तानीह[3] कर्तव्यानि प्रयोक्तृभिः ॥ ६९ ॥

एतानि खण्डानि समण्डलानि
युद्धे नियुद्धे च [4]परिक्रमे च ।
लीलाङ्गमाधुर्यपुरस्कृतानि
कार्याणि वाद्यानुगतानि तज्ज्ञैः ॥ ७० ॥

इति भारतीये नाट्यशास्त्रे मण्डलविधानं[5] नाम एकादशोऽध्यायः[6] समाप्तः ॥११॥

अतः परमपि मण्डलानि योजयेत् । कथमित्याहुः । समाः परस्परं योजनोचिताश्चार्यो यत्र तत्रोहनेऽप्युदाहरणं दर्शयति समचारीप्रयोग इति—

समानां भौमत्वेनाकाशीयत्वेन च चारीणां प्रयोगो यत्र । एवमनया दिशा बहूनि कल्पयेदित्याह आचार्यबुद्धयोपलम्भो भागः प्रयोगयोग्यो भवतीति ॥ ६९ ॥

अनुवाद—समचारियों से जो प्रयोग किया जाता है उसे 'सममण्डल' समझना चाहिए । नाटचप्रयोक्ताओं को आचार्यों की बुद्धि से समझकर उनका यहाँ प्रयोग करना चाहिए ॥ ६९ ॥

अभिनव—इसके बाद भी मण्डलों का प्रयोग करना चाहिए । कैसे करना चाहिए ? इस पर कहते हैं कि समाचारी से अर्थात् परस्पर में योजना से प्राप्त चारियों का यत्र तत्र सर्वत्र प्रयोग करना चाहिए । यत्र तत्र पद के ऊहा करने के सम्बन्ध में उदाहरण को दिखाते हैं—समचारी प्रयोग इत्यादि ।

अभिनव—समा अर्थात् भौमी एवं आकाशीय चारियों के समान चारियों का प्रयोग जहाँ पर हो, वह समचारी प्रयोग है, यह आशय है । इस प्रकार से बहुत से मण्डलों को कल्पना करनो चाहिए, इस आशय से कहते हैं कि आचार्य (नाट्याचार्य) की बुद्धि से प्राप्त भाग ही प्रयोग के योग्य होता है, अपनी ऊहा (तर्क) से प्राप्त भाग का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ६९ ॥

---

१. क-म. समचारी प्रचारो । २. ग. नगमण्डलम् ।
३. क-ड. कर्त्तव्यानीह तानि प्रयोगतः । ४. ग. परिचङ्क्रमे च ।
५. क मण्डलविकल्पनं । ६. ख. द्वादशोऽध्यायः समाप्तः ।

खण्डानां प्राधान्यमपि दर्शयति खण्डानीति । वाद्येनानुगतानीति "गत्या वाद्यानुसारिण्या" (अ ४-२८२) इतिनृत्तविषयतुर्याध्यायाद्धि वैपरीत्येन नाट्ये गतौ प्राधान्यमाह इति शिवम् ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां नाट्यवेद-
विवृताविभिनवभारत्यां मण्डलाध्यायः एकादशः समाप्तः ।

अनुवाद—इस प्रकार इन खण्डप्रधान मण्डलों का युद्ध, नियुद्ध तथा परिक्रमण (घूमने) में प्रदर्शन करना चाहिए । नाट्यवेत्ताओं को अङ्गों की मधुर-लीला से पुरस्कृत तथा वाद्यों की संगत के साथ इन मण्डलों का प्रदर्शन करना चाहिए ॥ ७० ॥

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में मण्डल-विधान नामक ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

इस प्रकार पारसनाथद्विवेदीकृत नाट्यशास्त्र के हिन्दी अनुवाद में एकादश अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

अभिनव—खण्डों की प्रधानता को दिखाते है—खण्डानीति । 'वाद्येनानुगतानि' का अभिप्राय है कि 'वाद्य के अनुसार गति होती है' । अतः चतुर्थ अध्याय में नृत्त के उपयोगी विषयों में प्रतिपादित गतियों से विपरीत नाट्य-गति में मण्डलों की प्रधानता कहा है ॥ ७० ॥

अभिनव—इस प्रकार महामाहेश्वर अभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित नाट्यवेद-विवृत्ति अभिवभारती में मण्डलाध्याय नामक एकादश अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र में आकाशीय एवं भौमी मण्डलों के अतिरिक्त सममण्डल का भी निर्देश किया है । समचारियों से जिसका प्रदर्शन किया जाता है उसे 'सममण्डल' कहते हैं । मण्डलों के साथ रहने से खण्डों की प्रधानता बताई गई है । ये खण्ड प्रधान मण्डल युद्ध, नियुद्ध और परिक्रम में विनियोजित किये जाते हैं । इन मण्डलों का प्रदर्शन वाद्यों की ध्वनि, ताल, लय के अनुसार होना चाहिए । जैसा कि चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि 'वाद्यों का अनुसरण करने वाली गति से चारी का प्रयोग करना चाहिए' । इस चतुर्थाध्यायोक्त गति से भिन्न नाट्य-गति (नाटकीय गति) में मण्डलों की प्रधानता होनी चाहिए ।

इति डा० पारसनाथद्विवेदिविरचितामभिनवभारत्यां मनोरमाख्यायां हिन्दी-
व्याख्यायां मण्डलविधानं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदीरचित अभिनव-भारती की हिन्दी
व्याख्या में एकादश अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

श्लोकार्धानुक्रमणिका

'प'

परिशिष्ट—२

सव्याख्यनाटचशास्त्रोपात्ता ग्रन्था ग्रन्थकर्त्तारश्च

परिशिष्ट–३

शुद्धि-निर्देश

प्रस्तावना

पृष्ठ संख्या	पंक्तिसंख्या	अशुद्धवाक्य	शुद्धवाक्य
२	८	संयुक्तहस्त	संयुतहस्त
३	२८	नाभ्यर्थ्यन्ते	नाभ्यर्थ्यंते
५	१०	निघष्टु	निघण्टु
६	२३	नाट्य	नाट्य
१०	२९	अनुमीवमान	अनुमीयमान
१०	३०	ललकीकर	झलकीकर
१८	५	स्थायोभाव	स्थायीभाव
१८	३०	तारकर्म	ताराकर्म
२४	७	पुष्यपुट	पुष्पपुट
२४	१८	तोन	तीस
२५	३	मद्रा	मुद्रा
२५	३२	मुष्टिक-स्वास्तिक	मुष्टिक-स्वस्तिक
२६	२६	कुछ	कुछ
२८	२७	उपस्यन्दित	अपस्यन्दिता
२८	२९	उद्धृता	उद्वृत्ता
२९	१७	भ्र	भ्रू

मूलग्रन्थ एवं व्याख्या

पृष्ठ संख्या	पंक्तिसंख्या	अशुद्धवाक्य	शुद्धवाक्य
१५	१५	व्यक्तिथों	व्यक्तियों
१५	२९	अन्वव	अन्वय
१६	१६	प्रमाणमूल	प्रमाणमूलक
१९	२५	चित्तबृत्तियों	चित्तवृत्तियों
२५	२०	सात्त्विक भावों	अभिनय
३१	४	भाव	भावः
३१	९	प्रासदिक	प्रासादिक
३३	१४	ब्याख्यातृ	व्याख्यातृ
३४	४	पुनर्भागदशा	पुनर्भागदृशा
३४	१४	चित्तबृत्ति	चित्तवृत्ति
३४	२६	अभिभव	अभिनव
३४	२६	अव	अब
३५	५	गणनानहत्वात्	गणनानर्हत्वात्
३६	२३	उषचिति	उपचिति
३६	२४	नियेद	निर्वेद
३७	५	रसाभाषादि	रसभावादि
३७	१७	का	की
३८	१२	हास्यरास	हास्यरस
४०	१२	अनुमितिबाद	अनुमितिवाद
४०	२१	अनुकियमाण	अनुक्रियमाण
४०	२२	अनुकरण	अनुकारक
४०	३२	होता है	करता है
४०	३३	रसादि	रामादि
४०	३४	अनुयीयमान	अनुमीयमान
४३	४	खल्वेव	खल्वेवं
४३	११	मिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन	भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन
५५	२६	रस न	रसन
५६	१८	अङ्गङ्गिभाव	अङ्गाङ्गिभाव
७२	९	वीक्षादिभिलौकिकी	वीक्षादिभिर्लौकिकी

७३	२०	रस्यभाव	रस्यमान
७४	२	प्रमदादि ताटस्थ्येन	प्रमदादि न ताटस्थ्येन
७७	४	सामाजिकों की	सामाजिकों को
७७	२७	अपन	अपने
७९	१४	रस्यमान होने	रस्यमान होने से
८२	३	भङ्गुर	भङ्गुर
८६	१०	व्यमिचारीभावों	व्यभिचारीभावों
८७	१५	गुण	गुड़
९५	३२	नाट्य का अपेक्षा	नाट्य की अपेक्षा
९८	१२	उद्धत्य	उद्धृत्य
१००	४	वक्ष्याम	वक्ष्यामः
१०८	७	द्रष्टव्यम	द्रष्टव्यम्
१११	१०	वेद्धि	वेद्मि
११८	२	सोद्भुतः	सोऽद्भुतः
११९	५	स्वस्योयोगः	स्वरस्य योगः
१२९	१	उत्तमयुधप्रकृतिः	उत्तमयुवप्रकृतिः
१२९	७	व्यात्वर्याभावात्	व्यावर्त्याभावात्
१३०	१२	भोग्यत्वात	भोग्यत्वात्
१३२	१५	विशिष्ठ	विशिष्ट
१४४	४	वाक्यकवाक्यतया	वाक्यैकवाक्यतया
१५२	७	लव्यप्रतिष्ठः	लब्धप्रतिष्ठः
१६६	१९	अतिहसित	अतिहसित
१६९	२५	अन्य	अन्यत्र
१७२	२	बैवर्ण्य	वैवर्ण्यं
१७२	२०	अघम	अधम
१७५	८	सर्वेपि	सर्वेऽपि
१७६	७	विषर्ययेण	विपर्ययेण
१७६	१०	सङ्ग्रमहेतुक	सङ्ग्रामहेतुक
१७६	१२	व्यपदेक्ष्यते	व्यपदेश्यते
१७६	१९	अभिवन	अभिनव
१७६	२७	व	वे
१७७	१४	स्वाभवतः	स्वभावतः

१७९	२२	उपादन	उपादान
१८०	१९	असंगृहात	असंगृहीत
१८१	८	सङ ग्रासम्प्रहार	सङ्ग्रामसम्प्रहारः
२००	१३	अद्भुन	अद्भुत
२०१	३	वेपक्षुगद्गद्	वेपथुगद्गद
२०५	२०	तीसर	तीसरा
२०८	९	प्रकृतिर्ममः	प्रकृतिर्मतः
२१७	६	निसःर्गतः	निःसर्गतः
२२१	२८	पाषणमय	पाषाणमय
२२४	११	ह्युत्साहोऽत्र	हृयुत्साहोऽत्र
२२७	६	तैरुपनिबद्धविज्ञापते	तैरुपनिबद्धैर्विज्ञाते
२२८	३	मोक्षाव्यात्यं	मोक्षाध्यात्म
२२८	११	जी	को
२२८	१२	(दो अप्रवर्त्तन)	—
२३५	२४	लौल्प	लौल्य
२४०	५	आस्वादन	आस्वादनं
२४०	१३	करूणा	करूँगा
२४७	१२	तदन्तर्मुतोऽपि	तदन्तर्भूतोऽपि
२४८	११	भाय	भाव
२४८	२०	नियुक्त	विमुक्त
२६४	३	धैर्यात्याग	धैर्यत्याग
२६५	२४	जोभ	जीभ
२६६	११	सभ्रान्त	सम्भ्रान्त
२६९	५	वाङ्गसत्त्वोपेताः	वागङ्गसत्त्वोपेताः
२६९	१३	व्यभिचारा	व्यभिचारी
२७०	४	सूर्या	सूर्यो
२७५	१	सप्मोऽध्यायः	सप्तमोऽध्यायः
२८९	१५	प्राष्ठ	प्राप्त
२८९	१९	नायक	नामक
३०५	१३	प्रयोग	प्रकोप
३१५	६	शीताभवहर्ष	शीतभयहर्ष

३१५	६	६७	९७
३१६	१५	भावों अभिनय	भावों का अभिनय
३२१	१	सप्मोऽध्यायः	सप्तमोऽध्यायः
३२७	४	नाट्यस्याभिनय	नाटचस्याभिनयो
३२९	१२	अङ्गो	उपाङ्गो
३३१	४	श्रृजुस्थितस्य	ऋजुस्थितस्य
३३८	१४	स्थायीभाव	व्यभिचारीभाव
३३८	२३	साभियाना	साभिमाना
३४१	२	रूक्षा	रुक्षा
३४३	४	रूक्षा	रुक्षा
३४८	६	प्रतितौ	पतितौ
३४९	९	दष्टि	दृष्टि
३५८	१९	प्रस्तुत	प्रसृत
३६०	१२	धोरे	घोर-धीरे
३६१	१२	हर्ष और	हर्ष और रोष में
३६६	१८	उदासी	विकासी
३७५	२०	शिरों	शिर
३७७	३	अञ्चितापसृतोबद्ध-केशर्णोर्ध्वदर्शने	अञ्चितापसृतोद्बन्ध-केशकर्णोर्ध्वदर्शने
३७९	१४	करि	कटि
३७९	१४	ऊरू	ऊरु
३७९	१७	गायों	गात्रों
३८०	१६	अभिनेय	अभिनय
३८१	९	कारणमय	कारण
३८२	१३	उन	और
३८३	११	शुक्रतुण्ड	शुकतुण्ड
३८५	३	मम	मर्म
३९३	५	पांसुखतादि	पांसुरक्तादि०
३९३	८	क्रयाञ्च	क्रमाञ्च
३९७	१६	लश्रित	लक्षित
३९८	१३	२५-२६	२५-२७
३९८	३१	द्योसन	द्योतन

४०४	८	अलिकस्य	अलकस्य
४०७	१२	मुड़ा हुई	मुड़ी हुई
४०९	९	व्यतिक्रन	व्यतिक्रम
४१०	२३	तृं	तु
४१४	१३	भावों को	भावों का
४१६	२२	विरचत	विरचित
४२२	५	रञ्चन	रञ्जन
४२२	७	वड्ग	खड्ग
४२५	४	उत्क्षिप्तवकेति	उत्क्षिप्तवक्रेति
४२५	१२	पत्य	पथ्य
४२६	४	पुष्पावचग्र	पुष्पावचय
४२६	६	प्रग्रहृस्थ	प्रग्रहृस्य
४२९	१९	भा-पदशन	भावप्रदर्शन
४३०	१२	दारव	दाख
४३४	३	कोधे	क्रोधे
४३७	३	शकस्याप्युत्ताना	शक्रस्याप्युत्ताना
४३७	७	कर्त्तव्ये	कर्त्तव्ये
४३७	७	ललटे	ललाटे
४३७	२०	ललाट्	ललाट
४३८	७	पद्यस्येब	पद्मस्येव
४३८	९	ग्रण्यमभिनय	ग्रहणमभिनय
४४१	११	पुरूष	पुरुष
४४४	४	अग्न्यः	भगनयः
४४५	२	मकरत	मरकत
४५१	३	ऊर्ध्वंमध्ये	ऊर्ध्वंमन्ये
४६०	२	सन्दशो	सन्दंशो
४६०	८	कररूह	कररुह
४६५	२०	उपाभ्यामिति	उभाभ्यामिति
४७०	१३	खदकावर्धमानक	खटकावर्धमानक
४७४	१२	ज्ञातवातायनादीनां	जालवातायनादीनां
४८२	११	हस्तभिनय	हस्ताभिनय
४८७	१४	प्रकारौ	प्रचारों
४८९	२०	लोटादि	ललाटादि

४९१	१२	युत्तिसंगत	युक्तिसंगत
४९६	२३	बाह्य	नाट्य
४९७	१४	१८१-१८२	१८२-१८३
५०३	८	पद्यकोशौ	पद्मकोशौ
५०८	२	१६७	१९७
५१०	३	१९१	१९९
५१४	३	पार्वगमजं	पार्श्वगमनं
५१५	२३	अलपल्लव	अरालपल्लव
५१६	१२	अपल्लव	अलपल्लव
५२९	६	कार्ये	कार्यं
५३४	१५	नृत्त	नृत्त में
५४०	९	समाश्रवो	समाश्रयो
५४४	१६	यिनियोग	विनियोग
५५०	३	चरीत्युच्यने	चारीत्युच्यन्ते
५५०	२५	खण्ढों	खण्डों
५५१	२३	विधनोपगता	विधानोपगता
५५६	३	सङ्ख्यातरमपि	सङ्ख्यान्तरमपि
५५६	११	बहीं	नहीं
५६७	१८	सम्यक	सम्यक्
५६९	५	एकोऽत्रतलसञ्चरः	एकोऽग्रतलसञ्चरः
५७२	१६	समौत्सारित०	समोत्सारित०
५७३	१९	सह के	सह के साथ
५७४	१३	घमते हुए	घूमते हुए
५८०	१४	आक्षिप्रति	आक्षिप्तेति
५८१	१२	उद्धृता	उद्वृत्ता
५८२	९	पाष्णि	पार्ष्णि
५८७	१६	होंगी	होगी
५८८	१७	बिश्रान्त	विश्रान्त
५९०	२	पाश्चाद्भागे	पश्चाद्भागे
५९०	२९	तद्वैष्णवस्थानं	तद्वैष्णवस्थानं
५९१	५	त्र्यस्रपार्दास्थितोऽपरः	त्र्यस्रपादस्थितोऽपरः
५९१	९	कोधे	क्रोधे

५९२	६	तस्याद्वेण्णवम्	तस्माद्वैष्णवम्
५९३	१३	प्रधान्य	प्राधान्य
५९४	१७	फैंके हुए	फैले हुए
५९४	१७	निर्ग्रमन	निर्गमन
५९५	२३	अस्रौ	त्र्यस्रौ
५९५	१९	कठिजानू	कटिजानू
५९९	६	नानाचारो	नानाचारी
६००	६	वर्शयति	दर्शयति
६००	९	आक्षित	आश्रित
६००	१०	न्याय से हौ	न्याय से ही
६००	१०	समुपस्थित	समुत्थित
६०४	१३	क्रत्यु	कृत्य
६२१	१	दशमोऽध्यायः	एकादशोऽध्यायः
६२५	११	पैर नो	पैर को
६२६	२	आद्यत्तु	आद्यस्तु
६२७	१७	आस्पन्दित	आस्यन्दित
६३०	११	बायें पर को	बायें पैर को
६३७	१४	अङ्ग्रल्यः	अङ्गुल्यः
६३७	१५	अङ्गल्यः	अङ्गुल्यः
६३८	२७	अपस्मारस्तथेन्याक्षे	अपस्मारस्तथोन्मादो
६३९	१९	चाङ्गलिभ्यां	चाङ्गुलिभ्यां
६४०	८	ध्रुवोः	भ्रुवोः
६४७	२४	तस्माच्चारीतिधानस्य	तस्माच्चारीविधानस्य
६४७	२४	ते लाभ्यक्तेन	तैलाभ्यक्तेन
६४८	२	दीर्घोच्छ्सनता	दीर्घोच्छ्रसनता
६४८	१८	निपतेद्भौ	निपतेद्भूमौ
६४८	२७	द्वितीयेन द्रपादेन	द्वितीयेन तु पादेन
६५०	८	नेत्रभ्रूरागाश्चैः	नेत्रभ्रूरागाद्यैः
६५२	१६	प्रचारस्त्रिविधोऽङ्काना	प्रचारस्त्रिविधोऽङ्गानां
६५२	३२	यिप्रव्यलीकजनिता	प्रियव्यलीकजनिता
६५३	३३	भ्रमणं चालानोद्धूले	भ्रमणं चलनोद्वृत्ते
६६१	१२	प्राक्त	प्रोक्तं
६६४	१४	हितोपददेश	हितोपदेश


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय